...है। अन्त में ... होकर उच्च ...। ...ान में बीमार ...लन से रक्त ...मात्रा बढ़ते ...र होती रहती ...रहने लगता है।

जब तक लम्बे समय तक दवा न खाने पर भी पुनः रक्तचाप में बिल्कुल वृद्धि न हो।

(ख) शरीर का भार अधिक हो तो नाश्ते में सब्जी का सूप या रस अथवा रसीले-फल या फलों का जूस लें। दोपहर के भोजन में सादी रीति से बनी सब्जियां या मौसम के फलों की सलाद अथवा दोनों मिलाकर लें। तीसरे पहर प्रातः के नाश्ते की तरह कोई एक चीज लें। हां, देशी चाय या प्रज्ञा पेय अथवा गुरुकुल कांगड़ी

व्यायाम योग:

(क) साधारणतया उच्च रक्तचाप के रोगियों को कोई ऐसे व्यायाम नहीं करने चाहिए जिनसे हृदय को थकावट का अनुभव हो और बढ़ी हुई धड़कन शीघ्र सामान्य न हो।

(ख) धीरे-धीरे टहलना एवं किसी अनुभवी योग-शिक्षक के निर्देशन में पहले अंग-अंग के व्यायाम का अभ्यास अधिक उपयोगी होता है।

...अन्य ... मैग्ने... स्थान ... कुछ ... छूट... पर ... सक...

...च्चा क्या चाह रहा है

15-1

-अरुण कुमार श्रीवास्तव

...बच्चा जिद्दी होने लगता है। ...रहा है वह कल कितनी ...इस बात पर ध्यान ...गया है। विभिन्न बाल ...यह धारणा है कि बच्चे को

...पैदा हो जाती ...ुत करती है। ...ने का प्रयास ...क्या चाह रहा

...उसके सामर्थ्य ...सामर्थ्य हो तो ...ये जिस दिशा ...इससे बच्चे के ...ास होगा और ...ा।

वातावरण में स्वछन्द विचरण करना चाहता है। उसे माता या पिता द्वारा ऐसा अवसर स्वयं साथ में रहकर देना चाहिये। लेकिन बच्चा हर समय घर से

आवश्यक भी है।

शारीरिक एवं विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास एक स्वतः क्रिया है वह अपने क्रम के अनुसार तब



घण्टे
त ही
। सिरेमि
बेल्ट का

ता और वह किशोरावस्था एवं हताशा की भावना से ।

क है कि बाल अवस्था (१२ गतिविधि का गम्भीरता से । देखा जाये कि वह क्या स गतिविधि की ओर उसका कब क्या प्रतिक्रिया करता है कैसे रखता है और क्यों दवाव नोवैज्ञानिक सत्य है कि यदि के अनुसार उसे निर्देशित किया वातावरण दिया जाये तो बच्चा न्देह सफल होगा और व्यर्थ की रहेगा। यह आवश्यक नहीं कि इन्जीनियर या व्यापारी हो उसी तरह हो जाये उसकी न्य क्षेत्र में हो सकती है। माता ड़े बुजुर्गों के सानिध्य में रहकर कुछ सीखता है और विभिन्न ा है अतः उसकी बात को पूरी कर केन्द्रीय ध्यान बिन्दु में लाना सकी सम्बन्धित रचनात्मक ... ऐसा भी हो सकता है कि बच्चा ी एक दम प्रतिकूल हो या आपके तो बच्चे को समझा बुझाकर उसके न्य बात मानने हेतु तैयार कर लेना वह दिशा परिवर्तन रित कर सके और दम बढ़ाये। यह भी उठती मरुचि नहीं को ...

नहीं

के लम्बे और अकेले दिनों में मैं ता था और मेरा ध्यान आजकल उसके कठिन सवालों से भटककर पुरा ता फिरता था। दिमाग़ में बहते हुए कड़कर काग़ज पर लिखने से सोचने में ोती है और उनके नये-नये पहलू सलिए मैंने लिखना शुरू किया।

या यूरोप के लोगों ने जो ऐसी पुस्तकें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल ुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने क एशिया का हाल ज्यादा दूं। दोनों र ही पूरी तसवीर सामने आती है। ाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओं कमी है। इसलिए मैं खासतौर से के मेरी यह पुस्तक हिन्दी में निकले। ामियां हैं, और वे बहुत हैं, फिर ा को पूरा करती है। मुझे खुशी है कि नकल रही है।

15



विश्व-इतिहास की झलक

दूसरा खण्ड

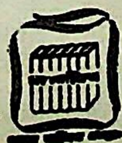


•

लेखक
जवाहरलाल नेहरू
अनुवादक
चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

•

१९८६

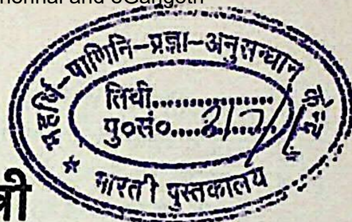


सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

सातवीं बार : १९८६
मूल्य : दोनों खण्डों का : साठ रुपये

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स
नई दिल्ली



विषय-सूची

दूसरा खण्ड


तिथी...............
पु०सं०...............
भारती पुस्तकालय

मानचित्र-सूची

विश्व-इतिहास की झलक

दूसरा खण्ड

: १२५ :

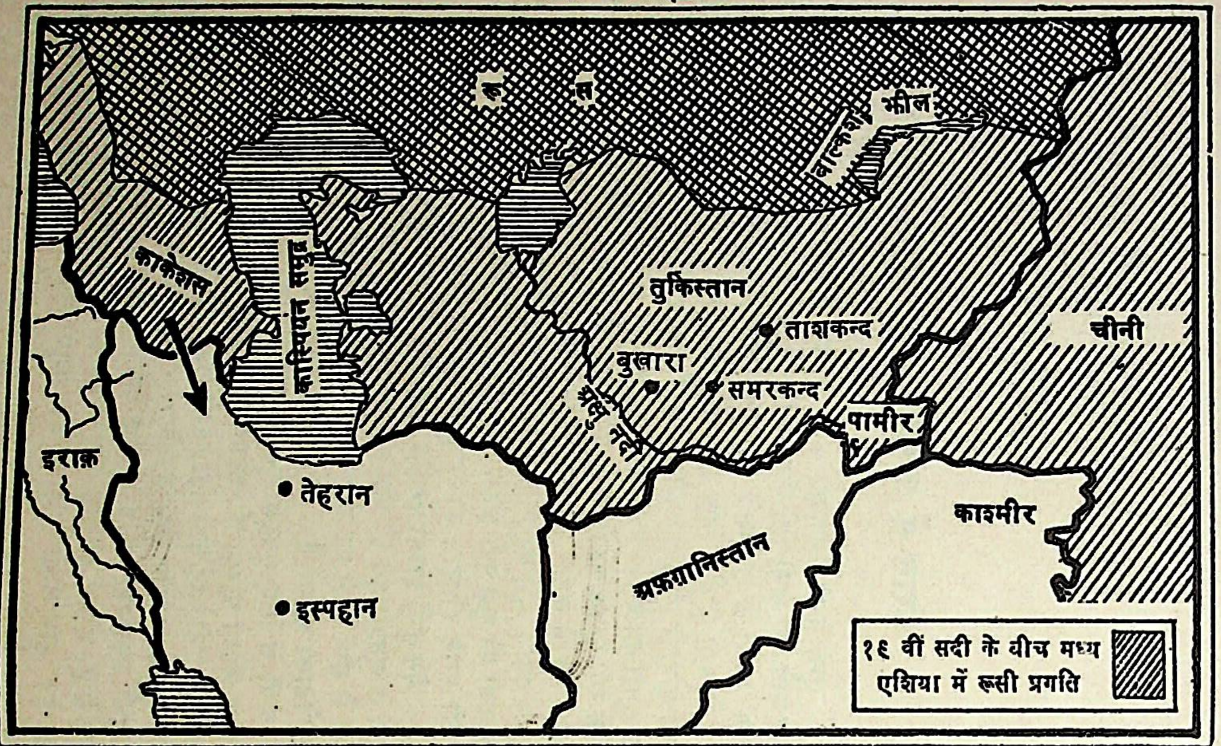
ईरान में साम्राज्यशाही और राष्ट्रीयता

२१ जनवरी, १९३३

तुम्हें मुझसे शिकायत करने का हक़ है। इतिहास के बहुत-से दालानों में कभी आगे और कभी पीछे दौड़कर मैंने तुम्हें काफ़ी नाराज़ कर दिया है। कई अलग-अलग रास्तों से उन्नीसवीं सदी तक पहुँचकर मैं तुम्हें अचानक कई हज़ार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से भारत, चीन और ईरान में कूदता-फाँदता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुंझलाहट और परेशानी ज़रूर बढ़ी होगी और तुम्हारा जो विरोध मुझे सुनाई-सा दे रहा है, उसका मेरे पास कोई अच्छा जवाब नहीं है। मगर बात यह है कि रेनी ग्राउज़े की किताबों को पढ़कर मेरे दिमाग़ में कई विचार-धाराएँ एकदम चक्कर काटने लगीं, और उनमें से कुछ का परिचय तुम्हें कराये बिना मुझसे रहा न गया! मुझे यह भी लगा कि इन पत्रों में मैंने ईरान को छोड़ दिया है, और मैं इस कमी को कुछ पूरी करना चाहता हूँ। अब, जब हम ईरान पर विचार कर रहे हैं, तो उसके इतिहास को आधुनिक काल तक क्यों न ले आयें?

मैंने तुम्हें ईरानी संस्कृति की पुरानी परम्पराओं व ऊँची सिद्धियों की, ईरानी कला के सुनहले-युग की और इसी तरह की दूसरी बातें बताई हैं। उन फ़िक़रों पर फिर से ग़ौर करने पर मालूम होता है कि भाषा कुछ लच्छेदार और ज़रा भ्रम में डालनेवाली हो गई है। इससे कोई शायद यह सोच सकता है कि सचमुच ईरान के लोगों के लिए सुनहला-युग आ गया था, उनकी मुसीबतें दूर हो गई थीं और उनका जीवन परियों की कहानियों के लोगों का-सा सुखी हो गया था। लेकिन दरअसल ऐसी कोई चीज़ नहीं हुई थी। जैसा कि बहुत हद तक आज भी है, उन दिनों कुछ मुट्ठीभर लोग संस्कृति और कला के ठेकेदार बने हुए थे। जनता का और मामूली आदमियों का उनसे कोई वास्ता नहीं था। वास्तव में जनता का जीवन सदा से ही भोजन के लिए, और जीवन की दूसरी ज़रूरतों के लिए, बराबर लड़ता रहा है। आम लोगों के जीवन और पशुओं के जीवन में ज्यादा फ़र्क़ नहीं रहा है। उन्हें और किसी बात के लिए वक़्त या, फ़ुर्सत ही नहीं थी। दिन-रात यही झंझट

रूस और ईरान


रू स
बाल्कश झील
तुर्किस्तान
ताशकन्द
बुखारा
समरकन्द
पामीर
चीनी
काश्मीर
अफ़ग़ानिस्तान
काकेशस
कास्पियन समुद्र
तेहरान
इस्पहान
इराक़
१९ वीं सदी के बीच मध्य एशिया में रूसी प्रगति

उनकी जान के लिए काफ़ी था। ऐसी हालत में वे कला और संस्कृति की क्या तो फ़िक्र करते और क्या क़द्र ? ईरान, चीन, भारत, इटली और यूरोप के दूसरे देशों में कला फूली-फली, लेकिन दरबारों और मालदार व निठल्ले वर्गों के मन-बहलाव की चीज़ की तरह। हाँ, मज़हबी कला का जनता पर कुछ असर पड़ा।

लेकिन किसी कला-प्रेमी राज-दरबार का यह मतलब नहीं था कि हुकूमत भी अच्छी थी। कला और साहित्य को पनाह देने का अभिमान करनेवाले शासक अक्सर नालायक़ और ज़ालिम शासक साबित होते थे। ईरान की समाज-व्यवस्था उस समय लगभग सभी देशों की समाज-व्यवस्था की तरह बहुत-कुछ सामन्ती ढंग की थी। ज़ोरदार बादशाह अपने सामन्तों की छोटी-मोटी लूट-खसोटें बन्द करके लोकप्रिय बन जाते थे। किसी वक़्त शासन कुछ अच्छा हो जाता था और किसी वक़्त बिलकुल ही बुरा।

जब भारत में मुग़ल राज आख़िरी साँसें ले रहा था, ठीक उसी समय, यानी १७२५ ई० के आसपास, सफ़ावी राजवंश का अन्त हुआ। हस्ब मामूल, इस राजवंश का भी खेल ख़त्म हो गया। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे और पुरानी व्यवस्था को उलट रहे थे। टैक्सों के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत कर दी थी और जनता में असन्तोष फैल रहा था। अफ़ग़ानों ने, जो उस समय सफ़ावियों के अधीन थे, विद्रोह खड़ा कर दिया। वे न सिर्फ़ अपने ही देश में सफल हुए, बल्कि उन्होंने इस्पहान पर क़ब्ज़ा करके शाह को भी गद्दी से उतार दिया। पर थोड़े ही दिनों बाद ईरानी सरदार नादिरशाह ने अफ़ग़ानों को निकाल दिया और ख़ुद बादशाह बन बैठा। इसी नादिरशाह ने बोदे मुग़लों के आख़िरी दिनों में भारत पर हमला किया था; इसीने दिल्लीवालों का क़त्ले-आम किया था और यही शाहजहाँ का तख़्ते-ताऊस और बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवीं सदी का ईरानी इतिहास गृह-युद्ध और बदलते हुए शासनों व बुरे शासनों का दुःखभरा आलेख है।

उन्नीसवीं सदी के साथ नई आफ़तें भी आईं। यूरोप की पाँव पसारती हुई व हमलावर साम्राज्यशाही की ईरान के साथ भी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड़ रहा था और दक्षिण में ईरान की खाड़ी की ओर से अंग्रेज़ बढ़े चले आ रहे थे। ईरान भारत से दूर न था। दोनों की सरहदें दिन-पर-दिन पास आती जा रही थीं और आज तो सचमुच एक जगह पर दोनों की सरहदें मिली हुई हैं। ईरान भारत को जानेवाले सीधे खुश्की के रास्ते में पड़ता था और भारत के समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेज़ों की सारी नीति का आधार यह था कि उनका भारतीय साम्राज्य और उसको जानेवाले सारे रास्ते खतरे से खाली रहें। वे किसी हालत में यह बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका ज़बर्दस्त मुक़ाबलेदार

रूस रास्ता रोककर भारत पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेज़ों और रूसियों ने ईरान पर दांत लगा रक्खे थे और वे उस ग़रीब को तंग करते थे। वहाँ के शाह बिल्कुल नालायक़ और बेवक़ूफ़ थे। वे या तो उनसे बेमौक़े भिड़कर या अपनी ही प्रजा से लड़कर सदा रूस और ब्रिटेन के हाथों में खेलते रहते। अगर इन दोनों शक्तियों के बीच लाग-डाट न होती तो ईरान कभी का या तो पूरी तरह रूस में चला गया होता या इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में, या दोनों में से कोई या तो उसे अपने राज्य में मिला लेता या मिस्र की तरह उसे अपनी मातहती रियासत बना लेता।

बीसवीं सदी के शुरू में एक और वजह से भी ईरान लोभ-लालच की चीज़ बन गया। वहाँ पेट्रोल मिल गया जो बहुत क़ीमती चीज़ थी। बूढ़े शाह को राज़ी करके साठ वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के इलाकों से तेल निकालने का, डार्सी नामक इंग्लैण्ड-निवासी को, बहुत रियायती शर्तों पर, १९०१ ई० में ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई। तबसे यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है और इसने तेल के व्यवसाय से ज़बर्दस्त मुनाफ़ा कमाया है। मुनाफ़े का बहुत-थोड़ा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारों की जेब में ही जाता है, और सबसे बड़े हिस्सेदारों में ब्रिटिश सरकार भी एक है। ईरान की मौजूदा सरकार कट्टर राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बड़ा ऐतराज़ है कि विदेशी लोग ईरान से नाजायज़ फ़ायदा उठायें। उसने डार्सी के साथ किया हुआ १९०१ ई० का साठ वर्षवाला पुराना ठेका रद्द कर दिया, जिसके मातहत एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी। ब्रिटिश सरकार इसपर बड़ी झल्लाई और उसने ईरान की सरकार को डरा-धमकाकर दबाना चाहा। लेकिन वह भूल गई कि ज़माना बदल गया है और अब एशियावालों पर रौब गाँठना उतना आसान नहीं है।

मगर मैं तो आगे के इतिहास की बातें करने लग गया। जब साम्राज्यशाही ईरान के लिए ख़तरा बनने लगी और शाह दिन-दिन उसका औज़ार बनने लगा तो इसके नतीजों से राष्ट्रीयता का विकास लाज़िमी तौर पर होने लगा। एक राष्ट्रीय दल क़ायम हुआ। इस दल ने विदेशी दस्तन्दाज़ी पर नाराज़ी ज़ाहिर की और शाह की निरंकुशता का भी उतने ही ज़ोर से विरोध किया। उन्होंने लोकतन्त्री संविधान और आधुनिक सुधारों की माँग की। देश में बुरा शासन था और टैक्सों की भरमार थी। उधर रूसी और अंग्रेज़ बराबर दख़ल दे रहे थे। सुधार-विरोधी शाह का जितना लगाव इन विदेशी सरकारों के साथ था, उतनी अपनी उस प्रजा के साथ नहीं था, जो आज़ादी के उपायों की माँग कर रही थी। लोकतन्त्री संविधान की यह माँग ख़ासतौर पर नये मध्यम-वर्ग के

और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। १९०४ ई० में ज़ारशाही रूस पर जापान की विजय का ईरानी राष्ट्रवादियों पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा और उनमें उत्तेजना फैल गई। इसके दो सबब थे। एक तो यह कि यूरोपीय शक्ति पर एक एशियाई शक्ति की विजय थी; दूसरे ज़ारशाही रूस ईरान के लिए एक हमलावर और दुःखदायी पड़ौसी था। १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति हालाँकि असफल रही और बेरहमी से कुचल दी गई, लेकिन उसने ईरानी राष्ट्रवादियों का जोश और कुछ कर गुज़रने का हौसला और भी बढ़ा दिया। शाह पर इतने ज़ोर का दबाव पड़ा कि मर्ज़ी न होते हुए भी उसे १९०६ ई० में लोकतन्त्री संविधान के लिए राज़ी होना पड़ा। 'मजलिस' नामक राष्ट्रीय विधानसभा क़ायम हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति सफल हो गई।

पर मुसीबत सामने खड़ी थी। शाह का अपने-आपको मिटाने का कोई इरादा नहीं था। और रूसी व अंग्रेज़ ऐसे लोकतन्त्री ईरान को कभी पसन्द नहीं कर सकते थे, जो मज़बूत होकर उनके लिए सिर-दर्द बन जाय। शाह में और मजलिस में झगड़ा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर बमबारी कर दी। मगर सेना के सिपाही और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियों के साथ थे, और शाह को सिर्फ़ रूसी सिपाहियों ने ही बचाया। रूस और इंग्लैण्ड दोनों किसी-न-किसी बहाने से, आमतौर पर अपनी प्रजा की रक्षा का बहाना बनाकर, अपने सिपाही लाकर बैठा देते थे। ईरानियों को डराने-धमकाने के लिए रूसियों के पास खूंख्वार क़ज़्ज़ाक सिपाही और इंग्लैण्ड के पास भारतीय सिपाही थे, हालाँकि हमारा उनसे कोई झगड़ा नहीं था।

ईरान बड़ी कठिनाइयों में था। उसके पास रुपया नहीं था और लोगों की हालत ख़राब थी। मजलिस हालत को सुधारने की जी-तोड़ कोशिश करती थी, लेकिन उसकी ज़्यादातर कोशिशें रूसी या ब्रिटिश या दोनों के विरोध के सबब से बीच में ही विफल कर दी जाती थीं। आख़िरकार ईरानियों ने अमेरिका से मदद माँगी और एक क़ाबिल अमेरिकी वित्त-विशेषज्ञ को अपनी वित्तीय व्यवस्था सुधारने के लिए मुक़र्रर किया। इसका नाम मोर्गन शुस्टर था। इसने अपने काम में भरसक कोशिश की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश विरोध की ठोस दीवारों से टक्कर लेनी पड़ती थी। अन्त में तंग आकर और निराश होकर वह ईरान छोड़कर घर चला गया। बाद में शुस्टर ने एक किताब लिखी, जिसमें यह बतलाया कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यशाहियाँ ईरान का खून किस तरह चूस रही हैं। इस किताब का नाम 'ईरान का गला घोंटना' (The Strangling of Persia) ख़ास मतलब रखता है और एक कहानी कहता है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राज्य की स्वाधीन हस्ती मिटनेवाली है।

इस दिशा में रूस और इंग्लैण्ड पहला क़दम उठा ही चुके थे, क्योंकि उन्होंने ईरान को अपने-अपने 'प्रभाव क्षेत्रों' में बाँट लिया था। महत्व के केन्द्रों में उनके सिपाही तैनात थे। एक ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल-भण्डारों से खूब फ़ायदा उठा रही थी। ईरान बहुत ही मुसीबत की हालत में था। अगर कोई विदेशी शक्ति पूरी तरह क़ब्ज़ा कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योंकि उसकी कुछ ज़िम्मेदारी तो होती। ख़ैर, उसके बाद ही १९१४ ई० में महायुद्ध छिड़ गया।

इस लड़ाई में ईरान ने तटस्थ रहने की घोषणा की, मगर कमज़ोरों की घोषणाओं का बलवानों पर कुछ असर नहीं होता। ईरान की तटस्थ हैसियत की किसी भी पक्ष ने परवाह न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी सोचा-समझा करे, विदेशी फ़ौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रहीं। ईरान के चारों तरफ़ युद्ध में लड़नेवाले थे। एक तरफ़ इंग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की, जिसके राज्य में उस समय इराक और अरब शामिल थे, जर्मनी का साथी था। १९१८ ई० में महायुद्ध ख़त्म हुआ और इसमें इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और उनके साथियों की जीत हुई। उस वक़्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फ़ौजों का क़ब्ज़ा था। इंग्लैण्ड ईरान को अपनी मातहती रियासत ऐलान करने ही वाला था, जो क़ब्ज़ा करने का मुलायम रूप था और साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक लम्बा-चौड़ा ब्रिटिश मध्य-पूर्वी साम्राज्य क़ायम करने के सपने भी देख रहा था। मगर ये सपने पूरे नहीं हुए। इंग्लैण्ड की बदक़िस्मती से रूस में ज़ारशाही का अन्त हो गया था और रूस सोवियत बन गया था। इंग्लैण्ड की यह भी बदक़िस्मती रही कि तुर्की में उसकी चालें बेकार हुईं और कमाल पाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों से छुड़ाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओं से ईरानी राष्ट्रवादियों को मदद मिली, और ईरान सिर्फ़ नाम के लिए, आज़ाद बना रहने में सफल हो गया। १९२१ ई० में एक ईरानी सिपाही रिज़ाख़ाँ अचानक चालबाज़ी करके आगे आया। उसने फ़ौजों पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर प्रधान-मन्त्री बन गया। १९२५ ई० में शाह को गद्दी से उतार दिया गया और संविधान-सभा की राय से रिज़ाख़ाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने अपना नाम व ख़िताब रिज़ाशाह पहलवी रक्खा।

रिज़ाशाह बिना लड़ाई-झगड़े के और ज़ाहिरा तौर पर लोकतन्त्री उपायों से गद्दी पर पहुँचा। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरंकुश शासक होने की हिम्मत नहीं करता है। मगर यह साफ़ है कि वह एक ज़ोरदार आदमी है और ईरानी सरकार की बागडोर उसके हाथ में है। पिछले वर्षों में ईरान बहुत ज़्यादा बदल गया है और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है, जिनसे देश नये साँचे में ढल जाय। ज़ोरदार राष्ट्रीय चेतना फिर से जाग रही

है, जिसने देश में नई जान डाल दी है। जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का ताल्लुक़ होता है, वहाँ यह राष्ट्रीय चेतना सरगर्म राष्ट्रीयता की शक्ल बना लेती है।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यह राष्ट्रीय चेतना ईरान की दो हज़ार वर्ष की सच्ची परम्परा है। उसकी नज़र शुरू के दिनों की, इस्लाम से पहले की, ईरान की महानता पर लौट रही है और वह उसीसे प्रेरणा लेने की कोशिश कर रही है। रिज़ाशाह ने अपना जो 'पहलवी' नाम रक्खा है, वह भी पुराने ज़माने के एक राजवंश का नाम है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान हैं, मगर जहाँ उनके देश का सवाल है वहाँतक राष्ट्रीयता इस्लाम से भी ज्यादा ज़ोरदार बल है। एशियाभर में यही हो रहा है। यूरोप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहाँ कई लोग राष्ट्रवाद को भी एक जूना विश्वास मानने लगे हैं और ऐसे नये मज़हबों व विश्वासों की तलाश में हैं, जो मौजूदा हालतों से ज्यादा मेल खाते हों।

ईरान को पहले फ़ारस (पर्शिया) कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रिज़ाशाह ने आज्ञा निकाल दी है कि फ़ारस नाम का अब इस्तेमाल नहीं किया जाय।

: १२६ :

क्रान्तियाँ, और ख़ासकर यूरोप में १८४८ की क्रान्तियाँ

२८ जनवरी, १९३३
ईदुल-फ़ित्र

अब हमें फिर यूरोप चलकर उन्नीसवीं सदी में वहाँ की पेचीदा और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नज़र और डालनी चाहिए। दो महीने पहले के कुछ पत्रों में हम भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ ख़ास-ख़ास बातें भी बताई थीं। उस समय मैंने जिन 'वादों' का ज़िक्र किया था उन सबको याद रखने की तुमसे आशा नहीं की जा सकती। दुबारा गिनाया जाय तो उनमें से कुछ ये थे—उद्योगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद। मैंने तुम्हें लोकतन्त्र और विज्ञान का, और माल व संवारी लाने ले-जाने के तरीकों में ज़बर्दस्त परिवर्तनों का, और सार्वजनिक शिक्षा व उसके नतीजों का और आजकल के अखबारों का हाल भी बताया था। उस समय की यूरोपीय सभ्यता इन चीज़ों से और ऐसी ही कई दूसरी चीज़ों से बनी थी। यह मध्यम-वर्गी सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के मातहत उद्योगों के साधनों पर नये मध्यम-वर्गों का क़ब्ज़ा था। मध्यम-वर्गी यूरोप की यह सभ्यता

सफलता पर सफलता हासिल करती चली गई; एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ती गई; और सदी का अन्त होते-होते इसने अपनी ज़बर्दस्त ताक़त का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था कि इतने ही में आफ़त आ गई।

एशिया में भी हम कुछ तफ़सील के साथ इस सभ्यता को काम करती हुई देख चुके हैं। अपने बढ़ते हुए उद्योगवाद से हाँके गये यूरोप ने दूर-दूर देशों में अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हें हड़पने, उनपर क़ब्ज़ा जमाने और आमतौर पर उनमें दख़ल देने की कोशिश की और इन चीज़ों से फ़ायदा भी उठाया। यहाँ यूरोप से मेरा मतलब ख़ास तौर पर पश्चिमी यूरोप से है, जिसने उद्योगवाद में सबसे आगे क़दम उठाया। और बहुत दिनों तक इन सब पश्चिमी देशों का माना हुआ अगुआ था इंग्लैण्ड, जो औरों से बहुत आगे था और इस अगुवाई से ख़ूब फ़ायदा उठा रहा था।

इंग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशों में होनेवाले ये ज़बर्दस्त परिवर्तन सदी के शुरू में बादशाहों और सम्राटों को दिखाई नहीं दिये। जो नई ताक़तें पैदा हो रही थीं, उनके महत्व को उन्होंने नहीं समझा। नेपोलियन को बिलकुल ख़त्म कर देने के बाद यूरोप के इन शासकों को सिर्फ़ यही चिन्ता थी कि अपने-आपको और सदा के लिए अपनी जमात को क़ायम रक्खें और दुनिया में निरंकुशशाही पर कोई आँच न आने दें। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति और नेपोलियन का ज़बर्दस्त आतंक अभी उनके दिलों से पूरी तरह नहीं निकला था और वे अब कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। मैं तुम्हें किसी पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि इन लोगों ने मिलकर 'पवित्र गठ-बन्धन' और इसी क़िस्म के गठ-बन्धन बना लिये थे कि 'बादशाहों का दैवी अधिकार' बना रहे, वे मनमानी करते रहें और जनता को सिर न उठाने दिया जाय। इस काम के लिए, जैसा कि पहले भी अक्सर हो चुका था, निरंकुशशाही और मज़हब दोनों मिल बैठे। इन गठ-बन्धनों के पीछे कर्ता-धर्ता था रूस का ज़ार अलक्सान्दर। उसके देश में उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नहीं पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछड़ी हुई थी। बड़े-बड़े शहर बहुत कम थे, व्यवसाय का विकास नहीं हुआ था और दस्तकारियाँ भी ऊँचे दर्जे की नहीं थीं। निरंकुशशाही का बेरोक दौरदौरा था। दूसरे यूरोपीय देशों की हालतें इससे जुदा थीं। ज्यों-ज्यों पश्चिम की तरफ़ बढ़ते त्यों-त्यों मध्यम-वर्ग ज्यादा दिखाई देता था। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इंग्लैण्ड में निरंकुशशाही नहीं थी। बादशाह पर पार्लमेण्ट का अंकुश था, मगर खुद पार्लमेण्ट की बागडोर मुट्ठीभर धनवानों के हाथों में थी। रूस के निरंकुश शासक और इंग्लैण्ड के इस धनवान शासकवर्ग में बहुत बड़ा फ़र्क़ था। पर दोनों में एक बात समान थी। दोनों जनता से और क्रान्ति से डरते थे।

इस तरह यूरोप-भर में प्रगति-विरोध का बोलबाला था और जिस किसी चीज़ में उदारता की ज़रा भी झलक दिखाई देती थी वही बेदर्दी से कुचल दी जाती थी। १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस के फ़ैसलों के अनुसार कई राष्ट्रीय इकाइयाँ मसलन इटली और पूर्वी यूरोप की, विदेशी शासन के अधीन रख दी गई थीं। उन्हें ज़ोर-ज़बर्दस्ती से दबाये रखना पड़ता था। लेकिन इस तरह की बातें बहुत दिन तक नहीं चल सकतीं। आगे-पीछे झगड़ा होता ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को हाथ से दबाये रखने की कोशिश करना। यूरोप में भी उबाल आ रहा था और बार-बार उसकी भाप बाहर फट निकलती थी। मैं किसी पिछले पत्र में १८३० ई० के बलवों का ज़िक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस समय यूरोप में कई परिवर्तन हुए और ख़ास तौर पर फ़्रान्स में तो बोर्बनों को हमेशा के लिए निकाल दिया गया। इन बलवों ने बादशाहों, सम्राटों और उनके मन्त्रियों के दिल और भी ज्यादा दहला दिये और उन्होंने जनता पर दमन और अत्याचार करने में और भी ज्यादा ज़ोर लगा दिया।

इन पत्रों के दौरान अक़्सर हमारे सामने वे महान् परिवर्तन भी आये हैं, जो देशों में युद्धों और क्रान्तियों के सबब से हुए हैं। पुराने ज़माने के युद्ध कभी तो मज़हबी युद्ध होते थे और कभी राजवंशों के। अक़्सर ये युद्ध राजनीतिक हमले होते थे, जो एक राष्ट्रीय इकाई दूसरी पर किया करती थी। इन सब कारणों के पीछे आमतौर पर कोई-न-कोई आर्थिक कारण भी होता था। मसलन मध्य-एशियाई क़बीलों ने यूरोप और एशिया पर जितने हमले किये, उनमें से ज्यादातर हमलों की वजह यह थी कि भूख ने उन्हें पश्चिम की तरफ खदेड़ दिया था। आर्थिक उन्नति भी क़ौमों या राष्ट्रों को ताक़तवर बना देती है और उनकी हैसियत दूसरों के ऊपर बना देती है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि यूरोप में और दूसरी जगह भी जिन्हें मज़हबी युद्ध कहा जाता था, उनकी तह में भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम आधुनिक काल की तरफ़ आते हैं वैसे-वैसे हम मज़हबी और राजवंशों के युद्धों को बन्द होता हुआ पाते हैं। अलबत्ता युद्ध बन्द नहीं होते। दुःख की बात है कि वे ज्यादा हत्यारे हो जाते हैं। मगर अब इनके कारण साफ़-साफ़ राजनीतिक व आर्थिक हो जाते हैं। राजनीतिक कारणों का सम्बन्ध सबसे ज्यादा राष्ट्रीयता से होता है; या तो एक राष्ट्र के हाथों दूसरे राष्ट्र का दबाया जाना या दो सरगर्म राष्ट्रीयताओं की आपसी टक्कर। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणों से होती है, मसलन जब आधुनिक उद्योगवादी देश कच्चे माल और बाज़ारों की माँग करते हैं। इस तरह हम देखते हैं, युद्ध में आर्थिक कारणों का महत्व बढ़ता जाता है और आज तो दर असल वे ही सबसे ज़ोरदार हैं।

क्रान्तियों में भी पिछले दिनों इसी तरह के परिवर्तन हुए हैं। शुरू-शुरू

की क्रान्तियाँ राजमहलों की क्रान्तियाँ थीं। राज-घरानों के लोग एक दूसरे के ख़िलाफ़ साज़िशें करते थे, लड़ते थे और एक दूसरे की हत्याएँ करते थे। या कोई तंग आई हुई प्रजा भड़क उठती थी और ज़ालिम शासक का काम तमाम कर डालती थी। या कोई हौसलेबाज़ सिपाही फ़ौज की मदद से राजगद्दी पर क़ब्ज़ा जमा बैठता था। राजमहलों की इन बहुत-सी क्रान्तियों में कुछ गिने-चुने लोग हिस्सा लेते थे; आम लोगों पर न तो इनका कोई ख़ास असर पड़ता था और न वे इनकी परवाह करते थे। शासक बदल जाते; मगर तरीका वही बना रहता और लोगों की ज़िन्दगी वैसी ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, कोई बुरा शासक बहुत ज़ुल्म करता तो उसे बर्दाश्त नहीं किया जाता था और अच्छे शासक को लोग ज़्यादा बर्दाश्त कर सकते थे। मगर शासक अच्छा हो या बुरा, कोरे राजनीतिक परिवर्तन से आमतौर पर जनता की समाजी व आर्थिक हालत में फ़र्क़ नहीं पड़ता था। समाजी क्रान्ति नहीं होती थी।

राष्ट्रीय क्रान्तियों में इससे ज़्यादा बड़े परिवर्तन होते हैं। जब किसी राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ में सत्ता रहती है। इससे कई तरह के नुक़सान होते हैं, क्योंकि अधीन देश का शासन दूसरे के फ़ायदे के लिए किया जाता है या ऐसे शासन से विदेशी-वर्ग फ़ायदा उठाता है। अधीन लोगों के स्वाभिमान को इससे ज़बर्दस्त ठेस पहुँचती ही है। इसके अलावा विदेशी शासकवर्ग अधीन देश के ऊँचे वर्गों के लोगों को सत्ता और अधिकार के उन ओहदों से अलग रखता है जो उन्हें मिल सकते हैं। सफल राष्ट्रीय क्रान्ति कम-से-कम विदेशी तत्वों को तो हटा ही देती है और देश के प्रभावशाली तत्व फ़ौरन उनकी जगह ले लेते हैं। इस तरह इन वर्गों को तो यह बड़ा फ़ायदा होता है कि ऊपरवाला विदेशी वर्ग हट जाता है; और देश को यह आम फ़ायदा होता है कि उसका शासन दूसरे देश के हितों के लिए होना बन्द हो जाता है। हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ समाजी क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का कुछ ज़्यादा फ़ायदा नहीं होता।

समाजी क्रान्ति इन दूसरी क्रान्तियों से, जिनमें सिर्फ़ ऊपर-ऊपर की चीज़ों में ही परिवर्तन होता है, बिलकुल ही अलग मामला है। समाजी क्रान्ति में भी राजनीतिक क्रान्ति तो शामिल होती ही है, मगर यह राजनीतिक क्रान्ति से बहुत ज़्यादा गहरी होती है, क्योंकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है। इंग्लैण्ड की क्रान्ति, जिसने पार्लमेण्ट की सत्ता क़ायम कर दी थी, सिर्फ़ राजनीतिक क्रान्ति ही न थी; यह क्रान्ति एक हद तक समाजी भी थी; क्योंकि इसने ऊँचे मध्यम-वर्ग को सत्ताधारियों के साथ ला बैठाया। इस तरह इस ऊँचे मध्यम-वर्ग का राजनीतिक व समाजी दर्जा बढ़ गया और नीचे के मध्यम-वर्ग व जनता पर

कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति और भी ज़्यादा समाजी थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसने समाज की सारी व्यवस्था ही उलट दी और कुछ समय के लिए जनता के हाथ में अधिकार आ गया। आख़िरकार यहाँ भी मध्यम-वर्ग की ही जीत हुई। जनता क्रान्ति में अपना हिस्सा अदा कर ही चुकी थी, अब उसे फिर अपनी पुरानी जगह पर भेज दिया गया। हाँ, ख़ास अधिकारोंवाले अमीर-सरदार सदा के लिए जाते रहे।

ज़ाहिर है कि ऐसी समाजी क्रान्तियों के नतीजे कोरे राजनीतिक परिवर्तनों से बहुत ज़्यादा गहरे होते हैं और उनका समाजी हालतों से नज़दीकी सम्बन्ध होता है। किसी हौसलेबाज़ या मनचले आदमी या समुदाय का यह काम नहीं है कि वह समाजी क्रान्ति पैदा कर सके, जबतक कि हालतें ऐसी न हों जिनसे कि जनता उसके लिए तैयार हो। तैयार होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि लोगों से पहले तैयार होने को कह दिया गया हो और वे इरादा करके तैयार हों। बल्कि मेरा मतलब यह है कि समाजी और आर्थिक हालतें ऐसी होती हैं कि लोगों के लिए ज़िन्दगी हद से ज़्यादा भारी बोझ बन जाती है, और ऐसे परिवर्तन के सिवा उन्हें राहत की या ठीक ढंग से बैठने की सूरत नज़र नहीं आती। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर अनगिनती लोगों का जीवन उनके लिए ऐसा ही बोझ बना हुआ है, और ताज्जुब तो यह है कि उन्होंने इसे अब तक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी तो उन्होंने विद्रोह कर दिये हैं, ख़ासकर किसानों के विद्रोह हुए हैं, और ग़ुस्से में पागल होकर उन्होंने जो उनके हाथ पड़ गया, उसी को अन्धा-धुन्ध तहस-नहस कर दिया है। लेकिन समाजी व्यवस्था को बदल डालने का जानकर कोई इरादा इनमें नहीं था। पर इस बे-ख़बरी के होते हुए भी प्राचीन काल में रोम में, और मध्य-युगों में यूरोप में, भारत में व चीन में, बार-बार मौजूदा समाजी हालतें डाँवाडोल हुई हैं और उनकी वजह से कितने ही साम्राज्यों का पतन हुआ है।

पुराने ज़माने में समाजी व आर्थिक परिवर्तन धीरे-धीरे होते थे और लम्बे अर्से तक उत्पादन, वितरण और माल ढोने के तरीक़े लगभग वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगों को परिवर्तन की क्रिया का भान नहीं होता था और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। मज़हब ने इस व्यवस्था और उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाजों और विश्वासों के चारों ओर दैवी प्रभा-मण्डल बना दिया था। लोगों का यह विश्वास इतना पक्का हो गया था कि जब हालतें बदलने से यह व्यवस्था साफ़ तौर पर ज़माने से बेमेल हो गई तब भी उन्होंने इसे बदल डालने का कभी इरादा नहीं किया। औद्योगिक क्रान्ति के आने से और उसके सबब से माल ढोने के तरीक़ों में भारी परिवर्तन होने से, समाजी

परिवर्तन भी बहुत तेज़ी से होने लगे। नये वर्ग सामने आये और मालदार हो गये। औद्योगिक मज़दूरों का एक नया वर्ग पैदा हो गया, जो कारीगरों और खेतों पर काम करनेवाले मज़दूरों से बहुत जुदा था। इन सब बातों के लिए नई अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक परिवर्तनों की ज़रूरत हुई। पश्चिमी यूरोप की निराली ही बेढंगी हालत थी। समझदार समाज, जब कभी परिवर्तनों की ज़रूरत होती है तब, ज़रूरी परिवर्तन कर लेता है और इस तरह बदलती हुई हालतों का पूरा फ़ायदा उठा लेता है। मगर समाजों में समझदारी नहीं होती और सारा समाज एक साथ मिलकर विचार नहीं करता! हरेक आदमी अपनी ही और अपने ही फ़ायदे की बात सोचता है। एक-से स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते हैं। अगर कोई वर्ग किसी समाज पर राज करता है तो वह वहीं बना रहना और अपने से नीचे वर्गों को चूसकर फ़ायदा उठाते रहना चाहता है। अक़्लमन्दी और दूरन्देशी तकाज़ा करती है कि अन्त में अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि जिस समाज के हम अंग हैं, उस सारे समाज का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी व्यक्ति या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है, उसीको पकड़े रहना चाहता है। इसका सबसे आसान तरीक़ा दूसरे वर्गों और लोगों को यह यक़ीन दिलाते रहना है कि समाज की मौजूदा व्यवस्था से अच्छी और कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती। लोगों के दिलों पर यक़ीन जमाने के लिए मज़हब को बीच में घुसेड़ दिया जाता है; शिक्षा के ज़रिये भी यही पाठ पढ़ाया जाता है। बात अचम्भे की है, मगर होता यहाँतक है कि अन्त में लगभग सभी लोग इसमें पूरी तरह यक़ीन करने लगते हैं और व्यवस्था को बदलने का विचार ही नहीं करते। इस ढंग से मुसीबत उठानेवाले लोग भी सचमुच यह समझ बैठते हैं कि इस व्यवस्था का बना रहना अच्छा है और उनके लिए ठोकरें व घूँसे खाना और भूखों मरना ही ठीक है, भले ही दूसरे लोग गुलछर्रे उड़ावें।

इस तरह लोग खयाल कर लेते हैं कि समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज़्यादातर आदमियों को इसमें दुःख भोगना पड़ता है तो उसमें किसीका क़सूर नहीं है। क़सूर खुद उनका है, या उनकी क़िस्मत ही ऐसी है या उनके पिछले पापों की सज़ा है। समाज हमेशा रूढ़िवादी होता है, और परिवर्तन पसन्द नहीं करता। एक बार जिस लीक में पड़ जाता है, उसीपर चलते रहने में उसे मज़ा आता है और उसे यह पक्का विश्वास होता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। यहाँतक कि जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने के इरादे से उसे लीक छोड़कर चलने को कहते हैं, वह ज़्यादातर उन्हीं को सज़ा देता है।

लेकिन समाजी व आर्थिक हालतें उन लोगों की मर्ज़ी का इन्तज़ार नहीं करतीं, जो समाज के बारे में कुछ नहीं सोचते या आराम से बैठे रहते हैं। वे आगे

बढ़ी चली जाती हैं, भले ही लोगों के विचार जैसे-के-तैसे बने रहें। इन जूने विचारों और असलियत के बीच का फ़ासला बढ़ता रहता है, और अगर इस खाई को पाट कर दोनों को मिलाने का कुछ भी उपाय नहीं किया जाता है, तो ढाँचा तड़क जाता है और आफ़तों का पहाड़ टूट पड़ता है। असली समाजी क्रान्तियाँ इसी तरह से होती हैं। अगर हालतें ऐसी हों, तो क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि दक़ियानूसी विचार उसे पीछे की ओर खींचकर देर लगवा दें। अगर हालतें ऐसी नहीं हों तो कुछ व्यक्ति चाहे कितना ही ज़ोर लगावें, क्रान्ति नहीं पैदा कर सकते। जब क्रान्ति फूट ही पड़ती है तो फिर असली हालतों को लोगों की आँखों से छिपानेवाला पर्दा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते हैं। एक बार लीक के बाहर निकलते ही वे सरपट दौड़ते हैं। यही वजह है कि क्रान्ति के समय में लोग ज़बर्दस्त वेग से आगे बढ़ते हैं। इस तरह क्रान्ति रूढ़िवाद और पीछे रुके रहने का अटल नतीजा होती है। अगर समाज इस बेवकूफ़ी की भूल में न फँसे कि कोई अटल समाज-व्यवस्था भी होती है, बल्कि हमेशा बदलती हुई हालतों के साथ-साथ चलता रहे, तो समाजी क्रान्ति होगी ही नहीं। फिर तो लगातार विकास होता चला जायगा।

पहले कोई इरादा बिना किये ही मैं क्रान्तियों के बारे में ज़रा विस्तार से लिख गया हूँ। यह विषय मुझे पसन्द है, क्योंकि आज दुनियाभर में बेमेल बातें नज़र आ रही हैं और बहुत-सी जगहों में समाजी ढाँचा टूटता दिखाई दे रहा है। पिछली समाजी क्रान्तियों का ऐलान इसी तरह हुआ है और इसीलिए सहज ही विश्वास होने लगता है कि हम भी दुनिया में होनेवाले महान् परिवर्तनों के दरवाज़े पर खड़े हैं। विदेशी राज के अधीन सारे देशों की तरह भारत में भी राष्ट्रीयता और देश को विदेशी राज से छुड़ाने की इच्छा ज़ोर पकड़ रही है। मगर यह राष्ट्रीय उमंग ज़्यादातर आसूदा वर्गों में ही है। यह लाज़िमी बात है कि किसान-वर्ग, मज़दूरों और दूसरे लोगों को, जो हमेशा तंगी भुगतते रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन धुंधले सपनों में इतनी दिलचस्पी नहीं है, जितनी अपने खाली पेट भरने की चिन्ता में। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य बे-मतलब है, अगर उसके साथ उन्हें ज़्यादा ख़ूराक न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए आज भारत में सवाल सिर्फ़ राजनीतिक नहीं है; इससे भी ज़्यादा वह समाजी है।

क्रान्तियों के बारे में मेरा यह असली विषय से भटक जाना इसलिए लम्बा हो गया कि जिस उन्नीसवीं सदी पर मैं विचार कर रहा था, उसमें यूरोप में कई विद्रोह व उपद्रव हुए हैं। इन विद्रोहों में से कितने ही विद्रोह, ख़ासकर इस सदी के शुरू में होनेवाले, विदेशी हुक़ूमत के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय बलवे थे। इसके साथ-साथ

उद्योगों वाले देशों में समाजी विद्रोह के विचार नये मज़दूर-वर्ग और उसके पूंजीशाही मालिकों के बीच झगड़ा फैलाने लगे। लोग समाजी क्रान्ति लाने के लिए समझ-बूझकर विचार करने लगे और कोशिश करने लगे।

१८४८ ई० का साल यूरोप में क्रान्तियों का साल कहलाता है। इस साल कितने ही देशों में बलवे हुए। उनमें से कुछ सफल हुए, लेकिन ज्यादातर विफल होकर ख़त्म हो गये। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हंगरी के बलवों की तह में दबाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड का विद्रोह प्रशिया के खिलाफ़ था और बोहेमिया व उत्तर-इटली का आस्ट्रिया के खिलाफ़। ये सब दबा दिये गए। इन विद्रोहों में आस्ट्रिया के खिलाफ़ हंगरी का विद्रोह सबसे बड़ा था। इसका नेता लोयोस कोसूथ था। यह हंगरी के इतिहास में एक देशभक्त और आज़ादी के लिए लड़नेवाला मशहूर है। दो वर्षों तक लोहा लेने के बावजूद यह विद्रोह भी दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी को सफलता मिली, मगर इस बार उसका लड़ाई का ढंग दूसरा था, और इस लड़ाई का नायक एक दूसरा बड़ा नेता देआक था। ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि देआक ने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीक़े अपनाये। १८६७ ई० में हंगरी और आस्ट्रिया ने बहुत-कुछ बराबरी के आधार पर मिलकर हैप्सबर्ग सम्राट् फ़ान्सिस जोज़फ़ के अधीन 'दोहरी राजशाही' बनाई। पचास वर्ष बाद देआक के निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीक़ों की नकल आयर्लैण्डवालों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ की। जब १९२० ई० में भारत में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तो कुछ लोगों को देआक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनों तरीक़ों में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

१८४८ ई० में जर्मनी में भी विद्रोह हुए, मगर वे बहुत गम्भीर नहीं थे। वे दबा दिए गए और कुछ सुधारों का वादा कर दिया गया। फ़ान्स में बड़ा परिवर्तन हुआ। १८३० ई० में जबसे बोर्बनों को निकाल दिया गया था, तभी से लुई फ़िलिप की बादशाहत थी। यह एक किस्म का आधा-संवैधानिक राजा था। १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब गये और उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। फिर गणराज्य क़ायम हुआ। यह दूसरा गणराज्य कहलाया, क्योंकि पहला तो बड़ी राज्य-क्रान्ति के दौरान क़ायम हुआ था। इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर नेपोलियन का एक भतीजा लुई बोनापार्ट पेरिस में आया और स्वतन्त्रता का बड़ा हामी बनकर गणराज्य का राष्ट्रपति चुन लिया गया। यह सत्ता हथियाने का सिर्फ़ ढोंग था। जब उसकी जड़ जम गई तो उसने फ़ौज पर भी क़ब्ज़ा कर लिया और १८५१ ई० में वह चाल खेली जो राजनीतिक चालबाज़ी कहलाती है। उसने अपने सिपाहियों के बल पर पेरिस पर आतंक जमाया, बहुत लोगों को गोलियों से उड़ा दिया और असेम्बली को डराकर दबा दिया। अगले साल वह सम्राट् बन बैठा और उसने

अपना नाम नेपोलियन तृतीय रख लिया, क्योंकि महान् नेपोलियन का पुत्र नेपोलियन द्वितीय माना जाता था, हालाँकि उसने कभी राज नहीं किया। इस तरह चार वर्षों से कुछ ही ज़्यादा समय की छोटी-सी और बदनाम ज़िन्दगी के बाद यह दूसरा गणराज्य ख़त्म हो गया।

इंग्लैण्ड में १८४८ ई० में कोई विद्रोह तो नहीं हुआ, मगर झगड़े और उपद्रव बहुत हुए। इंग्लैण्ड का यह ढंग है कि जब सचमुच मुसीबत सामने आ जाती है तो वह उसके समाने झुककर उससे बच जाता है। उसका संविधान लचीला होने की वजह से इसमें मदद करता है। बहुत दिनों के अभ्यास ने अंग्रेज़ को ऐसा बना दिया है कि जब और कोई रास्ता न दिखाई दे तो वह कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीक़े से अंग्रेज़ों ने किसी-न-किसी तरह ऐसे बड़े-बड़े और अचानक परिवर्तनों को टाल दिया है; जो ज़्यादा सख़्त संविधानों और कम समझौता-पसन्द लोगों के देशों में हुए हैं। १८३२ ई० में इंग्लैण्ड में एक सुधार-बिल को लेकर बड़ी भारी हलचल मची। इस बिल में कुछ ज़्यादा लोगों को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का हक़ दिया गया था। आजकल के पैमाने से देखें तो यह बिल बहुत मुलायम था और कोई बुरा लगनेवाला नहीं था। मध्यम-वर्ग के कुछ ज़्यादा लोगों को वोट का अधिकार दिया गया था। मज़दूरों व दूसरे ज़्यादातर लोगों को अब भी वोट का हक़ नहीं था। मगर उन दिनों पार्लमेण्ट थोड़े-से मालदार लोगों के हाथों में थी। उन्हें अपने ख़ास अधिकारों और 'सड़े हुए चुनाव-क्षेत्रों' के छिन जाने का डर था, जिनसे वे पार्लमेण्ट की कॉमन्स-सभा में बिना किसी दिक़्क़त के चुनकर आ जाते थे। इसलिए इन लोगों ने अपना सारा ज़ोर लगाकर सुधार-बिल का विरोध किया और कहा कि अगर यह बिल पास हो गया तो इंग्लैण्ड बर्बाद हो जायगा और दुनिया डूब जायगी। इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध छिड़ने ही वाला था कि सार्वजनिक आन्दोलन ने विरोधी दल के छक्के छुड़ा दिये और वे बिल को पास कराने के लिए राज़ी हो गये। कहना न होगा कि इंग्लैण्ड बच गया और पार्लमेण्ट की बागडोर भी पहले ही की तरह मालदारों के हाथों में बनी रही। आसूदा मध्यम-वर्गों के हाथ में कुछ ज़्यादा सत्ता आ गई।

१८४८ ई० के आसपास इंग्लैण्ड को एक और बड़ी हलचल ने हिला डाला। यह 'अधिकारपत्री आन्दोलन'[१] कहलाया; क्योंकि इसने कई तरह के सुधारों की माँग का 'जनता का अधिकार-पत्र'[२] एक भारी-भरकम अर्ज़ी के साथ पार्लमेण्ट में पेश करने का इरादा किया था। शासकवर्गों के दिलों को ख़ूब दहलाने के बाद यह आन्दोलन दबा दिया गया। कारख़ानों के मज़दूर-वर्गों में बहुत मुसीबत

---

[१] Chartist Agitation.
[२] People's Charter.

और बेचैनी थी। इसी समय मज़दूरों के बारे में कुछ क़ानून बनने लगे और उनसे मज़दूरों की हालत ज़रा सुधरी। इंग्लैण्ड अपने बढ़ते हुए व्यापार से ख़ूब धन कमा रहा था। वह 'दुनिया का कारख़ाना-घर' बन रहा था। यह मुनाफ़ा ज़्यादातर तो कारख़ानों के मालिकों को मिलता था, पर मज़दूरों तक भी उसकी कुछ बूंदें पहुँच जाती थीं। इन सब कारणों से १८४८ ई० में बलवा होने से बच गया। मगर उस समय तो वह नज़दीक दिखाई दे रहा था।

अभी मैंने १८४८ ई० का हाल पूरा नहीं किया है। उस साल रोम में क्या हुआ, यह बताना अभी बाक़ी है। इसे दूसरे पत्र के लिए उठा रखना पड़ेगा।

: १२७ :

इटली संयुक्त और आज़ाद राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३
वसन्त-पंचमी

१८४८ ई० के बयान में मैंने इटली की कहानी सबके बाद रक्खी है। इस वर्ष की थर्रानेवाली घटनाओं में सबसे ज़्यादा आकर्षक रोम की लड़ाई थी।

नेपोलियन के समय से पहले इटली छोटे-छोटे राज्यों और छुटभैय्ये राजाओं की पैबन्दकारी-सा था। कुछ अर्से के लिए नेपोलियन ने उसे एक कर दिया था। नेपोलियन के बाद उसकी फिर पहले-जैसी या उससे भी बुरी हालत हो गई। विजयी मित्र-राष्ट्रों ने १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़ा लिहाज़ करके इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके चारों ओर का बड़ा-सा इलाक़ा ले लिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गए। पोप ने आकर रोम और उसके आसपास के राज्यों में अपना राज्य बना लिया। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनों सिसलियों का एक राज्य एक बोर्बन राजा के मातहत कर दिया गया। फ़्रान्स की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीदमॉन्त और सार्डीनिया का बादशाह था। पीदमॉन्त को छोड़कर बाक़ी के इन सब छोटे-छोटे बादशाहों व राजाओं ने बड़ा निरंकुश राज किया और अपनी प्रजाओं को इतना सताया जितना कि नेपोलियन से पहले इन्होंने या और किसी ने नहीं सताया था। लेकिन नेपोलियन के हमले ने देश को हिला दिया था, नवयुवकों में आज़ाद और संयुक्त इटली की भावनाएँ भर दी थीं। शासकों के अत्याचारों के बावजूद, या और शायद उनके सबब से, कई छोटे-मोटे बलवे हुए और गुप्त समितियों का जाल बिछ गया।

जल्द ही वहाँ एक सरगर्म नवयुवक आगे आया, जो आज़ादी के आन्दोलन

का नेता मान लिया गया। यह इटली की राष्ट्रीयता का पैग़म्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। १८३१ ई० में उसने 'जिओवेन इतालिया' (नौजवान इटली) नामक समिति का संगठन किया, जिसका उद्देश्य इटालवी गणराज्य क़ायम करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षों तक काम किया। उसे देश-निकाले में भी रहना पड़ा और अक्सर अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ी। उसकी कई रचनाएँ राष्ट्रवादी साहित्य के रत्न बन गई हैं। १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली में जगह-जगह विद्रोह की आग भड़क रही थी, मैज़िनी को मौक़ा मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियों की समिति के मातहत गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। इस समिति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार 'त्रियमवीर' नाम दिया गया। इनमें एक मैज़िनी था। इस नये गणराज्य पर चारों तरफ़ से हमले होने लगे, आस्ट्रियावालों का, नेपल्सवालों का और यहाँतक कि फ़्रान्सीसियों का भी, जो पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम गणराज्य की तरफ़ से लड़नेवालों का सरदार गैरीबाल्दी था। उसने आस्ट्रियावालों को रोक रक्खा, नेपल्सवालों को हरा दिया और फ़्रान्सीसियों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब, स्वयंसेवकों की मदद से किया गया और गणराज्य को बचाने के वास्ते रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवकों ने अपनी जानें दीं। पर अन्त में बड़ी वीरता से लड़ने के बाद रोम गणराज्य फ़्रान्सीसियों से हार गया, और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह लड़ाई के पहले दौर का अन्त हुआ। प्रचार और अगले बड़े मोर्चे की तैयारी के रूप में मैज़िनी व गैरीबाल्दी अपना-अपना काम अलग-अलग तरीक़ों से करते रहे। इन दोनों में आपस में बहुत फ़र्क़ था। एक विचारक और आदर्शवादी था, और दूसरा सिपाही था और छापा-मार युद्ध-कला का उस्ताद था। दोनों में इटली की आज़ादी और एकता के लिए ज़बर्दस्त लगन थी। इसी समय इस बड़े खेल में एक तीसरा खिलाड़ी और आगे आया। यह पीदमॉन्त के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमन्त्री कावूर था। उसका ख़ास इरादा विक्टर इम्मैनुएल को इटली का बादशाह बनाना था। चूँकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओं को दबाने और हटाने की ज़रूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्दी की हलचलों का फ़ायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ़्रान्सीसियों से मिलकर साज़िश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रियावालों के साथ लड़ाई में फँसा दिया। उस समय फ़्रान्स का शासक नेपोलियन तृतीय था। यह १८५९ ई० की बात है। फ़्रान्सीसियों के हाथों आस्ट्रियावालों की हार से गैरीबाल्दी ने फ़ायदा उठाया और नेपल्स व सिसली के बादशाह पर अपने ही बल-बूते पर और अपनी ही कमान में एक अनोखी चढ़ाई कर दी। गैरीबाल्दी और उसके एक हज़ार

'लाल-कुर्तों' की यह मशहूर चढ़ाई थी। इन लोगों ने, जिन्हें न तो सैनिक ट्रेनिंग मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई सीखी-सिखाई सेनाओं का मुक़ाबला किया। दुश्मन की सेना इन एक हज़ार लाल-कुर्तों से बहुत ज्यादा थी, लेकिन उनके जोश और जनता की हिमायत ने उन्हें विजय-पर-विजय हासिल करा दी। गैरीबाल्दी की कीर्ति चारों तरफ़ फैल गई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके नज़दीक पहुँचते ही फ़ौजें तितर-बितर हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्दी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह और उसके स्वयंसेवक पराजय और तबाही के किनारे पहुँच जाते थे। लेकिन पराजय की घड़ियों में भी नसीब उसका साथ देता था और पराजय को विजय में बदल देता था। जान झोंकने की हिम्मत करनेवालों की क़िस्मत अक्सर इसी तरह साथ देती है।

गैरीबाल्दी और उसके हज़ार साथी सिसली के तट पर उतरे। वहाँ से वे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे इटली तक जा पहुँचे। दक्षिण इटली के गाँवों में होकर कूँच करता हुआ वह स्वयंसेवकों की माँग करता जाता था और उन्हें निराले ही इनाम देने की बात करता था। वह कहता था—"चले जाओ! चले जाओ! जो घर में घुसा रहता है, वह कायर है। मैं तुम्हें थकान, तकलीफ़ें और लड़ाइयाँ देने का वादा करता हूँ। लेकिन हम या तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की क़द्र करती है। गैरीबाल्दी की शुरू की सफलताओं ने इटली के लोगों की राष्ट्रीय भावना को ऐसा उभारा कि स्वयंसेवकों का ताँता बँध गया और वे गैरी-बाल्दी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ़ बढ़े। उस गीत का आशय यह है :

उघड़ गई हैं क़ब्रें, मुर्दे दूर-दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में, औ' कीर्त्ति ध्वजों के साथ,
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण, अमर शहीदों के अपने,
जिनके मृत हृदयों में गर्मी, इटली का नाम रहा है भर।
आओ, दो उनका साथ, देश के नवयुवको!
तुम चलो उन्हींके पीछे!
आओ, फहरा दो झण्डा अपना औ' बाजे जंगी सब साजो!
आ जाओ, सब लेकर ठण्डी फ़ौलादी तलवारें, लेकिन हो आग हृदय में भरी
हुई, आ जाओ सब लेकर इटली की आशाओं की ज्योति अरे!
इटली से बाहर हो, ओ परदेशी,
तू बाहर निकल हमारे प्यारे वतन इटाली से!

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने समान होते हैं!

कावूर ने गैरीबाल्दी की सफलताओं से फ़ायदा उठाया। और इस सबका

नतीजा यह हुआ कि १८६१ ई० में पीदमॉन्त का विक्टर इम्मैनुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभी तक फ़ान्सीसी सिपाहियों का क़ब्ज़ा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालों का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाक़ी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आख़िर इटली एक संयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मैज़िनी को इससे ख़ुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र गणराज्य के आदर्श के लिए जान लड़ाई थी और अब इटली सिर्फ़ पीदमॉन्त के विक्टर इम्मैनुएल की रियासत बन गया। यह सही है कि नया राज्य संविधानी राज्य था, और विक्टर इम्मैनुएल के राजा बनते ही फ़ौरन त्यूरिन में इटली की पार्लमेण्ट की बैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी राज से आज़ाद हो गया। यह तीन आदमियों की—मैज़िनी, गैरीबाल्दी और कावूर की करामात थी। इन तीनों में से एक भी न होता तो शायद इस आज़ादी को आने में बहुत देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज़ कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इस पर एक कविता लिखी थी, जिसका आशय यह है:

हमने इटैलिया को घोर पीड़ा में देखा है,
वह उठने भी न पाई थी कि उसे
फिर ज़मीन पर फेंक दिया गया,
और आज जब वह गेहूं के पके हुए खेत की तरह,
जहाँ कभी हल चलते थे,
वरदानमयी तथा सुन्दर है,
तब हमें उनकी याद आती है,
जिन्होंने उसके ढांचे में जीवन की साँस फूंकी:
कावूर, मैज़िनी, गैरीबाल्दी: तीनों:
एक उसका मस्तिष्क, एक आत्मा, एक तलवार;
जिन्होंने एक प्रकाशमान उद्देश्य को लेकर
विनाशकारी आन्तरिक कलह से
उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हें थोड़े-से शब्दों में और मोटी-मोटी बातों को उभारकर इटली की आज़ादी की लड़ाई की कहानी सुना दी है। यह छोटा-सा बयान तुम्हें मुर्दा इतिहास के किसी भी दूसरे टुकड़े की तरह लगेगा। मगर मैं तुम्हें बताता हूँ कि तुम इस कहानी को जानदार कैसे बना सकती हो, और अपने दिल को इस लड़ाई की ख़ुशी और तड़प से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही महसूस हुआ था। मैंने यह कहानी ट्रेविलियन

की तीन पुस्तकों में पढ़ी थी। वे थीं, 'गैरीबाल्दी और रोमन गणराज्य के लिए युद्ध',[1] 'गैरीबाल्दी और उसके हज़ार सिपाही',[2] 'गैरीबाल्दी और इटली का निर्माण'।[3]

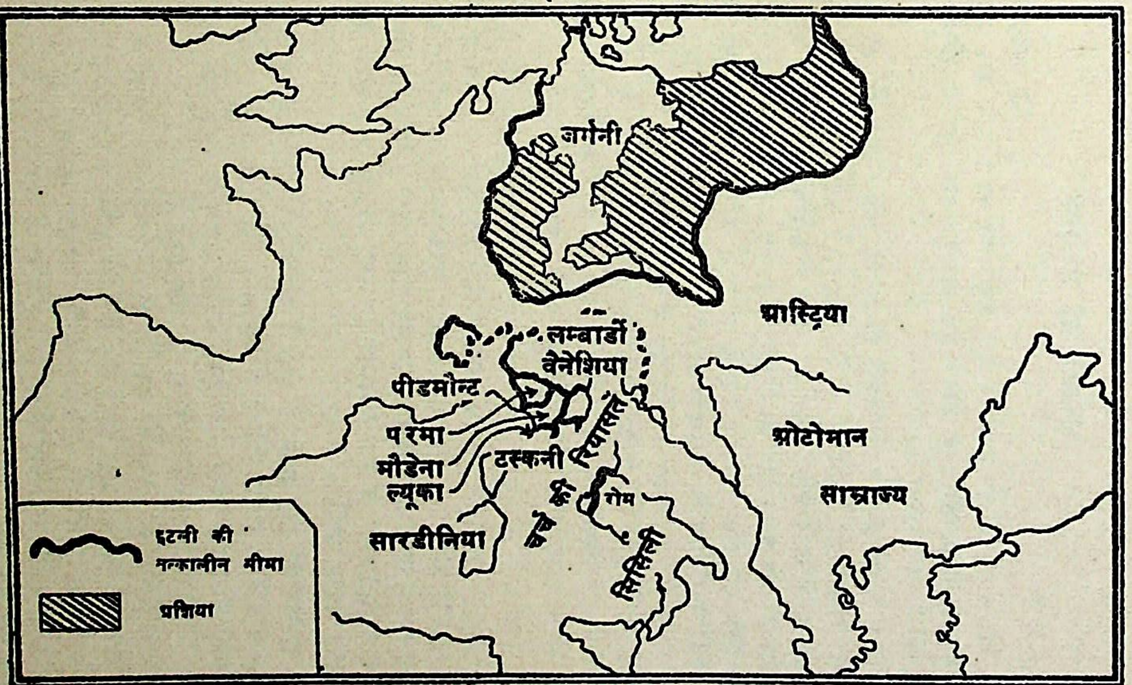
इटली की आज़ादी की लड़ाई के दिनों में अंग्रेज़ जनता की सहानुभूति गैरीबाल्दी और उसके लाल कुर्तों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज़ कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कविताएँ लिखी थीं। यह अजीब बात है कि जहाँ अंग्रेज़ों का स्वार्थ आड़े नहीं आता वहाँ उनकी सहानुभूति अ.सर आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के साथ किस तरह हो जाती है! यूनान आज़ादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन को और दूसरे लोगों को भेज देते हैं। इटली को वे अपनी सारी शुभ-कामनाएँ भेजते हैं और उसे हिम्मत दिलाते हैं। मगर अपने पड़ौसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और भारत या दूसरे देशों में उनके दूत मशीनगनें और तबाही ले जाते हैं। उस समय इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरेडिथ और एलिज़ाबेथ बैरेट ब्राउनिंग ने बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी थीं। मेरिडिथ ने तो इस विषय पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ, जो 'रोम के सामने पड़ाव'[4] के नाम से मशहूर है। यह उस समय लिखी गई थी जबकि इटली की लड़ाई जारी थी, और उसमें बहुत रुकावटें सामने आ रही थीं, और उसके कई देशद्रोही विदेशी मालिकों का काम कर रहे थे।

तुम क्रीतदास जिस स्वामी के, वह ही देगा उपहार तुम्हें,
उपहार भला क्या दे सकती है स्वतन्त्रता की देवि तुम्हें;
वह आश्रयहीना स्वतन्त्रता, आवास नहीं जिसका कोई,
वह बिना रुकावट सीमा के, प्रेरित करती जिन सेनाओं को,
बढ़ने को आगे नित ही।
वे सेनाएँ खोकर निज आँखों की निद्रा,
भूखों मरती, औ' खून बहाती चलती हैं,
निज प्राणों से आज़ादी के बोती जाती हैं बीज, तथा
बढ़ती जाती हैं, यह इच्छा लेकर—
उनकी मिट्टी से फिर निर्माण राष्ट्र का हो जाये,
औ' आत्माएँ उनकी करदें ज्योतित उसके ही तारे को।

---

[1] Garibaldi and the Fight for the Roman Republic.
[2] Garibaldi and the Thousand.
[3] Garibaldi and the Making of Italy.
[4] The Halt Before Rome.

जर्मनी तथा इटली का उत्कर्ष



: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले पत्र में हम यूरोप के एक बड़े राष्ट्र का निर्माण देख चुके हैं, जिसे आज हम इतनी अच्छी तरह जानते हैं। अब हमें एक और आधुनिक बड़े राष्ट्र जर्मनी का निर्माण देखना है।

एक भाषा और दूसरे कितने ही एक-से लक्षण होते हुए भी जर्मन क़ौम बहुत-सी छोटी-बड़ी रियासतों में बँटी हुई थी। कई सदियों तक हैप्सबुर्गों का आस्ट्रिया सबसे बड़ी जर्मन-शक्ति था। बाद में प्रशिया आगे आया और इन दोनों शक्तियों के बीच जर्मन क़ौम की नेतागिरी के लिए बड़ी लाग-डाँट रही। नेपोलियन ने इन दोनों को नीचा दिखाया। इसके सबब से जर्मन राष्ट्रीयता ज़ोरदार हो गई और वही नेपोलियन की आख़िरी पराजय में सहायक हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनों में नेपोलियन ने, अनजान में और बिना चाहे, राष्ट्रीय भावना और आज़ादी के विचारों को उत्तेजना दी। नेपोलियन के ज़माने के जर्मन राष्ट्रवादी नेताओं में एक फ़िक्टे था, जो दार्शनिक भी था और लगनवाला देशभक्त भी। उसने अपने देशवासियों को जगाने का बहुत काम किया था।

नेपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतें बनी रहीं। उनका संघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं, मगर वे असफल हुईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनों के शासक और सरकारें संघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच में सभी उदार विचारों का ख़ूब दमन हुआ। १८३० ई० और १८४८ ई० में विद्रोह हुए। मगर वे दबा दिये गए। जनता का मुँह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार जारी किये गए।

इंग्लैण्ड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सों में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थीं। इससे वहाँ की हालत उद्योगों के विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी भी अपने दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और सिपाहियों के लिए मशहूर था। वहाँ कारख़ाने खड़े हो गये और औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस स्थिति में, उन्नीसवीं सदी के बीच के लगभग, प्रशिया में एक व्यक्ति उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनों तक न सिर्फ़ जर्मनी पर बल्कि यूरोप की राजनीति पर हावी होनेवाला था। यह व्यक्ति प्रशिया का एक ज़मींदार था और इसका नाम ओटोवान बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लड़ाई के साल[1] में पैदा

---

[1] सन् १८१५ ई०।

हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारों में कई वर्ष राजनयिक राजदूत का काम किया था। १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधानमन्त्री बना और फ़ौरन ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधानमन्त्री बनने के एक हफ़्ते के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस ज़माने की बड़ी समस्याएँ भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों से नहीं बल्कि लोहे और ख़ून से हल होंगी।"

लोहा और ख़ून! ये शब्द, जो मशहूर हो गये, सचमुच उसकी उस नीति को दर्शाते थे, जिसे उसने दूरन्देशी और सख़्ती के साथ निभाया। उसे लोकतन्त्र से नफ़रत थी और वह पार्लमेण्टों और लोकप्रिय विधान-सभाओं को हिक़ारत की नज़र से देखता था। वह पुराने ज़माने की एक निशानी मालूम होता था, मगर इतना क़ाबिल व पक्के इरादेवाला था कि उसने वर्तमान को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। उसने आधुनिक जर्मनी को बनाया और उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप के इतिहास को अपने साँचे में ढाला। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का जर्मनी तो पीछे रह गया, और ख़ून व लोहेवाला और बहुत बढ़िया फ़ौजोंवाला नया जर्मनी यूरोप के महाद्वीप पर हावी होने लगा। उस समय के एक नामी जर्मन ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को महान् बना रहा है और जर्मनों को छोटा।" जर्मनी को यूरोप में और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में महान् शक्ति बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग ख़ुश होते थे, और बढ़ती हुई राष्ट्रीय शान की चकाचौंध से वे बिस्मार्क के सब तरह के अत्याचारों को बर्दाश्त कर लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ में जब बागडोर आई तब उसके दिमाग़ में साफ़-साफ़ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है, और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह पक्के इरादे से उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्भुत सफलता मिली। वह जर्मनी की, और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया की, यूरोप में प्रभुता क़ायम करना चाहता था। उस समय नेपोलियन तृतीय के मातहत फ़्रान्स यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा मुक़ाबलेदार था। पुराने ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर बड़ा मज़ा आता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियों को किस तरह खेल खिलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कैसे निबटता था। सबसे पहली चीज़, जिसे करने का उसने बीड़ा उठाया था, यह थी कि जर्मनी की नेतागिरी का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डाँट जारी रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का आख़िरी फ़ैसला प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ़्रान्स की बारी थी। (यह याद रखना कि जब मैं प्रशिया, आस्ट्रिया और फ़्रान्स की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहाँ की सरकारों

से है। ये सरकारें थोड़ी या बहुत निरंकुश थीं और वहाँ की पार्लमेण्टों के हाथ में कोई सत्ता नहीं थी।)

बस, बिस्मार्क ने अपनी फ़ौजी मशीन को चुपचाप मुकम्मिल कर लिया। इसी बीच में नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला करके उसे हरा दिया। इस हार ने गैरीबाल्दी को दक्षिण इटली में फ़ौजी कार्रवाई के लिए मजबूर किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि इटली सदा के लिए आज़ाद हो गया। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया कमज़ोर पड़ गया। रूसी पोलैण्ड में जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ तो बिस्मार्क ने सचमुच ज़ार को यह प्रस्ताव भेजा कि ज़रूरत पड़े तो वह पोलों को गोलियों से उड़ाने में मदद देने को तैयार है। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर यूरोप की किसी आगे की उलझन में ज़ार की सहानुभूति हासिल करने का मतलब इससे पूरा हो गया। फिर आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और इसके बाद जल्दी ही उसने आस्ट्रिया की तरफ़ मुँह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ़ान्स और इटली को राज़ी कर लिया था। १८६६ ई० में कुछ ही समय में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मनों के नेता का सवाल तय कर लिया और यह ज़ाहिर कर दिया कि प्रशिया ही उनका नेता है, तो फिर उसने बड़ी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्ताव किया, जिससे कोई कड़वाहट बाक़ी न रहे। अब प्रशिया की नेतागिरी में एक उत्तर-जर्मन संघ बनाने का रास्ता साफ़ हो गया (आस्ट्रिया उसमें नहीं था)। बिस्मार्क इस संघ का चान्सलर बना। आजकल जहाँ हमारे कुछ राजनीति व क़ानून के पण्डित महीनों और वर्षों संघों और संविधानों के बारे में चर्चाएँ और दलीलें किया करते हैं, वहाँ ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन संघ का नया विधान पाँच घण्टे में लिखवा दिया था। यही संविधान, इधर-उधर के कुछ हेर-फेर के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का संविधान बना रहा; यानी महायुद्ध के बाद, १९१८ ई० में, जब गणराज्य क़ायम हुआ, तबतक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान् उद्देश्य हासिल कर लिया था। दूसरा क़दम फ़ान्स को नीचा दिखाकर यूरोप में अपनी प्रभुता का दर्जा क़ायम करना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। साथ-साथ वह जर्मनी की एकता क़ायम करने का जतन करता रहा और साथ ही दूसरी यूरोपीय शक्तियों को अपनी नेक-नीयती का दिलासा देता रहा। हारे हुए आस्ट्रिया के साथ भी ऐसी नर्मी का बर्ताव किया गया कि आपसी बैर-भाव बहुत-कुछ दूर हो गया। इंग्लैण्ड और फ़ान्स के बीच तो ऐतिहासिक मुक़ाबलेदारी चली आती थी, और इंग्लैण्ड नेपोलियन तृतीय की हौसलाभरी योजनाओं को बड़ी शंका की नज़र से देखता था। इसलिए फ़ान्स के खिलाफ़ किसी भी लड़ाई में इंग्लैण्ड की हमदर्दी हासिल करता बिस्मार्क

के लिए कठिन नहीं था। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि वास्तव में, १८७० ई० में, नेपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के ख़िलाफ़ युद्ध का ऐलान कर दिया। यूरोप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही हमलावर फ़्रान्स की बेक़सूर शिकार हुई है। पेरिस के लोग 'बर्लिन को ! बर्लिन को !' चिल्लाने लगे और नेपोलियन तृतीय ने अपने मन में बड़े आराम से समझ लिया कि वह अपनी विजयी फ़ौज के साथ सचमुच बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क का सधा हुआ फ़ौजी यन्त्र फ़्रान्स की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ा और उसके आगे फ़्रान्स की फ़ौज तितर-बितर हो गई। कुछ ही सप्ताहों के भीतर सेदान में ख़ुद सम्राट् नेपोलियन तृतीय को और उसकी फ़ौज को जर्मनों ने क़ैद कर लिया।

इस तरह नेपोलियन वंश का दूसरा फ़्रान्सीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और फ़ौरन ही पेरिस में गणराज्यी शासन क़ायम हो गया। नेपोलियन तृतीय के पतन के कई सबब थे। सबसे बड़ा यह था कि अपनी दमन-नीति की वजह से वह प्रजा में बिलकुल बदनाम हो चुका था। विदेशों से युद्ध करके उसने जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की; आफ़त में फँसे हुए बादशाहों और सरकारों का यह मुँह-लगा तरीक़ा है। नेपोलियन सफल नहीं हुआ। हाँ, युद्ध ने उसके हौसलों को ज़रूर सदा के लिए ख़त्म कर दिया।

पेरिस में 'राष्ट्रीय सुरक्षा' की सरकार बनी। उसने प्रशिया के सामने सुलह का प्रस्ताव रक्खा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी ज़लील करनेवाली थीं कि उन्हें लड़ाई जारी रखने का फ़ैसला करना पड़ा, हालाँकि उनकी सारी फ़ौजें क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुकी थीं। जर्मन फ़ौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारों तरफ़ घेरा डाले पड़ी रहीं। अन्त में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये गणराज्य ने हार मानकर बिस्मार्क की कठोर शर्तें मंजूर कर लीं। युद्ध के हर्जाने की भारी रक़म देना क़बूल किया गया, और जिस बात से फ़्रान्स को सबसे ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसास व लॉरेन के प्रान्त, दो सौ साल से ज्यादा फ़्रान्स के अंग रहने के बाद, जर्मनी के हवाले कर देने पड़े।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। १८७० ई० के सितम्बर में तो नेपोलियन तृतीय के फ़्रान्सीसी साम्राज्य का अन्त हुआ, और १८७१ ई० की जनवरी में, वर्साई के सोलहवें लुई के राजमहल के शानदार दीवानख़ाने में, संयुक्त जर्मनी की घोषणा हुई और प्रशिया का बादशाह क़ैसर के नाम से सम्राट् बना। जर्मनी के सब राजाओं और प्रतिनिधियों ने वहाँ जमा होकर अपने नये सम्राट् क़ैसर को ताज़ीम दी। अब प्रशिया के

होहेनत्सॉलर्न का राजघराना एक शाही घराना बन गया और संयुक्त जर्मनी संसार की एक बड़ी शक्ति हो गया।

इधर वर्साई में खुशी और उत्सव मनाये जा रहे थे, और उधर पास ही पेरिस में रंज और मुसीबत और पूरी ज़लालत छाई हुई थी। अपने ऊपर पड़ने-वाली इतनी आफ़तों के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई मज़बूत या जमी हुई सरकार नहीं थी। राष्ट्रीय विधान-सभा में राजाशाही लोग बड़ी संख्या में चुनकर आ गये थे और ये लोग राजाशाही को फिर से क़ायम करने की साज़िशें कर रहे थे। उन्होंने अपने रास्ते का काँटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक-दल के हथियार छीनने की कोशिश की, क्योंकि यह दल गणराज्यवादी समझा जाता था। शहर के सब लोकतन्त्रवादी और क्रान्तिकारी तत्वों को ऐसा लगा कि इसका अर्थ प्रतिक्रिया और दमन है। इसलिए, १८७१ ई० के मार्च में, बलवा हुआ और पेरिस के 'कम्यून' (पंचायती राज) की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और फ़्रान्स की महान् राज्यक्रान्ति से प्रेरणा लेती थी। मगर इसमें इससे ज़्यादा और भी बहुत-कुछ था। कुछ धुँधली ही सही, पर इसमें वे समाजवादी विचारधाराएँ शामिल थीं, जो उस समय पैदा हो चुकी थीं। एक तरह से यह रूस की सोवियतों के लिए नमूना बनी।

मगर १८७१ ई० का यह पेरिस कम्यून थोड़े ही दिन टिका। राजाशाही व ऊँचे मध्यम-वर्ग के लोगों ने आम जनता की इस बग़ावत से डरकर पेरिस के उस हिस्से पर घेरा डाल दिया, जो कम्यून के अधीन था। पास ही वर्साई में, और दूसरी जगहों पर, जर्मन सेनाएँ यह सब चुपचाप देखती रहीं। जो फ़्रान्सीसी सिपाही जर्मनों की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटे वे अपने पुराने अफ़सरों के साथ हो गये और कम्यून के ख़िलाफ़ लड़ने लगे। उन्होंने कम्यूनियों पर धावा बोल दिया, और १८७१ ई० की मई के अन्त में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सड़कों पर तीस हज़ार स्त्री-पुरुषों को गोलियों से उड़ा दिया। बाद में पकड़े हुए बहुत-से कम्यूनियों को भी बड़ी बेदर्दी से गोलियों से मार दिया गया। इस तरह पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ। इससे यूरोप में बड़ी सनसनी फैली। इस सनसनी की वजह सिर्फ़ यही नहीं थी कि कम्यून को ख़ूनी कार्रवाई से दबा दिया गया, बल्कि यह भी थी कि यह कम्यून उस समय की प्रणाली के ख़िलाफ़ पहला समाजवादी विद्रोह थी। ग़रीबों ने धनवानों के ख़िलाफ़ बलवे तो पहले भी कितनी ही बार किये थे, लेकिन जिस प्रणाली के सबब से वे ग़रीब थे, उसे बदलने का उन्होंने विचार नहीं किया था। यह कम्यून लोकतन्त्री व आर्थिक, दोनों तरह का विद्रोह था, और इसलिए यूरोप में समाजवादी विचारधारा के विकास की यह एक मंज़िल है। फ़्रान्स में कम्यून के

अत्याचारी दमन ने समाजवादी विचारों को नीचे धँसा दिया, और फिर उन्हें उभरने में देर लगी।

हालाँकि कम्यून दबा दी गई, मगर फ़्रान्स राजाशाही के और ज्यादा प्रयोगों से बच गया। कुछ समय में वह पक्के तौर पर गणराज्यवाद में जम गया और १८७५ ई० की जनवरी में वहाँ एक नये संविधान के मातहत तीसरे गणराज्य की घोषणा की गई। यह गणराज्य उसी समय से चला आ रहा है और अब भी मौजूद है। फ़्रान्स में अब भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो बादशाहों को रखना चाहते हैं; मगर उनकी संख्या बहुत कम है और मालूम होता है कि फ़्रान्स ने पक्के तौर पर गणराज्यवाद क़बूल कर लिया है। फ़्रान्स का गणराज्य ऊँचे मध्यम-वर्गों का गण-राज्य है और उसकी बागडोर आसूदा मध्यम-वर्गों के हाथों में है।

फ़्रान्स १८७०-७१ ई० के जर्मन-युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हर्जाने की भारी रक़म भी चुका दी। लेकिन फ़्रान्स की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था, उससे लोगों के दिलों में ग़ुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभि-मानी लोग हैं, और बातों को बहुत दिन तक याद रखते हैं। इसलिए बदले की भावना उन्हें सताने लगी। अलसास और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हें खास-तौर पर दुःख था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसकी तरफ़ उदारता दिखाकर अक्लमन्दी की थी; लेकिन फ़्रान्स के साथ उसके कठोर बर्ताव में न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की क़ीमत देकर उसने उन लोगों की, सदा हरी रहनेवाली दुश्मनी मोल ले ली। सेदान की लड़ाई के बाद ही, जब युद्ध का अन्त भी नहीं हुआ था, मशहूर समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी की थी कि अलसास पर क़ब्ज़ा करने के नतीजे से "दोनों देशों के बीच जानी दुश्मनी पैदा होगी और हमेशा की सुलह के बजाय आरज़ी सुलह होगी।" दूसरे कई मामलों की तरह इस मामले में भी मार्क्स की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

जर्मनी में अब 'इम्पीरियल चान्सलर' (शाही दीवान) बिस्मार्क ही सबकुछ था। फ़िलहाल तो "खून और लोहा" की नीति सफल हो गई थी। जर्मनी ने इस नीति को क़बूल कर लिया था और उदार विचारों की क़ीमत घट गई थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि सत्ता बादशाह के हाथ में रहे, क्योंकि उसे लोक-तन्त्र में कोई विश्वास नहीं था। जैसे-जैसे जर्मनी की औद्योगिक उन्नति होती जाती थी और मज़दूर-वर्ग जोर पकड़ता जाता था, वैसे-वैसे यह वर्ग बुनियादी परिवर्तनों की माँगें पेश करता और नई समस्या पैदा करता जा रहा था। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ़ वह मज़दूरों की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ़ समाजवाद को कुचलता गया। उसने समाजी उन्नति के क़ानून बनाकर

मज़दूरों को अपने पक्ष में करने की या कम-से-कम उन्हें उग्र बनने से रोकने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मज़दूरों के लिए बुढ़ापे की पेन्शनों, बीमों और चिकित्सा की सहूलियतों के, और उनकी हालत सुधारने के, क़ानून बनाकर इस दिशा में सबसे पहला क़दम बढ़ाया, जबकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मज़दूर आन्दोलन, जर्मनी से पुराना होते हुए भी , इस दिशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ सफलता तो मिली, लेकिन फिर भी मज़दूरों का संगठन बढ़ता ही गया। उन्हें नेता भी क़ाबिल मिले थे, जैसे फ़र्दिनेन्द लासाल जो बड़ा होशियार व्यक्ति था और उन्नीसवीं सदी का सबसे बढ़िया भाषण देनेवाला माना जाता है। वह जोड़ की एक लड़ाई में बहुत कम उम्र में ही मर गया। इसके अलावा विलहेल्म लीव्रनेख़्त हुआ, जो पुराना वीर लड़ाकू और बाग़ी था और जो गोली से मरते-मरते बच कर अच्छी उम्र तक ज़िन्दा रहा। उसका पुत्र कार्ल जो अभी तक स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहा था, कुछ वर्ष हुए, १९१८ ई० में, जर्मन गणराज्य की स्थापना के समय क़त्ल कर दिया गया। और कार्ल मार्क्स के बारे में मैं अगले किसी पत्र में लिखूंगा। लेकिन मार्क्स की ज्यादातर ज़िन्दगी जर्मनी से देश-निकाले में बीती थी।

मज़दूरों के संगठन बढ़ने लगे और १८७५ ई० में सबोंने मिलकर समाजवादी लोकतन्त्री दल बनाया। बिस्मार्क समाजवाद की इस बढ़ती को बर्दाश्त नहीं कर सका। किसी ने सम्राट् की जान पर हमला किया, और बिस्मार्क को समाजवादियों पर ग़ज़ब ढाने का यह अच्छा बहाना मिल गया। १८७८ ई० में हर तरह की समाजवादी हलचलों का दमन करनेवाले समाजवाद-बन्दी के क़ानून बनाये गए। जहाँतक समाजवादियों का सम्बन्ध था, उनके लिए एक तरह का फ़ौजी क़ानून जारी हो गया और हज़ारों को देश-निकाले की या क़ैद की सज़ाएँ दे दी गईं। देश-निकालों में से बहुत-से लोग अमेरिका चले गये और वहाँ जाकर समाजवाद के अगुआ बने। समाजवादी लोकतन्त्री दल को चोट तो सख़्त लगी, मगर वह मरा नहीं और आगे चलकर फिर ज़ोर पकड़ लिया। बिस्मार्क का आतंकवाद उसे मार न सका, उलटे इसकी सफलता और भी ज्यादा नुक़सान करनेवाली साबित हुई। जैसे-जैसे इस दल की ताक़त बढ़ती गई, इसका संगठन बहुत बड़ा हो गया। इसके पास बड़ी भारी सम्पत्ति हो गई और हज़ारों वेतन-भोगी कार्यकर्ता हो गयें। जब कोई व्यक्ति या संगठन मालदार हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नहीं रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकतन्त्री-दल का भी यही हाल हुआ।

बिस्मार्क के कूटनीति के हुनर ने अन्त तक उसका साथ नहीं छोड़ा और उसने अपने ज़माने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ज़बर्दस्त खेल खेले। यह राजनीति उस समय भी और आज भी, साज़िश, जवाबी-साज़िश, धोखा-धड़ी और मक्कारी

का अजीब और पेचीदा जाल है, और ये सब बातें छिपकर और पर्दे के पीछे की जाती हैं। अगर यह सब खुले तौर पर हों तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकतीं। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर 'त्रिदलीय गठ-बन्धन' नामक गठ-बन्धन बनाया, क्योंकि अब उसे फ़ान्सीसियों के बदला लेने का डर सताने लगा। इस तरह दोनों पक्ष हथियार जमा करने, साज़िशें करने और एक-दूसरे पर आँखें निकालने में लगे रहे।

१८८८ ई० में सम्राट् विलहेल्म द्वितीय के नाम से एक नौजवान जर्मनी का क़ैसर हुआ। उसके दिमाग़ में यह ख़याल खूब भर गया कि वह ज़ोरदार आदमी है, और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड़ पड़ा। इस 'लौह-पुरुष दीवान' को बुढ़ापे में उसके पद से बर्ख़ास्त कर दिया गया। इसपर उसे बहुत गुस्सा आया। आँसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिन्स' का ख़िताब दे दिया गया, मगर बादशाहों के बारे में उसका भ्रम दूर हो गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर में एकान्तवास करने लगा। एक मित्र से उसने कहा था : "मैंने जब पद सम्हाला था तब मेरे पास राजभक्ति की भावनाओं का और बादशाह के लिए सम्मान का बड़ा भण्डार था; लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम हो रहा है कि यह भण्डार दिन-पर-दिन ख़ाली होता जा रहा है। मैंने तीन बादशाहों का नंगा रूप देख लिया है और यह नज़ारा मुझे कुछ सुहावना नहीं लगा!"

यह बदमिज़ाज बूढ़ा कुछ वर्ष और जिया, और १८९८ ई० में, तिरासी वर्ष की उम्र में मरा। क़ैसर के हाथों बर्ख़ास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर मँडराती रही और उसकी आत्मा बाद में उसकी जगह लेनेवालों को चलाती रही। मगर ये बाद में आनेवाले उससे नीचे दर्जे के ही थे।

। १२९ ।

कुछ नामी साहित्यकार

१ फ़रवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे ख़याल आया कि मैंने उन्नीसवीं सदी के शुरू के सबसे महान् जर्मन का कुछ भी हाल तुम्हें नहीं बताया है। यह व्यक्ति ग्यूत (गेटे)[1] था। यह एक मशहूर लेखक था, जिसकी मृत्यु की शताब्दी कुछ ही महीने हुए सारे जर्मनी में मनाई गई थी। फिर मुझे यह ख़याल भी आया कि तुम्हें उस ज़माने के सभी नामी लेखकों का थोड़ा-थोड़ा हाल क्यों न बता

[1] ग्यूत (गेटे)—Goethe ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (शकुन्तला) का जर्मन भाषा में अनुवाद किया था।

दूं। मगर मेरे लिए यह ख़तरनाक विषय है—ख़तरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान ज़ाहिर होगा। सिर्फ़ मशहूर नामों की सूची दे देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज़्यादा कहना कठिन पड़ेगा। अंग्रेज़ी साहित्य का ही मेरा ज्ञान नहीं के बराबर है, फिर दूसरे यूरोपीय साहित्यों के बारे में तो मेरी जानकारी कुछ अनुवादों से आगे नहीं जाती। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर लिखने का विचार तो मेरे दिमाग़ में बैठ चुका था, और मैं उससे किसी तरह पिण्ड नहीं छुड़ा सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मैं कम-से-कम तुम्हें दूसरी दिशा तो दिखा दूं, भले ही इस जादू की दुनिया के रास्ते में बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न दे सकूं। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना गहरा परिचय मिलता है, उतना जन-समूह की ऊपरी हलचलों से नहीं। ये हमको शान्त और गम्भीर विचारों के राज में पहुंचा देते हैं, जिसपर आज के दिमाग़ी फ़ितूरों व हठों का असर नहीं पड़ता। मगर आज कवि और कलाकार को कल का सन्देश देनेवाले बहुत कम समझा जाता है और उन्हें कोई सम्मान नहीं दिया जाता। अगर उन्हें कुछ सम्मान मिलता भी है, तो आमतौर पर मरने के बाद मिलता है।

इसलिए मैं तुम्हें सिर्फ़ थोड़े-से नाम बताऊँगा। इनमें से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मैं उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूंगा। यह सिर्फ़ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रहे कि यूरोप के कई देशों के साहित्यों में उन्नीसवीं सदी की उम्दा रचनाओं के भण्डार भरे हुए हैं।

असल में तो गेटे अठारहवीं सदी का था, क्योंकि उसका जन्म १७४९ ई० में हुआ था, मगर उसने तिरासी वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इसलिए उसने अगली सदी का तिहाई भाग भी देखा था। उसने अपने जीवन में यूरोपीय इतिहास के एक सबसे ज़्यादा तूफ़ानी ज़माने को पार किया था और अपने देश पर नेपोलियन की सेनाओं का हमला व क़ब्ज़ा होते हुए देखा था। खुद अपने जीवन में भी उसे बहुत दुःखों का अनुभव हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे उसने जीवन की कठिनाइयों पर अन्दरूनी क़ाबू पा लिया था और ऐसी अनासक्ति व गम्भीरता हासिल कर ली थी कि जिनसे उसे शान्ति मिलती थी। नेपोलियन उससे पहले-पहल तब मिला जब उसकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाज़े में खड़ा था तो उसके चेहरे पर कुछ ऐसी बेफ़िक्री झलकती थी, और उसके तन की चाल-ढाल कुछ ऐसी शानदार थी कि नेपोलियन के मुँह से निकल पड़ा : "आदमी तो यह है!" उसने कई चीज़ों में हाथ डाला, और जो-कुछ किया नामवरी के साथ किया। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार, और कितने ही तरह के विज्ञानों में रुचि रखनेवाला वैज्ञानिक था। इन सबके अलावा व्यवहार की बातों में वह एक छोटे-से जर्मन राजा

के दरबार में मन्त्री था! हम तो उसे सबसे ज़्यादा एक लेखक के रूप में जानते हैं, और उसकी सबसे मशहूर पुस्तक "फ़ॉस्ट" है। उसकी लम्बी ज़िन्दगी में ही उसकी कीर्त्ति दूर-दूर फैल गई थी और साहित्य के अपने क्षेत्र में तो उसके देशवासी उसे देवता की तरह मानने लगे थे।

गेटे के ही ज़माने में शिलर नामक एक और व्यक्ति हुआ, जो उम्र में उससे कुछ छोटा था। यह भी एक महाकवि था। उससे भी कम उम्र का हाइनरिख हाइन था। यह भी जर्मन भाषा का एक बड़ा व खुशदिल कवि था। इसने बहुत ही सुन्दर गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हाइन—ये तीनों ही प्राचीन यूनान की ऊँचे दर्जे की संस्कृति में शराबोर थे।

जर्मनी बहुत लम्बे समय से दार्शनिकों का देश करके मशहूर रहा है, और मैं भी तुम्हें एक-दो के नाम बता सकता हूँ, हालाँकि तुम्हें उनमें शायद ज़्यादा दिलचस्पी नहीं मालूम होगी। जिन लोगों को इस विषय का व्यसन हो सिर्फ़ उन्हींको इनके ग्रन्थ पढ़ने की कोशिश करना ठीक है, क्योंकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इनकी व दूसरे दार्शनिकों की बातें दिलचस्प और नसीहत देनेवाली हैं, क्योंकि उन्होंने विचार की मशाल जलती हुई रक्खी है और उनके ज़रिये से विचार-धाराओं के विकास का सिलसिला समझ में आ सकता है। अठारहवीं सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक ज़िन्दा रहा। उस समय उसकी उम्र अस्सी वर्ष की थी। दर्शन के क्षेत्र में दूसरा बड़ा नाम हेगल का है। वह काण्ट को माननेवाला था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के पिता कार्ल मार्क्स पर उसके विचारों का बहुत असर पड़ा था। यह तो दार्शनिकों की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के वर्षों में नामी कवि काफ़ी संख्या में पैदा हुए, खासकर इंग्लैण्ड में। रूस का सबसे नामी राष्ट्रीय कवि पुश्किन इसी समय हुआ। एक जोड़ की लड़ाई (ड्यूएल) में वह जवानी में ही मारा गया। फ़्रान्स में भी कई कवि हुए, लेकिन मैं सिर्फ़ दो के ही नामों का ज़िक्र करूँगा। एक तो विक्तर यूगो था, जिसका जन्म १८०२ ई० में हुआ था। इसने भी गेटे की तरह ही तिरासी वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह यह भी अपने देश में साहित्य के देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ, दोनों ही रूपों में उसकी ज़िन्दगी ने कई रंग बदले। जीवन के शुरू में वह सरगर्म बादशाहवादी था, और बहुत-कुछ निरंकुशता का हामी था। धीरे-धीरे वह एक-एक क़दम बदलता गया, यहाँतक कि १८४८ ई० में वह गणराज्यवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन थोड़े दिन के दूसरे गणराज्य का राष्ट्रपति हुआ, तो उसने यूगो को गणराज्यवादी विचारों के कारण देश से निकाल दिया। १८७१ ई० में विक्तर यूगो ने पेरिस के कम्यून का पक्ष लिया। कट्टरपन्थ के ठेठ

दायें छोर से धीरे-धीरे से, सरकता-सरकता वह समाजवाद के ठेठ बायें छोर पर जा पहुँचा। ज़्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ कट्टरपन्थी और पीछे की तरफ़ चलनेवाले बनते जाते हैं। लेकिन यूगो ने बिलकुल उलटी ही बात की। मगर यहाँ तो उससे हमारा वास्ता लेखक के रूप में है। वह एक महान् कवि, उपन्यासकार व नाटककार था।

दूसरा नाम, जिसका मैं तुमसे ज़िक्र करूँगा, आरें द बालज़ेक का है। यह भी विक्तर यूगो के ज़माने का था, मगर दोनों में बड़ा फ़र्क़ था। वह ग़ज़ब की तेज़ी रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बड़ी भारी संख्या में उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियाँ एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं; वे ही पात्र अक़्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों में अपने समय के पूरे फ़ान्सीसी जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाना था, और उसने सारी पुस्तकमाला का नाम 'मानवता का प्रहसन'[1] रक्खा। यह विचार बड़े ऊँचे हौसले का था, और हालाँकि उसने कठोर व लम्बी मेहनत की, पर जो ज़बर्दस्त काम उसने उठाया था, उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के वर्षों में इंग्लैण्ड में तीन जगमगाते हुए नौजवान कवियों के नाम ख़ासतौर पर सामने आते हैं। ये तीनों एक ही ज़माने के थे और तीनों ही कम उम्र में एक-एक करके तीन साल के भीतर मर गये। ये तीनों कीट्स, शैली और बायरन थे। कीट्स को ग़रीबी और मायूसी से सख़्त लोहा लेना पड़ा, और जब १८२१ ई० में, छब्बीस वर्ष की उम्र में, रोम में उसकी मृत्यु हुई, तब लोग उसे नहीं जानते थे। लेकिन फिर भी, उसने कुछ कविताएँ तो बहुत ही सुन्दर लिखी थीं। कीट्स मध्यम-वर्ग का था, और दिलचस्प बात तो यह है कि अगर पैसे की तंगी से उसके रास्ते में रुकावट थी, तो ग़रीबों के लिए कवि और लेखक होना कितना ज़्यादा कठिन होना चाहिए! वास्तव में केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी साहित्य के एक मौजूदा प्रोफ़ेसर ने इस बारे में कुछ बाजिब बातें कही हैं:

> "यह तय है कि हमारे साम्राज्य के किसी क़सूर के सबब इन दिनों ही नहीं, पिछले दो सौ वर्षों में भी, किसी ग़रीब कवि को इतना भी मौक़ा नहीं मिला है, जितना कि एक कुत्ते को। मेरा विश्वास करो, क्योंकि मैंने दस वर्षों का बड़ा हिस्सा कोई तीन सौ बीस प्राइमरी स्कूलों को देखने में बिताया है। हम लोकतन्त्र की बक-वास भले ही करें, मगर असल में इंग्लैण्ड में एक ग़रीब बालक को एथेन्स के किसी ग़ुलाम के लड़के से ज़्यादा आशा इस बात की नहीं

[1] La Comedie Humaine, by Honore' de Balzac.

हो सकती कि जिस दिमाग़ी आज़ादी में से ऊँचे दर्जे की रचनाओं का जन्म होता है, उसमें वह भी कभी बन्धन-मुक्त होकर पहुँच जायगा।"

मैंने यह कथन इसलिए दिया है कि हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि कविता और सुन्दर रचना पर, और आमतौर से संस्कृति पर, आसूदा वर्गों की ही ठेकेदारी होती है। ग़रीब के झोंपड़े में कविता और संस्कृति के लिए जगह नहीं होती; ये चीज़ें भूखे पेटवालों के लिए नहीं हैं। इसलिए हमारी आजकल की संस्कृति आसूदा मध्यम-वर्गों के दिमाग़ का प्रतिबिम्ब बन जाती है। जब बदली हुई समाज-व्यवस्था में संस्कृति मजदूर-वर्ग के हाथ में आ जायगी, तब शायद उसकी सूरत भी बहुत-कुछ बदल जाय, क्योंकि तब उसे संस्कृति का शौक़ करने के मौक़े और फ़ुर्सत मिल जायँगे। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियत रूस में हो रहा है, और दुनिया उसे दिलचस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात साफ़ हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियों से भारत में संस्कृति के दिवालियापन का सबब हमारे देशवासियों की घोर ग़रीबी है। जिन लोगों के पास खाने को भी नहीं है, उनसे संस्कृति की बातें करना उनका अपमान करना है। ग़रीबी की यह मार उन गिने-चुने लोगों पर भी पड़ती है, जो संयोग से दूसरों से ज्यादा आसूदा हैं। और इसलिए दुःख है कि आज भारत के ये वर्ग भी बुरी तरह अ-संस्कृत हैं। विदेशी राज और समाजी गिरावट से कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं!- पर इस आम ग़रीबी और बेरंगी में भी भारत गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी विभूतियाँ और संस्कृति के शानदार आदर्श पैदा कर सकता है।

मैं अपने विषय से दूर भटक गया।

शेली बड़ा ही प्यारा जीव था। बचपन से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर बात में आज़ादी का हिमायती था। 'नास्तिकता की ज़रूरत'[1] पर एक निबन्ध लिखने की वजह से उसे ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियों के लिए खयाल किया जाता है, इसने (और कीट्स ने भी) अपनी थोड़ी-सी ज़िन्दगी अपनी कल्पना में और उड़ान में ही रहते-रहते बिता दी और संसारी कठिनाइयों की कुछ भी परवा न की। कीट्स की मृत्यु के साल भर बाद वह इटली के समद्र-तट के पास डूबकर मर गया। उसकी मशहूर कविताएँ तुम्हें मैं क्या बताऊँ? तुम खुद आसानी से उनका पता लगा सकती हो। लेकिन उसकी छोटी कविताओं में से एक तुम्हारी भेंट करूँगा। यह उसकी सबसे बढ़िया रचनाओं में से तो हरगिज़ नहीं है, लेकिन यह हमारी मौजूदा सभ्यता में ग़रीब मजदूर के भयानक नसीब को दरसाती है। उसका क़रीब-

[1] The necessity of Atheism.

क़रीब वही बुरा हाल है, जो पुराने ज़माने में ग़ुलामों का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्षों से ज्यादा हो गये हैं, मगर फिर भी आज की हालतों पर यह लागू होती है। यह 'अराजकता का नक़ाब'[1] कहलाती है।

स्वतन्त्रता क्या है?—यह तो तुम
ख़ूब बता सकते हो, है क्या चीज़ गुलामी,
क्योंकि उसीका नाम बना है
नाम तुम्हारे का ही गुंजन।
यही ग़ुलामी है—
कि काम तुम करते रहो मजूरी लेकर,
केवल उतनी ही बस जिससे
अटके रहें तुम्हारे तन में प्राण तुम्हारे,
काल कोठरी के बन्दी की भाँति
परिश्रम अत्याचारी के हित करने।
बन जाओ तुम
करघे, हल, तलवार, फावड़े, उनके,
औ' जुट जाओ उनकी रक्षा में, उनके पोषण में,
बिना विचारे इच्छा है या नहीं तुम्हारी।
यही ग़ुलामी है—
कि तुम्हारे बच्चे भूखों मरें,
और उनकी माताएँ सूख-सूख काँटा हो जावें—
देखो मेरे कहते-ही-कहते
जाड़े की चली हवाएँ ठण्डी
जिनसे मरने लगे दीन बेचारे।
तुम्हें तरसते रहना है उस भोजन को,
जिसको धनवाला, मतवाला हो,
फेंक रहा है अपने उन मोटे कुत्तों के आगे,
जो उसकी आँखों के नीचे।
छककर मस्त पड़े हैं सोते।
यही ग़ुलामी है—
जिसमें बनना है तुमको दास आत्मा से भी,
जिससे रहे न तुमको क़ाबू अपनी इच्छाओं र,
और बनो तुम वैसे, जैसा लोग दूसरे तुम्हें बनावें
और अन्त में जब तुम करने लगो शिकायत,

[1] The Mask of Anarchy.

धीरे-धीरे वृथा रुदन कर,
तब अत्याचारी के नौकर
तुमको और तुम्हारी पत्नियों को घोड़ों के तले कुचल कर,
ओस कणों की भाँति लहू की बूँदें देते बिछा घास पर।

बायरन ने भी आज़ादी की स्तुति में सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। मगर यह आज़ादी राष्ट्रीय है, आर्थिक नहीं है, जिसका ज़िक्र शेली की कविता में है। जैसा कि मैं तुम्हें बता चका हूँ, वह शेली के दो साल बाद तुर्की के खिलाफ़ यूनान की स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय युद्ध में मारा गया। बायरन के चरित्र के बारे में मेरा ख़याल अच्छा नहीं है, मगर फिर भी मुझे उसके साथ इसलिए सहानुभूति है कि वह हैरो स्कूल और केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ा था, जो मेरे भी स्कूल और कालेज हैं। इसे जवानी में ही वह नामवरी हासिल हो गई, जो कीट्स को और शेली को नसीब नहीं हुई। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर बिठाया, लेकिन फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी समय के आस-पास दो और नामवर कवि हुए। वे दोनों इस नौजवान त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने १७७० से १८५० ई० तक अस्सी साल की उम्र पाई। वह अंग्रेज़ी के महाकवियों में गिना जाता है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका ज्यादातर काव्य निसर्ग-काव्य है। दूसरा कवि कोलरिज था। उसकी कुछ कविताएँ बहुत अच्छी हैं।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन मशहूर उपन्यासकार भी हुए। वाल्टर स्कॉट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हैं। मेरा ख़याल है, इनमें से कुछ तुमने पढ़े हैं। मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तब ये उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचियाँ भी बदल जाती हैं और अगर मैं आज उन्हें पढ़ने बैठूं तो ज़रूर ऊब जाऊँगा। दूसरे दो उपन्यासकार थैकरे व डिकन्स थे। मेरे ख़याल से दोनों स्कॉट से कहीं ऊँचे दर्जे के हैं। मुझे आशा है कि इन दोनों को तुम अच्छी तरह जानती हो। थैकरे का जन्म १८११ ई० में कलकत्ते में हुआ था और उसने पाँच-छै वर्ष वहीं बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवाबों का जैसा बयान दिया गया है। ये वे अंग्रेज़ थे, जो खूब दौलत जमा करके मोटे और लाल हो जाते थे और फिर मौज करने के लिए इंगलैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखकों के बारे में मैं बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बड़े विषय पर इतना कम लिखना बहुत बेहूदा बात है। इस विषय का ज़ानकार आदमी इस बारे में बड़े मज़ेदार ढंग से लिख सकता है। वह तुम्हें उस ज़माने के संगीत और कला की भी बहुत-सी बातें ज़रूर ही बता सकेगा। इसमें जानने और कहने की ज़रूरत है, मगर यह मेरे बस की बातें नहीं हैं। इसलिए मैं तो समझदारी के साथ ठोस ज़मीन पर ही चलूंगा।

मैं इस पत्र को गेटे के 'फ़ॉस्ट' से एक कविता देकर पूरा कर दूंगा। अलबत्ता यह जर्मन भाषा से अनुवाद की हुई है—

अफ़सोस है, अफ़सोस है
तूने किया है वार दुनिया पर,
गिराया है उसे भू पर,
किया है जर्जरित और नष्ट कर उसको,
दिया है फेंक शून्याकाश में,
मानो कुचल डाला उसे दैवी किसी आघात ने।
संसार के इन ठीकरों को
हम उठा ले जा रहे हैं,
गीत गाते हैं
लुटी सुकुमारता के,
और उस सौन्दर्य के, जिसको मिटाया है किसीने।
ओ पृथ्वी के महापुत्र!
निर्माण कर उसका दुबारा,
और फिर सुन्दर गुणों से युक्त तू उसको बना दे,
और कर निर्माण उसको निज हृदय में
कर प्रतिष्ठित उच्च आसन पर उसे तू।
फिर जगा तू ज्योति जीवन की,
लगा फिर दौड़ जीवन-यात्रा में,
पार कर सब विघ्न बाधा!
बज उठें लहरी स्वरों की,
सदा से भी अधिक सुन्दर, मधुरतामय।

: १३० :

डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फ़रवरी, १९३३

कवियों से अब विज्ञानियों के पास चलें। मुझे लगता है कि कवियों को अभी तक निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन विज्ञानी तो आज के चमत्कारी लोग हैं। उनका असर भी है और आदर भी। उन्नीसवीं सदी से पहले यह बात नहीं थी। शुरू की सदियों में विज्ञानी की जान यूरोप में सदा जोखिम में रहती थी, और कभी-कभी उसका अन्त सूली पर होता था। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि रोम के ईसाई-संघ ने ब्रूनो को किस तरह ज़िन्दा जला दिया था। कुछ ही वर्ष

बाद, सत्रहवीं सदी में गैलीलियो भी सूली के बहुत पास पहुँच गया था, क्योंकि उसने यह कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है। वह कुफ़्र के अपराध में जला दिया जाने से इसलिए बच गया कि उसने माफ़ी माँग ली और अपने पहले बयान वापस ले लिये। इस तरह यूरोप में ईसाई-संघ की विज्ञान के साथ सदा टक्कर होती रहती थी और वह नये विचारों को दबाता रहता था। क्या यूरोप में और क्या दूसरी जगह संगठित मज़हब के साथ तरह-तरह के कट्टर नियम लगे होते हैं, जिन्हें उसके अनुयायियों को बिना सन्देह और शंका के मानना चाहिए। विज्ञान का नज़रिया जुदा ही है। वह किसी बात को यूँही नहीं मान लेता, और न तो उसके कोई कट्टर नियम होते हैं न होने चाहिए। विज्ञान खुले दिमाग़ से सोचने की आदत को बढ़ावा देना चाहता है और बार-बार प्रयोग करके सचाई तक पहुँचना चाहता है। मज़हबी नज़रिये से यह नज़रिया बिलकुल ही जुदा है और इसलिए अगर इन दोनों में अक्सर टक्कर हो जाती थी तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

मेरा ख़याल है कि हर युग में अलग-अलग क़ौमें तरह-तरह के प्रयोग करती रही हैं। कहा जाता है कि प्राचीन भारत में रसायन और चीर-फाड़ में काफ़ी प्रगति हुई थी और ऐसा बहुत-से प्रयोगों के बाद ही हो सका होगा। पुराने यूनानियों ने भी थोड़े-बहुत प्रयोग किये थे। चीनियों के बारे में तो हाल ही में मैंने बड़ा ही अनोखा बयान पढ़ा है। उसमें १,५०० वर्ष पहले के चीनी लेखकों के कथन देकर यह दिखाया गया है कि वे क्रम-विकास के सिद्धान्त से और शरीर में ख़ून के दौरे की बात से परिचित थे। और चीनी जर्राह बेहोशी की दवाएँ सुँघाते थे। मगर हमें उस समय का इतना हाल मालूम नहीं है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सकें। अगर प्राचीन सभ्यताओं ने ये उपाय खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हें भूल क्यों गईं? और उन्होंने और आगे उन्नति क्यों नहीं की? या यह बात थी कि वे इस क़िस्म की प्रगति को काफ़ी महत्व नहीं देते थे? बहुत से दिलचस्प सवाल उठते हैं, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नहीं है।

अरबों को भी प्रयोग करने का बहुत शौक़ था और मध्य-युगों में यूरोप उनके पीछे चलता था। मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढंग पर नहीं होते थे। उन्हें हमेशा 'पारस पत्थर' की तलाश रहती थी, जिसमें मामूली धातुओं को सोना बना देने का गुण माना जाता था। लोग पेचीदा रासायनिक प्रयोगों में अपने जीवन बिता देते थे कि किसी तरह धातुओं को सोना बना देने का गुर हाथ लगे। इसे क़ीमिया कहते थे। वे बड़ी लगन के साथ अमरत्व देनेवाले आबे-हयात या अमृत की भी खोज में लगे रहते थे। क़िस्से-कहानियों के बाहर और

कहीं इसका ज़िक्र नहीं पाया जाता कि किसीको यह अमृत या पारस पत्थर हासिल करने में सफलता मिली हो। धन, सत्ता व लम्बी उम्र पाने की आशा में दरअसल यह एक तरह के जादू के साथ खिलवाड़ करना था। विज्ञान की भावना का इससे कोई वास्ता नहीं था। विज्ञान को जादू-टोनों वग़ैरा से कोई सरोकार नहीं होता।

हाँ, यूरोप में असली वैज्ञानिक तरीक़ों का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास में सबसे बड़े गिने जानेवाले व्यक्तियों में आइज़क न्यूटन नामक एक अंग्रेज़ भी है, जिसका समय १६४२ से १७२७ ई० तक है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण नियम की व्याख्या की, यानी यह बताया कि चीज़ें क्यों गिरती हैं! इसकी मदद से, और जो दूसरे नियम खोजे जा चुके थे उनकी मदद से, न्यटन ने सूर्य और ग्रहों की चालों का भेद समझाया। छोटी-बड़ी सभी चीज़ों का उसके सिद्धान्तों से मेल बैठता हुआ दिखाई देने लगा और उसे बहुत सम्मान मिला।

ईसाई-संघ की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके साधकों को ज़िन्दा जला देना सम्भव नहीं था। कितने ही वैज्ञानिकों ने बड़े धीरज और परिश्रम से प्रयोग जारी रक्खे और तथ्यों को व ज्ञान को इकट्ठा किया। यह खासतौर पर इंग्लैण्ड और फ़ान्स में, और आगे चलकर जर्मन और अमेरिका में हुआ। इस तरह वैज्ञानिक जानकारी का कलेवर बढ़ता गया। तुम्हें याद होगा कि अठारहवीं सदी में ही यूरोप के शिक्षित वर्गों में बुद्धिवाद का प्रचार हुआ था। इसी सदी में रूसो, वाल्तेयर व दूसरे कितने ही क़ाबिल फ़ान्सीसी हुए थे, जिन्होंने हर विषय की रचनाओं के ज़रिये लोगों के दिमाग़ों में उथल-पुथल मचा दी थी। इसी सदी के गर्भ में फ़ान्स की महान् राज्य-क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी नज़रिये का वैज्ञानिक नज़रिये से मेल बैठ गया और दोनों ने ही ईसाई-संघ के कट्टर नज़रिये का विरोध किया।

मैं तुम्हें यह भी बता चुका हूँ कि दूसरी बातों के साथ उन्नीसवीं सदी विज्ञान की सदी थी। उद्योगों की क्रान्ति, मशीनी क्रान्ति और माल ढोने के तरीक़ों में अद्भुत परिवर्तन, इन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानों ने उत्पादन के तरीक़ों को बदल दिया था; भाप से चलनेवाली रेलगाड़ियों और जहाज़ों ने दुनिया को एकदम छोटा बना दिया था; बिजली का तार तो और भी बड़ा चमत्कार था। इंग्लैण्ड के दूरवाले साम्राज्य से उसके यहाँ दौलत की नदी बहने लगी। इससे पुराने विचारों को भारी धक्का लगना लाज़िमी था और मज़हब का प्रभाव कम होने लगा। धरती पर किसानी जीवन के मुक़ाबले में कारखानी

जीवन ने लोगों को मजबूर किया कि वे मज़हबी पाबन्दियों की बनिस्बत आर्थिक सम्बन्धों पर ज़्यादा विचार करें।

उन्नीसवीं सदी के बीच में यानी १८५९ ई० में, इंग्लैण्ड में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसने कट्टरपन और वैज्ञानिक नज़रिये की टक्कर को आख़िरी दर्जे पर पहुँचा दिया। यह पुस्तक चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजिन ऑफ़ स्पीसीज़' (जातियों का उद्भव) थी। डार्विन की गिनती बहुत बड़े विज्ञानियों में नहीं है; उसने जो कुछ लिखा, उसमें कोई बहुत नई बात नहीं थी। डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-विज्ञानियों और प्रकृति-विज्ञानियों ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री जमा की थी। फिर भी डार्विन का ग्रन्थ एक नया युग लानेवाला था। इसका ज़बर्दस्त असर पड़ा और किसी दूसरी वैज्ञानिक रचना की बनिस्बत इससे समाजी नज़रिया बदलने में ज़्यादा मदद मिली। इसने एक दिमाग़ी भूकम्प पैदा कर दिया और डार्विन को मशहूर कर दिया।

प्रकृति-शास्त्री की हैसियत से डार्विन दक्षिण अमेरिका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर ख़ूब घूमा था और उसने सामग्री व तथ्यों का ज़बर्दस्त ज़ख़ीरा इकट्ठा कर लिया था। इसका उपयोग करके उसने यह दिखाया कि जीवों की हरेक जाति का नैसर्गिक वरण[1] से किस तरह रूप बदला है और विकास हुआ है। उस समय तक बहुत लोगों का यह ख़याल था कि मनुष्यसमेत सभी प्राणियों की हरेक जाति या क़िस्म को ईश्वर ने अलग-अलग रचा है, और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रही हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कहने का मतलब यह है कि एक जाति बदलकर दूसरी नहीं बन सकती। डार्विन ने ढेरों असली मिसालें देकर साबित कर दिया कि एक जाति दूसरी जाति में ज़रूर बदलती है और विकास का यही क़ुदरती ढंग है। ये परिवर्तन नैसर्गिक वरण से होते हैं। अगर किसी छोटे-से परिवर्तन से किसी जाति को कुछ भी लाभ हुआ या दूसरों के मुक़ाबले में ज़िन्दा रहने में मदद मिली तो वह परिवर्तन धीरे-धीरे पक्का हो जायगा, क्योंकि यह ज़ाहिर है कि इस बदली हुई जाति के ज़्यादा प्राणी जियेंगे। कुछ समय बाद इस बदली हुई जाति की बहुतायत हो जायगी और वह दूसरी जातियों का सफ़ाया कर देगी। इस तरीक़े से एक के बाद एक रूप बदलते और परिवर्तन होते चले जायँगे, और कुछ समय बाद बहुत कुछ नयी ही जाति पैदा हो जायगी। इस तरह समय पाकर नैसर्गिक वरण से योग्यतम की अतिजीविता[2] की प्रक्रिया से बहुत-सी नई-नई जातियाँ पैदा होती

---

[1] नैसर्गिक वरण—Natural Selection—एक ही प्राणी से छँट-छँट कर नये क़ुदरत के नियमों के अनुसार अलग जातियाँ बनना।

[2] Survival of the fittest—यह क़ुदरत का नियम है कि जो प्राणी

रहेंगी। यह नियम पौधों, जानवरों और मनुष्यों तक पर लागू होगा। इस मत के अनुसार यह सम्भव है कि आज वनस्पति व जानवरों की जो कितनी ही जातियाँ दिखाई दे रही हैं, उन सबका कोई एक ही पूर्वज रहा होगा।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंश-क्रम'[1] प्रकाशित की, जिसमें उसने यही मत मनुष्य-जाति पर लागू करके दिखाया। क्रम-विकास और नैसर्गिक वरण का यह विचार अब ज्यादातर लोगों ने मान लिया है, हालाँकि ठीक उसी रूप में नहीं माना है जिस रूप में डार्विन और उसके हामियों ने पेश किया था। वास्तव में जानवरों की नस्ल सुधारने में और पौधों, फलों व फूलों के उगाने में वरण के इस नियम का अमली प्रयोग लोगों के लिए एक मामूली बात हो गई है। आजकल के कई इनामी जानवर और पौधे बनावटी उपायों से पैदा की हुई नई जातियाँ ही तो हैं। अगर मनुष्य कम समय में इस तरह के परिवर्तन और नयी जातियाँ पैदा कर सकता है, तो लाखों और करोड़ों वर्षों के समय में प्रकृति इस दिशा में क्या-क्या नहीं कर सकी होगी? लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूज़ियम जैसे किसी प्रकृति-विज्ञान के संग्रहालय को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी बराबर अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे हैं।

आज ये सब बातें हमें मामूली-सी नज़र आती हैं। लेकिन सत्तर वर्ष पहले यह हालत नहीं थी। उस वक़्त ज्यादातर लोगों का यही विश्वास था कि बाइबिल के बयान के मुताबिक़ सृष्टि की उत्पत्ति ईसा से ठीक ४००४ वर्ष पहले हुई थी, और हरेक पेड़ और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अन्त में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि जल-प्रलय हुआ था और नूह की नाव में सारे जानवरों के जोड़े इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी जाति का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के मत से मेल नहीं खाती थीं। डार्विन और भूगर्भ-विज्ञानी जब पृथ्वी की उम्र का ज़िक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के छोटे-से काल के बजाय करोड़ों वर्षों की बात करते थे। इस तरह लोगों के दिमाग़ में ज़बर्दस्त खींच-तान मची हुई थी और बहुत-से भले आदमियों को यह नहीं समझ पड़ता था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हें एक बात मानने को कहती थी और उनका विवेक दूसरी। जब मनुष्य मज़हबी धर्म-कर्म में अन्ध-विश्वास रखते हैं और उन बातों को धक्का लगता है, तो वे निराशा और परेशानी महसूस करते हैं और खड़े

मजबूत होता है और प्रकृति के अनुसार अपनेको ढाल लेता है, वही ज़िन्दा रहता है।

[1] The Descent of Man.

होने के लिए उन्हें कहीं ठोस ज़मीन दिखाई नहीं देती। मगर जिस धक्के से हमें असलियत का ज्ञान हो, वह अच्छा होता है।

बस इंग्लण्ड में और यूरोप के दूसरे देशों में विज्ञान और मज़हब के बीच बड़ा वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। इसके नतीजे के बारे में तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता था। उद्योग और मशीनी ढुलाई की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था, इसलिए विज्ञान को छोड़ा नहीं जा सकता था। विज्ञान की बराबर विजय होती चली गई और 'नैसर्गिक वरण' व 'योग्यतम की अतिजीविता' न्याय लोगों की आम गप-शप में शामिल हो गये, और वे इनका अर्थ पूरी तरह समझे बिना ही इन शब्दों का इस्तेमाल करने लगे।

डार्विन ने अपनी 'मनुष्य का वंश-क्रम' में यह बताया था कि मनुष्य और कुछ बन्दर जातियों का पूर्वज शा द एक ही रहा होगा। यह बात विकास-क्रिया की अलग-अलग सीढ़ियों की मिसालें देकर साबित नहीं की जा सकती थी। इसी से 'खोई हुई कड़ी'[1] का आम मज़ाक चल पड़ा। और विचित्र बात यह हुई कि शासक-वर्गों ने भी डार्विन के मत को तोड़-मरोड़कर उससे अपना मतलब का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास हो गया कि इस मत से उनके ऊँचेपन का एक सबूत और भी मिल गया। जीवन-संग्राम में सबसे योग्य होने के सबब से वे बच गये थे, इसलिए 'नैसर्गिक वरण' के ज़रिये वे सबके ऊपर आ गये और शासक-वर्ग बन गये! एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर या एक नस्ल की दूसरी नस्ल पर प्रभुता को वाजिब ठहराने का यह एक बहाना बन गया। साम्राज्यशाही और गोरी नस्लों के ऊँचे दर्जे की यह आखिरी दलील हो गई। और पश्चिम के बहुत-से लोग समझने लगे कि दूसरों पर जितनी ज्यादा धौंस जमायेंगे और जितने ज्यादा बेदर्द और बलवान बनकर रहेंगे, मानवी मूल्यों के सिलसिले में उनका दर्जा उतना ही ऊँचा हो सकेगा। यह दार्शनिक विचार धारा भली नहीं है। मगर इससे एशिया और अफ़्रीका में पश्चिम की साम्राज्यशाही शक्तियों के रवैये का मतलब कुछ-कुछ समझ में आ जाता है।

आगे चलकर दूसरे विज्ञानियों ने डार्विन के मतों की आलोचना की है, लेकिन मोटे तौर पर उसके विचार आज भी सही माने जाते हैं। आमतौर पर उसके मतों को क़बूल किये जाने का एक नतीजा यह हुआ कि लोगों का प्रगति के विचार में विश्वास हो गया। इस विचार का यह अर्थ था कि मनुष्य और समाज और सारा संसार पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं और दिन-पर-दिन सुधरते जा रहे हैं।

[1] Missing Link.

प्रगति का यह ख़याल सिर्फ़ डार्विन के ही मत का नतीजा नहीं था। वैज्ञानिक खोज की सारी हलचलों ने और औद्योगिक क्रान्ति के कारण और उसके बाद पैदा होने-वाले परिवर्तनों ने लोगों का दिमाग़ इसके लिए तैयार कर दिया था। डार्विन के मत ने इसकी तसदीक़ कर दी और लोग कल्पना करने लगे कि मानवी पूर्णता का लक्ष्य कुछ भी हो, वे विजय-पर-विजय हासिल करते हुए अभिमान के साथ उसकी तरफ़ बढ़ रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि प्रगति का यह विचार बिलकुल नया था। गुज़रे हुए ज़माने में यूरोप, एशिया या पुरानी किसी भी सभ्यता में भी ऐसा कोई विचार रहा हो, ऐसा नहीं लगता; यूरोप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति तक लोग गुज़रे हुए ज़माने को आदर्श काल मानते थे। यूनान और रोम की ऊँची सभ्यता का पुराना ज़माना बाद के ज़मानों से ज़्यादा बढ़िया, ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ व ज़्यादा सुसंस्कृत माना जाता था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि मनुष्य-जाति दिन-पर-दिन ज़्यादा गिरती जा रही है, या उसमें कम-से-कम कोई ज़ाहिरा परि-वर्तन नहीं हो रहा है।

भारत में भी गिरावट का और बीते हुए स्वर्ण-युग का बहुत-कुछ ऐसा ही ख़याल बना हुआ है। भारतीय पुराण भी समय का हिसाब भौगर्भिक युगों जैसे बहुत लम्बे-लम्बे युगों से लगाते हैं, पर वे सतयुग के महान् युग से शुरू करके कलियुग के मौजूदा अधर्म-युग पर आते हैं।

इसलिए हम देखते हैं मानव-प्रगति का विचार बिलकुल आधुनिक है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है, उससे हमें इस विचार में विश्वास होता है। लेकिन हमारा ज्ञान अभी बहुत छोटे दायरे में है और सम्भव है, पूरा ज्ञान होने पर हमारा नज़रिया बदल जाय। उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में इस 'प्रगति' की बाबत जितना जोश था, उतना तो आज भी नहीं रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बड़े पैमाने पर नष्ट करें, तब तो ऐसी प्रगति में कुछ-न-कुछ ख़राबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के 'योग्यतम की अतिजीविता' न्याय का ज़रूरी अर्थ यह नहीं है कि जीवन-संग्राम में सबसे अच्छा ही बाक़ी बचता है। ये सब तो पण्डितों की अटकलें हैं। हमारे ध्यान में रखने की बात तो सिर्फ़ यह है कि अचल या अन-बदल या कि गिरावट की तरफ़ जानेवाले समाज के पुराने और आम विचार को उन्नीसवीं सदी नें आधु-निक विज्ञान ने एक तरफ़ धकेल दिया, और उसकी जगह पर यह विचार फैल गया कि समाज गतिशील और परिवर्तनशील है। इसके साथ ही प्रगति का विचार भी पैदा हुआ। और इसमें शक नहीं कि इस ज़माने में समाज वास्तव में इतना बदल गया है कि उसे पहचाना नहीं जा सकता।

जब मैं तुम्हें डार्विन का जातियों के उद्‌भव का मत बता रहा हूँ तो तुम्हें यह

जानकर दिलचस्पी होगी कि इस विषय में एक चीनी दार्शनिक ने, २,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम त्सोन-त्से था और उसने ईसा से छः सौ वर्ष पहले, बुद्ध-काल के आसपास लिखा था—

"सब प्राणियों की उत्पत्ति एक ही जाति से हुई है। इस अकेली मूल जाति में धीरे-धीरे व लगातार परिवर्तन होते गये, जिसके सबब से प्राणियों के जुदा-जुदा रूप पैदा हुए। इन प्राणियों में फ़ौरन ही भेद नहीं पैदा हुआ था, बल्कि उन्होंने अलग-अलग भेद पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तनों से हासिल किये थे।"

यह बात डार्विन के मत से काफ़ी मिलती-जुलती है, और यह अचम्भे की चीज़ है कि यह पुराना चीनी जीव-विज्ञानी ऐसे नतीजे पर पहुँच गया, जिसकी फिर से खोज करने में संसार को ढाई हज़ार साल लग गये।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी प्रगति करती गई, वैसे-वैसे परिवर्तनों की गति भी तेज़ होती गई। विज्ञान ने चमत्कार-पर-चमत्कार पैदा किये और खोजों व आविष्कारों की बिना छोरवाली नुमायश से लोगों की आँखें चौंधिया गईं। इनमें से तार, टेलिफ़ोन, मोटर और फिर हवाई-जहाज़ जैसे कितने ही आविष्कारों ने जनता के जीवन में महान् परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सों को नापने की हिम्मत की। उसने मनुष्य की थकानेवाली मशक़्क़त कम कर दी और करोड़ों का जीवन सुभीते का हो गया। विज्ञान के कारण दुनिया की, और खासकर औद्योगिक देशों की, आबादी में ज़बर्दस्त बढ़ोतरी हो गई। साथ ही विज्ञान ने विनाश के खूब कामिल साधन भी तैयार कर डाले। मगर इसमें विज्ञान का क़सूर नहीं था। इसने तो प्रकृति पर मनुष्य का क़ाबू बढ़ा दिया; मगर इस तमाम शक्ति को हासिल करके मनुष्य यह नहीं जान पाया कि अपने ऊपर क़ाबू कैसे किया जाता है। इसलिए उसने बदचलनी की और विज्ञान की भेंट को व्यर्थ गँवा दिया। लेकिन विज्ञान की यह विजय-यात्रा जारी रही और उसने डेढ़ सौ साल के भीतर ही दुनिया की काया ऐसी पलट दी जैसी पिछले तमाम हज़ारों वर्षों में भी नहीं हो पाई थी। सचमुच विज्ञान ने हर दिशा में और जीवन के हर विभाग में दुनिया को पूरी तरह बदल डाला है।

विज्ञान की यह प्रगति अब भी चल रही है और वह पहले से भी ज़्यादा तेज़ी से दौड़ता नज़र आ रहा है। उसके लिए कोई आराम नहीं है। एक रेल-मार्ग बनता है। मगर जबतक उसके चालू होने का वक़्त आता है तबतक ज़माना उससे आगे निकल जाता है! एक मशीन खरीदकर खड़ी की जाती है कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज़्यादा कारगर मशीनें बनने लगती हैं। बस, यह बेतहाशा दौड़ चलती रहती है। अब हमारे ज़माने में भाप की जगह

बिजली लेती जा रही है और इस तरह बहुत-कुछ उतनी ही बड़ी क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ़ सौ वर्ष पहले की औद्योगिक क्रान्ति थी।

विज्ञान की अनगिनती सड़कों व गली-कूचों में अनगिनती वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बराबर काम में लगे हुए हैं। इनकी क़तार में सबसे बड़ा नाम आज एल्बर्ट आइन्स्टीन[1] का है, जो न्यूटन के मशहूर नियम को कुछ हद तक सुधारने में सफल हुआ है।

हाल ही में विज्ञान में इतनी ज़बर्दस्त प्रगति हुई है और वैज्ञानिक सिद्धान्तों में इतनी बड़ी-बड़ी नई बातें जुड़ गई हैं और इतने बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं कि खुद विज्ञानी भी हक्के-बक्के हो गये हैं। सारी पुरानी मन की तसल्ली और पक्की बात कहने की शान जाती रही है। अब वे यह नहीं कहते कि उनके निकाले हुए नतीजे बिलकुल ठीक हैं, और आगे के लिए भविष्यवाणियाँ करते हुए भी सकुचाते हैं।

मगर यह नई बात बीसवीं सदी की और हमारे अपने ज़माने की है। उन्नीसवीं सदी में पूरा आत्म-विश्वास था और विज्ञान अपनी बेशुमार कामयाबियों के घमण्ड में लोगों पर सवार हो गया था, और उन्होंने इसे देवता मानकर इसके आगे सिर झुका दिया था।

: १३१ :

लोकतन्त्र की प्रगति

१० फ़रवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी में विज्ञान की प्रगति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हमें इस सदी के दूसरे पहलू—लोकतन्त्री विचारों के विकास पर नज़र डालनी चाहिए।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें अठारहवीं सदी के फ़्रान्स में विचारधाराओं की टक्कर का हाल बताया था। उस समय के सबसे महान् विचारक और लेखक वाल्तेयर और दूसरे फ़्रान्सीसी महापुरुषों ने मज़हब और समाज के बारे में कितने ही पुराने ख़यालों को चुनौती दी थी और हिम्मत के साथ नये मतों को पेश किया

[1] Albert Einstein—जर्मन वैज्ञानिक। सापेक्षवाद नामक क्रान्तिकारी वैज्ञानिक सिद्धान्त का जन्मदाता। परमाणुशक्ति का विकास इसीकी गणनाओं का फल माना जाता है। यहूदी होने के कारण हिटलर ने इसे जर्मनी से निकाल दिया था। इसने अमरीका में शरण ली। इसकी मृत्यु १९५५ ई० में हुई।

था। ऐसा राजनीतिक सोच-विचार उस समय ख़ासकर फ़्रान्स में ही था। जर्मनी में भी दार्शनिक थे, मगर उनकी दिलचस्पी दर्शन के कठिन प्रश्नों में ही ज़्यादा थी। इंग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहे थे और ज़्यादातर लोगों को हालतों से मजबूर हुए बिना सोच-विचार करने का शौक़ नहीं था। हाँ, अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में इंग्लैण्ड में एक मार्के की पुस्तक ज़रूर निकली। यह ऐडम स्मिथ की 'वैल्थ ऑफ़ नेशन्स' (राष्ट्रों गी सम्पत्ति) थी। यह पुस्तक राजनीति पर नहीं थी, बल्कि राजनीतिक अर्थश स्त्र पर थी। उस समय के दूसरे सब विषयों की तरह यह विषय भी मज़हब और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बड़ा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय पर वैज्ञानिक ढंग से लिखा और तमाम नैतिक उलझनों को छोड़कर अर्थनीति को चलानेवाले क़ुदरती नियमों का पता लगाने की कोशिश की। जैसा कि शायद तुम जानती हो, अर्थशास्त्र इस बात से सरोकार रखता है कि लोगों के या किसी समूचे देश के आमद-ख़र्च का प्रबन्ध कैसे किया जाता है, वे क्या पैदा करते हैं और क्या उपभोग करते हैं, और आपस में व दूसरे देशों व लोगों के साथ उनके क्या सम्बन्ध हैं। ऐडम स्मिथ का मानना था कि ये सारी पेचीदा हरकतें कुछ अटल क़ुदरती नियमों के मुताबिक़ होती हैं और इन नियमों का उसने अपनी पुस्तक में ज़िक्र किया। वह यह भी मानता था कि उद्योग-धन्धों के विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे इन नियमों में ख़लल न पड़े। दख़ल न देने की नीति की शुरुआत यहीं से हुई। इसका कुछ ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उस समय फ़्रान्स में जो नये लोकतन्त्री विचार अँकुवा रहे थे, उनसे ऐडम स्मिथ की पुस्तक का कोई वास्ता न था। लेकिन मनुष्यों व राष्ट्रों पर असर डालनेवाली एक सबसे ज़्यादा महत्व की समस्या को वैज्ञानिक ढंग से पेश करने का उसका जतन ज़ाहिर करता है कि लोग हर चीज़ को पुरानी धर्म-शास्त्री निगाह से देखना छोड़कर एक नई दिशा में जा रहे थे। ऐडम स्मिथ अर्थशास्त्र के विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है और उसने उन्नीसवीं सदी के कई अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों को प्रेरणा दी है।

अर्थशास्त्र का यह नया विज्ञान प्रोफ़ेसरों और कुछ अच्छे पढ़े-लिखे लोगों के ही दायरे में रहा। लेकिन इसी बीच नये लोकतन्त्री विचार फैल रहे थे और अमेरिका व फ़्रान्स की क्रान्तियों ने उन्हें ख़ूब ही लोकप्रिय बनाया और उनका ज़बर्दस्त प्रचार किया। अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा और फ़्रान्स की अधिकारों की घोषणा के लच्छेदार शब्दों और पदों ने लोगों के दिलों में गहरी हलचल मचा दी। इनसे करोड़ों पीड़ितों और शोषितों के दिल फड़क उठे और उनके लिए ये मुक्ति का सन्देश लेकर आये। दोनों घोषणाओं में हर आदमी की स्वतन्त्रता का और समानता का और सुखी रहने के हक़ का ज़िक्र था। इन प्रिय हक़ों की ज़ोरदार घोषणा से ही लोगों को ये हासिल नहीं हो गये। आज इन

घोषणाओं के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन हक़ों का फ़ायदा उठानेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। लेकिन इन सिद्धान्तों की घोषणा ही एक अनोखी और जान फूंकनेवाली चीज़ थी।

दूसरे देशों की तरह यूरोप में भी, और दूसरे मज़हबों की तरह ईसाइयत में भी, पुराना ख़याल यह था कि पाप और दुःख सभी मनुष्यों को लाज़िमी तौर पर भोगने पड़ते हैं। मज़हब ने मानो इस संसार में ग़रीबी व मुसीबत को एक स्थायी और यहाँ तक कि इज़्ज़त की जगह दे दी थी। मज़हब के वादे व इनाम सारे-के-सारे किसी परलोक के लिए थे; यहाँ तो हमें यही उपदेश दिया जाता था कि भगवान् पर भरोसा करके अपने भाग्य के भोगों को बर्दाश्त करते रहें और किसी बुनियादी परिवर्तन के पीछे न पड़ें। दान-पुण्य, यानी ग़रीबों को टुकड़े डालने को बढ़ावा दिया जाता था, मगर ग़रीबी या ग़रीबी पैदा करनेवाली प्रणाली को मिटाने का कोई विचार नहीं था। स्वतन्त्रता और बराबरी के तो विचार ही ईसाई-संघ और समाज के सत्तावादी नज़रिये के ख़िलाफ़ पड़ते थे।

लोकतन्त्र का यह तो कभी कहना नहीं था कि सब मनुष्य असलियत में बराबर हैं। वह ऐसा कह भी नहीं सकता था, क्योंकि यह तो ज़ाहिर ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताएँ होती हैं; तन की असमानताएँ जिनके सबब से ही कुछ लोग दूसरों से बलवान होते हैं; दिमाग़ी असमानताएँ जिनसे कुछ लोग दूसरों से ज़्यादा क़ाबिल व बुद्धिमान दिखाई देते हैं; और नैतिक असमानताएँ जो कुछ को स्वार्थी बनाती हैं और कुछ को नहीं। यह बिलकुल मुमकिन है कि इनमें से बहुत-सी असमानताएँ अलग-अलग तरह के लालन-पालन व शिक्षा के सबब से या शिक्षा के अभाव से होती हों। दो एक-सी क़ाबलियतवाले लड़कों या लड़कियों में से एक को अच्छी शिक्षा दे दो और दूसरे को बिलकुल न दो, तो कुछ वर्षों बाद दोनों में ज़बर्दस्त फ़र्क़ हो जायगा। या एक को तन्दुरुस्ती बढ़ानेवाला भोजन दो, और दूसरे को ख़राब और नाकाफ़ी भोजन दो, तो पहला ठीक तरह से बढ़ेगा और दूसरा कमज़ोर, रोगी और दुबला-पतला रहेगा। इसलिए लालन-पालन, चौगिर्द, ट्रेनिंग व शिक्षा मनुष्य में भारी भेद पैदा कर देते हैं और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की ट्रेनिंग और मौके मिलें तो असमानता आज के मुक़ाबले में बहुत कम हो जाय। असल में यह बहुत सम्भव है। लेकिन जहाँतक लोकतन्त्र का सम्बन्ध है, वह मानता है कि मनुष्य दरअसल असमान होते हैं, और फिर भी वह कहता है कि हरेक मनुष्य के साथ ऐसा बर्ताव किया जाना चाहिए मानो उसका राजनीतिक व समाजी महत्व सबके बराबर है। अगर इस लोकतन्त्री सिद्धान्त को पूरी तरह मान लें तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजों पर पहुँच जाते हैं। यहाँ हमें इसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं, लेकिन इस सिद्धान्त से लाज़िमी नतीजा यह

निकला कि शासन करनेवाली विधान-सभा या संसद के लिए प्रतिनिधि के चुनाव में हर व्यक्ति को वोट देने का हक़ होना चाहिए। वोट देने का हक़ राजनीतिक सत्ता का निशान है, और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का हक़ हो तो उसे राजनीतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। इसलिए सारी उन्नीसवीं सदी में लोकतन्त्र की खास माँग यह थी कि मताधिकार बढ़ाया जाय। बालिग़ मताधिकार का मतलब यह होता है कि हर बालिग़ व्यक्ति को वोट देने का अधिकार हो। बहुत समय तक स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं था, और बहुत दिन नहीं हुए जब स्त्रियों ने, ख़ासतौर पर इंग्लैण्ड में, इस बारे में ज़बर्दस्त आन्दोलन किया था। ज्यादातर उन्नत देशों में आजकल स्त्रियों और पुरुषों दोनों को बालिग़ मताधिकार हासिल है।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगों को वोट का हक़ मिल गया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि इससे उनकी हालत में कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं पड़ा। वोट का हक़ मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हें कुछ भी सत्ता नहीं मिली या बहुत ही थोड़ी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का? असली सत्ता तो उन लोगों के हाथों में रही, जो उसकी भूख से फ़ायदा उठा सकते थे और उसे मजबूर करके अपने फ़ायदे का कोई भी मनचाहा काम उससे करा लेते थे। बस, वोट के हक़ से जिस राजनीतिक सत्ता के मिलने का ख़याल था, वह बिना असलियत की परछाईं और बिना आर्थिक सत्तावाली साबित हुई। शुरू के लोकतन्त्रवादियों के वे रौनक़दार सपने कि मताधिकार मिलते ही बराबरी आजायगी, झूठे साबित हुए।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनों में, यानी अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के शुरू में, लोकतन्त्रवादियों में बड़ा जोश था। लोकतन्त्र सबको आज़ाद और बराबरी का नागरिक बनानेवाला था, और सरकार व राज्य सबके सुख का उपाय करनेवाले! अठारहवीं सदी के बादशाहों और सरकारों ने जैसी मनमानी चलाई थी और अपनी निरंकुश सत्ता का जैसा बुरा इस्तेमाल किया था, उसके खिलाफ़ बड़ी प्रतिक्रिया हुई। इससे लोगों को अपनी घोषणाओं में व्यक्तियों के हक़ों का भी ऐलान करना पड़ा। शायद अमेरिका और फ़्रान्स की घोषणाओं में व्यक्तियों के हक़ों के ये बयान ज़रूरत से कुछ आगे बढ़ गये थे। समाज की गठरी में से व्यक्तियों को अलग-अलग करके उन्हें पूरी आज़ादी दे सकना आसान नहीं है। ऐसे व्यक्ति और समाज के हित आपस में टकरा सकते हैं और टकराते भी हैं। ख़ैर, कुछ भी हो, लोकतन्त्र व्यक्तियों को ख़ूब आज़ादी देने का दम भरता है।

इंग्लैण्ड पर, जो अठारहवीं सदी में राजनीतिक विचारों में पिछड़ा हुआ

था, अमेरिका और फ़्रान्स की राज्यक्रान्तियों का गहरा असर पड़ा। उस पर पहली प्रतिक्रिया तो इस दहशत की हुई कि नये लोकतन्त्री विचारों से देश में समाजी क्रान्ति न हो जाय। शासक-वर्ग पहले से भी ज़्यादा कट्टर और प्रतिगामी हो गये। फ़िर भी दिमाग़ी लोगों में नये विचार फैलते गये। टामस पेन इस ज़माने का एक दिलचस्प अंग्रेज़ हुआ है। स्वाधीनता के युद्ध के समय वह अमेरिका में था, और उसने अमेरिकावासियों की मदद की थी। मालूम होता है कि अमेरिकी लोगों का विचार पूरी स्वाधीनता की तरफ़ बदल देने में इसका भी कुछ हाथ था। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति की पैरवी में 'दि राइट्स ऑफ़ मैन' (मनुष्य के अधिकार) नामक पुस्तक लिखी। यह क्रान्ति उस समय शुरू ही हुई थी। इस पुस्तक में उसने राजाशाही पर हमला किया और लोकतन्त्र की हिमायत की। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी क़रार दिया और उसे भागकर फ़्रान्स चला जाना पड़ा। पेरिस में वह बहुत जल्द नेशनल कन्वेन्शन का सदस्य बन गया, मगर १७९३ ई० में जैकोबिनी लोगों ने उसे क़ैद कर दिया, क्योंकि उसने सोलहवें लुई की हत्या का विरोध किया था। पेरिस के जेलखाने में उसने 'दि एज ऑफ़ रीज़न' (तर्क का युग) नाम की दूसरी पुस्तक लिखी। इसमें उसने मज़हबी नज़रिये की बुराई की। रोबेसपीर की मृत्यु के बाद उसे पेरिस जेल से छोड़ दिया गया। चूँकि स्पेन अंग्रेज़ी अदालतों के दायरे के बाहर था, इसलिए इस पुस्तक को छापने के जुर्म में उसके अंग्रेज़ प्रकाशक को क़ैद की सज़ा दे दी गई। ऐसी पुस्तक समाज के लिए ख़तरनाक समझी गई, क्योंकि ग़रीबों को जहाँ-का-तहाँ रखने के लिए मज़हब ज़रूरी माना जाता था। पेन की पुस्तक के कई प्रकाशक जेल भेज दिये गए। इनमें स्त्रियाँ भी थीं। यह दिलचस्पी की बात है कि कवि शेली ने इस सज़ा के विरोध में न्यायाधीश को एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवीं सदी के सारे अगले हिस्से में जो लोकतन्त्री विचार फैले, यूरोप में उनकी बुनियाद डालनेवाली फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति थी। हालतें जल्दी-जल्दी बदल रही थीं, फिर भी क्रान्ति के विचार सचमुच बने ही रहे। ये लोकतन्त्री विचार बादशाहों के व निरंकुशता के ख़िलाफ़ दिमाग़ी प्रतिक्रिया थे। इन विचारों की जड़ उद्योगवाद से पहले की हालतों में थी। लेकिन भाप और बड़ी-बड़ी मशीनों का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था। फिर भी यह अजीब बात है कि शुरू उन्नीसवीं सदी के वाम-दली और लोकतन्त्रवादी इन परिवर्तनों को दर गुज़र करते रहे और क्रान्ति व मानव-अधिकारों की घोषणा की लच्छेदार भाषा में ही बातें करते रहे। शायद उनके विचार में ये परिवर्तन निरे दुनियावी चीज़ों से ताल्लुक़ रखनेवाले थे और लोकतन्त्र की ऊँची आध्यात्मिक, नैतिक और राजनीतिक माँगों पर उनका कोई असर नहीं पड़ता था। मगर दुनियावी चीज़ों का ऐसा ढंग होता है कि उनको छोड़ा नहीं जा सकता। यह बड़ी दिलचस्पी की बात

है कि लोगों के लिए पुराने विचार छोड़ना और नये अपनाना बहुत ही कठिन होता है। वे अपनी आँखों और अपने दिमाग़ों को बन्द कर लेते हैं और देखने से ही इन्कार कर देते हैं और पुरानी बातों से उन्हें नुक़सान पहुँचता हो तो उनसे चिपके रहने के लिए लड़ते हैं। नये विचारों को क़बूल करने और अपने-आपको नई हालतों में ढालने के सिवा वे सबकुछ करने को तैयार रहते हैं। कट्टरपन में बड़ी ज़बर्दस्त शक्ति होती है। अपने को बहुत उन्नतिशील समझनेवाले वामदली लोग भी अक्सर पुराने और थोथे विचारों से चिपके रहते हैं और बदलती हुई हालतों की तरफ़ से आँखें मूँद लेते हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि प्रगति धीमी पड़ जाती है और अक्सर करके असली हालतें लोगों के विचारों से बहुत पीछे रह जाती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी हालतें पैदा हो जाती हैं।

इस तरह बीसियों वर्षों तक लोकतन्त्रवाद का काम सिर्फ़ फ़ान्स की राज्य-क्रान्ति के विचारों और परम्पराओं को जारी रखना ही रहा। लोकतन्त्रवाद ने अपने-आपको नई हालतों में नहीं ढाला। इसका नतीजा यह हुआ कि सदी का अन्त होते-होते वह कमज़ोर पड़ गया और बाद में बीसवीं सदी में तो बहुतों ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया। आज भारत में भी हमारे बहुतेरे प्रगतिशील राजनीतिज्ञ अभी तक फ़ान्स की राज्य-क्रान्ति की और मानव-अधिकारों की बातें करते हैं, इस बात को नहीं महसूस करते कि तबसे अबतक क्या-क्या हो चुका है।

शुरू के लोकतन्त्रवादियों का बुद्धिवाद को अपनाना लाज़िमी था। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता की उनकी माँग का कट्टरपन्थी मज़हब व धर्मशास्त्रवाद के साथ समझौता होना असम्भव था। इस तरह लोकतन्त्रवाद और विज्ञान ने मिलकर धर्मशास्त्री रूढ़ियों का शिकंजा ढीला किया। लोग बाइबिल की भी जाँच करने की हिम्मत करने लगे, मानो वह एक मामूली पुस्तक थी और ऐसी चीज़ नहीं थी जिसे बिना शंका के अन्धी भक्ति के साथ मान लिया जाय। बाइबिल की इस आलोचना को 'ऊँचे दर्जे की आलोचना' कहा गया। इन आलोचकों ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल अलग-अलग युगों के अलग-अलग व्यक्तियों के लेखों का संग्रह है। उनका यह भी मत था कि ईसा का कोई मज़हब चलाने का इरादा नहीं था। इस आलोचना से कितने ही पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतन्त्री विचारों के सबब पुरानी मज़हबी नींवें कमज़ोर होती गईं वैसे-वैसे पुराने मज़हब की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के जतन किये गए। ऐसा ही एक जतन आगस्त कौन्त नामक फ़ान्सीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन् १७९८ से १८५७ ई० तक है। कौन्त ने महसूस किया कि पुराने धर्म-शास्त्रवाद और कट्टरपन्थी मज़हब का ज़माना जाता रहा; मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी मज़हब की

जरूरत है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म'[1] का प्रस्ताव किया और उसका नाम 'धनात्मकवाद'[2] रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और प्रगति रक्खे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी; इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवीं सदी की दूसरी सब चालू विचारधाराओं की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मनुष्य-जाति की प्रगति का विचार था। कौन्त के मज़हब पर कुछ गिने-चुने दिमाग़ी लोगों का ही विश्वास रहा, मगर यूरोप के विचारों पर उसका आम असर खूब पड़ा। मानव-समाज और संस्कृति से ताल्लुक़ रखनेवाले समाजशास्त्र का अध्ययन इसी-का शुरू किया हुआ समझना चाहिए।

अंग्रेज़ दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३ ई०) कौन्त के ही समय में हुआ था, मगर वह कौन्त की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जिन्दा रहा। मिल पर कौन्त के मतों और समाजवादी विचारों का असर पड़ा था। ऐडम स्मिथ के मतों को लेकर राजनीतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इंग्लैण्ड में बन गया था, उसे मिल ने नई दिशा में ले जाने की कोशिश की और उसने आर्थिक विचारों में कुछ समाजवादी सिद्धान्तों को डाला। मगर वह सबसे बड़ा 'उपयोगितावादी'[3] मशहूर हुआ है। उपयोगितावाद का मत नया था, जो इंग्लैण्ड में चल तो कुछ समय पहले ही चुका था, मगर उसे ज्यादा महत्व दिया मिल ने। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसको राह दिखानेवाला दर्शन था 'उपयोगिता'। उपयोगिता-वादियों का बुनियादी सिद्धान्त था 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख'[4]। भलाई-बुराई की सिर्फ़ यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ानेवाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुःख बढ़ाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सुख में ज्यादा-से-ज्यादा बढ़ोतरी के वास्ते ही माना गया। यह नज़रिया सबको बरा-बरी का अधिकार देनेवाले लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त से अलग तरह का था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोड़े-से लोगों की क़ुर्बानी या तकलीफ़ ज़रूरी हो सकती हैं। मैं तुम्हें सिर्फ़ यह फ़र्क़ बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ ज़रूरत नहीं। इस तरह लोकतन्त्र का अर्थ बहुमत के हक़ माना जाने लगा।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतन्त्री विचार का ज़ोरदार हामी था। उसने 'स्वतन्त्रता पर'[5] नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी जो बहुत

---

[1] Religion of Humanity. [2] Positivism. [3] Utilitarian.
[4] Greatest happiness of the greatest number. [5] On Liberty.

मशहूर हो गई। मैं इस पुस्तक का एक खुलासा यहाँ दूंगा, जिसमें भाषण की स्वतन्त्रता और विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का समर्थन किया गया है—

"किसी मत की अभिव्यक्ति पर ताला लगा देने में खास बुराई यह है कि मनुष्य-जाति उससे महरूम रह जाती है—आनेवाली सन्तान और मौजूदा पीढ़ी भी; और उस मत के माननेवालों से भी ज्यादा वे लोग जो उससे मतभेद रखते हैं। अगर वह मत सही है तो लोग असत्य की जगह पर सत्य को बिठाने के अवसर से महरूम रह जाते हैं; अगर ग़लत है तो वे क़रीब उतना ही बड़ा लाभ खो देते हैं—यह लाभ है सत्य के साथ उस मत की टक्कर से पैदा होनेवाले सत्य का ज्यादा साफ़ ज्ञान और सत्य की ज्यादा चटकीली छाप। हम यह कभी तय नहीं कर सकते कि जिस मत का गला घोंटने की हम कोशिश करते हैं, वह झूठा है; और अगर हमें यक़ीन भी हो तो भी उसका गला घोंटना बुराई ही होगी।"

ऐसे रुख का कट्टरपन्थी मज़हब या अन्याय के साथ समझौता नहीं हो सकता था। यह तो दार्शनिक का, सत्य के खोजी का, रवैया था।

मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी यूरोप के कुछ बड़े-बड़े विचारकों के नाम बता दिये हैं, ताकि तुम्हें विचारधाराओं के विकास की दिशा का पता लग जाय और ये नाम तुम्हारे लिए विचारों की दुनिया में राह बतानेवाले चिह्न बन जायँ। मगर इन लोगों का, और आमतौर पर शुरू के लोकतन्त्रवादियों के असर का दायरा क़रीब-क़रीब दिमाग़ी वर्गों तक ही था। इन दिमाग़ी लोगों से छनकर वह कुछ हद तक दूसरे लोगों में भी पहुँच गया था। हालाँकि इस लोकतन्त्री विचार-धारा का सीधा असर तो जनता पर बहुत मामूली पड़ा, लेकिन बेमालूम असर खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ मामलों में तो सीधा असर भी बहुत पड़ा।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई वैसे-वैसे मज़दूर-आन्दोलन और समाज-वाद के अलावा दूसरे आन्दोलनों और विचारों का भी विकास हुआ। इनका असर चालू लोकतन्त्री ख़यालों पर पड़ा और इन ख़यालों का असर आन्दोलनों पर पड़ा। कुछ लोग समाजवाद को लोकतन्त्र की जगह लेनेवाला समझने लगे; कुछ उसे उसी का एक ज़रूरी अंग समझने लगे। हम देख चुके हैं कि लोकतन्त्रवादियों के दिमाग़ में स्वतन्त्रता, बराबरी और हरेक को सुख का बराबर हक़ के ख़याल भरे हुए थे। मगर उन्होंने बहुत जल्दी महसूस कर लिया कि सुख को बुनियादी हक़ मान लेने से ही वह हासिल नहीं हो जाता है। दूसरी बातों के अलावा मनुष्य के लिए कुछ जिन्दगी का आराम भी ज़रूरी है। जो भूखा मर रहा है, वह सुखी नहीं हो सकता। इससे यह विचार पैदा हुआ कि सुख इस बात पर निर्भर है कि धन का बँटवारा

लोगों में ठीक तरह से हो। इससे हम समाजवाद में चले जाते हैं; पर उसका बयान अगले पत्र में किया जायगा।

उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में जहाँ-जहाँ पराधीन राष्ट्र या क़ौमें आज़ादी के लिए लड़ रहे थे, वहाँ-वहाँ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता का मेल हो गया था। इटली का मैज़िनी इस तरह के लोकतन्त्री देश-प्रेम का एक ख़ास नमूना था। आगे चलकर इसी सदी में राष्ट्रीयता का यह लोकतन्त्री रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गया और वह दिन-पर-दिन ज़्यादा सरगर्म और सत्तावादी बनती गई। राज्य एक ऐसा देवता बन गया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाज़िमी था।

नये उद्योगों के नेता अंग्रेज़ व्यापारी थे। उन्हें ऊँचे-ऊँचे लोकतन्त्री सिद्धान्तों में और जनता की स्वतन्त्रता के अधिकार में कोई ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी। मगर उन्होंने देख लिया कि लोगों को ज़्यादा स्वतन्त्रता देना व्यापार के लिए अच्छी चीज़ है। इससे मज़दूरों के रहन-सहन की सतह ऊँची उठ जाती है, वे इस भ्रम में फँस जाते हैं कि उन्हें कुछ आज़ादी मिली हुई है, और अपना काम ज़्यादा मुस्तैदी से करने लगते हैं। उद्योगों के कामगरों में ज़्यादा मुस्तैदी लाने के लिए सब लोगों की शिक्षा भी ज़रूरी थी। इसकी ज़रूरत को समझकर व्यापारी और उद्योगपति परोपकार का ढोंग रचकर जनता को ये मेहरबानियाँ इनायत करने को राज़ी हो गये। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में इंग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप में किसी-न-किसी तरह की शिक्षा तेज़ी से फैलने लगी।

: १३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फ़रवरी, १९३३

मैं तुम्हें लोकतन्त्र की उन्नति के बारे में लिख चुका हूँ; मगर याद रहे कि इस उन्नति के लिए कठिन लड़ाई लड़नी पड़ी थी। किसी चालू व्यवस्था में जिन लोगों का स्वार्थ होता है, वे परिवर्तन नहीं चाहते और उसे रोकने के लिए सारा ज़ोर लगा देते हैं। फिर भी ऐसे परिवर्तनों के बिना कोई प्रगति या बेहतरी नहीं हो सकती। किसी भी संस्था या शासन-प्रणाली को अपने से अच्छी के लिए जगह ख़ाली करनी पड़ती है। जो लोग ऐसी प्रगति चाहते हैं, उन्हें पुरानी संस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पड़ता है। इसलिए उनका रास्ता यह हो जाता है कि मौजूदा हालतों से कभी समझौता नहीं करना और जो लोग उनसे फ़ायदा उठाते हैं, उनके साथ हमेशा झगड़ा करते रहना। पश्चिमी यूरोप में शासक-वर्गों ने हर तरह की प्रगति का क़दम-क़दम पर विरोध किया।

इंग्लैण्ड में उन्होंने हथियार तभी डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से ख़ूनी क्रान्ति हो जायगी। जैसाकि मैं पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने की दूसरी वजह नये व्यवसायी लोगों का यह महसूस करना था कि व्यापार के लिए भी थोड़ा-बहुत लोकतन्त्र ज़माने का तक़ाज़ा भी है और फ़ायदेमन्द भी।

मगर मैं तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवीं सदी के अगले हिस्से में इन लोकतन्त्री विचारों का दायरा ज्यादातर दिमाग़ी लोगों तक ही था। आम जनता पर उद्योगवाद की बढ़ोतरी का ज़बर्दस्त असर पड़ा था और वे ज़मीनें छोड़-छोड़कर कारख़ानों में जाने को मजबूर हुए थे। औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग बढ़ रहा था, जो भद्दे और गन्दे कारख़ानी नगरों में भेड़-बकरियों की तरह रहता था। ये नगर ज्यादातर कोयले की खानों के आस-पास थे। इन मज़दूरों में तेज़ी के साथ परिवर्तन हो रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति या ज़हनियत का विकास हो रहा था। जो ढेरों किसान और कारीगर भूख के मारे कारख़ानों में आ-आकर भरती हुए थे, उनसे ये मज़दूर बिलकुल जुदा क़िस्म के थे। जैसे इन कारख़ानों के खोलने में इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे ही औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग भी पहले-पहल इंग्लैण्ड में ही बढ़ा। कारख़ानों के भीतर की हालत दिल दहलानेवाली थी और मज़दूरों के घरों या झोंपड़ों की उससे भी बदतर। उन्हें मुसीबतें भी बहुत थीं। छोटे-छोटे बच्चों और स्त्रियों को इतने घण्टे काम करना पड़ता था कि आज उसपर यक़ीन नहीं होता। फिर भी इन कारख़ानों और घरों की हालत क़ानून के-ज़रिये सुधारने की सब कोशिशों का मालिकों ने डटकर विरोध किया। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के हक़ों में शर्मनाक दस्तन्दाज़ी है। ख़ानगी मकानों को क़ानूनन साफ़-सुथरा रखने का भी उन्होंने इसी आधार पर विरोध किया।

ग़रीब अंग्रेज़ मज़दूर धीमे-धीमे फ़ाक़ाकशी और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नेपोलियनी युद्धों से देश चूर हो गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी, जिसकी मुसीबत सबसे ज्यादा मज़दूरों पर ही पड़ी। मजबूर होकर मज़दूर लोग अपनी रक्षा करने को, और अपनी हालत में सुधार करने के वास्ते लड़ने को समितियाँ बनाना चाहते थे। पुराने ज़माने में कारीगरों और कुशल मज़दूरों की पंचायतें होती थीं, मगर वे बिलकुल अलग ढंग की थीं। फिर भी उन पंचायतों की याद ने कारख़ानों के मज़दूरों को अपनी समितियाँ बनाने के लिए उकसाया होगा। मगर उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया। इंग्लैण्ड का शासक-वर्ग फ़्रान्स की राज्य-क्रान्ति से इतना डर गया था कि उन्होंने 'सम्मिलन क़ानून'[1] कहलानेवाले ऐसे क़ानून बना दिये कि बेचारे मज़दूर अपने दुःख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सकें। तब इंग्लैण्ड में, और आज भारत में, 'क़ानून और व्यवस्था'

[1] Combination Acts.

ने सदा मुट्ठीभर सत्ताधारियों के स्वार्थ साधने और जेबें भरने का बड़ा फ़ायदेमन्द काम किया है।

लेकिन मज़दूरों को इकट्ठा होने से रोकनेवाले क़ानूनों से मज़दूरों की हालतें सुधरी नहीं। वे उलटे भड़क गये और सब आशाएँ छोड़ बैठे। उन्होंने गुप्त समितियाँ बनाईं, सब बातें गुप्त रखने की आपस में क़समें खाईं, और सुनसान जगहों में आधी रात गये सभाएँ करने लगे। किसी साथी की ग़द्दारी पर या भेद खुल जाने पर षड़-यन्त्र के मुक़दमे चलते और भयंकर सज़ाएँ दी जातीं। कभी-कभी वे ग़ुस्से में आकर मशीनों को तोड़-फोड़ डालते, कारखानों में आग लगा देते और कुछ मालिकों की हत्या भी कर डालते थे। अन्त में, १८२५ ई० में, मज़दूर-संगठनों पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटा ली गईं और मज़दूर-यूनियन बनने लग गईं। ये यूनियनें अच्छी तनख्वाह पानेवाले कुशल मज़दूरों ने बनाईं। अकुशल मज़दूर लम्बे अर्से तक बिखरे ही रहे। इस तरह मज़दूर-आन्दोलन की यह सूरत हो गई कि मिलकर शर्तें तय करने के उपायों से मज़दूरों की हालत सुधारने के लिए मज़दूर-यूनियनें बन गईं। मज़दूरों के हाथ में कारगर हथियार तो सिर्फ़ हड़ताल करने के अधिकार का था, यानी काम बन्द कर देना और कारख़ाने का काम ठप्प कर देना। बेशक यह बड़ा हथियार था, मगर उनके मालिकों के हाथ में इससे भी ज्यादा शक्तिशाली हथियार यह था कि वे मज़दूरों को भूखों मारकर उनके घुटने टिकवा सकते थे। इस तरह मज़दूरों की लड़ाई जारी रही, जिसमें उन्हें बहुत क़ुर्बानियाँ तो देनी पड़ीं और फ़ायदा धीरे-धीरे हुआ। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नहीं था, क्योंकि उन्हें वोट देने का भी हक़ नहीं मिला था।१८३२ ई० के जिस महान् 'सुधार बिल' का इतना कड़ा विरोध हुआ था, उससे सिर्फ़ आसूदा मध्यम-वर्ग के लोगों को वोट का हक़ मिला था। मज़दूरों ही नहीं, बल्कि नीचे के मध्यम-वर्ग को भी अभी तक वोट का अधिकार नहीं था।

इसी बीच मेनचेस्टर के कारखानेदारों में ही एक दयावान व्यक्ति पैदा हुआ, जिसे मज़दूरों की दिल-दहलानेवाली हालत देखकर बहुत दुःख हुआ। इसका नाम रॉबर्ट ओवेन था। उसने अपने निजी कारखानों में बहुत-से सुधार जारी किये और अपने मज़दूरों की हालत सुधारी। वह अपने ही मालिकवर्ग में आन्दोलन करता रहा और दलीलों के ज़रिये उन्हें मज़दूरों के साथ अच्छा बर्ताव करने को राज़ी करने की कोशिशें करता रहा। कुछ तो इसकी कोशिशों से, और कुछ दूसरी हालतों से, मजबूर होकर, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मज़दूरों को मालिकों के लोभ और स्वार्थीपन से बचाने के लिए पहला क़ानून पास किया। यह १८१९ ई० का 'कार-खाना क़ानून'[1] था। इस क़ानून की यह मंशा थी कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चों से

[1] Factory Act.

बारह घण्टे से ज़्यादा काम न लिया जाय। इस बन्दोबस्त से ही तुम्हें कुछ अन्दाज़ा हो जायगा कि मज़दूरों को कैसी भयंकर हालतों को बर्दाश्त करना पड़ता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहले-पहल इस्तेमाल किया था। अलबत्ता ग़रीब-अमीर के भेद को काट-छाँटकर एक सतह पर लाने का, और जहाँतक हो सके सम्पत्ति के बराबर बँटवारे का, विचार नया नहीं था। पहले भी बहुत लोगों ने इसकी वकालत की थी। आदिम ज़माने के समुदायों में एक तरह का साम्यवाद था ही, क्योंकि उनमें सारे समुदाय या गाँव का ज़मीन और दूसरी सम्पत्ति पर शामिल क़ब्ज़ा होता था। इसे आदिम साम्यवाद कहते हैं, और यह भारत में व दूसरे कई देशों में पाया जाता है। मगर नया समाजवाद सबको बराबर कर देने के धुँधले इरादे के अलावा और भी बहुत-कुछ था। यह ज़्यादा निश्चित था और शुरू-शुरू में इसकी मंशा उत्पादन की नई कारख़ाना-प्रणाली पर ही लागू होने की थी। इसलिए यह औद्योगिक प्रणाली का ही बच्चा था। ओवेन का विचार यह था कि मज़दूरों की सहकारी-समितियाँ बन जायँ और मज़दूरों का कारख़ानों में हिस्सा हो जाय। उसने इंग्लैण्ड और अमेरिका में नमूने के कारख़ाने और बस्तियाँ क़ायम कीं और उसे कमती-बढ़ती सफलता भी मिली। मगर वह अपनी मालिक-बिरादरी के या सरकार के विचारों को नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका असर बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया, जिसने उसी समय से करोड़ों के दिलों को मोह लिया है।

इस बीच पूँजीशाही उद्योग-धन्धे बराबर बढ़ते गये, और जैसे-जैसे इन्हें सफलता-पर-सफलता मिलती गई वैसे-वैसे मज़दूरों की समस्या भी ज़ोर पकड़ती गई। पूँजीशाही का नतीजा यह हुआ कि उत्पादन बहुत बढ़ गया और उसकी वजह से आबादी भी ज़बर्दस्त तेज़ी से बढ़ी, क्योंकि अब पहले से ज़्यादा आदमियों को परवरिश और ख़ूराक मिल सकती थीं। एक तरफ़ बड़े-बड़े व्यवसाय खड़े हो गये, जिनके अलग-अलग विभागों में पेचीदा ढंग का सहयोग था। दूसरी तरफ़ छोटे-छोटे काम-धन्धों की मुक़ाबलेदारी कुचल दी गई। इंग्लैण्ड में दौलत उलट पड़ी लेकिन उसका बड़ा हिस्सा नये कारख़ाने या रेल-मार्ग या इसी क़िस्म के दूसरे कारोबार खड़े करने में लगाया गया। मज़दूरों ने भी हड़तालें कर-करके अपनी हालतें सुधारने की कोशिश की, मगर ये हड़तालें आमतौर पर बुरी तरह असफल हो जाती थीं। बाद में मज़दूर लोग १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन में शामिल हो गये। मैं तुम्हें किसी पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष में ठण्डा हो गया था।

पूँजीशाही की सफलता ने लोगों की आँखें चौंधिया दीं, मगर फिर भी कुछ

वाम-पक्षी दलवाले या प्रगतिशील विचारोंवाले या दयावान लोग ऐसे रह गये थे, जो पूंजीशाही की गल-घोंटू होड़बाजी से, और देश की बढ़ती हुई दौलत के बावजूद उससे पैदा होनेवाली मज़दूरों की मुसीबतों से, बहुत दुखी थे। इंग्लैण्ड, फ़ान्स, और जर्मनी में इस समस्या के अलग-अलग हल भी सुझाये गए। इन्हीं सबका सामूहिक नाम समाजवाद, समष्टिवाद या समाजी लोकतन्त्र पड़ा। इन सब शब्दों का मोटे तौर पर एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक आमतौर पर इस बात पर सहमत थे कि उद्योगों पर निजी मिल्कियत व क़ब्ज़े का होना सारे झगड़े की जड़ है। इसके बजाय अगर उद्योगों का, या कम-से-कम ज़मीन और बड़े-बड़े उद्योगों—जैसे उत्पादन के बड़े-बड़े साधनों का, मालिक राज्य ही बन जाय और वही उन्हें चलावे, तो मज़दूरों के शोषण का ख़तरा न रहे। इस तरह कुछ सरसरी तौर पर लोग पूंजीशाही प्रणाली का कोई विकल्प ढूंढ़ने लगे। मगर पूंजीशाही प्रणाली का ढह जाने का कोई इरादा नहीं था। वह तो दिन-पर-दिन ज़्यादा मज़बूत होती जा रही थी।

इन समाजवादी विचारों के चलानेवाले दिमाग़ी लोग थे और कारख़ानेदारों में रॉबर्ट ओवेन था। मज़दूर यूनियनों के आन्दोलन का विकास कुछ समय के लिए दूसरी दिशा में चला गया और सिर्फ़ ज़्यादा मज़दूरी और पहले से अच्छी हालतों के लिए कोशिश करने लगा। मगर उसपर इन विचारों का लाज़िमी असर पड़ा और फिर उसने भी समाजवाद के विकास पर बहुत बड़ा असर डाला। यूरोप के तीन अगुआ देश इंग्लैण्ड, फ़ान्स और जर्मनी में अपने-अपने यहाँ के मज़दूरवर्ग के बल व ख़ासियत के मुताबिक़ समाजवाद का विकास कुछ अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातों को देखते हुए अंग्रेज़ों का समाजवाद था, जो क्रम-विकास के तरीक़ों व धीमी प्रगति में विश्वास करता था। अन्य यूरोपीय देशों का समाजवाद अधिक वामपक्षी और क्रान्तिकारी था। अमेरिका में परिस्थितियाँ इससे बहुत भिन्न थीं, क्योंकि वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश होने के कारण वहाँ मज़दूरों की माँग थी। इसलिए बहुत समय तक वहाँ कोई ज़ोरदार मज़दूर-आन्दोलन नहीं पनप सका।

उन्नीसवीं सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढ़ी तक ब्रिटिश उद्योग संसार पर छाया रहा और कारख़ानों के मुनाफ़े और भारत व दूसरे अधीन देशों के शोषण से मिलनेवाली दौलत वहाँ भरती रही। इस बड़ी दौलत का एक हिस्सा किसी-न-किसी रूप में मज़दूरों तक भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया, जितना उन्होंने पहले कभी नहीं जाना था। ख़ुशहाली और क्रान्ति का क्या साथ? इसलिए ब्रिटिश मज़दूरों की पुरानी क्रान्ति-भावना ग़ायब हो गई। ब्रिटिश छाप का समाजवाद भी सबसे ज़्यादा नर्म हो गया। इसका नाम फ़ेबियनवाद पड़ा

गया, क्योंकि इस नाम का एक रोमन सेनापति था जो दुश्मन से सीधी लड़ाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। १८६७ ई० में इंग्लैण्ड में मताधिकार और भी बढ़ा दिया गया और थोड़े-से शहरी मज़दूरों को भी वोट का हक़ मिल गया। मज़दूर-यूनियनें इतनी सलूकदार और ख़ुशहाल हो गईं कि मज़दूर-वर्ग के वोट ब्रिटिश उदार दल को मिलने लगे।

इधर इंग्लैण्ड अपनी ख़ुशहाली में मस्त और बेफ़िक्र हो रहा था और उधर यूरोप व दूसरे देशों में लोग एक नये मत का बड़े जोश और उत्साह से समर्थन कर रहे थे। यह मत अराजकतावाद[1] कहलाता था। जो लोग इसके बारे में कुछ नहीं जानते, वे, मालूम होता है, इस शब्द से ही डर जाते हैं। अराजकतावाद का अर्थ ऐसा समाज है, जिसमें जहांतक हो सके, कोई केन्द्रीय सरकार न हो और व्यक्तियों को खूब आज़ादी हो। अराजकता का आदर्श बहुत ही ऊँचे दर्जे का था, यानी "ऐसे जन-राज्य के आदर्श में विश्वास, जिसका आधार परोपकार, हर हालत में एकता, और दूसरे भाई के हक़ों का अपनी मर्ज़ी से लिहाज़ हो।" राज्य की तरफ़ से कोई बल, ज़बर्दस्ती या मजबूरी न हो। थोरो[2] नाम के अमेरिकी ने कहा है: "सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे; और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार हो जायँगे तब वे ऐसी ही सरकार पसन्द करेंगे।"

यह आदर्श बड़ा बढ़िया मालूम होता है। हरेक को पूरी आज़ादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज़ रक्खे, सब तरफ़ दूसरों की भलाई का ख़याल हो और लोग ख़ुशी-ख़ुशी आपस में सहयोग करें। मगर आज की स्वार्थ और हिंसा से भरी दुनिया इससे अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियों की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार क़तई न हो, या नाम की सरकार हो, शायद उस निरंकुशता और अन्यायी शासन की प्रतिक्रिया से पैदा हुई होगी, जिसमें लोगों ने बहुत दिन तकलीफ़ें उठाई थीं। चूंकि सरकारों ने लोगों को कुचला और सताया था, इसलिए सरकारें रहने ही न दी जायँ। अराजकतावादियों को ऐसा भी लगा कि समाजवाद के कुछ रूपों में, उत्पादन के तमाम साधनों का मालिक होने के नाते राज्य खुद ही अन्यायी बन सकता है। इसलिए अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे, जिनका स्थानीय और हर व्यक्ति की आज़ादी पर बहुत ज़ोर था। उधर समाजवादियों में भी बहुत लोग अराजकतावादियों के मत को बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय में कुछ समय तक समाजवाद में भी एक केन्द्रीय और मज़बूत सरकार का होना ज़रूरी था। इस तरह, हालाँकि समाजवाद और अराजकतावाद

---

[1] Anarchism.

[2] इस विचारक के लेखों का गांधीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

में बहुत काफ़ी फ़र्क़ था, फिर भी दोनों के बहुत-से दर्जे थे, जो एक दूसरे के नज़दीक आते-जाते थे और एक दूसरे से मिल भी जाते थे।

आधुनिक उद्योग-धन्धों से एक संगठित मज़दूरवर्ग पैदा हुआ। अराजकतावाद की तो ख़ासियत ही ऐसी थी कि वह कोई सुसंगठित आन्दोलन नहीं बन सकता था। इसलिए उद्योग-प्रधान देशों में, जहाँ मज़दूर-यूनियनें और ऐसी ही संस्थाएँ बढ़ रही थीं, वहाँ अराजकतावादी विचारों के फैलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। इस तरह न तो इंग्लैण्ड में और न जर्मनी में ही अराजकतावादियों की कोई गिनने लायक़ संख्या थी। लेकिन दक्षिणी और पूर्वी यूरोप उद्योग-धन्धों में पिछड़े हुए थे, इसलिए वहाँ इन विचारों के लिए ज़्यादा उपजाऊ ज़मीन थी। जैसे-जैसे आजकल के उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व में प्रचार हुआ, वैसे-वसे अराजकतावाद कमज़ोर पड़ता गया। आज यह क़रीब-क़रीब एक मुर्दा सिद्धान्त हो गया है, मगर स्पेन जैसे ग़ैर-औद्योगिक देश में आज भी कुछ हद तक इसको माननेवाले पाये जाते हैं।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत बढ़िया हो, मगर इसने न सिर्फ़ जल्दी भड़कनेवाले और नाराज़ लोगों को ही, बल्कि ऐसे स्वार्थियों को भी आसरा दिया जो आदर्श की आड़ में अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। और इसने एक ख़ास तरह की हिंसा को बढ़ाया, जो अराजकतावाद का शब्द सुनते ही हरेक के दिमाग़ में आ जाती है और जिसके सबब से यह इतना बदनाम भी हो गया है। जब अराजकतावादी अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ समाज को न बदल सके, तो उन्होंने एक नये ढंग से प्रचार करने का फ़ैसला किया। यह 'कर दिखाने का प्रचार' था, जिसका अर्थ था दिलेरी की मिसालों के ज़रिये असर डालना, अत्याचारी शासन का बहादुरी के कारनामों से मुक़ाबला करना और अपनी जान निछावर कर देना। इस भावना से कई जगहों पर बलवे किये गए। जिन लोगों ने इनमें भाग लिया, उन्हें फ़ौरन किसी सफलता की आशा नहीं थी। अपने उद्देश्य का इस नये ढंग से प्रचार करने के लिए वे ख़ुशी से अपनी जान जोखिम में डालते थे। पर ये बलवे दबा दिये गए और फिर हरेक अराजकतावादी ने निजी तौर पर आतंकवाद का सहारा लेना शुरू कर दिया, यानी बम फेंकना और बादशाहों व ऊँचे अधिकारियों पर गोलियाँ चलाना। ज़ाहिर है कि यह बेहूदा हिंसा बढ़ती हुई कमज़ोरी और निराशा का लक्षण थी। धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के ख़त्म होते-होते अराजकतावाद का आन्दोलन बिलकुल ठण्डा पड़ गया। बहुत-से अराजकतावादी नेताओं ने बम फेंकने और 'कर दिखाने के प्रचार' के तरीक़ों को नापसन्द किया और उन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

मैं तुम्हें कुछ मशहूर अराजकतावादियों के नाम बताऊँगा। दिलचस्प बात यह है कि निजी जीवन में ज़्यादातर अराजकतावादी नेता बहुत ही शरीफ़, आदर्श-

वादी और चाहने लायक़ थे। सबसे पहले के अराजकतावादी नेताओं में पेरे प्रूदों नामक एक फ़ान्सीसी था, जो १८०९ से १८६५ ई० तक रहा। उससे उम्र में जरा छोटा माइकेल बाकुनिन नामक रूसी रईस था। यह यूरोप का, और खासतौर पर दक्षिण यूरोप में, एक लोकप्रिय मज़दूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय यूनियन बनाई थी, मगर मार्क्स के साथ भिड़न्त हो जाने पर उसने इसे व इसके साथियों को यूनियन से निकलवा दिया। तीसरा नाम रूसी सरदार पीतर क्रोपात-किन का है। यह तो हमारे अपने ज़माने का ही है। इसने अराजकतावाद और दूसरे विषयों पर कुछ बहुत ही दिलचस्प पुस्तकें लिखी हैं। चौथा और आख़िरी नाम, जिसका मैं यहाँ ज़िक्र करूँगा, इटली-निवासी एनरीको मालातेस्ता का है। इसकी आयु अस्सी वर्ष से ऊपर पहुँच चुकी है और यह उन्नीसवीं सदी के महान् अराजकता-वादियों की आख़िरी निशानी रह गया है।

मालातेस्ता के बारे में एक मज़ेदार किस्सा कहे बिना मैं नहीं रह सकता। इटली की एक अदालत में उसपर मुक़दमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस में कहा कि उस क्षेत्र के मज़दूरों में मालातेस्ता का बहुत ज्यादा असर है और उसने उनका चरित्र ही बिलकुल बदल दिया है। इससे लोगों में जुर्म करने की आदत ही ख़त्म हो रही है और जुर्मों की संख्या बहुत घटती जा रही है। अगर जुर्म बन्द हो गये तो फिर अदालतें क्या करेंगी? इसलिए मालातेस्ता को जेल भेजा जाय! और मालातेस्ता को सचमुच छै महीने क़ैद की सज़ा दे दी गई!

बदक़िस्मती से अराजकतावाद को हिंसा के साथ बहुत ज्यादा जोड़ दिया गया है और लोग भूल गये हैं कि यह भी एक दर्शन और एक आदर्श है, जो बहुत-से भले व्यक्तियों को अच्छा लगा है। आदर्श के तौर पर यह हमारी आजकल की अधूरी दुनिया से अब भी बहुत दूर है, और इसने जो उपाय बताये हैं, वे इतने आसान हैं कि हमारी आजकल की उलझी हुई सभ्यता का इलाज नहीं कर सकते।

: १३३ :

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों का बढ़ना

१४ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास यूरोप की मज़दूरों व समाजवादी दुनिया में एक नया ही निराला व ध्यान खींचनेवाला व्यक्ति प्रगट हुआ। यह कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन पत्रों में पहले भी आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म १८१८ ई० में हुआ था। उसने क़ानून, इतिहास और दर्शन का अध्ययन किया। एक अख़बार निकालने पर उसका जर्मनी के अधिकारियों से

झगड़ा हो गया। वह पेरिस चला आया, जहाँ वह नये-नये लोगों के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढ़ीं और वह समाजवादी विचारों को माननेवाला बन गया। वहीं पेरिस में फ़्रीदरिख एंजेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाक़ात हुई, जो इंग्लैण्ड में जाकर बस गया था और वहाँ कपड़े के बढ़ते हुए उद्योग में एक मालदार कारखानेदार बन गया था। एंजेल्स भी उस वक़्त की समाजी हालतों से दुखी व नाराज़ था और उसका दिमाग़ चारों तरफ़ दीखनेवाली ग़रीबी और शोषण के इलाज की तलाश कर रहा था। सुधारों के बारे में रॉबर्ट ओवेन के विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये और वह ओवेन के हामियों में जो 'ओवेनाइट' कहलाते थे, शामिल हो गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसकी वजह से कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई थी, उसके विचारों को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और एंजेल्स गहरे दोस्त और साथी हो गये। दोनों के एक-से विचार थे और दोनों एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। उम्र भी दोनों की क़रीब बराबर थी। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित कीं, उनमें से ज्यादातर दोनों की शामिल लिखी हुई थीं।

फ़्रान्स की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फ़िलिप का जमाना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्षों तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तकों के पढ़ने में डूबा रहता। उसने सख्त मेहनत करके अपने विचारों को पूर्ण किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा मतवादी या दार्शनिक नहीं था, जो बैठा-बैठा मत गढ़ा करता हो और दुनिया की बातों से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की धुँधली-सी विचारधारा का विकास किया और उसे निखारा, और उसके सामने निश्चित व साफ़-साफ़ विचार व उद्देश्य रक्खे, वहाँ उसने यूरोप में मज़दूरों का व उनके आन्दोलन का संगठन करने में भी कारगर व बहुत बड़ा हिस्सा लिया। १८४८ ई० में, जो क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है, जो घटनाएँ हुईं उनसे मार्क्स का दिल लाज़िमी तौर पर पसीज गया। उसी साल उसने और एंजेल्स ने एक सम्मिलित घोषणापत्र जारी किया, जो बहुत मशहूर हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र'[1] था, जिसमें उन्होंने उन विचारों की चर्चा की, जो फ़्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति की, और बाद में १८३० ई० और सन् १८४८ ई० के विद्रोहों की जड़ में थे। उन्होंने इस घोषणापत्र में यह भी बतलाया कि वे विचार न तो असली हालतों के लिए काफ़ी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय के स्वतन्त्रता, बराबरी व भाईचारे के लोकतन्त्री नारों की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई मतलब नहीं रखते, मध्यम-वर्गी राज्य पर साधुपन का ग़िलाफ़ चढ़ा देते

[1] Communist Manifesto—Marx and Engels.

हैं। आगे चलकर, उन्होंने थोड़े शब्दों में समाजवाद के अपने ही मत को समझाया, और घोषणापत्र के अन्त में उन्होंने सारे मज़दूरों से इन शब्दों में अपील की: "संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों के, और पाने को तुम्हारे वास्ते संसार पड़ा है!"

यह अपील असली कार्रवाई करने के लिए पुकार थी। इसके बाद मार्क्स ने अख़बारों और पर्चों के ज़रिये लगातार प्रचार शुरू कर दिया और मज़दूर संगठनों को एक करने की दिन-रात कोशिश करने लगा। जान पड़ता है कि उसे यूरोप में कोई बड़ा संकट आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मज़दूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फ़ायदा उठा सकें। उसके समाजवादी मत के मुताबिक़ पूँजीशाही में सचमुच ऐसा संकट आये बिना रह ही नहीं सकता था। १८५४ ई० में न्यूयार्क के एक अख़बार में मार्क्स ने लिखा था:

> "फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि यूरोप में छठी शक्ति भी है, जो ख़ास-ख़ास मौक़ों पर पाँचों नामदार "महान् शक्तियों" पर अपनी हुकूमत रखती है और उन सबको थर्रा देती है। यह शक्ति क्रान्ति की है। बहुत दिन तक चुपचाप एकान्तवास के बाद अब संकट और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रहे हैं। सिर्फ़ एक इशारे की ज़रूरत है। फिर तो यूरोप की छठी और सबसे महान् शक्ति चमकता हुआ कवच पहने और हाथ में तलवार लिये हुए निकल पड़ेगी, जिस तरह ओलिम्पी के माथे से मिनर्वा[1] प्रकट हुई थी। यह इशारा यूरोप के जल्दी आनेवाले युद्ध से मिल जायगा।"

यूरोप की जल्दी आनेवाली क्रान्ति के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली। उसके लिखने के साठ साल बाद, और एक महायुद्ध के बाद; कहीं जाकर यूरोप के एक हिस्से में क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पेरिस कम्यून के रूप में १८७१ ई० में क्रान्ति की जो कोशिश हुई, वह बड़ी बेदर्दी से कुचल दी गई थी।

१८६४ ई० में मार्क्स लन्दन में एक मिली-जुली सभा बुलाने में सफल हुआ। उसमें कई दलों के लोग, जो अपने को मोटे तौर पर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ़ तो यूरोप के कई पराधीन देशों के लोकतन्त्रवादी और देशभक्त थे, जो समाजवाद में विश्वास तो रखते थे पर उसे बहुत दूर की चीज़ समझते थे। उनकी ज़्यादा दिलचस्पी तो फ़ौरन राष्ट्रीय स्वाधीनता हासिल करने में थी। दूसरी तरफ़ अराजकतावादी लोग थे, जो फ़ौरन लड़ाई छेड़ना चाहते थे। सभा में

---

[1] रोम व यूनान के पुराणों में ओलिम्प पर्वत पर देवताओं का निवास माना गया है। रोमवाले मिनर्वा को बुद्धि की देवी मानते थे।

मार्क्स के सिवा दूसरा नामी व्यक्ति अराजकतावादी नेता बाकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में क़ैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के साथी ख़ासतौर पर दक्षिण यूरोप के इटली, स्पेन, वग़ैरा लातीनी देशों से आये थे। इन देशों में बड़े उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हुआ था और वे इस दिशा में पिछड़े हुए थे। वे बेरोज़गार दिमाग़ी लोग और तरह-तरह के दूसरे क्रान्तिकारी थे, जिनके लिए मौजूदा समाजी व्यवस्था में कोई जगह नहीं थी। मार्क्स के साथी औद्योगिक देशों से, ख़ासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मज़दूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और कुछ ख़ुशहाल मज़दूरवर्ग का प्रतिनिधि था, और बाकुनिन ग़रीब व बिखरे मज़दूरों का, और दिमाग़ी व नाराज़ लोगों का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुज़रने की घड़ी आये, तबतक धीरज के साथ संगठन किया जाय और मज़दूरों को उसके समाजवादी मतों की शिक्षा दी जाय। बाकुनिन और उसके साथी फ़ौरन ही कार्रवाई करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। 'अन्तर्राष्ट्रीय कामगार समिति'[1] की नींव पड़ी। यह मज़दूरों का 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन'[2] था।

तीन साल बाद, यानी १८६७ में, मार्क्स का महान् ग्रन्थ 'कैपिटल' अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लन्दन में उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका नतीजा था। इसमें उसने चालू आर्थिक मतों का विश्लेषण करके उनकी कमियाँ बतलाईं और अपना समाजवादी मत विस्तार के साथ समझाया। यह असली वैज्ञानिक ग्रन्थ था। उसने सारी इधर-उधर की और आदर्शवाद की बातें छोड़कर बिना लाग-लपेट के और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की चर्चा की। उसने ख़ासतौर पर बड़ी मशीनों की औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और मनुष्य-समाज में वर्गों के क्रम-विकास, इतिहास व आपसी कशमकशों के बारे में कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, बिलकुल साफ़ और माक़ूल दलीलों का समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहलाया। क्योंकि यह उस धुंधले 'आदर्शवादी' समाजवाद से बिलकुल दूसरी तरह का था, जो अबतक चल रहा था। मार्क्स की 'पूंजी' कोई पुस्तक नहीं है, जो एक बार पढ़ने से आसानी से समझ में आ जाय। मन-बहलाव की पुस्तकों में और इसमें इतना ज्यादा फ़र्क़ है कि ख़याल भी नहीं किया जा सकता। फिर भी यह उन थोड़ी-सी चुनी हुई पुस्तकों में से है, जिन्होंने बहुत लोगों के विचार करने के ढंग को हिलाया है, उनकी सारी विचारधारा को ही बदल दिया है, और इस तरह मानव-विकास पर असर डाला है।

[1] International Working men's Association.

[2] Workers' International.

१८७१ ई० में पेरिस कम्यून की दुःखभरी घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे यूरोप की सरकारों पर डर सवार हो गया और मज़दूर-आन्दोलन के खिलाफ़ उनका रुख और भी कड़ा हो गया। दूसरे वर्ष मार्क्स के क़ायम किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क ले जाने में सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमें मार्क्स का मतलब यही था कि बाकुनिन के अराजकतावादी साथियों से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूंकि पेरिस कम्यून के सबब से यूरोप की सरकारों को गुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहाँ की बनिस्बत न्यूयार्क में कम ख़तरे की जगह मिलेगी। मगर संघ के लिए अपने नाड़ी-केन्द्रों से इतनी दूर रह सकना सम्भव नहीं था। उसकी सारी फ़ौज यूरोप में थी और यूरोप में भी मज़दूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ' की धीरे-धीरे जान निकल गई।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद यूरोप के समाजवादियों में, ख़ासतौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया में फैला, जहाँ यह आमतौर पर 'समाजी लोकतन्त्र'[१] के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने चाव के साथ इसे नहीं अपनाया। उस समय वह इतना खुशहाल था कि वहाँ किसी तरक्क़ी-पसन्द समाजी-पन्थ के लिए गुंजायश नहीं थी। अंग्रेज़ी छाप के समाजवाद की प्रतिनिधि फ़ेबियन सोसायटी थी, जिसका बहुत दूर से परिवर्तन का बड़ा नर्म कार्यक्रम था। फ़ेबियनों का मज़दूरों से कोई वास्ता नहीं था। ये तो तरक्क़ी-पसन्द उदार विचारोंवाले दिमाग़ी लोग थे। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ शुरू के फ़ेबियनों में गिना जाता था। फ़ेबियनों की नीति का पता एक नामी फ़ेबियन सिडनी वेब के इस मशहूर वाक्य से लग सकता है: "तब्दीली धीरे-धीरे होना लाज़िमी है।"

फ़्रान्स में कम्यून के बाद समाजवाद को फिर से धीरे-धीरे पनप कर कारगर ताक़त बनने में बारह वर्ष लग गये; मगर वहाँ इसका रूप नया हो गया, यानी अराजकतावाद और समाजवाद का वर्ण-संकर। यह 'संघाधिपत्यवाद'[२] कहलाता है। समाजवादी सिद्धान्त यह था कि चूंकि राज्य समूचे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उत्पादन के साधनों पर, यानी ज़मीन, कारख़ानों, वग़ैरा पर उसीकी मिल्कियत और क़ब्ज़ा होना चाहिए। थोड़ा-सा मतभेद इस बात पर था कि यह समाजीकरण किस हद तक हो। ज़ाहिर है कि औज़ारों और घरेलू मशीनों जैसी बहुत-सी निजी चीज़ें होती हैं, जिनका समाजीकरण बेहूदा-सी बात है। मगर इस

---

[१] Social Democracy.

[२] Syndicalism—यह फ़्रान्सीसी भाषा के Syndicat शब्द से बना है, जिसका अर्थ है कामगारों या व्यवसायियों का संगठन या यूनियन।

बात पर समाजवादियों का एक मत था कि जिस किसी चीज़ का उपयोग दूसरों की मेहनत से निजी मुनाफ़ा कमाने में किया जा सकता हो, उसका समाजीकरण होना चाहिए, यानी वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकता-वादियों की तरह संघवादी भी राज्य को पसन्द नहीं करते थे और उसकी शक्ति की हद तय कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योग पर उस उद्योग के मज़दूरों का अपने संघ के ज़रिये क़ब्ज़ा रहे। विचार यह था कि अलग-अलग संघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बड़ी कौंसिल में भेजेंगे। यह कौंसिल सारे देश के मामलों को सम्हालेगी और साधारण काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी उद्योग की भीतरी व्यवस्था में दख़ल देने का अधिकार न होगा। यह हालत पैदा करने के लिए संघवादी आम हड़ताल की वकालत करते थे, यानी वे देश के कारोबार को ठप्प करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स को माननेवाले संघवाद से बिलकुल सहमत नहीं थे, मगर यह अनोखी बात है कि (मार्क्स के मरने के बाद) संघवादी उसे अपने दल का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स अबसे ठीक पचास साल पहले, यानी १८८३ ई० में मरा। उस समय तक इंग्लैण्ड, जर्मनी व दूसरे औद्योगिक देशों में शक्तिशाली मज़दूर संघ बन गये थे। ब्रिटिश उद्योगों के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के सामने वे गिरते जा रहे थे। अलबत्ता अमेरिका के पास बड़े क़ुदरती साधन थे, जिनसे वहाँ तेज़ी के साथ उद्योगों का विकास होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनीतिक निरंकुशता और औद्योगिक विकास का अनोखा मेल था। उस निरंकुशता में कमज़ोर और बेबस पार्लमेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन-काल में, और बाद में भी, जर्मन सरकार ने उद्योग-धन्धों की कई तरह से मदद की और मज़दूरों की हालत अच्छी करनेवाले समाजी सुधार के क़ानून बनाकर मज़दूरवर्ग को ख़ुश करने की कोशिश की। इसी तरह इंग्लैण्ड के उदारदल ने कुछ समाजी कानून पास करके काम के घण्टे घटा दिये और मज़दूरों की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जबतक ख़ुशहाली रही तबतक इस उपाय से काम चल गया और अंग्रेज़ मज़दूर मुलायम व ख़ामोश रहे और वफ़ादारी के साथ उदारदल को वोट देते रहे। मगर १८८० ई० के बाद दूसरे देशों की होड़बाज़ी ने ख़ुशहाली के लम्बे ज़माने का अन्त कर दिया और इंग्लैण्ड में व्यापार की मन्दी शुरू हो गई और मज़दूरों की मजूरी की दरें घट गईं। इसलिए मज़दूरों में फिर चेतना हुई और हवा में क्रान्ति की भावना भर गई। इंग्लैण्ड में बहुत-से लोगों की निगाहें मार्क्सवाद की तरफ दौड़ने लगीं।

१८८९ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ बनाने का एक और जतन किया गया। कई मज़दूर-यूनियनें और मज़दूर-दल अब काफ़ी मज़बूत व मालदार

हो गये थे और उनके बहुत-से वेतन-भोगी कर्मचारी थे। १८८९ ई० में बना हुआ यह संघ 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ'[1] कहलाता है (मेरे ख़याल से इसका नाम 'मज़दूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ' रक्खा गया था)। यह पच्चीस वर्ष तक चला। फिर महायुद्ध इसको कसौटी पर कसने के लिए आ गया, मगर यह खरा नहीं उतरा। इस संघ में बहुत लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशों में ऊँचे-ऊँचे ओहदे ले लिये। कुछ ने मज़दूर-आन्दोलन को अपनी निजी बढ़ोतरी का साधन बनाया और फिर उसे पीठ दिखाई। वे प्रधानमन्त्री, अध्यक्ष, वग़ैरा बन-बैंक्कर-जीवन में सफल हो गये, मगर जिन लाखों आदमियों ने उन्हें आगे बढ़ाया था और उनपर भरोसा किया था, उन्हें इन लोगों ने मँझधार में छोड़ दिया। इन नेताओं में से वे तक भी, जो मार्क्स के नाम की दुहाई देते थे या तेज़-तर्रार संघवादी थे, पार्लमेण्टों में घुस गये या मज़दूर-यूनियनों के अच्छी तनख्वाहें पानेवाले मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहों को जोखिम में डालकर बिना सोचे-समझे किसी काम में हाथ डालना दिन-पर-दिन कठिन हो गया। बस, वे ठण्डे पड़ गये और जब मज़दूर जनता ने लाचार होकर क्रान्ति का झण्डा उठाया और अमली कार्रवाई की माँग की, तब इन लोगों ने उन्हें दबाकर रखने की ही कोशिश की। युद्ध के बाद जर्मनी के समाजी-लोकतन्त्रवादी लोग गणराज्य के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री बन गये। फ़ान्स में आम हड़ताल की घोषणा करनेवाला तेज़-तर्रार संघवादी ब्रियाँ ग्यारह बार प्रधानमन्त्री बना और उसने अपने पुराने साथियों की हड़ताल को कुचला। इंग्लैण्ड में रैम्ज़े मैक्डानल्ड अपने बनानेवाले मज़दूर-दल को धता बताकर प्रधानमन्त्री बन गया। यही हाल स्वीडन, डेनमार्क, बेलजियम और आस्ट्रिया में हुआ। पश्चिम यूरोप आज ऐसे डिक्टेटरों यानी तानाशाहों और सत्ताधारियों से भरा पड़ा है, जो अपने शुरू के दिनों में समाजवादी थे, मगर ज्यों-ज्यों उनकी उम्र ढलती गई त्यों-त्यों वे मुलायम पड़ते गये और उद्देश्य के लिए अपना पुराना जोश भूल गये। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियों के ही खिलाफ़ हो गये। इटली का प्रधानमन्त्री मुसोलिनी पुराना समाजवादी है और पोलैण्ड का तानाशाह पिल्सूद्स्की भी।

मज़दूर-आन्दोलन को ही क्या, स्वाधीनता के शायद हर राष्ट्रीय आन्दोलन को नेताओं और अगुआ कार्यकर्ताओं की ऐसी ग़द्दारी से अक्सर नुक़सान उठाना पड़ा है। असफलता से ऊबकर वे कुछ समय बाद थक जाते हैं और शहादत का कोरा ताज उनके दिल को ज्यादा दिन नहीं लुभा पाता। वे ठण्डे हो जाते हैं और उनके जोश की आग मन्दी पड़ जाती है। कुछ लोग, जो ज्यादा उमंगोंवाले या ज्यादा बेउसूले होते हैं, दूसरे पक्ष में जा मिलते हैं और जिन लोगों से कल तक मुक़ाबला और लड़ाई

[1] Second International.

करते थे, उन्हींसे निजी समझौता कर लेते हैं। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है, उसीके मुताबिक़ अपने मन को ढाल लेना उसके लिए काफ़ी आसान होता है। इस ग़द्दारी से आन्दोलन को हानि उठानी पड़ती है और धक्का लगता है। चूंकि जो लोग मज़दूरों के खिलाफ़ कार्रवाइयाँ करते हैं और राष्ट्रीय क़ौमों का दमन करते हैं, वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए वे तरह-तरह के लालच देकर और मीठी-मीठी बातें करके व्यक्तियों को अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिशें करते हैं। मगर व्यक्तियों को पसन्द कर लेने से, या मीठी बातों से, न तो मज़दूर जनता को राहत मिलती है और न आज़ादी के लिए जान लड़ानेवाले दबाये हुए राष्ट्र को। इसलिए ग़द्दारी और धक्का लगने के बावजूद यह लड़ाई अपने मुक़र्रर उद्देश्य की ओर अटल होकर चलती रहती है।

१८८९ ई० में क़ायम हुए द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यों की संख्या और संघ की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने मालातेस्ता और उसके अराजकतावादी साथियों को इस वास्ते निकाल बाहर किया कि वे पार्लमेण्टों के मताधिकार से लाभ उठाने को राज़ी नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय संघ के समाजवादियों ने साबित कर दिया कि सबकी लड़ाई में अपने पुराने साथियों का साथ देने की बनिस्बत वे पार्लमेण्टों में जाना ज़्यादा पसन्द करते थे। यूरोप में युद्ध छिड़ जाने की हालत में समाजवादियों का क्या कर्त्तव्य है, इस बारे में उन्होंने बड़ी दिलेर घोषणाएँ कीं। जहाँ तक उनके काम का सम्बन्ध था, समाजवादी लोग राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानते थे। वे मामूली अर्थों में राष्ट्रवादी नहीं थे। वे कहते थे कि वे युद्ध का विरोध करेंगे। मगर जब १९१४ ई० में महायुद्ध छिड़ ही गया तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढाँचा तहस-नहस हो गया और हर देश के समाजवादी और मज़दूर दल ही नहीं, बल्कि क्रोपातकिन-जसे अराजकतावादी भी दूसरे लोगों की तरह परले सिरे के राष्ट्रवादी और दूसरे देशों पर दाँत पीसने-वाले बन गये। कुछ लोग युद्ध के विरोध में खड़े हुए और इसके लिए उन्हें तरह-तरह की तकलीफ़ें और लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दी गईं।

महायुद्ध ख़त्म होने पर लेनिन ने १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ बनाया। यह निरा साम्यवादी संगठन था और इसमें माने हुए साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है, और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ[1] कहलाता है। पुराने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बचे-खुचे लोग भी युद्ध के बाद धीरे-धीरे साथ इकट्ठे हो गये। कुछ लोग मास्को के नये संघ में मिल

[1] तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International)—वामपक्षी साम्यवादी नेता त्रात्स्की से मतभेद हो जाने के कारण रूस के तानाशाह स्तालिन ने इसे भंग कर दिया था।

गये। मगर ज्यादातर लोग मास्को और उसके पन्थ को नापसन्द करते थे और उसे पास तक नहीं फटकने देना चाहते थे। उन्होंने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को फिर से जिलाया। यह भी आज मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ हैं और द्वितीय व तृतीय संघों के नाम से मशहूर हैं। बड़े ताज्जुब की बात यह है कि दोनों ही मार्क्सवाद की दुहाई देते हैं, मगर दोनों ही उसकी अपनी-अपनी अलग व्याख्या करते हैं, और जितनी ज्यादा दुश्मनी आपस में एक दूसरे से रखते हैं उतनी अपने दोनों के दुश्मन पूँजीवाद से भी नहीं रखते हैं।

इन दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संघों में संसार की सारी मज़दूर-यूनियनें शामिल नहीं हैं। बहुत-से संगठन दोनों से ही अलग हैं। अमेरिका की मज़दूर-यूनियनें इसलिए अलग हैं कि उनमें से ज्यादातर प्रगतिवादी नहीं हैं। भारत की मज़दूर-यूनियनों का भी दोनों में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बन्ध नहीं है।

शायद तुमने 'इण्टरनेशनेल'[1] गीत का नाम सुना होगा। यह दुनियाभर के मज़दूरों और समाजवादियों का माना हुआ गीत है।

: १३४ :

मार्क्सवाद

१६ फ़रवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के उन विचारों के बारे में कुछ बताने का इरादा किया था, जिन्होंने यूरोप की साम्यवादी दुनिया में बड़ी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा पत्र बहुत लम्बा हो गया था और मुझे यह विषय उठा रखना पड़ा था। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूँ, इसलिए इसके बारे में लिखना मेरे लिए आसान नहीं है। और फिर विशेषज्ञों और पण्डितों में भी मतभेद है। मैं तुम्हें मार्क्सवाद की सिर्फ़ मोटी-मोटी खासियतें बताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सों को छोड़ दूंगा। तुम्हारे लिए यह जोड़-जाड़कर बनाई हुई-सी चीज़ होगी, मगर मेरा उद्देश्य यह भी नहीं है कि इन पत्रों में किसी चीज़ की पूरी और लम्बी-चौड़ी तसवीरें दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद की कई क़िस्में हैं। मगर एक बात में सब सहमत हैं कि इसका उद्देश्य यह है कि उत्पादन के साधनों यानी खानों, ज़मीन, कारख़ानों वग़ैरा पर, और रेलों-जैसे वितरण के साधनों पर, और बैंकों-जैसी संस्थाओं पर भी राज्य का क़ब्ज़ा हो। विचार यह है कि व्यक्तियों को अपने निजी फ़ायदे के लिए इन

---

[1] Internationale.

साधनों या संस्थाओं को या दूसरों की मेहनत को निचोड़ने न दिया जाय। आज तो ज्यादातर ये निजी मिल्कियतें हैं और इन्हें खूब निचोड़ा जाता है। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग तो मालामाल होकर आनन्द करते हैं पर सारा समाज मुसीबतें उठाता है और जनता ग़रीब बनी रहती है। उत्पादन के इन साधनों के मालिकों और चलानेवालों की भी बहुत सारी शक्ति गला-घोंटू होड़बाजी से आपस में लड़ने में ही ख़र्च हो जाती है। अगर इस निजी आपसी युद्ध के बजाय साझदारी के साथ उत्पादन की और खूब सोच-विचारकर वितरण की व्यवस्था की जाय तो फ़िज़ूल का नुक़सान और आपसी होड़ बच जायँ और जुदा-जुदा वर्गों व लोगों के बीच आज दौलत की जो घोर असमानता है वह मिट जाय। इसलिए उत्पादन, वितरण और दूसरे बड़े-बड़े कामों का समाजीकरण हो जाना चाहिए, यानी उनपर राज्य का, या यूँ कहो कि सारी जनता का, क़ब्ज़ा होना चाहिए। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद में राज्य का या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल बड़े महत्व का होने पर भी अलग है, और अभी हमें उसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है।

समाजवाद के आदर्श की बात पर एकमत हो जाने के बाद, दूसरी बात तय करने की यह रह जाती है कि उसे हासिल कैसे किया जाय। यहीं से समाजवादियों में आपसी मतभेद शुरू होता है। उनमें कई फ़िरक़े हैं और वे अलग-अलग रास्ते बताते हैं। मोटे तौर पर उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं—१. ब्रिटिश मज़दूर दल और फ़ेबियनों की तरह धीरे-धीरे परिवर्तन और क्रम-विकास चाहनेवाले फ़िरक़ों का यह विश्वास है कि एक-एक क़दम आगे बढ़ना चाहिए। पार्लमेण्टों के ज़रिये काम करना चाहिए; २. क्रान्तिकारी दलों का पार्लमेण्ट के ज़रिये नतीजे हासिल करने में विश्वास नहीं है। इस दूसरे वर्ग में ज्यादातर लोग मार्क्सवादी हैं।

पहले, यानी क्रम-विकासवादी दलों की, संख्या अब बहुत कम रह गई है। इंग्लैण्ड में भी अब ये ठण्डे पड़ते जा रहे हैं और इन्हें उदार दल व दूसरे ग़ैर-समाजवादी दलों से अलग करनेवाली खाई दिन-पर-दिन कम चौड़ी होती जा रही है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही आम समाजवादी सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियों में भी यूरोप में दो मुख्य बड़े भेद हैं—एक तरफ़ रूसी साम्यवादी हैं, और दूसरी तरफ़ जर्मनी, आस्ट्रिया व दूसरे देशों के पुराने समाजी लोकतन्त्रवादी हैं। इन दोनों के बीच कट्टर दुश्मनी है। महायुद्ध के दौरान और उसके बाद भी, ये समाजी लोकतन्त्रवादी अपने दावों पर अमल न कर सकने के कारण अपनी पुरानी शान खो बैठे। इनमें से बहुत-से ज्यादा जोशीले लोग तो साम्यवादियों में जा मिले हैं, मगर अब भी पश्चिम यूरोप की बड़ी-बड़ी मज़दूर यूनियनों की बाग-डोर इन्हींके हाथों में है। रूस में अपनी-अपनी सफलता की वजह से साम्य-

वाद एक तरक्क़ी-पसन्द पन्थ बन गया है। आज यूरोप में और दुनिया भर में पूंजीवाद का यही सबसे बड़ा दुश्मन है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-उमंगों की व्याख्या करने का एक तरीक़ा है। यह मत भी है और अमली कार्रवाई के लिए पुकार भी। यह ऐसा दर्शन है, जो मनुष्य-जीवन की ज्यादा-तर हलचलों के बारे में कुछ-न-कुछ बातें बताता ही है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के मानव-इतिहास को एक ऐसे बे-लचक बाक़ायदा ढांचे में बैठाने का यत्न है, जो भाग्य या क़िस्मत जैसा अटल है। आखिर, जीवन इतना बाक़ायदा है या नहीं; और बँधे-बँधाये कठोर नियमों और ढाँचों पर निर्भर है या नहीं, यह बहुत साफ़ नहीं दिखाई देता और बहुतों को इसमें सन्देह भी है। मगर मार्क्स ने एक विज्ञानी की निगाह से पिछले इतिहास की जाँच की और उससे कुछ नतीजे निकाले। उसने देखा कि मनुष्य अपने आदिम काल से ही ज़िन्दगी के लिए कशमकश करता रहा है; यह कशमकश क़ुदरत के साथ भी रही है और अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यों के साथ भी। आदमी को भोजन और जीवन की दूसरी ज़रूरतें जुटाने के लिए काम करना पड़ा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके काम के तरीक़े धीरे-धीरे बदलते गये और दिन-पर-दिन ज्यादा पेचीदा व उन्नत होते गये। मार्क्स के मतानुसार ज़िन्दगी के साधन पैदा करने के ये तरीक़े मनुष्य के और समाज के जीवन में सभी युगों में सबसे ज्यादा महत्व की चीज़ रहे हैं। इतिहास के हरेक काल में इन्हींकी प्रधानता रही और उस काल की सारी हलचलों और सारे समाजी सम्बन्धों पर इन्हींका असर पड़ा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे उनके कारण बड़े-बड़े ऐतिहासिक व समाजी परिवर्तन हुए। इन पत्रों के दौरान में हम कुछ हद तक इन परिवर्तनों के गहरे नतीजों को देखते आये हैं। मिसाल के लिए, जब पहले-पहल खेती शुरू हुई तो उससे बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। इधर-उधर भटकनेवाले घुमक्कड़ जगह-जगह बस गये और गाँव और शहर पैदा हो गये। खेती से पैदावार बढ़ी तो माल बच रहा और आबादी बढ़ी। और जब लोगों को दौलत और फ़ुर्सत मिली तो कलाएँ और दस्तकारियाँ पैदा हुईं। औद्योगिक क्रान्ति एक और ऐसी ही साफ़ दिखाई देनेवाली मिसाल है, जिसमें उत्पादन की बड़ी मशीनों के आविष्कार ने और भी ज़बर्दस्त फ़र्क़ पैदा कर दिया। इसी तरह की और भी बहुत-सी मिसालें दी जा सकती हैं।

इतिहास के किसी खास समय में उत्पादन के तरीक़े उस समय के लोगों के विकास के एक निश्चित दर्जे के मुताबिक़ होते हैं। उत्पादन की इस क्रिया के दौरान और उसके नतीजे से लोगों के बीच कुछ निश्चित सम्बन्ध क़ायम हो जाते हैं; (जैसे वस्तुओं का लेन-देन, क्रय-विक्रय, विनिमय, वग़ैरा) जो उनके उत्पादन के

तरीक़ों पर निर्भर करते हैं और उनके अनुरूप होते हैं। ये सब सम्बन्ध मिलकर समाज का आर्थिक ढाँचा बनाते हैं। और इसी आर्थिक आधार पर क़ानून, राजनीति, समाजी रीति-रिवाज, विचार और दूसरी सब चीज़ों की इमारत खड़ी होती है। इसलिए मार्क्स के इस मत के अनुसार जैसे-जैसे उत्पादन के तरीक़े बदलते हैं वैसे-वैसे आर्थिक ढाँचा भी बदलता है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगों के विचारों, क़ानूनों, राजनीति, वग़ैरा में भी परिवर्तन होते हैं।

इतिहास के बारे में मार्क्स यह भी मानता था कि वह जुदा-जुदा वर्गों की आपसी कशमकश का एक लेखा है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्गों की कशमकश का ही इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं वही सबके ऊपर हावी रहता है। वह दूसरे वर्गों की मेहनत को चूसकर उससे फ़ायदा उठाता है। जो मेहनत करते हैं उन्हें अपनी मेहनत की पूरी क़ीमत नहीं मिलती। उन्हें जीवन की मामूली ज़रूरतों के लिए भी मुश्किल से उसका ज़रा-सा हिस्सा मिलता है, और बाक़ी का सारा फ़ालतू हिस्सा शोषक वर्ग के पास चला जाता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फ़ालतू धन से और भी मालदार बनता जाता है। चूंकि उत्पादन पर क़ब्ज़ा रखनेवाले इस वर्ग का राज्य या सरकार पर भी क़ब्ज़ा रहता है, इसलिए इस शासक वर्ग की हिफ़ाज़त करना ही राज्य का सबसे पहला उद्देश्य हो जाता है। मार्क्स कहता है: "राज्य समूचे शासक-वर्ग के काम-काज की व्यवस्था करने के लिए एक कार्यकारिणी कमेटी है।" क़ानून इसी ग़रज़ से बनाये जाते हैं और शिक्षा, मज़हब व दूसरे उपायों से लोगों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता वाजिब और लाज़िमी है। इन उपायों के ज़रिये सरकार और क़ानून के वर्गी पहलू को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत को न जान सकें और उनमें असन्तोष पैदा न हो। अगर कोई आदमी फिर भी असन्तोष के मारे इस प्रणाली को चुनौती देता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का दुश्मन और पुराने रीति-रिवाजों को उखाड़ फेंकनेवाला बताकर कुचल देता है।

मगर हज़ार कोशिशें करने पर भी सदा एक ही वर्ग की प्रभुता नहीं बनी रह सकती। जिन कारणों से उसे यह प्रभुता हासिल होती है, वे ही फिर उसके खिलाफ़ काम करने लगते हैं। वह वर्ग शासक और शोषक इसी कारण बना था कि उस वक़्त उत्पादन के साधन उसके क़ब्ज़े में थे। अब जब उत्पादन के नये तरीक़े पैदा होते हैं तो उनके चलानेवाले नये वर्ग आगे आ जाते हैं और वे शोषित बने नहीं रहना चाहते। नये-नये विचार मनुष्यों के दिलों में हलचल मचा देते हैं; जिसे विचार-क्रान्ति कहते हैं, वह होने लगती है, जो पुराने विचारों और रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ डालती है। और फिर इस उठते हुए नये वर्ग का सत्ता से बुरी

तरह चिपके रहने वाले पुराने वर्ग के साथ संघर्ष होता है। नये वर्ग के साथ में आर्थिक सत्ता होती है, इसलिए उसकी जीत लाज़िमी होती है और पुराना वर्ग, इतिहास में अपना खेल पूरा करने के बाद, धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह की होती है। यह उत्पादन के नये तरीक़ों की शानदार सफलता को दरसानेवाली निशानी होती है और इसके नतीजे से समाज की सारी रचना में ही परिवर्तन होने लगते हैं—नये विचार, नया राजनीतिक ढाँचा, क़ानून, रीति-रिवाज, सभी चीज़ों पर असर पड़ता है। अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग बन जाता है और फिर उन वर्गों में से कोई एक वर्ग उसे भी हटाकर उसकी जगह ले लेता है। इस तरह जबतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा तबतक यह कशमकश चलती रहेगी, और ज़रूर चलती रहेगी। इस संघर्ष यानी कशमकश का अन्त उसी समय होगा जब वर्गों का भेद ग़ायब होकर सिर्फ़ एक ही वर्ग रह जायगा; क्योंकि तब शोषण की गुंजायश ही नहीं रहेगी। यह अकेला वर्ग खुद अपना शोषण नहीं कर सकता। इसलिए, तभी जाकर समाज में सन्तुलन और पूरा सहयोग क़ायम होगा; आज जैसी हमेशा की कशमकश व होड़बाज़ी न रहेगी और राज्य के लिए दमन का जो खास काम बना हुआ है, उसकी भी फिर कोई ज़रूरत नहीं रहेगी, क्योंकि दबाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे खुद राज्य ही 'मुर्झा जायगा' और अराजकतावादी आदर्श भी नज़दीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नज़र से देखता था कि वह लाज़िमी वर्ग-संघर्ष के विकास का एक बहुत बड़ा सिलसिला है। ढेरों बारीकियों और मिसालों से उसने यह साबित किया कि अतीत काल में यह सब किस तरह हुआ, बड़ी-बड़ी मशीनों के आने से सामन्ती समय पूँजीशाही समय में कैसे बदल गया और सामन्ती वर्गों की जगह ऊँचा मध्यम-वर्ग कैसे आ गया। उसके मत से आखिरी संघर्ष हमारे ही ज़माने में ऊँचे मध्यम-वर्गों और मज़दूरों में चल रहा है। पूँजीवाद खुद इस वर्ग की शक्ति और संख्या बढ़ा रहा है, जो अन्त में पूँजीवाद को ग़र्क़ करके वर्गहीन समाज और समाजवाद क़ायम करेगा।

इतिहास को इस नज़रिये से देखने का तरीक़ा, जो मार्क्स ने समझाया, 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या'[1] कहलाता है। इसे 'भौतिक' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह 'विचारवादी'[2] नहीं है। मार्क्स के समय के दार्शनिकों ने 'विचारवादी' शब्द का एक खास अर्थ में बहुत ज्यादा इस्तेमाल किया है। उस समय क्रम-विकासवाद का विचार आम हो रहा था। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जहाँ तक प्राणी-जातियों की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक़ है, डार्विन ने यह विचार

[1] Materialist Conception of History. और [2] Idealist.

आम लोगों के दिमाग़ में जमा दिया था। मगर इससे मनुष्यों के समाजी रिश्तों की कोई व्याख्या नहीं हो पाती थी। कुछ दार्शनिकों ने धुंधले आदर्शवादी ख़यालों के ज़रिये यह समझाने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति दिमाग़ की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स का कहना था कि यह रास्ता ही ग़लत है। उसके मत से धुँधली हवाई अटकलें और विचारवाद ख़तरनाक हैं, क्योंकि इस तरह लोग ऐसी हर तरह की चीज़ों की कल्पना करने लगते हैं, जिनका कोई असली आधार नहीं होता। इसलिए उसने वैज्ञानिक ढंग से तथ्यों की जांच करना शुरू किया। 'भौतिक' शब्द का यही मूल है।

मार्क्स बराबर शोषण और वर्ग-संघर्षों की चर्चा करता है। हममें से बहुतेरे अपने चारों तरफ़ अन्याय को देखकर क्रोध और आवेश में भर जाते हैं। पर मार्क्स के मतानुसार न तो यह बात ग़ुस्सा करने की है और न नेक सलाह देने की। शोषण में शोषण करनेवाले व्यक्ति का क़सूर नहीं है। एक वर्ग पर दूसरे की प्रभुता इतिहास की प्रगति का लाज़िमी नतीजा है। वक़्त आने पर दूसरी अवस्था उसकी जगह ले लेती है। अगर कोई आदमी प्रभुताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरों का शोषण करता है तो इसमें वह कोई भयंकर पाप नहीं करता, वह एक ढाँचे का अंग है और उसे गालियाँ देना फ़िज़ूल की बात है। व्यक्तियों और ढाँचे के बीच का यह भेद हम बहुत करके भूल जाते हैं। भारत ब्रिटिश साम्राज्यशाही के अधीन है, और हम अपनी सारी ताक़त लगाकर इस साम्राज्यशाही से लड़ रहे हैं। मगर जो अंग्रेज़ आज भारत में इस ढाँचे को थामे हुए हैं,उनका कोई क़सूर नहीं है। वे बेचारे तो एक बड़ी भारी मशीन के सिर्फ़ छोटे-छोटे पुर्ज़े हैं। उसकी चाल में ज़रा भी फ़र्क़ लाना उनकी शक्ति के बाहर है। इसी तरह हममें से भी कुछ लोग ज़मींदारी-प्रथा को पुराने ज़माने की चीज़ और किसान-वर्ग के लिए बहुत ज़्यादा नुक़सान पहुँचानेवाली समझ सकते हैं, क्योंकि इससे उनका भयंकर शोषण हो रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नहीं है कि कोई ज़मींदार निजी तौर पर क़सूरवार है। पूंजीपतियों पर अक़्सर शोषक होने का दोष लगाया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। क़सूर सदा ढाँचे का होता है, व्यक्तियों का नहीं।

मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का प्रचार नहीं किया। उसने यह साबित किया है कि असल में वर्ग-संघर्ष तो पहले से मौजूद है और किसी-न-किसी रूप में सदा से चला आ रहा है। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'पूंजी' में उसका उद्देश्य था : "आजकल के समाज की गति के आर्थिक नियम को नंगा करके दिखा देना"। और ऊपर की चादर हटा देने से समाज की हमेशा वर्ग-संघर्षों-जैसी दिखाई न देनेवाली वर्गों की ये ज़बर्दस्त लड़ाइयाँ सामने आ गईं। ये लड़ाइयाँ हमेशा वर्ग-संघर्षों-जैसी दिखाई नहीं

देतीं, क्योंकि प्रभुताधारी वर्ग हमेशा अपने वर्ग के रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब चालू व्यवस्था ही ख़तरे में पड़ जाती है तब यह वर्ग सारे दिखावे छोड़ देता है और उसका असली रूप ज़ाहिर हो जाता है। और फिर वर्गों के बीच खुला युद्ध होने लगता है। जब यह होता है तब लोकतन्त्र के रूप, और मामूली क़ानून व क़ायदे सब ताक में रख दिये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये वर्ग-संघर्ष ग़लतफ़हमी से या बेचैनी फैलानेवालों की शरारत से होते हैं। मगर इसके ख़िलाफ़ ये तो समाज के भीतर ही छिपे हुए होते हैं, और जब लोग स्वार्थों की टक्कर को अच्छी तरह समझने लगते हैं, तब तो वर्ग-संघर्ष वास्तव में और भी बढ़ जाते हैं।

अब ज़रा मार्क्स के इस मत की तुलना भारत की मौजूदा हालतों के साथ करें। ब्रिटिश सरकार का शुरू से यह दावा है कि भारत में उसकी हुकूमत का आधार न्याय पर और भारतवासियों की भलाई पर है। इसमें कोई शक नहीं कि पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी यह मानते थे कि इस दावे में थोड़ी-सी सचाई है। मगर अब, जबकि एक ज़बर्दस्त सार्वजनिक आन्दोलन इस राज को ज़ोरदार चुनौती दे रहा है, तो इसका असली रूप पूरे भद्देपन और नंगेपन के साथ प्रकट हो रहा है। आज कोई भी देख सकता है कि संगीनों के बल पर टिकनेवाले इस साम्राज्यशाही शोषण की असलियत क्या है। इसकी सुनहरी सूरतों और चिकनी-चुपड़ी बातों का सारा मुलम्मा उतर गया है। विशेष आर्डिनेंसों ने और भाषण, सम्मेलन व अख़बारों के मामूली-से-मामूली हक़ों के दमन ने, देश के आम क़ानूनों व क़ायदों की जगह ले ली है। मौजूदा सत्ता को जितनी ज़्यादा चुनौती दी जायगी, यह दमन उतना ही बढ़ता जायगा। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए गम्भीर ख़तरा बन जाता है तब भी यही होता है। यह भी हम अपने देश में होता हुआ देख रहे हैं कि किसानों व मज़दूरों को और उनके लिए काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को आज पाशविक सज़ाएँ दी जाती हैं।

इस तरह इतिहास के बारे में मार्क्स का मत यह था कि समाज सदा बदलता और उन्नति करता रहता है। यह एक जगह ठहरा हुआ नहीं है। यह एक गतिशील कल्पना थी। कुछ भी होता रहे, समाज तो लाज़िमी तौर पर आगे ही बढ़ता रहता है, और एक क़िस्म की समाजी व्यवस्था की जगह पर दूसरी आ जाती है। लेकिन एक समाजी व्यवस्था उसी समय मिटती है, जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी हद तक विकास हो चुकता है। जब समाज इस हद से आगे बढ़ जाता है तब वह आसानी से पुरानी व्यवस्था के उन वस्त्रों को फाड़ फेंकता है, जो तंग होकर उसे जकड़ने लगे थे, और फिर वह नये और बड़े वस्त्र पहन लेता है।

मार्क्स के मत से विकास की इस महान् ऐतिहासिक प्रक्रिया में मदद करना मनुष्य के लिए अटल है। पहले की सब मंज़िलें तय हो चुकीं। अब पूँजीशाही ऊँचे मध्यम-वर्गी समाज का और मज़दूर-वर्ग का आखिरी वर्ग-संघर्ष हो रहा है। (अलबत्ता यह बात उन आगे बढ़े हुए औद्योगिक देशों की है, जहाँ पूँजीशाही का पूरा विकास हो चुका है।) दूसरे देश जहाँ पूँजीशाही का विकास नहीं हुआ है, पिछड़े हुए हैं और वहाँ की लड़ाइयों का रूप कुछ मिला-जुला और जुदा क़िस्म का है। मगर जड़ में वहाँ भी इस लड़ाई की कुछ-कुछ ऐसी ही सूरत है; क्योंकि संसार के देशों के आपसी सम्बन्ध दिन-दिन ज्यादा बढ़ते जा रहे हैं। मार्क्स का कहना है कि पूँजीशाही को कठिनाई-पर-कठिनाई और संकट-पर-संकट का सामना करना पड़ेगा और चूँकि उसमें अन्दरूनी सन्तुलन का अभाव है, इसलिए वह अन्त में लुढ़क पड़ेगा। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर हो गये और तबसे पूँजीशाही पर संकट भी बहुत आये। लेकिन खत्म होना तो दूर रहा वह तो उनको पार कर गई, और हालाँकि रूस में तो अब वह बाक़ी नहीं रही है, लेकिन इसके सिवा और जगह पहले से भी ज़्यादा ताक़तवर हो गई है। हाँ, जिस वक़्त मैं यह लिख रहा हूँ उस वक़्त दुनियाभर में पूँजीशाही बुरी तरह बीमार दिखाई देती है और डॉक्टर लोगों को उसके अच्छा होने की कोई उम्मीद दिखाई नहीं देती है।

कहा जाता है कि पूँजीशाही आजतक अपनी ज़िन्दगी लम्बाने में जो सफल हुई है, उसका एक कारण है, जिसपर शायद मार्क्स ने पूरी तरह विचार नहीं किया। यह है पश्चिम के औद्योगिक देशों के हाथों उपनिवेशी साम्राज्यों का शोषण। इससे पूँजीशाही ने नई ज़िन्दगी और खुशहाली हासिल की है; अलबत्ता इनकी क़ीमत चुकानी पड़ी है उन बेचारे देशों को, जिनका शोषण किया गया है।

हम इस बात की बहुत बार बुराई करते हैं कि मौजूदा पूँजीशाही में ग़रीब का धनवान और मज़दूर का पूँजीपति शोषण करते हैं। बात सोलह आने सही है। इसलिए नहीं कि पूँजीपति का क़ुसूर है, बल्कि इसलिए कि ख़ुद इस ढाँचे का आधार ही इस तरह के शोषण पर है। साथ ही हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि पूँजीशाही में यह कोई नई चीज़ है। सभी पिछले युगों में सारे ढाँचों के भीतर मज़दूरों व ग़रीबों के कठोर व अटल नसीब में शोषण ही रहा है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पूँजीशाही शोषण के बावजूद वे आज पिछले किसी भी ज़माने से ज्यादा अच्छी हालत में हैं। लेकिन यह कहना नहीं कहने के बराबर है।

इस ज़माने में मार्क्सवाद का सबसे बड़ा व्याख्याकार लेनिन हुआ है। इसने मार्क्सवाद की व्याख्या और स्पष्ट वर्णन तो किया ही, साथ ही अपनी ज़िन्दगी में उसे पूरी तरह उतारा भी। फिर भी उसने हमें यह चेतावनी दी है कि हम

मार्क्सवाद को कोई ऐसा कट्टर पन्थ न मान बैठें, जिसमें उलट-फेर की गुंजायश न हो। उसे इसकी असली बातों की सचाई पर पूरा यक़ीन था, मगर इसकी हरेक छोटी-छोटी बात मानने को और उसे हर कहीं बिना सोचे-समझे लागू करने को वह तैयार नहीं था। वह हमें बताता है—

"हम किसी भी अर्थ में मार्क्सवाद को ऐसी चीज़ नहीं समझते, जो मुकम्मिल है और जिसमें कोई ऐब नहीं निकाला जा सकता। इसके ख़िलाफ़ हमारा पक्का विश्वास है कि यह मत उस विज्ञान की सिर्फ़ आधार-शिला है, जिसकी समाजवादियों को हर दिशा में उन्नति करनी चाहिए, वरना वे जीवन की दौड़ में पीछे रह जायँगे। हमारे विचार में रूसी समाजवादियों के लिए मार्क्स के मत का खुले दिमाग़ से अध्ययन करना खासतौर पर ज़रूरी है, क्योंकि यह मत हमको सिर्फ़ राह दिखानेवाले आम विचार देता है, जो मिसाल के लिए फ़ान्स से अलग ढंग पर इंग्लैण्ड में, जर्मनी से फ़ान्स में, और रूस से जर्मनी में लागू किये जा सकते हैं।"

इस पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के मतों का कुछ हाल बताया है, मगर मैं नहीं जानता कि इस चेपा-चेपी से तुम्हें कुछ फ़ायदा होगा या नहीं और ये साफ़-साफ़ तुम्हारी समझ में आयेंगे या नहीं। इन मतों को जान लेना इसलिए अच्छा है कि ये आज के लाखों-करोड़ों नर-नारियों को हिला रहे हैं और इनसे हमें अपने देश में भी मदद मिल सकती है। रूस के बड़े राष्ट्र ने और सोवियत संघ के दूसरे अंगों ने मार्क्स को अपना बड़ा पैग़म्बर मान लिया है, और आज संसार की बड़ी-बड़ी मुसीबतों के इलाज की तलाश में बहुतेरे लोग इसकी तरफ़ देख रहे हैं कि शायद इससे कुछ प्रेरणा मिल जाय।

मैं इस पत्र को अंग्रेज़ कवि टेनीसन की कुछ पंक्तियों के साथ समाप्त करूँगा; इनका मतलब यह है—

"पुरानी व्यवस्था बदलकर नई के लिए जगह खाली करती है, और ईश्वर का काम कई तरीक़ों से पूरा होता रहता है, ताकि ऐसा न हो कि एक अच्छा रिवाज दुनिया को भ्रष्ट कर दे।"

: १३५ :

इंग्लैण्ड का विक्टोरिया-युग

२२ फ़रवरी, १९३३

समाजवादी विचारों के विकास का बयान करते हुए मैंने अपने पत्रों में तुम्हें बताया है कि अंग्रेज़ों का समाजवाद सबसे मुलायम नमूने का रहा है। उस समय

यूरोप में जितनी विचारधाराएँ चल रही थीं, उनमें यह सबसे कम क्रान्तिवादी था, और यह आशा लगाये बैठा था कि धीरे-धीरे क़दम-दर-क़दम परिवर्तन होकर अच्छी हालत आ जायगी। कभी-कभी जब व्यापार गिर जाता, मन्दी फैल जाती, बेरोज़गारी बढ़ जाती, मज़दूरी घट जाती और लोगों को तकलीफ़ें होने लगतीं, तब इंग्लैण्ड में भी क्रान्ति की लहर उठ खड़ी होती थी। मगर हालत ज़रा अच्छी हुई कि फिर जोश ठण्डा पड़ जाता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के विचारों की इस मुलायमी का इंग्लैण्ड की ख़ुशहाली से गहरा ताल्लुक़ था, क्योंकि ख़ुशहाली और क्रान्ति में किसी तरह का मेल नहीं होता। क्रान्ति का अर्थ है, बड़ा भारी परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालतों में ही काफ़ी सन्तोष से रहते हैं, वे नहीं चाहते कि उन हालतों को बेहतर बनानेवाले सब्ज़ बाग़ की ख़ातिर जोखिम या जल्दबाज़ी के किसी सामूहिक काम में कूद पड़ें।

उन्नीसवीं सदी वास्तव में इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। अठारहवीं सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशों से पहले नये कारख़ाने डालकर जो अगुआई हासिल कर ली थी, उसे उन्नीसवीं सदी के ज़्यादातर हिस्से में भी बनाये रक्खा। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारख़ाना-घर था और उसमें दूर-दूर के देशों से दौलत की नदी बहकर आ रही थी। भारत व दूसरे उपनिवेशों की लूट से उसे दौलत का अटूट ख़िराज मिल रहा था, जिससे उसकी शान बढ़ रही थी। जिस समय यूरोप के क़रीब-क़रीब सभी देशों में परिवर्तन हो रहे थे, इंग्लैण्ड बिना किसी तरह की क्रान्ति के चट्टान की तरह मज़बूत और ठोस नज़र आ रहा था। समय-समय पर संकट-काल ज़रूर आये। मगर वे कुछ ज़्यादा आदमियों को वोट का हक़ देकर टाल दिये गए। हम यह भी देख चुके हैं कि इस बीच में फ़्रान्स में बारी-बारी से गणराज्यों और साम्राज्यों का ताँता लगा रहा; इटली में नया राष्ट्र पैदा हुआ, जिसने युगों की फूट के बाद सारे प्रायद्वीप को एक कर दिया; और जर्मनी में एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी बहुत-सी बातों में बदल गये। यूरोप के सबसे पुराने राजवंश हैप्सबर्ग की गद्दी आस्ट्रिया को, फ़ान्स, इटली व प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ़ पूर्व में रूस का निरंकुश ज़ार महान् मुग़ल की तरह राज कर रहा था और रूस में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दे रहा था। मगर रूस उद्योगों के लिहाज़ से बहुत पिछड़ा हुआ था और किसानों का राष्ट्र था। नये विचारों और नये उद्योगों की हवा उसे अभी तक नहीं लगी थी।

इंग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री शक्ति के सबब से यूरोप पर और संसार-भर पर हावी हो रहा था। वह अगुआ राष्ट्र हो गया था और उसके पंजे दुनिया भर में फैले हुए थे। अमेरिका का संयुक्त राज्य अभी तक

अपने भीतरी झगड़ों में फँसा हुआ था और उसे दुनिया के मामलों की बनिस्बत घर की उन्नति की ज्यादा चिन्ता थी। परिवहन (ढुलाई) के तरीक़ों में अद्भुत परिवर्तन हो रहे थे, जिनकी वजह से पृथ्वी दिन-पर-दिन छोटी और सघन होती हुई मालूम दे रही थी, इनसे भी इंग्लैण्ड को दूर देशों पर अपना पंजा कसने में मदद मिली। इन सब परिवर्तनों के होते हुए भी इंग्लैण्ड में सरकार का रूप वही बना रहा; एक संविधानी बादशाह यानी सत्ताहीन शासक, और सबके ऊपर मानी जानेवाली पार्लमेण्ट। इस पार्लमेण्ट को शुरू में मुट्ठीभर ज़मींदार और धनी व्यापारी चुनते थे, मगर बाद में जब-जब संकट की हालत पैदा हुई तब-तब आफ़त टालने के लिए इस सदी के दौरान दिन-पर-दिन ज्यादा लोगों को वोट का हक़ दिया जाता रहा।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को जॉर्ज नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया १८३७ ई० में गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लड़की थी और उसने सदी के अन्त तक, यानी १९०० ई० तक तिरेसठ वर्ष राज किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे ज़माने को अक़्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने यूरोप में व दूसरे देशों में कई बड़े-बड़े परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिह्नों को मिटता हुआ व नयों को उनकी जगह लेता हुआ देखा। उसने यूरोप की क्रान्तियाँ, फ़्रान्स में परिवर्तन और इटालवी राज्य व जर्मन साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से यूरोप की और यूरोप के राजाओं की दादी मानी जाने लगी थी। मगर यूरोप में विक्टोरिया के ही ज़माने का एक और राजा था, जिसका इतिहास भी वैसा ही है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने का सम्राट फ़्रान्स जोज़ेफ़ था। जब क्रान्ति के वर्ष, १८४८ ई० में वह अपने टूटे-फूटे साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र अठारह वर्ष की थी। उसने अड़सठ वर्ष राज किया और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और अपने अधीन दूसरे हिस्सों को एक सूत्र में बाँधे रक्खा। लेकिन महायुद्ध ने उसका और उसके साम्राज्य का अन्त कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा भाग्यवान थी। अपने शासन-काल में उसने इंग्लैण्ड की शक्ति को बढ़ते हुए और अपने साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब वह गद्दी पर बैठी तब कनाडा में गड़बड़ी थी। इस उपनिवेश में खुली बग़ावत हो रही थी और वहाँ के बहुतेरे उपनिवेशी इंग्लैण्ड से विलग होकर अपने पड़ौसी अमेरिका के संयुक्त राज्य में मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमेरिका के युद्ध से सबक़ सीख लिया था और उसने जल्दी-से कनाडावालों को खुद अपना

शासन चलाने का बहुत-कुछ अधिकार देकर ठण्डा कर दिया। थोड़ ही दिनों में वह बढ़ते-बढ़ते पूरा स्वराजी उपनिवेशी राज्य बन गया। साम्राज्य में यह नये ढंग का प्रयोग था, क्योंकि आज़ादी और साम्राज्य का कभी साथ नहीं हो सकता। मगर परिस्थिति से मजबूर होकर इंग्लैण्ड को ऐसा करना पड़ा, वरना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज्यादातर निवासी अंग्रेज़ वंश के थे, इसलिए मातृभूमि के साथ वे भावना के मज़बूत बन्धन में बँधे हुए थे। इधर इस नये देश में लम्बी-चौड़ी ज़मीनें बिना उपयोग पड़ी थीं; और उसकी आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपने विकास के लिए इंग्लैण्ड के बने माल पर और इंग्लैण्ड के पैसे पर बहुत ज्यादा निर्भर रहना पड़ता था। इस वास्ते उस समय दोनों देशों के स्वार्थों में कोई टक्कर नहीं थी और उनके बीच में जो अजीब और नया रिश्ता क़ायम हुआ, उसपर कोई ज़ोर नहीं पड़ा।

इसी सदी में आगे चलकर विदेशी अंग्रेज़ी बस्तियों को स्वराज देने का यह तरीक़ा आस्ट्रेलिया में भी काम में लाया गया। सदी के लगभग बीच तक वहाँ क़ैदियों की बस्ती थी; सदी के अन्त में वह साम्राज्य का आज़ाद उपनिवेशी राज्य बना दिया गया।

दूसरी तरफ़ भारत में अंग्रेज़ी शिकंजा और भी कस दिया गया और देश-विजय के लिए युद्ध-पर-युद्ध करके ब्रिटिश-भारतीय साम्राज्य का विस्तार होता गया। भारत अंग्रेज़ों की मातहती रियासत थी। स्वराज की यहाँ छाया तक भी नहीं थी। १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया था और भारत को साम्राज्य का पूरा वज़न महसूस करा दिया गया था। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि इंग्लैण्ड ने तरह-तरह के तरीक़ों से भारत का किस तरह शोषण किया। असल में तो भारत ही ब्रिटेन का साम्राज्य था, और मानो संसार के सामने इस तथ्य का ऐलान करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने भारत की साम्राज्ञी का खिताब ले लिया। मगर भारत के अलावा दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में और भी कई छोटे-छोटे देश इंग्लैण्ड के अधीन थे।

इस तरह दो नमूनों के देशों से बना हुआ ब्रिटिश साम्राज्य एक अजीब भानमती का पिटारा हो गया। एक तरफ़ तो स्वराजी देश थे, जो बाद में आज़ाद उपनिवेशी राज्य हो गये, और दूसरी तरफ़ मातहती रियासत व रक्षित रियासतें थीं। पहली तरह के देश एक तरह से एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे, जो मातृदेश इंग्लैण्ड को अपना मुखिया मानते थे; दूसरी तरह के देश साफ़ तौर पर इस महकमे के चाकर और गुलाम थे, जिन्हें नीचा समझा जाता था, जिनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता था और जिनका शोषण किया जाता था। स्वराजी उपनिवेशों में अंग्रेज़ या दूसरे यूरोपीय लोग और उनकी औलाद रहते थे, और मातहती रियासतों

के लोग तमाम ग़ैर-ब्रिटिश और ग़ैर-यूरोपीय थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दोनों भागों का यह फ़र्क़ आज तक चला आ रहा है।

दौलत व साम्राज्य का मालिक इंग्लैण्ड बहुत-कुछ भरी-पूरी शक्ति था; लेकिन इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं था, क्योंकि साम्राज्यशाही लालच की कोई हद नहीं होती और वह हमेशा बढ़ता रहता है। फिर भी इंग्लैण्ड की ख़ास परेशानी यह नहीं थी कि और ज़्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया है, उसकी रक्षा कैसे की जाय। भारत तो उसके लिए ख़ासतौर पर सोने की चिड़िया थी, जिसपर वह आख़िरी दम तक क़ब्ज़ा रखना चाहता था। उसकी सारी विदेशी नीति का दारोमदार यह था कि भारत उसके क़ब्ज़े में रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते सुरक्षित रहें। इसीलिए उसने मिस्र में टाँग अड़ाई और अन्त में उस-पर अपनी प्रभुता जमाई; इसी तरह उसने ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के मामलों में दख़ल दिया। उसने बड़ी चालाकी से स्वेज़ नहर कम्पनी के हिस्से ख़रीद-कर नहर पर भी क़ाबू हासिल कर लिया।

उन्नीसवीं सदी के बड़े हिस्से में ख़ास यूरोप की शक्तियों की तरफ़ से इंग्लैण्ड को परेशानी नहीं रही, क्योंकि वे अपने घर के झगड़ों में ही फँसी हुई थीं और अक्सर आपस में लड़ती रहती थीं। इंग्लैण्ड ने यूरोप के एक देश को दूसरे से लड़ाकर और उनकी आपसी लाग-डाँटों से फ़ायदा उठाकर यूरोप में सन्तुलन क़ायम रखने का अपना पुराना खेल जारी रक्खा। फ़्रान्स के नेपोलियन तृतीय से उसे ख़तरा लग रहा था, मगर वह ख़त्म हो गया और फ़्रान्स को दुबारा सम्हलने में कुछ वक़्त लग गया। जर्मनी अभी इतना बड़ा नहीं हुआ था कि उसे ख़तरनाक मुक़ाबलेदार समझा जाता। लेकिन एक देश ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देता हुआ मालूम पड़ता था और वह था ज़ारशाही रूस; जो था तो पिछड़ा हुआ, मगर नक़्शे पर फिर भी लम्बा-चौड़ा देश था। जैसे इंग्लैण्ड भारत में और दक्षिणी एशिया में फैल गया था, वैसे ही रूस का विस्तार उत्तरी व मध्य एशिया में हो चुका था और उसकी सरहद भारत से बहुत दूर नहीं थी। रूस की यह नज़दीकी अंग्रेज़ों के लिए सदा हौवा बनी रहती थी। भारत की चर्चा करते समय मैं तुम्हें अफ़ग़ानिस्तान पर अंग्रेज़ों के हमले का और अफ़ग़ान-युद्धों का हाल बतला चुका हूँ। इन सबका ख़ास सबब ज़ारशाही रूस का डर था।

यूरोप में भी इंग्लैण्ड और रूस की झड़प हुई। रूस एक ऐसा अच्छा बन्दरगाह चाहता था, जो बारहों महीने खुला रहे और सर्दियों में जिसका पानी जमे नहीं। अपने लम्बे-चौड़े प्रदेशों के बावजूद उसके सारे बन्दरगाह आर्कटिक वृत्त[1] के ही आस-पास थे और वर्ष में कुछ महीने वहाँ का पानी जमकर बर्फ़ हो जाता था, जिससे

[1] Arctic Circle—उत्तरी ध्रुव के चारों ओर का भू-खण्ड।

वे बन्द हो जाते थे। भारत और अफ़ग़ानिस्तान में, इसी तरह ईरान में भी, अंग्रेज़ लोग उसे समुद्र तक नहीं पहुँचने देते थे। बॉस्फ़ोरस और दर्रे-दानियाल पर तुर्की का क़ब्ज़ा होने से काला-सागर का रास्ता भी बन्द था। वर्षों पहले रूस ने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाने की कोशिश की थी, मगर तुर्कों के आगे उसकी दाल नहीं गली। इस समय तुर्कों का ज़ोर घट गया था और जिस चीज़ पर रूस की अर्से से लार टपक रही थी, वह क़रीब-क़रीब हाथ में आती दिखाई दे रही थी। उसने उसे छीनने की कोशिश की। मगर इंग्लैण्ड बीच में आ कूदा और सिर्फ़ अपने स्वार्थ की ख़ातिर तुर्कों का हिमायती बन गया। १८५४ ई० में क्रीमिया के युद्ध से और बाद में दूसरे युद्ध की धमकी से रूस आगे नहीं बढ़ने पाया।

१८५४ से १८५६ ई० तक के इसी क्रीमिया-युद्ध में फ़्लोरेन्स नाइटिंगेल घायलों की परिचर्या के लिए साहसी स्वयं-सेविकाओं का एक-दस्ता लेकर गई थी। उस समय यह एक अनोखी बात थी, क्योंकि विक्टोरिया-युग की मध्यम-वर्गी स्त्रियाँ घर में ही घुसी रहनेवाली होती थीं। फ़्लोरेन्स नाईटिंगेल ने उनके सामने सेवा की एक नई मिसाल रक्खी और वह बहुत-सी स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर खींच लाई। इसलिए स्त्रियों के आन्दोलन के विकास में उसका बड़ा नाम है।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था, जिसे संविधानी राजाशाही या 'ताजधारी गणराज्य' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि ताजधारी के हाथ में असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मन्त्रियों का कोरा प्रवक्ता होता था। राजनीति की निगाह से वह मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह 'राजनीति से परे' है। असल बात यह है कि तेज़ बुद्धि या मज़बूत इरादेवाला कोई भी आदमी सिर्फ़ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और इंग्लैण्ड के बादशाहों या बेग़मों को सार्वजनिक मामलों में दख़ल देने के बहुत मौक़े मिलते हैं। आमतौर पर यह चीज़ पर्दे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नहीं हो पाता या होता भी है तो बहुत दिनों बाद। खुली दस्तन्दाज़ी पर बहुत नाराज़ी फैल सकती है और बादशाहत ख़तरे में पड़ सकती है। संविधानी राजा में जो बड़ा गुण होना ज़रूरी है, वह है ढब[1]; यानी नीति-कुशलता। अगर यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरीक़ों से अपना असर डाल सकता है।

विधान और क़ानून के लिहाज़ से (संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की तरह) गणराज्यों के राष्ट्रपतियों के हाथों में पार्लमेण्टी देशों के ताजधारी शासकों से बहुत ज़्यादा सत्ता होती है। मगर राष्ट्रपति जल्दी-जल्दी बदलते रहते

[1] Tact—जैसी परिस्थिति हो उसीके अनुसार चतुराई से बात करना।

हैं और राजा लम्बे ज़मानों तक बने रहते हैं, और चुपचाप ही सही, लेकिन राज-काज पर किसी ख़ास दिशा में लगातार असर डाल सकते हैं। बादशाह को साज़िशें करने और समाजी दबाव डालने के भी बहुत मौक़े मिलते हैं, क्योंकि समाजी दुनिया में वही सबसे आला माना जाता है। वास्तव में शाही दरबारों की सारी फ़िज़ा सत्ताशाही की, और पदों के मुताबिक़ उठने-बैठने की, और खिताबों और वर्गों की होती है और वह देशभर के लिए नमूना बन जाती है। इन बातों का समाजी बराबरी और वर्ग-भेद मिटाने की बात के साथ मेल नहीं बैठता। इसमें ज़रा भी शक नहीं कि इंग्लैण्ड में शाही दरबार के होने ने अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति ढालने में और उनको समाज का वर्ग-भेद क़बूल करने में बहुत बड़ा असर डाला है। या शायद यह कहना ठीक होगा कि जहाँ दुनिया के सारे बड़े-बड़े देशों से बादशाहत ग़ायब हो गई है, वहाँ इंग्लैण्ड में उसके किसी तरह बच रहने की वजह यही है कि वहाँ लोगों ने ऊँचे और नीचे वर्गों के भेद को मान रक्खा है। एक पुरानी कहावत है कि 'हरेक अंग्रेज़ लॉर्ड यानी सामन्त को चाहता है' और इसमें बहुत-कुछ सचाई है। यूरोप या अमेरिका में, और शायद जापान व भारत के सिवा एशिया में भी, कहीं वर्ग-भेद इतने सख़्त नहीं हैं, जितने इंग्लैण्ड में हैं। यह ताज्जुब की बात है कि जो इंग्लैण्ड गुज़रे ज़माने में राजनीतिक लोकतन्त्र और उद्योगवाद का अगुआ रह चुका है, वह आज समाजी मामलों में इतना पिछड़ा हुआ है और जड़-बुनियाद से इतना पुरातन-पन्थी है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट 'पार्लमेण्टों की जननी' कहलाती है। उसकी ज़िन्दगी लम्बी और इज़्ज़तदार रही है और बहुत-सी बातों में बादशाह की निरंकुशता से लड़ने में उसने सबसे पहले क़दम उठाया था। उस निरंकुश राज की जगह पार्लमेण्ट का अल्पतन्त्री शासन आया, यानी मुट्ठीभर ज़मींदारों और शासक-वर्ग के लोगों का राज हुआ। फिर लोकतन्त्र की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बड़ी खींचतान के बाद आबादी के बहुत बड़े हिस्से को पार्लमेण्ट की कॉमन्स-सभा के सदस्य चुनने का मताधिकार मिला। अमल में इसका नतीजा सच्चा लोकतन्त्री राज नहीं हुआ, बल्कि मालदार उद्योगपतियों के हाथों में पार्लमेण्ट की बागडोर आ गई। लोकशाही के बजाय दौलतशाही क़ायम हो गई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने शासन और क़ानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलों की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों दलों में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। वे जिन सिद्धान्तों को मानते थे, उनके बीच कोई विरोध नहीं था। दोनों मालदार लोगों के दल थे और उस समय के समाजी ढाँचे को मानते थे। एक दल में पुराने ज़मींदार वर्ग के आदमी ज़्यादा थे तो दूसरे में धनी कारखानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और साँपराज का ही

भेद था। पहले वे टोरी[1] और ह्निग[2] कहलाते थे। बाद में उन्नीसवीं सदी में उनके नाम कंज़रवेटिव्ज़[3] (अनुदार दल) और लिबरल्स[4] (उदार दल) पड़ गये।

यूरोप के दूसरे देशों का हाल बिलकुल दूसरा था। वहाँ सचमुच अलग-अलग कार्यक्रमों और विचार-धाराओंवाले दल पार्लमेण्टों के भीतर और बाहर बड़ी सरगर्मी से लड़ते थे। मगर इंग्लैण्ड में तो घर की-सी बात थी, खुद विरोध भी एक क़िस्म का सहयोग बन गया था, और दोनों दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी बनते रहते थे। धनवानों और ग़रीबों की असली मुठभेड़ और वर्ग-संघर्ष पार्लमेण्ट में ज़ाहिर नहीं होते थे, क्योंकि दोनों बड़े-बड़े दल धनवानों के दल थे। जनता के जोश को उभाड़नेवाले न तो कोई मज़हबी सवाल थे और न (यूरोपीय देशों के-से) कोई नस्ली या राष्ट्रीय सवाल थे। सदी के पिछले हिस्से में सरगर्मी का असली तत्व आया तो वह आयर्लैण्ड के राष्ट्रवादी सदस्यों की तरफ़ से, क्योंकि उनके लिए आयर्लैण्ड की आज़ादी एक राष्ट्रीय सवाल था।

जब ऐसे बड़े दो दल पार्लमेण्ट के लिए सदस्य खड़े करें तो स्वतन्त्र व्यक्तियों या छोटे-छोटे गिरोहों का चुना जाना बहुत मुश्किल होता है। लोकतन्त्र और मताधिकार के होते हुए भी बेचारे मतदाता की इस मामले में कोई सुनवाई नहीं होती। वह या तो दोनों में से किसी एक दल के उम्मीदवार को वोट दे दे या घर बैठा रहे और वोट ही न दे। और दलों के सदस्यों को पार्लमेण्ट में कोई आज़ादी बाक़ी नहीं रहती। वे अपने-अपने दल के नेताओं की आज्ञा मानकर वोट देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। क्योंकि सिर्फ़ इसी ढंग से वे अपने दल को भीतर से ठोस बना सकते हैं और मुक़ाबलेवाले दल को हराने का ज़ोर हासिल कर सकते हैं, सत्ताधारी बन सकते हैं। यह संगठन और एकरूपता अपनी जगह बेशक अच्छे हैं, मगर यह चीज़ सच्चे लोकतन्त्र से बहुत दूर है।

हम देखते हैं कि जिस इंग्लैण्ड को अक्सर लोकतन्त्री प्रगति का नमूना बताया जाता है वहाँ भी लोकतन्त्र को शानदार सफलता नहीं मिली। शासन की यह महान् समस्या कि जनता अपने ऊपर शासन करने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी कैसे चुने, फिर भी सन्तोष देनेवाले ढंग से हल नहीं हुई। व्यवहार में लोकतन्त्र का अर्थ यह होता है कि लोग खूब शोर मचावें और भाषणबाज़ी करें और बेचारा मतदाता ऐसे आदमी को चुनने के लिए फुसलाया जाय, जिसके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता। आम चुनावों को खुला नीलाम कहा गया है, जिनमें सब तरह के वादे किये जाते हैं। मगर इन सब ख़ामियों के होते हुए भी यह नामधारी या झूठा लोकतन्त्र चलता रहा, क्योंकि इंग्लैण्ड खुशहाल था और यह खुशहाली वहाँ के ढाँचे को टूटने नहीं देती थी और लोगों में कुछ हद तक सन्तोष बनाये रखती थी।

---

[1] Tory. [2] Whig. [3] Conservatives. [4] Liberals.

उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में इंग्लैण्ड के राजनीतिक दलों के दो बड़े नेता डिज़राइली और ग्लैड्स्टन थे। डिज़राइली, जो आगे चलकर बीकन्सफ़ील्ड का अर्ल हो गया, अनुदार-दल का नेता था और कितनी ही वार प्रधानमन्त्री बना। उसके लिए यह मार्के की करामात थी, क्योंकि वह यहूदी था और बड़े-बड़े लोगों से उसके कोई ताल्लुक़ नहीं थे और यहूदियों को अंग्रेज़ लोग पसन्द भी नहीं करते। लेकिन सिर्फ़ योग्यता और लगन के बल पर उसने अपने ख़िलाफ़ बैर-भाव को जीत लिया और वह रास्ता चीरकर सबके आगे आ गया। वह बड़ा साम्राज्यवादी था, और विक्टोरिया को 'क़ैसरे हिन्द' इसीने बनाया था। ग्लैड्स्टन एक पुराने मालदार अंग्रेज घराने का था। वह उदार-दल का नेता बन गया और कई वार प्रधानमन्त्री भी रहा। जहाँतक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का सम्बन्ध था, वहाँतक ग्लैड्स्टन और डिज़राइली में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं था। मगर डिज़राइली अपने साम्राज्यवाद की बात बेलाग कहता था, और ग्लैड्स्टन, जो पूरा अंग्रेज़ था, असलियत को लच्छेदार बातों और नेक नसीहतों से ढँक देता था। वह ऐसा ज़ाहिर करता था, मानो जो कुछ भी वह करता है, उसमें ईश्वर ही उसका ख़ास सलाहकार है। बलकानी देशों में तुर्कों के अत्याचारों के ख़िलाफ़ उसने बड़ा भारी आन्दोलन मचवाया और डिज़राइली ने सिर्फ़ विरोध की ख़ातिर तुर्कों का पक्ष लिया। असल में क़सूर तो तुर्कों और बलकान में अलग-अलग राष्ट्रीय क़ौमोंवाली उनकी प्रजाओं, इन दोनों का ही था। वे बारी-बारी से भयंकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैड्स्टन ने आयर्लैण्ड के लिए स्वराज का भी समर्थन किया। वह सफल नहीं हुआ और अंग्रेज़ों का विरोध इतना ज़ोरदार था कि ख़ुद उदार-दल के ही दो टुकड़े हो गये। एक हिस्सा अनुदार-दल में जा मिला, जो 'यूनियनवादी'[1] दल कहलाने लगा क्योंकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ यूनियन यानी एकता का रिश्ता रखना चाहते थे।

मगर इस बारे में और विक्टोरिया-युग की दूसरी घटनाओं के बारे में अगले पत्र में कुछ और बातें लिखूंगा।

: १३६ :

इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन जाता है

२३ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड की खुशहाली का कारण उसके उद्योग-धन्धे और उपनिवेशों व अधीन देशों का शोषण था। ख़ास करके उसकी बढ़ती हुई दौलत

---

[1] Unionist.

का आधार चार उद्योग थे। इन्हें 'बुनियादी' उद्योग कह सकते हैं। ये थे सूती-कपड़ा, कोयला, लोहा और जहाज़-निर्माण। इनके चारों ओर और अलग भी बेशुमार दूसरे उद्योग, भारी भी और हलके भी, पैदा हो गये। व्यवसायों के और बैंकों के बड़े-बड़े घराने खड़े हो गये। अंग्रेज़ों के व्यापारी जहाज़ दुनिया के लगभग हर हिस्से में पाये जाने लगे। ये सिर्फ़ ब्रिटिश माल ही नहीं ले जाते थे, बल्कि दूसरे औद्योगिक देशों के बने हुए माल भी लादते थे। ये संसारभर में सौदागरी सामान को लाने-लेजाने का सबसे बड़ा साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बड़ा दफ़्तर दुनिया की जहाज़रानी का केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगों और व्यवसायों के मालिकों का दबदबा था।

देश में दौलत की बाढ़ आ गई और ऊँचे व मध्यम-वर्गों के लोग दिन-पर-दिन मालामाल होते गये। इस दौलत का कुछ हिस्सा मज़दूरों को भी पहुँचा और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो गया। मालदारों को जो इतनी सारी दौलत मिल रही थी, उसका वे क्या करते? उसे बेकार पड़ा रखना तो बेवक़ूफ़ी थी। इसलिए हर कोई उद्योग-धन्धों को आगे बढ़ाने में जुट गया और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़े कमाने लगा। इस दौलत का बड़ा हिस्सा इंग्लैण्ड और स्कॉट-लैण्ड में नये-नये कारखानों, रेलों और ऐसे ही दूसरे धन्धों में लग गया। कुछ समय बाद जब कारखानों की संख्या बहुत बढ़ गई और देश में उद्योग-धन्धों का पूरा जाल बिछ गया, तो नफ़े की दर घटना लाज़िमी था, क्योंकि साथ-साथ होड़बाजी भी बढ़ गई थी। तब पूंजीपतियों ने पूंजी लगाने के ज्यादा फ़ायदेवाले मैदानों की तलाश में देश से बाहर नजरें दौड़ाईं और उन्हें ठीक मौक़े भी खूब मिल गये। दुनिया-भर में रेलें बन रही थीं और टेलीफ़ोन व टेलीग्राफ़ के तार बिछाये जा रहे थे और कारखाने डाले जा रहे थे। यूरोप, अमेरिका, अफ़्रीका और इंग्लैण्ड के अधीन देशों में इस तरह के कितने ही धन्धों में इंग्लैण्ड की फ़ालतू पूंजी खूब डाली जाने लगी। अमेरिका के संयुक्त राज्य के पास क़ुदरती साधनों की कमी नहीं थी, मगर वह तेजी से तरक्क़ी कर रहा था, इसलिए उसकी रेलों वग़ैरा में बहुत-सी ब्रिटिश पूंजी खप गई। दक्षिण अमेरिका में, और वहाँ भी खासकर आर्जेन्टिना मे, अंग्रेज़ों के बहुत बड़े-बड़े बागान थे। कनाडा और आस्ट्रेलिया का तो विकास ही ब्रिटिश पूंजी से हुआ। चीन में रियायतों के लिए जो लड़ाई हुई, उसका कुछ हाल मैं बता चुका हूँ। भारत में तो अंग्रेजों की प्रभुता थी ही। यहाँ उन्होंने रेलों और दूसरे कामों के लिए अपनी मनचाही शर्तों पर रुपया उधार दिया।

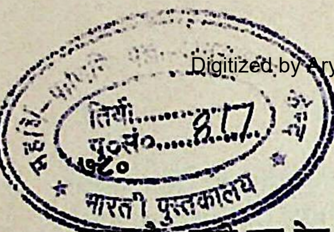
इस तरह इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफ़ा हो गया। लेकिन इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया उधार दिया जाता था तो कोई सोने, चाँदी या नक़दी की बोरियाँ भर-भरकर इंग्लैण्ड से दूसरे

देशों को भेजी जाती थीं। आजकल का व्यापार इस तरीक़े से नहीं होता, वरना लेन-देन के लिए सोने-चाँदी की ही कमी पड़ जाय। मूर्ख लोग सोने-चाँदी को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं, मगर ये तो विनिमय के और माल को इधर-उधर पहुँचाने के सिर्फ़ ज़रिये हैं। इन्हें न तो कोई खा सकता है न पहन सकता है, और न किसी दूसरे उपयोग में ला सकता है। इसके ज़ेवर अलबत्ता बन सकते हैं, मगर उनसे किसीको कोई फ़ायदा नहीं होता। सच्ची दौलत तो ऐसे माल का हाथ में होना है, जिसका उपयोग हो सके। इसलिए जब इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ पूँजीपति रुपया उधार देते थे, तो उसका अर्थ यह होता था कि वे किसी विदेशी उद्योग या रेल में कुछ पूँजी लगाते थे, और नक़द रुपये के बजाय अंग्रेज़ी माल भेजा जाता था। इस तरह इंग्लैण्ड की मशीनों या रेलों का सामान दूसरे देशों को भेजा जाता था। इससे इंग्लैण्ड के उद्योग-धन्धों को मदद मिलती थी और साथ-ही-साथ वहाँ के पूंजी लगानेवाले वर्ग को अपनी फ़ालतू नक़दी बढ़िया मुनाफ़े पर लगाने के मौक़े मिलते थे।

साहूकारी मुनाफ़े का धन्धा है और इंग्लैण्ड ने जितना ज्यादा इसे अपनाया उतना ही ज्यादा वह मालदार बनने लगा। इससे एक बड़ा निठल्ला वर्ग पैदा हो गया, जो सिर्फ़ इस व्यवसाय के मुनाफ़ों और हिस्सों पर गुज़र करता था। इन लोगों को किसी चीज़ के उत्पादन के लिए कोई काम ही नहीं करना पड़ता था। वे किसी रेलवे कम्पनी, चाय-बागान या दूसरे व्यापारी काम-धन्धे में हिस्सेदार होते थे और उनके मुनाफ़े बराबर उनके पास पहुँचते रहते थे। इन निठल्ले अंग्रेज़ों की बस्तियाँ फ़्रान्स के रिवेरा, इटली और स्विज़रलैण्ड जैसी दिल-पसन्द जगहों में बस गईं। हाँ, इनमें से ज्यादातर लोग इंग्लैण्ड में ही रहे।

जिन देशों ने इस तरह इंग्लैण्ड से क़र्ज़ लिया था, वे सब उसका ब्याज या उसपर मुनाफ़ा किस तरह चुकाते थे? इसे भी वे सोना-चाँदी के रूप में नहीं भेज सकते थे। हर साल अदा करने को उनके पास काफ़ी सोना-चाँदी थे ही नहीं। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे; पक्का माल तो इतना नहीं देते थे, क्योंकि खुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशों में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। पर वे खाने-पीने की चीज़ें और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहाँ से इंग्लैण्ड की तरफ़ गेहूँ, चाय, क़हवा, माँस, फल, शराब, रुई, ऊन, वग़ैरा की नदी बराबर बहती रहती थी।

दो राष्ट्रों के बीच वाणिज्य का अर्थ है चीज़ों का विनिमय। यह सम्भव नहीं कि एक देश खरीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा करने की कोशिश की जाय तो सोना या चाँदी के रूप में ही भुगतान करना पड़े और वहाँ का सोना-चाँदी बहुत जल्दी निबट जाय, या फिर एक-तरफ़ा व्यापार अपने-आप ही बन्द हो जाय। आपसी व्यापार में विनिमय होता है, जो अपने-आप सधता



रहता है; कभी एक देश का पल्ला झुक जाता है तो कभी दूसरे का। अगर हम उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड के व्यापार की जाँच करें तो मालूम होगा कि सब मिलाकर इंग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया, उससे ज्यादा माल उसके यहाँ आया। यानी, हालाँकि उसने भारी मिक़दार में माल बाहर भेजा, फिर भी वास्तव में उसने उससे ज्यादा क़ीमत का माल मँगवाया। फ़र्क़ इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाये ज्यादातर कच्चे माल और खाने-पीने की चीज़ें। इस तरह मालूम तो यह होता था कि उसने ख़रीदा ज्यादा और बेचा कम, और व्यापार करने का यह कोई अच्छा तरीक़ा नहीं नज़र आता। पर सही बात यह थी कि निर्यात के ऊपर आयात की ज्यादती उसके उधार दिये हुए रुपये का नफ़ा ही थी। यह वह नज़राना था, जो क़र्ज़दार देश या भारत जैसे अधीन देश उसे भेजते थे।

लगी हुई पूंजी का सारा मुनाफ़ा इंग्लैण्ड नहीं पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा क़र्ज़दार देश में रह जाता था और ब्रिटिश पूंजीपति उसे फिर वहीं लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूंजी लगाये या इंग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशों में लगी हुई अंग्रेज़ों की पूंजी की रक़म बढ़ती ही चली जाती थी। भारत में हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलों, नहरों और बहुत-से दूसरे कामों में अंग्रेज़ों की बेहिसाब पूंजी लगी हुई है और इस हिसाब से भारत पर इंग्लैण्ड के 'क़र्ज़' की ज़बर्दस्त रक़म बताई जाती है। भारतवासी इस दावे को किसी तरह मानने को तैयार नहीं हैं, परन्तु यहाँ इसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं। हाँ, इतना ध्यान में रखना चाहिए कि लगी हुई पूंजी की इस भारी रक़म में इंग्लैण्ड से आई हुई नई पूंजी ज्यादा नहीं है। यह तो भारत में कमाया हुआ मुनाफ़ा फिर से यहीं लगाया हुआ है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि पलासी की लड़ाई और क्लाइव के समय में सचमुच अंग्रेज़ लोग भारत से बहुत-सा सोना और ख़ज़ाना इंग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद भारत के शोषण का रूप बदल गया और उतना खटकनेवाला नहीं रहा, और मुनाफ़ों का कुछ हिस्सा इसी देश में फिर लगाया जाता रहा।

इंग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का संसार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ़ यही उपाय सम्भव है कि ब्याज का भुगतान माल के रूप में लेना मंजूर किया जाय। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि वह सोना लेने पर नहीं अड़ सकता था। इसके दो बड़े नतीजे हुए। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने निवासियों को खिलाने के लिए बाहर से खाने का सामान आने की इजाज़त दे दी और अपने यहाँ की खेती को नुक़सान हो जाने दिया। उसने बाहर बेचने के लिए अपने उद्योगों के ज़रिये पक्का माल तैयार करने पर सारा ज़ोर लगा दिया और अपने किसानों की दुर्दशा पर ध्यान नहीं दिया। अगर उसे विदेशों से सस्ता अनाज मिल सकता था तो घर में पैदा करने की झंझट की क्या ज़रूरत? और अगर उद्योगों से ज्यादा मुनाफ़ा बनाया

जा सके तो खेती की परेशानी क्यों उठाई जाय ? बस, इंग्लैण्ड निरा औद्योगिक देश बन गया और अनाज के लिए विदेशों पर निर्भर हो गया।

दूसरा नतीजा यह हुआ कि उसने 'खुला व्यापार'[1] की नीति अपनाई, यानी उसके बन्दरगाहों पर दूसरे देशों से जो माल आता था, उसपर वह या तो महसूल लेता ही न था या बहुत कम लेता था। चूँकि वह सबसे बड़ा-चढ़ा औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले में उसे बहुत अर्से तक मुक़ाबले का कोई डर नहीं था। इसलिए विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशों से अपने यहाँ आनेवाले अनाज व कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता की ख़ूराक का दाम बढ़ जाता और अपने यहाँ बनी हुई चीज़ों की क़ीमतें बढ़ जातीं। इसके सिवा, अगर वह भारी महसूल लगाकर विदेशी माल को अपने यहाँ आने से रोक देता तो बाहर के क़र्ज़दार देश अपना खिराज इंग्लैण्ड को कैसे चुकाते ? वे तो माल के ही रूप में भुगतान कर सकते थे। यही कारण था कि जहाँ दूसरे सब औद्योगिक देश संरक्षणवादी थे, यानी अपने यहाँ आनेवाले विदेशी माल पर महसूल लगाकर अपने बढ़ते हुए उद्योग-धन्धों की रक्षा कर रहे थे, वहाँ इंग्लैण्ड ने खुले व्यापार की नीति अपना रक्खी थी। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ़्रान्स, जर्मनी, सब संरक्षणवादी थे।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों की, खेती पर कम ध्यान देने, उद्योग-धन्धों पर सारा ज़ोर लगाने और बाहर से खाने की चीज़ें मँगाने और विदेशों के नज़रानों पर मौज करने की जो नीति थी, वह लाभकारी और दिल-पसन्द मालूम देती थी, पर उसमें ख़तरे भी थे, जो अब साफ़ सामने आ रहे हैं। उस नीति का आधार उद्योगों में इंग्लैण्ड का सबसे ऊँचा दर्जा और उसका बड़ा भारी विदेशी व्यापार थे। लेकिन अगर यह ऊँचा दर्जा जाता रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी कम होने लगे तो ? उस हालत में वह खाने की चीज़ों के दाम कैसे चुकायेगा ? और अगर वह अनाज की क़ीमत दे भी सका तो जब कोई ताक़तवर दुश्मन उसका रास्ता बन्द कर दे तब वह विदेशों से अनाज कैसे मँगा पायेगा ? पिछले महायुद्ध में वहाँ के लोगों को आधा-भूखा रहना पड़ा था, क्योंकि खाने-पीने की चीज़ों की आमद क़रीब-क़रीब बन्द हो गई थी। इससे भी बड़ा ख़तरा यह है कि दूसरे देशों की होड़ की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह होड़ उन्नीसवीं सदी के आख़िरी बीस सालों में ज़्यादा तेज़ हो गई, क्योंकि तब अमेरिका और जर्मनी विदेशी मण्डियाँ ढूँढ़ने लगे। धीरे-धीरे दूसरे देश भी औद्योगिक बन गये और इस तलाश में शामिल हो गये; और अब तो क़रीब-क़रीब सारे संसार का किसी-न-किसी हद तक उद्योगीकरण हो चला है। हरेक देश की यह कोशिश है

[1] Free Trade.

कि अपनी ज़रूरत का ज़्यादा-से-ज़्यादा सामान खुद तैयार कर लें और विदेशी माल न आने दे। भारत विदेशी कपड़े की आमद रोकना चाहता है। तब लंकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले दूसरे ब्रिटिश उद्योग क्या करें?

इन सवालों का जवाब देना इंग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन आते दिखाई दे रहे हैं। वह कछुए की तरह हाथ-पैर सिकोड़कर नहीं पड़ सकता और न अपना अनाज व ज़रूरत की दूसरी चीज़ें पैदा करके अपने भरोसे जीवन ही बिता सकता है। आज का संसार ऐसा गोरखधन्धा हो गया है कि यह बात सम्भव नहीं। और अगर वह अपनेको सबसे विलग कर भी ले तो इसमें सन्देह है कि वह अपनी बहुत ज़्यादा बढ़ी हुई आबादी के लिए काफ़ी खूराक पैदा कर सकेगा। लेकिन ये सवाल आज के हैं; उन्नीसवीं सदी में इनका कोई महत्व नहीं था। इसलिए इंग्लैण्ड ने अपने भविष्य के साथ जुआ खेला और यह दाव लगा दिया कि उसका सबसे ऊँचा दर्जा सदा बना रहेगा। यह बड़ा भारी जुआ था और बाज़ी भी बड़ी ऊँची लगाई गई थी—यानी या तो संसार का अगुआ राष्ट्र बनकर रहना या गिरकर खत्म हो जाना। उसके लिए कोई बीच की मंज़िल नहीं थी। लेकिन विक्टोरिया-युग के मध्यम-वर्गी अंग्रेज़ में न तो अपने ऊपर भरोसे की कमी थी और न अहंकार की। मुद्दत की खुशहाली व सफलता, और उद्योग व व्यवसाय में अगुआई ने उसे यह जँचा दिया था कि वह बाक़ी की सारी मनुष्य-जाति से आला है। वह सब विदेशियों को नाचीज़ समझने लगा। एशिया व अफ़्रीका के लोग तो पिछड़े हुए और जंगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा किये गए मालूम होते थे कि पिछड़ी हुई मनुष्य जातियों पर हुकूमत करने और उन्हें सुधारने के लिए अंग्रेज़ों को अपनी पैदायशी प्रतिभा को इस्तेमाल करने का मौक़ा मिले। यूरोप के दूसरे देशों के लोग भी अज्ञानी और अन्ध-विश्वासी विदेशी थे। सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए अंग्रेज़ ही खुदा के बन्दे थे। जो यूरोप बाक़ी दुनिया का सरदार था, उसे पीछे लेकर बढ़नेवाली हरावल वे ही थे। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की आधी-ग़ैबी संस्था थी, जिसने ब्रिटिश नस्ल की महानता पर आखिरी मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्ज़न ने, जो तीस वर्ष पहले भारत का वाइसराय था और अपने ज़माने के सबसे क़ाबिल अंग्रेज़ों में गिना जाता है, अपनी एक पुस्तक उन लोगों को समर्पण की थी, "जो यह मानते हों कि खुदा परवरदिगार के राज में ब्रिटिश साम्राज्य भलाई की प्रेरणा देनेवाली ऐसी बड़ी ताक़त है, जैसी संसार में आज तक कोई नहीं हुई।"

विक्टोरिया-युग के अंग्रेज़ के बारे में यह सब जो मैं लिख रहा हूँ, वह ज़रा दूर से खींचकर लाई हुई और अनोखी बात मालूम देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मैं उसका मज़ाक उड़ाने की कोशिश कर रहा हूँ। यह ताज्जुब की

बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का बर्ताव करे और ऐसा हैरत-भरा, अहंकार-भरा और अपने मुँह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख ग्रहण करे। लेकिन अपनेको राष्ट्रवादी समुदाय माननेवाले किसी भी चीज़ पर यक़ीन कर लेंगे, अगर वह उनके झूठे अभिमान को गुदगुदानेवाली और उन्हें फ़ायदा पहुँचानेवाली हो। व्यक्तियों को अपने पड़ोसियों के साथ ऐसा भोंडा और ओछा बर्ताव करने का कभी खयाल भी नहीं आता, मगर राष्ट्रों को ऐसा पछतावा नहीं हुआ करता। अफ़सोस की बात है कि हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणों की शेख़ी बघारते फिरते हैं। थोड़े-से फ़र्क़ के साथ विक्टोरिया-युग के अंग्रेज़ का नमूना क़रीब-क़रीब सभी जगह पाया जाता है। यूरोप के सारे राष्ट्रों के अपने-अपने इसी तरह के राष्ट्रीय नमूने हुए हैं और ऐसे ही अमेरिका व एशिया में भी।

इंग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप की ख़ुशहाली का कारण औद्योगिक पूँजीशाही की उन्नति था। यह पूँजीशाही मुनाफ़ों की लगातार खोज में आगे बढ़ी जा रही थी। सफलता और मुनाफ़े ही वहाँ के लोगों की पूजा के देवता बन गये थे, क्योंकि पूँजी-शाही का मज़हब या नेकचलनी से कोई वास्ता नहीं था, यह व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच गला-घोंट होड़बाज़ी का पक्का उसूल था, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम में! विक्टोरिया-युग के लोगों को अपनी मज़हबी उदारता पर अभिमान था। उनका प्रगति और विज्ञान में विश्वास था और व्यापार व साम्राज्य में उनकी सफलता ने उनके लिए यह साबित कर दिया था कि चुने हुए लोग वे ही थे, जो जीवन-संग्राम में विजयी हुए। क्या डार्विन ऐसा नहीं कह गया था? मज़हबी मामलों में उनकी उदारता असल में बेरुख़ी जैसी थी। आर. एच. टानी नामक अंग्रेज़ लेखक ने इस हालत का ख़ूब अच्छा बयान किया है। वह कहता है कि धरती के मामलों से अलग करके ख़ुदा को अपनी जगह बिठा दिया गया है। "स्वर्ग में भी बँधी हुई राजाशाही थी और धरती पर भी!" ख़ुशहाल मध्यम-वर्गों का यही ख़याल था, मगर जनता के लिए गिरजों में जाने को और मज़हब को इस आशा से बढ़ावा दिया जाता था कि इससे कहीं उनमें क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायें। मज़हबी उदारता का मतलब अन्य मामलों में उदारता नहीं था। जिन बातों को बहुमत महत्व देता था, उनमें ज़रा भी उदारता नहीं दिखाई जातीं थी, और किसी भी तरह का खिंचाव होने पर उदारता ग़ायब हो ही जाती है। भारत में भी ब्रिटिश सरकार मज़हब के मामलों में आला दर्जे की उदार है और इस नेकी पर नाज़ करती है। वास्तव में उसे इस बात की ज़रा भी परवाह नहीं कि मज़हब चूल्हे में जाय। लेकिन अगर उसकी राजनीति की या उसके किसी काम की ज़रा भी बुराई की जाय तो फ़ौरन उसके कान खड़े हो जाते हैं, और फिर उसपर कोई उदारता का दोष नहीं लगा सकता! जितना ज़्यादा खिंचाव हो वह उतनी ही नीचे गिर जाती है; और अगर खिंचाव काफ़ी बढ़ जाय तो फिर सरकार

उदारता का सारा बाना उतार फेंकती है और खुले व बेग़ैरत आतंक पर उतर आती है। भारत में हम आज यही देख रहे हैं। कुछ ही दिन हुए, मैंने अख़बार में पढ़ा था कि कुछ अंग्रेज़ कर्मचारियों को धमकी के पत्र लिखने के जुर्म में एक लड़के को, जिसकी उम्र मुश्किल से तेरह-चौदह साल की होगी, आठ वर्ष की सख़्त क़ैद की सज़ा दी गई है!

पूंजीशाही उद्योगों के बढ़ने से बहुत परिवर्तन पैदा हो गये। पूंजीशाही दिन-पर-दिन बड़े पैमाने पर अपना काम करने लगी। छोटे व्यवसायों की बनिस्बत बड़े व्यवसाय चलाना ज़्यादा मुनाफ़े का और ज़्यादा कारगर होता है। इसलिए उद्योगों को मिलकर चलानेवाले कम्पनी-संघ और ट्रस्ट[1] बन गये और वे छोटे-छोटे स्वतन्त्र उत्पादकों और कारख़ानों को हड़प कर गये। इसलिए 'दख़ल न देने' के पुराने विचार इस हालत में खड़े नहीं रह सके। ये ज़बर्दस्त कम्पनी-संघ और ट्रस्ट सरकारों पर भी हावी हो गये।

पूंजीशाही ने साम्राज्यशाही का एक दूसरा और ज़्यादा ख़ूंख्वार ढंग पैदा किया। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में जैसे-जैसे औद्योगिक शक्तियों की होड़ बढ़ने लगी, वैसे-वैसे वे बाज़ारों व कच्चे मालों की तलाश में और भी दूर-दूर मैदानों की तरफ़ निगाहें दौड़ाने लगे। दुनियाभर में साम्राज्य के लिए बड़ी तेज़ छीना-झपटी होने लगी। एशिया में, यानी भारत, चीन, भारत के पूर्ववर्ती देश और ईरान में, जो कुछ हुआ, उसका हाल कुछ ब्यौरे के साथ मैं तुम्हें बता चुका हूँ। अब यूरोप की शक्तियाँ गिद्धों की तरह अफ़्रीका पर टूट पड़ीं और उसे आपस में बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बड़ा हिस्सा ले लिया। उत्तर में मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण में बड़े-बड़े निवाले उसके हाथ लगे। फ़्रान्स भी फ़ायदे में रहा। इटली इस लूट के माल में हिस्सा चाहता था, लेकिन अबीसीनिया ने उसे बुरी तरह हरा दिया और इसपर सभी को अचम्भा हुआ। जर्मनी को भी हिस्सा मिला, पर वह ख़ुश नहीं हुआ। चीख़ती-चिल्लाती, धमकाती, हड़प करती हुई साम्राज्यशाही सब जगह बे-रोक-टोक बढ़ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नामी कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'गोरों का बोझ'[2] के गीत गाये। फ़्रान्सवाले दूसरों को सभ्य बनाने के अपने मिशन की बातें करने लगे। जर्मनों को तो अपनी संस्कृति फैलाना ही था। बस, ये सभ्य बनानेवाले, सुधार करनेवाले और दूसरी क़ौमों का बोझा ढोनेवाले बिलकुल त्याग की भावना लेकर निकल पड़े और गेहुँए, पीले, व काले लोगों

---

[1] किसी माल के उत्पादन व क़ीमतों को हाथ में रखने के लिए या किसी व्यवसाय के प्रबन्ध के लिए कई कम्पनियों का मिलाजुला संगठन।

[2] Whiteman's Burden.

की पीठ पर सवार हो गये। और काले आदमी के बोझ के बारे में किसीने गीत नहीं गाया।

इन तमाम लालची होड़ करने वाले साम्राज्यवादों के लिए इस दुनिया में काफ़ी जगह नहीं थी। हाट-बाज़ारों के लिए खूँख्वार पूँजीशाही उमंग हरेक देश को आगे धकेल रही थी और अक्सर इनके आपस में मुठभेड़ें हो जाती थीं। कई बार ऐसा मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच युद्ध छिड़ते-छिड़ते रह गया। मगर स्वार्थों की असली टक्कर तो अंग्रेज़ी और जर्मन उद्योगों के बीच हुई। उद्योगों और जहाज़रानी की दौड़ में जर्मनी ने इंग्लैण्ड को पकड़ लिया था और वह हर बाज़ार में उसके मुक़ाबले में खड़ा हो रहा था। लेकिन उसने देखा कि धरती के सबसे अच्छे हिस्सों पर इंग्लैण्ड ने पहले ही क़ब्ज़ा जमा रक्खा था। जिस तरह कोई शानदार और तेज़-तर्रार घोड़ा लगाम खींचने पर बिगड़ उठता है, उसी तरह दूसरे राष्ट्रों से रोका जाने पर जर्मनी तैश में आ रहा था और उनके साथ ज़बर्दस्त लड़ाई की ज़ोरों से तैयारी कर रहा था। सारे यूरोप में भी युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं; जल व थल सेनाएँ बढ़ने लगीं। जुदा-जुदा देशों के बीच गुट-बन्दियाँ होने लगीं, यहाँतक कि दो हथियारबन्द दल आमने-सामने खड़े नज़र आने लगे। एक तरफ़ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की तिहरी गुटबन्दी थी और दूसरी तरफ़ रूस और फ़्रान्स की दुहरी गुटबन्दी, जिसके साथ इंग्लैण्ड भी छिपे तौर पर चिपका हुआ था।

इसी बीच उन्नीसवीं सदी के अन्त में इंग्लैण्ड को दक्षिण अफ़्रीका में एक छोटी-सी खानगी लड़ाई लड़नी पड़ी। ट्रान्सवाल के बोअर गणराज्य में सोने की खानें निकल आने की वजह से १८९९ ई० में यह युद्ध हुआ। बोअर लोग यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति के खिलाफ़ तीन साल तक अद्‌भुत दिलेरी व धीरज के साथ लड़े। उन्हें कुचल दिया गया और हार माननी पड़ी। मगर थोड़े ही दिनों बाद अंग्रेज़ों ने बुद्धिमानी और उदारता का काम किया कि अपने कुछ ही दिन पहले के दुश्मनों को पूरा स्वराज दे दिया। उस समय उदार-दल का मन्त्रिमण्डल था। कुछ समय बाद सारा दक्षिण अफ़्रीका ब्रिटिश साम्राज्य का स्वतन्त्र उपनिवेशी राज्य बन गया।

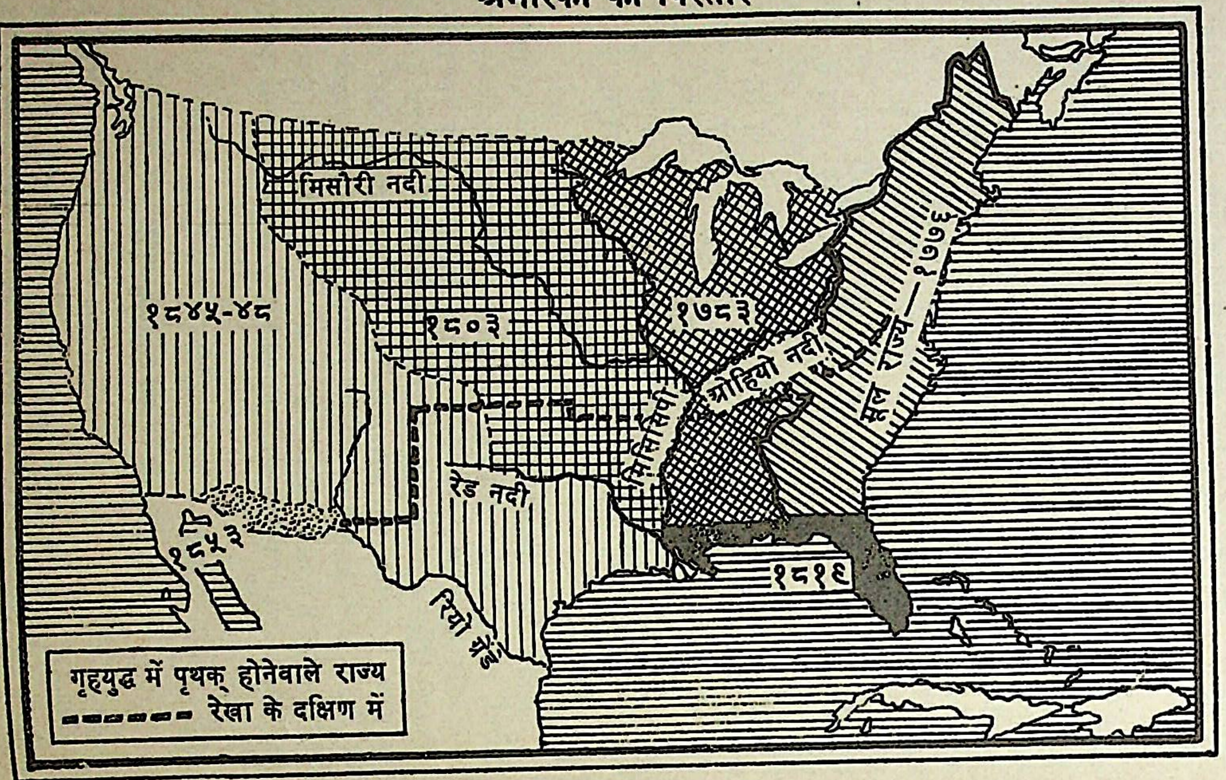
: १३७ :

अमेरिका में गृह-युद्ध

२७ फ़रवरी, १९३३

पुरानी दुनिया व उसके झगड़ों व साज़िशों ने, उसके बादशाहों और क्रान्तियों ने, उसकी नफ़रतों व राष्ट्रवादों ने, हमारा बहुत ज़्यादा समय ले लिया। अब ज़रा

अमेरिका का विस्तार


मिसौरी नदी
१८४५-४८
१८०३
१७८३
मूल राज्य—१७७६
ओहियो नदी
मिसिसिपी
रेड नदी
१८१९
१८५३
रियो ग्रैंड
गृहयुद्ध में पृथक् होनेवाले राज्य
रेखा के दक्षिण में

अतलान्तिक महासागर को पार करके अमेरिका की नई दुनिया में चलकर देखें कि यूरोप के लालची पञ्जे से छुटकारा पाने के बाद इसपर कैसी बीती। संयुक्त राज्य पर हमें खासतौर से ध्यान देने की ज़रूरत है। छोटी-सी शुरुआत से बढ़ते-बढ़ते अन्त में आज यह सारे संसार की हालत पर छाया हुआ मालूम दे रहा है। इंग्लैण्ड का पुराना गौरव आज नहीं रहा। वह अब संसार का साहूकार नहीं रहा, बल्कि यूरोप के सारे दूसरे देशों की तरह वह भी एक अभागा क़र्ज़दार देश है, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका से दया व उदारता के बर्ताव की भीख माँगनी पड़ रही है। साहूकार की पगड़ी अब अमेरिका के सिर बंध गई है; दौलत की नदी उसकी ओर बह रही है; और वह करोड़पतियों के ढेर-के-ढेर पैदा कर रहा है। पुरानी दन्तकथा के मीदास की तरह हर चीज़ को छूकर सोना बनाने का वरदान उसे ज्यादा आनन्द नहीं दे रहा है और बेशुमार करोड़पतियों के होते हुए भी उसकी जनता आज भी तंगी और ग़रीबी भुगत रही है।

समुद्र-तट के जिन तेरह राज्यों ने १७७५ ई० में इंग्लैण्ड से रिश्ता तोड़ लिया था, उनकी आबादी चालीस लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आबादी उससे क़रीब दुगुनी है और सारे संयुक्त राज्य की साढ़े बारह करोड़ है। इस संघ में अब पहले से बहुत ज्यादा राज्य हैं और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक ठेठ प्रशान्त महासागर तक फैले हुए हैं। उन्नीसवीं सदी में इस लम्बे-चौड़े देश के विस्तार और आबादी में ही नहीं बल्कि इसके आधुनिक उद्योगों व व्यवसायों में दौलत व प्रभाव में, लगातार बढ़ोतरी हुई। संयुक्त राज्य को बहुत कठिनाइयों व झगड़ों का सामना करना पड़ा और यूरोप के साथ युद्ध और उलझाव भी हुए, लेकिन इसपर पड़नेवाली सबसे बड़ी आफ़त थी उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच दुश्मनी और तबाही का गृह-युद्ध।

अमेरिका के आज़ाद होने के कुछ ही साल बाद फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति हुई और उसके पीछे नेपोलियनी युद्ध हुए। नेपोलियन और इंग्लैण्ड दोनों एक-दूसरे के वाणिज्य को नष्ट कर देना चाहते थे और इस कोशिश में उनकी संयुक्त राज्य से मुठभेड़ हो गई। समुद्र-पार के देशों से अमेरिका का व्यापार बिलकुल चौपट हो गया और इसके नतीजे से १८१२ ई० में इंग्लैण्ड के साथ उसका दूसरा युद्ध छिड़ गया। इन दो वर्षों के युद्ध का कोई खास नतीजा नहीं निकला। इस युद्ध के दौरान, जब नेपोलियन एल्बा में ठिकाने लगा दिया गया और इंग्लैण्ड को उधर से छुट्टी मिल गई, तो अंग्रेज़ों ने किसी तरह अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन पर क़ब्ज़ा कर लिया और वहाँ की बड़ी-बड़ी सभी सरकारी इमारतें जला डालीं। इनमें कैपिटोल, जहाँ काँग्रेस के अधिवेशन होते हैं, और ह्वाइट हाउस, जिसमें राष्ट्र-पति रहते हैं, शामिल थे। बाद में अंग्रेज़ों को हरा दिया गया।

इस युद्ध से पहले ही अमेरिका ने दक्षिण में एक बहुत बड़ा प्रदेश अपने इलाक़े में मिला लिया था। यह फ़्रान्स का लुइसियाना नामक पुराना उपनिवेश था। अंग्रेज़ी जंगी-बेड़े के हमलों से इसको बचाने का कोई रास्ता न देखकर नेपोलियन ने इसे अमेरिका के हाथ बेच दिया था। कुछ साल बाद, १८२२ ई० में, उसने स्पेन से ख़रीदकर फ़्लोरिडा को मिला लिया और १८४८ ई० में मैक्सिको से युद्ध जीतकर कैलीफ़ोर्निया समेत कई और राज्य दक्षिण-पश्चिम में ले लिये। इस दक्षिण-पश्चिमी भाग में अब भी बहुत-से नगरों के नाम स्पेनी हैं और उन दिनों की याद दिलाते हैं जब वहाँ स्पेनवालों का या स्पेन की भाषा बोलनेवाले मैक्सिको-निवासियों का राज था। सिनेमा-जगत के बड़े शहर लॉस एन्जेलिस और सान फ़्रान्सिस्को के नाम सभी ने सुने हैं।

जिस समय यूरोप क्रान्तियों की और दमन की बार-बार कोशिशें कर रहा था, उसी समय संयुक्त राज्य पश्चिम की ओर फैलता जा रहा था। यूरोप में दमन की वजह से लोग अपने-अपने देश छोड़कर जा रहे थे और लम्बे-चौड़े इलाक़ों व ऊँची मजूरियों की कहानियाँ उन्हें बड़ी संख्या में यूरोप के देशों से अमेरिका की तरफ़ खींच रही थीं। जैसे-जैसे पश्चिम में आबादी बढ़ी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते गये और संघ में शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच शुरू से ही बड़ा फ़र्क़ था। उत्तरी राज्य औद्योगिक थे और वहाँ बड़ी-बड़ी मशीनोंवाले नये-नये उद्योग तेजी से बढ़ रहे थे; दक्षिण में बड़े-बड़े बागान थे, जिनमें ग़ुलाम मज़दूर काम करते थे। ग़ुलामी की प्रथा क़ानून से जायज़ थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नहीं करते थे और वहाँ उसका कोई महत्व भी नहीं था। दक्षिण तो पूरी तरह ग़ुलाम मज़दूरों पर ही निर्भर था। ये ग़ुलाम अफ़्रीका के हब्शी ही होते थे। गोरा एक भी ग़ुलाम नहीं था। स्वाधीनता की घोषणा में कहा गया था कि "सब मनुष्य जन्म से बराबर हैं", पर यह बात गोरों पर ही लागू होती थी, कालों पर नहीं।

इन हब्शियों को अफ़्रीका से किस तरह लाया जाता था, यह कहानी बड़ी दर्दनाक है। ग़ुलामों का व्यापार सत्रहवीं सदी की शुरुआत में शुरू हुआ था और १८६३ ई० तक ग़ुलामों की आमद बराबर जारी रही। शुरू में तो अफ़्रीका के पश्चिमी समुद्र-तट से गुज़रने वाली माल-लद्दू नावें जब कभी आसानी से अफ़्रीकियों को पकड़ पातीं तो उन्हें अमेरिका ले जातीं। इस समुद्र-तट का एक हिस्सा अब भी 'ग़ुलामों का तट' कहलाता है। ख़ुद अफ़्रीका के निवासियों में ग़ुलामी का रिवाज बहुत कम था; सिर्फ़ युद्धबन्दियों और क़र्ज़दारों के साथ ही ग़ुलामों का-सा बर्ताव किया जाता था। अफ़्रीकियों को अमेरिका ले जाकर ग़ुलामों की तरह बेच देने का यह धन्धा बड़े मुनाफ़े का पाया गया। ग़ुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें

ज्यादातर अंग्रेज़ों, स्पेनियों और पुर्तगालियों ने व्यापार की तरह पैसा लगाया। गुलामों के व्यापार के लिए खास तरह के जहाज़ बनाये गए थे, जिनकी छतों के बीच में दुछत्ती कोठरियाँ होती थीं। उनमें ये अभागे हब्शी ज़ंजीरों से कसे हुए और दो-दो के पैरों में साथ बेड़ियाँ डालकर पड़े रहने को मजबूर किये जाते थे। अतलान्तिक महासागर-पार के समुद्री सफ़र में बहुत हफ़्ते और कभी-कभी महीनों लग जाते थे। इन तमाम हफ़्तों और महीनों में ये हब्शी इन तंग कोठरियों में ज़ंजीरों से बँधे पड़े रहते और हरेक को सिर्फ़ साढ़े पाँच फ़ुट लम्बी और सोलह इंच चौड़ी जगह दी जाती थी।

गुलामों के व्यापार की नींव पर लिवरपूल बहुत बड़ा शहर बन गया। १७१३ ई० में ही जब यूट्रेक्ट की सन्धि हुई तो इंग्लैण्ड ने अफ़्रीका और स्पेनी अमेरिका के बीच गुलामों को ले जाने की सहूलियत स्पेन से छीन ली। इससे पहले भी इंग्लैण्ड अमेरिका के अंग्रेज़ी प्रदेशों में गुलाम पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवीं सदी में अफ़्रीका और अमेरिका के बीच गुलामों के व्यापार को अंग्रेज़ों की ठेकेदारी बनाने की कोशिश की गई। १७३० ई० में लिवरपूल के पन्द्रह जहाज़ इस धन्धे में लगे हुए थे। यह संख्या बढ़ते-बढ़ते १७९२ ई० में १३२ तक जा पहुँची। औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के दिनों में इंग्लैण्ड के लंकाशायर में रुई की कताई का उद्योग बहुत उन्नति कर गया और इसकी वजह से संयुक्त राज्य में गुलामी की माँग बढ़ गई। क्योंकि लंकाशायर की मिलों में खपनेवाली रुई अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के बड़े-बड़े कपास-बागानों से आती थी। इन बागानों का तेजी के साथ विस्तार हुआ, अफ़्रीका से गुलाम भी ज्यादा आने लगे और हब्शियों की नस्ल बढ़ाने की भी हर तरह से कोशिश की गई। १७९० ई० में संयुक्त राज्य में गुलामों की संख्या ६,९७,००० थी; १८६१ ई० में यह बढ़कर ४०,००,००० हो गई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के खिलाफ़ कड़े क़ानून पास किये। यूरोप और अमेरिका के दूसरे देशों ने भी ऐसा ही किया। लेकिन गुलामों का व्यापार इस तरह ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया जाने पर भी हब्शियों का अफ़्रीका से अमेरिका ले जाया जाना जारी रहा। फ़र्क़ यह हुआ कि सफ़र में उनकी और भी ज़्यादा बुरी हालत होने लगी। उन्हें चौड़े-धाड़े तो ले नहीं जाया जा सकता था, इसलिए तले-ऊपर सरकवाँ डाँडों पर लोगों की नज़रों से छिपाया जाता था। एक अमेरिकी लेखक लिखता है : "कभी-कभी भरी हुई टोबॉगन[1] पर सवार होनेवालों की तरह उन्हें एक-दूसरे की गोदी में टाँग-पर-टाँग रखकर लाद दिया जाता था!" इस जुल्म की कल्पना भी करना दुश्वार है। उन जहाज़ों की हालत इतनी गन्दी हो जाती थी कि चार-पाँच यात्राओं के बाद उन्हें रद्दी कर देना पड़ता

[1] Toboggan—बर्फ़ पर चलनेवाली पहियों की गाड़ी।

था। मगर मुनाफ़ा बहुत ज़बर्दस्त होता था, और अठारहवीं सदी के अन्त व उन्नीसवीं के शुरू में, जब यह व्यापार चोटी पर था, तो अफ़्रीका के 'ग़ुलामों के तट' से हर वर्ष एक लाख के क़रीब ग़ुलाम ले जाये जाते थे। याद रहे कि इतने सारे ग़ुलामों को ले जाने का यह मतलब था कि हब्शियों को पकड़ने के लिए जो छापे मारे जाते थे, उनमें इनसे कहीं ज़्यादा मौत के घाट उतार दिये जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में या उसके आस-पास सभी बड़े-बड़े देशों ने इस व्यापार को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया। संयुक्त राज्य तक ने भी यही किया। हालाँकि इस तरह ग़ुलामी का व्यापार ग़ैर-क़ानूनी हो गया, मगर अमेरिका में ग़ुलामी जायज़ ही मानी जाती रही, यानी वहाँ पुराने ग़ुलाम फिर भी ग़ुलाम ही बने रहे। और चूंकि ग़ुलामी जायज़ थी, इसलिए मनाई होने पर भी ग़ुलामों का व्यापार जारी रहा। जब इंगलैण्ड ने भी ग़ुलामी-प्रथा उठा दी, तब ग़ुलामों के व्यापार के लिए न्यूयार्क सबसे बड़ा बन्दरगाह हो गया।

हालाँकि उन्नीसवीं सदी के बीच तक कितने ही साल न्यूयार्क इस व्यापार का बन्दरगाह रहा, फिर भी अमेरिका के उत्तरी राज्य ग़ुलामी के ख़िलाफ़ थे। लेकिन दूसरी तरफ़ दक्षिणवालें को अपने बाग़ानों में काम करने के लिए इन ग़ुलामों की ज़रूरत थी। कुछ राज्यों ने ग़ुलामी-प्रथा उठा दी और कुछने रहने दी। हब्शी लोग ग़ुलामीवाले राज्यों से भागकर ग़ैर-ग़ुलामीवाले राज्यों में चले जाते थे और उनके बारे में झगड़े होते थे।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और उनके बीच १८३० ई० में ही तट-करों व चुंगियों के मामले में कशमकश पैदा हो गई। संघ से अलग हो जाने की धमकियाँ दी गईं। राज्य अपने-अपने हक़ों के बारे में ख़बरदार थे और संघ-सरकार की बहुत ज़्यादा दस्तन्दाज़ी पसन्द नहीं करते थे। देश में दो दल हो गये। एक तो हर राज्य की प्रभुता का तरफ़दार था, दूसरा मज़बूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। इन मतभेदों से उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई चौड़ी होती गई और जहाँ कहीं नये राज्य संघ में शामिल होते थे वहीं यह सवाल उठता था कि वे किस पक्ष का समर्थन करेंगे। बहुमत किधर होगा? उत्तर की आबादी तेज़ी से बढ़ रही थी, क्योंकि यूरोप के लोग आ-आकर वहाँ बस रहे थे। इससे दक्षिण के लोगों को डर हुआ कि उत्तर की बढ़ी हुई संख्या उन्हें दबा लेगी और हर सवाल पर ज़्यादा वोट देकर उन्हें हरा देगी। इसलिए उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता गया।

इसी बीच उत्तर में ग़ुलामी की प्रथा बिलकुल उठा देने का आन्दोलन खड़ा हुआ। इस आन्दोलन के समर्थक 'अबोलिशनिस्ट्स' कहलाते थे। उनका सबसे बड़ा नेता विलियम लॉयड गैरीज़न था। १८३१ ई० में गैरीज़न ने ग़ुलामी-

विरोधी आन्दोलन के समर्थन के लिए 'लिबरेटर' नामक अख़बार निकाला। इसके पहले ही अंक में उसने साफ़ कर दिया कि इस मामले में वह कोई समझौता नहीं करेगा और न मुलायमियत रक्खेगा। उस अंक के कुछ वाक्य बहुत मशहूर हो गये हैं और मैं उन्हें यहाँ दिये देता हूँ:

> "मैं सत्य के समान कठोर और न्याय की तरह अटल रहूँगा। इस विषय पर मैं मुलायमी से सोचना, बोलना या लिखना नहीं चाहता। नहीं! नहीं! जिसके घर में आग लगी हो, उसे मुलायमी के साथ चिल्लाने को कहो; उसे बलात्कारी के हाथों से अपनी पत्नी को मुलायमी से छुड़ाने के लिए कहो; माता से कहो कि आग में पड़े हुए अपने बच्चे को धीरे-धीरे बाहर निकाले; लेकिन इस जैसे उद्देश्य में मुलायमी बरतने के लिए मुझपर ज़ोर मत डालो। मैंने पक्का निश्चय कर लिया है। मैं गोलमोल बात नहीं कहूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा, मैं तिलभर भी पीछे नहीं हटूँगा; और मेरी बातें सुननी ही पड़ेंगी।"

लेकिन दिलेरी का यह रवैया थोड़े-से लोगों में ही था। जो लोग ग़ुलामी के ख़िलाफ़ थे, उनमें से ज़्यादातर यह नहीं चाहते थे कि जहाँ ग़ुलामी मौजूद है वहाँ उसमें दख़ल दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता ही गया, क्योंकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और तट-कर के सवालों पर ख़ासतौर पर आपस में टकराते थे।

१८६० ई० में अब्राहम लिंकन संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति चुना गया और उसका चुनाव दक्षिणवालों के लिए विलग हो जाने का संकेत हो गया। लिंकन ग़ुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने साफ़ कह दिया कि जहाँ ग़ुलामी पहले से मौजूद है, वहाँ उसे नहीं छेड़ा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि यह नये राज्यों में भी चालू की जाय या इसे क़ानूनी बना दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण की तसल्ली नहीं हुई और एक-एक करके कई राज्य संघ से अलग हो गये। संयुक्त राज्य टुकड़े-टुकड़े हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयंकर सूरत थी। उसने दक्षिण को राज़ी करने की और इस अंग-भंग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हें सब तरह के आश्वासन दिये कि ग़ुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहाँतक कह दिया कि वह ग़ुलामी को (जहाँ मौजूद है) संविधान में शामिल करने को भी तैयार है जिससे कि ग़ुलामी हमेशा के लिए क़ायम रह जाती। असल में वह शान्ति की ख़ातिर किसी भी हद तक जाने को राज़ी था, पर वह एक बात को मंजूर नहीं कर सकता था, और वह थी संघ का टुकड़े-टुकड़े होना। किसी राज्य का संघ से अलग होने का हक़ वह क़तई मानने को तैयार नहीं था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें असफल रहीं। दक्षिण ने अलग हो जाने का फ़ैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ दूसरे सरहदी राज्यों की भी सहानुभूति थी। अलग होनेवाले राज्य अपने को 'कॉन्फ़ेडेरेट राज्य'[1] कहने लगे और उन्होंने जेफ़र्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। १८६१ ई० के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड़ गया और पूरे चार वर्ष तक घिसटता रहा। इस युद्ध में कितने ही भाई भाइयों से और मित्र मित्रों से लड़े। जैसे-जैसे युद्ध चला, दोनों तरफ़ बड़ी-बड़ी फ़ौजें खड़ी हो गईं। उत्तर के पास बहुत सहूलियतें थीं, उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और उद्योगों का इलाक़ा था, इसलिए उसके साधन बहुत ज्यादा थे और उसके यहाँ रेलें भी ज्यादा थीं। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सिपाही और सेनापति थे—जिनमें जनरल ली खास था। इसलिए शुरू-शुरू में सारी जीतें दक्षिण के ही हाथ रहीं। लेकिन अन्त में दक्षिण लड़ते-लड़ते कमज़ोर हो गया। उत्तर के जंगी-बेड़े ने दक्षिण का सम्बन्ध यूरोप में उसके बाज़ार से बिलकुल काट दिया और कपास व तम्बाखू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपाहिज हो गया। लेकिन इसका लंकाशायर पर भी तबाही करनेवाला असर हुआ। वहाँ कपास न पहुँचने से बहुत-सी मिलें बन्द हो गईं। लंकाशायर के मज़दूर बेकार हो गये और सख्त मुसीबतों में पड़ गये।

इस युद्ध के बारे में अंग्रेजी लोकमत की आमतौर पर दक्षिणवालों के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम मालदार वर्गों की राय दक्षिण के पक्ष में थी। वाम-दली लोग उत्तर के हिमायती थे।

गृह-युद्ध का सबसे बड़ा कारण ग़ुलामी नहीं था। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, लिंकन अन्त तक आश्वासन देता रहा था कि ग़ुलामी की प्रथा जहाँ-कहीं मौजूद हो, वहाँ वह उसे मानने को तैयार था। झगड़े की जड़ तो असल में दक्षिण और उत्तर के ज़ुदा-जुदा और कुछ-कुछ आपस में टकरानेवाले आर्थिक स्वार्थ थे; और अन्त में लिंकन को संघ को बचाने के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध छिड़ जाने के बाद भी लिंकन ने ग़ुलामी-प्रथा के बारे में कोई साफ़ बयान नहीं दिया, क्योंकि उसे डर था कि उत्तर में ग़ुलामी के बहुत-से समर्थक कहीं भड़क न जायें। हाँ, जैसे-जैसे युद्ध चलता गया वैसे-वैसे वह ज्यादा पक्का होता गया। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि कांग्रेस मालिकों को मुआवज़ा देकर ग़ुलामों को आज़ाद करा दे। बाद में उसने मुआवज़ा देने का विचार छोड़ दिया और अन्त में, १८६२ ई० के सितम्बर में, उसने जो 'मुक्ति की घोषणा'[2] निकाली, उसमें यह ऐलान कर दिया कि १८६३ ई० की

[1] Confederate States.
[2] Proclamation of Emancipation.

पहली जनवरी से सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत करनेवाले सब राज्यों के ग़ुलाम आज़ाद हो जाने चाहिए। इस घोषणा के निकालने का ख़ास कारण शायद यह था कि वह युद्ध में दक्षिण को कमज़ोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख ग़ुलाम आज़ाद हो गये और यह पूरी आशा थी कि कॉन्फ़ेडेरेट राज्यों में ये लोग बखेड़ा खड़ा कर देंगे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये तो १८६५ ई० में गृह-युद्ध ख़त्म हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयंकर चीज़ है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी ज़्यादा भयानक होता है। चार वर्ष की इस भयानक लड़ाई का बोझ सबसे ज़्यादा राष्ट्र-पति लिंकन पर पड़ा और उसका जो नतीजा निकला, वह भी बहुत-कुछ उसीकी वजह से था कि उसने तमाम निराशाओं और आफ़तों के बावजूद हिम्मत नहीं हारी। उसे सिर्फ़ जीतने की ही धुन नहीं थी, बल्कि वह चाहता था कि जीत में जहाँतक हो सके कम-से-कम कड़वापन हो, ताकि जिस संघ की ख़ातिर वह लड़ रहा था वह दिलों की सच्ची एकता हो और ज़बर्दस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध में विजयी होते ही उसने हारे हुए दक्षिण के साथ उदारता का सलूक शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिंकन की गिनती अमेरिका के सबसे बड़े नायकों में है। संसार के महापुरुषों में भी उसने जगह ले ली है। उसका जन्म बहुत ग़रीब घर में हुआ था; उसने किसी स्कूल में शिक्षा नहीं पाई थी, जो कुछ शिक्षा उसने हासिल की वह ज़्यादातर अपनी ही मेहनत से की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान् राजनीतिज्ञ और वक्ता बन गया, और उसने एक भारी संकट में से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमेरिका की कांग्रेस ने दक्षिणी गोरों के साथ उतनी उदारता नहीं दिखाई, जितनी कि शायद लिंकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरों को कई तरह की सज़ाएँ दी गईं और बहुतों का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियों को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज़ को अमेरिका के संविधान में शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी नस्ल, रंग या पहले की ग़ुलामी के कारण, मताधिकार से महरूम नहीं कर सकेगा।

हब्शी लोग अब क़ानूनी तौर पर आज़ाद हो गये और उन्हें वोट देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हें कोई फ़ायदा नहीं हुआ, क्योंकि उनकी माली हालत वैसी-की-वैसी ही रही। आज़ाद किये गए हब्शियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं थी और यह एक समस्या हो गई कि उनके साथ कैसे बरता जाय।

कुछ हब्शी उत्तर के शहरों में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वहीं बने रहे और वे दक्षिण में अपने पुराने गोरे मालिकों की मुट्ठी में वैसे ही रहे आये। वे पुराने बागानों में रोज़ाना मज़दूरों की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते वही उन्हें लेनी पड़ती। दक्षिण के गोरों ने आतंक के ज़रिये हर तरह हब्शियों को दबाये रखने के लिए संगठन भी कर लिया। उन्होंने 'कू क्लक्स क्लैन'[1] नामक एक अजीब संगठन बना लिया, जो ज़ाहिर भी था और खुफ़िया भी। इसके सदस्य बुर्क़े पहन-पहनकर हब्शियों को डराते फिरते थे और उन्हें चुनावों में वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षों में हब्शियों ने कुछ प्रगति की है। बहुतों के पास सम्पत्ति भी हो गई और उनकी कई बढ़िया शिक्षा-संस्थाएँ हैं। फिर भी अभी तक वे पूरी तरह पराधीन नस्ल हैं। संयुक्त राज्य में उनकी संख्या एक करोड़ बीस लाख के क़रीब यानी सारी आबादी का क़रीब दसवाँ हिस्सा है। जहाँ कहीं उनकी संख्या थोड़ी है, वहाँ उन्हें बर्दाश्त कर लिया जाता है, जैसा कि उत्तर के कुछ हिस्सों में होता है। मगर ज्योंही उनकी संख्या बढ़ने लगती है त्योंही उनकी मुसीबत आ जाती है और उन्हें यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने ग़ुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं है। होटलों, रैस्तोरन्तों, गिरजों, कॉलेजों, बाग़ों, स्नान करने के समुद्री घाटों, ट्रामगाड़ियों और बिक्री भण्डारों तक में, सभी जगह, उन्हें अछूतों की तरह गोरों से अलग रक्खा जाता है! रेलों में उन्हें खास डिब्बों में बैठना पड़ता है जो 'जिम-क्रो गाड़ियाँ'[2] कहलाती हैं। गोरों और हब्शियों के बीच विवाह-सम्बन्ध क़ानून से मना है। सच तो यह है कि तरह-तरह के विचित्र क़ानून हैं। अभी १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक क़ानून बनाकर गोरों और कालों का एक आँगन में साथ-साथ बैठना भी रोक दिया है।

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर नस्ली दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर 'लिञ्च' करने की दिल दहलानेवाली वारदातें होती रहती हैं; यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड़ उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं कि गोरों की भीड़ ने हब्शियों को खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया।

---

[1] अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के गोरों की गुप्त समिति, जो १८६५ ई० में स्थापित हुई। इसका काम हब्शियों को दण्ड देना था। यह १८७६ ई० में तोड़ दी गई थी परन्तु १९१५ ई० में फिर जाग उठी। फिर १९२८ ई० के बाद शान्त हो गई। इसने हब्शियों तथा कैथलिकों को बहुत आतंकित किया और अनेक हत्याएँ भी कीं।

[2] Jim Crow Cars.

यों तो सारे अमेरिका में ही, पर खासतौर पर दक्षिण राज्यों में हब्शियों के लिए अब भी बहुत मुसीबतें हैं। अक्सर जब मजदूरों का मिलना कठिन हो जाता है तब दक्षिण के कुछ राज्यों में बेक़सूर हब्शियों को किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन क़ैदी मजदूरों को खानगी ठेकेदारों को किराये पर दे दिया जाता है। यह चीज़ तो बहुत बुरी है ही, मगर इसके साथ की हालतें तो दिल दहलानेवाली हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर क़ानूनी आज़ादी ही कोई बहुत बड़ी चीज़ नहीं होती।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'अंकल् टॉम्स केबिन'[1] पढ़ी है, या उसका नाम सुना है? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यों के पुराने हब्शी गुलामों के बारे में है और इसमें उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह गृह-युद्ध से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और अमेरिका के लोगों को गुलामी के खिलाफ़ भड़काने में इसका बड़ा असर पड़ा था।

: १३८ :

अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फ़रवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमेरिका के नौजवानों की जानों की भयंकर क़ुर्बानी ली और वह क़र्ज़ का भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और शक्ति से भरा था, इसलिए इसकी बढ़वार जारी रही। उसके पास ज़बर्दस्त क़ुदरती साधन थे और खनिज पदार्थों की खास बहुतायत थी। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीज़ें आधुनिक उद्योगों और सभ्यता का आधार हैं, यहाँ भरी पड़ी थीं। देश में जल-शक्ति का भी भण्डार था, जिससे बिजली की शक्ति पैदा की जा सकती थी। इस सिलसिले में नियागरा जल-प्रपात (ऊपर से गिरनेवाले पानी की चादर) की एक मिसाल तो तुम्हें याद आ ही जायगी। यह बहुत लम्बा-चौड़ा देश था, जिसकी आबादी कम थी और हरेक आदमी के लिए पैर पसारने की काफ़ी जगह थी। इसलिए एक बड़ा उत्पादक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सहूलियतें इसे मिली हुई थीं और वह इस रास्ते पर बहुत तेज़ी के साथ बढ़ने लगा। १८८० ई० तक पहुँचते-पहुँचते अमेरिका के उद्योग मण्डियों में ब्रिटिश उद्योगों का मुक़ाबला करने लग गये थे। इंग्लैण्ड ने विदेशी व्यापार पर सौ वर्षों से अपनी जो

---

[1] Uncle Tom's Cabin—इसका हिन्दी-अनुवाद 'टाम काका की कुटिया' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुआ है।

प्रभुता आसानी के साथ जमा रक्खी थी, उसे अमेरिका और जर्मनी ने खत्म कर दिया।

इस देश में बाहर से लोग धड़ाधड़ आकर बसने लगे। यूरोप से सब तरह के लोग आये; जैसे जर्मन, स्केन्दीनेवी, आयरी, इतालवी, पोल, वग़ैरा। इनमें-से बहुत-से तो अपने देशों में होनेवाले राजनीतिक आतंक से भागकर आये थे और बहुत-से गुज़ारे के अच्छे साधनों की तलाश में। हद से ज़्यादा घनी आबादी-वाले यूरोप ने अपनी फ़ालतू आबादी अमेरिका में भरना शुरू कर दिया। नस्लों, राष्ट्रीय क़ौमों, भाषाओं और मज़हबों का यह एक अनोखा तालमेल था। यूरोप में ये सब अपनी-अपनी छोटी-सी दुनिया में अलग-अलग रहते थे और इनके दिल दूसरों के लिए नफ़रत और बैर से भरे रहते थे; यहाँ वे एक ही साथ, एक नये वातावरण में आ पड़े, जहाँ पुरानी नफ़रत की कोई गिनती नज़र नहीं आती थी। लाज़िमी शिक्षा की इकसार प्रणाली ने इनके राष्ट्रीय नुकीलेपनों को घिस डाला और नस्लों की इस खिचड़ी में से अमेरिकी नमूना पैदा होने लगा। पुराने-एंग्लो-सेक्सन वंश के लोग अपनेको कुलीन समझते थे; यही समाज के अगुआ थे। इनके बाद, पर इनके क़रीब, उन नस्लों का दर्जा था, जो उत्तरी यूरोप से आई थीं। उत्तरी यूरोप के ये लोग दक्षिण यूरोप से आये हुए लोगों को, खासकर इटलीवालों को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हें हिक़ारत से 'डेगो'[1] कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो बिलकुल अलग-अलग थे ही। ये सबसे नीचे दर्जे के समझे जाते थे और किसी भी गोरी नस्ल से मिलते-जुलते नहीं थे। पश्चिमी समुद्र के तट पर कुछ चीनी, जापानी और भारतीय आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब वहाँ मज़दूरों की माँग बहुत ज़्यादा थी। ये एशियाई नस्लें भी औरों से अलग-अलग रहती थीं।

रेलमार्गों और टेलीग्राफ़ों के जाल सब जगह बिछ जाने से यह लम्बा-चौड़ा देश एक सूत्र में बँध गया। बीते दिनों में यह सम्भव नहीं था, क्योंकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में हफ़्तों और महीनों लग जाते थे। हम देख चुके हैं कि पुराने ज़माने में एशिया और यूरोप में अक्सर बड़े-बड़े साम्राज्य क़ायम हुए, लेकिन आवा-जाई और माल-ढुलाई की कठिनाइयों के कारण वे सब एक सूत्र में नहीं बँध पाये। साम्राज्य के जुदा-जुदा भाग एक तरह से स्वाधीन होते थे और अलग-अलग अपना काम-काज करते थे, सिवाय इसके कि वे सम्राट् को सर्वोपरि मानते थे और उसे खिराज देते थे। ये साम्राज्य असल में एक अध्यक्ष के मातहत कई देशों के ढीले-ढाले गुट्ट होते थे। इन सबका कोई एक-सा नज़रिया नहीं पाया जाता था। लेकिन अमेरिका के संयुक्त राज्य में रेलों और आवा-जाई के

[1] Dego—अर्थात् गेहुँआ वर्णवाले विदेशी।

दूसरे साधनों और इकसार शिक्षा-प्रणाली के कारण वहाँ की जुदा-जुदा नस्लों में एक-सा नज़रिया पैदा हो गया। ये नस्लें धीरे-धीरे मिलकर एक वंश बन गईं। यह प्रक्रिया अभी तक पूरी नहीं हुई है; इसका सिलसिला अभी तक जारी है। इतने बड़े पैमाने पर घुल-मिल जाने की कोई दूसरी मिसाल इतिहास में नहीं मिलती।

संयुक्त राज्य ने यूरोप के झगड़े-टण्टों और यूरोपीय शक्तियों की साज़िशों से दूर रहने की कोशिश की और वे चाहते थे कि यूरोप भी अमेरिका से दूर रहे, फिर चाहे वह दक्षिणी अमेरिका हो या उत्तरी अमेरिका। मैं तुम्हें 'मुनरो सिद्धान्त' के बारे में बता चुका हूँ। जब कुछ यूरोपीय शक्तियों के 'पवित्र गठ-बन्धन' ने दक्षिण अमेरिका में स्पेनी साम्राज्य की रक्षा के लिए दखल देना चाहा, तब संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति मुनरो ने इस नियम की घोषणा की थी। इस घोषणा में उसने कहा था कि संयुक्त राज्य सारे अमेरिका में किसी यूरोपीय शक्ति की फ़ौजी दस्तन्दाज़ी बर्दाश्त नहीं करेगा। इस घोषणा ने दक्षिणी अमेरिका के कम उम्र गणराज्यों को यूरोप के फन्दे से बचा लिया। इसकी वजह से इंग्लैण्ड से एक बार युद्ध होते-होते बच गया, लेकिन अमेरिका इस नीति पर आज सौ साल से ज़्यादा हुए, डटा हुआ है।

दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी अमेरिका में बहुत फ़र्क़ था और सौ वर्ष के समय में भी इस फ़र्क़ में कोई कमी न हुई। उत्तर में कनाडा दिन-दिन संयुक्त राज्य के समान बनता जा रहा है। लेकिन दक्षिण अमेरिका के गणराज्य वैसे नहीं बन रहे हैं। मैंने तुम्हें पहले बताया है कि दक्षिण अमेरिका के ये गणराज्य, जिनमें मैक्सिको भी शामिल है—हालाँकि वह उत्तरी अमेरिका में है—लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। अमेरिका और मैक्सिको की सरहद दो जुदा-जुदा क़ौमों और संस्कृतियों को अलहदा करती है। इस सरहद के दक्षिण में मध्य-अमेरिका की पतली पट्टी के उस पार और दक्षिण अमेरिका के बड़े महाद्वीप-भर में जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। वास्तव में वहाँ स्पेनी भाषा का ही ज़ोर है, क्योंकि मेरा ख़याल है कि पुर्तगाली सिर्फ़ ब्राज़ील में ही बोली जाती है। दक्षिणी अमेरिका के सबब से ही स्पेनी भाषा आज संसार की बड़ी भाषाओं में गिनी जाती है। लातीनी अमेरिका अब भी संस्कृति सीखने के लिए स्पेन की ही तरफ़ देखता है। संयुक्त राज्य और कनाडा में नस्ली वर्ग-भेद जितना महत्व रखते हैं, उतना लातीनी अमेरिका में नहीं। स्पेनी वंश के लोगों और अमेरिका के आदि निवासियों, यानी रेड इण्डियनों, और कुछ हद तक हब्शियों के बीच, आपसी विवाह-सम्बन्धों से यहाँ मिलावटी नस्ल पैदा हो गई है।

सौ वर्षों की आज़ादी के बावजूद भी लातीनी अमेरिका के ये गणराज्य शान्ति के साथ रहना पसन्द नहीं करते। समय-समय पर इन देशों में क्रान्तियाँ

और फ़ौजी तानाशाहियाँ होती रहती हैं और यहाँ की हरदम बदलनेवाली राजनीति और सरकारों के दौर को समझना आसान नहीं है। दक्षिण अमेरिका के तीन बड़े देश, आर्जेन्टिना, ब्राज़ील और चाइल हैं। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते हैं, क्योंकि इनके नामों के पहले अक्षर ए, बी और सी हैं। उत्तरी अमेरिका में मैक्सिको बड़े लातीनी अमेरिकी देशों में गिना जाता है।

मुनरो-सिद्धान्त के ज़रिये संयुक्त राज्य ने लातीनी अमेरिका में यूरोप को टाँग अड़ाने से रोक दिया। लेकिन ज्यों-ज्यों संयुक्त राज्य खुद दौलतमन्द होता गया, वह अपने विस्तार के लिए बाहर नये मैदानों की तलाश करने लगा। इसकी निगाह सबसे पहले लातीनी अमेरिका पर ही पड़ी। लेकिन साम्राज्य बनाने के पुराने तरीक़े के मुताबिक़ इसने इनमें से किसी देश पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा करने का जतन नहीं किया। इन्होंने इन देशों में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनकी मण्डियों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इन्होंने दक्षिण में रेलों, खानों व दूसरे धन्धों में भी अपनी पूँजी लगा दी; सरकारों को, और कभी-कभी क्रान्तियों के समय आपस में लड़नेवाले गुटों को, रुपया उधार दिया। 'इन्होंने' से मेरा मतलब अमेरिका के पूँजीपतियों और साहूकारों से है, लेकिन इनकी मदद पर और इनकी पीठ ठोकनेवाली अमेरिका की सरकार थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस रुपये के बल पर, जो इन्होंने उधार दे रक्खा था, या लगा रक्खा था, मध्य और दक्षिण अमेरिका की कई छोटी-छोटी सरकारों की लगाम खींचने लगे। ये साहूकार इन देशों के एक पक्ष को धन या हथियार क़र्ज़ देकर और दूसरे को न देकर क्रान्तियाँ भी करा सकते थे। इन साहूकारों और पूँजीपतियों की पीठ पर संयुक्त राज्य की ज़बर्दस्त सरकार थी, फिर दक्षिण अमेरिका के छोटे और कमज़ोर देश इनका क्या बिगाड़ सकते थे? कभी-कभी तो संयुक्त राज्य ने व्यवस्था बनाये रखने के बहाने किसी देश के एक गुट की मदद के लिए सचमुच अपने सिपाही ही भेज दिये।

इस तरह अमेरिकी पूँजीपतियों ने दक्षिण अमेरिका के इन छोटे-छोटे देशों पर कारगर क़ब्ज़ा हासिल कर लिया। उनके बैंक, रेलें, और खानें, सब इन पूँजीपतियों के हाथों में थे, और अपने फ़ायदे के लिए वे इनको निचोड़ते थे। लगी हुई पूँजियों और पैसे के क़ाबू के सबब से लातीनी अमेरिका के बड़े-बड़े देशों में भी इनका ज़बर्दस्त दबदबा था। इसका मतलब यह हुआ कि संयुक्त राज्य ने इन देशों की दौलत पर या उसके बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह ग़ौर करने की चीज़ है, क्योंकि यह नये क़िस्म का साम्राज्य है—आजकल के नमूने का साम्राज्य है। यह साम्राज्य आँखों से ओझल और आर्थिक है और बिना कोई ज़ाहिरा बाहरी चिह्नों के शोषण करता है और प्रभुत्व जमाता है। दक्षिण अमेरिका के गणराज्य राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से आज़ाद और स्वाधीन हैं। नक़्शे पर ये

देश बहुत बड़े-बड़े दिखाई पड़ते हैं और इस बात का कोई भी निशान नहीं दिखाई देता कि ये किसी भी तरह परतन्त्र हैं। लेकिन फिर भी इनमें से ज़्यादातर देशों पर संयुक्त राज्य का पूरा दबदबा है।

हमने अपने इतिहास की झलकियों में जुदा-जुदा युगों में तरह-तरह की साम्राज्य-शाहियाँ देखी हैं। ठेठ शुरू में, युद्ध में एक क़ौम की दूसरी क़ौम पर विजय का यह मतलब होता था कि विजेता लोग पराजित देश या उसके निवासियों के साथ जो चाहें सो करें। विजेता लोग देश और उसके निवासी दोनों पर क़ब्ज़ा कर लेते थे, यानी पराजित लोग ग़ुलाम बन जाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल में हम पढ़ते हैं कि बाबुली लोग यहूदियों को पकड़कर ले गये थे, क्योंकि यहूदी लोग युद्ध में हार गये थे। इस क़िस्म की और भी बहुत-सी मिसालें हैं। धीरे-धीरे इसकी जगह पर दूसरे नमूने की साम्राज्यशाही आ गई, जिसमें सिर्फ़ धरती पर क़ब्ज़ा कर लिया जाता था, लेकिन जनता को ग़ुलाम नहीं बनाया जाता था। क्योंकि यह मालूम हो गया था कि टैक्स लगाकर या शोषण के दूसरे तरीक़ों से उनसे ज़्यादा आसानी के साथ रुपया ऐंठा जा सकता है। हममें से ज़्यादातर लोग अभी तक इसी क़िस्म के साम्राज्यों को जानते हैं, जैसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगों का ख़याल है कि अगर भारत पर से अंग्रेज़ों का असली राजनीतिक क़ब्ज़ा हट जाय, तो भारत आज़ाद हो जायगा। लेकिन साम्राज्य का यह रूप तो ख़त्म ही होता जा रहा है और एक ज़्यादा उन्नत व मुकम्मिल नमूने का साम्राज्य इसकी जगह ले रहा है। सबसे नई क़िस्म का यह साम्राज्य ज़मीन पर भी क़ब्ज़ा नहीं करता; वह तो सिर्फ़ देश की दौलत पर या दौलत पैदा करनेवाले साधनों पर अपना क़ब्ज़ा जमाता है। ऐसा करके वह देश का पूरा शोषण करके मुनाफ़ा भी उठा सकता है और उस-पर काफ़ी क़ाबू भी रख सकता है और साथ ही उस देश के शासन या दमन की ज़िम्मेदारी से भी बच जाता है। असली तौर पर देश व वहाँ के निवासी, दोनों पर प्रभुता व बहुत-कुछ क़ब्ज़ा बने रहते हैं, और वह भी कम-से-कम परेशानी के साथ।

इस तरह ज्यों-ज्यों ज़माना बीतता गया है, साम्राज्यशाही अपनेको मुक-म्मिल बनाती गई है; और आधुनिक ढंग का साम्राज्य आँखों से ओझल आर्थिक साम्राज्य है। जब ग़ुलामी का अन्त हो गया और उसके बाद ग़ज़ब की सामन्ती ढंग की चाकरी मिट गई, तब लोगों का ख़याल था कि मनुष्य अब आज़ाद हो जायँगे। लेकिन जल्दी ही यह मालूम हो गया कि जिनके हाथों में रुपये की शक्ति है, वे अब भी मनुष्यों का शोषण करते हैं और उनपर प्रभुता जमाते हैं। ग़ुलाम और असामी न रहकर लोग अब मजूरी के ग़ुलाम हो गये। उनके लिए आज़ादी फिर भी बहुत दूर रही। यही हालत देशों की भी है। लोग समझते हैं कि एक देश की दूसरे पर राजनीतिक प्रभुता ही सारा झगड़ा है, और अगर यह हट जाय तो आज़ादी अपने-आप ही आ जायगी। लेकिन यह बात इतनी सही नहीं दिखाई देती, क्योंकि हम

देखते हैं कि राजनीतिक लिहाज़ से आज़ाद देश भी आर्थिक ग़ुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरों की मुट्ठी में हैं। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत साफ़ ही नज़र आता है। भारत पर ब्रिटेन का राजनीतिक क़ब्ज़ा है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक ज़रूरी अंग की तरह ब्रिटेन का भारत पर आर्थिक क़ब्ज़ा भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारत पर से ब्रिटेन का यह दीखने-वाला क़ब्ज़ा देर-सबेर हट जाय, लेकिन न दीखनेवाले साम्राज्य के रूप में आर्थिक क़ब्ज़ा फिर भी बना रहे। अगर ऐसा हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के हाथों भारत का शोषण जारी है।

हुकूमत करनेवाली शक्ति के लिए आर्थिक साम्राज्यशाही कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाली प्रभुता है। इससे उतनी नाराज़ी नहीं पैदा होती, जितनी राजनीतिक प्रभुता से, क्योंकि बहुत-से लोग इसे देख ही नहीं पाते। लेकिन यह जब चुभने लगती है, तब लोग इसके ढंगों को महसूस करने लगते हैं और उनमें नाराज़ी पैदा होने लगती है। लातीनी अमेरिका में आजकल संयुक्त राज्य के लिए प्रेम नहीं है और उत्तर अमेरिका की प्रभुता का विरोध करने के लिए लातीनी अमेरिकी राष्ट्रों का एक ठोस संगठन बनाने की कई ज़ोरदार कोशिशें की गई हैं। लेकिन जबतक ये राष्ट्र महलों की क्रान्तियों और आपसी लड़ाइयों की अपनी आदत नहीं छोड़ेंगे, तबतक इनसे कुछ होना-जाना नहीं है।

संयुक्त राज्य का दीखनेवाला साम्राज्य फ़िलीपीन टापुओं तक फैला हुआ है। मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि अमेरिका ने इन टापुओं पर स्पेन से युद्ध के बाद किस तरह क़ब्ज़ा कर लिया था। १८९८ ई० में अतलान्तिक सागर के क्यूबा नामक टापू के मामले को लेकर यह युद्ध शुरू हुआ था। क्यूबा स्वधीन हो गया, लेकिन सिर्फ़ नाम को। क्यूबा और हेटी दोनों पर अमेरिका की प्रभता है।[1]

पनामा नहर को खुले क़रीब बारह वर्ष हो गये। यह मध्य-अमेरिका की एक तंग पट्टी में है, और प्रशान्त-सागर व अतलान्तिक सागर को मिलाती है। पचास वर्ष से ज्यादा हुए, स्वेज़ नहर को बनाने वाले फर्दिनांद दे लसेप्स[2] ने इसकी योजना बनाई थी। लेकिन वह बेचारा परेशानी में फँस गया और फिर अमेरिकावालों ने इस नहर को बनाया। इन लोगों को मलेरिया और पीले बुख़ार की वजह से बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं; लेकिन इन लोगों ने वहाँ इन बीमारियों को मिटा देने का इरादा कर लिया और ये सफल हो गये। जिन-जिन जगहों पर मलेरिया के मच्छर व रोगों के दूसरे वाहक पैदा होते थे, उन सबको इन्होंने साफ़ कर दिया

---

[1] १९५९ में क्यूबा की सत्ता के फिदेल कास्त्रो के हाथ में आ जाने से वह पूरी तरह से अमरीकी प्रभुता से मुक्त हो गया।

[2] फ्रान्सीसी इंजीनियर (१८०५–१८८४)।

और नहर के प्रदेश को बिलकुल रहने लायक़ बना दिया। यह नहर पनामा के छोटे-से गणराज्य के अन्दर है। लेकिन संयुक्त राज्य का इस नहर पर भी क़ाबू है, और पनामा के छोटे-से गणराज्य पर भी। अमेरिका के लिए यह नहर एक बड़ा वरदान है, वरना जहाज़ों को सारे दक्षिण अमेरिका का चक्कर लगाकर जाना पड़ता था। फिर भी पनामा नहर का उतना बड़ा महत्व नहीं, जितना स्वेज़ नहर का है।

इस तरह संयुक्त राज्य दिन-दिन ताक़तवर और दौलतमन्द होता गया और दूसरी चीज़ों के अलावा ढेरों करोड़पति व आसमान-छूनेवाली इमारतें[1] पैदा करने लगा। वह बहुत-सी बातों में यूरोप के बराबर पहुँच गया और उससे आगे भी निकल गया। उद्योगों के लिहाज़ से यह संसार का बड़ा राष्ट्र हो गया और इसके मज़दूरों के रहन-सहन का दर्जा दूसरे देशों के मुक़ाबले में ऊँचा हो गया। इस ख़ुशहाली की वजह से उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड की तरह इस देश में भी समाजवादी व दूसरे वामपक्षी मतों को कोई समर्थन नहीं मिला। कुछ लोगों को छोड़कर अमेरिका का मज़दूर-वर्ग बहुत मुलायम और पुरातन-पन्थी। उसे औरों से कुछ ज्यादा पैसा मिलता था, इसलिए वह भविष्य की हवाई बेहतरी की आशा में वर्तमान सुखों को ख़तरे में क्यों डालता? इस मज़दूर-वर्ग में ज्यादातर इतालवी और दूसरे 'डेगो' लोग थे (जैसा कि इन्हें हिक़ारत के साथ पुकारा जाता था)। ये लोग कमज़ोर और बिखरे हुए थे और नफ़रत की नज़र से देखे जाते थे। जिन मज़दूरों को अच्छी तनख्वाहें मिलती थीं, वे भी इन 'डेगो' लोगों से अपनेको अलग वर्ग का समझते थे।

अमेरिका की राजनीति में दो दल बन गये: एक 'रिपब्लिकन' और दूसरा 'डेमोक्रेटिक'। इंग्लैण्ड की तरह, बल्कि उससे भी ज्यादा, यहाँ के ये दोनों दल मालदार वर्गों के प्रतिनिधि थे। इनमें सिद्धान्तों का कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो यहाँ यही हाल था, और आख़िरकार अमेरिका भी खिंचकर लड़ाई के भँवर में जा पड़ा।

: १३९ :

आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच संघर्ष के सात सौ वर्ष

४ मार्च, १९३३

अब हमें अतलान्तिक महासागर पार करके फिर पुरानी दुनिया की ओर वापस चलना चाहिए। जहाज़ या हवाई-जहाज़ से आनेवाले यात्री को सबसे पहले जो

[1] Sky-Scrapers.

ज़मीन नज़र आती है, वह आयर्लैण्ड की है। इसलिए हमारा पहला मुक़ाम यहीं होगा। यह हरा-भरा और सुन्दर टापू यूरोप के ठेठ पश्चिम में मानो अतलान्तिक महासागर में डुबकी लगा रहा है। यह टापू छोटा-सा है और संसार के इतिहास की बड़ी धाराओं से दूर जा पड़ा है। लेकिन हालाँकि यह नन्हा सा है, मगर वीरता की कहानियों से भरा है और पिछली कई सदियों से इसने राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष में अडिग साहस और बलिदान की भावना का परिचय दिया है। एक ताक़तवर पड़ौसी के खिलाफ़ अपने इस संघर्ष में आयर्लैण्ड ने अडिगपन का अद्भुत लेखा पेश किया है। इस झगड़े को शुरू हुए साढ़े सात सौ वर्षों से ज़्यादा हो गये, पर यह अभी तक खत्म नहीं हो पाया है![1] हम ब्रिटिश साम्राज्यशाही की कार्रवाइयाँ चीन, भारत और दूसरी जगहों में देख चुके हैं। लेकिन आयर्लैण्ड तो इसका शिकार बहुत शुरू से ही होता रहा है। फिर भी यह अपनी मर्ज़ी से कभी इसके आगे नहीं झुका और क़रीब-क़रीब हरेक पीढ़ी में इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ बग़ावत होती रही। इस देश के बड़े-बड़े बहादुर पुत्रों ने आज़ादी के लिए लड़ते-लड़ते प्राण दे दिये, या अंग्रेज़ अफ़सरों ने उन्हें फाँसी पर लटका दिया। आयरवासियों की बहुत बड़ी संख्या अपनी मातृ-भूमि को, जिसे वे दिलोजान से प्रेम करते थे, छोड़कर विदेशों में जा बसी। बहुत-से इंग्लैण्ड से लड़नेवाली विदेशी फ़ौजों में भरती हो गये, ताकि उन्हें उस देश के खिलाफ़ अपना ज़ोर आज़माने का मौक़ा मिले, जो उनकी मातृभूमि को दबा रहा था और सता रहा था। आयर्लैण्ड से निकाले हुए बहुत लोग दूर-दूर देशों में फैल गये और जहाँ-कहीं वे गये अपने दिलों में आयर्लैण्ड की याद लेते गये।

दुखी व्यक्तियों का, और सताये हुए व आज़ादी के लिए छटपटानेवाले देशों का, और उन सबका जो नाखुश हैं और जिन्हें मौजूदा हालत में ज़रा भी खुशी नहीं होती, यह ढँग हुआ करता है कि वे गुज़रे ज़माने की ओर देखते हैं और उसी-में तसल्ली ढूंढ़ते हैं। वे इस बीते ज़माने को बहुत ज़्यादा सराहते हैं और अपने बीते बड़प्पन की याद करके राहत पाते हैं। जब वर्तमान निराशा की उदासी से भरा होता है, तो बीता ज़माना चैन व प्रेरणा देनेवाला आसरा बन जाता है। पुरानी शिकायतें खटकती रहती हैं और लोग उनको नहीं भूलते। इस तरह हरदम पीछे की ओर देखते रहना किसी राष्ट्र में खैरियत का चिह्न नहीं होता। स्वस्थ राष्ट्र और स्वस्थ देश वर्तमान में कर्म करते हैं और भविष्य की ओर आशा लगाये रहते हैं, लेकिन जो व्यक्ति या देश आज़ाद नहीं होता वह तन-मन से स्वस्थ भी नहीं रह सकता। इसलिए यह लाज़िमी है कि वह पीछे की ओर देखे और उसका ध्यान कुछ-कुछ बीते ज़माने में ही लगा रहे।

---

[1] १९३७ ई० में अल्सटर के सिवा बाक़ी आयर्लैण्ड स्वतन्त्र गणराज्य बन गया है और उसका नाम आयर (Eire) रख लिया गया है।

इसीलिए आयर्लैण्ड अभी तक बीते ज़माने में ही रह रहा है और आयर-वासी उन बीते दिनों की याद को बड़े प्यार से सँजोये हुए हैं, जबकि वे आज़ाद थे। अपने देश की आज़ादी के कितने ही संघर्षों की, और उसकी पुरानी तकलीफ़ों की याद इनके दिलों में ताज़ा बनी हुई है। उन्हें आज से चौदह सौ वर्ष पुराना, ईसा की छठी सदी का, ज़माना याद आता है जब आयर्लैण्ड पश्चिमी यूरोप के लिए विद्या का केन्द्र था और दूर-दूर के विद्यार्थी यहाँ आते थे। रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था और वाण्डाल व हूण लोग रोमन सभ्यता को चकनाचूर कर चुके थे। कहा जाता है कि उस समय आयर्लैण्ड उन देशों में से था, जिन्होंने यूरोप में संस्कृति के दुबारा बहाल होने तक संस्कृति की जोत जगाये रक्खी। ईसाई मज़हब आयर्लैण्ड में बहुत पहले आया। ऐसा माना जाता है कि आयर्लैण्ड का संरक्षक सन्त, सेण्ट पैट्रिक, यहाँ ईसाइयत लाया था। आयर्लैण्ड से ही यह मज़हब उत्तर इंग्लैण्ड में फैला। आयर्लैण्ड में बहुत-से मठ क़ायम हुए। भारत के पुराने आश्रमों और बौद्ध-विहारों की तरह ये भी विद्या के केन्द्र बन गये, जिनमें अक्सर पेड़ों के तले पढ़ाई होती थी। उत्तरी और पश्चिमी यूरोप के धर्म-विहीन लोगों में ईसाइयत के नये मज़हब का प्रचार करने के लिए मिशनरी लोग इन्हीं मठों में से जाते थे। इन मठों के कुछ साधुओं ने बड़ी सुन्दर हस्तलिपियाँ लिखीं और उन्हें चित्रों से सजाया। डबलिन में अब इसी तरह की एक सुन्दर हस्तलिपि रक्खी हुई है, जिसे, 'बुक ऑफ़ कैल्ट्स'[1] कहते हैं और जो शायद बारह सौ वर्ष पहले की लिखी हुई है।

छठी सदी से आगे दो-तीन सौ वर्षों के इस ज़माने को बहुत-से आयरवासी आयर्लैण्ड के सुनहले युग की तरह मानते हैं, जब गेली[2] संस्कृति अपनी चोटी पर थी। शायद समय की दूरी इन गुज़रे दिनों पर एक जादू डाल देती है, जिससे इनकी महानता असलियत से बढ़ी-चढ़ी नज़र आती है। उस समय आयर्लैण्ड कई क़बीलों में बँटा हुआ था और ये क़बीले आपस में हरदम लड़ा-भिड़ा करते थे। आपसी कलह ही भारत की तरह आयर्लैण्ड की कमज़ोरी थी। इसके बाद डेन[3] और नॉर्स-मैन[4] आये और उन्होंने इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की तरह आयरियों को भी सताया और बड़े-बड़े प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। ग्यारहवीं सदी के शुरू में ब्रियान बोरूमा नामक प्रसिद्ध आयरी राजा ने डेनों को हराकर कुछ समय के लिए आय-

---

[1] Book of Kelts.—कैल्त या सैल्त नस्ल, आर्य-वंश की एक शाखा मानी जाती है, जो आयर्लैण्ड में जाकर बसी।

[2] Gaelic—कैल्ट नस्ल से सम्बन्ध रखनेवाली।

[3] Dane—डेनमार्क का निवासी।

[4] Norseman—नार्वे-स्वीडन का निवासी।

लैंण्ड को एक सूत्र में बाँध दिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद देश के फिर टुकड़े हो गये।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों[1] ने 'विजेता विलियम' की सरदारी में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीत लिया था। इन्हीं ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ वर्ष बाद आयलैंण्ड पर धावा किया, और जिस भाग को इन्होंने जीता उसका नाम 'पेल' पड़ गया। ११६९ ई० के इस ऐंग्लो-नार्मन हमले ने गेली सभ्यता को सख्त चोट पहुँचाई और इसी समय से आयलैंण्ड के क़बीलों के साथ क़रीब-क़रीब लगातार युद्ध की शुरुआत होती है। ये युद्ध, जो सैकड़ों साल चलते रहे, हद दर्जे के जंगलीपन व जुल्मों से भरे थे। ऐंग्लो-नार्मन (जिन्हें अब अंग्रेज़ कहना चाहिए), आयरियों को, एक आधी-वहशी नस्ल मानकर हिक़ारत की नज़र से देखते रहे। इन दोनों में नस्ल-भेद तो था ही—अंग्रेज़ लोग ऐंग्लो-सैक्सन नस्ल के थे और आयरी कैल्ट थे; बाद में इनमें मज़हब का भी भेद पैदा हो गया—अंग्रेज़ और स्कॉच प्रोटेस्टेण्ट हो गये और आयरवासी रोमन कैथलिक मत के ही भक्त बने रहे। इसलिए इन अंग्रेज़-आयरी युद्धों में नस्ली और मज़हबी युद्धों जैसी कट्टर दुश्मनी रही। अंग्रेज़ों ने जान-बूझकर दोनों नस्लों के मिलाप को रोका। एक क़ानून भी इस बारे में बना, किलकैनी का क़ानून, जिसके मातहत अंग्रेज़ों और आयरियों के आपसी विवाह-सम्बन्ध बन्द कर दिये गए।

आयलैंण्ड में एक के बाद दूसरी बग़ावत होती रही और हरेक को सख्त बेरहमी के साथ दबा दिया गया। आयरी लोग अपने विदेशी शासकों और अत्याचारियों से सख्त नफ़रत करते थे और जब कभी इन्हें मौक़ा मिलता, या न भी मिलता, तो ये लोग बग़ावत खड़ी कर देते थे। "इंग्लैण्ड की मुसीबत आयलैंण्ड का सुअवसर है", यह पुरानी कहावत है, और राजनीतिक व मज़हबी, दोनों ही कारणों से आयलैंण्ड अक्सर फ़्रान्स और स्पेन जैसे इंग्लैण्ड के दुश्मनों का साथ देता था। इससे अंग्रेज़ों को ग़ुस्सा आता था और उन्हें ऐसा लगता था मानो किसीने पीछे से कटार भोंक दी। इसीलिए वे हर तरह के अत्याचारों के ज़रिये बदला लेते थे।

महारानी एलिज़ाबेथ के समय (सोलहवीं सदी) में, यह तय किया गया कि आयलैंण्ड के उत्पाती निवासियों के मुक़ाबले की कमर तोड़ने के लिए इनके बीच अंग्रेज़ ज़मींदार बैठा दिये जायँ, जो इन्हें दबाये रहें। इसलिए ज़मीनें ज़ब्त कर ली गईं और आयलैंण्ड के पुराने ज़मींदार-वर्गों की जगह विदेशी ज़मींदार बैठा दिये गए। इस तरह आयलैंण्ड हक़ीक़त में किसानी राष्ट्र बन गया, जिसके ज़मींदार

---

[1] स्केन्डीनेविया की एक जाति, जो दसवीं सदी की शुरुआत में उत्तरी फ़्रान्स में आकर बस गई और जिसने वहाँ नार्मण्डी की डची का निर्माण किया। इसका मामूली अर्थ नार्मण्डी का निवासी है।

विदेशी थे। और सैकड़ों वर्ष गुज़र जाने पर भी ये ज़मींदार आयरी लोगों के लिए विदेशी ही बने रहे।

महारानी एलिज़ाबेथ के बाद गद्दी पर बैठनेवाले जेम्स प्रथम ने आयरवासियों का हौसला तोड़ने की कोशिश में एक क़दम और आगे बढ़ाया। उसने फ़ैसला किया कि आयर्लैण्ड में विदेशी उपनिवेशियों की एक नाक़ायदा बस्ती बना दी जाय, और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयर्लैण्ड में अल्स्टर के छहों ज़िलों की लगभग सारी ज़मीन ज़ब्त कर ली। ज़मीनें मुफ़्त में मिलने लगीं और मौक़ा-परस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीनें लेकर यहीं बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश बनाने की इस कारंवाई को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और उसने इस नये 'अल्स्टर बागान' के लिए एक विशेष समिति ही बना डाली। इसी वजह से उत्तर का 'डैरी' नामक शहर 'लन्दनडेरी' कहलाने लगा।

इस तरह अल्स्टर आयर्लैण्ड में इंग्लैण्ड का एक टुकड़ा बना गया और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आयरियों ने इसपर ज़बर्दस्त नाराज़ी ज़ाहिर की। इधर ये नये अल्स्टरी आयरियों से नफ़रत करते थे और उनको नीची नज़र से देखते थे। आयर्लैण्ड को, एक-दूसरे के दुश्मन दो खेमों में बाँटने की इंग्लैण्ड की यह साम्राज्यशाही कारंवाई कितनी हैरतअंगेज़ व चालाकी से भरी हुई थी! अल्स्टर की गुत्थी तीन सौ वर्ष से ज्यादा गुज़र जाने पर भी अभी तक नहीं सुलझ पाई है।

इस अल्स्टर बागान के कुछ ही दिन बाद इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के बीच गृह-युद्ध हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ़ प्रोटेस्टेण्ट और प्यूरिटन थे; कैथलिक आयर्लैण्ड ने लाज़िमी तौर पर बादशाह का साथ दिया, अल्स्टर ने पार्लमेण्ट को मदद दी। आयरवासियों को डर था, और डर की वजह भी थी, कि प्यूरिटन लोग कैथलिक मत को कुचल देंगे। इसलिए १६४१ ई० में इन लोगों ने एक बहुत बड़ी बग़ावत खड़ी कर दी। यह बग़ावत और इसका दमन पहले के मुक़ाबले में ज्यादा ख़ूँख्वार और वहशियाना थे। आयरी कैथलिकों ने प्रोटेस्टेण्टों की बेरहमी से हत्याएँ की थीं। क्रामवेल ने इसका भयंकर बदला लिया। आयरवासियों के कई क़त्ले-आम हुए, ख़ासकर कैथलिक पादरियों के, और आयर्लैण्ड में आजतक क्रामवेल को बड़ी दुश्मनी के साथ याद किया जाता है।

इस आतंक और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढ़ी बाद आयर्लैण्ड में फिर बग़ावत और गृह-युद्ध हुए, जिसकी दो घटनाएँ उभरी हुई हैं—लन्दनडेरी और लिमेरिक की घेराबन्दियाँ। १६८८ ई० में आयरी कैथलिकों ने अल्स्टर के प्रोटेस्टेण्टों के नगर लन्दनडेरी को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्टों ने बड़ी वीरता से इसकी

रक्षा की, हालाँकि उनके पास खाने का सामान नहीं रहा था और वे भूखों मर रहे थे। आखिर चार महीने के घेरे और तकलीफ़ों के बाद अंग्रेज़ी जहाज़ खाना और मदद लेकर पहुँचे।

१६९० ई० में लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ; वहाँ कैथलिक आयरियों को अंग्रेज़ों ने घेर लिया था। इस घेरे का वीर नायक पैट्रिक सार्सफ़ील्ड था, जिसने अपने से बहुत ज़्यादा ताक़तवर दुश्मन के ख़िलाफ़ बड़ी खूबी के साथ लिमेरिक की रक्षा की। इस घेरे में आयर्लैण्ड की स्त्रियाँ भी लड़ीं और आयर्लैण्ड के देहात में आज तक सार्सफ़ील्ड और उसके वीर जत्थे के गीत गेली भाषा में गाये जाते हैं। सार्सफ़ील्ड को अन्त में लिमेरिक अंग्रेज़ों के हवाले कर देना पड़ा, लेकिन सम्मानयुक्त सन्धि के बाद। लिमेरिक की इस सन्धि का एक खण्ड यह था कि आयरी कैथलिकों को पूरी नागरिक और मजहबी स्वतन्त्रता दी जायगी।

लिमेरिक की इस सन्धि को अंग्रेज़ों ने, या यों कहो कि आयर्लैण्ड में बसे हुए अंग्रेज़ ज़मींदार घरानों ने, तोड़ दिया। ये प्रोटेस्टेण्ट घराने डबलिन की मातहती पार्लमेण्ट पर हावी थे। लिमेरिक में दिये गए गम्भीर वादे के बावजूद इन्होंने कैथलिकों को नागरिक या मज़हबी स्वतन्त्रता देने से इन्कार कर दिया। इसके बजाय इन्होंने कैथलिकों को सतानेवाले और आयर्लैण्ड के ऊनी व्यापार को जान-बूझकर बर्बाद करनेवाले ख़ास क़ानून बना दिये। कैथलिक किसान-वर्ग बेरहमी से कुचल दिया गया और ज़मीनों से बेदख़ल कर दिया गया। याद रहे कि यह कार्रवाई मुट्ठी-भर विदेशी प्रोटेस्टेण्ट ज़मींदारों ने आबादी के उस बहुत भारी बहुमत के ख़िलाफ़ की थी, जो कैथलिक थी और जिसमें ज़्यादातर किसान-वर्ग था। लेकिन सारी सत्ता तो इन अंग्रेज़ ज़मींदारों के हाथों में थी, और ये लोग अपनी जागीरों से दूर रहते थे और अपने किसान-वर्ग को इन्होंने अपने कारिन्दों व लगान वसूल करनेवालों की बेदर्द सितमगरी पर छोड़ दिया था।

लिमेरिक की कहानी तो पुरानी है; लेकिन एक गम्भीर वचन के तोड़े जाने से जो कट्टर दुश्मनी और गुस्सा पैदा हो गये थे, वे अभी तक ठण्डे नहीं हुए हैं, और आयरी राष्ट्रवादियों के दिमाग़ में आज भी आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की दग़ाबाज़ी के रूप में लिमेरिक सबसे ज़्यादा उभरा हुआ है। एक क़रार के इस तरह तोड़े जाने ने और मजहबी बैर-भाव और दमन ने, और ज़मींदारों के ज़ुल्म ने, उस वक़्त हज़ारों आदमियों को दूसरे देशों में भागने के लिए मजबूर कर दिया। आयर्लैण्ड के चुने हुए नौजवान देश से बाहर चले गये और इंग्लैण्ड से लड़नेवाले किसी भी देश की सेना में भरती हो गये। जहाँ-कहीं अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई होती, ये आयरवासी वहाँ ज़रूर पहुँच जाते थे।

'गुलीवर्स ट्रैवल्स' का लेखक जोनाथन स्विफ़्ट इसी ज़माने (१६६७ से

१७४५ ई०) में हुआ। इसने अपने देशवासियों को जो सलाह दी थी, उससे अंग्रेज़ों के खिलाफ़ गुस्से का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है: "इनके कोयले को छोड़कर बाक़ी हरेक अंग्रेज़ी चीज़ जला डालो!" डबलिन से सेण्ट पैट्रिक के गिरजे में जोनाथन स्विफ़्ट की क़ब्र पर खुदा हुआ लेख इससे भी ज़्यादा कड़वा है। यह शायद उसीका लिखा हुआ है:

यहाँ दफ़न है शरीर
जोनाथन स्विफ़्ट का
जो तीस वर्ष तक
इस बड़े गिरजे का डीन रहा,
जहाँ बेइन्साफ़ी के खिलाफ़ वहशियाना गुस्सा
अब उसका हृदय नहीं जला सकता।
यात्री, जाओ और
हो सके तो, उसका अनुसरण करो, जिसने
मनुष्योचित कर्त्तव्य-पालन किया
स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए।

१७७४ ई० में अमेरिका का स्वाधीनता-युद्ध छिड़ गया और अतलान्तिक के पार अंग्रेज़ी फ़ौजें भेजना ज़रूरी हो गया। इस बदली हुई हालत में आयर्लैण्ड में ब्रिटिश फ़ौजें नहीं रह गईं और उधर फ़ान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योंकि फ़ान्स ने भी इंग्लैण्ड के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसलिए आयरी कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों, दोनों ने रक्षा के लिए स्वयंसेवक तैयार किये। कुछ अर्से के लिए ये लोग अपने पुराने बैर भूल गये और आपसी सहयोग से इन्हें अपनी शक्ति का पता चल गया। इंग्लैण्ड के सामने दूसरी बग़ावत का खतरा खड़ा हो गया और इस डर से कि कहीं आयर्लैण्ड भी अमेरिका की तरह हाथ से न निकल जाय, इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड को स्वाधीन पार्लमेण्ट दे दी। इस तरह कहने को तो आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड के अधीन नहीं रहा, लेकिन रहा उसी बादशाह के अधीन। और आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट वही पुरानी ज़मींदारों से लदी, तंग विचारोंवाली सभा बनी रही, जिसमें सिर्फ़ प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जिसने पिछले दिनों कैथलिकों पर इतने अत्याचार किये थे। कैथलिकों को अब भी तरह-तरह से तंग किया जाता था। सिर्फ़ इतना फ़र्क़ ज़रूर हो गया था कि अब प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों के बीच ज़्यादा अच्छी भावना काम करती मालूम देने लगी। इस पार्लमेण्ट का नेता हेनरी ग्रैटन, जो खुद प्रोटेस्टेण्ट था, यह चाहता था कि कैथलिक लोगों को कुछ हक़ दे दे। लेकिन इसमें उसे ज़्यादा सफलता नहीं मिली।

इसी बीच फ़ान्स में क्रान्ति हो गई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत उम्मीदें

बँध गईं। अनोखी बात तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आते जा रहे थे। 'संयुक्त आयर-निवासी'[1] नामक एक संगठन क़ायम किया गया कि कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों में मेल कराया जाय और कैथलिकों को मुक्ति दिलाई जाय। सरकार ने इस संगठन को पसन्द नहीं किया और उसे कुचल दिया। इसलिए अटल व समय-समय पर होनेवाली बग़ावत १७९८ ई० में फिर भड़क उठी। यह पहले की बग़ावतों की तरह अल्सूटर और देश के बाक़ी भाग के बीच मज़हबी लड़ाई नहीं थी। यह एक राष्ट्रीय बलवा था, जिसमें कुछ हद तक कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों शामिल थे। इस बलवे को भी अंग्रेज़ों ने कुचल दिया और इसके आयरी नायक वुल्फ़ टोन को, देश-द्रोह के जुर्म में, फाँसी पर लटका दिया गया।

इस तरह यह ज़ाहिर हो गया कि आयर्लैण्ड में एक स्वाधीन पार्लमेण्ट बना देने से आयरी लोगों की हालत में कोई फ़र्क़ नहीं आया। इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट भी उस समय एक तंग-नज़र और भ्रष्ट मामला थी, जिसका चुनाव जेबी निर्वाचन-क्षेत्रों से होता था और जिसकी बागडोर मुट्ठीभर ज़मींदार-वर्ग व कुछ बड़े माल-दार व्यापारियों के हाथों में थी। आयरी पार्लमेण्ट में भी यह सब ऐब तो थे ही, इसके अलावा वह कैथलिकों के देश में होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टों के हाथों में थी। इतने पर भी ब्रिटिश सरकार ने इस आयरी पार्लमेण्ट को तोड़ देने का और आयर्लैण्ड को इंग्लैण्ड के साथ जोड़ देने का फ़ैसला किया। आयर्लैण्ड में इस प्रस्ताव का ज़ोरों से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लमेण्ट के सदस्य भारी रिश्वतें खाकर अपनी ही पार्लमेण्ट को ख़त्म करने का वोट देने के लालच में आ गये। १८०० ई० में 'यूनियन का ऐक्ट' पास हुआ और इस तरह ग्रैटन की चन्द-रोज़ा पार्लमेण्ट का अन्त हो गया। उसकी जगह पर अब कुछ आयरी सदस्य लन्दन की ब्रिटिश पार्लमेण्ट में भेजे जाने लगे।

इस भ्रष्ट आयरी पार्लमेण्ट के भंग कर दिये जाने से शायद बहुत बड़ा नुक़सान नहीं हुआ, सिवाय इसके कि सम्भव है कुछ दिन बाद यह कोई अच्छी चीज़ बन जाती। लेकिन यूनियन के क़ानून ने एक असली नुक़सान पहुँचाया और शायद वह इसी नीयत से बनाया भी गया था। यह उत्तर और दक्षिण के प्रोटेस्टेण्टों व कैथलिकों के बीच एकता के आन्दोलन को ख़त्म करने में सफल हुआ। प्रोटेस्टेण्ट अल्सूटर ने बाक़ी आयर्लैण्ड से फिर मुँह मोड़ लिया और इन दोनों भागों के बीच में खाई पैदा हो गई। दोनों के बीच एक और भी फ़र्क़ आ गया था। अल्सूटर ने इंग्लैण्ड के ढंग पर आधुनिक उद्योगों को अपना लिया। आयर्लैण्ड का बाक़ी भाग खेतिहर ही बना रहा, पर ख़राब बन्दोबस्त और लोगों की बराबर निकासी के

[1] United Irishmen.

कारण खेती भी नहीं पनपी। इसलिए उत्तर तो औद्योगिक हो गया, लेकिन दक्षिण और पूर्व, और खास करके पश्चिम, औद्योगिक लिहाज़ से पिछड़े हुए मध्यकालीन ही रहे आये।

यूनियन के क़ानून को लोगों ने चुपचाप नहीं मान लिया; उसके विरोध में एक छोटा-सा बलवा हुआ। इस असफल बलवे का नेता रॉबर्ट ऐमेट नामक एक होनहार नौजवान था, जिसकी मौत, इसके पहले के बहुत-से देशवासियों की तरह, फाँसी के तख्ते पर हुई।

आयरी सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कामन्स-सभा में बैठते थे, लेकिन कोई कैथलिक नहीं जा सकता था। कैथलिकों को इंग्लैण्ड में या आयर्लैण्ड में पार्लमेण्ट में बैठने का हक़ नहीं था। ये पाबन्दियाँ सन् १८२९ ई० में हटा ली गईं और कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बैठने के हक़दार हो गये। ये पाबन्दियाँ आयरवासी नेता डेनियल ओ कोनेल की कोशिशों से हटी थीं, इसलिए उसे 'उद्धारक' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे एक और परिवर्तन यह होनेवाला था कि मताधिकार बढ़ा दिया गया, जिससे ज्यादा व्यक्तियों को वोट का हक़ मिलता गया। चूंकि आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड के साथ जोड़ दिया गया था, इसलिए दोनों देशों पर एक ही क़ानून लागू होते थे। इसलिए १८३२ ई० का बड़ा सुधार-बिल इंग्लैण्ड के साथ-साथ आयर्लैण्ड पर भी लागू हुआ। इसी तरह बाद का मताधिकार बिल भी लागू हुआ और इस तरह ब्रिटिश कामन्स-सभा में आयरी सदस्य का नमूना बदलने लगा। ज़मींदारों का प्रतिनिधि होने के बजाय अब वह कैथलिक किसान-वर्ग का और आयरी राष्ट्रीयता का वकील हो गया।

ग़रीबी के सबब से आयर्लैण्ड के किसान-वर्ग ने, जिसकी गर्दन पर ज़मींदार सवार था और जिससे कसकर लगान वसूल किया जाता था, आलू को ही अपने खाने की खास चीज़ बना लिया था। ये बेचारे एक तरह से आलुओं पर ही गुज़ारा करते थे और आजकल के भारतीय किसानों की तरह इनके पास भी कोई जमा-पूंजी नहीं थी; आड़े वक़्त के लिए इनके पास कुछ नहीं था। ये मौत के दरवाज़े पर खड़े ज़िन्दगी बिताते थे और रोगों से बचाव करने की इनमें ज़रा भी ताक़त बाक़ी नहीं रही थी। १८६४ ई० में आलू की फ़सल नष्ट हो गई, जिसके सबब इस देश में ज़बर्दस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी ज़मींदारों ने लगान न दे सकनेवाले अपने असामी किसानों को बेदखल कर दिया। आयर-निवासी बहुत बड़ी संख्या में अपना वतन छोड़कर अमेरिका चले गये, और आयर्लैण्ड क़रीब-क़रीब सुनसान हो गया। बहुत-से खेत बेजुते पड़े रहे और चरागाहें बन गये।

जोती जानेवाली खेतिहर ज़मीन का भेड़ों की चरागाह में बदलने का यह

सिलसिला आयर्लैंण्ड में सौ वर्षों से ऊपर, और ठेठ हमारे ज़माने तक, बराबर जारी रहा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि इंग्लैण्ड में ऊनी कपड़ों के कारखाने बढ़ रहे थे। मशीनों का उपयोग जितना ज्यादा होता था, उत्पादन उतना ही बढ़ता जाता था और ऊन की उतनी ही ज्यादा ज़रूरत पड़ती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के ज़मींदारों को बोये गये खेतों की बनिस्बत, जिनमें किसान काम करते थे, भेड़ों की चरागाहों से ज्यादा मुनाफ़ा मिलता था। चरागाहों में बहुत कम आदमियों की ज़रूरत पड़ती है, भेड़ों की देख-भाल करनेवाले सिर्फ़ मुट्ठी-भर आदमियों की। इसलिए खेती करनेवाले मज़दूर फ़ालतू हो गये और ज़मींदारों ने उन्हें निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में, जिसकी आबादी पहले ही बहुत कम थी, हमेशा बहुत-से मज़दूर 'फ़ालतू' रहने लगे, और इस कारण आबादी घटने का सिलसिला चलता ही रहा। बस, आयर्लैण्ड 'औद्योगिक' इंग्लैण्ड को कच्चा माल देनेवाला एक इलाक़ा जैसा बन गया। खेतों को चरागाहों में बदलने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और हल को अब फिर अपना महत्व हासिल हो रहा है। मज़े की बात यह है कि यह हालत इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के बीच उस व्यापारी युद्ध का नतीजा है, जो १९३२ ई० में शुरू हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में ज़मीन का सवाल, यानी ग़ैर-हाज़िर ज़मींदारों के अधीन दुखी किसानों की मुसीबतें, आयर्लैण्ड की सबसे बड़ी समस्या रही है। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने फ़ैसला किया कि सब ज़मींदारियाँ जबरन खरीद कर और उन्हें किसानों में बाँटकर ज़मींदारों को बिलकुल खत्म कर दिया जाय। अलबत्ता ज़मींदारों को इसमें कोई नुक़सान नहीं उठाना पड़ा। उन्हें तो सरकार से अपनी ज़मींदारियों के पूरे दाम मिल गये। किसानों को ज़मीनें तो मिल गईं, लेकिन क़ीमत के बोझ के साथ। उन्हें यह क़ीमत एक मुश्त नहीं चुकानी पड़ी, इसकी छोटी-छोटी सालाना क़िस्तें बाँध दी गईं।

१७९८ ई० के राष्ट्रीय बलवे के बाद सौ वर्षों से ज्यादा तक आयर्लैण्ड में कोई बड़ी बग़ावत नहीं हुई। पहले की सदियों के मुक़ाबले में आयर्लैण्ड की उन्नीसवीं सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से बरी रही। लेकिन इसका कारण यह नहीं था कि लोगों में आसूदगी की भावना थी। यह तो पिछले बलवे की, भारी अकाल की और आबादी घटने की थकावट थी। इस सदी के पिछले हिस्से में लोगों का ध्यान कुछ-कुछ ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ़ मुड़ा था, और उनको यह आशा बँधी थी कि उसके आयरी सदस्य शायद कुछ कर सकें। लेकिन बहुत से आयरवासी ऐसे भी थे, जो बार-बार बग़ावत की परम्परा को ज़िन्दा रखना चाहते थे। उनका खयाल था कि सिर्फ़ इसी ढंग से आयर्लैण्ड की भावना व आत्मा को ताज़ा और निर्मल रक्खा जा सकता है। अमेरिका में बसे हुए आयरवासियों ने आयर्लैण्ड

की स्वाधीनता के लिए एक समिति क़ायम की। ये लोग जिन्हें 'फ़ेनियन' कहा जाता था, आयलैंण्ड में छोटे-छोटे बलवे कराया करते थे। लेकिन जनता पर इसका कोई असर नहीं हुआ और ये लोग बहुत जल्द कुचल दिये गए।

अब यह पत्र मुझे ख़त्म कर देना चाहिए, क्योंकि काफ़ी लम्बा हो गया है। पर आयलैंण्ड की कहानी अभी ख़त्म नहीं हुई है।

: १४० :

आयलैंण्ड में स्वराज और शिनफ़ेन

९ मार्च, १९३३

इतने ख़ूनी विद्रोहों के बाद और अकालों व दूसरी आफ़तों की वजह से, आयलैंण्ड आज़ादी हासिल करने के इस ढंग से कुछ थक गया था। उन्नीसवीं सदी में, जब ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लिए मताधिकार बढ़ा, तब कई राष्ट्रवादी आयरी कामन्स-सभा के सदस्य चुने गये। जनता आशा करने लगी कि ये लोग शायद आयलैंण्ड की आज़ादी के लिए कुछ कर सकें; अब वह पुराने ख़ूनी विद्रोह के तरीक़े के बजाय पार्लमेण्ट के ज़रिये कारंवाई में भरोसा करने लगी।

उत्तरी अल्स्टर और आयलैंण्ड के बाक़ी भाग के बीच की खाई फिर चौड़ी हो गई थी। नस्ली और मजहबी भेदभाव तो चल ही रहे थे, अब इनके अलावा आर्थिक फ़र्क़ भी और ज्यादा उभर गये। इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड की तरह अल्स्टर भी औद्योगिक बन गया था, और यहाँ के कारख़ानों में बहुत ज्यादा माल तैयार होता था। देश का बाक़ी हिस्सा खेतिहर-मध्यकालीन, कम आबादीवाला और ग़रीब था। आयलैंण्ड के दो भाग कर देने की इंग्लैण्ड की पुरानी नीति ज़रूरत से ज्यादा सफल हो गई थी; सचमुच वह इतनी सफल हुई कि बाद में ख़ुद इंग्लैण्ड ही कोशिश करने पर भी, इस कठिनाई को पार नहीं कर सका। आयलैंण्ड की आज़ादी के रास्ते में अल्स्टर सबसे बड़ी रुकावट बन गया। मालदार प्रोटेस्टेण्ट अल्स्टर को डर था कि आयलैंण्ड के आज़ाद होने पर ग़रीब कैथलिक आयलैंण्ड उसे ग़र्क़ कर देगा।

अब ब्रिटिश पार्लमेण्ट में और आयलैंण्ड में दो नये शब्द जारी हुए। ये दो शब्द थे 'होम रूल' यानी स्वराज। आयलैंण्ड की माँग अब स्वराज की माँग बन गई। सात सौ वर्ष पुरानी स्वाधीनता की माँग से यह माँग बहुत कम और बहुत जुदा थी। इसका मतलब यह था कि आयलैंण्ड की एक मातहत पार्लमेण्ट हो जो मुक़ामी मामलों का इन्तज़ाम करे और कुछेक महत्व के विषयों पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही दख़ल चलता रहे। बहुत-से आयरवासी स्वाधीनता की पुरानी माँग को

इस तरह घटा दिये जाने से सहमत नहीं थे। लेकिन देश बग़ावत और रगड़-झगड़ से तंग आ गया था, इसलिए उसने विद्रोह की कई असफल कोशिशों में भाग लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कामन्स-सभा के आयरी सदस्यों में चार्ल्स स्टुअर्ट पार्नेल भी एक था। यह महसूस करके कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अनुदार और उदार दोनों दल आयर्लैण्ड की तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं देते हैं, इसने तय किया कि इनके लिए यह सभ्य पार्लमेण्टी खेल जारी रखना मुश्किल कर दिया जाय। इसलिए कुछ दूसरे आयरी सदस्यों की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणों और सिर्फ़ रोक लगानेवाली दूसरी तदबीरों से पार्लमेण्ट की कार्रवाई में अड़ंगे लगाने शुरू किये। अंग्रेज़ लोग इन चालों से बहुत झल्लाये; वे कहते थे कि ये बातें न तो पार्लमेण्टी हैं और न शराफ़त की। लेकिन पार्नेल के ऊपर इन आलोचनाओं का कोई असर नहीं हुआ। वह अंग्रेज़ों के बनाये हुए क़ायदों के मुताबिक़ सभ्य अंग्रेज़ी पार्लमेण्टी खेल खेलने के लिए पार्लमेण्ट में नहीं आया था। वह तो आयर्लैण्ड की सेवा करने आया था; और अगर मामली तरीक़ों से अपना काम नहीं कर सकता था, तो ग़ैर-मामूली तरीक़ों का सहारा लेना वह अपने लिए बिलकुल वाजिब समझता था। कुछ भी हो, वह आयर्लैण्ड की ओर लोगों का ध्यान खींचने में तो सफल हो ही गया।

पार्नेल ब्रिटिश कामन्स-सभा में आयरी होमरूल दल का नेता हो गया, और यह दल दोनों पुराने ब्रिटिश दलों के लिए जी का जंजाल हो गया। जब कभी इन दोनों दलों का कमती-बढ़ती बराबरी का मुक़ाबला रहता था तब ये आयरी स्वराजी इधर या उधर मिलकर किसीका पलड़ा भारी कर सकते थे। इस तरह वे आयर्लैण्ड के सवाल को हमेशा लोगों की निगाह के सामने रखते थे। आख़िरकार ग्लैड्स्टन आयर्लैण्ड को स्वराज देने के लिए राजी हो गया और उसने १८८६ ई० में कामन्स-सभा में 'होमरूल बिल' पेश किया। स्वराज देने का यह क़ानून बहुत नर्म था, फिर भी इसकी वजह से तूफ़ान मच गया। अनुदार दल के लोग तो इसके पूरे विरोधी थे ही; ग्लैड्स्टन का दल यानी उदार दल भी इसे पसन्द नहीं करता था। यह दल इसी बात पर दो हिस्सों में बँट गया। एक हिस्सा तो सचमुच अनुदार दल में जा मिला और यह नया दल यूनियनिस्ट[1] (एकतावादी) कहलाने लगा, क्योंकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ एकता चाहते थे। होमरूल बिल पार्लमेण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैड्स्टन का मन्त्रि-मण्डल भी ख़त्म हो गया।

इसके सात वर्ष बाद, १८९३ ई० में, जब ग्लैड्स्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधानमन्त्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल बिल पेश किया और यह कामन्स-सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ। लेकिन क़ानून बनने से पहले

[1] Unionist.

तमाम बिलों को लॉर्ड्स-सभा से भी गुजरना पड़ता है और लॉर्ड्स-सभा अनुदार दलवालों और प्रगति-विरोधी लोगों से भरी थी। लॉर्ड्स-सभा के सदस्यों का चुनाव नहीं होता। यह बड़े-बड़े ज़मींदारों की एक पुश्तैनी सभा है, जिसमें कुछ पादरी भी होते हैं। इस सभा ने होमरूल बिल को, जिसे कामन्स-सभा ने मंजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टी कोशिशों से भी आयर्लैण्ड को वह चीज़ न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी आयरी राष्ट्रवादी दल (स्वराज दल) पार्लमेण्ट में इस आशा से काम करता रहा कि शायद आगे सफलता मिल जाय। कुल मिलाकर इस दल पर आयर-निवासियों का भरोसा भी था। लेकिन बहुत लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीक़ों पर से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट पर से भरोसा उठ गया था। बहुत-से आयरवादी गन्दी राजनीति से नफ़रत करने लगे थे और सांस्कृतिक व आर्थिक हलचलों में लग गये थे। बीसवीं सदी के शुरू में आयर्लैण्ड में संस्कृति फिर से ज़िन्दा हुई। ख़ासकर देश की पुरानी भाषा गेली को, जो पश्चिमी देहाती ज़िलों में अभीतक भरीपूरी थी, फिर से जिलाने का यत्न किया गया। इस गेली भाषा का भरा-पूरा साहित्य था, लेकिन सदियों की अंग्रेज़ी हुकूमत ने इसे शहरों से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे ग़ायब हो रही थी। आयरी राष्ट्रवादियों ने महसूस किया कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा अपनी भाषा के वसीले से ही कर सकता है। इसलिए इन लोगों ने इसे पश्चिम के गाँवों में से खोज निकालने और एक ज़िन्दा भाषा बनाने के लिए कठोर परिश्रम किया। इस उद्देश्य के लिए एक गैलिक-लीग क़ायम की गई। हर जगह और ख़ासकर पराधीन देशों में, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की बुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह न तो जनता तक पहुँच सकता है और न जड़ पकड़ सकता है। आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ी भाषा विदेशी भाषा नहीं रह गई थी। इस भाषा को बहुत करके सभी समझते और बोलते थे। गेली भाषा से तो यह सचमुच ज्यादा चालू थी। इसपर आयरी राष्ट्रवादियों ने गेली भाषा को फिर से उठाना ज़रूरी समझा, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से उनका रिश्ता न टूटने पाये।

उस समय आयर्लैण्ड में यह भावना फैली हुई थी कि मज़बूती अन्दर से आती है, बाहर से नहीं। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनीतिक कार्रवाइयों के बारे में भ्रम दूर हो रहा था और इसलिए ज्यादा मज़बूत नींव पर राष्ट्र के निर्माण के यत्न किये गए। बीसवीं सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल अलग तरह का था, इसलिए इस नई चेतना का असर सारी दिशाओं में प्रकट होने लगा—साहित्य व संस्कृति की दिशाओं में, जैसा कि मैंने ऊपर बताया है,

और आर्थिक दिशा में भी, जहाँ किसानों को सहकारी आधार पर संगठन करने के सफल यत्न किये गए।

लेकिन इन सबके पीछे थी आज़ादी की तड़प, और हालाँकि ऐसा मालूम होता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरी राष्ट्रवादी दल में आयरी जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। जनता समझने लग गई थी कि ये लोग कोरे राजनीतिक हैं, जिन्हें भाषण देने का शौक़ है, लेकिन कुछ कर-धर सकने की ताक़त नहीं है। पुराने फ़ेनियनों का और स्वाधीनता में विश्वास करने-वाले दूसरे लोगों का तो इन पार्लमेण्टी लोगों में और इनके स्वराज में विश्वास था ही नहीं। अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अपना मुँह मोड़ने लगा। अपने पाँवों पर खड़े रहने की भावनाएँ हवा में भर रही थीं; क्यों नहीं इन्हें राजनीति में भी लागू किया जाय? हथियारों की बग़ावत के विचार लोगों के दिमाग़ों में फिर चक्कर काटने लगे। लेकिन अमली कार्रवाई की इस इच्छा को एक नया रूप दिया गया। आर्थर ग्रिफ़िथ नामक नौजवान आयर-निवासी ने एक नई नीति का प्रचार शुरू कर दिया। जो 'शिनफ़ेन' कहलाई। इसका अर्थ है 'हम खुद'।

इन शब्दों से हमें उस नीति का पता चलता है, जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी। शिनफ़ेनी चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इंग्लैण्ड से किसी तरह की मदद की भीख न माँगे। ये लोग भीतर से राष्ट्र की शक्ति को खड़ा करना चाहते थे और गेली-आन्दोलन व संस्कृति को फिर से उठाने के समर्थक थे। राजनीतिक मैदान में ये उस समय चलनेवाली बेकार पार्लमेण्टी कार्रवाई को नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की उम्मीद नहीं रखते थे। साथ ही वे हथियारों की बग़ावत को मुमकिन नहीं समझते थे। ब्रिटिश सरकार से एक क़िस्म के असहयोग के ज़रिये ये पार्लमेण्टी कार्रवाई के बजाय 'सीधी कार्रवाई' का प्रचार करते थे। आर्थर ग्रिफ़िथ ने हंगरी की मिसाल पेश की जहाँ एक पीढ़ी पहले निष्क्रिय प्रतिरोध[1] की नीति सफल हो चुकी थी, और इंग्लैण्ड को मजबूर करने के लिए उसने इसी ढंग की नीति आयर्लैण्ड में भी बरती जाने की सिफ़ारिश की।

पिछले तेरह वर्षों में भारत में हमारे सामने असहयोग के कई रूप आये हैं, और आयर्लैण्ड की इस मिसाल का मुक़ाबला अपने असहयोग से करना दिलचस्प बात है। तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन का आधार अहिंसा रहा है। लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग की ऐसी कोई बुनियाद नहीं थी। फिर भी उस

---

[1] Passive Resistance—यह असहयोग का ही दूसरा नाम है। बायकाट भी इसीका अंग है। इसका अर्थ है सरकार से सब कामों में असहयोग करके मुक़ाबला करना। उर्दू में इसे अदम-तशद्दुद कहते हैं।

सुझाये गए असहयोग की ताक़त शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध में ही थी। इस लड़ाई को भी बुनियादी तौर पर शान्तिमय ही रखने का इरादा था।

शिनफ़ेन के विचार धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानों में फैलने लगे। इन विचारों की वजह से आयर्लैण्ड में एकदम आग नहीं भड़की। अब भी बहुत-से लोग ऐसे थे, जिन्हें पार्लमेण्ट से उम्मीदें थीं, ख़ासकर इसलिए कि १९०६ ई० के चुनावों में उदार दल का फिर भारी बहुमत हो गया था। कामन्स-सभा में इस बहुमत के होते हुए भी उदार दल को लॉर्ड्स-सभा के अनुदार व एकतावादी दलों के स्थायी बहुमत का मुक़ाबला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनों सभाओं में बहुत जल्द झगड़ा हो गया। इस झगड़े का नतीजा यह निकला कि लॉर्डों की ताक़त कम कर दी गई। आर्थिक मामलों में इनकी अड़ंगेबाज़ी को कामन्स-सभा इस तरह पार कर सकती थी कि लॉर्ड्स के ऐतराज़ी बिल को अपनी तीन लगातार बैठकों में पास करदे। इस तरह १९११ ई० के पार्लमेण्टी क़ानून के ज़रिये उदार दल ने लॉर्ड्स सभा के दाँत तोड़ दिये। फिर भी लॉर्डों के हाथ में बहुत काफ़ी ताक़त बनी रही, जिससे वे कामन्स-सभा के काम को रोक सकते थे और उसमें अड़ंगा लगा सकते थे।

लॉर्डों के अटल विरोध का उचित इन्तज़ाम करके उदार दल ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया और कामन्स-सभा ने इसे १९१३ ई० में पास कर दिया। जैसी कि उम्मीद थी, लॉर्डों ने इसको नामंजूर कर दिया और फिर कामन्स-सभा ने इसे लगातार तीन बार पास करने की परेशानी उठाई। इस तरह १९१४ ई० में यह बिल क़ानून बन गया और सारे आयर्लैण्ड पर, जिसमें अल्स्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पड़ता था कि आयर्लैण्ड को अन्त में स्वराज मिल ही गया, मगर इसमें बहुत-से अगर-मगर थे! जब १९१२-१३ ई० में पार्लमेण्ट होमरूल बिल पर बहस कर रही थी, तब उत्तरी आयर्लैण्ड में अजीब घटनाएँ हो रही थीं। अल्स्टर के नेताओं ने ऐलान कर दिया था कि वे स्वराज को नहीं मानेंगे, और अगर इस का क़ानून पास भी हो गया वे तो उसका मुक़ाबला करेंगे। वे बग़ावत की बातें करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू कर दी। यह भी कहा गया कि वे स्वराज के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए किसी विदेशी शक्ति की, मतलब यह कि जर्मनी की, मदद माँगने में भी नहीं हिचकिचायेंगे! यह खुली और बिना छिपाव की ग़द्दारी थी। इससे भी ज़्यादा मज़े की बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड के अनुदार दल के नेताओं ने बग़ावत के इस आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और बहुतों ने इसे मदद भी दी। मालदार अनुदार वर्गों की तरफ़ से अल्स्टर में रुपया बरसने लगा। यह प्रकट था कि 'ऊँचा वर्ग' कहलानेवाले या शासक-वर्ग के लोग आमतौर पर अल्स्टर के साथ थे, और इन्हीं वर्गों के अफ़सर भी थे। हथियार चोरी-छिपे आने लगे और स्वयंसेवकों

को खुल्लमखुल्ला क़वायद सिखाई जाने लगी। अल्स्टर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो समय आने पर शासन की ज़िम्मेदारी सम्हाल ले। ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि अल्स्टर के अगुआ बाग़ियों में पार्लमेण्ट का एक नामी अनुदार सदस्य एफ़० ई० स्मिथ था, जो बाद में लॉर्ड बरकनहैड हुआ और भारत सचिव रहा और जिसने दूसरे ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर भी काम किया।

इतिहास में बग़ावतें अक्सर होनेवाली घटनाएँ हैं और आयर्लैण्ड ने तो इनमें खासतौर से अपना पूरा हिस्सा बँटा लिया है। फिर भी अल्स्टर-विद्रोह की ये तैयारियाँ हमारे लिए ख़ास दिलचस्पी की चीज़ हैं; क्योंकि इसे भड़कानेवाला दल वही दल था, जो अपनी संविधानी व पुरातन-पन्थी ख़ासियत पर घमण्ड करता था। यह वही दल था, जो सदा 'क़ानून और व्यवस्था' की दुहाई देता था और इस क़ानून और व्यवस्था के तोड़नेवालों को कठोर सज़ाएँ देने का हामी था। लेकिन इसी दल के बड़े-बड़े सदस्य खुली ग़द्दारी की बातें करते थे और हथियारों की बग़ावत की तैयारी करते थे, और इसके सारे आम सदस्य पैसे की सहायता देते थे! यह भी ग़ौर करने की दिलचस्प बात है कि बग़ावत की यह तजवीज़ उस पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती थी, जो होमरूल बिल पर विचार कर रही थी और जिसने बाद में इसे पास किया। इस तरह इस दल ने लोकतन्त्र की जड़ पर ही कुल्हाड़ी चलाई और इससे अंग्रेज़ लोगों की वह पुरानी शेखी मिट्टी में मिल गई कि वे क़ानून के राज और संविधानी कार्रवाई में विश्वास रखते हैं।

१९१२-१४ ई० की अल्स्टर-'बग़ावत' ने इन नक़ली दावों और लच्छेदार बातों का पर्दा फाड़ फेंका और सरकार व आधुनिक लोकतन्त्र का असली रूप प्रकट कर दिया। जबतक 'क़ानून और व्यवस्था' का मतलब यह था कि शासक-वर्ग की ख़ास रियायतों व स्वार्थों की रक्षा होती रहे तबतक क़ानून और व्यवस्था पसन्द की चीज़ें थे; जहाँतक लोकतन्त्र इन ख़ास रियायतों व स्वार्थों में दख़ल नहीं देता था, वहाँतक उसे बर्दाश्त किया जा सकता था। लेकिन अगर इन ख़ास रियायतों पर कोई हमला होता, तो यह वर्ग लड़ने पर आमादा हो जाता। इस तरह 'क़ानून और व्यवस्था' सिर्फ़ एक चिकना-चुपड़ा फ़िक़रा था, जिसका अर्थ था उनके अपने स्वार्थ। इससे ज़ाहिर हो गया कि ब्रिटिश सरकार असल में एक वर्ग की सरकार थी, जिसे पार्लमेण्ट का विरोधी बहुमत भी आसानी से नहीं हिला सकता था। अगर यह बहुमत ऐसा कोई समाजवादी क़ानून पास करने की कोशिश करता, जिससे इनकी ख़ास रियायतों में कमी पड़ती तो लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के बावजूद ये उसके ख़िलाफ़ बग़ावत कर देते। इन बातों को ध्यान में रखना अच्छा है। क्योंकि ये बातें सब देशों पर लागू होती हैं, और यह अन्देशा है कि नेक फ़िक़रों और ढोल-ढमाकेदार शब्दों के माया-जाल में फँसकर कहीं हम असलियत को न भूल जायँ।

इस बारे में दक्षिण अमेरिका के किसी गणराज्य, जहाँ अक्सर क्रान्तियाँ हुआ करती हैं, और इंग्लैण्ड, जहाँ एक टिकाऊ सरकार है, दोनों के बीच कोई बुनियादी फ़र्क नहीं है। टिकाऊपन सिर्फ़ इसीमें है कि शासक-वर्गों ने अपनी जड़ें मज़बूत जमा ली हैं, और अभी तक कोई दूसरा वर्ग इतन ताक़तवर नहीं हुआ, जो उन्हें हटा दे। १९११ ई० में लॉर्ड्स-सभा, जो इस वर्ग का एक गढ़ थी, कमजोर पड़ गई। इस पर यह वर्ग घबरा गया और अल्स्टर का मामला बग़ावत का एक बहाना बन गया।

भारत में 'क़ानून और व्यवस्था' के जादूभरे शब्द तो हमारे साथ हर रोज़ और दिन में कई बार लगे रहते हैं। इसलिए इनका सही अर्थ समझ लेना हमारे लिए ज़रूरी है। हम यह भी याद रख लें कि हमारा एक नेक सलाहकार, यानी भारत-सचिव, अल्स्टर की बग़ावत का एक नेता था।

इस तरह अल्स्टर हथियारों और स्वयंसेवकों के साथ बग़ावत की तैयारी करने लगा और सरकार चुपचाप देखती रही। इन तैयारियों के खिलाफ़ कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाले गये। कुछ समय बाद आयर्लैण्ड के बाक़ी हिस्से ने अल्स्टर की नक़ल शुरू कर दी, लेकिन स्वराज के पक्ष में, और ज़रूरत पड़ने पर अल्स्टर के खिलाफ़ लड़ने के लिए 'राष्ट्रीय स्वयंसेवकों' का संगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में मुक़ाबले की दो फ़ौजें तैयार हो गईं। अजीब बात तो यह है कि जिन ब्रिटिश अधिकारियों ने अल्स्टर की बग़ावत के स्वयंसेवकों को हथियारबन्द होते हुए देखकर भी आँखें मूँद ली थीं, वे ही 'राष्ट्रीय स्वयंसेवकों' को दबाने में बहुत ज्यादा चौकन्ने हो गये, हालाँकि ये लोग होमरूल बिल के खिलाफ़ नहीं थे।

स्वयंसेवकों के इन दो संगठनों के बीच मुठभेड़ लाज़िमी मालूम होने लगी, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय, १९१४ ई० के अगस्त में, एक बड़ा युद्ध, यानी पहला महायुद्ध, छिड़ गया और उसके सामने बाक़ी सब चीज़ें फीकी पड़ गईं। होमरूल बिल क़ानून ज़रूर बन गया, लेकिन उसमें यह शर्त लगा दी गई थी कि युद्ध के अन्त से पहले उसपर अमल नहीं किया जाय! इस तरह स्वराज पहले की तरह बहुत दूर की चीज बना रहा और युद्ध का अन्त होने से पहले तो आयर्लैण्ड में बहुत-कुछ हो जानेवाला था।

मैं जुदा-जुदा देशों की अपनी कहानी महायुद्ध की शुरुआत तक ला रहा हूँ। आयर्लैण्ड में भी हम इस मंज़िल तक पहुँच चुके हैं, इसलिए फ़िलहाल आगे नहीं बढ़ेंगे। लेकिन इस पत्र को खत्म करने के पहले एक बात मैं तुम्हें ज़रूर बता देना चाहता हूँ। अल्स्टर की बग़ावत के नेताओं को उनकी हरकतों के लिए सज़ा देने के बजाय कुछ ही दिनों बाद ये इनाम दिये गए कि वे ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल में शामिल किये गए और ब्रिटिश सरकार में उन्हें ऊँचे ओहदे दिये गए।

: १४१ :

इंग्लैण्ड का मिस्र पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा

११ मार्च, १९३३

अमेरिका से लम्बी छलाँग मारकर और अतलान्तिक महासागर पार करके हम आयर्लैण्ड पहुँच गये थे। अब हमें कूदकर एक तीसरे महाद्वीप अफ़्रीका में, और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के एक और शिकार मिस्र में, पहुँचना है। मैंने अपने कुछ पिछले पत्रों में मिस्र के प्राचीन इतिहास की कुछ चर्चाएँ की थीं। ये संक्षिप्त और बिखरी हुई थीं, क्योंकि मुझे खुद इस विषय की जानकारी नहीं है। पर, अगर मुझे इससे ज्यादा मालूम भी होता तो भी यहाँतक आकर अब मैं शुरू के युगों को वापस नहीं लौट सकता। हम आखिर उन्नीसवीं सदी की अपनी कहानी क़रीब-क़रीब ख़त्म कर चुके हैं और बीसवीं सदी के दरवाज़े पर आ गये हैं और हमें यहीं ठहरना है। यह नहीं हो सकता कि हम हमेशा कभी पीछे और कभी आगे चलते रहें। इसके अलावा भी अगर मैं हरेक देश के अतीत की कहानी लिखने की कोशिश करूँ तो क्या ये पत्र कभी ख़त्म हो सकेंगे ?

फिर भी मैं तुम्हें यह खयाल करने नहीं देना चाहता कि मिस्र की कहानी कुछ है ही नहीं। मिस्र की गिनती प्राचीन राष्ट्रों में है और इसका इतिहास दूसरे देशों के इतिहासों से पुराना है। इसके ज़माने छोटी-मोटी सदियों में नहीं बल्कि हज़ारों वर्षों के हिसाब से गिने जाते हैं। अद्‌भुत और हैरत में डालनेवाली बची-खुची निशानियाँ इसके प्राचीन अतीत की याद दिलाती हैं। पुरातत्व की खोजों के लिए मिस्र सबसे पहला और सबसे बड़ा मैदान रहा है; और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर के स्मारक व दूसरी पुरानी निशानियाँ खोदकर निकाले गये, वे बहुत ही दूर के उन दिनों की कहानी कहने लगे जबकि वे बने ही थे। खुदाई और खोज का यह सिलसिला अभी तक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास में नई-नई बातें जोड़ता जाता है। फिर भी हम अभी तक यह नहीं कह सकते कि मिस्र का इतिहास कब से और कैसे शुरू होता है। क़रीब सात हज़ार वर्ष पहले ही नील के काँठे में सभ्य लोग रहा करते थे जिनके पीछे का लम्बा इतिहास था। ये लोग अपनी चित्र-लिपि में लिखा करते थे; वे मिट्टी के सुन्दर बर्तन और कलश, और सोने व ताँबे के बर्तन, और हाथी-दाँत व सेलखड़ी की नक्क़ाशीदार चीज़ें, बनाते थे।

कहा जाता है कि जब मक़दूनिया के सिकन्दर ने ईसा पूर्व चौथी सदी में मिस्र को जीता था, उससे पहले ही इकत्तीस मिस्री राजवंश वहाँ राज कर चुके थे। इन चार या पाँच हज़ार वर्ष के बहुत लम्बे ज़माने में पुरुषों व स्त्रियों के कुछ अद्‌भुत नमूने सामने आते हैं, जो आज भी जीते-जागते से मालूम देते हैं—कर्मवीर

ब्रिटेन का मिस्र पर अधिकार

सायप्रस
ब्रिटिश-१८७८
सीरिया
तुर्की
सिकंदरिया
त्रिपोली
तुर्की
काहिरा
स्वेज़
अरब
मदीना
मि स्र
लाल सागर
सू दा न
बेर्बर
ओम्दुरमान
ख़ार्तुम

नर-नारियाँ, खूब इमारतें बनवानेवाले, सपनों की दुनिया में रहनेवाले व विचारक महापुरुष, सूरमा, निरंकुश व अत्याचारी राजा, घमण्डी व अहंकारी शासक, खूबसूरत औरतें। एक के बाद दूसरे हज़ार-साला ज़माने में फ़रऊनों का लम्बा सिलसिला हमारे सामने से गुज़र जाता है। स्त्रियों को पूरी आज़ादी थी और कुछ स्त्रियाँ राजगद्दी पर भी बैठी थीं। इस देश में पुजारियों का बड़ा महत्व था और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता में डूबे रहते थे। मिस्र के बड़े-बड़े पिरामिड, जिनकी तामीर बेग़ारी मज़दूरों ने की थी और जिनके बनाने में इन मज़दूरों के साथ बड़ी बेरहमी की गई थी, एक तरह से फ़रऊनों के इसी भविष्य की तैयारी के वास्ते बनाये गए थे। मोमियाइयाँ भी लाश को भविष्य के लिए बचाकर रखने का ही एक ढंग थीं। ये सब बातें अँधेरी, कठोर और उदासीभरी जान पड़ती हैं। और फिर हमें आदमियों के बनावटी बाल भी मिलते हैं, क्योंकि ये लोग अपने सिर मुंड़ाया करते थे! और बच्चों के खिलौने, जैसे गुड़ियाँ, गेंदें और हाथ-पैर हिलानेवाले छोटे जानवर; जिन्हें देखकर हमें अचानक पुराने मिस्रियों के जीवन के इन्सानी पहलू की याद आ जाती है, और ऐसा मालूम होता है कि युगों को लाँघकर वे हमारे नज़दीक आ गये हैं।

ईसा पूर्व छठी सदी में, यानी बुद्ध-काल के आस-पास, ईरानियों ने मिस्र जीत लिया और इसे अपने लम्बे-चौड़े साम्राज्य का एक प्रान्त बना दिया, जो नील नदी से सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। ये लोग हख़ामनी वंश के बादशाह थे, जिनकी राजधानी परसीपोल थी। इन्होंने यूनान को अपने क़ाबू में करने की कोशिश की पर असफल रहे और अन्त में सिकन्दर ने इन्हें हरा दिया। ईरानियों के कठोर शासन से छुड़ानेवाले की तरह मिस्र ने सिकन्दर का स्वागत किया। इस्कन्दरिया के रूप में सिकन्दर यहाँ अपनी यादगार छोड़ गया, और यह शहर विद्या और यूनानी संस्कृति का नामी केन्द्र बन गया।

तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में बँट गया था और मिस्र तालमी के हिस्से में आया था। तालमी वंश बहुत जल्द मिस्री ढांचे में ढल गया, और ईरानी तो ऐसा नहीं कर पाये थे, लेकिन तालमियों ने मिस्री दस्तूरों को अपना लिया। ये लोग मिस्रियों की तरह आचार-व्यवहार करने लगे और उन्हें फ़रऊनों की पुरानी नस्ल का ही सिलसिला मान लिया गया। क्लियोपैत्रा तालमी वंश की आख़िरी कड़ी थी। इसकी मृत्यु के बाद, ईसाई सन् शुरू होने के कुछ वर्ष पहले, मिस्र रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त हो गया।

मिस्र ने रोम से बहुत पहले ईसाई मज़हब अपना लिया था। रोमनों ने इन मिस्री ईसाइयों पर बहुत अत्याचार किये, जिससे इन्हें भागकर रेगिस्तान में छिपना

पड़ा। रेगिस्तान में अनेक ख़ुफ़िया मठ पैदा हो गये और इन मठों में रहनेवाले साधुओं के चमत्कारों की अचरजभरी और रहस्यभरी कहानियाँ उस ज़माने के ईसाई-जगत् में खूब फैल रही थीं। बाद में जब सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन ने ईसाई मज़हब क़बूल कर लिया, तब ईसाइयत रोमन साम्राज्य का सरकारी मज़हब हो गई। तब इन मिस्री ईसाइयों ने भी ग़ैर-ईसाइयों पर, यानी पुराने मिस्री मज़हब को माननेवालों पर, बेरहम अत्याचार करके बदला चुकाने की कोशिश की। इस्कन्दरिया अब विद्या का एक मशहूर ईसाई-केन्द्र हो गया, लेकिन राज्य-धर्म होने पर ईसाइयत कई फ़िरक़ों और दलों में बँट गई, जो सदा आपस में झगड़ते रहते थे और प्रभुताई के लिए लड़ते रहते थे। ये खूनी कलह ऐसी दुखदायी चीज़ बन गई कि आम लोग इन सारे ईसाई फ़िरक़ों से बिलकुल तंग आ गये। इसलिए सातवीं सदी में जब अरब लोग एक नया मज़हब लेकर आये, तो जनता ने उनका स्वागत किया। मिस्र और उत्तरी अफ़्रीका को अरबों ने इतनी आसानी से फ़तह कर लिया, इसकी एक वजह यह भी थी। अब फिर ईसाइयों पर अत्याचार होने लगे और उनका बेरहमी से दमन होने लगा।

इस तरह मिस्र ख़लीफ़ा के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अरबी भाषा और अरबी संस्कृति तेज़ी से फैल गई; यहाँतक कि पुरानी मिस्री भाषा का स्थान अरबी ने ले लिया। दो सौ वर्ष बाद, नवीं सदी में, जब बग़दाद की ख़िलाफ़त कमज़ोर हुई तो मिस्र तुर्की हाक़िमों के मातहत आधा-स्वाधीन देश हो गया। तीन सौ वर्षों बाद क्रूसेड-युद्धों का मुस्लिम वीर सलादीन, मिस्र का सुलतान बन बैठा। सलादीन के कुछ ही दिन बाद उसके एक वारिस ने कोह क़ाफ़ (काकेशस) प्रदेश से बहुत-से तुर्की ग़ुलाम लाकर उन्हें अपने सिपाही बनाया। ये गोरे ग़ुलाम ममलूक कहलाते थे। ममलूक का अर्थ है ग़ुलाम। ये लोग फ़ौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और बड़े सजीले जवान थे। कुछ ही वर्षों के अन्दर ये ममलूक विद्रोह कर बैठे और इन्होंने अपने ही एक आदमी को मिस्र का सुलतान बना दिया। इस तरह मिस्र में ममलूकों का राज शुरू हुआ, जो ढाई सौ साल रहा और आधे-स्वाधीन रूप में इसके बाद क़रीब तीन सौ साल और भी चला। इस तरह विदेशी ग़ुलामों की इस जमात ने मिस्र पर पाँच सौ वर्षों से ज्यादा हुकूमत की। इतिहास में यह एक बेजोड़ और निराली घटना है।

ऐसा नहीं हुआ कि शुरू में आये हुए ममलूकों की कोई मौरूसी जाति या वर्ग मिस्र में बन गया हो। ये तो कोह क़ाफ़ की गोरी नस्लों के अच्छे-से-अच्छे ग़ुलामों को छाँटकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते थे। कोह क़ाफ़ी जातियाँ आर्य हैं, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की धरती में पनप नहीं पाये और इनके कुटुम्ब कुछ पीढ़ियों के बाद खत्म हो जाते थे। लेकिन चूँकि नये-नये

ममलूक आते रहते थे, इसलिए इस वर्ग की संख्या और खासतौर पर इसकी ताक़त और इसकी जानदारी क़ायम रही। इस तरह, हालाँकि इन लोगों का कोई मौरूसी वर्ग नहीं बन पाया, फिर भी इनका एक रईस-वर्ग और शासक-वर्ग बन गया जो बहुत लम्बे समय तक क़ायम रहा।

सोलहवीं सदी के शुरू में क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र फ़तह कर लिया और ममलूक सुलतान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी-साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक लोग फिर भी शासक रईस-वर्ग बने रहे। बाद में जब यूरोप में तुर्कों की ताक़त घट गई तब कहने को तो मिस्र उस्मानी-साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूकों ने वहाँ खूब मनमानी की। अठारहवीं सदी के अन्त में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्हीं ममलूकों से मुठभेड़ हुई और उसने इन्हें हरा दिया। पिछले किसी पत्र में कही गई उस ममलूक सूरमा की कहानी तुम्हें याद होगी, जिसने अपना घोड़ा बढ़ाकर फ़ान्सीसी सेना के सामने जा खड़ा किया था और मध्य-युगों व वीर-काल के रिवाज के मुताबिक उनके नेता को जोड़ की लड़ाई के लिए ललकारा था।

अब हम उन्नीसवीं सदी तक आ गये। इस सदी के अगले हिस्से में मिस्र पर मुहम्मदअली का दबदबा रहा। यह अलबानी तुर्क था और मिस्र का हाक़िम बन गया था। ये तुर्की हाक़िम 'ख़दीव' कहलाते थे। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का बानी माना जाता है। पहली बात तो उसने यह की कि ममलूकों को धोखे से तलवार के घाट उतारकर उनकी सत्ता का अन्त कर दिया। यह मिस्र में एक अंग्रेज़ी फ़ौज को भी हराकर इस देश का मालिक बन बैठा और सिर्फ़ नाम के लिए ही तुर्की सुलतान की प्रभु-सत्ता को क़बूल करता रहा। इसने नई मिस्री फ़ौज तैयार की, जिसमें देहाती किसानों की भरती की गई (ममलूकों की नहीं)। इसने नई नहरें खुदवाईं और कपास की खेती को बढ़ावा दिया, जो आगे जाकर मिस्र का सबसे बड़ा उद्योग हो गया। इसने यह धमकी भी दी थी कि वह क़ुस्तुन्तुनिया के नाम-मात्र के मालिक को निकालकर इस शहर पर ही क़ब्ज़ा कर लेगा। लेकिन उसने ऐसा किया नहीं और सिर्फ़ सीरिया को मिस्र में मिला लिया।

मुहम्मदअली सन् १८४९ ई० में अस्सी वर्ष की उम्र में मर गया। इसके उत्तराधिकारी पोच, फ़िज़ूलखर्च और निकम्मे आदमी थे। लेकिन अगर वे ऐसे न होकर अच्छे भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बौहरों के लालच का और यूरोपीय साम्राज्यशाही की हवस का मुक़ाबला करना कठिन होता। विदेशियों ने, खासकर अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी बौहरों ने, खदीवों को ज्यादातर उनके निजी खर्च के लिए बेहद ऊँची दरों पर रुपया उधार दिया और जब उसका ब्याज वक़्त पर अदा न हो सका तो जंगी-जहाज़ उसे वसूल करने के लिए आ धमके! अन्तर्राष्ट्रीय

साज़िश की यह अनोखी कहानी है कि बौहरे और सरकारें किस तरह दूसरे देश को लूटने और दबाने के वास्ते आपस में मिली-भगत से काम करते हैं। कई ख़दीवों के निकम्मेपन के बावजूद भी मिस्र ने बहुत प्रगति कर ली थी; यहाँतक कि एक बड़े अंग्रेज़ी अख़बार 'टाइम्स' ने जनवरी, १८७६ ई० के एक अंक में लिखा था: "मिस्र प्रगति की एक चमत्कारी मिसाल है। इस देश ने सत्तर वर्षों में इतनी प्रगति कर ली है, जितनी दूसरे देशों ने पाँच सौ वर्षों में की।" पर इस सबके बावजूद विदेशी बौहरे एक कौड़ी भी छोड़ने को तैयार नहीं हुए और यह दिखाकर कि देश दिवालियापन की तरफ़ दौड़ रहा है, उन्होंने विदेशों से दस्तन्दाज़ी की माँग की। विदेशी सरकारें, ख़ासकर अंग्रेज़ी और फ़्रान्सीसी सरकारें, तो दख़ल देने पर तुली बैठी थीं। इन्हें तो सिर्फ़ कुछ बहाना चाहिए था, क्योंकि मिस्र ऐसा ललचाऊ निवाला था, जिसे छोड़ा नहीं जा सकता था, और फिर मिस्र भारत के रास्ते में भी पड़ता था।

इसी बीच स्वेज़ की नहर, जो बेग़ारी मज़दूरों से और बड़े वहशियाना तरीक़ों से बनवाई गई थी, १८६९ ई० में खुल गई। (यह जानकर तुम्हें दिलचस्पी होगी कि ईसा से १४०० वर्ष पहले पुराने मिस्र राज-वंशों के ज़माने में, इसी तरह की नहर लालसागर और भूमध्यसागर के बीच में थी!) इस नहर के खुल जाने से यूरोप, एशिया और आस्ट्रेलिया की सारी आवा-जाई स्वेज़ से होकर गुज़रने लगी और मिस्र का महत्व और भी ज़्यादा बढ़ गया। इंग्लैण्ड के लिए इस नहर पर और मिस्र पर क़ाबू रखना परम महत्व की चीज़ हो गया; क्योंकि भारत और पूर्वी देशों में उसके बहुत ही गहरे स्वार्थ फँसे हुए थे। १८७५ ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री डिज़रेली ने दिवालिया ख़दीव के स्वेज़ नहर के हिस्सों को बहुत कम क़ीमत पर ख़रीदकर एक राजनीतिक चाल खेली। इन हिस्सों में पूंजी लगाना मुनाफ़े का कारोबार तो था ही, साथ ही ब्रिटिश सरकार का नहर पर बहुत काफ़ी दख़ल हो गया। मिस्र के बचे हुए हिस्से फ़्रान्सीसी बौहरों ने ख़रीद लिये, इसलिए नहर के माली मामलों में मिस्र का कुछ भी दख़ल बाक़ी नहीं रह गया। इन हिस्सों से फ़्रान्सीसियों ने और अंग्रेज़ों ने बेशुमार मुनाफ़े कमाये हैं और साथ-ही-साथ नहर पर क़ब्ज़ा रखकर मिस्र को अपनी मुट्ठी में दबाये रक्खा है। १९३२ ई० में सिर्फ़ ब्रिटिश सरकार को ४० लाख पौण्ड की मूल पूंजी पर इस नहर से ३५ लाख पौण्ड का मुनाफ़ा रहा है।

यह लाज़िमी था कि ब्रिटिश सरकार इस देश पर और ज़्यादा दख़ल जमाने की कोशिश करती, और इसलिए १८७९ ई० से इसने मिस्र के अन्दरूनी मामलों में बराबर दख़ल देना शुरू किया और अपने यहाँ के बौहरों के हाथों में सारा अधिकार दे दिया। बहुत-से मिस्रियों का इसपर नाराज़ होना लाज़िमी था और मिस्र को विदेशी दस्तन्दाज़ी से छुड़ाने पर तुला हुआ एक राष्ट्रवादी दल पैदा हो गया।

इस दल का नेता एक नौजवान सिपाही अरबीपाशा था, जिसका जन्म एक ग़रीब मज़दूर-परिवार में हुआ था और जो मिस्र की फ़ौज में मामूली सिपाही की तरह भरती हुआ था। धीरे-धीरे इसका ज़ोर बढ़ने लगा और यह मिस्र का युद्ध-मन्त्री हो गया। इस हैसियत से इसने फ़्रान्सीसी व ब्रिटिश मालिकों की हिदायतें मानने से इन्कार कर दिया। विदेशियों के तानाशाही हुक्म के आगे सिर न झुकाने का जवाब इंग्लैण्ड ने युद्ध से दिया, और १८८२ ई० में अंग्रेज़ी बेड़े ने इस्कन्दरिया शहर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता के बड़प्पन को ज़ाहिर करके और मिस्री सेनाओं को खुश्की पर भी हराकर अंग्रेज़ों ने अब मिस्र पर पूरा दखल जमा लिया।

इस तरह मिस्र पर अंग्रेज़ों के फ़ौजी क़ब्ज़े की शुरुआत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के लिहाज़ से यह एक अनोखी स्थिति थी। मिस्र तुर्की सल्तनत का एक प्रान्त या हिस्सा था। इंग्लैण्ड का तुर्की से दोस्ती का रिश्ता माना जाता था, इसपर भी इंग्लैण्ड ने इतमीनान के साथ उसकी सल्तनत के एक हिस्से पर फ़ौजी क़ब्ज़ा जमा लिया और मिस्र में अपना एक एजेण्ट रख दिया। मुग़ल बादशाहों की तरह या भारत के वायसराय की तरह यह सबके ऊपर हुक्म चलाता था, यहाँतक कि ख़दीव और उसके मन्त्री भी इस ब्रिटिश एजेण्ट के आगे बेबस थे। मिस्र का पहला ब्रिटिश एजेण्ट मेजर बेरिंग था, जिसने मिस्र पर पच्चीस साल राज किया और जो बाद में लॉर्ड क्रोमर हो गया। क्रोमर ने मिस्र पर निरंकुश राजा की तरह राज किया। इसका सबसे पहला काम यह देखना था कि विदेशी बौहरों और पट्टे-दारों को मुनाफ़ों का भुगतान होता रहे। यह भुगतान बिना रोक-टोक होता रहा और मिस्र की माली हालत की मज़बूती की बड़ी तारीफ़ें की जाने लगीं। भारत की तरह मिस्र के प्रशासन में भी कुछ चुस्ती पैदा की गई, लेकिन पच्चीस वर्ष ख़त्म होने पर भी मिस्र का पुराना क़र्ज़ उतना ही बना रहा, जितना शुरू में था। शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया गया और क्रोमर ने तो एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का खोलना भी रोक दिया था। इसके रुख का पता इसके पत्र के एक वाक्य से चलता है, जो इसने १८९२ ई० में उस समय के इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री लॉर्ड सैलिसबरी को लिखा था: "ख़दीव कट्टर मिस्री बन रहा है!" किसी मिस्र-निवासी का मिस्री की तरह बर्ताव करना लॉर्ड क्रोमर की निगाह में जुर्म था, जैसे किसी भारतवासी के भारतीय की तरह व्यवहार करने पर अंग्रेज़ों की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं और वे उसे सज़ा देते हैं।

मिस्र पर अंग्रेज़ों का यह क़ब्ज़ा फ़ान्सीसियों को नहीं सुहाता था, क्योंकि इस लूट में उन्हें कोई हिस्सा नहीं मिला था। यूरोप की दूसरी शक्तियाँ भी इसे पसन्द नहीं करती थीं, और यह कहने की ज़रूरत है ही नहीं कि मिस्री लोग तो

इसे बिलकुल ही नहीं चाहते थे। ब्रिटिश सरकार हरेक से यही कहती थी कि परेशानी की कोई बात नहीं; हम तो मिस्र में सिर्फ़ कुछ दिनों के लिए हैं और बहुत जल्द इस देश को छोड़कर चले जायँगे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी तौर पर और बाक़ायदा बार-बार यह घोषणा की कि वे मिस्र को ख़ाली कर देंगे। यह गम्भीर घोषणा क़रीब पचास बार या इससे ज़्यादा बार की गई; यहाँतक कि इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। मगर फिर भी अंग्रेज़ लोग मिस्र में जमे रहे और अभी तक बने हुए हैं।[1]

१९०४ ई० में अंग्रेज़ों ने झगड़े के बहुत-से मामलों में फ़्रान्सीसियों के साथ समझौता कर लिया। अंग्रेज़ इस बात पर राज़ी हो गये कि फ़्रान्सीसी लोग मोरक्को में जो चाहे करें; इसके बदले में फ़्रान्सीसी लोग मिस्र पर अंग्रेज़ों का फ़ौजी क़ब्ज़ा मानने के लिए राज़ी हो गये। लेन-देन का यह आपसी सौदा अच्छा हो गया, सिर्फ़ तुर्की से, जिसकी अभी तक मिस्र पर प्रभुता मानी जाती थी, कोई सलाह नहीं ली गई; और मिस्री लोगों से तो पूछने का कोई सवाल ही नहीं था !

इस ज़माने में मिस्र का एक और पहलू यह था कि मिस्री अदालतों को विदेशियों के ख़िलाफ़ कारंवाई करने या मुक़दमे सुनने का अधिकार नहीं था। ये अदालतें इस काम के लायक़ नहीं समझी जाती थीं और विदेशियों को हक़ था कि उनके मुक़दमे उन्हींकी अदालतों में चलाये जायँ। इसलिए 'अधिकार-क्षेत्र के बाहर'[2] कहलानेवाली अदालतें पैदा हो गईं, जिनमें विदेशी न्यायाधीश होते थे और जिनके दिलों में विदेशियों के हित रहते थे। इनमें से एक कट्टर विदेशी न्यायाधीश ने इन अदालतों के बारे में लिखा है: "इन अदालतों के न्याय ने विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, अद्भुत सेवा की।" मेरा ख़याल है कि मिस्र के विदेशी निवासी ज़्यादातर टैक्सों से भी बरी हो जाते थे। क्या ही मौज की स्थिति थी ! टैक्सों से बरी रहना, जिस देश में रहें वहाँ के क़ानूनों और अदालतों के दायरे से बाहर रहना, और साथ ही उस देश के शोषण की हरेक सहूलियत मिलना !

इस तरह इंग्लैण्ड मिस्र पर राज करता था और शोषण करता था और उसके एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेज़ीडेन्सियों में निरंकुश बादशाहों की तरह पूरी शान-शौक़त और तड़क-भड़क से रहते थे। ऐसी हालत में यह होना ही था कि राष्ट्रीयता की भावना और सुधार के आन्दोलन ज़ोर पकड़ते। उन्नीसवीं सदी का सबसे मशहूर मिस्री सुधारक जमालुद्दीन अफ़ग़ानी था। यह मज़हबी नेता था,

---

[1] आख़िरकार अगस्त, १९३६ ई० में मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई और अंग्रेज़ी फ़ौजें वहाँ से हटा ली गईं।

[2] Extra Territorial.

इस्लाम को आधुनिक हालतों के साँचे में ढालकर आधुनिक बना देना चाहता था। यह प्रचार करता था कि हर तरह की प्रगति का इस्लाम के साथ मेल बिठाया जा सकता है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी कोशिश जड़ में उसी तरह की थी, जैसी कोशिशें भारत में हिन्दू-धर्म को आधुनिक बनाने के लिए की गई हैं। इन कोशिशों का आधार यह होता है कि कुछ पुराने बुनियादी उपदेशों को पकड़ लेना और पुराने दस्तूरों व मज़हबी उसूलों के नये अर्थ लगाना और उनकी नई व्याख्या करना। इस ढंग से आधुनिक ज्ञान पुराने मज़हबी ज्ञान का एक क़िस्म का नया हिस्सा या उसपर टीका बन जाता है। मगर यह ढंग वैज्ञानिक ढंग से बिलकुल जुदा है, क्योंकि वैज्ञानिक ढंग तो किसी बात पर अड़ता नहीं और बेधड़क आगे बढ़ता है। कुछ भी हो, जमालुद्दीन का प्रभाव सिर्फ़ मिस्र में ही नहीं बल्कि दूसरे अरबी देशों में भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

विदेशी व्यापार के विकास के साथ-साथ मिस्र में एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और यह वहाँ की नई राष्ट्रीयता की रीढ़ बन गया। आज के मिस्री नेताओं में एक सबसे बड़ा नेता सैयद जगलुलपाशा इसी वर्ग का था। मिस्र में ज्यादातर मुसलमानों की आबादी है, लेकिन वहाँ कॉप्ट लोग, जो ईसाई हैं, अब भी काफ़ी संख्या में हैं। ये कॉप्ट लोग पुराने मिस्रियों की सबसे खालिस नस्ल के हैं। नये मध्यम-वर्ग में मुसलमान भी थे और कॉप्ट भी, और यह बड़ी अच्छी बात थी कि इन दोनों में कोई बैर-भाव नहीं था। अंग्रेज़ों ने इन दोनों में फूट डलवाने की कोशिश की, लेकिन उन्हें बिलकुल सफलता नहीं मिली। अंग्रेज़ों ने राष्ट्रवादी दल में भी फूट डलवाने की कोशिश की। कभी-कभी भारत की तरह मिस्र में भी इन्हें कुछ उदारवादी मिल जाते थे, जो इनके साथ सहयोग करते थे। लेकिन इसके बारे में मैं तुम्हें ज्यादा बातें किसी आगे के पत्र में लिखूंगा।

जब अगस्त, १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ तब मिस्र की यही स्थिति थी। तीन महीने बाद इंग्लैण्ड, फ़ान्स और इनके मित्र-राष्ट्रों के खिलाफ़ तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इंग्लैण्ड ने मिस्र को सचमुच ही ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लेने का फ़ैसला कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक्क़तें पैदा हो गईं। सो शामिल करने के बजाय मिस्र पर इंग्लैण्ड की सरपरस्ती का ऐलान कर दिया गया।

इतना हाल तो मिस्र का अब काफ़ी है। उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में अफ़्रीका का बाक़ी हिस्सा भी यूरोपीय साम्राज्यशाही का शिकार हो गया। इस खूब बड़े महाद्वीप पर ज़बर्दस्त झपट मच गई और यूरोपीय शक्तियों ने इसे आपस में बाँट लिया। ये लोग गिद्धों की तरह इसपर टूट पड़े और कभी-कभी इनमें आपस में दो-दो चोंचें भी हो जाती थीं। कोई किसी की रोकथाम करनेवाला न था, लेकिन १८९६ ई० में इटली अबीसीनिया से हार गया। अफ़्रीका पर ज्यादातर अंग्रेज़ों

और फ़ान्सीसियों का क़ब्ज़ा था और कुछ हिस्से बेलजियम, इटली और पुर्तगाल के क़ब्ज़े में थे। जर्मनों का भी युद्ध में हारने के पहले यहाँ पौवा था। स्वाधीन राज्य सिर्फ़ दो रह गये थे—पूर्व में अबीसीनिया और पश्चिमी किनारे पर छोटा-सा लाइबेरिया। मोरक्को में फ़ान्स और स्पेन का ज़ोर था।

इन बड़े-बड़े प्रदेशों पर किस तरह क़ब्ज़ा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और भयंकर है और अभी वह ख़त्म भी नहीं हुई है। इस महाद्वीप को निचोड़ने के लिए, ख़ासकर रबड़ निकालने के लिए, जो साधन काम में लाये गए, वे इससे भी बुरे थे। कई वर्ष हुए, बेलजियमी कांगों में किये गए अत्याचारों के बयानों से सभ्य कहलानेवाले संसार में आतंक व क्षोभ की लहर फैल गई थी। 'काले आदमियों का बोझ' बड़ा भयानक रहा है।

जहाँतक अफ़्रीका के भीतरी भागों का ताल्लुक़ है, उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से तक यह देश, जिसे 'अँधेरा महाद्वीप' कहा जाता है, क़रीब-क़रीब एक अनजाना प्रदेश था। इस अनजाने भू-खण्ड का सही नक़शा बनाने के लिए इसके एक छोर से दूसरे छोर तक कितनी ही जोखिम-भरी व जीवट यात्राएँ की गईं। स्कॉटलैण्ड का एक मिशनरी, डेविड लिविंग्स्टन, इस देश का सबसे बड़ा खोजी था। वर्षों तक वह इस मुल्क में पता नहीं कहाँ ग़ायब रहा, और बाहर की दुनिया को उसकी कुछ ख़बर न मिली। इसके नाम के साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। यह एक पत्रकार और ख़ोजी था, जो डेविड लिविंग्स्टन की तलाश में निकला था और अन्त में इसने उसे महाद्वीप के भीतरी हिस्से में खोज निकाला।

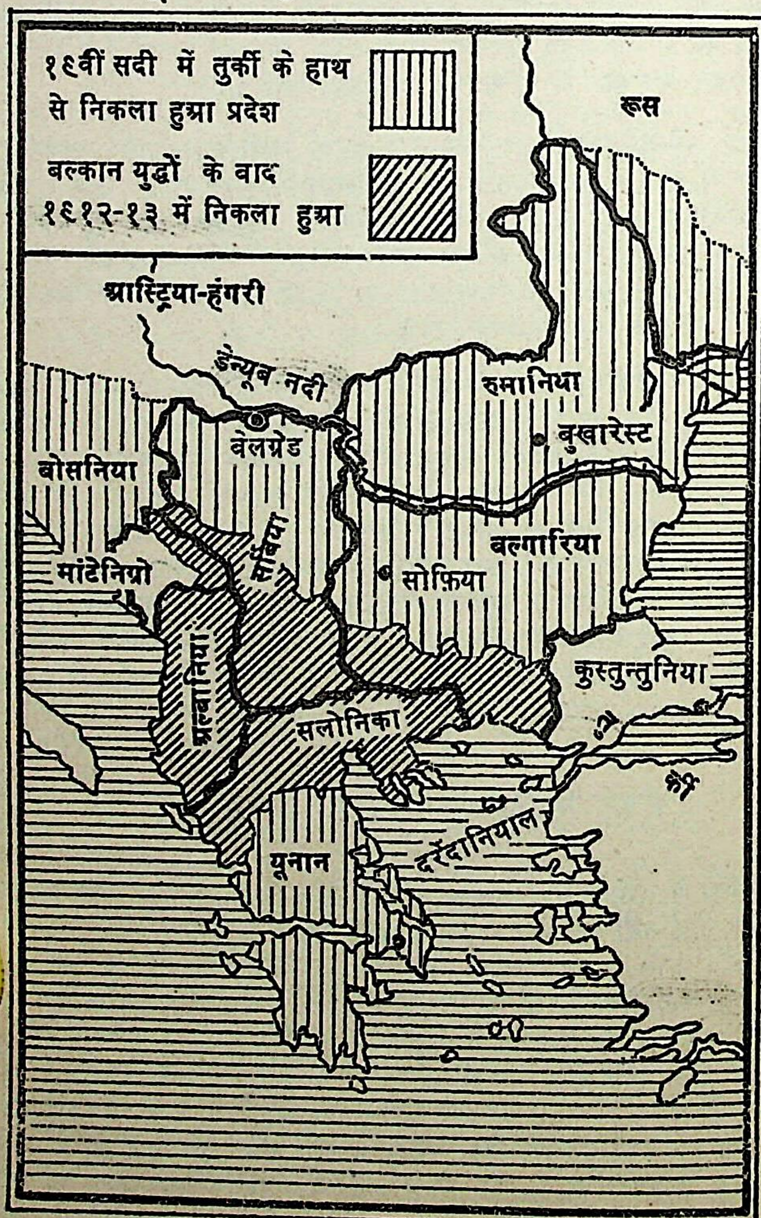
: १४२ :

तुर्की 'यूरोप का बीमार' कहलाता है

१४ मार्च, १९३३

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की पहुँच जाना एक छोटा और आसान क़दम है। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में उस्मानी तुर्कों का साम्राज्य धीरे-धीरे टूटता चला गया। पतन का यह सिलसिला इससे पहले की सदी में ही शुरू हो चुका था। शायद तुम्हें याद होगा कि मैंने वियेना की 'तुर्की की घेराबन्दी' का ज़िक्र किया था और यह बताया था कि कुछ समय तक तुर्कों की तलवार के सामने यूरोप किस तरह थर्रा उठा था। पश्चिम के पाक ईसाई तुर्कों को 'ख़ुदा का क़हर' समझते थे, जो ईसाई-संसार को उसके पापों की सज़ा देने के लिए भेजा गया था। लेकिन वियेना के दरवाज़े पर तुर्कों की पूरी हार के बाद मामला उलट गया और तबसे तुर्कों को यूरोप में अपने बचाव की फ़िक्र लग गई। दक्षिण-पूर्वी यूरोप की कई

यूरोप में तुर्की का आख़िरी आधार



राष्ट्रीय क़ौमें, जिन्हें इन्होंने दवा रक्खा था, इनके लिए इतने सारे काँटे बन गई थीं। इन क़ौमों को हज़म करने की कोई कोशिश नहीं की गई; और अगर कोशिश की भी गई होती तो शायद यह सम्भव नहीं था, क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना तुर्कों के कठोर शासन से टकराने लगी थी। उत्तर-पूर्व में ज़ारशाही रूस दिन-दिन फैलता जा रहा था और तुर्की प्रदेशों में घुसने के लिए ज़ोर लगा रहा था। वह तुर्कों का पुश्तैनी और हमेशा का दुश्मन बन गया और क़रीब दो सौ वर्षों तक उनसे रुक-रुककर युद्ध करता रहा, जबतक कि ज़ार और सुलतान दोनों अपने साम्राज्यों समेत एक ही साथ खत्म न हो गये।

साम्राज्यों की तरह उस्मानी साम्राज्य काफ़ी दिनों तक क़ायम रहा। एशिया-कोचक में बहुत दिन बना रहने के बाद, १३६१ ई० में इसकी बुनियाद यूरोप में पड़ी। हालाँकि क़ुस्तुन्तुनिया १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नहीं आया, लेकिन आस-पास का सारा प्रदेश इसके बहुत पहले ही उनके अधीन हो गया था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक भड़ाके ने, और १४०२ ई० में उसके हाथों अंगोरा में तुर्की सुलतान की बुरी तरह पराजय ने, क़ुस्तुन्तुनिया को कुछ दिनों के लिए तुर्कों से बचा दिया। लेकिन तुर्क फिर बहुत जल्दी ज़ोर पकड़ गये। १३६१ ई० से लगाकर हमारे ज़माने में उस्मानी साम्राज्य के अन्त तक, साढ़े पाँच सौ से ज़्यादा वर्ष हो गये हैं, और यह समय काफ़ी लम्बा है।

फिर भी मध्य-युगों के अन्त के बाद यूरोप में जो नई हालतें बनती जा रही थीं, उनके साथ तुर्कों का मेल बिलकुल नहीं बैठता था। व्यापार और वाणिज्य बढ़ रहे थे और यूरोप के कारखानेवाले शहरों में उत्पादन की व्यवस्था बड़े पैमाने पर की जा रही थी। तुर्कों को इस तरह की चीज़ों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। ये तुर्क लोग जवाँमर्द सिपाही होते थे, सख्त लड़ाके और अनुशासन-पसन्द होते थे, जो फ़ुर्सत के वक़्त मस्त रहते थे, पर भड़कने पर खूँख्वार और निर्दयी बन जाते थे। हालाँकि ये शहरों में बस गये थे और उन्हें आलीशान इमारतों से सजा देते थे, फिर भी उनमें उनका पुराना घुमक्कड़ी ढंग कुछ बाक़ी था और वे अपने जीवन को उसी ढंग पर ढालते थे। तुर्कों के अपने वतन में शायद यही ढंग सबसे ज्यादा माक़ूल था, लेकिन यूरोप या एशिया-कोचक की नई हालतों से बिलकुल मेल नहीं खाता था। तुर्कों ने अपने-आपको इन नये चौगिर्दों के मुताबिक़ ढालना मंजूर नहीं किया, इसलिए दोनों अलग-अलग ढाँचों में बराबर टक्कर होती रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपों—यूरोप, एशिया व अफ़्रीका को मिलाता था; पूर्व और पश्चिम के बीच के सारे तिजारती रास्ते इसी में होकर गुज़रते थे। अगर तुर्कों में व्यापार की तरफ़ रुझान होता और इसके लिए ज़रूरी योग्यता होती, तो ये अपनी इस सहूलियत की स्थिति से फ़ायदा उठाकर एक बड़ा व्यापारी

राष्ट्र बन सकते थे। लेकिन इनमें इस तरह की कोई रुचि या योग्यता नहीं थी, और वे इस व्यापार को जान-बूझकर रोकते थे; शायद इसलिए कि वे दूसरों को इससे फ़ायदा उठाते हुए देखना पसन्द नहीं करते थे। पुराने तिजारती रास्तों का इस तरह बन्द किया जाना भी एक सबब था, जिससे यूरोप की जहाज़ी और व्यापारी क़ौमों को पूर्वी देशों के लिए नये रास्ते तलाश करने पर मजबूर होना पड़ा। इसी के नतीजे से कोलम्बस ने पश्चिम के, और डायज़ और वास्को-दे-गामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातों की तरफ़ से बिलकुल बेपरवाह रहे और अपने साम्राज्य पर अनुशासन और फ़ौजी मुस्तैदी के बल पर राज करते रहे। नतीजा यह हुआ कि उस्मानी साम्राज्य के यूरोपीय भाग में व्यापार की व दौलत पैदा करनेवाली हलचलें धीरे-धीरे ख़त्म हो गईं। नस्ली और मज़हबी झगड़ा भी कुछ हद तक इसका कारण था। तुर्कों को और बलकान की ईसाई क़ौमों को आपसी पुरानी मज़हबी दुश्मनी क्रूसेडों के समय से, और उसके भी पहले से, विरासत में मिली थी। नई राष्ट्रीयता के बढ़ने से यह आग और भी भड़क गई और बराबर झगड़े रहने लगे। उस्मानी सल्तनत के यूरोपीय हिस्से किस तरह नीचे गिरते गये इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान १८२९ ई० में तुर्कों से आज़ाद हुआ तब एथेन्स का मशहूर पुराना शहर सिर्फ़ दो हज़ार की आबादी का गाँव रह गया था। (आज अब सौ वर्ष बाद, इस शहर की आबादी पाँच लाख से ऊपर है।)

व्यापार की व दौलत पैदा करनेवाली इन हलचलों के बन्द होने से अन्त में खुद तुर्की के शासकों को नुक़सान पहुँचा। जब साम्राज्य के हाथ-पाँव कमज़ोर और ढीले पड़ गये, तब साम्राज्य का दिल भी कमज़ोर और रोगी हो गया। वास्तव में यह ताज्जुब की बात है कि इन सब लड़ाई-झगड़ों और कठिनाइयों के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनों तक टिका रहा।

कई सौ वर्षों तक उस्मानी सुलतानों की मज़बूती 'जाँनिसारियों' के सबब से रही। यह तुर्की सिपाहियों की एक फ़ौजी टुकड़ी थी, जिसमें ईसाई ग़ुलाम भरती किये जाते थे और उन्हें लड़कपन से ही बड़ी होशियारी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियों से हमें मिस्र के ममलूकों की याद आ जाती है; लेकिन इन दोनों में फ़र्क़ था। हालाँकि ये लोग तुर्की फ़ौज के सबसे बढ़िया सिपाही थे, लेकिन मिस्र के ममलूकों की तरह कभी सत्ताधारी नहीं हुए। ममलूकों की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नहीं बनी। ये लोग ग़ुलाम तो थे, लेकिन चहेते समझे जाते थे और इन्हें ऊँची जगहें और ऊँचे ओहदे खासतौर पर दिये जाते थे। लेकिन इनकी औलाद आज़ाद मुसलमान बन गई और बहुत दिनों तक वे इस चहेती टुकड़ी में नहीं रह सके, क्योंकि यह ग़ुलामों ही के लिए थी। इसमें सिर्फ़ नये गोरे ईसाई ग़ुलाम

ही भरती किये जाते थे। ये बातें आज कितनी अनोखी मालूम होती हैं ! लेकिन याद रहे कि उस ज़माने में इस्लामी देशों में ग़ुलाम शब्द का ठीक वैसा ही अर्थ नहीं लिया जाता था जैसा आजकल लिया जाता है। ग़ुलाम लोग अक्सर जान्ते और क़ानून के लिहाज़ से तो ग़ुलाम होते थे, लेकिन वे ऊँचे-से-ऊँचा ओहदा हासिल कर सकते थे। तुम्हें दिल्ली के ग़ुलाम बादशाहों का तो ध्यान होगा ही। मिस्र का सुलतान सलादीन भी शुरू में ग़ुलाम ही था। मालूम होता है तुर्कों का यह खयाल था कि शासक-वर्ग को ज्यादा-से-ज्यादा मुस्तैद बनाने के लिए उन्हें हर तरह की पूरी तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सबसे अच्छा समय बचपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान प्रजा के बच्चों को छीन लेना और उनको अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, या ग़ुलाम बना लेना, शायद आसान नहीं था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को पकड़ लेते थे और उन्हें सुलतान के महल के ग़ुलामों में भरती करके बड़ी कड़ी तालीम देते थे। अलबत्ता ये छोटे लड़के बड़े होकर मुसलमान हो जाते थे।

खुद सुलतान लोग भी इसी ढंग से पाले जाते थे। सुलतानों की शादियाँ मामली ढंग से नहीं होती थीं। सावधानी से चुनी हुई ग़ुलाम लड़कियाँ उनके महलों में भेज दी जाती थीं और वे ही इनके बच्चों की माँ होती थीं। अठारहवीं सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे सब ग़ुलाम माताओं की ही सन्तान थे, और उन्हें उसी तरह की कड़ी तालीम और कठोर अनुशासन से गुज़रना पड़ता था, जैसी कुनबे के किसी दूसरे ग़ुलाम को।

ग़ुलामों को इस तरह होशियारी से छाँटने में और सुलतान से लगाकर नीचे तक उनके अनुशासन में और खास कामों की तालीम में कुछ विज्ञान जैसा तरीक़ा था। इसके नतीजे से कुछ खास दायरों में किसी हद तक मुस्तैदी ज़रूर आ गई थी; नये ग़ुलामों से बराबर ताज़ी नस्ल मिलती रहती थी, जिससे कोई पुश्तैनी शासक-वर्ग नहीं बन सका। शायद इस साम्राज्य की शुरू में मज़बूती इसी ढाँचे पर निर्भर थी। लेकिन यह चीज़ यूरोपीय या एशियाई हालतों से बिलकुल मेल नहीं खाती थी। यह ढाँचा सामन्ती-ढाँचे से बिलकुल अलग तरह का था, और यह उस पद्धति से तो और भी अधिक भिन्न था, जो यूरोप में सामन्तशाही की जगह ले रही थी। इस ढाँचे के भीतर और व्यापार व वाणिज्य के बहुत-कुछ अभाव में, कोई असली मध्यम-वर्ग पनप न सका। सोलहवीं सदी के अन्त में, जब ग़ुलाम कुनबे में पुश्तैनी तत्व आ गया और कुनबे के लोगों के पुत्र उसमें बने रहकर अपने पिताओं की ही तरह की ज़िन्दगी अपना सकते थे, तब इस ढाँचे में शुरू का खालिसपन क़ायम नहीं रह सका। दूसरी कई बातों में भी यह ढाँचा धीरे-धीरे ढीला पड़ गया। लेकिन

ज़मीन तो बनी ही रही और इसकी वजह से सदियों के नज़दीकी मेल-जोल के बावजूद तुर्की यूरोप से बिलकुल अलग तरह का और उसमें बेगाना बन गया। खुद तुर्की के अन्दर ही वहाँ की विदेशी जातियाँ अपने-अपने क़ानूनों और जमातों को लिये हुए एक-दूसरी से बिलकुल विलग बनी रहीं।

इस अनोखे और पुराने तुर्की ढाँचे के बारे में मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह बिलकुल निराला था और इसने उस्मानी साम्राज्य का रूप बनाने में मदद पहुँचाई। अलबत्ता अब इसका कोई निशान नहीं रहा है; यह इतिहास की बात हो गई है।

तुर्की के पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास लगातार बढ़े चले आनेवाले रूसियों के खिलाफ़, और अधीन क़ौमों के विद्रोह के खिलाफ़ लड़ाइयों का इतिहास है। यूनान, रूमानिया, सर्बिया, बलग़ारिया, मॉन्तिनीग्रो, बोसनिया, ये सब बलकानी देश थे और उस्मानी साम्राज्य के अंग थे। हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड, फ़ान्स और रूस की मदद से १८२९ ई० में यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग हो गया था। रूस स्लाव लोगों का देश है, और बलग़ारिया और सर्बिया भी इसी नस्ल के हैं। ज़ारशाही रूस ने यह दिखाना चाहा कि वह इन बलकानी स्लावों का रक्षक और हिमायती है। लेकिन रूस का असली दाँत तो क़ुस्तुन्तुनिया पर लगा था और उसकी कूटनीति का सारा लक्ष्य यही था कि अन्त में साम्राज्य की यह पुरानी राजधानी उसके क़ब्ज़े में आ जाय, क्योंकि ज़ार अपनेको बिज़ैन्तीनी सम्राटों का उत्तराधिकारी समझता था। १७३० ई० में रूसी-तुर्की युद्धों का सिलसिला शुरू हुआ और ये युद्ध बीच-बीच में कुछ दिनों की शान्ति के अलावा, १७६८, १७९२, १८०७, १८२८ १८५३, १८७७ ई० में और अन्त में १९१४ ई० में होते रहे। १७७४ ई० में रूस ने तुर्की से क्रीमिया छीन लिया और वह काला सागर तक जा पहुँचा। लेकिन इससे कोई ज्यादा फ़ायदा नहीं हुआ; क्योंकि काला सागर तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुँह पर क़ुस्तुन्तुनिया की डाट लगी है। १७९२ और १८०७ ई० में रूसी सरहद क़ुस्तुन्तुनिया की तरफ़ बढ़ती गई और तुर्की सरहद पीछे खिसकती गई। जब यूनान का स्वाधीनता-युद्ध चल रहा था और तुर्क लोग इधर फँसे हुए थे, तब ज़ार ने उनपर हमला करके इस मौक़े से फ़ायदा उठाना चाहा। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो ज़ार ने क़ुस्तुन्तुनिया जीत लिया होता।

इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने तुर्की को रूस से क्यों बचाया? तुर्की से कोई प्यार होने की वजह से नहीं, बल्कि रूस की मुक़ाबलेदारी और उसके डर की वजह से। मैं पहले बता चुका हूँ कि इंग्लैण्ड और रूस के बीच एशिया में और दूसरी जगहों

में, पुश्तैनी लाग-डाँट थी। खासकर भारत पर क़ब्ज़ा होने की वजह से अंग्रेज़ लोग ठेठ रूसी सरहद तक पहुँच गये थे और इनके ऊपर हरदम यह दहशत सवार रहती थी कि ज़ारशाही रूस भारत का न जाने क्या कर डाले। इसलिए अंग्रेज़ों की यह नीति थी कि रूस के रास्ते में रुकावटें डालते रहें और उसे अपनी ताक़त न बढ़ाने दें। अगर क़ुस्तुन्तुनिया पर रूस का क़ब्ज़ा हो जाता तो उसे भूमध्य-सागर में एक बढ़िया बन्दरगाह मिल जाता और वह भारत के जानेवाले रास्ते के पास जंगी-जहाज़ों का बेड़ा रख सकता था। यह बहुत बड़ा खतरा था, इसलिए इंग्लैण्ड ने हर बार रूस को, तुर्की को कुचल डालने से, रोका। रूस को दूर रखने में आस्ट्रिया का भी स्वार्थ था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश है, लेकिन कुछ साल पहले यह बलकान प्रायद्वीप से सटा हुआ एक बड़ा साम्राज्य था और चाहता था कि जब तुर्की टूक-टूक हो जाय तो वह खुद बलकानी देशों का काफ़ी बड़ा हिस्सा दबा ले। इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए ज़रूरी था।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। इसके ये ताक़तवर पड़ौसी इसी इन्तज़ार में थे कि तुर्की को कुछ हो जाय कि ये उसपर टूट पड़ें और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। १८५३ ई० में तुर्की का ज़िक्र करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था: "हमारे हाथ में एक बीमार है—वह बहुत ज्यादा बीमार है...। यह किसी समय अचानक हमारी गोद में मर सकता है...।" यह फ़िक़रा मशहूर हो गया और तुर्की तबसे 'यूरोप का बीमार' कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते बहुत लम्बा समय लग गया।

उसी साल, १८५३ ई० में, ज़ार ने 'बीमार' का सफ़ाया करने की दूसरी कोशिश की। इसके कारण क्रीमिया का युद्ध हुआ, जिसमें इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने रूस को रोक दिया। इक्कीस वर्ष बाद, १८७७ ई० में, ज़ार ने तुर्की पर फिर हमला किया और उसे हरा दिया; लेकिन फिर विदेशी दस्तन्दाज़ी की वजह से तुर्की किसी हद तक बच गया; कम-से-कम क़ुस्तुन्तुनिया रूस के हाथ नहीं लगा। तुर्की के भाग्य का निपटारा करने के लिए १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बिस्मार्क शामिल था और डिज़रेली भी, और यूरोप के कितने ही राजनीतिज्ञ नेता भी। इन लोगों ने एक-दूसरे को धमकियाँ दीं और एक-दूसरे के खिलाफ़ साज़िशें कीं। मालूम होता है इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध छेड़ने ही वाला था कि रूस ने घुटने टेक दिये। बर्लिन की सन्धि के परिणाम-स्वरूप बलग़ारिया, सर्बिया, रूमानिया और मॉन्तिनीग्रो के बलकानी देश स्वाधीन हो गये। आस्ट्रिया ने बोस्निया व हैरत्सैगोविना पर क़ब्ज़ा कर लिया (कहने को ये तुर्की की सत्ता के ही अधीन रहे)। और कुछ हद तक तुर्की का साथ देने के बदले में इंग्लैण्ड ने साइप्रस का टापू उससे उजरत के तौर पर ले लिया।

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध छत्तीस वर्ष बाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध के सिलसिले में हुआ।

इस बीच तुर्की में बहुत परिवर्तन हो रहे थे। १७७४ ई० में रूस के हाथ पूरी पराजय से तुर्कों को पहला धक्का लगा और वे महसूस करने लगे कि बाक़ी का यूरोप उनसे आगे निकला जा रहा है। जंगी राष्ट्र होने के नाते सबसे पहले इनका ध्यान फ़ौज को आधुनिक ढंग पर लाने की तरफ़ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ और सेना के नये अफ़सरों के ज़रिये ही तुर्की में पश्चिमी विचार घुस आये। जैसा मैंने तुमको बताया है, तुर्की में कोई ज़्यादा मध्यम-वर्ग नहीं था, और न कोई दूसरा ही संगठित वर्ग था। १८५३-५६ ई० के क्रीमियाई युद्ध के बाद तुर्की को पश्चिमी साँचे में ढालने का असली जतन किया गया। संविधानी ढंग की सरकार के लिए आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा (जिसका उद्देश्य यह था कि सुलतान के निरंकुश शासन के बजाय लोकतन्त्री विधान-सभा बने)। इस आन्दोलन का नेता मिदहत पाशा था। १८७६ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया में भी विधान की माँग के लिए दंगे हुए, और सुलतान ने संविधान मंजूर कर लिया। लेकिन फ़ौरन ही उसने संविधान को मंसूख़ भी कर दिया, क्योंकि बलग़ारिया में विद्रोह हो गया और रूसियों के साथ युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध के भारी ख़र्चों ने और किसी बुनियादी आर्थिक परिवर्तन के बिना ऊपरी सतह पर सुधारों के ख़र्च ने, तुर्की सरकार को दिवालिया बना दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसे पश्चिमी साहूकारों से रुपया क़र्ज़ लेना पड़ा और बदले में इन साहूकारों ने राज्य की आमदनी के एक हिस्से पर अपना दख़ल जमा लिया। इसलिए पश्चिमी साँचे में ढालने का और सुधार का यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। साम्राज्य के पुराने ढाँचे में इस नई चीज़ को बिठाना मुश्किल था।

बीसवीं सदी की शुरुआत में संविधान की माँग ने फिर ज़ोर पकड़ा। पहले की तरह फ़ौजी अफ़सर ही सिर्फ़ एक संगठित वर्ग थे और इन्हींके अन्दर नौजवान तुर्क दल नामक नया दल तेज़ी से बढ़ा। 'एकता और प्रगति' की गुप्त समितियाँ बनने लगीं और जब इन्होंने फ़ौज का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी तरफ़ मिला लिया, तब १९०८ ई० में सुलतान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह १८७६ ई० का पुराना संविधान फिर जारी करे। बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। तुर्क, आर्मीनी और दूसरे लोग, जो अभी तक एक-दूसरे का गला काटते थे, आपस में गले मिले और उन्होंने इस नये युग के उदय पर खुशी के आँसू बहाये, जिसमें सबको बराबर माना जानेवाला था और पराधीन जातियों को पूरे हक़ मिलनेवाले थे। इस रक्तहीन क्रान्ति का ख़ास नायक, ख़ूबसूरत व अहंकारी, लेकिन दिलेर व हौसलेबाज़, अनवर बे था। मुस्तफ़ा कमाल भी, जो आगे चलकर तुर्की का मुक्तिदाता हुआ, एक नामी नौजवान तुर्क नेता था; लेकिन अनवर बे के मुक़ाबले में यह पीछे था और ये दोनों एक-दूसरे को पसन्द नहीं करते थे।

नौजवान तुर्कों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सुलतान इन लोगों को परेशान करता रहता था। अन्त में खून बहा और सुलतान गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा बिठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आईं और विदेशी शक्तियों से भी झगड़े हुए। आस्ट्रिया ने तुर्की में फैली हुई इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर बोस्निया और हैरत्सैगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी (इन प्रदेशों पर उसने बर्लिन की सन्धि के बाद १८७८ ई० में क़ब्ज़ा किया था)। इटली ने उत्तरी अफ़्रीका में त्रिपोली पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया और युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नहीं सके, क्योंकि इनके पास अच्छे जंगी जहाज़ नहीं थे और इसलिए इन्हें इटली की माँगें मंजूर करनी पड़ीं। यह होने की देर थी कि घर के पास ही एक और खतरा आ खड़ा हुआ। बलग़ारिया, सर्बिया, यूनान और मॉन्तिनीग्रो, जो तुर्कों को यूरोप से निकालने के लिए और लूट में हिस्सा बटाने के लिए तैयार बैठे थे, ठीक मौक़ा देखकर एक बलकान लीग में शामिल हो गये और अक्तूबर, १९१२ ई० में तुर्की पर टूट पड़े। तुर्की पस्त और बिखरा हुआ था ही और संविधानवादियों व प्रगति-विरोधियों के बीच सत्ता के लिए झगड़ा चल रहा था। बलकान लोगों के सामने तुर्की बिलकुल चारों खाने चित हो गया और इसे बहुत भारी नुक़सान उठाना पड़ा। इस तरह बलक़ान युद्ध कुछ ही महीनों में खत्म हो गया और तुर्की यूरोप से क़रीब पूरी तरह निकाल दिया गया; सिर्फ़ क़ुस्तुन्तुनिया उसके पास रह गया। तुर्की का सबसे पुराना यूरोपीय शहर एद्रियानोपूल् भी उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ उससे छीन लिया गया।

मगर बहुत जल्दी लूट के बँटवारे पर विजेता देश आपस में लड़ पड़े और बलग़ारिया ने अपने पिछले साथियों पर अचानक और दग़ाबाज़ी से हमला कर दिया। खूब आपसी मारकाट हुई, और इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभी तक अलग था, इसमें शामिल हो गया। नतीजा यह हुआ कि बलग़ारिया ने जो कुछ जीता था, वह खो दिया, और रूमानिया, यूनान व सर्बिया ने अपने इलाक़े बढ़ा लिये। तुर्की को भी एद्रियानोपूल् वापस मिल गया। बलकान के लोगों की आपसी नफ़रत अचम्भे की चीज़ है। बलकान देश छोटे-छोटे हैं, लेकिन वे कितनी ही बार यूरोप के तूफ़ानों का केन्द्र हो चुके हैं।

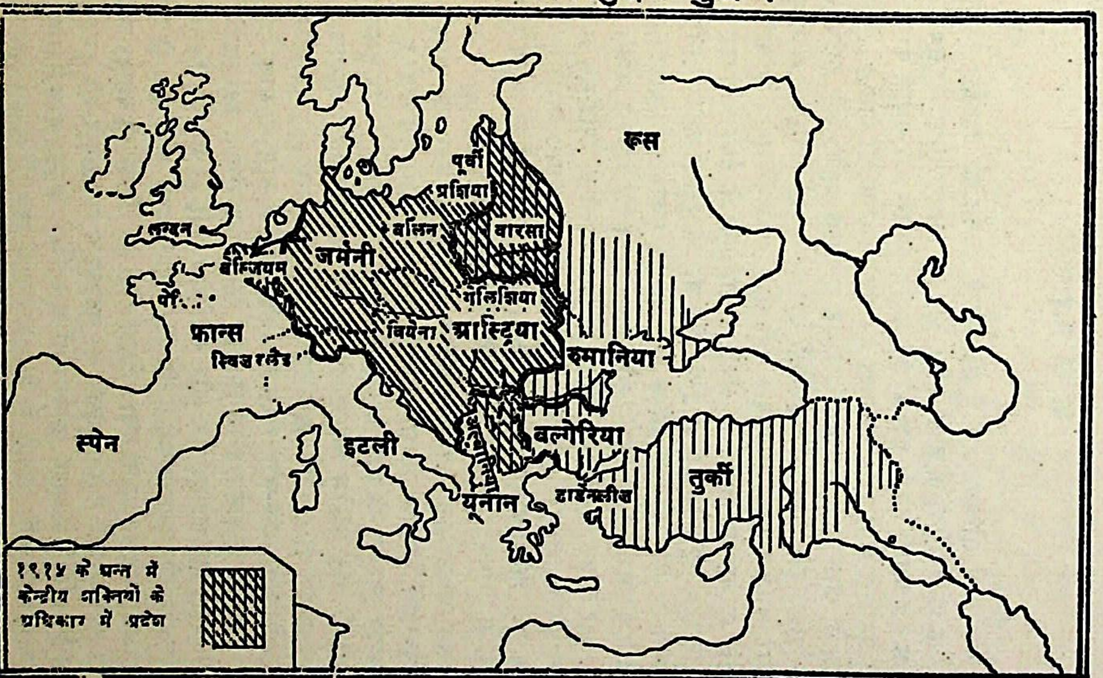
नौजवान तुर्कों ने जिस सुलतान को १९०९ ई० में गद्दी से उतारा था, वह मज़ेदार आदमी था। उसका नाम था अब्दुल हमीद दूसरा, और वह १८७६ ई० में गद्दी पर बैठा था। उसे सुधारों से और नये ज़माने की नई-नई चीज़ों से चिढ़ थी, लेकिन वह अपने ढंग का योग्य आदमी था और वह बड़ी-बड़ी शक्तियों को आपस में लड़ा देने के फ़न का उस्ताद माना जाता था। तुम्हें याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान

ख़लीफ़ा, यानी इस्लाम के मज़हबी मुखिया भी होते थे। अब्दुल हमीद ने एक अखिल इस्लामी आन्दोलन खड़ा करने का प्रयत्न करके अपनी इस हैसियत का फ़ायदा उठाना चाहा। यानी ऐसा आन्दोलन, जिसमें दूसरे देशों के मुसलमान शामिल हो सकें, ताकि वह इनकी मदद ले सके। यूरोप और एशिया में कई वर्षों तक इस अखिल इस्लामवाद की कुछ चर्चा रही, लेकिन इसकी बुनियाद ठोस नहीं थी और महायुद्ध ने इसका बिलकुल अन्त कर दिया। तुर्की में राष्ट्रवाद ने अखिल इस्लामवाद का विरोध किया और राष्ट्रवाद दोनों में ज्यादा ताक़तवर साबित हुआ।

सुलतान अब्दुल हमीद यूरोप में बहुत बदनाम हो गया, क्योंकि लोग उसे बलग़ारिया, आर्मीनिया और दूसरी जगहों में अत्याचारों और हत्याकाण्डों के लिए ज़िम्मेदार मानते थे। ग्लैड्स्टन इसे 'महान् हत्यारा' कहता था और इन अत्याचारों के खिलाफ़ उसने इंग्लैण्ड में एक बड़ा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग खुद इसके राज को अपने इतिहास का सबसे अँधेरा ज़माना मानते थे। मालूम होता है, बलकान व आर्मीनिया में अत्याचारों और हत्याकाण्डों की घटनाएँ दोनों ही तरफ़ से बार-बार होती रहती थीं। बलकानी क़ौमें और आर्मीनी लोग तुर्कों की हत्याएँ करने के उतने ही अपराधी थे, जितने तुर्क लोग उनकी हत्याओं के। सदियों के नस्ली व मज़हबी बैर-भाव इन लोगों के स्वभाव में ही गहरे बैठ गये थे और भयानक रूप में ज़ाहिर होते थे। आर्मीनिया पर सबसे बुरी मार पड़ी थी। अब आर्मीनिया कोह क़ाफ़ के पास सोवियत रूस का एक गणराज्य है।

इस तरह बलकानी युद्धों के बाद तुर्की बिलकुल पस्त हो गया और यूरोप में उसे सिर्फ़ पैर रखने-भर को जगह बाक़ी रह गई। उसके साम्राज्य का बाक़ी हिस्सा भी टूटता जा रहा था। मिस्र अलबत्ता नाम के लिए उसका था; उसपर असली क़ब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उससे फ़ायदा उठा रहा था। लेकिन दूसरे अरब देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन के चिह्न प्रकट हो रहे थे। इसलिए तुर्की का हिम्मत हारना और उसकी आँखें खुल जाना अचम्भे की बात नहीं थी। १९०८ ई० के उसके सारे बड़े-बड़े मनसूबे मानो ख़ाक में मिल गये। उसी समय जर्मनी इसके साथ कुछ हमदर्दी दिखलाता मालूम हुआ। जर्मनी की निगाह पूर्व की तरफ़ थी और वह सारे मध्य-पूर्व में अपने प्रभाव के सपने देख रहा था। तुर्की भी जर्मनी की तरफ़ मुड़ा और दोनों के सम्पर्क बढ़ने लगे। दूसरा बलकान युद्ध समाप्त होने के सालभर बाद, १९१४ ई० में, जब महायुद्ध हुआ, तब यह स्थिति थी। तुर्की के भाग्य में चैन नहीं था।

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू में



: १४३ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियत देश है और इसके शासन की बागडोर किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधियों के हाथों में है। कुछ बातों में यह दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश है। असली हालतें कुछ भी हों, यहाँ के शासन और समाज का सारा ढांचा समाजी बराबरी के सिद्धान्त पर खड़ा है। यह आजकल की बात है। लेकिन कुछ साल पहले, और सारी उन्नीसवीं सदीभर व उसके पहले, रूस यूरोप का सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ और प्रगति-विरोधी देश था। यहाँ निरंकुश्ता और सत्ताशाही अपने पूरे ख़ालिस रूप में फूल-फल रही थी। पश्चिमी यूरोप में क्रान्तियों और परिवर्तनों के बावजूद ज़ार लोग अभीतक बादशाहों के दैवी अधिकार के मत को बरक़रार रक्खे हुए थे। यहाँ का ईसाई-संघ भी, जो पुराना कट्टर यूनानी ईसाई-संघ था, रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नहीं, बल्कि दूसरे देशों के मुक़ाबले में ज़्यादा सत्तावादी था और ज़ार की सरकार का सहारा और साधन था। इस देश को 'पवित्र रूस' कहते थे और ज़ार सबका 'नन्हा गोरा पिता'[1] माना जाता था। ईसाई-संघ व अधिकारी-वर्ग इन पुरानी दास्तानों को लोगों के दिमाग़ों को धुँधला करने के लिए और आर्थिक व राजनीतिक हालतों से उनका ध्यान हटाने के लिए, काम में लाते थे। इतिहास में 'पवित्रता' ने अजीब-अजीब साथी बनाये हैं!

इस 'पवित्र रूस' का खास प्रतीक 'नाउट' था और वह अक्सर 'पोग्रोम' की कार्रवाइयाँ किया करता था। ज़ारशाही रूस ने दुनिया को ये दो शब्द भेंट किये हैं। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे खेतिहर ग़ुलामों को और दूसरों को सज़ा दी जाती थी और 'पोग्रोम' का मतलब था बर्बादी व बाक़ायदा अत्याचार। अमल में इसका मतलब था हत्याएँ—खासकर यहूदियों की हत्याएँ। ज़ारशाही रूस के पीछे थे साइबेरिया के लम्बे-चौड़े सुनसान मैदान, जिसके नाम के साथ देश-निकाला, क़ैद और बेबसी की बातें जुड़ गई हैं। ढेर-के-ढेर राजनीतिक क़ैदी साइबेरिया भेजे जाते थे और वहाँ बड़े-बड़े डेरे और उपनिवेश पैदा हो गये थे, जिनके नज़दीक आत्म-हत्या करनेवालों की क़ब्रें होती थीं। देश-निकाले और क़ैद की लम्बी और अकेली मियादें बर्दाश्त करना बड़ा मुश्किल होता है। कितने ही बहादुर व्यक्तियों के दिमाग़ों और शरीरों ने इन हालतों को बर्दाश्त न कर सकने की वजह से जवाब दे दिया है। दुनिया से अलग, और दोस्तों व साथियों व सुख-दुःख में साथ देनेवालों से दूर रहकर जिन्दगी बिताने के लिए मनुष्य में दिमाग़ी ताक़त, शान्त व अटल

[1] Little White Father.

अन्दरूनी गहराई और बर्दाश्त करने की हिम्मत होनी चाहिए। मतलब यह है कि ज़ारशाही रूस ने हरेक सिर उठानेवाले को मार गिराया और आज़ादी के हर प्रयत्न को कुचल दिया। यहाँतक कि यात्राओं को भी मुश्किल बना दिया गया था, ताकि बाहर से उदार विचार न आने पायें। लेकिन आज़ादी का दमन किया जाता है तो वह सूद-दर-सूद जोड़ लेती है और जब वह आगे बढ़ती है तो उसकी प्रगति छलाँगों के रूप में होती है, जिससे पुरानी गाड़ी ही उलट जाती है।

अपने पिछले पत्रों में हमने एशिया और यूरोप के जुदा-जुदा भागों में, यानी दूर-पूर्व, मध्य-एशिया, ईरान और तुर्की में, ज़ारशाही रूस की नीतियों और हलचलों की कुछ झलक देखी है। अब हमें यह तसवीर पूरी करनी चाहिए और इन अलग-अलग हलचलों को मुख्य विषय के साथ जोड़ना चाहिए। दुनिया के नक़्शे में रूस की स्थिति ऐसी है कि इसके हमेशा दो रुख़ रहे हैं; एक पश्चिम की ओर व दूसरा पूर्व की ओर। अपनी इस स्थिति के सबब से यह एक यूरेशियाई शक्ति है और अपने इतिहास के पिछले वर्षों में इसका स्वार्थ कभी पूर्व में और कभी पश्चिम में रहा है। पश्चिम में मुँह की खाने पर इसने पूर्व की तरफ़ निगाह डाली; पूर्व में रोका जाने पर यह पश्चिम की तरफ़ देखने लगा।

मैंने तुम्हें बताया है कि चंगेज़ख़ाँ का छोड़ा हुआ मंगोली साम्राज्य किस तरह टूक-टूक हो गया और मास्को के शहज़ादे के झण्डे के नीचे रूसी शहज़ादों ने सुनहरे क़बीले के मंगोलों को अन्त में रूस से किस तरह निकाल बाहर किया। यह सब चौदहवीं सदी के अन्त में हुआ। धीरे-धीरे मास्को के शहज़ादे सारे देश के निरंकुश शासक बन बैठे और अपने को ज़ार (सीज़र) कहने लगे। इनका नज़रिया और इनके दस्तूर ज़्यादातर मंगोली ही बने रहे और पश्चिमी यूरोप के साथ इनकी कोई बात मेल नहीं खाती थी। पश्चिमी यूरोप तो रूस को जंगली समझता था। १६८९ ई० में ज़ार पीटर, जिसे पीटर महान् कहा जाता है, गद्दी पर बैठा। इसने रूस का रुख़ पश्चिम की ओर फेरने का फ़ैसला किया और यूरोपीय देशों की हालतों का अध्ययन करने के लिए वहाँ का लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमें से बहुत-सी बातों की उसने नक़ल की और अपने यहाँ के अमीर-वर्ग पर पश्चिमी-करण के अपने विचार लाद दिये। यह वर्ग न तो इन बातों को पसन्द करता था और न इनसे परिचित था। जनता तो बहुत पिछड़ी और दबी हुई थी ही, इसलिए पीटर के सामने इस बात का कोई सवाल ही नहीं था कि उसके सुधारों के बारे में लोगों के क्या ख़याल हैं। पीटर ने देखा कि उसके ज़माने के बड़े राष्ट्रों की समुद्री ताक़त बहुत बढ़ी-चढ़ी है और उसने समुद्री-शक्ति का महत्व समझा। लेकिन इतना लम्बा-चौड़ा होने पर भी रूस के पास उस समय कोई समुद्री दरवाज़ा नहीं था, सिवाय आर्कटिक सागर के जो क़रीब-क़रीब बेकार था। इसलिए पीटर उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक की ओर, और दक्षिण में क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह क्रीमिया

तक नहीं पहुँच सका (उसके उत्तराधिकारी इसमें सफल हुए), पर वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक ज़रूर पहुँच गया। बाल्टिक सागर से मिलने वाली फ़िनलैण्ड की खाड़ी के तट के पास, नीवा नदी के किनारे, उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग नामक नया पश्चिमी ढंग का शहर क़ायम किया। उसने इसे अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उन पुरानी परम्पराओं को तोड़ने की कोशिश की, जो मास्को के साथ चिपकी हुई थीं। १७२५ ई० में पीटर की मृत्यु हो गई।

इसके पचास-साठ वर्ष बाद, १७८२ ई० में, रूस के एक दूसरे शासक ने इस देश को पश्चिमी ढंग का बनाना चाहा। यह कैथरीन द्वितीय नामक महिला थी; यह भी 'महान्' कहलाती है। यह अनोखी स्त्री थी, जो मज़बूत, बेरहम और योग्य थी, पर जिसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत गन्दी बातें मशहूर हैं। अपने पति ज़ार को हत्या के ज़रिये ठिकाने लगाकर यह सारे रूस की निरंकुश शासक बन बैठी और इसने चौदह वर्ष राज किया। यह संस्कृति की ज़ोरदार संरक्षक होने का ढोंग करती थी और इसने वाल्तेयर से दोस्ती करनी चाही, और उसके साथ पत्र-व्यवहार भी किया। इसने कुछ हद तक वर्साई के फ़ान्सीसी दरबार की नक़ल की और शिक्षा की हालत में कुछ सुधार भी किये। लेकिन ये सब बातें खाली ऊपर-ऊपर और दिखावे के लिए थीं। संस्कृति की नक़ल एकदम से नहीं की जा सकती! उसकी जड़ तो जमते-जमते जमती है। अगर कोई पिछड़ा हुआ राष्ट्र उन्नत राष्ट्रों की सिर्फ़ बन्दर की तरह नक़ल करता है, तो वह असली संस्कृति के सोने व चाँदी को बदलकर मुलम्मे की चीज़ बना देता है। पश्चिमी यूरोप की संस्कृति कुछ समाजी हालतों पर क़ायम थी। पीटर और कैथरीन ने ये हालतें पैदा करने की कोशिश तो नहीं की, सिर्फ़ ऊपरी ढाँचे की नक़ल करनी चाही। नतीज़ा यह हुआ कि इन परिवर्तनों का बोझ जनता पर पड़ गया और किसानों की ग़ुलामी व ज़ार की निरंकुश सत्ता और भी पक्की हो गई।

इसलिए ज़ारशाही रूस में एक छटाँक प्रगति के साथ-साथ एक मन प्रगति-विरोध भी चलता था। रूसी किसान क़रीब-क़रीब ग़ुलाम थे। वे अपनी-अपनी धरतियों से बँधे हुए थे और बिना खास इजाज़त के उन्हें नहीं छोड़ सकते थे। शिक्षा का दायरा ज़मींदार-वर्ग के कुछ अफ़सरों और दिमाग़ी लोगों तक ही था। मध्यम-वर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं, और जनता बिलकुल अपढ़ और पिछड़ी हुई थी। पिछले ज़माने में कई बार किसानों के खूनी विद्रोह हुए थ, लेकिन ये विद्रोह बहुत ज्यादा अत्याचार की वजह से आँख मूँदकर किये गए थे और इन्हें कुचल दिया गया था। अब चोटी के लोगों में कुछ शिक्षा के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप में फैले हुए कुछ विचार जनता में भी बूँद-बूँद करके पहुँच गये थे। यह फ़्रान्सीसी क्रान्ति का और बाद में नेपोलियन का ज़माना था। तुम्हें याद होगा कि नेपोलियन के पतन के

बाद सारे यूरोप में प्रगति-विरोध की भावना फैल गई थी, और ज़ार अलक्सान्दर प्रथम, तमाम बादशाहों के 'पवित्र' गठ-बन्धन के साथ, इस प्रगति-विरोध का नेता था। इसका उत्तराधिकारी इससे भी बदतर था। झल्लाकर नौजवान अफ़सरों और दिमाग़ी लोगों के एक गिरोह ने १८२५ ई० में बग़ावत कर दी। ये सब-के-सब ज़मींदार-वर्ग के थे और जनता की या फ़ौज की इनको कोई मदद न थी। ये लोग भी कुचल दिये गए। इनको 'दिसम्बरी' कहते हैं, क्योंकि इनका विद्रोह १८२५ ई० के दिसम्बर में हुआ था। यह विद्रोह रूस में राजनीतिक चेतना का पहला चिह्न था। इसके पहले गुप्त राजनीतिक समितियाँ बनी थीं, क्योंकि ज़ार की सरकार ने हर तरह की सार्वजनिक राजनीतिक हलचलों पर रोक लगा रक्खी थी। ये गुप्त समितियाँ जारी रहीं और क्रान्ति के विचार फैलते गये—खासकर दिमाग़ी लोगों में और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में।

क्रीमियाई युद्ध में पराजय के बाद रूस में कुछ सुधार किये गए और १८६१ ई० में किसानों की ग़ुलामी मिटा दी गई। किसानों के लिए यह बहुत बड़ी चीज़ थी, लेकिन इससे उन्हें कुछ ज्यादा राहत नहीं मिली, क्योंकि आज़ाद किये गए ग़ुलाम-किसानों को उनके गुज़ारे लायक़ ज़मीनें नहीं दी गई थीं। इसी बीच दिमाग़ी लोगों में क्रान्ति के विचारों का फैलना और ज़ार की सरकार के हाथों उनका दमन, साथ-साथ चल रहे थे। इन तरक्क़ी-पसन्द दिमाग़ी लोगों व किसान-वर्ग के बीच न तो कोई जोड़नेवाली कड़ी थी और न कोई ऐसी भूमिका थी, जिसपर दोनों मिल सकते। इसलिए १८७० ई० के क़रीब समाजवादी झुकाववाले विद्यार्थियों ने, (इनके विचार बिलकुल धुँधले और आदर्शवादी थे) यह तय किया कि अपना प्रचार किसान-वर्ग तक पहुँचाया जाय, और हज़ारों विद्यार्थी गाँवों में पहुँच गये। किसान लोग इन विद्यार्थियों को नहीं जानते थे। वे इनपर भरोसा नहीं करते थे और समझते थे कि यह शायद किसानों की ग़ुलामी को फिर से क़ायम करने का कोई फन्दा है। इसलिए किसानों ने इन विद्यार्थियों में से बहुतों को, जो अपनी जानपर खेलकर आये थे, सचमुच गिरफ़्तार करके ज़ार की पुलिस के हवाले कर दिया! जनता से सम्पर्क में आये बिना कोरी हवा में काम करने की कोशिश की यह एक अनोखी मिसाल है।

किसान-वर्ग में ज़रा भी सफल न होने से इन विद्यार्थियों को बड़ा सदमा पहुँचा और तंग आकर व मायूस होकर इन लोगों ने 'आतंकवाद' कही जानेवाली नीति का सहारा लिया, यानी बम फेंकना और सत्ताधारियों को कई तरीक़ों से मारने की कोशिशें करना। यहीं से रूस में आतंकवाद और बम-पन्थ की शुरुआत हुई और इसीके साथ क्रान्तिकारी हलचलों ने एक नया रूप ले लिया। बम फेंकनेवालों का यह दल अपनेको 'बमवाला नर्म दल' कहता था और इनके आतंकवादी संगठन

का नाम 'जनता का संकल्प' था। पर यह नाम एक झूठा दावा था, क्योंकि जिस जनता से इसका ताल्लुक़ था, वह तो कुछ छोटे-छोटे गिरोह थे।

इस तरह इन जाँबाज़ नौजवान नर-नारियों के छोटे-छोटे गिरोहों और ज़ार की सरकार के बीच नई कशमकश शुरू हुई। रूस की बहुत-सी पराधीन नस्लों व अल्पसंख्यक क़ौमों के लोगों के शामिल हो जाने से क्रान्तिकारियों की सेना बढ़ती गई। सरकार इन नस्लों और अल्पसंख्यक क़ौमों को सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषाओं का इस्तेमाल खुल्लमखुल्ला नहीं कर सकते थे, और बहुत-से दूसरे तरीक़ों से भी इनको ज़लील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो उद्योग-धन्धों में रूस से आगे बढ़ा हुआ था, रूस का सिर्फ़ एक प्रान्त बना दिया गया था और पोलैण्ड का तो नाम ही मिट गया था। पोली भाषा पर पाबन्दी लगा दी गई थी। जब पोलण्ड का यह हाल था तो दूसरी अल्पसंख्यक क़ौमों व नस्लों के साथ इससे भी बुरा बर्ताव किया जाता था। १८६०-७० ई० में पोलैण्ड में बहुत बड़ी बग़ावत हुई, जो बड़ी बेरहमी के साथ दबा दी गई। पचास हज़ार पोल साइबेरिया भेज दिये गए। यहूदियों के 'पोग्रोम' यानी क़त्लेआम लगातार हुआ करते थे और उनकी बहुत बड़ी संख्या दूसरे देशों में जा बसी।

यह लाज़िमी ही था कि अपनी-अपनी नस्लों पर ज़ार के इस अत्याचार से गुस्से में भरकर यहूदी व दूसरे लोग रूसी आतंकवादियों में शामिल हो गये। यह आतंकवाद, जिसे अराजकतावाद—निहिलिज़्म, कहते थे, बढ़ने लगा और, जैसा कि होना ही था, इसका मुक़ाबला ख़ूनी दमन से किया गया। राजनीतिक क़ैदियों की लम्बी क़तारें साइबेरिया के मैदानों में पैदल घिसटने लगीं, और कितने ही मौत के घाट उतार दिये गए। इस ख़तरे का मुक़ाबला करने के लिए ज़ार-सरकार ने एक उपाय काम में लिया, जिसे उसने ग़ैरमामूली हद तक पहुँचा दिया। उसने आतंकवादियों और क्रान्तिकारियों के बीच उकसानेवाले गुर्गे भेज दिये। ये लोग सचमुच बमकाण्डों को भड़काते थे और कभी-कभी ख़ुद भी बम फेंकते थे, जिससे दूसरों को फाँस सकें। इनमें एक बहुत मशहूर गुर्गा अज़ेफ़ था, जो बम फेंकनेवाले क्रान्तिकारियों का एक अगुआ था और साथ-ही-साथ रूसी ख़ुफ़िया पुलिस का बड़ा अफ़सर भी था! इस क़िस्म की पूरी तरह तसदीक़ की हुई और भी घटनाएँ हैं, जिनमें ज़ार की ख़ुफ़िया पुलिस के अफ़सरों ने दूसरों को फँसाने के लिए पुलिस के गुर्गों की हैसियत से बम फेंके।

जब ये सब बातें हो रही थीं, रूस की सल्तनत पूर्व की दिशा में बराबर बढ़ती जा रही थी और, जैसा कि मैंने तुमको बताया है, अन्त में प्रशान्त सागर तक पहुँच गई थी। मध्य-एशिया में रूसी लोग अफ़ग़ानिस्तान की सरहद तक पहुँच गये थे और दक्षिण में तुर्की की सरहद को धकेल रहे थे। १८६० ई० के बाद से दूसरी बड़ी

तरक़्क़ी यह होने लगी कि पश्चिमी उद्योग-धन्धे बढ़ने लगे। यह तरक़्क़ी सिर्फ़ कुछ इलाकों में, पीटर्सबर्ग के आसपास और मास्को में हुई। कुल मिलाकर सारा देश पूरी तरह कृषि-प्रधान ही रहा। लेकिन जो कारखाने खुले, वे बिलकुल नये ढंग के थे और आमतौर पर अंग्रेज़ों की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन थोड़े-से औद्योगिक इलाक़ों में रूसी पूँजीशाही तेज़ी से बढ़ी और मज़दूरवर्ग भी इतनी ही तेज़ी से बढ़ गया। जैसा कि अंग्रेज़ी कारखानों में शुरू-शुरू में होता था, रूसी मज़दूरों का भयंकर शोषण होता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन एक फ़र्क़ रूस में ज़रूर था। अब समाजवाद और साम्यवाद के नये विचार पैदा हो गये थे। रूसी मज़दूरों का दिमाग़ ताज़ा था और इन विचारों को पकड़ने के लिए तैयार था। अंग्रेज़ मज़दूर, जिसके पीछे पुरानी परम्पराएँ थीं, पुरातन-पन्थी बन गया था और लकीर का फ़क़ीर बना हुआ था।

ये नये विचार शक्ल लेने लगे और 'समाजी लोकतन्त्री मज़दूर-दल'[1] बना। यह मार्क्सवादी उसूलों के आधार पर बना था। इन मार्क्सवादियों ने आतंकवादी कार्रवाइयों से अपना विरोध ज़ाहिर किया। मार्क्स के उसूलों के मुताबिक़ मज़दूरों को पहले कार्रवाई के लिए तैयार किया जाना ज़रूरी था, क्योंकि इसी तरह की सामूहिक कार्रवाई से वे अपना लक्ष्य हासिल कर सकते थे। आतंकवादी तरीक़ों से व्यक्तियों को मार डालने से मज़दूर-वर्ग को इस तरह की कार्रवाई के लिए तैयार नहीं किया जा सकता था, क्योंकि लक्ष्य ज़ारशाही को उलट देना था—ज़ार या उसके मन्त्रियों की हत्या नहीं।

१८८० ई० के क़रीब एक नौजवान, जो बाद में सारी दुनिया में लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल का विद्यार्थी होते हुए ही क्रान्तिकारी हलचलों में हिस्सा लेता रहता था। १८८७ ई० में, जब उसकी उम्र सत्रह वर्ष की थी, उसे बड़ा भयंकर सदमा पहुँचा। उसका बड़ा भाई अलक्सान्दर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, आतंकवादी तरीक़े से ज़ार की हत्या की कोशिश में हिस्सा लेने के कारण फाँसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा सदमा पहुँचने पर भी लेनिन ने फिर भी कहा था कि आतंकवादी तरीक़ों से आज़ादी नहीं मिल सकती; वह तो जनता की सामूहिक कार्रवाई से ही मिलेगी। दुःख और ख़ामोशी के साथ दाँतों को भींचकर, यह नवयुवक अपनी पढ़ाई में लगा रहा; स्कूल की आख़िरी परीक्षा में बैठा और नामवरी के साथ पास हुआ। तीस वर्ष बाद होनेवाली क्रान्ति का नेता और निर्माता ऐसी ही मिट्टी का बना हुआ था।

मार्क्स का यह ख़याल था कि मज़दूर-वर्ग की जिस क्रान्ति की उसने भविष्य-

---

[1] Social Democratic Labour Party.

वाणी की थी वह जर्मनी-जैसे बढ़े-चढ़े औद्योगिक देश में शुरू होगी, जहाँ का मज़दूर-वर्ग बहुत बड़ा और संगठित है। रूस को तो वह इसके लिए सबसे कम सम्भावना वाली जगह समझता था, क्योंकि यह देश पिछड़ा हुआ और मध्यकालीन था। लेकिन रूस में उसे नौजवान वफ़ादार अनुयायी मिल गये, जिन्होंने उसकी बातों का बड़ी लगन के साथ इसलिए अध्ययन किया, कि उन्हें यह पता लग जाय कि वे अपनी बर्दाश्त से बाहर ज़लालत का अन्त किस तरह कर सकते हैं। चूंकि ज़ारशाही रूस में खुल्लमखुल्ला किसी हलचल का या संविधानी तरीक़ों का कोई रास्ता उनके लिए नहीं था, इसलिए वे मजबूर होकर इस अध्ययन में और आपसी चर्चाओं में लग गये। ये लोग बहुत संख्या में जेलों में या साइबेरिया भेज दिये जाते थे या देश से निकाल दिये जाते थे। जहाँ कहीं वे जाते, मार्क्सवाद का अध्ययन और क्रान्ति के दिवस की तैयारी जारी रखते थे।

: १४४ :

१९०५ ई० की असफल रूसी क्रान्ति

१७ मार्च, १९३३

रूसी मार्क्सवादियों को, यानी समाजी लोकतन्त्री दल को, १९०३ ई० में एक संकट का सामना करना पड़ा। उन्हें एक ऐसे सवाल को सोचना और हल करना पड़ा, जिसका हर ऐसे दल को कभी-न-कभी सामना करना और हल सोचना पड़ता है, जो कुछ उसूलों और निश्चित आदर्शों की बुनियाद पर क़ायम हो। सच तो यह है कि सब नर-नारियों को, जिनके कुछ उसूल और विश्वास होते हैं, अपनी ज़िन्दगी में कितनी ही बार इस तरह के संकटों का सामना करना पड़ता है। सवाल यह था कि क्या वे अपने उसूलों पर पूरी तरह जमे रहें और मज़दूर-वर्ग की क्रान्ति की तैयारी करें, या मौजूदा हालतों के साथ कुछ समझौता कर लें और इस तरह अन्त में क्रान्ति के लिए ज़मीन तैयार करें? यह सवाल पश्चिमी यूरोप के सब देशों में उठा था और इसके कारण हर जगह समाजी लोकतन्त्र या दूसरे ऐसे ही दल कमती-बढ़ती कमज़ोर पड़ गये थे और उनमें अन्दरूनी झगड़े पैदा हो गये थे। जर्मनी में मार्क्सवादियों ने बहादुरी के साथ सोलह आने यानी सम्पूर्ण क्रान्तिकारी विचार की घोषणा कर दी थी, लेकिन अमल में वे मुलायम पड़ गये और उनका रुख नर्म हो गया। फ़ान्स में कितने ही समाजवादी नेता अपने दलों को धता बताकर मन्त्रि-मण्डलों में शामिल हो गये। इटली, बेलजियम और दूसरी जगहों में भी यही हुआ। इंग्लैण्ड में मार्क्सवाद कमज़ोर था और वहाँ यह सवाल उठा ही नहीं; पर वहाँ भी मज़दूर-दल का एक सदस्य मन्त्री बन गया।

रूस की स्थिति इससे जुदा थी, क्योंकि वहाँ पार्लमेण्टी कार्रवाई के लिए कोई गुंजायश नहीं थी। क्योंकि वहाँ पार्लमेण्ट ही नहीं थी। इतने पर भी वहाँ ज़ारशाही के खिलाफ़ लड़ाई के 'ग़ैर-क़ानूनी' कहे जानेवाले तरीक़ों को छोड़ देने की, और कुछ दिनों तक चुपचाप सिद्धान्तों का प्रचार करने की, सम्भावना थी। लेकिन इस बारे में लेनिन के विचार साफ़ और निश्चित थे। वह किसी तरह की कमज़ोरी या समझौते के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि उसे डर था कि ऐसा करने से उनके दल में अवसरवादी लोग धड़ाधड़ आ घुसेंगे। वह पश्चिमी समाजवादी दलों के अपनाये गए तरीक़ों को देख चुका था और ये तरीक़े उसे जँचे नहीं थे। जैसा कि उसने बाद में एक दूसरे सिलसिले में लिखा था, "पार्लमेण्टवादियों की चालें, जिन पर पश्चिमी समाजवादी अमल करते थे, बहुत ही ज्यादा भ्रष्ट करनेवाली थीं, क्योंकि इन्होंने हरेक समाजवादी दल को धीरे-धीरे एक छोटा 'टैमनी हॉल'[1] बना दिया था, जिसमें ऊपर चढ़नेवालों और ओहदों के पीछे दौड़नेवालों की भर-मार है।" लेनिन ने इस बात की परवाह नहीं की कि उसके साथ कितने लोग हैं, बल्कि एक बार तो उसने यहाँतक चेतावनी दी थी कि वह अकेला ही लड़ेगा। लेकिन उसकी हठ यह थी कि दल में वे ही लोग लिये जायँ, जो पूरा साथ देनेवाले हों, जो क्रान्ति के लिए सब-कुछ निछावर करने को तैयार हों और जिन्हें जनता की वाहवाही लूटने की चिन्ता न हो। वह क्रान्ति के माहिरों की एक जमात तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को मुस्तदी से आगे बढ़ा सकें। सिर्फ़ सहानुभूति रखनेवालों और सुख के साथियों की उसे ज़रूरत नहीं थी।

यह ढंग अपनाना कठिन था और बहुत-से लोग इसे नादानी समझते थे। बहरहाल कुल मिलाकर जीत लेनिन के हाथ रही। समाजी लोकतन्त्री दल के दो टुकड़े हो गये और 'बोलशेविकी' व 'मेनशेविकी' ये दो नये नाम पैदा हो गये, जो तबसे मशहूर हो गये हैं। कुछ लोगों के लिए आजकल 'बोलशेविक' शब्द बड़ा भयंकर हो गया है, लेकिन इसका अर्थ सिर्फ़ 'बहुमत' है। 'मेनशेविक' का अर्थ 'अल्पमत' है। १९०३ ई० की इस फूट के बाद समाजी लोकतन्त्री दल में लेनिन के साथियों का बहुमत था, इसलिए यह बोलशेविक, यानी बहुमत-दल कहलाया। यह बात याद रखने की है कि त्रॉत्स्की, जिसकी उम्र उस समय चौबीस वर्ष की थी और जो १९१७ ई० की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ बननेवाला था, मेनशेविकों की तरफ़ था।

ये चर्चाएँ और बहसें रूस से बहुत दूर लन्दन में होती थीं। रूसी दल की एक बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ी थी, कि ज़ारशाही रूस में उसके लिए

[1] टैमनीहॉल न्यूयार्क में है। यह राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रतीक बन गया है।

कोई जगह नहीं थी और उसके ज़्यादा सदस्य या तो देश से निकाले हुए थे या साइबेरिया से भागे हुए क़ैदी थे।

इसी बीच खुद रूस में ही आग सुलग रही थी। राजनीतिक हड़तालें इसका संकेत थीं। मज़दूरों की राजनीतिक हड़ताल का अर्थ है वह हड़ताल जो आर्थिक बेहतरी यानी मज़दूरी बढ़ाने के वास्ते नहीं, बल्कि सरकार की किसी राजनीतिक कार्रवाई का विरोध करने के लिए की गई हो। इसका अर्थ होता है कि मज़दूरों में कुछ राजनीतिक चेतना है। जसे, अगर भारतीय कारख़ानों के मज़दूर इसलिए हड़ताल करें कि गांधीजी गिरफ़्तार कर लिये गए या कोई दूसरा भारी दमन हुआ, तो वह राजनीतिक हड़ताल कहलायेगी। अजीब बात तो यह है कि पश्चिमी यूरोप में ताक़तवर ट्रेड-यूनियनों और मज़दूर-संगठनों के होते हुए भी, इस क़िस्म की राजनीतिक हड़तालें बहुत कम होती थीं। यह भी हो सकता है कि ऐसी हड़तालें वहाँ इसलिए बहुत कम होती थीं कि मज़दूर-नेता अपने निहित स्वार्थों के कारण ढीले पड़ गये थे। रूस में ज़ारशाही के लगातार ज़ुल्मों की वजह से राजनीतिक पहलू हमेशा सबसे आगे रहता था। दक्षिण रूस में १९०३ ई० में ही कई राजनीतिक हड़तालें अपने-आप हो गई थीं। यह जन-आन्दोलन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ, पर नेताओं के अभाव में ढीला पड़ गया।

अगले साल सुदूर-पूर्व में गड़बड़ी मची। उत्तरी एशिया के मैदानों में होकर ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरियन रेलवे की लम्बी पटरियाँ बिछाने का, १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ मुठभेड़ों का, और १९०४-५ ई० के रूस-जापान-युद्ध का, एक पिछले पत्र में, मैं ज़िक्र कर चुका हूँ। मैंने तुम्हें 'खूनी रविवार' के बारे में भी बताया है, जो २२ जनवरी, १९०५ ई० को हुआ था जबकि ज़ार की फ़ौज ने एक शान्त जुलूस पर गोलियाँ चलाई थीं, जो एक पादरी को अगुआ बनाकर 'नन्हे पिता' ज़ार के पास रोटी माँगने गया था। इससे सारे देश में नफ़रत की लहर फैल गई और कई राजनीतिक हड़तालें हुईं। सबसे अखीर में सारे रूस में आम हड़ताल हो गई। नये ढंग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू हो गई थी।

जिन मज़दूरों ने हड़तालें की थीं, खासकर पीटर्सबर्ग और मास्को-जैसे बड़े केन्द्रों में, उन्होंने हरेक ऐसे केन्द्र में 'सोवियत' नाम का नया संगठन बनाया। शुरू-शुरू में तो यह आम हड़ताल को चलानेवाली एक समिति ही थी। ट्रॉट्स्की पीटर्सबर्ग की सोवियत का नेता बन गया। ज़ार की सरकार बिलकुल हकबका गई और कुछ हद तक झुक भी गई और उसने संविधानी विधान-सभा और लोकतन्त्री मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पड़ा मानो निरंकुशशाही का गढ़ टूट गया हो। किसानों के पिछले विद्रोह जिसमें असफल रहे, आतंकवादी अपने

बम से जिसमें सफल नहीं हुए, संविधानवादी मुलायम विचारोंवाले उदार-दली लोग अपनी नपी-तुली दलीलों से जो नहीं कर सके, मज़दूरों ने वह अपनी आम हड़ताल से करके दिखा दिया। ज़ारशाही को अपने इतिहास में पहली बार जनता के सामने सिर झुकाना पड़ा। बाद में यह विजय खोखली साबित हुई। लेकिन फिर भी मज़दूरों के लिए इसकी याद अँधेरे में रास्ता दिखानेवाली एक रोशनी के समान थी।

ज़ार ने एक संविधान-सभा--'डूमा'—देने का वादा किया था। 'डूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह; पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नहीं (फ़्रान्सीसी भाषा के 'पार्ल' से यह शब्द बना है)। इस वादे से नर्म उदार-दली लोगों का जोश ठण्डा पड़ गया। वे राज़ी हो गए। उदार-दली हमेशा आसानी से राज़ी हो जाया करते हैं। ज़मींदार लोग क्रान्ति से डरकर कुछ सुधारों पर राज़ी हो गये, जिससे खुशहाल किसानों को फ़ायदा पहुँचा। इसके बाद ज़ार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियों का मुक़ाबला किया और उनकी कमज़ोरी को पहचानकर उससे पूरा फ़ायदा उठाया। एक तरफ़ भूखे मज़दूर थे, जिन्हें राजनीतिक संविधानों में इतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी कि रोटी और ज्यादा मजूरी में थी, और बहुत ग़रीब किसान थे जो 'हमें ज़मीन दो' का खतरनाक नारा उठा रहे थे। दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी लोग थे, जो खासकर राजनीतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी यूरोपीय नमूने की पार्लमेण्ट पाने की उम्मीद रखते थे और जनता की भावनाओं और असली माँगों के बारे में कुछ नहीं सोचते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर मज़दूर, जो ट्रेड यूनियनों में संगठित थे, क्रान्ति में शामिल हो गये थे, क्योंकि वे राजनीतिक पहलू की क़ीमत समझते थे। लेकिन आमतौर से शहरों और गाँवों की जनता को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसपर ज़ार की सरकार और पुलिस ने वही पुराना ढंग आज़माया, जो तमाम ज़ालिम हुकूमतें काम में लिया करती हैं। इन्होंने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के खिलाफ़ भड़का दिया। अभागे यहूदियों की रूसियों ने हत्या की और आर्मीनियों की तातारियों ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियों और ज्यादा ग़रीब मज़दूरों तक में भी मुठभेड़ें हुईं। देश के अलग-अलग भागों में इस तरह क्रान्ति की कमर तोड़ देने के बाद सरकार ने क्रान्ति के दो तूफ़ानी केन्द्र पीटर्सबर्ग और मास्को पर हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियत आसानी से कुचल दी गई। मास्को में फ़ौज ने क्रान्तिकारियों की मदद की, और पाँच दिन की लड़ाई के बाद ही सोवियत पूरी तरह कुचली जा सकी। इसके बाद बदले की कार्रवाइयाँ शुरू हुईं। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को में बिना मुक़दमा चलाये एक हज़ार आदमियों को फाँसी दे दी और सत्तर हज़ार को जेल भेज दिया। सारे देश में इन अलग-अलग बलवों में क़रीब चौदह हज़ार आदमी मारे गये।

इस तरह हार और बर्बादी के साथ १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति का अन्त हुआ। इसे १९१७ ई० में सफल होनेवाली क्रान्ति की भूमिका कहा गया है। जनता की चेतना जगाई जा सके और वह बड़े पैमाने पर कार्रवाई कर सके, इससे पहले उसे "बड़ी-बड़ी घटनाओं की शिक्षा मिलनी ज़रूरी है।" १९०५ ई० की घटनाओं के रूप में बहुत भारी क़ीमत चुकाकर जनता को यह तजुर्बा हासिल हुआ।

दूमा का चुनाव हुआ और मई, १९०६ ई० में, इसकी बैठक हुई। दूमा क्रान्तिकारी जमात तो थी ही नहीं, लेकिन ज़ार की निगाह में उसके विचार इतने ज़्यादा उदार थे कि वह पसन्द नहीं करता था। इसलिए उसने ढाई महीने बाद इसे घर बैठा दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को दूमा के ग़ुस्से की कुछ परवाह नहीं रह गई थी। दूमा के बरखास्त किये हुए डिप्टी, जो मध्यम-वर्गी उदार संविधानवादी थे, फ़िनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नज़दीक था और ज़ार की सत्ता के अधीन एक आधा-स्वाधीन देश था। इन्होंने रूसियों से अपील की कि वे दूमा के बरखास्त किये जाने के विरोध में टैक्स देने से इन्कार कर दें और जल व थल सेनाओं में भर्ती रोकें। लेकिन ये डिप्टी लोग जनता के सम्पर्क में बिलकुल नहीं थे, इसीलिए इनकी अपील का कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष, १९०७ ई० में, दूसरी दूमा का चुनाव हुआ। पुलिस ने वाम-दली उम्मीदवारों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके, और कभी-कभी उन्हें गिरफ़्तार करने की सहज तदबीर से, यह कोशिश की कि वे चने न जायँ। फिर भी दूमा ज़ार को पसन्द नहीं आई और उसने इसे भी तीन महीने बाद बरखास्त कर दिया। अब ज़ार की सरकार ने चुनाव के क़ानून में रद्दो-बदल करके तमाम नापसन्दों का चुनाव रोकने की कार्रवाई की। यह तरकीब सफल हुई और तीसरी दूमा बड़ी इज़्ज़तदार व दक़ियानूसी जमात बन गई और लम्बे समय तक चली।

तुम्हें ताज्जुब होगा कि ज़ार ने इन कमज़ोर दूमाओं को बनाने की परेशानी क्यों उठाई, जबकि १९०५ ई० की क्रान्ति को कुचल डालने के बाद वह इतना ताक़तवर हो गया था कि मनमाने ढंग पर काम चला सकता था। इसकी कुछ वजह यह थी कि वह रूस की कुछ छोटी जमातों को, ख़ासकर धनी ज़मींदारों और व्यापारियों को, राज़ी रखना चाहता था। देश की हालत भी ख़राब थी। इसमें शक नहीं कि जनता कुचल दी गई थी, लेकिन वह झुंझलाहट और क्रोध में भरी बैठी थी। इसलिए यह मुनासिब समझा गया कि कम-से-कम चोटी के धनवान लोगों को तो मुट्ठी में रक्खा जाय। लेकिन इससे भी ज़्यादा बड़ा सबब यूरोपीय देशों पर यह छाप डालना था कि ज़ार एक उदार सम्राट् है। ज़ार के बुरे शासन

और अत्याचारों की चर्चा पश्चिमी यूरोप में हरेक की ज़बान पर थी। जब पहली दूमा बरख़ास्त की गई थी, तब शायद ब्रिटिश उदार दल के एक सदस्य ने कामन्स-सभा में चिल्लाकर कहा था—"दूमा मर गई ! दूमा ज़िन्दाबाद !" इससे ज़ाहिर होता है कि दूमा के लिए लोगों में कितनी हमदर्दी थी। साथ ही उस समय ज़ार को रुपये की, और बहुत ज़्यादा रुपये की, ज़रूरत थी। सूदख़ोर फ़ान्सीसी उसे रुपया उधार देते आये थे। सच तो यह है कि ज़ार ने १९०५ ई० की क्रान्ति को फ़ान्सीसी क़र्ज़ की मदद से ही कुचला था। यह एक अजीब बेमेल बात थी कि गणराज्यी फ़ान्स निरंकुशशाही रूस को क्रान्तिकारियों और वामदली लोगों को कुचलने के लिए मदद दे ! लेकिन गणराज्यी फ़ान्स का अर्थ था फ़ान्सीसी साहूकार। बहरहाल दिखावा तो क़ायम रखना ज़रूरी था और दूमा इसमें मदद करती थी।

इस बीच यूरोप की और संसार की हालत तेज़ी के साथ बदल रही थी। जापान के हाथों रूस की पराजय के बाद इंग्लैण्ड के दिल से रूस का पहले जैसा डर जाता रहा था। हाँ, जर्मनी की शक्ल में इंग्लैण्ड के लिए एक नया डर पैदा हो गया था; उद्योगों में भी, और समुद्र पर भी, जिनपर कि अभीतक इंग्लैण्ड का ही इजारा था। जर्मनी के डर से ही फ़ान्स ने रूस को इतनी उदारता से क़र्ज़े दिये थे। 'जर्मनी का ख़तरा' कहलानेवाले इस डर ने दो पुराने शत्रुओं को आपस में गले मिला दिया था। १९०७ ई० में अंग्रेज़ी-रूसी सन्धि पर दस्तख़त हुए, जिससे अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और दूसरी जगहों में इन दोनों के झगड़े के तमाम ख़ास-ख़ास मुद्दे तय हो गये। बाद में इंग्लैण्ड, फ़ान्स और रूस का तिहरा गुट बना। बलकान में आस्ट्रिया रूस का मुक़ाबलेदार था और आस्ट्रिया जर्मनी का दोस्त था। इसी तरह काग़ज़ी तौर पर इटली भी जर्मनी का दोस्त था। इस तरह इंग्लैण्ड, फ़ान्स व रूस का तिहरा गुट जर्मनी, आस्ट्रिया व इटली के तिहरे गुट के मुक़ाबले में खड़ा हो गया। बड़ी-बड़ी फ़ौजें लड़ाई की तैयारी करने लगीं जब कि शान्ति-पसन्द लोग गहरी नींद में सो रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि भविष्य में उनपर कितनी भयंकर आफ़त आनेवाली है।

१९०५ ई० के बाद, रूस के ये वर्ष प्रगति-विरोध के वर्ष थें। बोलशेविकों और दूसरे क्रान्तिकारी तत्वों को पूरी तरह कुचला जा चुका था। विदेशों में लेनिन की तरह देश से निकाले हुए कुछ बोलशेविक अपना काम धीरज के साथ कर रहे थे। वे पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखते थे और मार्क्स के मत को बदलती हुई हालतों के अनुसार ढालने की कोशिश करते थे। मेनशेविकों और बोलशेविकों के बीच की खाई बढ़ती ही जाती थी। प्रगति-विरोध के इन वर्षों में मेनशेविक ज़्यादा सामने आये। हालाँकि इसे अल्पसंख्यक-दल कहा जाता था पर वास्तव में उस समय इसकी ओर बहुत ज़्यादा लोग थे। १९१२ ई० से रूसी दुनिया में फिर

५५

एक नया परिवर्तन धीरे-धीरे आने लगा और क्रान्तिकारी हलचलें बढ़ने लगीं और साथ-साथ बोलशेविकों का ज़ोर भी बढ़ा। १९१४ ई० के बीच में पेत्रोग्राद की हवा क्रान्ति की चर्चा से भरी हुई थी, और १९०५ ई० की तरह बहुत-सी राजनीतिक हड़तालें हुईं। तुर्रा यह कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्योंवाली बोलशेविक समिति के बारे में बाद में यह भेद खुला कि इसके तीन सदस्य ज़ारशाही ख़ुफ़िया विभाग में थे! क्रान्तियाँ कैसे मसाले की बनी होती हैं! बोलशेविकों की एक छोटी-सी जमात दूमा में भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का गुर्गा था! और लेनिन इसपर भरोसा करता था।

अगस्त, १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगों का ध्यान युद्ध के मोरचों की तरफ़ खिंच गया, और जबरन भरती के क़ानून से ख़ास-ख़ास कार्यकर्ताओं को फ़ौज में भरती होना पड़ा, और क्रान्तिकारी आन्दोलन ठण्डा पड़ गया। युद्ध के विरोध में आवाज़ उठानेवाले बोलशेविकों की संख्या बहुत कम थी और वे बहुत ज़्यादा बदनाम हो गये।

अब हम अपने मुक़ाम पर, यानी महायुद्ध पर, आ गये हैं और यहीं हमें रुक जाना चाहिए। लेकिन इस पत्र को खत्म करने के पहले मैं तुम्हारा ध्यान रूसी साहित्य और कला की ओर ले जाना चाहता हूँ। जैसा कि बहुत लोग जानते हैं, ज़ारशाही रूस में बहुत-सी बुराइयाँ होते हुए भी उसने अपनी निराली नृत्य-कला को क़ायम रक्खा। रूस में उन्नीसवीं सदी में मँजे हुए लेखकों का एक सिलसिला पैदा हुआ, जिन्होंने साहित्य की एक महान् परम्परा क़ायम की। लम्बे उपन्यासों और छोटी कहानियों, दोनों में इन लोगों ने अनोखी विद्वत्ता दिखाई। इस सदी के शुरू में बायरन, शेली और कीट्स का समकालीन पुश्किन हुआ, जो रूसी कवियों में सबसे महान् माना जाता है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यास-लेखकों में गोगोल, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और चेखव मशहूर हैं। फिर, शायद इन सबसे महान् लियो तोल्स्तोय हैं, जिनमें केवल उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नहीं थी, बल्कि जो एक मज़हबी और रूहानी नेता भी हो गये और जिनका प्रभाव बहुत दूर तक फैला। यह प्रभाव सचमुच गांधीजी तक भी जा पहुँचा जो उस समय दक्षिण अफ़्रीका में थे। ये दोनों एक-दूसरे की क़द्र करते थे और आपस में पत्र-व्यवहार भी करते थे। अ-विरोध या अहिंसा में पक्का विश्वास इन दोनों को जोड़नेवाली कड़ी थी। तोल्स्तोय की राय में ईसा का बुनियादी उपदेश यही था और गांधीजी ने प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों से यही नतीजा निकाला था। तोल्स्तोय तो अपने पक्के विश्वासों को जीवन में उतारते हुए, पर दुनिया से विलग रहकर, भविष्य-द्रष्टा ही बने रहे, मगर गांधीजी ने इस नकारात्मक नज़र आनेवाली चीज़ को दक्षिण अफ़्रीका व भारत की सामूहिक समस्याओं पर अमली तरीक़े से लागू किया।

उन्नीसवीं सदी के महान् रूसी लेखकों में से एक अभीतक ज़िन्दा है। इसका नाम मैक्सिम गोर्की[1] है।

: १४५ :

एक ऐतिहासिक युग का अन्त

२२ मार्च, १९३३

उन्नीसवीं सदी! इन सौ वर्षों ने हमको कितने लम्बे समय तक अटका रक्खा! चार महीने से, समय-समय पर, मैं तुम्हें इस ज़माने के बारे में लिखता आया हूँ और अब इससे कुछ ऊब गया हूँ, और जब तुम इन पत्रों को पढ़ोगी तो शायद तुम भी ऊब जाओगी। मैंने यह बताते हुए इसका बयान शुरू किया था कि यह एक बड़ा आकर्षक ज़माना था, लेकिन कुछ समय के बाद यह आकर्षण भी फीका पड़ जाता है। सच तो यह है कि हम उन्नीसवीं सदी से आगे चले गये हैं और बीसवीं सदी में काफ़ी आगे बढ़ आये हैं। १९१४ ई० हमारी हद थी। इसी साल, जैसी कि कहावत है, युद्ध के भेड़िये यूरोप पर और संसार पर टूट पड़े। इतिहास इस साल से एक नया मोड़ ले लेता है। यहाँ से एक ऐतिहासिक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत होती है।

उन्नीस-सौ चौदह! यह साल भी तुम्हारे जन्म से पहले का है और फिर भी इसे बीते उन्नीस वर्ष से कम ही हुए हैं। मनुष्य के जीवन में भी यह कोई लम्बा ज़माना नहीं है, इतिहास की तो बात ही क्या। लेकिन इन वर्षों में दुनिया इतनी ज्यादा बदल गई है और अब भी बदलती जा रही है कि मालूम होता है तबसे एक युग बीत गया है; और १९१४ ई० व उसके पहले के साल बहुत पुराने इतिहास में चले गये हैं, और दूर अतीत के अंग बन गये हैं, जिसके बारे में हम पुस्तकों में पढ़ते हैं, और जो हमारे ज़माने से बिलकुल अलग तरह का है। इन बड़े-बड़े परिवर्तनों के बारे में मुझे आगे चलकर तुम्हें कुछ बताना है। इस समय मैं तुम्हें एक चेतावनी दूंगा। तुम स्कूल में भूगोल पढ़ रही हो, और जो भूगोल तुम पढ़ रही हो वह उस भूगोल से बिलकुल जुदा है जो १९१४ ई० के पहले मुझे स्कूल में पढ़ना पड़ा था। और सम्भव है कि जो भूगोल तुम आज पढ़ रही हो उसकी बहुत-सी बातें तुम्हें बहुत जल्दी भूल जानी पड़ें, जैसाकि मुझे भी करना पड़ा था। ज़मीनों के पुराने निशान, पुराने देश, युद्ध के धुएँ में ग़ायब हो गये और उनकी जगह नये-नये देश पैदा हो गये, जिनके नामों को याद रखना मुश्किल है। सैकड़ों शहरों के नाम रातों-रात बदल गये। सेण्ट पीटर्सबर्ग पहले पेत्रोग्राद हुआ और फिर

[1] इनकी १९३६ ई० में मृत्यु हो गई।

लेनिनग्राद; क़ुस्तुन्तुनिया को अब इस्तम्बूल कहना होगा; पेकिंग अब पेइपिंग कहलाता है; और बोहेमिया का प्रेग् अब चेकोस्लोवाकिया का प्राहा हो गया है।

उन्नीसवीं सदी के बारे में लिखे गये पत्रों में मैंने महाद्वीपों और देशों का ज़रूरी तौर पर अलग-अलग बयान किया है; हमने जुदा-जुदा पहलुओं पर और जुदा-जुदा आन्दोलनों पर भी अलग-अलग विचार किया है। लेकिन तुम्हें ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब-कुछ लगभग साथ-साथ होता रहा है और इतिहास सारे संसार के ऊपर अपने हज़ारों पाँवों को मिलाकर चलता रहा है। विज्ञान और उद्योग, राजनीति और अर्थशास्त्र, खुशहाली और ग़रीबी, पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद, लोकतन्त्र और समाजवाद, डारविन और मार्क्स, आज़ादी और ग़ुलामी, अकाल और महामारी, युद्ध और शान्ति, सभ्यता और बर्बरता—इन सबका इस विचित्र बनावट में अपना-अपना स्थान रहा और एक की दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हुई। इसलिए अगर हम इस ज़माने की या किसी दूसरे ज़माने की तसवीर अपने मन में बनावें तो यह तसवीर बड़ी झिलमिल और काँच के रंगीन टुकड़ों-वाली सैरबीन की तरह हरदम चलती-फिरती और बदलनेवाली होगी; हाँ, इस तसवीर के कई हिस्से ऐसे होंगे जिनपर ग़ौर करने से खुशी हासिल नहीं होगी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस ज़माने की मुख्य विशेषता थी बड़े पैमाने पर पानी, भाप, बिजली, वग़ैरा मशीनी शक्तियों के उत्पादन व उपयोग से पूंजीशाही उद्योगों की उन्नति। संसार के अलग-अलग भागों पर इसके अलग-अलग प्रभाव पड़े और ये प्रभाव ज़ाहिरा तौर पर भी पड़े थे और छिपे तौर पर भी। मसलन, लंकाशायर में मशीनी करघों के ज़रिये कपड़े के उत्पादन ने भारत के भीतरी गाँवों की हालत उलट-पलट कर दी और वहाँ के कितने ही धन्धे खत्म कर दिये। यह पूंजीशाही उद्योग गतिशील था। अपनी इसी खासियत से वह दिन-पर-दिन बड़ा होता गया और उसकी भूख कभी नहीं बुझी। उसके निरालेपन का एक चिह्न था कमाने की हवस; यानी वह हमेशा इस कोशिश में रहता था कि कमाये और जमा करे और फिर कमाये। व्यक्तियों की भी यह कोशिश थी और राष्ट्रों की भी। इसलिए इस ढाँचे के भीतर बढ़नेवाला समाज कमाने की हवसवाला समाज कहलाता है। लक्ष्य हमेशा यही रहा कि ज़्यादा-से-ज़्यादा उत्पादन हो और इस तरह पैदा होनेवाली फ़ालतू दौलत नये-नये कारखानों, रेल-मार्गों व ऐसे ही दूसरे उद्योगों को खड़ा करने में लगती रहे और मालिकों को तो मालदार बनाती ही रहे। इस लक्ष्य के पीछे दौड़ में बाक़ी सब चीज़ों को क़ुर्बान कर दिया गया। मज़दूर लोग, जो उद्योगों की दौलत पैदा करते थे, इसका सबसे कम नफ़ा उठा पाते थे। और इससे पहले कि इन मज़दूरों की, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, बुरी हालत में कुछ सुधार हुआ, इन्हें

भयंकर मुसीबतों से गुज़रना पड़ा। इस पूँजीशाही उद्योग के, व उसमें लगे हुए राष्ट्रों के लाभ के लिए, उपनिवेशों व अधीन देशों को भी बलिदान का बकरा बनाया जा रहा था और निचोड़ा जाता था।

इस तरह पूँजीशाही अन्धे की तरह और बेरहमी के साथ आगे बढ़ती गई, और उसकी पगडण्डियों में उसके शिकारों की लाशें बिछ गईं। लेकिन इतने पर भी उसकी यह कूच विजय की खुशी से भरी हुई प्रगति थी। विज्ञान की मदद पाकर वह बहुतेरी बातों में सफल हुई, और इस सफलता ने संसार को चौंधिया दिया, और उसके कारण पैदा होनेवाली मुसीबतों का मानो बहुत-कुछ बदला चुका दिया। इत्तिफ़ाक़िया ही, और सोच-समझकर कोई योजना बनाये बिना ही, उसने जीवन को सुखी बनानेवाली चीज़ें पैदा कर दीं। लेकिन चमकदार सतह और अच्छाइयों के नीचे बुराइयों का ढेर था। वास्तव में उसकी सबसे निराली चीज़ थी उसके पैदा किये हुए फ़र्क़: एक तरफ़ हद से ज्यादा ग़रीबी और दूसरी तरफ़ हद से ज्यादा दौलत; गन्दी झोंपड़ियाँ और आसमान छूनेवाली इमारतें; साम्राजी राज्य और पराधीन शोषित उपनिवेश। यूरोप तो हुकूमत करनेवाला महाद्वीप था, और एशिया व अफ़्रीका निचोड़े जानेवाले महाद्वीप थे। इस सदी के बड़े भाग में अमेरिका संसार के घटनाचक्र से बाहर रहा, लेकिन वह तेज़ी से आगे बढ़ रहा था और ज़बर्दस्त साधन जुटा रहा था। यूरोप में इंग्लैण्ड इस पूँजीशाही का, और ख़ासकर उसके साम्राज्यशाही पहलू का, दौलतमन्द, अभिमानी और अपने-आपे में मस्त नेता था।

पूँजीशाही उद्योगों की दौड़ और लालची तासीर ने ही मामला इतना बिगाड़ दिया कि विरोध और आन्दोलन खड़े हो गये और आखिर में मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए उनपर कुछ पाबन्दियाँ लग गईं। शुरू के दिनों में कारखाना-प्रणाली का अर्थ था मज़दूरों का भयंकर शोषण—ख़ासकर स्त्रियों और बच्चों का। कारखानों में काम करने के लिए स्त्रियों और बच्चों को मरदों से ज्यादा पसन्द किया जाता था क्योंकि वे सस्ते मिल जाते थे और उन्हें बहुत ही गन्दी व मनहूस हालतों में, कभी-कभी तो दिन भर में अट्ठारह घण्टे, काम करने को मजबूर किया जाता था। अन्त में राज्य ने दखल दिया और फ़ैक्टरी क़ानून कहलानेवाले क़ानून पास किये, जिनमें रोज़ाना काम के घण्टे बाँध दिये गए और मज़दूरों के लिए अच्छी हालतों पर ज़ोर दिया गया। इन क़ानूनों के ज़रिये स्त्रियों और बच्चों की ख़ासतौर पर रक्षा की गई। लेकिन कारखानेदारों के ज़ोरदार विरोध के मुक़ाबले में इन्हें पास करने के लिए बड़ी लम्बी और सख़्त लड़ाई हुई।

पूँजीशाही उद्योग का नतीजा यह भी हुआ कि समाजवादी और साम्यवादी खयाल फैले, जिन्होंने नये उद्योग को तो मान लिया लेकिन पूँजीवाद की बुनियाद

को मानने से इन्कार कर दिया। मज़दूरों के संगठन, ट्रेड-यूनियनें और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी बने और विकसित हुए।

पूंजीशाही से साम्राज्यशाही पैदा हुई, और पूर्वी देशों की बहुत अर्से से क़ायम आर्थिक हालतों पर पश्चिमी पूंजीशाही उद्योग की टक्कर ने वहाँ तबाही मचा दी। धीरे-धीरे इन पूर्वी देशों तक में भी पूंजीशाही उद्योग जड़ पकड़ गया और बढ़ने लगा। वहाँ पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती देनेवाला राष्ट्रवाद भी पैदा हो गया।

इस तरह पूंजीशाही ने संसार को हिला डाला, हालांकि इसकी वजह से मनुष्य-जाति के लिए भयंकर मुसीबतें पैदा हुईं, लेकिन फिर भी, कुल मिलाकर यह एक भली हलचल साबित हुई; कम-से-कम पश्चिम में तो हुई ही। इसके पीछे-पीछे संसारी सुख के साधनों में ज़बर्दस्त तरक्क़ी हुई और इसने मनुष्य-जाति की खुशहाली का स्तर एकदम ऊँचा उठा दिया। साधारण आदमी का अब इतना ज्यादा महत्व हो गया जितना पहले कभी नहीं हुआ था। कहने को तो उसे वोट का अधिकार मिल गया था, लेकिन व्यवहार में किसी भी चीज़ में उसकी बात नहीं सुनी जाती थी। हाँ, फ़र्ज़ी तौर पर राज्य में उसका दर्जा ऊँचा हो गया और इसके साथ उसमें आत्म-सम्मान की भावना भी बढ़ी। अलबत्ता यह बात पश्चिमी देशों पर ही लागू होती थी जहाँ पूंजीशाही उद्योग ने अपनी जड़ें जमा ली थीं। ज्ञान का बड़ा भारी भण्डार इकट्ठा हो गया और विज्ञान ने चमत्कार पैदा कर दिये और जीवन में उसके हज़ारों उपयोगों ने हरेक की ज़िन्दगी आसान बना दी। चिकित्सा ने, ख़ासकर उसके बीमारियाँ रोकनेवाले पहलू ने, और सार्वजनिक सफ़ाई ने, बहुत-से रोगों को दबाना और निर्मूल करना शुरू कर दिया जो मनुष्य के लिए बला थे। मिसाल के लिए, मलेरिया का कारण और उसकी रोक-थाम का उपाय खोज निकाले गये। और अब इसमें शक नहीं कि अगर माक़ूल उपाय किये जायँ तो यह रोग किसी भी इलाक़े में निर्मूल किया जा सकता है। यह सही है कि भारत में व दूसरी जगहों में मलेरिया का अभी तक ज़ोर है और करोड़ों इसके शिकार होते हैं, पर यह विज्ञान का क़सूर नहीं है, क़सूर है लापरवाह सरकार का और अज्ञानी जनता का।

इस सदी की शायद सबसे ज्यादा मार्के की सूरत थी माल-ढुलाई व आवा-जाई के साधनों में प्रगति। रेल, भाप के जहाज़, तार-प्रणाली और मोटरकार ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया, और मनुष्य-जाति के सारे मामलों में उसे पहले की बनिस्बत बहुत ही जुदा क़िस्म की जगह बना दिया। दुनिया सिकुड़कर छोटी हो गई और उसके निवासी एक दूसरे के ज्यादा नज़दीक आ गये। अब वे एक दूसरे से ज्यादा मिल-भेंट सकते थे और इस आपसी परिचय के कारण अज्ञान से पैदा होनेवाली कई दीवारें ढह गईं। एक-से विचार फैलने लगे, जिनसे सारे संसार में कुछ हद तक

समानता पैदा होने लगी। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उसके ठेठ अन्त में बेतार-प्रणाली और उड़न-कला ने क़दम रक्खा। अब तो ये काफ़ी साधारण चीज़ें हो गई हैं। तुम कई बार हवाई-जहाज़ों में उड़ी हो और तुमने बिना कुछ ध्यान दिये उनमें बैठकर यात्राएँ की हैं। बेतार-प्रणाली और उड़न-कला का विकास बीसवीं सदी की और हमारे ही ज़माने की बातें हैं। लोग ग़ुब्बारों में बैठकर तो अक्सर उड़े थे, लेकिन कथा-कहानियों में अलिफ़लैला के उड़न-ग़लीचे और भारतीय कहानियों के उड़न-खटोले जैसी चीज़ों पर बैठकर उड़नेवालों के सिवाय हवा से भारी चीज़ पर कोई आसमान में नहीं उड़ा था। हवा से भारी मशीन पर आकाश में उड़नेवालों में सबसे पहले व्यक्ति दो अमेरिकी भाई विल्बर राइट और ओरविले राइट थे। आजकल का हवाई जहाज़ इसी मशीन की औलाद है। दिसम्बर, १९०३ ई० में वे तीन सौ गज़ से भी कम उड़े, लेकिन फिर भी उन्होंने वह कर दिखाया, जो पहले कभी नहीं हुआ था। इसके बाद उड़न-कला में लगातार प्रगति होती रही और १९०९ ई० में जब ब्लेरिओ नामक फ़्रान्सीसी, इंग्लिश चैनल के ऊपर उड़कर फ़्रान्स से इंग्लैण्ड पहुँचा था, तब जो खलबली मची थी, वह मुझे अभी तक याद है। इसके कुछ ही दिन बाद मैंने पेरिस में एफ़िल टावर के ऊपर सबसे पहला हवाई जहाज़ उड़ते देखा था। कई वर्ष बाद, मई, १९२७ ई० में, जब चार्ल्स लिण्डबर्ग आतलान्तिक सागर को लाँघ कर चाँदी के तीर की तरह चमचमाता हुआ आया और पेरिस के हवाई अड्डे ला-बूर्जे पर उतरा, तब तुम और मैं पेरिस में ही मौजूद थे।

ये तमाम चीज़ें इस ज़माने की देन हैं जबकि पूँजीशाही उद्योगों का बोल-बाला था। इस सदी में मनुष्य ने बेशक निराले काम किये। इस ज़माने की एक देन और भी है। जैसे-जैसे लालची और हड़पखोर पूँजीशाही बढ़ी वैसे ही सहकारी आन्दोलन में उसे रोकने का उपाय निकाला गया। माल को मिलकर ख़रीदने-बेचने और मुनाफ़ों को आपस में बाँटने के लिए लोगों का यह एक मेल था। साधारण पूँजीशाही तरीक़ा गर्दन-मार होड़बाज़ी का तरीक़ा था, जिसमें हर व्यक्ति दूसरे से आगे जाने की कोशिश करता था। सहकारी तरीक़े का आधार था आपसी सहकार। तुमने बहुत-से सहकारी भण्डार देखे होंगे। यूरोप में उन्नीसवीं सदी में यह सहकारी आन्दोलन बहुत बढ़ा। शायद सबसे ज़्यादा सफलता इसे डेनमार्क के छोटे-से देश में मिली।

राजनीतिक मैदान में लोकतन्त्री विचारों की बढ़ोतरी हुई और अपनी-अपनी पार्लमेण्टों व विधान-सभाओं के लिए वोट देने के हक़ दिन-पर-दिन ज़्यादा लोगों को मिलते गये। पर यह मताधिकार सिर्फ़ पुरुषों के लिए ही था, और स्त्रियाँ, चाहे वे दूसरी तरह से कितनी ही लायक़ क्यों न हों, इस हक़ को पाने के

लिए ठीक या काफ़ी समझदार नहीं मानी गईं। बहुत-सी स्त्रियों ने इसपर सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की और बीसवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड में स्त्रियों ने एक ज़बर्दस्त आन्दोलन खड़ा किया। यह नारी मताधिकार आन्दोलन[1] कहलाया, और जब पुरुषों ने इसे मामूली चीज़ समझा और इसपर कुछ ध्यान नहीं दिया तो मताधिकारवादी स्त्रियों ने उन्हें मजबूर करने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती के और मार-पीट के तरीक़े अपनाये। लोगों का ध्यान खींचनेवाली हरकतों से ये पार्लमेण्ट की कार्रवाई में गड़बड़ी डालती थीं और ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियों पर वार करती थीं, जिसकी वजह से इन मन्त्रियों को हरदम पुलिस की हिफ़ाज़त में रहना पड़ता था। संगठित हिंसा भी बड़े पैमाने पर हुई और बहुत-सी स्त्रियाँ जेलों में डाल दीं गईं, जहाँ उन्होंने भूख-हड़तालें शुरू कर दीं। इसपर उन्हें छोड़ दिया गया; लेकिन ज्योंही वे चंगी हुईं उन्हें फिर क़ैद कर दिया गया। इस तरह की कार्रवाई को जायज़ करने के लिए पार्लमेण्ट ने एक विशेष क़ानून बनाया जिसे आमतौर पर लोग 'बिल्ली और चूहे का क़ानून'[2] कहते थे। मताधिकार-वादी स्त्रियों की ये तरकीबें सभी लोगों का ध्यान खींचने में सफल हुईं। कुछ वर्षों में, महायुद्ध के शुरू होने के बाद, स्त्रियों को वोट देने का हक़ मंजूर कर लिया गया।

स्त्रियों का यह आन्दोलन, जिसे अक्सर 'नारीवादी आन्दोलन'[3] कहा जाता है, सिर्फ़ वोट का ही हक़ नहीं माँगता था। उसकी माँग थी पुरुषों के साथ हरेक बात में बराबरी का हक़। कुछ दिन पहले तक पश्चिम में स्त्रियों की दशा बहुत बुरी थी। उन्हें कोई हक़ नहीं थे। क़ानून के मातहत अंग्रेज़ स्त्रियों को जायदाद रखने का भी हक़ नहीं था; सब चीज़ों पर पति का हक़ होता था, यहाँ तक कि स्त्री की कमाई पर भी। इस तरह क़ानून के लिहाज़ से उनकी दशा उससे भी बदतर थी जो आज हिन्दू क़ानून के मातहत स्त्रियों की है, और यह तो काफ़ी बुरी है। सच तो यह है कि पश्चिम में स्त्रियाँ एक पराधीन जाति थीं, जैसी कि ढेरों बातों में आज भारतीय स्त्रियाँ हैं। मताधिकार आन्दोलन शुरू होने से बहुत पहले ही स्त्रियों ने दूसरे मामलों में पुरुषों की बराबरी के बर्ताव की माँग की थी। आख़िर १८८०-९० ई० के बीच में इंग्लैण्ड में स्त्रियों को जायदाद रखने के कुछ हक़ दिये गए। स्त्रियों को इसमें सफलता कुछ तो इसलिए मिली कि कारखानेदार इसके पक्ष में थे। उन्होंने सोचा कि अगर स्त्रियाँ अपनी कमाई की मालिक हो जायँगी तो इससे उन्हें कारखानों में काम करने का लालच होगा।

---

[1] Woman Suffrage Movement.

[2] Cat and Mouse Act.

[3] Feminist Movement.

हर तरफ़ हमें बड़े-बड़े परिवर्तन दिखाई देते हैं, लेकिन हुकूमतों के ढंगों में कोई परिवर्तन नहीं होता। बड़ी-बड़ी शक्तियाँ साज़िश और दग़ाबाज़ी के उन्हीं उपायों पर चलती रहीं, जो बहुत दिन पहले फ़्लोरेन्स के मैकियावेली ने, और उससे १८०० वर्ष पहले एक भारतीय मन्त्री चाणक्य ने, सुझाये थे। इनमें हरदम लाग-डाँट चलती रहती थी और गुप्त सन्धियाँ व गुटबन्दियाँ होती थीं और हर शक्ति दूसरी को नीचा दिखाने की कोशिश में रहती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, यूरोप का रूप सकर्मक व सर-ज़ोर था, और एशिया का अकर्मक। संसार की राजनीति में अमेरिका, दूसरों के मुक़ाबले में, बहुत कम हिस्सा लेता था, क्योंकि वह अपने ही मामलों में फँसा हुआ था।

राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ इस भावना का भी विकास हुआ कि 'मेरा देश, चाहे सही हो या ग़लत', और राष्ट्र ऐसी-ऐसी कार्रवाइयाँ करने में शान समझने लगे जो व्यक्तियों के लिए बुरी और भ्रष्ट समझी जाती थीं। इस तरह व्यक्तियों और राष्ट्रों के आचार-व्यवहार के बीच एक अजीब फ़र्क़ पैदा हो गया, दोनों के बीच ज़बर्दस्त अन्तर पड़ गया और जो बातें व्यक्तियों के लिए खोटी आदतें थीं, वे ही राष्ट्रों के लिए अच्छी आदतें बन गईं। व्यक्ति की हैसियत से पुरुषों व स्त्रियों के मामले में ख़ुदग़र्ज़ी, लोभ, हेकड़ी और कमीनापन, क़तई बुरे समझे जाते थे। लेकिन बड़े-बड़े राष्ट्रों, समुदायों के मामले में देशभक्ति और देश-प्रेम का शानदार चोग़ा पहनाकर इन्हीं बातों को सराहा जाता था और बढ़ावा दिया जाता था। अगर बड़े समुदाय या राष्ट्र एक दूसरे के ख़िलाफ़ हत्या और मारकाट का सहारा लें तो ये भी तारीफ़ के लायक़ हो जाती हैं। इन्हीं दिनों एक ग्रन्थकार ने कहा है, और ठीक ही कहा है, कि "सभ्यता ऐसी तरकीब बन गई है, जिसके ज़रिये व्यक्तियों की बुरी आदतें बड़े समुदायों के सुपुर्द कर दी जाती हैं, और जितना बड़ा समुदाय हो उतनी ही ज़्यादा उसके हिस्से में आती हैं।

: १४६ :

महायुद्ध की शुरुआत

२३, मार्च १९३३

पिछला पत्र मैंने यह बतलाते हुए ख़त्म किया था कि एक दूसरे के साथ व्यवहार में राष्ट्र कितने खोटे और भ्रष्ट हो गये थे। जहाँ-कहीं उनके लिए ऐसा करना सम्भव था, वहाँ वे दूसरों को ग़ुस्सा दिलानेवाला और बैर बढ़ाने-वाला रुख़ इख़्तियार करना, और 'खाओ नहीं तो बिगाड़ो' की नीति बरतना, अपनी स्वाधीनता का लक्षण समझते थे। उनसे यह कहनेवाली कोई सत्ता नहीं थी कि अच्छा बर्ताव करें, क्योंकि क्या वे स्वाधीन नहीं थे और क्या वे किसी की

दस्तन्दाज़ी को बर्दाश्त कर सकते थे! उनके बर्ताव पर कोई अगर रोक थी तो वह नतीजों का डर थी। इसलिए कुछ हद तक बलवानों का आदर किया जाता था और निर्बलों को डराया-धमकाया जाता था।

राष्ट्रों की यह आपसी लाग-डाँट वास्तव में पूँजीशाही उद्योग की बढ़ोतरी का लाज़िमी नतीजा थी। हम देख चुके हैं कि मण्डियों और कच्चे मालों की लगातार बढ़ती हुई माँग ने पूँजीवादी शक्तियों को किस तरह साम्राज्य के लिए दुनिया के चारों ओर दौड़ लगाने को मजबूर कर दिया था। उन्होंने एशिया और अफ़्रीका में दौड़-भाग मचाई और जितने प्रदेश पर वे क़ब्ज़ा कर सकती थीं, उतने पर, उससे पूरा फ़ायदा उठाने के लिए, क़ब्ज़ा कर लिया। जब ये साम्राज्यशाही शक्तियाँ सारी दुनिया पर छा गईं और पैर फैलाने को कोई जगह न रही, तो ये एक दूसरी को भेड़ियों की तरह घूरने लगीं और एक-दूसरी की मिल्क़ियतों पर ललचाने लगीं। एशिया और अफ़्रीका और यूरोप में इन बड़ी शक्तियों के बीच अक्सर मुठभेड़ें होती रहती थीं और ग़ुस्से की आग भड़क उठती थी और ऐसा लगता था मानो युद्ध छिड़ने ही वाला है। इनमें से कुछ शक्तियाँ दूसरी शक्तियों से अच्छी हालत में थीं, और उद्योगों में अगुआ और वहुत बड़े साम्राज्यवाला इंग्लैण्ड, इनमें सबसे ज़्यादा भाग्यशाली नज़र आता था। लेकिन इंग्लैण्ड को भी सन्तोष नहीं था, क्योंकि जितना ज़्यादा किसीको मिलता है उतनी ही उसकी हवस भी बढ़ जाती है। उसके 'साम्राज्य-निर्माताओं' के दिमाग़ों में साम्राज्य के विस्तार की ख़ूब लम्बी-चौड़ी योजनाएँ चक्कर काटती रहती थीं; मुसलमान क़ाहिरा से उत्तमाशा अन्तरीप तक, उत्तर से दक्षिण तक, अटूट फैले हुए अफ़्रीकी साम्राज्य की योजनाएँ। उद्योगों में जर्मनी व संयुक्त राज्य अमेरिका की मुक़ाबलेदारी भी इंग्लैण्ड को परेशान कर रही थी। ये देश पक्का माल इंग्लैण्ड से सस्ता तैयार कर रहे थे और इस तरह ईंग्लैण्ड के हाट-बाज़ार उससे चुपचाप छीनते जा रहे थे।

जब इतना भाग्यशाली इंग्लैण्ड ही सन्तुष्ट नहीं था, तो दूसरे राष्ट्र तो और भी ज़्यादा असन्तुष्ट थे। ख़ासकर जर्मनी, जो बड़ी शक्तियों में बहुत देर में शामिल हुआ था और जिसने देखा कि सारे पके बेर तो पहले ही लुट चुके हैं। इसने विज्ञान, शिक्षा व उद्योगों में ज़बर्दस्त प्रगति की थी और साथ ही बड़ी बढ़िया फ़ौजें तैयार कर ली थीं। अपने मज़दूरों के लिए समाजी-सुधार के क़ानूनों में भी यह इंग्लैण्ड-समेत अन्य दूसरे देशों से आगे था। जिस समय जर्मनी मैदान में आया उस समय, हालांकि दुनिया के बड़े हिस्से पर दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था और दूसरों के शोषण से लाभ उठाने के रास्ते बँध चुके थे, फिर भी कठोर मेहनत और आत्म-अनुशासन के बल पर जर्मनी इस औद्योगिक पूँजीशाही के युग की सबसे ज़्यादा ताक़तवर और कारगर शक्ति बन गया। उसके

व्यापारी जहाज हर बन्दरगाह में नज़र आने लगे और उसके बन्दरगाह हैम्बुर्ग व ब्रीमेन संसार के सबसे बड़े बन्दरगाहों में गिने जाने लगे। जर्मनी का व्यापारी जहाज़ी बेड़ा सिर्फ़ दूर देशों को जर्मनी का माल ही नहीं ले जाता था, बल्कि उसने दूसरे देशों के माल ढोने के धन्धे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था।

यह नया साम्राज्यशाही जर्मनी इस सफलता को हासिल करके और अपने बल को पूरी तरह महसूस करके, अगर उन बन्दिशों पर खीझ रहा था, जो उसकी आगे की बढ़ोतरी पर लगादी गई थीं, तो इसमें अचम्भे की बात नहीं है। जर्मन साम्राज्य का नेता प्रशिया था और प्रशियाई ज़मींदार-वर्ग व सैनिक-वर्ग, जिनके हाथों में सत्ता थी, नम्रता के लिए कभी मशहूर नहीं रहे। ये लोग सरकश थे और अपनी बेदर्द सरकशी पर घमण्ड करते थे। हॉयनत्सालर्न घराने के कैसर विल्हैम द्वितीय के रूप में उन्हें अपने इस गुस्ताख़ और अकड़बाज़ स्वभाव का आदर्श नेता भी मिल गया था। कैसर चारों तरफ़ ज़ाहिर करता फिरता था कि जर्मनी संसार का नेता बननेवाला है, कि वह धरती पर अपने लिए महत्व की जगह चाहता है, कि उसका भविष्य समुद्र पर निर्भर है; और यह कि अपनी संस्कृति दुनियाभर में फैलाना उसका मिशन है।

इससे पहले ये तमाम बातें दूसरे लोग व दूसरे राष्ट्र भी कह चुके थे। इंग्लैण्ड का 'गोरे आदमी का बोझ' और फ़्रान्स का 'सभ्यता सिखानेवाला मिशन' जर्मनी की संस्कृति के ही भाई-बन्द थे। इंग्लैण्ड का दावा था कि समुद्रों पर उसकी पूरी प्रभुताई है, और यह सही भी था। जो दावा कई अंग्रेज़ों ने इंग्लैण्ड के लिए किया था, वही कैसर ने जर्मनी के लिए ज़रा भद्दे और लफ़्फ़ाज़ी ढंग से कहा। फ़र्क़ इतना ही था कि इंग्लैण्ड क़ाबिज़ था और जर्मनी नहीं था। मगर इसपर भी कैसर के लफ़्फ़ाज़ी भरे भाषणों ने अंग्रेज़ों को बहुत चिढ़ा दिया। कोई दूसरा राष्ट्र दुनिया में अगुआ राष्ट्र बनने का विचार तक करे, यह ख़याल उनके लिए बहुत ही नागवार था। यह एक क़िस्म का कुफ़्र था और अपने-आपको अगुआ राष्ट्र समझनेवाले इंग्लण्ड को ज़ाहिरा चुनौती थी। और सौ वर्ष पहले ट्रेफ़ल्गार में नेपोलियन की पराजय के बाद से तो समुद्र पर मानो इंग्लैण्ड का ही इजारा था। इसलिए इंग्लैण्ड को यह बात बिलकुल बेजा मालूम होती थी कि जर्मनी या कोई दूसरा राष्ट्र उसकी इस हैसियत को चुनौती दे। अगर इंग्लैण्ड की समुद्री ताक़त कम हो जाय तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य का क्या होगा?

कैसर की चुनौतियाँ और धमकियाँ तो काफ़ी बुरी थी हीं; इससे भी बुरी बात यह थी कि उसने इनके बाद सचमच अपना जंगी-बेड़ा बढ़ा लिया। इससे अंग्रेज़ों के मिज़ाज और औसान बिगड़ गये और वे भी अपना जंगी-बेड़ा बढ़ाने लगे।

इस तरह दोनों के बीच समुद्री-ताक़त की दौड़ शुरू हो गई और दोनों देशों के अखबारों ने लगातार चीख़-पुकार मचा दी जिसमें ज़्यादा-से-ज़्यादा जंगी-जहाज़ों की माँग की गई और राष्ट्रीय बैर-भाव भड़काया गया।

यूरोप में यह ख़तरे का प्रदेश था। बहुत-से और भी थे। फ़्रान्स और जर्मनी तो पुराने मुक़ाबलेदार थे ही, और फ़्रान्सीसियों के दिलों में १८७० ई० की पराजय की कड़वी यादें काँटे की तरह खटक रही थीं और वे बदला लेने के सपने देख रहे थे। बलकानी देश सदा से बारूद का ढेर थे, जहाँ कितने ही स्वार्थ टकरा रहे थे। पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के ख़याल से जर्मनी ने भी तुर्की से दोस्ती करना शुरू किया। बग़दाद को क़ुस्तुन्तुनिया और यूरोप से जोड़नेवाला एक रेलमार्ग इस शहर तक बनाने की तजवीज़ हुई। यह तजवीज़ बहुत अच्छी थी, लेकिन चूँकि जर्मनी इस बग़दाद रेलवे पर क़ाबू रखना चाहता था, इसलिए राष्ट्रीय द्रोह भड़क उठे।

धीरे-धीरे युद्ध का भय सारे यूरोप में फैल गया और शक्तियों ने अपने-अपने बचाव के लिए गुट बनाने चाहे। बड़ी शक्तियाँ दो गिरोहों में बँट गईं; एक तो जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का तिहरा गुट और दूसरा इंगलैण्ड, फ़्रान्स और रूस का तिहरा समझौता। इटली तिहरे गुट का बहुत ढीला-ढाला सदस्य था और जब युद्ध हुआ तो वह सचमुच अपने वचन को भंग करके दूसरे पक्ष से जा मिला। आस्ट्रिया के साम्राज्य के सारे अंजर-पंजर हिल रहे थे; नक़शे पर तो वह बड़ा दिखाई देता था लेकिन आपस में विरोधी तत्वों से भरा था, और विज्ञान, संगीत व कला का महान् केन्द्र, सुन्दर वेनिस, उसकी राजधानी था। मतलब यह कि अमल में तिहरे गुट का अर्थ था जर्मनी। हाँ, आज़मायश का वक़्त आने से पहले कोई नहीं जानता था कि इटली और आस्ट्रिया का क्या रुख़ होगा।

बस, यूरोप में भय का राज हो रहा था और भय बड़ी भयंकर चीज़ है। हर देश युद्ध की तैयारी करता चला जा रहा था और हथियारों से ख़ूब लैस बन रहा था। शस्त्रीकरण की दौड़ मची हुई थी और इस होड़ का विचित्र पहलू यह होता है कि अगर एक देश अपने युद्ध के साधनों में बढ़ोतरी करता है तो दूसरे देशों को भी वैसा ही करने पर मजबूर होना पड़ता है। हथियार, यानी तोपें, जंगी-जहाज़, गोला-बारूद व युद्ध का दूसरा सब सामान तैयार करनेवाली ख़ानगी कम्पनियों ने सहज ही ख़ूब मुनाफ़े लूटे ताकि चकमे में आकर सारे देश उनसे ख़ूब हथियार ख़रीदें। हथियार बनानेवाली ये कम्पनियाँ बड़ी मालदार और प्रभावशाली थीं और इंगलैण्ड, फ़्रान्स, जर्मनी व दूसरे देशों के बहुत-से ऊँचे ओहदेदार और मन्त्री इनके हिस्सेदार थे और इसलिए इनकी मालदारी में उनका स्वार्थ था। हथियार बनानेवाली कम्पनियाँ मालदार तभी होती हैं, जब युद्ध के अन्देशे हों या युद्ध हों।

इसलिए बड़े अचम्भे की स्थिति यह थी कि कई सरकारों के मन्त्रियों व ऊँचे ओहदेदारों का माली स्वार्थ इसमें था कि युद्ध हो। अलग-अलग देशों के युद्ध-ख़र्चे को बढ़ावा देने के लिए ये कम्पनियाँ दूसरी तरकीबें भी इस्तेमाल करती थीं। जनमत पर असर डालने के लिए वे अख़बारों को ख़रीद लेती थीं और अक़्सर सरकारी अफ़सरों को रिश्वतें देती थीं और जनता को भड़काने के लिए झूठी अफ़वाहें फैलाती थीं। युद्ध-सामग्री बनाने का उद्योग भी कैसी भयंकर चीज़ है, जो दूसरों की मौत पर जीता है, और जो युद्ध से मुनाफ़ा कमाने के लिए युद्ध के हत्याकाण्डों को बढ़ावा देने व पैदा करवाने में ज़रा नहीं हिचकिचाता। इसी उद्योग ने १९१४ ई० के युद्ध को जल्दी लाने में कुछ हद तक मदद पहुँचाई थी। आज भी वह यही खेल खेल रहा है।

युद्ध की इस चर्चा के दौरान मैं तुम्हें शान्ति की एक कोशिश की बात बतलाना चाहता हूँ। और किसी ने नहीं बल्कि रूस के ज़ार निकोलस द्वितीय ने शक्तियों के सामने यह सुझाव रक्खा कि वे विश्वशान्ति का युग लाने के लिए आपस में मिलकर बातचीत करें। यह वही ज़ार था जो अपने साम्राज्य में हरेक उदारवादी आन्दोलन को कुचल रहा था और अपने क़ैदियों से साइबेरिया को आबाद कर रहा था! उसका शान्ति की बात चलाना एक तरह से मज़ाक-सा लगता है। लेकिन शायद उसकी नीयत ईमानदारी की थी क्योंकि उसके लिए शान्ति का मतलब यह था कि मौजूदा हालत और उसकी निरंकुशशाही हमेशा क़ायम रहें। उसके बुलावे पर हॉलैण्ड के हेग नगर में १८९९ व १९०७ ई० में दो शान्ति-सम्मेलन हुए। इसमें ज़रा भी महत्व की कोई कार्रवाई नहीं हुई। शान्ति एकदम आकाश से नहीं टपक सकती। वह तो तभी आ सकती है जब झगड़ों की जड़ें उखाड़ फेंकी जायें।

मैंने तुम्हें बड़ी शक्तियों की लाग-डाँटों और अन्देशों के बारे में बहुत-कुछ बतलाया है। बेचारे छोटे राष्ट्रों पर कोई ध्यान नहीं देता है, सिवाय उनके जो नटखटपन करें। यूरोप के उत्तर में कुछ छोटे-छोटे देश हैं, जो ध्यान देने लायक़ हैं, क्योंकि ये लालची और हड़पख़ोर बड़ी शक्तियों से बिलकुल दूसरी क़िस्म के हैं। ये हैं स्केन्दिनेविया में नॉर्वे व स्वीडन और इनके ठीक नीचे डेनमार्क। ये उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से ज्यादा दूर नहीं हैं; ये बहुत ठण्डे हैं और यहाँ का जीवन बहुत कठिन है। यहाँ सिर्फ़ छोटी-सी आबादी का ही गुज़ारा हो सकता है। लेकिन चूंकि ये नफ़रत, डाह और लाग-डाँटवाली बड़ी शक्तियों के दायरे से बाहर हैं, इसलिए चैन की जिन्दगी बिताते हैं और अपना सारा ज़ोर सभ्य रास्तों में लगाते हैं। वहाँ विज्ञान पनपता है और बढ़िया साहित्य का विकास हुआ है। नॉर्वे व स्वीडन मिला दिये गए थे और १९०५ ई० तक दोनों का एक ही राज्य बना हुआ था। लेकिन इस वर्ष

में नॉर्वे ने विलग होने का और अपनी अलग हैसियत क़ायम रखने का फ़ैसला किया। इसलिए दोनों देशों ने अपना आपस में समझौता करके अपना रिश्ता तोड़ देने का फ़ैसला किया और तबसे दोनों अलग-अलग स्वाधीन राज्य चले आ रहे हैं। न तो युद्ध हुआ और न एक देश ने दूसरे पर दबाव डालने की कोशिश की। दोनों दोस्ती के साथ पड़ौसियों की तरह रहते चले आ रहे हैं।

छोटे-से डेनमार्क ने अपनी स्थल-सेना व जल-सेना दोनों को तोड़कर क्या बड़े और क्या छोटे सभी देशों के सामने एक मिसाल पेश कर दी है। यह किसान-राष्ट्र है, छोटे-छोटे किसानों का देश है, जहाँ धनवान और ग़रीब में ज्यादा फ़र्क़ नहीं है। इस बराबरी के दर्जे की ख़ास वजह है वहाँ सहकारी आन्दोलन की ख़ूब उन्नति।

लेकिन यूरोप के सारे छोटे देश डेनमार्क की तरह नेकी के बढ़िया नमूने नहीं हैं। हॉलैण्ड, जो ख़ुद बहुत छोटा है, अभी तक इन्दोनेशिया (जावा, सुमात्रा, वग़ैरा) में एक बड़े साम्राज्य का स्वामी बना हुआ है। उसका पड़ौसी बेलजियम अफ़्रीका में कांगो को चूस रहा है। पर यूरोपीय राजनीति में इसका असली महत्व इसकी स्थिति के सबब से है। यह क़रीब-क़रीब फ़्रान्स और जर्मनी के रास्ते में पड़ता है और इन दोनों देशों के बीच कोई युद्ध हो तो उसमें इसका घिसट आना एक तरह से लाज़िमी ही है। तुम्हें याद होगा कि वाटरलू बेलजियम में ब्रुसेल्स के पास है। इसी कारण बेलजियम 'यूरोप का अखाड़ा'[1] कहलाया करता था। मुख्य बड़ी शक्तियों ने आपसी क़रार कर लिया कि अगर युद्ध हो तो बेलजियम को तटस्थ माना जाय लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब युद्ध सचमुच छिड़ गया तो इस क़रार और वादे की धज्जियाँ उड़ गईं।

मगर यूरोप व दूसरी जगहों के तमाम छोटे देशों में सबसे ज्यादा झगड़ालू देश बलकान में है। पीढ़ियों की अदावत और आपसी लाग-डाँट जिनके पीछे लगी हुई है ऐसी क़ौमी व नस्लों की यह बेमेल खिचड़ी आपसी बैर व लड़ाई-झगड़ों से भरी हुई है। १९१२-१३ ई० के बलकानी युद्धों में बेहद ख़ून-ख़राबी हुई थी और थोड़े-से समय में व छोटे-से क्षेत्र में धन-जन की ज़बर्दस्त हानि हुई। कहते हैं कि बलग़ारियों ने शरणार्थी और भागते हुए तुर्कों पर भयंकर ज़ुल्म किये थे। बहुत वर्ष पहले ख़ुद तुर्कों का लेखा भी बहुत ख़राब रहा था। सर्बिया (आजकल युगोस्लाविया का एक भाग) ने भी हत्याओं के लिए बड़ी बुरी बदनामी हासिल की थी। देशभक्त कहलानेवालों का गुप्त हत्याकारी दल, जिसका नाम 'काला हाथ'[2] था और जिसके सदस्यों में राज्य के कई ऊँचे ओहदेदार शामिल थे, निराले क़िस्म की

[1] Cock-pit of Europe.
[2] Black Hand.

दिल दहलानेवाली हत्याओं के कुछ काण्डों के लिए ज़िम्मेदार था। देश के बादशाह और बेग़म को, यानी बादशाह अलक्सान्दर और महारानी द्रागा को, बेग़म के भाइयों, प्रधान-मन्त्री व कुछ दूसरे लोगों के साथ, कमीने तरीक़े से क़त्ल कर दिया गया। यह सिर्फ़ राजमहल की क्रान्ति थी, और एक दूसरा व्यक्ति बादशाह बना दिया गया।

इस तरह यूरोप के आकाश में बादलों की गरज व बिजली की कौंध के साथ बीसवीं सदी की शुरुआत हुई, और जैसे-जैसे साल बीतते गये मौसम और भी ज्यादा तूफ़ानी होता गया। पेचीदगियाँ और उलझनें बढ़ती गईं और यूरोप के जीवन में दिन-पर-दिन गाँठें बँधती गईं—जो गाँठें आखिर में युद्ध के ही ज़रिये कटनेवाली थीं। सारी शक्तियाँ युद्ध की बाट देख रही थीं और उसके लिए सरगर्मी से तैयारियाँ कर रही थीं, लेकिन फिर भी शायद युद्ध कोई भी नहीं चाहती थी। कुछ हद तक सब युद्ध से डरती थीं, क्योंकि यक़ीन के साथ कोई भी यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि युद्ध का नतीजा क्या होगा। पर फिर भी सिर्फ़ भय युद्ध की ओर ढकेल रहा था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, यूरोप में दो पक्ष एक दूसरे के ख़िलाफ़ आमने-सामने खड़े हुए थे। यह 'शक्ति का सन्तुलन' कहलाता था, जो इतना नाज़ुक था कि ज़रा से धक्के से बिगड़ सकता था। जापान, हालाँकि यूरोप से बहुत दूर था और उसकी अपनी समस्याओं से ज्यादा वास्ता नहीं रखता था, मगर उसके गठ-बन्धनों में और शक्ति के इस सन्तुलन में शामिल था। क्योंकि जापान इंग्लैण्ड का साथी था। इस गठ-बन्धन का मतलब था पूर्व में, और ख़ासकर भारत में, इंग्लैण्ड के स्वार्थों की रक्षा करना। यह इंग्लैण्ड-रूस की मुक़ाबलेदारी के दिनों में हुआ था और अभी तक चला आ रहा था, हालाँकि अब इंग्लैण्ड और रूस एक ही तरफ़ थे। गठ-बन्धनों के इस यूरोपीय ढाँचे से अलग रहनेवाली बड़ी शक्ति सिर्फ़ एक अमेरिका थी।

बस, १९१४ ई० में यही हालत थी। तुम्हें याद होगा कि इस समय होमरूल बिल के सवाल पर आयर्लैण्ड में इंग्लैण्ड को बहुत परेशानी उठानी पड़ रही थी। अल्स्टर बग़ावत कर रहा था, उत्तर में और दक्षिण में स्वयंसेवक क़वायदें कर रहे थे और आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। बहुत मुमकिन है, जर्मन सरकार ने सोचा हो कि इंग्लैण्ड तो आयर्लैण्ड के झगड़े में उलझा रहेगा और अगर यूरोपीय युद्ध छिड़ जाय तो उसमें दख़ल नहीं देगा। लेकिन सही बात तो यह थी कि अंग्रेज़ सरकार ख़ानगी तौर पर फ़्रान्स को वचन दे चुकी थी कि युद्ध छिड़ने पर उसका साथ देगी, लेकिन आम लोगों को यह बात मालूम न थी।

२८ जून, १९१४ ई०—यही वह तारीख़ थी जिस दिन आग भड़काने

वाली चिनगारी सुलगाई गई। आर्कडचूक फ़ान्सिस फ़र्दिनेन्द आस्ट्रिया की राज-गद्दी का वारिस था। वह बलकान में बोसनिया की राजधानी सिराजेवो की यात्रा को गया था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, कुछ वर्ष पहले जब 'नौजवान तुर्क' अपने सुलतान से पिण्ड छुड़ाने का यत्न कर रहे थे, तब इस बोसनिया को आस्ट्रिया ने अपने राज्य में मिला लिया था। जब आर्कडचूक अपनी पत्नी के साथ खुली गाड़ी में बैठकर सिराजेवो के बाज़ार से गुज़र रहा था, तब उसपर गोलियाँ चलाई गईं और वह व उसकी पत्नी दोनों मारे गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता उबल पड़ीं और उन्होंने सर्बिया की सरकार पर (सर्बिया बोसनिया का पड़ौसी था) यह इलज़ाम लगाया कि उसका इस हत्या में हाथ है। सर्बिया की सरकार को तो इससे इन्कार करना ही था। बहुत दिन बाद जो जाँच की गई, उससे यह पता लग गया है कि, हालाँकि सर्बिया की सरकार हत्या के लिए ज़िम्मेदार नहीं थी, पर हत्या के लिए जो तैयारियाँ की गई थीं, उनसे वह बिलकुल अनजान भी नहीं थी। वैसे इस हत्या की ज़िम्मेदारी ज़्यादातर सर्बिया के 'काला हाथ'-संगठन पर ही डाली जानी चाहिए।

कुछ तो ग़ुस्से में भरकर और ज़्यादातर राजनीतिक कारणों से, आस्ट्रिया की सरकार ने सर्बिया की तरफ़ बड़ा सरकश रुख इख्तियार किया। ज़ाहिर है कि उसने सर्बिया को सदा के लिए नीचा दिखाने का फ़ैसला कर लिया था और कोई बड़ा युद्ध छिड़ जाने पर उसे जर्मनी की ताक़तवर सहायता का भरोसा था। बस, सर्बिया का माफ़ी माँगना मंजूर नहीं किया गया और २३ जुलाई, १९१४ ई० को आस्ट्रिया ने सर्बिया को युद्ध का आखिरी पैग़ाम भेज दिया। पाँच दिन बाद, २८ जुलाई को, आस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ़ युद्ध छेड़ दिया।

आस्ट्रिया की राजनीति की बागडोर ज़्यादातर एक घमण्डी और मूर्ख मन्त्री के हाथों में थी, जो युद्ध के लिए तुला हुआ था। बूढ़ा सम्राट् फ़्रान्सिस जोज़ेफ़ (जो १८४८ से आस्ट्रिया की गद्दी पर बैठा हुआ था) इस पर सहमत होने के लिए मना लिया गया और जर्मनी से सहायता के अनमने वादे का मतलब पूरा आश्वासन लगाया गया। सही बात तो यह थी कि उस समय आस्ट्रिया के सिवाय कोई भी दूसरी बड़ी शक्ति दिल से युद्ध नहीं चाहती थी। अपनी तैयारी और लड़ाकू आदत के बावजूद जर्मनी युद्ध नहीं चाहता था और कैसर विल्हैम द्वितीय ने तो कुछ अनमने तौर पर युद्ध को रोकने की कोशिशें भी कीं। इंग्लैण्ड और फ़ान्स भी युद्ध नहीं चाहते थे। रूसी सरकार का अर्थ था ज़ार, जो एक कमज़ोर और मूर्ख व्यक्ति था, जो अपनी पसन्द के बदमाशों और मूर्खों से घिरा हुआ था और जो इनके इशारों पर कभी इधर और कभी उधर ढुलक जाता था। फिर भी करोड़ों का नसीब इस व्यक्ति के हाथों में था। कुल मिलाकर वह खुद तो युद्ध को नापसन्द

करता था, लेकिन सलाहकारों ने उसे देरी के नतीजों से डरा दिया और सेना के तैयारीकरण के लिए राज़ी कर ही लिया। इस 'तैयारीकरण' का अर्थ था सिपाहियों को लाम पर जाने के लिए बुलाना, और रूस-जैसे लम्बे-चौड़े देश में इस कार्रवाई में समय लगता था। शायद जर्मनी के हमले के भय ने रूसी तैयारीकरण में जल्दबाज़ी पैदा कर दी। यह तैयारीकरण ३० जुलाई को हुआ, और इस समाचार ने जर्मनी को डरा दिया, और उसने रूस से इसे बन्द करने की माँग की। लेकिन युद्ध की भारी-भरकम मशीन अब रुकनेवाली नहीं थी। दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी तैयारीकरण की आज्ञा निकालकर रूस व फ़ान्स के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया और बेलजियम में होकर फ़ान्स जाने के लिए ज़बर्दस्त जर्मन सेनाओं ने फ़ौरन बेलजियम पर धावा बोल दिया; क्योंकि यह रास्ता आसान पड़ता था। बेचारे बेलजियम ने जर्मनी का कुछ नहीं बिगाड़ा था, लेकिन जब राष्ट्र ज़िन्दगी और मौत के लिए लड़ते हैं तो वे ऐसी तुच्छ बातों की या दिये हुए वचनों की कोई परवाह नहीं करते। जर्मन सरकार ने बेलजियम में होकर अपनी सेनाएं भेजने की इजाज़त बेलजियम से माँगी थी; और जैसा कि होना था, ऐसी इजाज़त देने के लिए बड़ी बेज़ारी से इन्कार कर दिया गया।

बेलजियम की तटस्थता इस तरह भंग किये जाने पर इंग्लैण्ड में और दूसरी जगहों में बड़ा हो-हल्ला मचा और इंग्लैण्ड ने तो ख़ुद जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने का इसे आधार बना लिया। सच तो यह है कि इंग्लैण्ड अपना रास्ता बहुत पहले ही चुन चुका था और बेलजियम का सवाल उसके लिए एक आसान बहाना बन गया। अब ऐसा लगता है कि युद्ध से पहले फ़ान्सीसी सेना ने भी ज़रूरत पड़ने पर जर्मनी पर हमला करने के लिए बेलजियम में होकर अपनी फ़ौजें ले जाने की योजनाएँ तैयार कर ली थीं। बहरहाल, जर्मनी के मुक़ाबले में, जिसपर यह इलज़ाम लगाया गया था कि उसने अपने गम्भीर वादों को और सन्धियों को सिर्फ़ 'रद्दी काग़ज़ के टुकड़े' समझा, इंग्लैण्ड ने हक़ व सचाई का रखवाला और छोटे राष्ट्रों का हिमायती बनने का ढोंग रचने की कोशिश की। ४ अगस्त को आधीरात के वक़्त इंग्लैण्ड ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने की घोषणा कर दी, लेकिन उसने यह पेशबन्दी की कि ऐन मौक़े पर गड़बड़ी को रोकने के ख़याल से एक दिन पहले ही अपनी सेना (ब्रिटिश हमलावर फ़ौज) चुपचाप इंग्लिश चैनल के पार भेज दी थी। इसलिए, जबकि दुनिया तो इसी ख़याल में थी कि इंग्लैण्ड का युद्ध में शामिल होने या न होने का सवाल' अधर लटका हुआ है, तब अंग्रेज़ सिपाही यूरोप में पहुँच भी चुके थे।

अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ़ान्स, वग़ैरा सब युद्ध में फँस गये थे और छोटा-सा सर्बिया तो, जो कुछ हद तक इस युद्ध छिड़ने का सबब बन गया

था, फँसा हुआ था ही। जर्मनी और आस्ट्रिया के साथी इटली का क्या हाल था? इटली अलग रहा, इटली खड़ा-खड़ा यह देखता रहा कि कौन-सा पक्ष जीत रहा है, इटली ने सौदेबाज़ी की, और अन्त में छै महीने बाद वह अपने पुराने साथियों के खिलाफ़ फ़्रान्सीसी-अंग्रेज़ी-रूसी पक्ष में पक्के तौरपर जा मिला।

इस तरह अगस्त, १९१४ ई० के शुरू के दिनों में यूरोप में फ़ौजों के जमाव और कूच होते रहे। ये फ़ौजें क्या थीं? पुराने ज़माने में फ़ौजों में कुछ पेशेवर सिपाही हुआ करते थे। वे स्थायी फ़ौजें होती थीं। मगर फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति ने बड़ा भारी फ़र्क़ पैदा कर दिया। जब क्रान्ति को विदेशी हमले का खतरा पैदा हुआ तब साधारण नागरिकों को बड़ी संख्या में भर्ती करके फ़ौजी तालीम दी गई। तबसे ही यूरोप में अपनी मर्ज़ी से भरती होनेवाले पेशेवर सिपाहियों की बँधी हुई सेनाओं के बजाय जबरन भरती की सेनाएँ रखने की हवा चल पड़ी—यानी ऐसी सेनाएँ, जिनमें देश के तमाम तगड़े व्यक्तियों को मजबूरन भरती होना पड़ता था। इसलिए तगड़े व्यक्तियों की यह आम फ़ौजी सेवा फ़्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति की उपज थी। यह यूरोप-भर में फैल गई और हरेक नवयुवक को दो वर्ष या ज़्यादा समय तक डेरों में रहकर फ़ौजी तालीम लेनी पड़ती थी और बाद में जब कभी आज्ञा दी जाती तब उसे मजबूर होकर लाम पर जाना पड़ता था। इस तरह युद्ध में लड़नेवाली फ़ौज का अर्थ था राष्ट्र के लगभग सारे नवयुवक। फ़्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में यही हाल था, और इन देशों में तैयारीकरण का अर्थ होता था इन नवयुवकों का दूर-दूर के शहरों और गाँवों के अपने-अपने घरों से भरती के लिए बुलाया जाना। जब युद्ध शुरू हुआ तब इंगलैण्ड में इस क़िस्म की कोई आम फ़ौजी सेवा नहीं थी। अपने ताक़तवर जंगी-बेड़े के भरोसे वह स्थायी और मर्ज़ी से भरती होनेवाली फ़ौज बहुत कम रखता था। लेकिन युद्ध के दौरान उसने भी दूसरे देशों जैसा किया और जबरन फ़ौजी सेवा जारी कर दी।

इस आम फ़ौजी सेवा का अर्थ यह था कि सारा-का-सारा राष्ट्र लड़ाई में शामिल था। तैयारीकरण के आदेश का प्रभाव हर शहर पर, हर गाँव पर और हर परिवार पर पड़ता था। अगस्त के उन शुरू के दिनों में यूरोप के ज़्यादातर भाग में ज़िन्दगी की सारी हलचलें एकदम बन्द हो गई थीं और करोड़ों नौजवान कभी लौटकर न आने के लिए अपने-अपने घरों को छोड़कर लाम पर चले गये थे। हर जगह फ़ौजों की कूच और भाग-दौड़ और सिपाहियों के लिए खुशी के नारे और देशभक्ति के जोश का ज़बर्दस्त प्रदर्शन और दिलों के तारों का कसा जाना, नज़र आते थे, और लोग इन बातों से खुश होते थे क्योंकि आनेवाले वर्षों की भयंकर तबाहियों का लोगों को उस वक़्त ज़रा भी भान नहीं था।

इस जोशीली देशभक्ति की हवा में हर आदमी बह गया। अन्तर्राष्ट्रीयता की पुकार मचानेवाले समाजवादी, और सबकी दुश्मन पूँजीशाही के ख़िलाफ़ दुनिया के मज़दूरों को एक होने का नारा लगानेवाले मार्क्सवादी तक भी, उखड़-कर इस हवा में बह गये और जोशीले देशभक्त बनकर पूँजीपतियों के इस युद्ध में शामिल हो गये। कुछ लोग अपने उसूलों पर जमे रहे, लेकिन इनसे नफ़रत की जाती थी और इन्हें गालियाँ दी जाती थीं और अक्सर सज़ाएं भी दी जाती थीं। ज़्यादातर लोग दुश्मनी की भावना से पागल हो उठे। एक तरफ़ तो अंग्रेज व जर्मन मज़दूर एक दूसरे की हत्या कर रहे थे, दूसरी तरफ़ इन दोनों देशों के, और लड़नेवाले दूसरे देशों के भी, विद्वान् और विज्ञानी और प्रोफ़ेसर एक दूसरे को कोसते थे और एक दूसरे के बारे में निहायत दिल दहलानेवाले क़िस्सों पर विश्वास कर लेते थे।

मतलब यह है कि युद्ध के शुरू होते ही उन्नीसवीं सदी का एक ऐतिहासिक ज़माना ख़त्म हो गया। पश्चिमी सभ्यता की शानदार और धीमे बहनेवाली नदी एकदम युद्ध के भँवर में ग़ायब हो गई। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए चली गई। चार वर्ष से कुछ ज़्यादा समय के बाद इस भँवर में से एक नई चीज़ पैदा हुई।

: १४७ :

युद्ध छिड़ने से ठीक पहले का भारत

२९ मार्च, १९३३

भारत के बारे में पत्र लिखे मुझे बहुत दिन हो गये। अब मुझे इस विषय पर वापस आने का और तुम्हें यह बतलाने का लोभ होता है कि युद्ध की घड़ी से पहले भारत में क्या बीत रही थी। मैंने इस लोभ में पड़ने का इरादा कर लिया है।

कई लम्बे पत्रों में हम उन्नीसवीं सदी में भारतीय जीवन के और भारत में अंग्रेज़ी राज के कुछ पहलुओं की पहले ही जाँच कर चुके हैं। इस ज़माने का उजागर पहलू यह नज़र आता है कि भारत पर अंग्रेज़ों का पंजा मज़बूत होता जाता है और उसके साथ ही देश का शोषण होता है। भारत को अंग्रेज़ों की दख़ल जमानेवाली तिहेरी फ़ौज ने दबोच रक्खा था—सैनिक, असैनिक और व्यवसायी। अंग्रेज़ी फ़ौजें और अंग्रेज अफ़सरों के मातहत भारतीय पेशेवर सेना को भारत पर दख़ल जमानेवाली विदेशी सेना ही कहा जा सकता है। लेकिन इससे भी ज़्यादा मज़-बूत पंजा असैनिक अफ़सरों का था जो एक ग़ैर-ज़िम्मेदार और बहुत ज़्यादा केन्द्रित नौकरशाही थी। और तीसरी, यानी पेशेवर सेना, जो इन दोनों का सहारा थी और यह सबसे ज़्यादा ख़तरनाक थी, क्योंकि ज़्यादातर शोषण इसी

के ज़रिये या इसके नाम पर किया जाता था और देश के शोषण के इसके ढंग इतने ज़ाहिर नहीं थे जितने कि पहली दोनों सेनाओं के थे। वास्तव में बहुत समय तक, और कुछ हद तक आज भी, भारत के कुछ नेता पहली दोनों पर बहुत ज़्यादा ऐतराज़ करते थे और मालूम होता है कि तीसरी को उतना महत्व नहीं देते थे।

भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य हमेशा यह रहा कि ऐसे निहित स्वार्थ पैदा करना जो अंग्रेज़ों के बनाये हुए होने की वजह से उन्हींके आसरे रहें और भारत में उनके पुश्ते बन जायँ। इस तरह से सामन्ती राजाओं को मज़बूत बनाया गया, और बड़े ज़मींदारों व ताल्लुक़ेदारों का वर्ग पैदा किया गया, और यहाँतक कि मज़हबी मामलों में दखल न देने के नाम पर समाजी रूढ़िवाद को भी बढ़ावा दिया गया। ये तमाम निहित स्वार्थ खुद भी देश के शोषण में शरीक थे और सच तो यह है कि इस शोषण के सबब से ही ये ज़िन्दा रह सकते थे। भारत में जो सबसे बड़ा निहित स्वार्थ पैदा किया गया वह अंग्रेज़ी पूंजी का था।

अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ लॉर्ड सैलिसबरी का, जो भारत-मन्त्री था, एक बयान अक्सर दोहराया जाता है, और चूंकि वह अच्छा प्रकाश डालता है, इसलिए मैं उसे यहाँ देता हूँ। १८७५ ई० में उसने कहा था :

> "चूंकि भारत का खून खींचना ज़रूरी है, इसलिए नश्तर उन अंगों में लगाना चाहिए जहाँ खून जमा हो रहा हो, या कम-से-कम काफ़ी हो, उन अंगों में नहीं जो खून की कमी से पहले ही कमज़ोर हैं।"

भारत पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े ने और जो नीति उन्होंने यहाँ बरती उसने बहुत-से नतीजे पैदा किये, जिनमें से कुछ उनके मन के लायक़ नहीं थे। लेकिन जब कोई व्यक्ति भी अपने कर्मों के तमाम फलों पर काबू नहीं पा सकता तब राष्ट्रों की तो बात ही क्या। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ कार्रवाइयों के नतीजों में ऐसे नये बल भी होते हैं, जो उन्हीं कार्रवाइयों का मुक़ाबला करते हैं, उनसे लड़ते हैं, और उन्हें परास्त कर देते हैं। साम्राज्यवाद से राष्ट्रवाद पैदा होता है; पूंजीवाद से कारखानों के कामगारों के बड़े-बड़े झुण्ड पैदा हो जाते हैं, जो एक होकर पूंजीपति कारखानेदारों का मुक़ाबला करते हैं। किसी आन्दोलन का गला घोंटने और किसी क़ौम को दबाने के मतलब से किये गए सरकारी अत्याचारों का अक्सर यह नतीजा निकलता है कि वे सचमुच और भी मज़बूत व फ़ौलादी बन जाते हैं और इस तरह आख़िरी जीत के लिए तैयार होने लगते हैं।

हम देख चुके हैं कि भारत में अंग्रेज़ों की औद्योगिक नीति के नतीजों से देहातीकरण हो गया, यानी कोई धन्धे न होने की वजह से दिन-पर-दिन ज़्यादा लोग शहर छोड़-छोड़कर गाँवों को वापस जाने लगे। खेतिहर धरती पर दबाव

बढ़ गया और किसानों की जोतें, यानी उनके खेतों और चकों के क्षेत्र, दिन-पर-दिन छोटे होने लगे। ज्यादातर जोतें 'ग़ैर-गुज़ारा' हो गईं, यानी वे इतनी बड़ी नहीं थीं कि किसान को कम-से-कम इतना मुनाफ़ा भी दे सकें, जो उसके गुज़ारे के लिए काफ़ी हो। लेकिन उसे कोई दूसरा चारा नहीं था, सिवाय इसके कि अपनी गाड़ी इसी तरह चलाता रहे और दिन-पर-दिन ज्यादा क़र्ज़दार बनता जाय। ब्रिटिश सरकार की बन्दोबस्त की नीति ने हालत और भी खराब कर दी, खासकर ताल्लुक़ेदारी और बड़ी ज़मींदारी के इलाक़ों में। इन इलाक़ों में, और उन इलाक़ों में जहाँ ज़मीन का मालिक किसान होता था, दोनों जगह सरकार को मालगुज़ारी अदा न करने पर या ज़मींदार को लगान न देने पर किसानों को उनके पट्टों से बेदखल कर दिया जाता था। इसके नतीजे से और धरती पर नये आनेवालों के लगातार दबाव के कारण, देहाती इलाक़ों में बे-ज़मीन मेहनतकशों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो गया और, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, कई भयंकर अकाल पड़ गये।

बेदखलों का यह बड़ा वर्ग जोतने के लिए धरती का भूखा था, लेकिन धरती इतनी नहीं थी कि सबको मिल सके। ज़मींदारी इलाक़ों में ज़मींदारों ने लगान बढ़ाकर धरती की इस बढ़ती हुई माँग से फ़ायदा उठाया। असामी किसानों को राहत देने के लिए कुछ काश्तकारी क़ानून बनाये गए, जिनके ज़रिये लगानों का कुछ फ़ीसदी से ज्यादा एकदम बढ़ाया जाना रोक दिया गया। लेकिन इनसे बचने के तरह-तरह के रास्ते निकाल लिये गए और तरह-तरह के ग़ैर-क़ानूनी 'हक़' या अबवाब वसूल किये जाने लगे। अवध की एक ताल्लुक़ेदारी रियासत में मुझे एक बार अलग-अलग तरह के पचास से ऊपर ग़ैर-क़ानूनी 'हक़' गिनाये गए थे! इनमें मुख्य था नज़राना। यह एक तरह की पेशगी रक़म होती है, जो असामी को ठेठ शुरू में ही देनी पड़ती है। बेचारे किसान ये तरह-तरह की लागें किस तरह अदा कर सकते हैं? वे तो गाँव के बनिये या साहूकार से उधार लेकर ही अदा कर सकते हैं। जब क़र्ज़ चुकाने की न तो उम्मीद दिखाई देती हो और न हैसियत हो, तो क़र्ज़ लेना बेवक़ूफ़ी की बात है। लेकिन बेचारा किसान क्या करे! उसे कहीं आशा की किरन नहीं दिखाई देती; वह किसी भी क़ीमत पर खेती के लिए धरती चाहता है और उम्मीद न होने पर भी उम्मीद करता है कि शायद कुछ मिल जाय। नतीजा यह होता है कि अक्सर इन क़र्ज़ों के बावजूद भी वह ज़मींदार की माँगों को पूरी नहीं कर सकता और पट्टे से बेदखल कर दिया जाता है और फिर बे-ज़मीन मेहनतकशों के वर्ग में शामिल हो जाता है।

ज़मीन का मालिक किसान और असामी किसान दोनों ही, और बहुत से बे-ज़मीन मेहनतकश भी, बनिये के शिकार बन जाते हैं। वे क़र्ज़ से कभी पिण्ड

नहीं छुड़ा सकते। जब कभी वे कुछ कमाते हैं तो बनिये को दे देते हैं, लेकिन यह सब सूद में समा जाता है और पुराना क़र्ज़ ज्यों-का-त्यों बना रहता है। बनिये के हाथों इनकी मुँड़ाई पर बहुत कम रोक-थाम है। असल में वे दास की तरह हमेशा के लिए उससे बँध जाते हैं। बेचारा असामी तो एक तरह से दोहरा दास होता है—ज़मींदार का भी और बनिये का भी।

ज़ाहिर है कि यह चीज़ बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। एक वक़्त ऐसा आ जाता है, जबकि किसान वसूल की जानेवाली किसी भी रक़म को अदा करने में बिलकुल असमर्थ हो जाते हैं; बनिया उन्हें और ज़्यादा क़र्ज़ देने से इन्कार कर देता है और ज़मींदार भी कठिनाई में फँस जाता है। यह ऐसा ढाँचा है, जिसमें गिरावट और कम-मज़बूती के आसार ऊपर से ही नज़र आते हैं। सारे देश में इन दिनों जो किसानी झगड़े हुए हैं, वे इशारा करते हैं कि यह ढाँचा जो अबतक रहा है, और ज़्यादा दिन टिका नहीं रह सकता।

मुझे लगता है कि इस पत्र में मैं कुछ हेर-फेर के साथ उन्हीं बातों को दोहरा रहा हूँ जो शायद मैं किसी पिछले पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम यह महसूस करो कि असली भारत में ही करोड़ों अभागे खेतिहर लोग हैं, न कि मुट्ठीभर मध्यम-वर्ग के लोग, जिन्होंने सारी तसवीर को घेर रक्खा है।

बे-ज़मीन मेहनतकशों के बड़े बेदख़ल-वर्ग की मौजूदगी ने बड़े-बड़े नये कारखाने डालना आसान कर दिया। ऐसे कारखाने तभी चल सकते हैं जब इस तरह के लोग काफ़ी (वास्तव में काफ़ी से भी ज़्यादा) संख्या में हों, जो मजूरी पर काम करने के लिए तैयार हों। जिस आदमी के पास धरती का छोटा-सा भी टुकड़ा है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए कारखाना-प्रणाली के लिए बे-ज़मीन बेकारों की भारी संख्या ज़रूरी है। और ये लोग जितने ज़्यादा हों उतना ही कारखानेदारों को मजूरी घटाना और इनपर क़ाबू रखना आसान हो जाता है।

मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें यह बतला चुका हूँ कि ठीक इसी समय के लगभग, भारत में एक नया मध्यम-वर्ग धीरे-धीरे पैदा हुआ, जिसने कारोबार में लगाने के लिए कुछ पूंजी भी जमा कर ली। बस, चूंकि रुपया मौजूद था और मेहनत करनेवाले मौजूद थे, इसलिए कारखाने बन गये। लेकिन भारत में लगाई गई पूंजी ज्यादातर विदेशी (ब्रिटिश) पूंजी थी। ब्रिटिश सरकार इन कारखानों को बढ़ावा नहीं देती थी। ये उसकी इस नीति के खिलाफ़ पड़ते थे, जिसके मातहत वह भारत को निरा कृषि-प्रधान देश रखना चाहती थी, जो इंग्लैण्ड को कच्चा माल देता रहे और इंग्लैण्ड के तैयार माल को खपाता रहे। लेकिन जो सूरतें मैंने ऊपर बतलाई हैं वे ऐसी थीं कि भारत में बड़ी मशीन का उत्पादन शुरू हुए बिना

रह नहीं सकता था और ब्रिटिश सरकार उसे आसानी से रोक नहीं सकती थी। इसलिए सरकार की नापसन्दगी के बावजूद कारखाने बढ़ने लगे। इस नापसन्दगी को जाहिर करने का एक तरीक़ा यह था कि भारत में आनेवाली मशीनों पर टैक्स लगा दिया गया। दूसरा था कपास पर उत्पादन-चुंगी, जो वास्तव में भारत की सूती मिलों के उत्पादन पर टैक्स था।

शुरू-शुरू के भारतीय उद्योगपतियों में सबसे बड़े जमशेदजी नौशेरवानजी टाटा थे। इन्होंने बहुत सारे उद्योग शुरू किये; इनमें सबसे बड़ा बिहार के साकची में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी था। यह कम्पनी १९०७ ई० में शुरू हुई और १९१२ ई० में काम करने लगी। लोहे का उद्योग उन उद्योगों में गिना जाता है जो 'बुनियादी' उद्योग कहलाते हैं। आजकल लोहे पर इतनी चीज़ें निर्भर हैं कि जिस देश में लोहे का उद्योग नहीं होता, उसे बहुत-कुछ दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। टाटा का लोहे का कारखाना बहुत बड़ा कारोबार है। साकची गाँव अब जमशेदपुर नगर हो गया है और यहाँ से थोड़ी दूर पर रेल का स्टेशन टाटानगर कहलाता है। युद्धकाल में लोहे के कारखाने खासतौर से उपयोगी होते हैं, क्योंकि वे युद्ध का सामान बना सकते हैं। ब्रिटिश सरकार के लिए यह खुशक़िस्मती की बात थी कि जब महायुद्ध शुरू हुआ तब भारत में टाटा का कारखाना मौजूद था।

भारतीय कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की दशा बहुत बुरी थी। यह दशा उसी तरह की थी जैसी उन्नीसवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड के कारखानों में थी। बे-ज़मीन बेकार लोगों की बहुत बड़ी संख्या के सबब मजूरी की दरें बहुत कम थीं और काम के घण्टे बहुत ज्यादा थे। १९११ ई० में सबसे पहला भारतीय कारखाना क़ानून (इण्डियन फ़ैक्टरी ऐक्ट) पास हुआ। इस क़ानून में भी पुरुषों के लिए दिन में काम के बारह घण्टे और बच्चों के लिए छै घण्टे निश्चित किये गए थे।

ये कारखाने तमाम बे-ज़मीन मजदूरों को नहीं खपा पाये। इनमें से बहुत-से असम में व भारत के दूसरे भागों में चाय वग़ैरा के बागानों में काम करने को चले गये। इन बागानों में वे जिन हालतों में काम करते थे, उन्होंने उन्हें, जबतक कि वे वहाँ रहते थे, मालिकों का दास बना दिया था।

ग़रीबी के मारे हुए क़रीब बीस लाख भारतीय मजदूर विदेशों को प्रवास कर गये। इनमें से ज्यादातर लंका और मलाया के बागानों में गये। बहुत-से लोग मारीशस के टापुओं (मैडैगास्कर के पास भारत सागर में), ट्रिनिडाड (दक्षिण अमेरिका के उत्तरी सिरे पर), फ़िजी (आस्ट्रेलिया के पास) और दक्षिणी अफ़्रीका, पूर्वी अफ़्रीका और ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमेरिका में) को चले गये। इनमें से बहुत-सी जगहों पर वे 'गिरमिटिये' मजदूर बनकर गये,

जिसका मतलब यह था कि अमल में वे आधे गुलाम थे। गिरमिट (अंग्रेज़ी ऐग्रीमेण्ट का बिगड़ा रूप) वह दस्तावेज़ होता था, जिसमें इन मज़दूरों के साथ किया गया शर्तनामा होता था और जिसके मातहत वे अपने मालिकों के गुलाम होते थे। इस गिरमिट-प्रथा के बहुत सारे दिल दहलानेवाले बयान भारत पहुँचे, ख़ास कर फ़िजी से, जिनसे यहाँ खलबली मची और यह प्रथा बन्द कर दी गई।

यह तो किसान-वर्ग, मज़दूर-वर्ग और प्रवासियों का हाल हुआ। यह भारत की ग़रीब, ख़ामोश और बहुत दिनों से दुखी जनता थी। हल्ला मचानेवाला तो असल में नया मध्यम-वर्ग था, जो एक तरह से अंग्रेज़ों के संग से पैदा हुआ था, लेकिन फिर भी जो उनकी बुराई करने लगा। यह बढ़ने लगा और इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढ़ा। तुम्हें याद होगा कि यह आन्दोलन १९०७-८ ई० में बड़ा ज़ोर पकड़ गया था जबकि एक जन-आन्दोलन ने बंगाल को हिला दिया था और कांग्रेस गर्म व नर्म, दो विरोधी घड़ों में बँट गई थी। अंग्रेज़ों ने तरक़्क़ी-पसन्द तबक़े को कुचलने की, और कुछ मामूली सुधारों के ज़रिये नर्म तबक़े को मिलाने का यत्न करने की, अपनी सदा की नीति बरती। इसी समय एक नया मोहरा सामने आया—यह था मुसलमानों को अल्पसंख्यक मानकर उनके साथ अलग और ख़ास बर्ताव की राजनीतिक माँग। अब यह सबको अच्छी तरह मालूम हो चुका है कि उस समय सरकार ने भारतवासियों में फूट पैदा करने के लिए और राष्ट्रीयता की बढ़ोतरी को रोकने के लिए इन माँगों को बढ़ावा दिया।

उस समय तो ब्रिटिश सरकार अपनी नीति में सफल हो गई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था। नर्म दल ने शासन में कुछ सुधारों का, जिनसे भारतवासियों को कोई सत्ता नहीं मिलती थी, खुशी से स्वागत किया (उस वक़्त के वायसराय व भारत-मन्त्री के नाम पर ये सुधार मिण्टो-मॉर्ले सुधार कहलाये)। कुछ समय बाद बंग-भंग की मन्सूख़ी ने बंगालियों की भावना को ठण्डा कर दिया। १९०७ ई० और उसके बाद का राजनीतिक आन्दोलन एक बार फिर आरामकुर्सी पर बैठकर चर्चा करनेवालों का फ़ालतू शग़ल बन गया। इसलिए, जब १९१४ ई० में युद्ध शुरू हुआ, तब देश में सक्रिय राजनीतिक जीवन नहीं के बराबर था। कांग्रेस, जो सिर्फ़ नर्म दलवालों की प्रतिनिधि रह गई थी, हर साल अधिवेशन करती थी और कुछेक काग़ज़ी प्रस्ताव पास करने के सिवाय कुछ नहीं करती थी। राष्ट्रीयता की लहर बहुत मन्द पड़ गई थी।

पश्चिम के सम्पर्क से राजनीतिक मैदान के अलावा दूसरी प्रतिक्रियाएँ भी हुईं। नये मध्यम-वर्गों के (जनता के नहीं) मज़हबी विचारों पर भी असर पड़ा; ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, वग़ैरा नये आन्दोलन पैदा हुए और जात-पाँत की प्रथा ढीली होने लगी। संस्कृति के बारे में भी चेतना हुई, ख़ासकर बंगाल में। बंगाली

लेखकों ने बँगला भाषा को भारत की आधुनिक भाषाओं में सबसे ज्यादा भरपूर बना दिया, और बंगाल ने इस युग के सबसे महान् भारतवासियों में गिने जाने-वाले कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया, जो सौभाग्य से अभीतक हमारे बीच मौजूद हैं।[1] बंगाल ने सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे महान् वैज्ञानिकों को भी जन्म दिया। रामानुजम और सर चन्द्रशेखर वेंकटरमण दो और महान् भारतीय वैज्ञानिक हैं, जिनके नामों का ज़िक्र मैं यहाँ कर दूं। इस तरह भारत विज्ञान में भी ऊँचा दर्जा हासिल कर रहा था, और यह वह चीज़ थी जो यूरोप की महानता की बुनियाद थी।

एक और नाम का भी ज़िक्र मैं यहाँ कर दूं। यह नाम सर मोहम्मद इक़बाल का है, जो उर्दू के, और ख़ासकर फ़ारसी के, प्रतिभाशाली शायर हैं।[2] उन्होंने राष्ट्रीयता पर कुछ सुन्दर नज़्में लिखी हैं। बदक़िस्मती से इन्होंने अपने जीवन के पिछले बरसों में शायरी करना छोड़ दिया और दूसरे कामों में लग गये।

जबकि युद्ध से पहले के वर्षों में राजनीतिक लिहाज़ से भारत सोया हुआ था, तब एक दूर देश में भारत की इज़्ज़त के लिए एक बाँकी और अनोखी लड़ाई हुई। यह दक्षिण अफ़्रीका था, जहाँ भारी संख्या में भारतीय मज़दूर और कुछ भारतीय व्यापारी प्रवास करके बस गये थे। इन्हें हर तरह से ज़लील किया जाता था और इनके साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया जाता था, क्योंकि वहाँ जातीय अकड़ का बोलबाला था। संयोग से एक नौजवान भारतीय बैरिस्टर को एक मुक़दमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ़्रीका बुलाया गया। उसने वहाँ अपने देशवासियों की हालत देखी जिससे उसे बहुत ग्लानि और दुःख हुआ। उसने भरसक उनकी सहायता करने का फ़ैसला किया। वर्षों तक वह चुपचाप कोशिशें करता रहा; उसने अपना पेशा और घर-बार छोड़ दिये और जिस मामले को उसने उठाया था, उसमें वह पूरी लगन के साथ जुट गया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गान्धी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा इन्हें जानता है और इनसे प्रेम करता है; लेकिन उस समय दक्षिण अफ़्रीका के बाहर इन्हें कोई नहीं जानता था। अचानक इनका नाम समुद्र-पार से बिजली की तरह भारत में आया, और लोग इनके बारे में और इनकी बहादुर लड़ाई के बारे में अचरज और प्रशंसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने वहाँ के प्रवासी भारतीयों को और भी ज्यादा ज़लील करने की कोशिश की, लेकिन गान्धीजी की नेतागिरी में उन्होंने सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह काफ़ी अचम्भे की बात थी कि अपने वतन से दूर, ग़रीब,

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु सन् १९४१ ई० में हो गई।

[2] इक़बाल की मृत्यु सन् १९३८ ई० में हो गई।

रौंदे हुए व भोले-भाले मज़दूरों की एक बिरादरी ने और छोटे-छोटे व्यापारियों के एक समुदाय ने ऐसा बहादुराना रुख़ इख़्तियार किया। और इससे भी ज़्यादा अचम्भे की चीज़ वह तरीक़ा था, जो उन्होंने अपनाया, क्योंकि राजनीतिक हथियारों में, संसार के इतिहास में यह एक बिलकुल नया हथियार था। तबसे इसके बारे में हम अक्सर सुना करते हैं। यह था गान्धीजी का सत्याग्रह, जिसका अर्थ है सत्य पर अड़े रहना। इसे कभी-कभी निष्क्रिय-प्रतिरोध भी कहते हैं, पर यह अनुवाद ठीक नहीं है, क्योंकि सत्याग्रह तो काफ़ी सक्रिय होता है। यह निरा निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है, हालांकि अहिंसा इसका लाज़िमी अंग है। लड़ाई के इस अहिंसात्मक तरीक़े से गान्धीजी ने भारत और दक्षिण अफ़्रीका को हैरत में डाल दिया और जब भारत के लोगों ने यह सुना कि दक्षिण अफ़्रीका में हमारे देशवासी हज़ारों नर-नारी खुशी-खुशी जेल चले गये तो वे अभिमान और हर्ष से थरथरा उठे। अपने ही देश में अपनी पराधीनता और बेबसी पर हम मन-ही-मन शर्मिन्दा हो गये, और अपने ही देशवासियों की तरफ़ से दी गई इस बहादुर चुनौती की मिसाल ने हमारे आत्माभिमान को बढ़ा दिया। इस मुद्दे पर भारत में एकदम राजनीतिक चेतना पैदा हो गई और दक्षिण अफ़्रीका को ढेरों रुपया भेजा जाने लगा। गान्धीजी और दक्षिण अफ़्रीका की सरकार के बीच समझौता होने पर यह लड़ाई बन्द कर दी गई। हालांकि उस समय भारतीय पक्ष की यह यक़ीनी विजय थी, मगर भारतीयों पर अभीतक कई पाबन्दियाँ चली आ रही हैं, और कहा जाता है कि दक्षिण अफ़्रीका की सरकार पुराने क़रारनामे का पालन नहीं कर रही। प्रवासी भारतीयों का मसला अभीतक हमारे सामने है और जबतक भारत आज़ाद नहीं हो जाता तबतक यह मसला बना रहेगा। जब भारतवासियों की अपने देश में ही इज़्ज़त नहीं है तब दूसरी जगह कैसे हो सकती है? और जबतक कि हम अपने ही देश में अपने पैरों पर खड़े होकर आज़ादी हासिल करने में सफल नहीं होते तबतक प्रवासी लोगों की क्या ज़्यादा मदद कर सकते हैं?

युद्ध से पहले के वर्षों में भारत में यही हालत हो रही थी। जब १९११ ई० में इटली ने तुर्की पर हमला किया तो भारत में तुर्की के लिए बहुत सहानुभूति उमड़ पड़ी, क्योंकि तुर्की एक एशियाई और पूर्वी शक्ति माना जाता था, इसलिए सारे भारतीयों की सद्भावना उसके साथ थी। भारतीय मुसलमानों पर इसका ख़ास असर पड़ा, क्योंकि वे तुर्की के सुलतान को ख़लीफ़ा या अमीर-उल-मोमिनीन मानते थे। उन दिनों तुर्की के सुलतान अब्दुल हमीद के शुरू किये हुए अखिल इस्लामवाद की भी कुछ चर्चा चली थी। १९१२ और १९१३ ई० के बलकानी युद्धों ने भारतीय मुसलमानों में और भी खलबली पैदा कर दी और दोस्ती व सद्भावना जताने के लिए रैड क्रेसैन्ट मिशन नामक डॉक्टरी सहायता का एक मिशन, तुर्की के घायलों की सेवा के लिए भारत से भेजा गया।

इसके कुछ ही दिनों बाद महायुद्ध शुरू हो गया और तुर्की इसमें इंग्लैण्ड का दुश्मन बनकर शामिल हो गया। लेकिन यह बात युद्ध के ज़माने की है और मुझे यहाँ रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

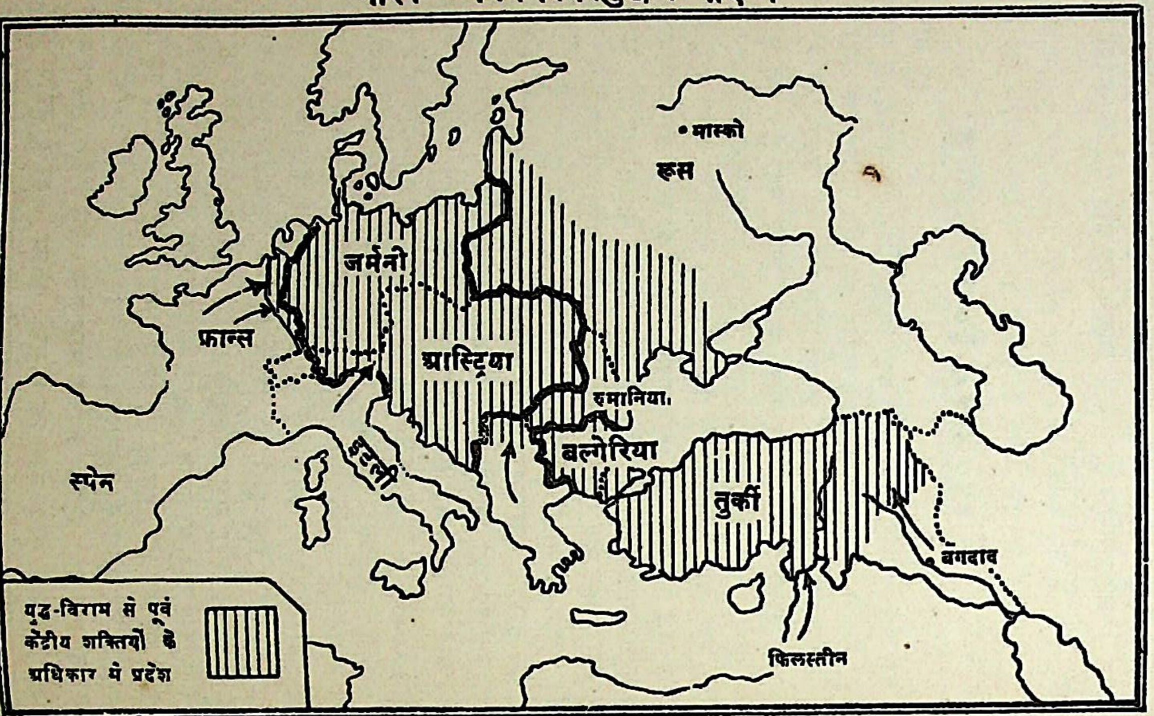
१९१४-१८ ई० का महायुद्ध

३१ मार्च, १९३३

इस युद्ध के बारे में मैं तुम्हें क्या लिखूं, जिसे विश्व-युद्ध या महायुद्ध कहा जाता है, जिसने चार वर्ष से ऊपर यूरोप का और एशिया व अफ़्रीका के कुछ भागों का सत्यानाश किया और लाखों नौजवानों का उठती जवानी में सफ़ाया कर दिया। सोचने के लिए युद्ध कोई भला विषय नहीं है। यह भद्दी चीज़ है, लेकिन इसकी अक्सर तारीफ़ की जाती है और इसपर खूब चमकदार रंग चढ़ाये जाते हैं; और कहा जाता है कि जैसे आग पर तपाने से सोना शुद्ध हो जाता है उसी तरह युद्ध की आग उन आरामतलब राष्ट्रों को खरा और मज़बूत बना देती है, जो बहुत ज्यादा आराम और विलासी जीवन से नाज़ुक और भ्रष्ट हुए होते हैं। हमारे सामने ऊँचे दर्जे के साहस और दिल छूनेवाली क़ुर्बानियों की मिसालें पेश की जाती हैं, मानो इन नेकियों को युद्ध ही पैदा करता है।

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कारणों की जाँच करने की कोशिश की है: किस तरह पूँजीशाही औद्योगिक देशों का लालच और साम्राज्यशाही शक्तियाँ टकराईं और उनकी वजह से मुठभेड़ लाज़िमी हो गई। इनमें से हरेक देश के उद्योगपति शोषण के लिए किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतें व मैदान चाहते थे; किस तरह साहूकार लोग खूब रुपया बनाने की धुन में थे; किस तरह युद्ध-सामग्री बनानेवाले लम्बे-चौड़े मुनाफ़े कमाना चाहते थे। बस, ये लोग युद्ध में कूद पड़े, और इनके व इनके वर्ग के प्रतिनिधि बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों के इशारे पर राष्ट्रों के नौजवान, एक-दूसरे की गरदनें काटने के लिए दौड़ पड़े। इनमें से बहुत ज्यादा नौजवान और युद्ध करनेवाले तमाम देशों के आम लोग, युद्ध के कारणों के बारे में कुछ नहीं जानते थे। असल में इनका तो युद्ध से कोई सरोकार ही नहीं था; जीत हो या हार, इनका तो इससे नुक़सान ही होना था। यह तो धनवानों का खेल था, जो लोगों की ज़िन्दगियों से, और ज्यादातर नौजवानों की ज़िन्दगियों से, खेला जा रहा था। लेकिन जबतक आम लोग लड़ने के लिए तैयार न हों तबतक युद्ध नहीं हो सकता था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, यूरोप के सारे देशों में जबरन भरती यानी लाज़िमी युद्ध-चाकरी थी; इंग्लैण्ड में यह युद्ध शुरू होने के बाद आई। लेकिन अगर कुल मिलाकर सारे लोग वास्तव में लड़ने की इच्छा न रखते हों तो ऐसे मामले में ज़बर्दस्ती से भी उन्हें मजबूर नहीं किया जा सकता।

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के बाद में



इसलिए सारे लड़नेवाले राष्ट्रों में लोगों का जोश व देश-प्रेम मार-मारकर जगाने के लिए बड़ी तैयारी के साथ ज़ोरदार कोशिशें की गईं। हर पक्ष दूसरे को 'हमला शुरू करनेवाला' बताता था और सिर्फ़ अपनी रक्षा के लिए लड़ने का बहाना करता था। जर्मनी कहता था कि उसके चारों ओर शत्रुओं ने घेरा डाल रक्खा है, जो उसका गला घोंटने की कोशिश कर रहे हैं। उसने रूस व फ़्रान्स पर यह इलज़ाम लगाया कि उन्होंने उसपर धावा बोलने में पहल की। इंग्लैण्ड ने छोटे-से बेलजियम की वाजिब रक्षा को अपनी कार्रवाई का आधार बनाया, क्योंकि इसकी तटस्थ हैसियत को जर्मनी ने बड़ी बेशर्मी से भंग कर दिया था। युद्ध में उलझे हुए तमाम देशों ने अपने-आपको भला समझने का रुख़ अपनाया, और सारा क़सूर दुश्मन के सिर मढ़ दिया। हर राष्ट्र के लोगों को यह यक़ीन दिलाया गया कि उनकी आज़ादी ख़तरे में है और उसकी रक्षा के लिए उन्हें लड़ना ज़रूरी है। हर जगह युद्ध की यह हवा तैयार करने में अख़बारों ने ख़ासतौर पर ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। नतीजों के लिहाज़ से इसका मतलब था शत्रु-देशों की जनता के ख़िलाफ़ सख़्त नफ़रत फैलाना।

दीवानेपन की यह लहर इतनी ज़ोरदार थी कि सामने आनेवाली हर चीज़ को बहाती चली गई। भीड़ में जनता के गुस्से को उभाड़ना काफ़ी आसान होता है; लेकिन युद्ध में उलझे हुए तमाम देशों के दिमाग़वाले और समझ-बूझ-वाले लोग, नर-नारी जो शान्त व संजीदा स्वभाववाले माने जाते थे, विचारक, लेखक, प्रोफ़ेसर, वैज्ञानिक,—सब-के-सब अपने सन्तुलन खो बैठे, और ख़ूनी-मस्ती से व शत्रु-राष्ट्रों के ख़िलाफ़ बैर-भाव से भर गये। पादरी लोग, धर्मात्मा लोग, जो शान्ति-पसन्द माने जाते हैं, सभी दूसरों की तरह, बल्कि उनसे भी ज्यादा, ख़ून के प्यासे हो रहे थे। यहाँतक कि शान्तिवादी और समाजवादी भी दीवाने बन गये और अपने उसूलों को भूल गये। हाँ, सभी, लेकिन कुछ को छोड़कर। हर देश में ऐसे अल्पमतों की बहुत छोटी संख्या भी थी, जिन्होंने दीवाना बनने से इन्कार कर दिया और अपने-आपको युद्ध के इस बुख़ार का शिकार नहीं होने दिया। उनपर ताने कसे जाते थे और उन्हें कायर कहकर पुकारा जाता था। बहुतों को तो युद्ध में भाग लेने से इन्कार करने पर जेलों तक में डाल दिया गया। इनमें कुछ तो समाजवादी थे, कुछ क्वेकरों की तरह धर्मात्मा लोग थे, जो ईमानदारी से युद्ध-विरोधी[1] होते हैं। यह सच ही कहा गया है कि आजकल जब युद्ध छिड़ जाता है तो उसमें फँसे हुए लोग पागल हो जाते हैं।

जैसे ही युद्ध शुरू हुआ, सभी देशों की सरकारों ने उसे सत्य को दबाने का और तरह-तरह की झूठी बातें फैलाने का बहाना बना लिया। लोगों की व्यक्तिगत

[1] Conscientious Objectors.

स्वतन्त्रताओं का भी गला घोंटा गया। दूसरे पक्ष पर तो पूरी तरह पर्दा डाल दिया जाता था। इसलिए लोग क़िस्से का सिर्फ़ एक ही पक्ष जान पाते थे, और वह भी बहुत तोड़ा-मरोड़ा हुआ और अक्सर बिलकुल झूठा बयान होता था। इस तरकीब से लोगों को बेवक़ूफ़ बनाना कुछ मुश्किल नहीं था।

शान्ति के दिनों में भी तंग-नज़र राष्ट्रवादी प्रचार ने और अख़बारों की तोड़-मरोड़ ने लोगों को बेवक़ूफ़ बना दिया था और युद्ध के लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। युद्ध को ही बड़े यश की चीज़ बना दिया गया था। जर्मनी में, या यूँ कहो कि प्रशिया में, युद्ध की ये ऊँची तारीफ़ें कैसर से लगाकर नीचे तक के शासकों की एक पक्की विचारधारा ही बन गई थी। इसे वाजिब बताने के लिए विद्वानों से पुस्तकें लिखवाई गई थीं, जिनमें यह साबित किया गया था कि युद्ध एक 'जीवोपयोगी आवश्यकता'[1] है—यानी यह मानव-जीवन और प्रगति के लिए ज़रूरी है। कैसर का ख़ूब विज्ञापन होता था, क्योंकि वह सदा कुछ भोंड़े तरीक़े से अपना आडम्बर दिखाया करता था। लेकिन इसीसे मिलते-जुलते विचार इंग्लैण्ड व दूसरे देशों के सैनिक-वर्ग और उच्च-वर्ग के लोगों में फैले हुए थे। रस्किन, इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी के महान् लेखकों में गिना जाता है। वह उनमें है, जिनकी रचनाएँ गान्धीजी को पसन्द हैं। यह व्यक्ति, जिसके उत्तम विचारों के बारे में किसी को शक नहीं है, अपनी एक पुस्तक में लिखता है:

> "संक्षेप में, मैंने पाया कि सब महान् राष्ट्रों को अपने शब्दों की सचाई और अपने विचारों की ताक़त का ज्ञान युद्ध में हुआ; और शान्ति ने नष्ट कर दिया; युद्ध ने सिखाया और शान्ति ने धोखा दिया; युद्ध ने तैयार किया और शान्ति ने विश्वासघात किया; एक शब्द में कहें तो वे युद्ध में पैदा हुए और शान्ति में मर गये।"

यह दिखाने के लिए कि रस्किन कितना साफ़-दिल साम्राज्यवादी था, मैं उसका एक और बयान यहाँ दूंगा:

> "यही बात है जो उसे (इंग्लैण्ड को) करनी चाहिए, वरना वह मिट जायगा; उसे उपनिवेश क़ायम करने चाहिए..... उपजाऊ बंजर ज़मीन के हर टुकड़े पर, जिसपर वह पैर रख सके, उसे क़ब्ज़ा कर लेना चाहिए और वहाँ अपने इन उपनिवेशियों को यह सिखाना चाहिए कि उनका पहला....ध्येय है ज़मीन पर या समुद्र पर इंग्लैण्ड की शक्ति को आगे बढ़ाना।"

एक बयान और भी। यह एक अंग्रेज़ अफ़सर की पुस्तक में से है, जो ब्रिटिश सेना में मेजर-जनरल हो गया था। यह बतलाता है कि "बिना जान-बूझकर धोखे-

[1] Biological necessity.

बाज़ी के, बिना धोखेबाज़ी का व्यवहार किये या बिना धोखाधड़ी की बात के" युद्ध में फ़तह नामुमकिन है। इसकी राय में कोई नागरिक जो "इन उपायों को अपनाने से इन्कार करता है, अपने साथियों और मातहतों के साथ जान-बूझकर ग़द्दारी करता है" और "उसे सिर्फ़ कमीना कायर ही कहा जा सकता है।" "नीति, अनीति—महान् राष्ट्रों के लिए ये चीज़ें क्या हैं जब उनका नसीब ही दाँव पर चढ़ रहा हो?" हर राष्ट्र को "चाहिए कि जबतक उसके दुश्मन पर घातक चोट न पड़ जाय तबतक बार-बार चोटें मारता रहे।" मैं नहीं कह सकता कि इस सबपर रस्किन का क्या मत होता! अलबत्ता यह खयाल न कर बैठना कि अंग्रेज़ी मानस का यह कोई अच्छा नमूना है, या यह कि कैसर के शेख़ीभरे भाषण एक औसत जर्मन के भावों को ज़ाहिर करते थे। लेकिन बदक़िस्मती यह है कि ऐसे विचार रखनेवाले लोग ही अक्सर सत्ताधारी होते हैं और युद्ध-काल में तो वे क़रीब-क़रीब हमेशा आगे आ जाते हैं।

आमतौर पर ऐसे बेलाग दावे खुल्लम-खुल्ला नहीं किये जाते और युद्ध को पाखण्डी लिबास पहना दिया जाता है। बस, उधर तो यूरोप में व दूसरी जगह सैकड़ों मीलों के मोर्चों पर ज़बर्दस्त नर-संहार हो रहा था, इधर घर में इस हत्या-काण्ड को वाज़िब ठहराने के लिए और लोगों को भुलावे में डालने के लिए बड़े सुन्दर और लच्छेदार जुमले रचे जाते थे। यह आज़ादी और इज़्ज़त का युद्ध था; "युद्ध का अन्त करने के लिए युद्ध" था; लोकतन्त्र की रक्षा के लिए था; आत्म-निर्णय के लिए और छोटे राष्ट्रों की आज़ादी के लिए था, वग़ैरा, वग़ैरा। इसी अर्से में बहुत सारे पूंजी लगानेवाले और उद्योगपति और युद्ध-सामग्री बनानेवाले, जो घरों में बैठे थे, और इन लच्छेदार जुमलों का बड़ी देशभक्ति के साथ इस्ते-माल करके नौजवानों को युद्ध की भट्टी में कूद पड़ने के लिए उकसाते थे, लम्बे-चौड़े मुनाफ़े कमा रहे थे और करोड़पति बन रहे थे।

ज्यों-ज्यों यह युद्ध महीने-दर-महीने और साल-दर-साल चलता गया, त्यों-त्यों और-और देश इसमें खिंचते गये। दोनों पक्ष चुपचाप रिश्वतों का लोभ देकर तटस्थों को अपनी-अपनी ओर मिलाने की कोशिशें करते थे; खुल्लम-खुल्ला रिश्वतें देने की बातें की जातीं तो उन ऊँचे आदर्शों पर और लच्छेदार शब्दों पर पानी फिर जाता, जिनका ख़ूब शोर मचाया जाता था। इंग्लैण्ड और फ़ान्स की रिश्वत देने की हैसियत जर्मनी से बढ़ी-चढ़ी थी, इसलिए युद्ध में शरीक होनेवाले ज़्यादातर तटस्थ देश अंग्रेज़ी-फ़्रान्सीसी-रूसी पक्ष में आ मिले। जर्मनी के पुराने साथी इटली के साथ मित्र-राष्ट्रों ने एक गुप्त सन्धि कर ली, जिसमें उसे एशिया-कोचक में व दूसरी जगह प्रदेश देने का वादा किया गया, और इस तरह इन्होंने उसे अपनी तरफ़ मिला लिया। एक और गुप्त सन्धि से रूस को क़ुस्तुन्तुनिया देने का वादा

किया गया। दुनिया को आपस में बाँट लेने का काम बड़ा मज़ेदार था। ये गुप्त सन्धियाँ मित्र-राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के बयानों से बिलकुल उलटी थीं। सत्ता हाथ में आने के बाद अगर रूसी बोलशेविक इन सन्धियों को प्रकाशित न करते तो शायद किसीको इनका पता भी न चलता।

आखिरकार एक दर्जन से कुछ ऊपर देश मित्र-राष्ट्रों के साथ हुए (अंग्रेज़ी-फ़ान्सीसी पक्ष को मैं संक्षेप के लिए मित्र-राष्ट्र कहूँगा)। ये थे इंग्लैण्ड और उसका साम्राज्य, फ़ान्स, रूस, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका, बेलजियम, सर्बिया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल। (दो एक और भी होंगे, जिनके नाम मुझे याद नहीं)।

जर्मन-पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगारिया थे। संयुक्त राज्य अमेरिका तीसरे साल युद्ध में शामिल हुआ। अगर अभी हम अपनी गिनती में इसे छोड़ भी दें तो भी यह साफ़ है कि मित्र-राष्ट्रों के साधन जर्मन पक्ष के साधनों से बहुत ज्यादा बढ़े-चढ़े थे। इनके पास ज्यादा सिपाही थे, बहुत ज्यादा रुपया था, हथियार व गोला-बारूद बनाने के ज्यादा कारखाने थे, और इन सबके ऊपर, इनका समुद्रों पर क़ब्ज़ा था, जिसकी वजह से ज़रूरत के वक़्त तटस्थ देशों के साधनों का इस्तेमाल करना इनके लिए आसान था। इसलिए इस समुद्री-ताक़त के सबब से वे अमेरिका से युद्ध का सामान, या खाने का सामान मँगा सकते थे या क़र्ज़ा ले सकते थे। जर्मनी और उसके साथी चारों ओर अपने शत्रुओं से घिरे हुए और किनारी-बन्द थे, और जर्मनी के साथी देश कमज़ोर थे, जो ज्यादा मदद नहीं पहुँचा सकते थे। वे तो बहुत करके जर्मनी की ताक़त को ख़र्च करनेवाले थे और उसे उनको सहारा देना पड़ता था। इसलिए सूरत यह थी कि एक तरफ़ तो संसार के ज्यादातर देश लड़ रहे थे दूसरी तरफ़ उनके मुक़ाबले में अकेला जर्मनी था। हर पहलू से यह जोड़ बहुत ही असमान था। लेकिन फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुक़ाबले में डटा रहा और कई बार तो विजयी होते-होते रह गया। हर साल यही मालूम देता था कि विजय अधर ही लटकी हुई है। अकेले एक राष्ट्र के लिए यह अद्भुत था और यह उस शानदार सैनिक-तन्त्र की वजह से ही मुमकिन हुआ था जो जर्मनी ने खड़ा किया था। अन्ततक, जब कि जर्मनी और उसके साथी पूरी तरह परास्त किये जा चुके थे, जर्मन सेना का संगठन वैसा-का-वैसा बना हुआ था और उसका बड़ा भाग विदेशी ज़मीन पर था।

मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ लड़ाई की सबसे ज्यादा झोंक फ़ान्स को बर्दाश्त करनी पड़ी और फ़ान्सीसियों ने ही अपने नौजवानों के जीवनों की ज़बर्दस्त भेंट चढ़ाकर जर्मन सैनिक-तन्त्र से लोहा लिया। इंग्लैण्ड की दी गई सबसे बड़ी सहायता थी जंगी-बेड़ा और समुद्री-शक्ति, और साथ ही कूटनीति और प्रचार भी। अपनी

सेना के घमण्ड में भरा हुआ जर्मनी तटस्थ देशों के साथ कूटनीति में और प्रचार के ढंगों में अजीब भोंड़ापन बरत रहा था। इसमें कोई शक नहीं कि झूठी बातों को और तोड़े-मरोड़े हुए तथ्यों का प्रचार करने की होशियारी और पूरे कमाल में इंग्लैण्ड इस युद्ध में तमाम देशों से बाज़ी ले गया। लड़ाई में रूस और इटली और दूसरे साथी देशों का हिस्सा इंग्लैण्ड वग़ैरा के मुक़ाबले में बहुत कम भी रहा और तारीफ़ के क़ाबिल भी नहीं रहा। लेकिन फिर भी रूस के सब देशों से ज्यादा आदमी मारे गये। युद्ध खत्म होने से कुछ ही पहले शामिल होने वाले अमेरिका ने जर्मनी को कुचलने में आखिरी और फ़ैसला करानेवाला हिस्सा अदा किया।

युद्ध के शुरू महीनों में इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच ज़बर्दस्त तनाव था और दोनों के बीच युद्ध ठन जाने की भी चर्चा थी। यह तनाज़ा समुद्रों पर अमेरिका की जहाज़रानी में इंग्लैण्ड की दस्तन्दाज़ी से पैदा हुआ था, क्योंकि इंग्लैण्ड को शक था कि अमेरिका के जहाज़ जर्मनी को माल ले जाते हैं। लेकिन फ़ौरन ही इंग्लैण्ड के प्रचार की मशीन ज़ोरों से काम करने लगी और अमेरिका को अपनी तरफ़ मिलाने का ख़ास यत्न करने लगी। सबसे पहले अत्याचारों का प्रचार हाथ में लिया गया, और जर्मन सेना ने बेलजियम में जो कुछ किया, उसके दिल दहलानेवाले क़िस्से फैलाये गए। इसे जर्मन हूण या 'बॉश'[1] का 'डरावनापन' कहा गया। इनमें से कुछेक क़िस्सों की कुछ बुनियाद भी थी, मसलन लूवें के विश्व-विद्यालय और पुस्तकालय का नष्ट किया जाना, लेकिन ज्यादातर क़िस्से कोरे मन-गढ़न्त थे। एक अद्‌भुत क़िस्सा वह था, जिसमें कहा गया था कि जर्मन लोग लाशों का कारख़ाना चला रहे हैं! लेकिन दोनों पक्ष के देशों के लोगों की एक दूसरे के खिलाफ़ इतनी जबर्दस्त नफ़रत थी कि वे किसी भी बात पर यक़ीन करने को तैयार थे।

अंग्रेज़ों का प्रचार जिस बड़े पैमाने पर चलाया जा रहा था, उसका कुछ अन्दाज़ा तुम्हें इससे हो सकता है कि अमेरिका को भेजे गये ब्रिटिश-युद्ध मिशन में ५०० अफ़सर और १०,००० उनके सहायक थे! यह तो सरकारी तौर पर था; इसके अलावा ग़ैर-सरकारी तौर पर भी जबर्दस्त काम हो रहा था। प्रचार के इस काम में उचित और अनुचित सब तरह के उपायों को अपनाया जाता था। स्वीडनवासियों की सद्‌भावना हासिल करने के लिए स्वीडन के स्टॉकहोम में अंग्रेज़ों ने सरकारी तौर पर एक क़िस्म का अंग्रेज़ी संगीत-भवन खोला था, जिसमें मनोरंजन का रंगारंग कार्यक्रम होता था।

इस प्रचार ने और जर्मनी की पनडुब्बियों की कारंवाइयों ने, जिनके बारे

[1] Boche—ख़ून का प्यासा दंगाई।

में मैं आगे चलकर कुछ लिखूंगा, अमेरिका को मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में लाने का बड़ा भारी काम किया। लेकिन आख़िरी फ़ैसला करानेवाला कारण तो रुपया था।

युद्ध एक ख़र्चीला घन्धा है, ज़बर्दस्त ख़र्चीला। यह क़ीमती सामग्री के पहाड़-के-पहाड़ हड़प कर जाता है और उसके एवज़ में सिर्फ़ बर्बादी सामने रखता है। यह बहुत-सी दौलत पैदा करनेवाली हलचलों को बन्द कर देता है और लोगों की सारी शक्तियाँ सिमटकर तबाही में लग जाती हैं। यह तमाम रुपया कहाँ से आता? शुरू-शुरू में मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ही आसूदा समझे जा सकते थे। ये युद्ध के ख़र्च का सिर्फ़ अपना ही हिस्सा नहीं देते थे, बल्कि रुपया और सामान उधार देकर अपने साथियों का भी हिस्सा अदा करते थे। कुछ समय बाद पेरिस का दिवाला निकल गया; उसके वित्तीय साधन ख़त्म हो गये। तब अकेले लन्दन ने युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के पक्ष को धन की सहायता दी। युद्ध के दूसरे वर्ष के ख़त्म होते-न-होते लन्दन भी दिवालिया हो गया। इसलिए, १९१६ ई० के अन्ततक फ़्रान्स और इंग्लैण्ड दोनों की साख ख़त्म हो गई। तब धन की सहायता माँगने के लिए नामी राजनीतिज्ञों का एक ब्रिटिश मण्डल अमेरिका गया। अमेरिका रुपया उधार देने को राज़ी हो गया और फिर तो मित्र-राष्ट्रों के पक्ष की तरफ़ से युद्ध को चलानेवाला यह अमेरिकी रुपया ही था। मित्र-राष्ट्रों पर अमेरिका का क़र्ज़ दिनदूना-रातचौगुना बढ़ते-बढ़ते बेशुमार अंकों तक जा पहुँचा; और ज्यों-ज्यों यह बढ़ता गया त्यों-त्यों रुपया उधार देनेवाले अमेरिका के बड़े बैंक और साहूकार मित्र-राष्ट्रों की जीत में दिन-पर-दिन ज़्यादा शरीक होने लगे। अगर मित्र-राष्ट्र जर्मनी से हार जायँ तो अमेरिका ने उन्हें जो भारी रक़में उधार दी थीं उनका क्या होगा? अमरीकी बौहरे की जेब पर असर पड़ने लगा, और उसने इसी मुताबिक़ जवाबी कार्रवाई की। युद्ध में अमेरिका के मित्र-राष्ट्रों में शामिल होने के पक्ष में भावना ज़ोर पकड़ने लगी और आख़िरकार अमेरिका शामिल हो ही गया।

इन दिनों हम अमेरिकी क़र्ज़ों के सवाल के बारे में बहुत-कुछ सुन रहे हैं और अख़बार इससे भरे रहते हैं। यह क़र्ज़, जो इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के गलों में चक्की के पाट की तरह लटका हुआ है, और जिसे वे चुका नहीं सकते, युद्ध के दिनों में अम्बार बन गया था। अगर उस समय यह रुपया नहीं दिया गया होता तो इनकी साख पूरी तरह ख़त्म हो गई होती और अमेरिका उनके साथ शामिल भी नहीं हुआ होता।

: १४९ :

महायुद्ध का दौर

१ अप्रैल, १९३३

जब, १९१४ ई० के अगस्त महीने के शुरू में युद्ध शुरू हुआ, तब सारी दुनिया की नज़र बेलजियम पर और फ़ान्स की उत्तरी सरहद पर थी। बहुत बड़ी जर्मन सेनाएँ आगे बढ़ती चली जा रही थीं और अपने रास्ते में आनेवाली तमाम रुकावटों का सफ़ाया कर रही थीं। छोटे-से बेलजियम ने कुछ देर के लिए उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया और इस पर ग़ुस्सा होकर उन्होंने आतंक पैदा करनेवाली कार्रवाइयों से बेलजियमवासियों को डराना चाहा। इन्हीं कार्रवाइयों को मित्र-राष्ट्रों ने अत्याचार के क़िस्सों का आधार बनाया। ये सेनाएँ पेरिस की तरफ़ बढ़ीं और फ़्रान्सीसी सेना का तो मानो उनके सामने बिस्तर गोल हो गया, और छोटी-सी ब्रिटिश सेना मार भगाई गई। युद्ध छिड़ने के एक ही महीने के भीतर पेरिस का फ़ैसला होता हुआ नज़र आने लगा और फ़्रान्सीसी सरकार तो सचमुच अपने दफ़्तर और क़ीमती सामान दक्षिण में बोर्दो[1] ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनों ने तो समझा कि उन्होंने युद्ध-क़रीब-क़रीब जीत लिया। अगस्त के अन्त में युद्ध के पश्चिमी मोर्चे (यानी फ़्रान्सीसी मोर्चे) पर यह हालत थी।

इसी दरमियान रूसी फ़ौजें पूर्वी प्रशिया पर धावा बोल रही थीं और यह यत्न किया जा रहा था कि किसी तरह पश्चिमी मोर्चे से जर्मनी का ध्यान बँट जाय। फ़्रान्स और इंग्लैण्ड में 'सड़क-कूट-इंजन' कहलानेवाली रूसी फ़ौजों पर बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी जा रही थीं, जो बर्लिन की तरफ़ बढ़ रही थीं। लेकिन रूसी सिपाहियों के पास अच्छे और पूरे हथियार नहीं थे, और उनके अफ़सर बिलकुल निकम्मे थे और उनके पीछे ज़ार की भ्रष्ट सरकार थी। जर्मन लोग यकायक उनपर टूट पड़े और उन्होंने पूर्वी प्रशिया की झीलों और दलदलों में भारी रूसी सेना को फाँसकर उसे बिलकुल तबाह कर दिया। इस ज़बर्दस्त जर्मन विजय को टाननबुर्ग का संग्राम कहा जाता है। इसमें भाग लेनेवाले मुख्य सेनापतियों में फ़ॉन हिण्डनबर्ग था, जो बाद में जर्मन गणराज्य का राष्ट्रपति बना।

यह महान् विजय थी, लेकिन दूसरी तरफ़ इससे जर्मन सेनाओं को भारी नुक़सान उठाना पड़ा। इसे हासिल करने के लिए, और पूर्व में रूसी हमले से कुछ डरकर, जर्मनों ने अपनी कुछ सेनाएँ फ़्रान्सीसी मोर्चे से हटाकर रूसी मोर्चे पर भेज दी थीं। इससे पश्चिमी मोर्चे पर पड़ा हुआ दबाव कुछ कम हो गया था और फ़्रान्सीसी सेना ने धावा मार जर्मनों को पीछे ढकेलने की एक ज़बर्दस्त कोशिश की।

---

[1] फ़्रान्स के दक्षिण में एक मशहूर बन्दरगाह।

सितम्बर, १९१४ ई० के शुरू में, मार्न की लड़ाई में, वह जर्मनों को क़रीब पचास मील पीछे हटाने में सफल हो गई। पेरिस बच गया और फ़्रान्सीसियों व अंग्रेज़ों को दम लेने का कुछ वक़्त मिल गया।

जर्मनों ने इस मुक़ाबले को तोड़कर आगे बढ़ने के लिए एक बार फिर ज़ोर लगाया और वे क़रीब-क़रीब सफल भी हो गये थे, लेकिन उन्हें रोक दिया गया। तब दोनों ओर की सेनाएँ खन्दकें खोदकर उनमें जम गईं और एक नयें क़िस्म की लड़ाई, यानी 'खन्दकी जंग'[1] शुरू हो गई। यह एक तरह की ज़िच थी, और तीन वर्ष से ऊपर, और कुछ हद तक युद्ध के खत्म होने तक, पश्चिमी मोर्चे पर यह खन्दकी जंग जारी रहा और बड़ी भारी-भारी सेनाएँ छछून्दरों की तरह ज़मीन खोदकर अन्दर पड़ी रहीं और एक-दूसरी को बेदम करने की कोशिश करती रहीं। इस मोर्चे पर जर्मन और फ़्रान्सीसी सेनाओं की संख्या शुरू से ही बीसियों लाख तक पहुँच गई थी। इसी मोर्चे पर छोटी-सी ब्रिटिश सेना भी तेज़ी से बढ़ गई, यहाँतक कि उसकी संख्या भी लाखों में गिनी जा सकती थी।

पूर्वी या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल थी। रूसी फ़ौजों ने आस्ट्रिया की फ़ौजों को बार-बार हराया लेकिन खुद उन्हें जर्मनों ने हमेशा हराया। इस मोर्चे पर मरनेवालों और घायलों की संख्या बहुत ही बड़ी थी। यह न समझना कि खन्दकी जंग के सबब से पश्चिमी मोर्चे पर मरनेवालों की संख्या कुछ कम थी। मनुष्यों की ज़िन्दगी के साथ अजीब लापरवाही का बर्ताव किया जाता था और खन्दकी मोर्चों पर बार-बार हमलों में लाखों को मरने के लिए मौत के मुँह में झोंक दिया जाता था, और नतीजा कुछ नहीं निकलता था।

युद्ध के और भी बहुत सारे जंगी मुक़ाम थे। तुर्कों ने स्वेज़-नहर पर हमला करने की कोशिश की, पर उन्हें पीछे हटा दिया गया। जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, मिस्र को दिसम्बर, १९१४ ई० में इंग्लैण्ड की मातहती रियासत ऐलान कर दिया गया था। फ़ौरन ही इंग्लैण्ड ने वहाँ की नई विधान-सभा को मंन्सूख कर दिया और जिन लोगों पर सन्देह था उन्हें जेलों में भर दिया। राष्ट्रवादी अखबार बन्द कर दिये गए और पाँच से ज्यादा आदमियों को एक जगह मिलने पर रोक लगा दी गई। वहाँ जो सेन्सर-प्रणाली[2] जारी की गई थी, उसे लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने 'वहशतभरी सख्त' बतलाया था। सारे युद्ध-काल में यह देश सचमुच फ़ौजी क़ानून के मातहत रक्खा गया।

इंग्लैण्ड ने तुर्की के ढीले अंजर-पंजरवाले साम्राज्य के कई कमज़ोर मुक़ामों में हमला कर दिया : इराक़ में, और, कुछ दिन बाद, फ़िलिस्तीन में और सीरिया

[1] Trench Warfare.

[2] Censorship—अखबारों पर खबरें आदि छापने का प्रतिबन्ध।

में। अरब में अंग्रेज़ों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना से फ़ायदा उठाया और रुपये व सामान की खूब रिश्वतों की मदद से तुर्की के खिलाफ़ अरब विद्रोह खड़ा करवा दिया। अरब में अंग्रेज़ों के एजेण्ट कर्नल टी० ई० लारेन्स का इस विद्रोह में बहुत बड़ा हाथ था। बाद में यह एक भेद-भरा आदमी मशहूर हो गया और इसने एशिया के कई आन्दोलनों में परदे के पीछे से काम किया।

लेकिन तुर्की की ख़ास धरती पर सीधा हमला फ़रवरी, १९१५ ई०, में हुआ, जब ब्रिटिश जंगी बेड़े ने दर्रे-दानियाल में ज़बर्दस्ती घुसने की और इस तरह कुंस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की। अगर वे इसमें सफल हो गए होते तो उन्होंने युद्ध में न सिर्फ़ तुर्की का ही अन्त कर दिया होता, बल्कि पश्चिमी एशिया से सारा जर्मन असर दूर कर दिया होता। लेकिन वे विफल हुए। तुर्कों ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला किया और ध्यान में रखने की दिलचस्प बात यह है कि कमाल पाशा का इसमें बहुत बड़ा हाथ था। क़रीब एक साल तक अंग्रेज़ों ने गैलीपोली में इस कोशिश को जारी रक्खा; फिर भारी नुक़सान उठाने के बाद वापस लौट गये।

मित्र-राष्ट्रों ने पश्चिमी और पूर्वी अफ़्रीका में जर्मन उपनिवेशों पर भी हमले किये। ये उपनिवेश जर्मनी से बिलकुल कटे हुए थे और सहायता नहीं पा सकते थे। धीरे-धीरे इन्होंने घुटने टेक दिये। चीन में जर्मनी के रियायती इलाक़े क्याउचाउ पर जापान ने आसानी से क़ब्ज़ा कर लिया। जापान तो दरअसल बड़े मज़े में था, क्योंकि दूर-पूर्व में कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं था। इसलिए उसने चीन को डरा-धमकाकर उससे तरह-तरह की और ख़ास रियायतें ले लीं और इस तरह मौक़े का खूब फ़ायदा उठाने की कोशिश की।

इटली कई महीनों तक युद्ध के दौर को ध्यान से देखता रहा और यह पता लगाने की कोशिश करता रहा कि कौन-सा पक्ष जीतेगा। आख़िर में यह यक़ीन करके कि जीत मित्र-राष्ट्रों को ही मिलेगी, उसने उनकी पेश की हुई रिश्वतें क़बूल कर लीं और एक गुप्त क़रारनामा तय कर लिया। मई, १९१५ ई० में इटली युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के साथ बाक़ायदा शामिल हो गया। दो वर्ष तक इटली और आस्ट्रिया की फ़ौजें एक दूसरी को हराने की सख्त कोशिशें करती रहीं। पर कोई नतीजा नहीं निकला। तब जर्मन फ़ौजें आस्ट्रिया की फ़ौजों की मदद को आ पहुँची और उनके सामने इटली की फ़ौजें ढेर हो गईं। आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना वेनिस के नज़दीक तक पहुँच गई।

अक्तूबर, १९१५ ई० में, बलग़ारिया जर्मनी के साथ आ मिला। इसके कुछ ही दिन बाद आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना ने बलग़ारिया के सहयोग से सर्बिया को बिलकुल कुचल दिया। सर्बिया के राजा को अपनी बची-खुची सेना के साथ देश छोड़कर भागना पड़ा और मित्र-राष्ट्रों के जहाज़ों में शरण लेनी पड़ी और सर्बिया

जर्मन राज्य के अधीन हो गया।

बलकानी युद्धों में अपनी हरकतों के बाद रूमानिया मौक़ा-परस्ती के लिए ख़ासतौर पर मशहूर हो गया था। यह भी दो वर्ष तक महायुद्ध के दौरे को ताकता रहा और अन्त में अगस्त, १९१६ ई० में, इसने अपना भाग्य मित्र-राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया। इसकी सज़ा भी उसे बहुत जल्दी मिल गई। जर्मन सेना उस पर टूट पड़ी और उसने सारे मुक़ाबले को कुचल डाला। रूमानिया में भी आस्ट्रिया-जर्मनी की फ़ौजों का क़ब्ज़ा हो गया।

बस, मध्य यूरोपीय शक्तियाँ कहलानेवाले जर्मनी और आस्ट्रिया का उत्तर-पूर्व में बेलजियम पर व फ़्रान्स के कुछ भाग पर और पोलैण्ड, सर्बिया व रूमानिया पर क़ब्ज़ा हो गया। युद्ध के कई छोटे-छोटे लड़ाई के मैदानों में जीत इनके हाथ रही। लेकिन लड़ाई की जान तो पश्चिमी मोर्चे पर और समुद्रों पर थी, और वहाँ इन्हें कोई कामयाबी नहीं मिल रही थी। उस मोर्चे पर दोनों पक्षों की सेनाएँ, मौत के आलिंगन में गुथी हुई पड़ी थीं। समुद्रों पर मित्र-राष्ट्रों का एकछत्र राज्य था। युद्ध के शुरू के दिनों में कुछ जर्मन क्रूज़र इधर-उधर घूमते-फिरते थे और मित्र-राष्ट्रों की जहाज़रानी में बाधा पहुँचाते थे। इनमें से एक मशहूर जहाज़ ऐमदन था, जिसने मद्रास तक पर बमबारी की थी। लेकिन यह तो एक तुच्छ नोक-झोंक थी जिससे इस असलियत में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था कि समुद्री-रास्तों पर मित्र-राष्ट्रों का क़ाबू था। और इस क़ाबू की मदद से उन्होंने मध्य यूरोपीय शक्तियों को बाहर से मिलनेवाली खाने-पीने की व दूसरी सारी चीज़ों को रोकने की कोशिश की। जर्मनी और आस्ट्रिया की यह नाकाबन्दी उनके लिए भयंकर संकट हो गई, क्योंकि भोजन-सामग्री की बहुत कमी पड़ पड़ गई और सारी आबादी को भूखों मरने की नौबत आ गई।

उधर जर्मनी ने पनडब्बियों के ज़रिये मित्र-राष्ट्रों के जहाज़ों को डुबोना शुरू कर दिया। यह पनडुब्बी-जंग इतना कारगर हुआ कि इंग्लैण्डवाली भोजन-सामग्री कम पड़ गई और अकाल का ख़तरा पैदा हो गया। मई, १९१५ ई० में एक जर्मन पनडुब्बी ने अतलान्तिक महासागर में चलनेवाने बड़े यात्री-जहाज़ 'लूसिटैनिया' को डुबो दिया और इसमें बहुत लोग डूब गये। इसमें कितने ही अमेरिकी यात्री भी डूब मरे और इस सबब से अमेरिका के लोग बहुत गुस्से में भर गये।

जर्मनी ने इंग्लैण्ड पर हवाई हमले भी किये। बहुत बड़े-बड़े ज़ैपलिन हवा-जहाज़ चाँदनी रातों में लन्दन पर और गोला-बारूद के कारख़ानोंवाली जगहों पर बम गिराने के लिए आते थे। बाद में बम गिराने का यह काम हवाई जहाज़ करने लगे; और इनकी घरघराहट सुनाई देना, हवामार तोपों का छूटना, और बचाव के लिए लोगों का तहख़ानों में और ज़मींदोज़ मुक़ामों में

दौड़ना, ये सब मामूली बातें हो गईं। शहरी आबादियों पर इस तरह बम गिराये जाने से इंग्लैण्ड के लोगों को बहुत ग़ुस्सा आया। उनका ग़ुस्सा वाजिब भी था, क्योंकि यह बड़ी भयानक चीज़ है। लेकिन जब अंग्रेज़ी हवाई जहाज़ भारत के उत्तर-पश्चिम सरहदी इलाक़े में या इराक़ में बम गिराते हैं, और खासकर उन शैतानी आविष्कारों यानी 'देर से फटनेवाले बमों' को गिराते हैं, तो इंग्लैण्ड में ज़रा भी ग़ुस्सा नहीं पैदा होता। यह पुलिस कार्रवाई कहलाती है, और उस वक़्त भी की जाती है, जब यह कहा जाता है कि कोई लड़ाई नहीं है।

बस, यों महीने-दर-महीने युद्ध चलता रहा और उसमें मनुष्यों की जानें इस तरह होम होने लगीं जैसे जंगल की आग में टीड़ी-दल भस्म होते हैं। और ज्यों-ज्यों यह जारी रहा, त्यों-त्यों ज्यादा बर्बादी ढानेवाला और वहशियाना होता गया। जर्मनों ने ज़हरीली गैस चलाई और जल्द ही दोनों पक्ष इसका इस्तेमाल करने लगे। बमबारी के लिए हवाई जहाज़ों का ज़्यादा इस्तेमाल होने लगा और फिर सबसे पहले ब्रिटिश पक्ष की तरफ़ से, 'टैंकों' का चलन हुआ। ये बड़े भारी-भरकम मशीनी दानव होते हैं, जो कीड़ों की तरह रेंगते हुए हर चीज़ पर चढ़ जाते हैं। मोर्चों पर लाखों आदमी मौत के मुँह में चले गये और उनके पीछे उनके वतनों में स्त्रियाँ और बच्चे भुखमरी व मोहताजी की तकलीफ़ें सहने लगे। नाकेबन्दी के कारण, खासकर जर्मनी और आस्ट्रिया में, भयंकर भुखमरी फैल गई। ये चीज़ें लोगों के धीरज की परीक्षा बन गईं। इस कठिन परीक्षा में कौन-सा पक्ष दूसरे से ज्यादा दिनों तक टिका रहेगा? क्या दोनों में से कोई एक फ़ौज दूसरी को थका मारेगी? क्या जर्मनी की नाकाबन्दी उसकी हिम्मत तोड़ देगी? या क्या जर्मनों का पनडुब्बी-हमला इंग्लैण्ड को भूखा मारकर उसके हिम्मत व औसान तोड़ देगा। हरेक देश के पीछे क़ुर्बानियों व तकलीफ़ों की मिसालों का बड़ा भारी लेखा था। लोग ताज्जुब करते थे कि क्या ये सब भयंकर क़ुर्बानियाँ व तकलीफ़ें फ़िज़ूल के लिए हुई थीं? क्या हम अपने शहीदों को भूल जायँ और दुश्मन के आगे घुटने टेक दें? युद्ध से पहले के दिन मानो दूर अतीत में चले गये थे, यहाँतक कि लोग युद्ध के कारणों को भी भूल गये थे; नर-नारियों के दिमाग़ों को टोंचनेवाली सिर्फ़ एक चीज़ रह गई थी—बदले व जीत की हवस।

उन शहीदों की पुकार बड़ी भयंकर होती है, जो अपने प्यारे उद्देश्य के लिए अपने जीवन निछावर कर देते हैं। ऐसा कौन ज़िन्दा-दिल नर या नारी है, जो इसके असर से बच जाय? युद्ध के इन आखिरी वर्षों में सब तरफ़ अँधेरा छा रहा था और युद्ध में फँसे देशों के हरेक घर में रंज था, और एक थकावट थी और लोगों की आँखों का पर्दा हट गया था; लेकिन मशाल दिखाने के सिवा कोई कर ही क्या सकता था? एक ब्रिटिश अफ़सर मेजर मैक्क्रे की लिखी हुई यह रुलाने-

वाली कविता पढ़ो और कल्पना करने की कोशिश करो कि उसकी जाति के जिन नर-नारियों ने इसे युद्ध के उन अँधेरे व उदासीभरे दिनों में पढ़ा होगा, उनके दिलों पर कैसी बीती होगी। और यह भी याद रक्खो कि इसी क़िस्म की कविताएँ जुदा-जुदा देशों में और बहुत-सी भाषाओं में लिखी गई थीं। इस कविता का हिन्दी-अनुवाद यह है:

हम हैं शहीद।
कुछ दिन हुए हम ज़िन्दा थे,
अनुभव उषा का करते थे, देखते थे लाली सूर्यास्त की
करते थे प्रेम और प्रेम हम पाते थे, और अब हम पड़े
फ्लैन्दर्ज़ रणक्षेत्र में।

शत्रु के साथ उस झगड़े को हमारे लेना उठा तुम;
कम्पित करों से तुम्हें फेंकते हैं हम
यह मशाल; ऊंची उठा इसे रखना काम है तुम्हारा।
यदि तुम करोगे दग़ा हम मरनेवालों से,
शान्ति नहीं हमको मिलेगी, फिर चाहे उगें पोस्ते के फूल
फ्लैन्दर्ज़ रणक्षेत्र में।

१९१६ ई० के आख़िरी दिनों में मित्र-राष्ट्रों का पलड़ा भारी मालूम देने लगा। उनके नये टैंकों ने पश्चिमी मोर्चे पर पहल उनके हाथ में दे दी थी; इंग्लैण्ड पर छापे मारनेवाले ज़ैपलिन हवा-जहाज़ों पर आफ़तें आ रही थीं; जर्मन पन-डुब्बियों के बावजूद तटस्थ जहाज़ों के ज़रिये काफ़ी भोजन-सामग्री इंग्लैण्ड पहुँच पा रही थी। मई, १९१६ ई० में उत्तरी सागर में एक समुद्री जंग (जटलैण्ड की जंग) हुई जिसमें कुल मिलाकर अंग्रेज़ों की जीत रही थी। इसी बीच जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया-जर्मनी के लोगों को भुखमरी के आसार नज़र आने लगे थे। ऐसा लगता था कि मध्य यूरोपीय शक्तियों के लिए बुरा वक़्त आ गया, इसलिए चट-पट कार्रवाई की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। जर्मनी ने तो मित्र-राष्ट्रों को टटोलने के लिए सुलह के कुछ इशारे भी भेजे, लेकिन उन्होंने इनको बिलकुल नामंज़ूर कर दिया। मित्र-राष्ट्रों की सरकारें कई देशों के आपसी बटवारे के लिए गुप्त सन्धियों के ज़रिये इतनी ज्यादा बँधी हुई थीं कि वे पूरी जीत से कम किसी भी चीज़ से राज़ी नहीं हो सकती थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने भी सुलह कराने के कुछ यत्न किये थे, पर वह सफल नहीं हुए।

इसपर जर्मन नेताओं ने अपना पनडुब्बी-युद्ध घमसान बनाने का फ़ैसला किया ताकि इंग्लैण्ड भूखा मरकर घुटने टेक दे। जनवरी, १९१७ ई० में उन्होंने ऐलान किया कि वे कुछ समुद्रों में तटस्थ जहाज़ों को भी डुबो देंगे। इरादा यह था

कि ये तटस्थ जहाज़ इंग्लैण्ड को खाने की चीज़ें न ले जा सकें। इस ऐलान ने अमेरिका को बहुत नाराज़ कर दिया; वह अपने जहाज़ों का इस प्रकार डुबोया जाना बर्दाश्त नहीं कर सकता था। इससे उसका युद्ध में शामिल होना लाज़िमी हो गया। जब जर्मन सरकार ने बिना रोक-टोक सब जहाज़ों को डुबोने के बारे में तय किया तो उसे यह बात ज़रूर मालूम रही होगी। शायद उन्होंने यह महसूस किया हो कि उनके लिए कोई चारा बाक़ी नहीं रहा और यह ख़तरा उठाना ज़रूरी था, या उन्होंने यह समझा हो कि वैसे भी अमेरिकी साहूकार मित्र-राष्ट्रों को काफ़ी मदद दे रहे थे। जो भी हो, संयुक्त राज्य अमेरिका ने अप्रैल, १९१७ ई० में युद्ध छेड़ने की घोषणा कर दी। ऐसे मौक़े पर, जबकि दूसरे सब राष्ट्र थके-माँदे हो रहे थे, अमेरिका अपने अपार साधनों और अपनी ताज़ा हालत को लेकर युद्ध में उतरा तो इसमें ज़रा भी शक नहीं रहा कि जर्मन शक्तियाँ हरा दी जायँगी।

लेकिन अमेरिका के युद्ध में शामिल होने से पहले ही बहुत ज़रूरी महत्व की एक और घटना घट चुकी थी। १५ मार्च, १९१७ ई० को पहली रूसी क्रान्ति के नतीजे से ज़ार को गद्दी छोड़नी पड़ गई थी। इस क्रान्ति के बारे में मैं तुम्हें अलग लिखूंगा। अभी तो मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि इस क्रान्ति के सबब से युद्ध के दौर में ज़बर्दस्त फ़र्क़ पड़ गया। यह साफ़ हो गया कि रूस अब अगर चाहता तो भी जर्मन शक्तियों के ख़िलाफ़ ज्यादा नहीं लड़ सकता था। इसका मतलब यह हुआ कि जर्मनी पूर्वी मोर्चे की चिन्ता से बिलकुल बरी हो गया। अब वह अपनी तमाम या ज्यादातर पूर्वी सेनाओं को वहाँ से हटाकर पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हें फ़्रान्सीसियों और अंग्रेज़ों पर धावा मारने के काम में ला सकता था। अचानक ही स्थिति जर्मनी के हक़ में अच्छी बन गई। अगर रूसी क्रान्ति होने के छै या सात सप्ताह पहले उसे यह बात मालूम हो गई होती तो कितना फ़र्क़ हो गया होता। इसका मतलब शायद यह होता कि वह अपने पनडुब्बी-जंग को ज़ोरदार न बनाता और शायद अमेरिका तटस्थ बना रहता। रूस के युद्ध से बाहर निकल जाने और अमेरिका के तटस्थ रहने से यह बहुत ज्यादा सम्भव था कि अंग्रेज़ी व फ़्रान्सीसी सेनाओं को जर्मनी कुचल डालता। लेकिन इस हालत में भी पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी की ताक़त बढ़ गई, और उधर जर्मन पनडुब्बियों के ज़रिये मित्र-राष्ट्रों के व तटस्थ देशों के जहाज़ों का ज़बर्दस्त नाश होने लगा।

रूसी क्रान्ति ने मानो जर्मनी को मदद पहुँचाई। लेकिन फिर भी यह अन्दरूनी कमज़ोरी का एक बड़ा भारी सबब बन गई। पहली क्रान्ति को आठ महीने भी न बीते थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई, जिसके नतीजे से सोवियतों और बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आ गई, जिनका नारा था शान्ति। उन्होंने तमाम जंगी देशों के मज़दूरों और सिपाहियों को पुकारा और शान्ति के लिए अपील की।

उन्होंने बतलाया कि यह पूँजीपतियों का युद्ध था और यह कि मज़दूरों को चाहिए कि वे साम्राज्यशाही इरादों की ख़ातिर अपने-आपको तोपों का निवाला न बनने दें। इनमें से कुछ आवाज़ें मोर्चों पर लड़नेवाले दूसरे राष्ट्रों के सिपाहियों के कानों में पहुँची और उनके दिलों पर बहुत असर हुआ। फ़ान्सीसी सेना में ग़दर हुआ, जिसे अधिकारी लोग किसी तरह सिर्फ़ दबा ही पाये। जर्मन सिपाहियों के दिलों पर तो और भी ज़्यादा असर हुआ क्योंकि कितनी ही पलटनों ने तो क्रान्ति के बाद रूसी फ़ौजों से सचमुच भाईचारा क़ायम कर लिया था। जब इन पलटनों की बदली पश्चिमी मोर्चे पर की गई, तो वे यह सन्देश अपने साथ ले गये और इसे दूसरी पलटनों में फैलाने लगे। जर्मनी युद्ध से थक चुका था और उसकी हिम्मत बिलकुल टूट गई थी, इसलिए रूस के ये बीज ऐसी ज़मीन पर पड़े, जो उनके लिए पहले ही तैयार थी। इस तरह रूसी क्रान्ति ने जर्मनी को भीतर से कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मन फ़ौजी नेता इन अप-शकुनों को देख ही नहीं रहे थे और मार्च, १९१८ ई० में उन्होंने सोवियत रूस पर एक दबोचनेवाली और नीचा दिखानेवाली सुलह ज़बर्दस्ती थोप दी। सोवियतों को इसे इसलिए मानना पड़ा कि उनके सामने दूसरा कोई चारा नहीं था और वे किसी भी क़ीमत पर सुलह चाहते थे। मार्च, १९१८ ई० में ही जर्मनों ने पश्चिमी मोर्चे पर आख़िरी बार ज़बर्दस्त ज़ोर लगाया। जर्मनों ने अंग्रेज़ी-फ़ान्सीसी क़तार तोड़ डाली और इस धावे में सेनाओं का नाश करते हुए आगे बढ़ गये और फिर उसी मार्न नदी तक जा पहुँचे जहाँ से साढ़े तीन वर्ष पहले उन्हें पीछे ढकेल दिया गया था। यह ज़बर्दस्त कोशिश थी लेकिन यह आख़िरी साबित हुई और जर्मनी बिलकुल पस्त हो गया। इसी बीच अतलान्तिक महासागर पार करके अमेरिकी सेनाएँ आ गईं, और पिछले कड़वे तजुर्बे से नसीहत लेकर अब पश्चिमी मोर्चे पर सारे मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ—ब्रिटिश, अमेरिकी, फ़ान्सीसी—एक ही आला कमान के नीचे रख दी गईं, ताकि सबके बीच पूरा-पूरा सहयोग हो सके और मिलकर ज़ोर लगाया जा सके। पश्चिम में सारी मित्र-राष्ट्री सेना का महा-सेनापति फ़ान्स के मार्शल फ़ॉश को बनाया गया। १९१८ ई० के बीच तक हवा का रुख़ साफ़ बदल गया; पहल और हमला करने की हैसियत, दोनों मित्र-राष्ट्रों के हाथ में आ गई और ये जर्मनों को पीछे ढकेलते हुए आगे बढ़ने लगे। अक्तूबर तक युद्ध का अन्त नज़दीक नज़र आने लगा और युद्ध बन्द होने की चर्चा होने लगी।

४ नवम्बर को कील में जर्मन जहाज़ी फ़ौज में बग़ावत हो गई और पाँच दिन बाद बर्लिन में जर्मन गणराज्य की घोषणा कर दी गई। उसी दिन, यानी ९ नवम्बर को, कैसर विल्हैम द्वितीय बड़े भद्दे ढंग से और बेइज़्ज़ती से जर्मनी

छोड़कर हालैण्ड भाग गया और इसके साथ ही हॉयनत्सालर्न घराने का अन्त हो गया। चीन के मंचुओं की तरह "वे शेर की दहाड़ की तरह दाखिल हुए थे और साँप की पूँछ की तरह ग़ायब हो गये।"

११ नवम्बर, १९१८ ई० को युद्ध रोकने के सुलहनामे पर दस्तख़त हो गये और युद्ध का अन्त हो गया। इस सुलहनामे का आधार वे "चौदह शर्तें" थीं, जो अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने तैयार की थीं। ये शर्तें ज्यादातर इन उसूलों को ध्यान में रखकर बनाई गई थीं: युद्ध में शरीक छोटे-छोटे राष्ट्रों के लिए आत्म-निर्णय, निरस्त्रीकरण (हथियार-बन्दी), गुप्त कूटनीति से बचना, सब शक्तियाँ रूस की सहायता करें और एक राष्ट्र-संघ[1]। आगे चलकर हम देखेंगे कि विजेताओं ने इन चौदह शर्तों में से कितनी को आसानी से ताक में उठाकर रख दिया।

युद्ध ख़त्म हो गया। लेकिन इंग्लैण्ड के जंगी बेड़े ने जर्मनी की नाकाबन्दी जारी रक्खी, और भूखे मरते जर्मन स्त्रियों व बच्चों के लिए भोजन-सामग्री नहीं पहुँचने दी। छोटे-छोटे बच्चों तक को सज़ा देने की नीयत का और नफ़रत का यह हैरत पैदा करनेवाला नंगा रूप था, और इंग्लैण्ड के नामदार राजनीतिज्ञों ने, जन-नेताओं ने, बड़े-बड़े अख़बारों ने और उदारदली कहलानेवाले साप्ताहिकों तक ने, इसका समर्थन किया। देखा जाय तो उस समय इंग्लैण्ड का प्रधान-मन्त्री लॉयड जॉर्ज उदारदली था। युद्ध के सवा चार वर्षों का लेखा बेरोक हैवानियतों व सख़्त बेरहमियों से भरा हुआ है। लेकिन सुलह के बाद जर्मनी की नाकाबन्दी जारी रखना सरासर जल्लादी हैवानियत में शायद सबसे ज्यादा बढ़ा-चढ़ा है। युद्ध ख़त्म हो गया था, लेकिन फिर भी एक पूरा राष्ट्र भूखों मर रहा था और उसके बच्चे भूख की भयंकर तकलीफ़ें उठा रहे थे और भोजन-सामग्री जान-बूझकर और ज़बर्दस्ती उन्हें नहीं पहुँचने दी जाती थी। युद्ध हमारे दिमाग़ों को कितना फेर देता है, और उन्हें बावली नफ़रत से कितना भर देता है! जर्मनी के बूढ़े चैन्सलर बैथमान हॉलवैग ने कहा था: "हमारी सन्तानों पर और हमारी सन्तानों की सन्तानों पर उस नाकाबन्दी की छाप बनी रहेगी, जो इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्ती हमारे ख़िलाफ़ की थी, और जिसकी छनी हुई बेरहमी शैतानियत से किसी तरह कम नहीं है।"

एक तरफ़ तो बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और ऊँची कुर्सियों पर बैठे दूसरे लोग इस नाकाबन्दी का समर्थन कर रहे थे, लेकिन दूसरी तरफ़ बेचारा अंग्रेज़ सिपाही, जिसने लड़ाई की मुसीबतें झेली थीं, इस दृश्य को बर्दाश्त नहीं कर सकता था। सुलह के बाद राइन प्रदेश के कोलोन नगर में एक ब्रिटिश सेना डाल दी गई थी।

---

[1] League of Nations

इस सेना की कमानवाले अंग्रेज़ सेनापति को एक तार प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज को भेजना पड़ा था, जिसमें बतलाया गया था कि "जर्मन स्त्रियों और बच्चों के कष्टों को देखकर ब्रिटिश सेना पर कितना बुरा असर पड़ रहा था।" सुलह के बाद सात महीने से ऊपर इंग्लैण्ड ने जर्मनी की यह नाकाबन्दी जारी रक्खी।

युद्ध के लम्बे दौर ने युद्ध में फँसे देशों को हैवान बना दिया था। इसने बहुत-से लोगों की नेकी-बदी की भावना मिटा दी थी, और कितने ही अच्छे-भले आदमियों को भी पापियों जैसा बना दिया था। लोग मारकाट के, और सच्ची बातों की जान बूझकर तोड़-मरोड़ के, आदी हो गये थे, और उनके दिलों में नफ़रत और बदले की भावना भर गई थी।

इस युद्ध का गोशवारा क्या था? आज तक कोई नहीं जानता; अभी तक तो वह तैयार ही किया जा रहा है! मैं यहाँ कुछ आँकड़े दूँगा, जिनसे तुम यह समझ सको कि आजकल के युद्ध का क्या मतलब होता है।

युद्ध में मरनेवालों और घायलों की कुल संख्या का हिसाब नीचे लिखे मुताबिक़ लगाया गया है:

मारे गये सिपाही	१,००,००,०००
मरे हुए माने गये सिपाही	३०,००,०००
मारे गये असैनिक	१,३०,००,०००
घायल	२,००,००,०००
क़ैदी	३०,००,०००
युद्ध में अनाथ हुए	९०,००,०००
युद्ध में विधवाएँ हुईं	५०,००,०००
शरणार्थी	१,००,००,०००

इन बेशुमार आँकड़ों को देखो और इनके भीतर इन्सानियत की आहों का खयाल करने की कोशिश करो। इनका जोड़ लगाओ: सिर्फ़ मरनेवालों और घायलों की ही संख्या ४,६०,००,००० होती है!

और इसमें नक़द कितना खर्च हुआ? इसका हिसाब अभीतक लगाया जा रहा है! अमेरिकावालों ने मित्रराष्ट्र-पक्ष का कुल खर्च ४०,९९,९६,००,००० पौण्ड (क़रीब पौने छै खरब रुपये) कूता है, और जर्मन पक्ष का खर्च १५,१२,२३,००,००० पौण्ड (क़रीब दो खरब रुपये)। कुल मीज़ान छप्पन अरब पौण्ड से ऊपर! ये आँकड़े हमारी समझ में पूरी तरह नहीं आ सकते क्योंकि ये हमारी रोज़ाना जिन्दगी के हिसाब से बिलकुल परे हैं। ये मानो हमें खगोल विज्ञान के आँकड़ों की याद दिलाते हैं, जैसे सूर्य की या तारों की दूरी। इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं कि जो राष्ट्र इस युद्ध में शामिल थे, हारनेवाले व

जीतनेवाले दोनों ही, वे युद्ध में किये गए खर्च से पैदा होनेवाले नतीजों में अभी तक बुरी तरह फँसे हुए हैं।

"युद्धों का अन्त करने के लिए युद्ध", और "संसार में लोकतन्त्र को निरापद बनाने के लिए युद्ध", और "छोटे-छोटे राष्ट्रों की आज़ादी क़ायम रखने के लिए युद्ध" और "आत्म-निर्णय" के लिए यद्ध, और आमतौर पर आज़ादी व ऊँचे आदर्शों के लिए युद्ध, ख़त्म हो गया। और इसमें जीत का सेहरा इंग्लैण्ड, फ़ान्स, अमेरिका, इटली और कई छोटे-छोटे पिछलग्गुओं के सिर बँधा (रूस अलबत्ता इनमें शामिल नहीं था)। इन ऊँचे व नेक आदर्शों को अमली जामा कैसे पहनाया गया, यह हम आगे चलकर देखेंगे। अभी तो हम अंग्रेज कवि साउदी की कविता[1] की उन लाइनों को याद करलें जो उसने एक पुरानी जीत के बारे में लिखी थीं। इनका हिन्दी-अनुवाद यह है:

"और सब ही ने सराहा ड्यूक को
जिसने जीती थी लड़ाई यह बड़ी।"
"पर हुआ क्या लाभ इससे अन्त में?"
नन्हें पीटर किन ने बस पूछा यही
बोला वह—"यह तो बता सकता न मैं,
पर विजय वह बहुत ही मशहूर थी।"

: १५० :

रूस में जारशाही की आखिरी साँस

७ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध के दौर के बयान में मैंने रूसी क्रान्ति का और युद्ध पर उसके असर का ज़िक्र किया था। युद्ध पर इस असर के अलावा यह क्रान्ति खुद भी एक ज़बर्दस्त घटना थी, जो संसार के इतिहास में बेजोड़ है। हालाँकि अपने ढंग की यह पहली ही क्रान्ति थी, मगर अब यह बहुत दिनों तक अपने नमूने की अकेली चीज नहीं रह सकती क्योंकि यह दूसरे देशों के लिए एक चुनौती बन गई है और संसार-भर के क्रान्तिकारियों के लिए मिसाल बन गई है। इसलिए यह बारीक़ी से अध्ययन करने लायक़ है। इसमें शक नहीं कि यह युद्ध का सबसे बड़ा नतीजा थी; फिर भी युद्ध में कूदनेवाली किसी भी सरकार या राजनीतिज्ञ को न तो इसका ज़रा भी गुमान था और न वे इसे ज़रा भी चाहते थे। या यह कहना ज्यादा सही होगा कि इसका जन्म रूस की उन मौजूदा ऐतिहासिक व आर्थिक हालतों से हुआ, जो

[1] Southey—'Battle of Blenheim'.

युद्ध से होनेवाली अपार तबाहियों व मुसीबतों के कारण तेज़ी से चरम सीमा पर पहुँच गई थीं, और जिनसे लेनिन सरीखे आला-दिमाग़ और क्रान्ति के उस्ताद ने फ़ायदा उठाया।

असल में तो १९१७ ई० में रूस में क्रान्तियाँ हुईं; एक मार्च में और दूसरी नवम्बर में। या इस पूरे काल को क्रान्ति की एक लगातार धारा माना जा सकता है, जिसमें दो बार बाढ़ आई।

रूस के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने १९०५ ई० की क्रान्ति का ज़िक्र किया है, जो इसी तरह युद्ध और पराजय के वक़्त में पैदा हुई थी। यह हैवानी ज़ुल्मों से दबा दी गई थी और ज़ार की हुकूमत, सब उदारवादी विचारवालों का खुफ़िया विभाग के ज़रिये पता लगा कर उन्हें कुचलती हुई, बेरोक निरंकुशता की अपनी रफ़्तार पर चलती रही। मार्क्सवादियों को, और ख़ास कर बोलशेविकों को, कुचल दिया गया और उनके सारे ख़ास-ख़ास पुरुष व स्त्रियाँ या तो साइबेरिया की ताज़ीरी बस्तियों में थे या देश छोड़कर विदेशों में चले गये थे। लेकिन विदेश-वासी इन मुट्ठीभर लोगों ने भी लेनिन की रहनुमाई में अपना प्रचार और अध्ययन जारी रक्खे। ये सब-के-सब पक्के मार्क्सवादी थे, लेकिन मार्क्स का सिद्धान्त इंग्लैण्ड या जर्मनी जैसे खूब ज्यादा उद्योगी देशों के लिए ही सोच कर निकाला गया था। रूस अभीतक मध्यकालीन और खेतिहर देश था; उसके बड़े शहरों में उद्योगों की सिर्फ़ शुरुआत थी। इसलिए लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातों को इसी रूस के मुताबिक़ ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत ज्यादा लिखा और रूसी निर्वासित लोग आपस में बहस-मुबाहसे किया करते थे और इस तरह अपने-आपको क्रान्ति के ख़यालों में मज़बूत बनाते थे। लेनिन यह मानता था कि कोई काम हो, वह माहिरों और सिखाये हुए लोगों के ज़रिये किया जाना चाहिए, केवल जोशीले दीवानों के ज़रिये नहीं। अगर क्रान्ति की कोशिश की जानेवाली थी, तो लेनिन की राय थी कि लोगों को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी ज़रूरी था, ताकि जब कार्रवाई का वक़्त आये तो वे साफ़ तौर से सोच सकें कि उन्हें क्या करना है। इसलिए, १९०५ ई० के दमन के बाद के अँधियारे वर्षों को, लेनिन और उसके साथियों ने अपने को आयन्दा कार्रवाई के लिए तैयार करने में लगाया।

१९१४ ई० में ही रूस का शहरी मज़दूर-वर्ग चेतने लगा था और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत-सी राजनीतिक हड़तालें हुईं। तब युद्ध शुरू हो गया और इसने लोगों का सारा ध्यान खींच लिया और सबसे ज्यादा तरक्की-पसन्द मज़दूरों को सिपाही बनाकर मोर्चों पर भेज दिया गया। लेनिन और उसकी

जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (ज़्यादातर नेता रूस से निर्वासित थे)। दूसरे देशों के समाजवादियों की तरह वे इसकी धार में बह नहीं गये। उन्होंने इसे पूँजीपतियों का युद्ध बतलाया, जिससे मज़दूर-वर्ग का कोई सरोकार नहीं था; अगर था तो सिर्फ़ उसी हद तक जहाँतक कि वे अपनी आज़ादी हासिल करने के लिए उसका फ़ायदा उठा सकें।

लड़ाइयों में रूसी सेना को ज़बर्दस्त नुक़सान उठाने पड़े; शायद युद्ध में उलझी हुई सब सेनाओं से ज़्यादा। एक तो वैसे ही यह माना जाता है कि फ़ौजी लोग आमतौर पर ज़्यादा चतुर नहीं हुआ करते, फिर रूसी सेनापति तो बिलकुल ही निकम्मे थे। रूसी सिपाही, जिनके पास न तो अच्छे और पूरे हथियार थे, और अक्सर जिन्हें न गोली-बारूद मिलती थी और न पीछे से सहायता, लाखों की संख्या में दुश्मन के आगे धकेल दिये जाते थे और इस तरह मौत के मुँह में झोंक दिये जाते थे। इसी बीच पैत्रोग्राद में, जो पहले सेण्ट पीटर्सबर्ग था, व दूसरे बड़े शहरों में, ज़बर्दस्त मुनाफ़ाख़ोरी चल रही थी और सट्टेबाज मालामाल बन रहे थे। ये 'देश-भक्त' सट्टेबाज़ और मुनाफ़ाखोर इसीलिए ज़ोर-ज़ोर से माँग करते थे कि युद्ध अन्त तक लड़ा जाय। इसमें शक नहीं कि अगर युद्ध सदा चलता रहता तो इनके मन की मुराद पूरी हो जाती! लेकिन सिपाही और मज़दूर और किसान-वर्ग (जो सिपाही देता था) पस्त हो गये थे, और भूखों मर रहे थे और बेचैनी से भर रहे थे।

ज़ार निकोलस बड़ा ही मूर्ख आदमी था, जो अपनी पत्नी ज़ारीना के बहुत ज़्यादा असर में था, और यह भी उतनी ही मूर्ख थी पर उससे ज़्यादा हठीली थी। इन दोनों ने अपने चारों तरफ़ लफ़ंगों और मूर्खों को जमा कर रक्खा था और किसीकी मजाल नहीं थी कि इनकी बुराई करे। मामला यहाँतक पहुँचा कि ग्रेगरी रासपुतिन नामक एक गुण्डा ज़ारीना का ख़ास मर्ज़ीदान बन गया और ज़ारीना के ज़रिये से ज़ार का भी (रासपुतिन का अर्थ है 'गन्दा कुत्ता')। रासपुतिन एक ग़रीब किसान था जो घोड़ों की चोरी के मामले में झमेले में पड़ गया था। इसने पवित्रता का बाना पहनने का, और फ़क़ीरी का फ़ायदेमन्द पेशा इख़्तियार करने का फ़ैसला किया। भारत की तरह रूस में भी पैसा कमाने का यह आसान तरीक़ा था। उसने अपने बाल बढ़ाने शुरू किये और बालों के साथ उसकी शोहरत भी बढ़ी, यहाँतक कि वह शाही दरबार में जा पहुँचा। ज़ार और ज़ारीना का इकलौता पुत्र जो ज़ारेवित्ज़ (युवराज) कहलाता था, कुछ बीमार रहता था और रासपुतिन ने किसी तरह ज़ारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चंगा कर देगा। बस, उसकी क़िस्मत खुल गई और कुछ ही दिनों में वह ज़ार और ज़ारीना पर हावी हो गया और ऊँची-से-ऊँची नौकरियाँ उसीकी

सलाह पर दी जाने लगीं। वह बड़ी बदनाम ज़िन्दगी बसर करता था और भारी-भारी रिश्वतें लेता था, लेकिन फिर भी उसने वर्षों तक अपना दबदबा क़ायम रक्खा। इससे सबके दिलों में नफ़रत पैदा हो गई। यहाँतक कि उदारदली और अमीर-वर्ग भी बड़बड़ाने लगे और राजमहल की क्रान्ति की—यानी ज़ार को ज़बर्दस्ती बदल डालने की—चर्चा चलने लगी। इसी बीच ज़ार निकोलस अपनी सेना का सिपहसालार बन गया और हर चीज़ को चौपट करने लगा। १९१६ ई० का साल ख़त्म होने से कुछ दिन पहले ज़ार के घराने के एक व्यक्ति ने रासपुतिन की हत्या कर डाली। उसे भोजन के लिए बुलाया गया और कहा गया कि अपनेको गोली मार ले; लेकिन जब उसने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे गोली मार दी गई। इसकी हत्या का लोगों ने एक बला से छुटकारा मानकर स्वागत किया, लेकिन इसके नतीजे से ज़ार की खुफ़िया पुलिस का अत्याचार और भी बढ़ गया।

संकट दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। अन्न का अकाल पड़ गया और पैत्रोग्राद में खाने की चीज़ों के लिए दंगे हो गये। और फिर, मार्च के शुरू में, मज़दूरों की बहुत दिनों की तड़प में से अचानक और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगाकर १२ तारीख तक के पाँच दिनों में इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई राजमहल का मामला नहीं था; न यह कोई संगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी योजना चोटी के नेताओं ने होशियारी से बनाई हो। यह तो मानो नीचे से उठी थी, सबसे ज्यादा सताये हुए मज़दूरों में से उठी थी, और बिना किसी ज़ाहिरा योजना या रहनुमाई के अन्धे की तरह टटोलती हुई आगे बढ़ी थी। मुक़ामी बोलशेविकों-समेत सारे क्रान्तिकारी दल भौंचक रह गयेऔर यह नहीं सोच सके कि क्या रास्ता बतायें। जनता ने खुद ही पहले क़दम उठाया और जिस घड़ी उन्होंने पैत्रोग्राद में पड़े हुए सिपाहियों को अपनी तरफ़ मिला लिया, उन्हें विजय हासिल हो गई। इन क्रान्तिकारी जनसमूहों को तबाही पर उतारू बिखरी हुई भीड़ समझने की ग़लती नहीं करनी चाहिए, जैसे कि पहले अक्सर किसानों के दंगे हुए थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्व की बात यह थी कि इसमें, इतिहास में पहली बार, कारखानों के मज़दूर-वर्ग ने, जिसे 'सर्वहारा-वर्ग'[1] कहा गया है, आगे क़दम बढ़ाया। और हालाँकि इन मज़दूरों के साथ उस समय कोई ऊँचे दर्जे के नेता नहीं थे (लेनिन और दूसरे नेता या तो क़ैदी थे या निर्वासित), फिर भी इनमें लेनिन की जमात के तैयार किये हुए कितने ही अनजाने कार्यकर्त्ता थे। बीसियों कारखानों के इन अनजाने मज़दूरों ने सारे आन्दोलन को सहारा दिया और उसे निश्चित धाराओं में चलाया।

[1] Proletariat.

यहाँ हम उद्योगी जन-समूहों का वह रूप देखते हैं, जो असली कार्रवाई में सामने आया। ऐसा और कहीं भी नहीं हुआ। रूस तो बहुत ही ज्यादा खेतिहर देश था और यह खेती भी मध्यकालीन ढंग पर चलाई जाती थी। कुल मिलाकर सारे देश में आधुनिक उद्योग नहीं के बराबर थे; जो थोड़े-बहुत थे, वे भी कुछेक नगरों में जमे हुए थे। इन कारखानों में से बहुत-से तो पेत्रोग्राद में थे, इसलिए यहाँ औद्योगिक मज़दूरों की बहुत बड़ी आबादी थी। मार्च की क्रान्ति पेत्रोग्राद के इन मज़दूरों का और इस नगर में पड़ी हुई पलटनों का काम थी।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई देती है। नारियाँ आगे आती हैं और कपड़े के कारखानों की मज़दूरनियाँ बाहर निकल आती हैं और बाज़ारों में प्रदर्शन करती हैं। दूसरे दिन हड़तालों का ज़ोर बढ़ जाता है; बहुत सारे मज़दूर भी बाहर निकल आते हैं; रोटी की पुकार मचाई जाती है और "निरंकुशता का नाश हो" के नारे लगाये जाते हैं। सत्ताधारी लोग प्रदर्शन करनेवाले मज़दूरों को कुचलने के लिए क़ज्ज़ाकों को भेजते हैं, जो पहले भी सदा ज़ारशाही के ख़ास पुश्ते रहे थे। क़ज्ज़ाक लोग भीड़ को धक्के मारकर तितर-बितर करते हैं, पर गोलियाँ नहीं चलाते। और मज़दूर बड़ी खुशी के साथ देखते हैं कि अपने सरकारी मुखड़ों के पीछे क़ज्ज़ाक लोग असल में उनके दोस्त हैं। फ़ौरन ही लोगों का उत्साह बढ़ जाता है और वे क़ज्ज़ाकों से भाईचारा बढ़ाने की कोशिश करते हैं। लेकिन पुलिस से नफ़रत की जाती है और उनपर पत्थर फेंके जाते हैं। तीसरे दिन, १० मार्च को, क़ज्ज़ाकों के साथ भाईचारे की भावना बढ़ती हुई नज़र आती है। यहाँतक कि यह अफ़वाह फैल जाती है कि लोगों पर गोलियाँ चलानेवाली पुलिस पर क़ज्ज़ाकों ने गोलियाँ चलाईं। पुलिस बाज़ारों से हट जाती है। मज़दूर-नारियाँ सिपाहियों के पास जाती हैं और उनसे दर्दभरी अपील करती हैं; सिपाहियों की संगीनें ऊपर कर ली जाती हैं।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मज़दूर लोग शहर के बीच में जमा होते हैं और पुलिस उनपर छिपी जगहों से गोलियाँ चलाती है। कुछ फ़ौजी सिपाही भी लोगों पर गोलियाँ चलाते हैं; इस पर लोग उस पलटन के बारकों में जाकर सख़्त शिकायत करते हैं। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने ग़ैर-कमीशन अफ़सरों की मातहती में जनता की रक्षा के लिए निकल पड़ती है; वह पुलिस पर गोलियाँ चलाती है। पलटन को गिरफ़्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चुका होता है। १२ मार्च को विद्रोह दूसरी पलटनों में फैल जाता है और वे अपनी रायफ़लें और मशीन-गनें लेकर निकल पड़ती हैं। बाज़ारों में ख़ूब गोलियाँ चलती हैं; लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किसपर गोलियाँ चला रहा है। फिर सिपाही और मज़दूर जाकर कुछ मन्त्रियों को (बाक़ी भाग

चुके हैं), पुलिसवालों को और ख़ुफ़िया विभाग के आदमियों को गिरफ़्तार कर लेते हैं। वे जेलों में पड़े हुए पुराने राजनीतिक क़ैदियों को रिहा कर देते हैं।

पेत्रोग्राद में क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। जल्द ही मास्को ने भी यही रास्ता अपनाया। गाँवों के लोग इन घटनाओं को ग़ौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान-वर्ग ने नई व्यवस्था को मान लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो महत्व के दो ही सवाल थे, धरती के मालिक बनना और बेखटके रहना।

ज़ार का क्या हुआ ? इन घटना-भरे दिनों में उसपर क्या बीत रही थी ? वह पेत्रोग्राद में नहीं था; वहाँ से बहुत दूर एक छोटे-से नगर में था, जहाँ से, ऐसा समझा जाता था कि वह सिपहसालार की हैसियत से सेनाओं की बागडोर सम्हाल रहा था। लेकिन उसका वक़्त आ गया था और एक पूरी तरह पके फल की तरह वह बिना किसी का ध्यान खींचे टूट कर गिर पड़ा। ज़बर्दस्त ज़ार, सारे रूसों का महानिरंकुश शासक, जिसके आगे लाखों थर्राते थे, 'पवित्र रूस' का 'नन्हा पिता', 'इतिहास के कूड़ा-दान' में ग़ायब हो गया। यह अजीब बात है कि जब बड़े ढाँचों का काम पूरा हो जाता है और उनकी ज़िन्दगी पूरी हो जाती है, तो वे किस तरह ढह जाते हैं। जब ज़ार ने पेत्रोग्राद में मज़दूरों की हड़तालों का और दंगों का हाल सुना तो उसने फ़ौजी क़ानून लागू करने का हुक्म निकाला। कमान करने-वाले सेनापति ने इसका रस्मी तौरपर ऐलान कर दिया, पर इस ऐलान की न तो शहर में मुनादी की गई और न इसे कहीं चिपकाया गया, क्योंकि इस काम को करने-वाला ही कोई न मिला! सरकारी ढाँचा टूक-टूक हो चुका था। ज़ार ने अब भी इन सब घटनाओं से आँखें मूँदकर पेत्रोग्राद वापस जाना चाहा। रेल के मज़दूरों ने रास्ते में उसकी गाड़ी रोक ली। ज़ारीना ने, जो उस समय पेत्रोग्राद के बाहर की एक बस्ती में थी, ज़ार को एक तार भेजा। तारघर ने उसपर पेंसिल से यह लिखकर लौटा दिया: "पानेवाले का पता-ठिकाना नामालूम!"

मोर्चे पर लड़नेवाले सेनापतियों ने और पेत्रोग्राद में रहनेवाले उदार-दली नेताओं ने इन घटनाओं से डरकर, और इस टूट-फूट में से जो कुछ बच सके बचाने की आशा करके, ज़ार से राजगद्दी छोड़ देने की प्रार्थना की। ज़ार ने ऐसा ही किया और अपने एक रिश्तेदार को अपना उत्तराधिकारी नामज़द कर दिया। लेकिन अब कोई ज़ार नहीं होनेवाला था; रोमानॉफ़ का घराना, तीन सौ वर्षों के निरंकुश शासन के बाद, रूसी रंगमंच से सदा के लिए बिदा हो गया।

अमीर-वर्ग, ज़मींदार-वर्ग, ऊपर का मध्यम-वर्ग और उदारदली व सुधारक लोग तक भी, मज़दूर-वर्ग के इस धड़ाके को आतंक और दहशत से देख रहे थे। जब उन्होंने देखा कि जिस सेना पर वे भरोसा करते थे वह भी मज़दूरों से जा मिली, तो वे उनके सामने अपनेको बेबस महसूस करने लगे। अभीतक वे यह तय नहीं

कर पाये थे कि जीत किस पक्ष की होगी, क्योंकि सम्भव था कि ज़ार मोर्चे पर से सेना लेकर फिर प्रकट हो जाय और उसकी सहायता से बलवे को कुचल दे। इसलिए एक तरफ़ तो मज़दूरों के डर ने, दूसरी तरफ़ ज़ार के डर ने, और साथ ही अपनी चमड़ी बचाने की बेहद चिन्ता ने, इनकी दशा बहुत दुखी बना दी थी। उस वक़्त एक दूमा मौजूद थी जिसमें ज़मींदार-वर्ग और ऊपर के मध्यम-वर्ग के प्रतिनिधि थे। मज़दूर भी कुछ हद तक इसे मानते थे, लेकिन इस नाज़ुक घड़ी में आगे क़दम बढ़ाने या कुछ करने के बजाय उसके अध्यक्ष और सदस्य डर के मारे काँपते हुए बैठे रहे और यह तय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी बीच सोवियत का रूप बनने लगा। मज़दूरों के प्रतिनिधियों के अलावा सिपाहियों के प्रतिनिधि भी इसमें शामिल कर दिये गए और नई सोवियत ने बहुत बड़े तौरींद[1] राजमहल के एक बाज़ू पर क़ब्ज़ा कर लिया, जिसका कुछ भाग दूमा ने घेर रक्खा था। मज़दूरों और सिपाहियों में अपनी विजय का जोश भरा हुआ था। पर अब सवाल यह पैदा हुआ कि इस विजय का वे क्या करें? उन्होंने सत्ता हासिल कर ली थी; उसकी तामील कौन करे? उन्हें यह नहीं सूझा कि ख़ुद सोवियत ही यह काम कर सकती है: उन्होंने यह मान लिया कि मध्यम-वर्ग को ही सत्ता लेनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्ट-मण्डल पैदल ही दूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का काम सम्हाले। दूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने समझा कि ये लोग उन्हें गिरफ़्तार करने आये हैं। वे नहीं चाहते थे कि सत्ता का बोझ उनपर डाला जाय; वे इससे पैदा होनेवाले ख़तरों से डरते थे। लेकिन वे करते भी तो क्या? सोवियत शिष्ट-मण्डल ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करने में भी डर लगा। इसलिए बड़ी बे-मर्ज़ी के साथ और नतीजों से डरते हुए, दूमा की एक कमेटी ने सत्ता मंज़ूर कर ली और बाहर की दुनिया को यह मालूम पड़ा कि दूमा ही क्रान्ति को चला रही थी। कैसा यह अजीब गड़बड़-घोटाला था! अगर हम किसी कहानी में इन बातों को पढ़ें तो हमें यक़ीन नहीं हो सकता कि ऐसी बातें हो सकती हैं। लेकिन सच्ची घटनाएँ अक़्सर ख़याली क़िस्सों से भी ज़्यादा अजीब हुआ करती हैं।

दूमा की कमेटी ने काम-चलाऊ सरकार मुक़र्रर की वह बहुत ही कट्टर-पन्थी जमात थी और उसका प्रधान मन्त्री एक राजवंशी था। उसी इमारत के दूसरे बाज़ू में सोवियत की बैठकें होती थीं और यह काम-चलाऊ सरकार के कामों में हरदम टाँग अड़ाती रहती थी। लेकिन ख़ुद सोवियत भी शुरू में नर्म विचारों की थी और उसमें बोलशेविकों की संख्या मुट्ठीभर थी। इस तरह एक क़िस्म की दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार और सोवियत—और

[1] Touride Palace.

इन दोनों के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे, जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं। नई सरकार ने भूखी और युद्ध से थकी जनता को तो सिर्फ़ एक ही रास्ता बताया कि जबतक जर्मनों को परास्त न कर दिया जाय तबतक युद्ध को चालू रखना चाहिए। उन्हें ताज्जुब हो रहा था कि क्या इसी चीज़ के लिए उन्होंने क्रान्ति की मुसीबतें झेली थीं और ज़ार को निकाल बाहर किया था!

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन मौक़े पर आ पहुँचा। युद्ध के शुरू से आख़ीर तक वह स्वीज़रलैण्ड में रहा था और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे? अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी उसे अपने-अपने इलाक़ों में होकर गुज़रने नहीं देते थे, और न जर्मन व आस्ट्रियावासी ही। आख़िरकार जर्मन सरकार ख़ुद अपने ही मतलब से इस बात पर राज़ी हो गई कि वह एक बन्द रेलगाड़ी में बैठकर स्वीज़रलैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी में होकर निकल जाय। उन्हें आशा थी, और इसके लिए सबब भी ज़रूर था, कि लेनिन के रूस पहुँचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्धवादी दल कमज़ोर पड़ जायँगे, क्योंकि लेनिन युद्ध का विरोधी था और वे इसका फ़ायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह गुमनाम-सा क्रान्तिकारी अन्त में सारे यूरोप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा!

लेनिन के दिमाग़ में न तो कोई शंका थी और न धुँधलापन। उसकी तेज़ नज़रें जनता की मनोवृत्तियों को पकड़ लेती थीं; उसका सुलझा हुआ दिमाग़ सोचे-समझे हुए उसूलों को बदलती हुई हालतों में लागू कर सकता था और ढाल सकता था; उसकी अटल इच्छाशक्ति नज़दीकी नतीजों की परवाह न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकड़े रहती थी। जिस दिन वह पहुँचा उसी दिन उसने बोलशेविक दल को ज़ोर से झँझोड़ डाला, उनकी हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की निन्दा की, और जोश-भरे फ़िक़रों में उन्हें बतलाया कि उनका कर्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी जो दर्द भी पहुँचाती है और साथ ही जान भी डालती है। उसने कहा—"हम लोग पाखण्डी नहीं हैं, हमें अपना आधार सिर्फ़ जनता की चेतना को ही बनाना चाहिए। अगर अल्पमत में रहना भी ज़रूरी हो तो हम यही करेंगे। कुछ समय के लिए नेतागिरी की जगह नहीं लेना अच्छा है; हमें अल्पमत में रहने से डरना नहीं चाहिए।" बस, वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा और उनपर समझौता करने के लिए कभी राज़ी नहीं हुआ। जो क्रान्ति अभीतक नेताओं और रास्ता दिखानेवालों के बिना बहती चली जा रही थी, उसे आख़िर अपना नेता मिल गया। मौक़े ने अपने-आप नेता पैदा कर दिया था।

ये मतभेद क्या थे जो इस मंज़िल पर बोलशेविकों को मेनशेविकों व दूसरे क्रान्तिकारी धड़ों से अलग किये हुए थे ? और लेनिन के आने से पहले बोलशेविकों को किस चीज़ ने अलग कर रक्खा था ? और फिर सोवियत ने अपने हाथों में सत्ता आने के बाद भी उसे पुराने ढंगवाली और पुरातन-पन्थी डूमा को क्यों सौंप दिया था ! मैं इन सवालों की गहराई में नहीं जा सकता, लेकिन हमें इनपर थोड़ा-सा विचार ज़रूर करना चाहिए, ताकि हम १९१७ ई० में पेत्रोग्राद और रूस के हरदम बदलनेवाले नाटक को समझ सकें।

कार्ल मार्क्स का मानव-परिवर्तन और प्रगतिवाद, जो 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' कहलाता है, इस आधार पर क़ायम था कि ज्योंही पुराने समाजी रूप ज़माने से पिछड़ जाते हैं त्योंही नये रूप उनकी जगह ले लेते हैं। जैसे-जैसे मशीनी उत्पादन के तरीक़े उन्नति करते गये वैसे-वैसे समाज का आर्थिक व राजनीतिक संगठन धीरे-धीरे उनके बराबर जा पहुँचा। जिस रास्ते से यह हुआ वह था प्रभुतावान वर्ग और शोषित वर्गों के बीच का लगातार वर्ग-संघर्ष। इस तरह पश्चिमी यूरोप में पुराने सामन्ती-वर्ग का स्थान मध्यम-वर्ग ने ले लिया और अब यही वर्ग इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ़्रान्स, वग़ैरा के राजनीतिक ढाँचे को चला रहा है, और इसका स्थान आगे चलकर मज़दूर-वर्ग ले लेगा। रूस में अभीतक सामन्ती वर्ग की तूती बोलती थी और पश्चिमी यूरोप में जिस परिवर्तन ने मध्यम-वर्ग को सत्ताधारी बना दिया था, वह यहाँ अभी नहीं हुआ था। इसलिए ज़्यादातर मार्क्सवादियों का ख़याल था कि मज़दूरों के गणराज्य की आख़िरी मंज़िल पर पहुँचने से पहले रूस को इसी मध्यमवर्गी और पार्लमेण्टी मंज़िल से होकर गुज़रना होगा। उनके मतानुसार यह बीच की मंज़िल कूदकर पार नहीं की जा सकती थी। मार्च, १९१७ ई० की क्रान्ति से पहले ख़ुद लेनिन ने, मध्यमवर्गी क्रान्ति लाने के लिए, ज़ार व ज़मींदारों के खिलाफ़ किसानों के साथ सहयोग करने की (मध्यम-वर्ग का विरोध न करते हुए) बिचली नीति का प्रतिपादन किया था।

इसलिए बोलशेविक और मेनशेविक और मार्क्स के मतों में विश्वास करने-वाले तमाम लोग, अंग्रेज़ी या फ़्रान्सीसी नमूने का मध्यमवर्गी लोकतन्त्री गण-राज्य बनाने के विचार में डूबे हुए थे। मज़दूरों के अगुआ प्रतिनिधि भी समझते थे कि यही चीज़ होनेवाली है और यही सबब था कि सोवियत ने सत्ता अपने हाथों में रखने के बजाय डूमा के पास जाकर उसे सौंप दी। जैसा कि अक्सर हम सबके साथ होता है, ये लोग अपने ही कट्टर-मतों के ग़ुलाम बन गये थे और यह नहीं देख पाते थे कि नई हालत पैदा हो गई है, जो अलग नीति की, या कम-से-कम पुरानी नीति को नये साँचे में ढालने की, माँग करती है। जनता नेताओं से

बहुत ज़्यादा क्रान्तिकारी थी। सोवियत को चलानेवाले मेनशेविक तो यहाँतक कहते थे कि मज़दूर-वर्ग को अभी कोई समाजी सवाल नहीं उठाना चाहिए; उनका तुरन्त कर्त्तव्य था राजनीतिक आज़ादी हासिल करना। बोलशेविक मौक़ा देखकर चल रहे थे। लेकिन इन झिझकनेवाले और फूंककर क़दम रखनेवाले नेताओं के बावजूद मार्च की क्रान्ति सफल हो गई।

लेनिन के आते ही यह सब बदल गया। उसने फ़ौरन ही स्थिति की नब्ज़ पहचान ली और सही नेतागिरी की अद्भुत चतुराई से मार्क्स के कार्यक्रम को उसी के मुताबिक़ ढाल लिया। ग़रीब किसान-वर्ग के सहयोग से मज़दूर-वर्ग का राज क़ायम करने के लिए अब खुद पूंजीशाही के ख़िलाफ़ लड़ाई ठानी जानेवाली थी। बोलशेविकों के तीन वक़्ती नारे ये थे: (१) लोकतन्त्री गणराज्य, (२) ज़मींदारी जागीरों की ज़ब्ती, और (३) मज़दूरों से दिन में आठ घण्टे काम। इन नारों ने फ़ौरन ही किसान और मज़दूर वर्गों के लिए लड़ी जानेवाली लड़ाई में जान डाल दी। उनके लिए यह धुंधला और थोथा आदर्श नहीं रहा; वह जीवन और आशा का सवाल बन गया।

लेनिन की नीति यह थी कि बोलशेविक लोग मज़दूरों के बहुमत को अपनी तरफ़ मिला लें और इस तरह सोवियत पर क़ब्ज़ा कर लें; और फिर सोवियत कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन ले। वह फ़ौरन ही दूसरी क्रान्ति का हामी नहीं था। वह इसपर अड़ा हुआ था कि कामचलाऊ सरकार को उखाड़ फेंकने का वक़्त आने से पहले मज़दूरों को और सोवियत के बहुमत को अपनी तरफ़ कर लेना ज़रूरी है। जो लोग इस सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे, उनके लिए उसका रुख़ कठोर था; उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना ही कठोर रुख़ उसका उनके लिए था जो ठीक मौक़ा आने से पहले ही दौड़कर इस सरकार को उलट देना चाहते थे। उसने कहा "कार्रवाई की घड़ी वह मौक़ा नहीं है जब लक्ष्य से 'ज़रा दूर बायीं ओर' निशाना लगाया जाय। हम उसे महान् अपराध, संगठन का टूटना, समझते हैं।"

बस, धीरज के साथ लेकिन दिल को पत्थर बनाकर, बर्फ़ का यह डला अपने अन्दर धधकती आग लिये हुए अपने मुक़र्रर लक्ष्य की तरफ़ बढ़ा चला जा रहा था मानो अटल होनी का कोई औज़ार हो।

: १५१ :

बोलशेविक सत्ता छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्तिकारी ज़माने में इतिहास मानो सात-सात कोस लम्बे डग भरता

हुआ आगे बढ़ता है। बाहरी तौर पर तो तेज़ी के साथ परिवर्तन होते ही हैं, लेकिन इनसे भी बड़ा परिवर्तन जनता की चेतना में होता है। पुस्तकों से वह कुछ नहीं सीखती, क्योंकि पुस्तकी शिक्षा हासिल करने का उन्हें ज्यादा मौक़ा नहीं मिलता। और पुस्तकें तो अक़्सर करके जितनी बातें प्रकट करती हैं उनसे ज्यादा छिपाती हैं। जनता को तो अनुभव की ज्यादा सख़्त, पर ज्यादा सच्ची पाठशाला में शिक्षा मिलती है। क्रान्तिकाल में, सत्ता के लिए ज़िन्दगी-मौत की कशमकश में, लोगों की असली नीयतों को आमतौर पर छिपानेवाले नक़ली चेहरे गिर पड़ते हैं और उनके पीछे वह असलियत देखी जा सकती है जो समाज का आधार होती है। इसलिए रूस में, १९१७ ई० के इस उलट-फेरों से भरे वर्ष में, जनता ने, और खासकर शहरी कारख़ानों के उन मज़दूरों ने, जो क्रान्ति की जान थे, घटनाओं से नसीहत ली और वे लगभग हर रोज़ बदलते रहे।

न तो कोई चीज़ टिकाऊ नज़र आती थी, और न सधी हुई। ज़िन्दगी हरकत से भर रही थी और बदल रही थी। जनता व वर्ग अलग-अलग दिशाओं में खींच-तान व रेल-पेल कर रहे थे। कुछ लोग अभीतक ऐसे भी थे जो ज़ार-शाही के लौट आने की उम्मीदें बाँध रहे थे और साज़िशें कर रहे थे। पर इनका वर्ग कुछ महत्व नहीं रखता था और हम इनको दर-गुज़र कर सकते हैं। मुख्य झगड़ा तो काम-चलाऊ सरकार और सोवियत के बीच पैदा हुआ; फिर भी सोवियत का बहुमत सरकार के साथ सहयोग और समझौता चाहता था। जो लोग समझौते के लिए उत्सुक थे वे हुकूमत और राज्यसत्ता के अधिकारी बनाये जाने से डरते थे। सोवियत में एक वक्ता ने कहा था—"सरकार की जगह कौन लेगा? क्या हम? मगर हमारे तो हाथ काँपते हैं. . .।" यह वही परिचित रोना है जो हमने भारत में भी बहुतेरे कमज़ोर हाथवालों और डरे हुए दिलवालों के मुंह से सुना है। परन्तु जब वक़्त आता है तो मज़बूत हाथों और बहादुर दिलों की कमी नहीं रहती।

दोनों पक्षों के समझौता-परस्त लोगों ने कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच झगड़े को टालने की चाहे जितनी कोशिशें की हों, लेकिन यह झगड़ा टल नहीं सकता था। सरकार, मित्र-राष्ट्रों को तो युद्ध जारी रखकर, और रूस के जायदादी वर्गों को जहाँतक हो सके उनकी मिल्कियतों की रक्षा करके, राज़ी रखना चाहती थी। जनता से ज्यादा सम्पर्क में होने की वजह से सोवियत ने उसकी सुलह की, व किसानों के लिए धरती की, और दिन में आठ घण्टे काम वग़ैरा की मज़दूरों की, अनेक माँगों को स्वीकार कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने अपंग बना दिया, और खुद सोवियत को जनता ने अपंग बना दिया, क्योंकि जनता वास्तव में दलों और नेताओं से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

यह यत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा क़दम मिलाकर चले, और किरेन्स्की नामक एक वामदली वकील और प्रभावशाली भाषण देने-वाला, सरकार का अगुआ बन गया। यह एक सर्वदली सरकार बनाने में सफल हुआ और सोवियत में बहुमतवाले मेनशेविकों के भी कुछ प्रतिनिधि इसमें शामिल हुए। इसने जर्मनी के ख़िलाफ़ एक ज़ोरदार हमला शुरू करके इंग्लैण्ड और फ़ान्स को ख़ुश करने की भी जी-तोड़ कोशिश की। पर यह धावा बेकार रहा, क्योंकि सेना और ज़नता अब युद्ध बिलकुल नहीं चाहते थे।

इसी समय पेत्रोग्राद में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेसें हो रही थीं, और हर कांग्रेस अपने पहलेवाली से ज्यादा सरगर्म होती जा रही थी। इनमें दिन-पर-दिन ज्यादा बोलशेविक चुने जाने लगे और दोनों ज़बर्दस्त दलों, यानी मेनशेविकों और समाजी क्रान्तिकारियों (किसानों का दल), का बहुमत कम होता गया। बोलशेविकों का ज़ोर बढ़ गया, ख़ासकर पेत्रोग्राद के मज़दूरों में। सारे देश में सोवियतें क़ायम हो गईं और जबतक सरकारी आज्ञाओं पर सोवियत की दस्त-ख़ती मंज़ूरी न हो जाती तबतक वे उन्हें नहीं मानती थीं। कामचलाऊ सरकार की कमज़ोरी का एक कारण यह भी था कि रूस में कोई मज़बूत मध्यमवर्ग नहीं था।

इधर जब राजधानी में सत्ता के लिए खींचातानी चल रही थी, तब उधर किसान-वर्ग ने क़ानूनों को तोड़ना शुरू कर दिया। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, इन किसानों की मार्च की क्रान्ति के बारे में कोई ज्यादा अच्छी राय नहीं थी, पर वे उसके ख़िलाफ़ भी नहीं थे। वे तो हाथ-पर-हाथ धरे बैठे थे और मौक़ा देख रहे थे। लेकिन बड़ी-बड़ी जागीरों के ज़मींदारों ने, इस डर से कि कहीं उनकी मिल्कियतें ज़ब्त न कर ली जायँ, उन्हें छोटे-छोटे पट्टों में बाँट दिया और इन्हें नक़ली पट्टेदारों को इस ग़रज़ से दे दिया कि वे इन्हें इन ज़मींदारों की अमानत की तरह रक्खें। उन्होंने अपनी बहुत-सी मिल्कियतें विदेशियों के नाम भी कर दीं। इस तरह उन्होंने अपनी ज़मींदारियों को बचाने की कोशिश की। किसानों ने इसे बिलकुल पसन्द नहीं किया और उन्होंने सरकार से कहा कि क़ानूनी आज्ञा निकालकर ज़मीनों की बिक्रियाँ रोक दी जायँ। सरकार आगा-पीछा सोचने लगी; वह कर ही क्या सकती थी? वह किसी भी दल को चिढ़ाना नहीं चाहती थी। तब किसानों ने ख़ुद कार्रवाई शुरू कर दी। इसमें मोर्चों से लौटे हुए सिपाहियों ने (जो वास्तव में किसान ही थे) सबसे ज्यादा भाग लिया। यह आन्दोलन बढ़ता गया, यहाँतक कि किसानों ने सारी ज़मीनों पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून तक इसका असर साइबेरिया के उपजाऊ मैदानों तक जा पहुँचा। साइबेरिया में बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे, इसलिए किसान-वर्ग ने गिरजों और मठों की ज़मीनों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

ध्यान में रखने की बात यह है कि बड़ी-बड़ी जागीरों की यह ज़ब्ती बिलकुल

किसानों की ही तरफ़ से शुरू हुई और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले हुई। लेनिन चाहता था कि ज़मीनें फ़ौरन ही ठीक ढंग से किसानों के नाम कर दी जायँ। वह इस बात के बिलकुल खिलाफ़ था कि ज़मीनों पर ऊटपटाँग तरीक़े से अंधेर-गर्दी के साथ ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया जाय। इस तरह जब बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आई, तब उन्होंने देखा कि रूस भू-स्वामी किसानों का देश बन चुका था।

लेनिन के पहुँचने के ठीक एक महीने बाद एक और नामी निर्वासी पेत्रोग्राद लौट आया। यह त्रॉत्स्की[1] था जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते में अंग्रेज़ों ने इसे रोक लिया था। त्रॉत्स्की न तो पुराना बोलशेविक था और न अब वह मेनशेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और इसने पेत्रोग्राद की सोवियत में एक अगुआ की जगह हासिल कर ली। यह बहुत बढ़िया बोलने वाला था, ऊँचे दर्जे का लेखक था, और मानो शक्ति से भरी हुई बिजली की बैटरी था। लेनिन के दल को इसने सबसे ज़्यादा सहायता पहुँचाई। इसकी लिखी हुई आत्मकथा से एक लम्बा बयान मैं यहाँ देना चाहता हूँ, जिसमें उसने 'मॉडर्न सर्कस' नामक भवन की सभाओं में दिये गए अपने भाषणों का हाल लिखा है। यह बहुत बढ़िया रचना तो है ही, साथ ही इसे पढ़कर पेत्रोग्राद में १९१७ ई० के अनोखे क्रान्तिकारी दिनों का जीता-जागता चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

> "साँसों व इन्तज़ारी से सरगर्म हवा, कभी-कभी उन ललकारों और जोशभरे नारों से भड़क उठती थी जो मॉडर्न सर्कस का अनूठापन था। मेरे ऊपर और चारों तरफ़ कुहनियों, सीनों, और सिरों की रेल-पेल थी। मैं मानो इन्सानी शरीरों की किसी गर्म खोह में से बोल रहा था; जब कभी मैं अपने हाथ फैलाता था वे किसी से छू जाते थे और उसके जवाब में एक मीठी हरकत मुझे बतला देती थी कि इससे परेशान होने की ज़रूरत नहीं, बल्कि मुझे रुकना नहीं चाहिए और अपना भाषण जारी रखना चाहिए। कोई वक्ता, चाहे जितना थक गया हो, उस जोश में दीवानी इन्सानी भीड़ के बिजली-जैसे तनाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। वे जानना चाहते थे, समझना चाहते थे, अपना रास्ता ढूंढ़ना चाहते थे। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता था मानो मैं इस

---

[1] प्रसिद्ध बोलशेविक नेता और लेखक। स्तालिन से मतभेद हो जाने के कारण यह १९२९ में रूस से फिर निर्वासित कर दिया गया और अमेरिका चला गया। १९४० में मैक्सिको में इसकी हत्या कर दी गई। इसने अपनी आत्मकथा—'माइ लाइफ़'—लिखी है।

भीड़ के, जो कि मिलकर एक पूरी इकाई बन गई थी, कठोर कौतूहल को अपने होठों से महसूस कर रहा हूँ। तब पहले से सोची हुई सब दलीलें और सब शब्द टूट जाते थे, और सहानुभूति के हुक्मी दबाव के नीचे चले जाते थे। और फिर मेरे अन्तर्मानस में से ऐसे दूसरे शब्द और दूसरी दलीलें पूरी तरतीब में निकलने लगते थे, जिनका बोलनेवाले को पहले बिलकुल गुमान भी न था, लेकिन जिनकी इन लोगों को ज़रूरत थी। ऐसे मौक़ों पर मुझे यह महसूस होता था मानो मैं बाहर के किसी वक्ता की आवाज़ सुन रहा हूँ, उसके विचारों के साथ दौड़ने की कोशिश कर रहा हूँ, और डरता जाता हूँ कि मेरी सोची-विचारी दलीलों की आवाज़ से कहीं वह नींद में चलनेवाले की तरह छत के किनारे पर आकर गिर न पड़े।

"ऐसा था यह मॉडर्न सर्कस। इसका अपना डील-डौल था—आग से भरा, कोमल और ग़ुस्से में दीवाना। दुधमुँहे बच्चे मानो उन स्तनों को आराम के साथ चूस रहे थे, जिनमें से बढ़ावा देनेवाली या डरानेवाली पुकारें निकल रही थीं। पूरी भीड़ इसी क़िस्म की थी, उन दुधमुँहे बच्चों-जैसी थी, जो अपने सूखे होठों से क्रान्ति की चूचियों से चिपके हुए थे। लेकिन यह बच्चा बहुत जल्दी जवान हो गया।"

इस तरह पेत्रोग्राद में और रूस के दूसरे शहरों और गाँवों में क्रान्ति का हरदम बदलता हुआ नाटक चलता रहा। दुधमुँहा बच्चा जवान हो गया और क़द्दावर हो गया। युद्ध के भयंकर बोझ से हर जगह आर्थिक ढाँचा टूटता नज़र आ रहा था। लेकिन फिर भी मुनाफ़ा-ख़ोर अपने लिए युद्ध के मुनाफ़े कमाये चले जा रहे थे!

कारख़ानों में और सोवियतों में बोलशेविकों की ताक़त और उनका दबदबा दिन-पर-दिन बढ़ रहे थे। इससे चौकन्ना होकर किरेन्स्की ने उन्हें दबा देने का फ़ैसला किया। पहले तो लेनिन को बदनाम करने का ज़बर्दस्त प्रचार शुरू किया गया और कहा गया कि वह जर्मनों का एजेण्ट है, जो रूस को मुसीबत में फँसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियों की रज़ामन्दी से जर्मनी में होकर स्वीज़रलैण्ड से नहीं आया? इससे मध्यमवर्गों में लेनिन बहुत ज्यादा बदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने लगे। किरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ़्तारी के लिए वारण्ट निकाला, इसलिए नहीं कि वह क्रान्तिकारी था, बल्कि इसलिए कि वह जर्मनी का समर्थक देशद्रोही था। ख़ुद लेनिन तो इस इलज़ाम को ग़लत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को तैयार था; लेकिन

उसके साथी राज़ी नहीं हुए और उन्होंने उसे छिप जाने के लिए मजबूर किया। त्रॉत्स्की भी गिरफ़्तार कर लिया गया, लेकिन पेत्रोग्राद की सोवियत के बार-बार कहने पर छोड़ दिया गया। बहुत-से और बोलशेविक भी गिरफ़्तार कर लिये गए; उनके अख़बार बन्द कर दिये गए; जिन मज़दूरों को उनका हामी समझा जाता था उनके हथियार छीन लिये गए। कामचलाऊ सरकार की तरफ़ इन मज़दूरों का रुख़ दिन-पर-दिन ज़्यादा सरकश और डरानेवाला होता जा रहा था और उसके ख़िलाफ़ बार-बार जबर्दस्त प्रदर्शन किये जाते थे।

जब उलट-क्रान्ति ने सिर उठाया तो इस नाटक में एक बीच का तमाशा सामने आया। कोर्निलोव नामक एक पुराना सेनापति कामचलाऊ सरकार-समेत सारी क्रान्ति को कुचल डालने के लिए एक सेना लेकर राजधानी पर चढ़ आया। जैसे ही वह राजधानी के नज़दीक पहुँचा, उसकी सेना नौ-दो ग्यारह हुई। वह क्रान्ति के पक्ष में जा मिली थी।

घटनाएँ बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रही थीं। सोवियत साफ़ तौर पर सरकार की प्रतिस्पर्द्धी बनती जा रही थी और अक्सर वह या तो सरकारी आज्ञाओं को रद्द कर देती थी या उनसे उलटी हिदायतें जारी कर देती थी। अब स्मॉलनी-इन्स्टीटयूट पेत्रोग्राद में सोवियत का केन्द्र और क्रान्ति का सदरमुक़ाम था। यह स्थान पहले अमीर-वर्ग की लड़कियों का ग़ैर-सरकारी स्कूल था।

लेनिन पेत्रोग्राद के बाहर की बस्ती में आ गया और बोलशेविकों ने तय किया कि अब कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन लेने का वक़्त आ गया है। त्रॉत्स्की को बग़ावत का सारा इन्तज़ाम करने का अधिकार सौंप दिया गया और बाद की योजना सावधानी के साथ बना ली गई कि सबसे ज़रूरी महत्व के किन-किन स्थानों पर किस तरह और कब क़ब्ज़ा किया जाय। बलवे के लिए नवम्बर की ७ तारीख़ मुक़र्रर की गई। उस दिन सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। यह तारीख़ लेनिन ने मुक़र्रर की थी और इसके लिए उसने बड़ा दिलचस्प सबब बताया था। उसने कहा "नवम्बर की ६ तारीख़ को कुछ करने में बहुत जल्दी होगी। हमें अपने बलवे का आधार अखिल-रूसी बनाना चाहिए, और ६ तारीख़ को कांग्रेस के सब प्रतिनिधि आ नहीं पायेंगे। दूसरी तरफ़ ८ नवम्बर को बहुत देर हो जायगी। इस तारीख़ तक कांग्रेस जम जायगी और लोगों की बड़ी जमात के लिए कोई फुर्तीली और आख़िरी फ़ैसला करानेवाली कार्रवाई करना मुश्किल होता है। हमें ७ तारीख़ को, जिस दिन कांग्रेस का अधिवेशन हो, अपनी कार्रवाई करनी चाहिए ताकि हम उससे कह सकें, "यह लो सत्ता! अब बतलाओ तुम इसका क्या करना चाहते हो?" ये शब्द थे उस सुलझे दिमाग़वाले क्रान्ति के माहिर के, जो यह ख़ूब अच्छी तरह जानता

था कि क्रान्तियों की सफलता अक्सर बहुत-ही मामूली नज़र आनेवाली घटनाओं पर निर्भर होती है।[1]

सात नवम्बर का दिन आया और सोवियत सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतों पर, ख़ासकर तारघर, टेलीफ़ोनघर और सरकारी बैंक जैसे ज़रूरी और जुगत के स्थानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। किसीने कोई मुक़ाबला नहीं किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इंग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी, उसमें उसने लिखा था, "कामचलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई।"

लेनिन इस नई सरकार का अध्यक्ष बना और त्रॉत्स्की विदेश-मन्त्री। दूसरे दिन, ८ नवम्बर को, लेनिन स्मॉलनी इन्स्टीटयूट में कांग्रेस के अधिवेशन में गया। शाम का वक़्त था। कांग्रेस ने इस नेता का ज़बर्दस्त हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया। अमेरिकी पत्रकार रीड ने, जो इस मौक़े पर मौजूद था, यह लिखा है कि जब 'महान् लेनिन' मंच की ओर बढ़ा तब वह कैसा नज़र आ रहा था—

"एक नाटा, गठीला व्यक्ति, जिसका उभरा हुआ और आगे निकला हुआ बड़ा-सा सिर कन्धों पर रक्खा हुआ। छोटी-छोटी आँखें, पकौड़ी-सी नाक, चौड़ा और भरा हुआ मुँह, भारी ठुड्डी; जो अब घुटी हुई थी लेकिन जिसपर उसकी पुरानी और आयन्दा मशहूर दाढ़ी के रोयें उगना शुरू हो गये थे। मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए, पतलून टाँगों से ज्यादा लम्बी। छाप डालनेवाली कोई ऐसी चीज़ उसमें नहीं, जिसने उसे भीड़ की आँखों का तारा बनाया। एक अनूठा लोक-प्रिय नेता—सिर्फ़ दिमाग़ी गुणों के बल पर बना हुआ नेता; रंगहीन, व्यंगहीन, अडिग और सबसे अलहदा, जिसमें कोई मज़ेदार सनकें नहीं—पर जिसमें गहरे विचारों को सीधी-सादी भाषा में समझाने की और किसी असली स्थिति का विश्लेषण करने की शक्ति। और जिसमें पैनी चतुराई के साथ सबसे ऊँचे दर्जे की दिमाग़ी जुर्रत मिली हुई।"

एक साल के भीतर यह दूसरी क्रान्ति सफल हो गई थी और अभीतक यह ग़ज़ब की शान्तिमय रही थी। सत्ता बदलने में बहुत कम ख़ून-ख़राबी हुई। मार्च

---

[1] यह क़िस्सा कि लेनिन ने बोलशेविकों द्वारा सत्ताहरण के लिए ७ नवम्बर का दिन निश्चित किया था, एक अमरीकी पत्रकार रीड ने, जो उन दिनों पेत्रोग्राद में था, बयान किया है। लेकिन और लोग जो वहाँ मौजूद थे, इसे नहीं मानते थे। लेनिन रू-पोश था और उसे डर था कि कहीं बोलशेविक नेता ज़मानासाज़ी न कर बैठें और मौक़े को हाथ से न निकल जाने दें। इसलिए वह उन्हें निरन्तर कार्रवाई के लिए उकसाता रहता था। जब ७ तारीख़ को मामला चरम सीमा पर पहुँच गया तो यह कार्रवाई हो गई।

में इससे बहुत ज्यादा लड़ाई और मारकाट हुई थी। मार्च की क्रान्ति अपने-आप उठी थी और बिना किसी योजना के हुई थी, नवम्बर की क्रान्ति की योजना खूब सोच-विचारकर बनाई गई थी। इतिहास में पहली बार ग़रीब-से-ग़रीब वर्ग के, और ख़ासकर मज़दूरवर्ग के प्रतिनिधि किसी देश के राजा बने थे। लेकिन इनको इतनी आसानी से सफलता मिलनेवाली नहीं थी। इनके चारों तरफ तूफ़ान के बादल जमा हो रहे थे और भयानक वेग के साथ इनपर फट पड़नेवाले थे।

लेनिन और उसकी नई बोलशेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी? हालाँकि रूसी सेना तितर-बितर हो गई थी और उसके लड़ने की कोई सम्भावना नहीं रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था; सारे देश में गड़बड़ मची हुई थी और सिपाहियों व लुटेरों के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे; आर्थिक ढाँचा टूट चुका था; भोजन-सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखों मर रहे थे; चारों ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को कुचलने की घात लगाये बैठे थे; राज्य का संगठन पूंजीशाही था और ज्यादातर पुराने सरकारी नौकरों ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया; साहूकारों ने रुपया देना बन्द कर दिया; यहाँतक कि तारघर भी तार नहीं भेजता था। यह ऐसी कठिन स्थिति थी, जो बहादुर-से-बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफ़ी थी।

लेनिन और उसके साथियों ने इस गाड़ी को चलाने के लिए मिलकर ज़ोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हें जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होंने फ़ौरन युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनों देशों के प्रतिनिधि ब्रेस्त लितोवुस्क में मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोलशेविकों में लड़ने की ताक़त नहीं रही है, इसलिए उन्होंने घमण्ड और बेवक़ूफ़ी में भरकर ज़बर्दस्त और नीचा दिखानेवाली माँगें रक्खीं। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोलशेविक लोग इससे भौंचक्के रह गये और उनमें से बहुतों ने इन शर्तों को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन तो किसी भी क़ीमत पर सुलह चाहता था। कहते हैं कि जर्मनों ने त्रॉत्स्की से, जो सुलह-सम्मेलन का एक रूसी प्रतिनिधि था, कहा कि वह एक समारोह में शाम की पोशाक[1] पहनकर आये। वह दुविधा में पड़ गया; क्या मज़दूरों के प्रतिनिधि को इस क़िस्म की मध्यमवर्गी पोशाक पहनना अच्छी बात थी? उसने सलाह के लिए लेनिन को तार दिया, और लेनिन ने फ़ौरन जवाब भेजा: "अगर सुलह कराने में मदद मिले तो लँहगा भी पहनकर जाओ!"

---

[1] Evening Dress—यूरोप में हर मौक़े के लिए अलग-अलग तरह की पोशाकों का रिवाज है। शाम की पोशाक में पीछे की ओर लम्बा लटकता हुआ काला कोट, कलफ़दार कमीज़, काली बो, सफ़ेद पतलून और काले जूते शामिल हैं।

इधर तो सोवियत सुलह की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनों ने पेत्राग्राद की तरफ़ बढ़ना शुरू कर दिया और उन्होंने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त में सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च, १९१८ में, ब्रेस्त-लितोव्स्क की सन्धि पर दस्तखत कर दिये, हालाँकि वे इसे बहुत बुरी चीज़ समझते थे। इस सन्धि के ज़रिये रूसी इलाक़ें का एक बड़ा टुकड़ा जर्मनी ने हथिया लिया, लेकिन सोवियत को तो किसी भी क़ीमत पर सुलह मंजूर करनी थी, क्योंकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो अपनी टाँगों से (यानी मैदान से भागकर) सुलह के पक्ष में राय दे दी है।"

सोवियत ने पहले तो महायुद्ध में शरीक हुई तमाम शक्तियों के बीच एक आम सुलह कराने की कोशिश की थी। सत्ता हाथ में आने के दूसरे ही दिन उन्होंने एक ऐलान जारी किया था, जिसमें दुनिया-भर के सामने सुलह का प्रस्ताव रक्खा था, और उन्होंने यह बिलकुल साफ़ कह दिया था कि वे ज़ारशाही की तमाम गुप्त सन्धियों के मातहत मिले दावों को छोड़ने के लिए तैयार हैं। उन्होंने कहा कि क़ुस्तुन्तुतिया तुर्कों के ही क़ब्ज़े में रहना चाहिए और इसके अलावा भी कोई देश किसी दूसरे देश के हिस्सों को नहीं हथियावे। सोवियत के सुझाव का किसीने जवाब नहीं दिया, क्योंकि लड़नेवाले दोनों पक्षों को अभी अपनी-अपनी जीत की आशा थी और दोनों युद्ध की लूट में हाथ मारना चाहते थे। इसमें शक नहीं कि यह प्रस्ताव करने में सोवियत का उद्देश्य कुछ हद तक सिर्फ़ थोथा प्रचार था। वे हर देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाही-वर्ग पर असर डालना चाहते थे और दूसरे देशों में समाजी क्रान्तियाँ भड़काना चाहते थे; क्योंकि उनका लक्ष्य तो संसार-व्यापी क्रान्ति था। वे समझते थे कि इसी तरीक़े से वे खुद अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकते हैं। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि सोवियत के इस प्रचार का फ़्रान्सीसी और जर्मन सेनाओं पर बड़ा भारी असर पड़ा था।

ब्रेस्त-लितोव्स्क की सन्धि को लेनिन एक काम-चलाऊ चीज़ समझता था जो ज्यादा दिन टिकनेवाली नहीं थी, और हुआ यही कि नौ महीने बाद, ज्योंही मित्र-राष्ट्रों ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दाँत खट्टे किये, त्योंही सोवियत ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। लेनिन तो सिर्फ़ यह चाहता था, कि सेना के थके हुए मज़दूरों और किसानों को ज़रा आराम और दम लेने का मौक़ा मिल जाय ताकि वे अपने-अपने घरों को वापस जाकर खुद अपनी आँखों से देख सकें कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है। वह चाहता था कि किसान लोग महसूस करें कि ज़मींदार खत्म हो गये थे और वे धरती के मालिक बन गये थे; और कारखानों के मज़दूर महसूस करें कि उनके शोषक भी खत्म हो गये थे। इससे वे क्रान्ति से होनेवाले फ़ायदों की क़ीमत समझने लगेंगे और उनकी रक्षा के लिए बेचैन होंगे और महसूस

करेंगे कि उनके असली शत्रु कौन थे। बस, लेनिन का यही विचार था, क्योंकि वह खूब जानता था कि गृह-युद्ध आनेवाला है। उसकी यह नीति बाद में बड़ी शानदार सफलता के साथ सही साबित हुई। ये किसान और मज़दूर मोर्चों से अपने-अपने खेतों को और कारखानों को वापस लौटे; वे कोई बोलशेविक या समाजवादी नहीं थे, लेकिन वे क्रान्ति के सबसे कट्टर समर्थक बन गये; क्योंकि उस चीज़ को नहीं छोड़ना चाहते थे जो उन्हें क्रान्ति के ज़रिये मिली थी।

बोलशेविक नेता इधर तो जर्मनों से किसी-न-किसी तरह समझौते की कोशिश कर रहे थे, उधर उन्होंने अन्दरूनी हालतों पर भी ध्यान देना शुरू किया। मशीनगनों और युद्ध के सामान से लैस बहुत-से भूतपूर्व फ़ौजी अफ़सर व ले-भग्गू लोग लुटेरों का धन्धा कर रहे थे और बड़े-बड़े शहरों के ठेठ बीच में मारकाट और लूटपाट मचा रहे थे। पुराने अराजकतावादी दलों के भी कुछ सदस्य थे, जो सोवियतों को पसन्द नहीं करते थे और बहुत गड़बड़ मचा रहे थे। सोवियत अधिकारियों ने इन धाड़ैतियों वग़ैरा का सख़्ती से दमन किया और उन्हें कुचल दिया।

सोवियत राज को इससे भी बड़ा खतरा सारी अ-सैनिक सेवाओं के कर्मचारियों की तरफ़ से पैदा हुआ, जिनमें से बहुतों ने बोलशेविकों के मातहत काम करने से या उन्हें किसी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर दिया। लेनिन ने यह नियम बनाया कि "जो काम नहीं करेगा वह खाना भी नहीं खायगा"; काम नहीं तो खाना भी नहीं। इसलिए सहयोग न देनेवाले सरकारी नौकरों को फ़ौरन बरख़ास्त कर दिया गया। साहूकारों ने अपनी तिजोरियाँ खोलने से इन्कार किया तो वे डायनेमाइट से उड़ा दी गईं। लेकिन पुरानी व्यवस्था के मातहत काम करनेवाले जिन कर्मचारियों ने सहयोग करने से इन्कार किया, उनके लिए लेनिन की हिक़ारत की आला मिसाल तब देखने में आई जब प्रधान सेनापति ने हुक्म मानने से इन्कार किया। उसे बरख़ास्त कर दिया गया और पाँच मिनट के भीतर क्राइलैन्को नामक एक नौजवान बोलशेविक लेफ़्टिनेन्ट को प्रधान सेनापति बना दिया गया!

इन परिवर्तनों के बावजूद रूस का पुराना ढाँचा बहुत-कुछ वैसा-का-वैसा बना रहा। किसी विशाल देश का एकदम समाजीकरण आसान बात नहीं है, और अगर घटनाओं ने मजबूरी पैदा न कर दी होती तो सम्भव है कि रूस में परिवर्तन की प्रक्रिया में बहुत वर्ष लग जाते। जिस तरह किसानों ने ज़मींदारों को निकाल बाहर किया था, उसी तरह पुराने मालिकों के खिलाफ़ क्रोध में भरकर मज़दूरों ने भी कई जगह उन्हें निकाल बाहर किया और कारखानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। सोवियत इन कारखानों को उनके पुराने पूंजीपति मालिकों को किसी हालत में वापस नहीं दे सकती थी, इसलिए उसने इनपर क़ब्ज़ा कर लिया। गृह-

युद्ध के समय में इन मालिकों ने कई जगह कारखानों की मशीनों को तोड़ने की कोशिश की, और सोवियत को दख़ल देना पड़ा और इन कारख़ानों की रक्षा के लिए उन्हें अपने क़ब्ज़े में लेना पड़ा। इस तरह उत्पादन के साधनों का समाजीकरण, यानी एक क़िस्म का राज्य-समाजवाद, या कारख़ानों पर राज्य की मिल्कियत, इतनी तेज़ी से हुआ जितना मामूली हालतों में नहीं हो सकता था।

सोवियत शासन के पहले नौ महीनों में रूस के लोगों के जीवन में कुछ ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ा। बोलशेविकों ने निन्दाओं और गालियों तक को भी बर्दाश्त किया और बोलशेविक-विरोधी अख़बार निकलते रहे। जनता आमतौर पर भूखी मर रही थी, लेकिन धनवानों के पास अब भी शान-शौक़त और ऐश-आराम के लिए ख़ूब पैसा था। रात में चलनेवाले नाच-रंग के शराब-घरों में भीड़ लगी रहती थी, और घुड़-दौड़ वग़ैरा दूसरे खेलकूद होते रहते थे। बड़े-बड़े नगरों में मध्यम-वर्गी पैसेवाले ख़ूब नज़र आते थे, जो सोवियत सरकार को पतन होनेवाली समझकर खुल्लम-खुल्ला ख़ुशियाँ मनाते थे। ये लोग, जो पहले देशभक्ति की दुहाई देकर जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध जारी रखने के लिए बेचैन थे, अब सचमुच पेत्रोग्राद पर जर्मनी की चढ़ाई के जलसे मना रहे थे। अपनी राजधानी पर जर्मनों का क़ब्ज़ा हो जाने की सम्भावना पर ये बहुत ख़ुश नज़र आते थे। समाजी क्रान्ति इन्हें जितनी ज्यादा बुरी चीज़ मालूम होती थी उतना विदेशी प्रभुत्व का डर नहीं था। क़रीब-क़रीब हमेशा ऐसा ही हुआ करता है, ख़ासकर जब वर्गों का मामला होता है।

इस तरह जनता का जीवन बहुत करके हस्ब-मामूल चल रहा था और इस वक़्त पर बोलशेविकों का आतंक तो वास्तव में था ही नहीं। मास्को का मशहूर नृत्य-नाटक दिन-रात चलता रहता था और उसमें दर्शकों की ख़ूब भीड़ रहती थी। जब पेत्रोग्राद पर जर्मनों का ख़तरा बढ़ गया था तब सोवियत सरकार मास्को चली गई थी और तब से मास्को ही उसकी राजधानी चला आ रहा है। मित्र-राष्ट्रों के राजदूत अभी तक रूस में ही थे। जब पेत्रोग्राद जर्मनों के हाथ में पड़ जाने का अन्देशा पैदा हुआ, तब ये लोग वहाँ से भाग गये थे और सब चहल-पहल से दूर वोलोग्दा नामक एक छोटे-से देहाती नगर में हिफ़ाज़त के साथ जम गये थे। जो बे-सिर-पैर की अफ़वाहें इनके पास पहुँचती थीं उनसे ये सब वहाँ हरदम परेशानी और सनसनी की हालत में बैठे रहते थे। वे बेकल होकर त्रॉत्स्की से बार-बार पूछते रहते थे कि ये अफ़वाहें सच हैं या नहीं। इन बूढ़े राजनयिकों की इस घबराहट से त्रॉत्स्की इतना तंग आ गया कि वह "वोलोग्दा के इन 'ऐक्सेलेन्सियों'[1]

[1] राजदूतों के नाम के पहले हिज़ एक्सेलेन्सी (His Excellency) की उपाधि लगाई जाती है।

की नसों के तनाव को आराम देने के लिए ब्रोमाइड का नुसख़ा" लिखने के लिए तैयार हो गया! जिन्हें हिस्टीरिया के दौरे होते हैं या जो जल्दी घबरा जाते हैं, उन्हें डॉक्टर लोग ब्रोमाइड दिया करते हैं।

ऊपर से तो जनता का जीवन हस्ब-मामूल चलता नज़र आता था, मगर इस ज़ाहिरा ख़ामोशी के नीचे कितनी ही धाराएँ और उलटी धाराएँ बह रही थीं। किसी को भी, यहाँतक कि ख़ुद बोलशेविकों को भी, यह आशा नहीं थी कि बोलशेविक ज्यादा दिन टिक जायँगे। हर आदमी साज़िशों में लगा था। जर्मनों ने दक्षिण रूस के यूक्रेन में एक कठ-पुतली राज्य खड़ा कर दिया था और सुलह के बावजूद उनकी तरफ़ से सोवियत को अन्देशा बना हुआ था। मित्र-राष्ट्र अलबत्ता जर्मनों से नफ़रत करते थे, पर बोलशेविकों से वे उससे भी ज्यादा नफ़रत करते थे। हाँ, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने १९१८ ई० के शुरू में सोवियत कांग्रेस को दोस्ताना शुभकामनाएँ ज़रूर भेजी थीं। पर बाद में मालूम होता है वह पछताया और उसने अपने विचार बदल दिये। मतलब यह कि मित्र-राष्ट्र उलट-क्रान्ति की कार्रवाइयों को चुपचाप, पैसे से और दूसरी तरह से, सहायता दे रहे थे और ख़ुद भी गुप-चुप उनमें हिस्सा ले रहे थे। मास्को विदेशी जासूसों से भरा पड़ा था। ब्रिटिश गुप्तचर-विभाग का ख़ास एजेन्ट, जो इंग्लैण्ड का उस्ताद जासूस माना जाता था, सोवियत सरकार को मुसीबतों में डालने के लिए वहाँ भेजा गया था। जिन अमीरों और मध्यमवर्गी लोगों की ज़मीन-जायदादें छीन ली गई थीं, वे मित्र-राष्ट्रों के पैसे की मदद से जनता को बराबर उलट-क्रान्ति के लिए भड़का रहे थे।

१९१८ ई० के बीच के दिनों में यही हालत थी। सोवियत की जान मानो कच्चे धागे से लटकी हुई थी।

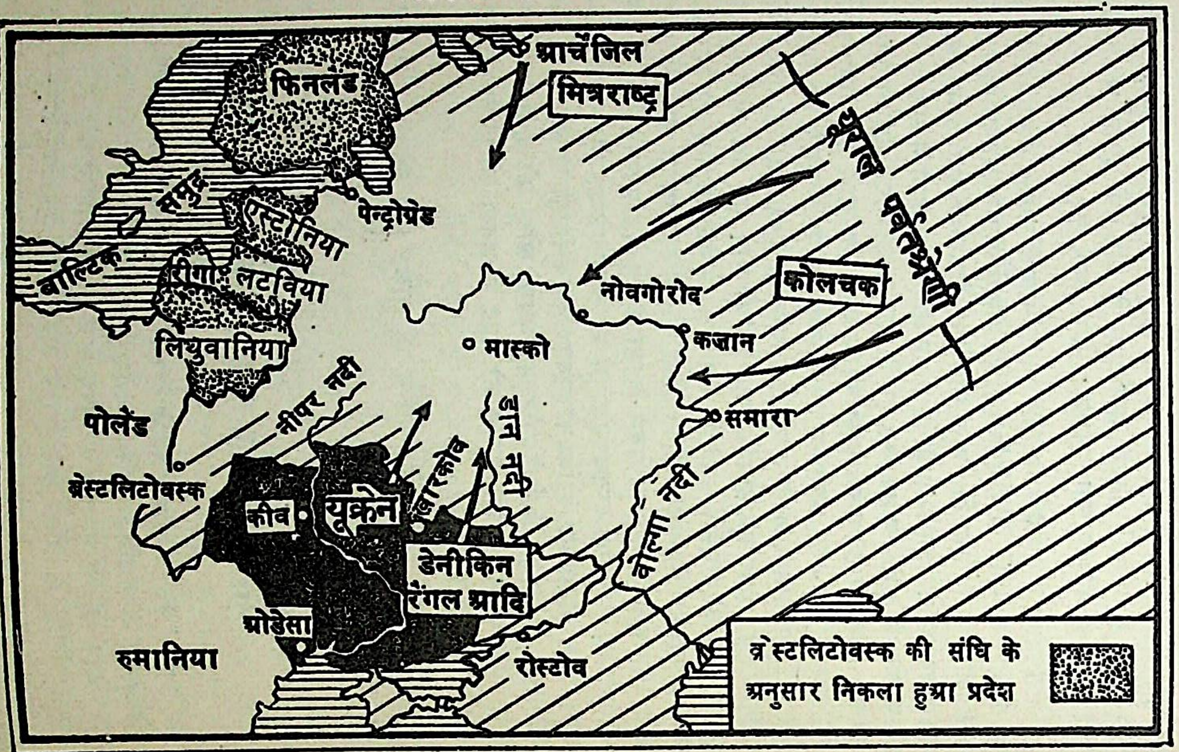
: १५२ :

सोवियतों का मुश्किलों को पार करना

११ अप्रैल, १९३३

१९१८ ई० के जुलाई महीने में रूस की स्थिति में चौंका देनेवाली घटनाएँ सामने आईं। बोलशेविकों के चारों ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हें जकड़ता जा रहा था। दक्षिण में यूक्रेन की तरफ़ से जर्मन चढ़े आ रहे थे और इधर रूस में चेकोस्लोवाकिया के बहुत सारे पुराने युद्ध-बन्दियों को मित्र-राष्ट्र मास्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ़्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभीतक चल रहा था, लेकिन रूस में यह अजीब माजरा नज़र आ रहा था कि

सोवियत रूस—१९१८-१९



मित्र-राष्ट्र और जर्मन शक्तियाँ, दोनों अलग-अलग, बोलशेविकों को कुचलने की एक-सी कोशिश में जुटे हुए थे। हम यहाँ फिर देखते हैं कि वर्ग-विद्वेष की ताक़त राष्ट्रीय विद्वेष की ताक़त से कितनी ज़्यादा ज़ोरदार होती है; और राष्ट्रीय विद्वेष तो काफ़ी ज़हरीला व कड़ुवा होता ही है। इन शक्तियों ने रूस के ख़िलाफ़ बाक़ायदा युद्ध नहीं छेड़ रक्खा था; उन्होंने तो सोवियत को परेशान करने के लिए बहुत-से दूसरे तरीक़े निकाल लिये थे, ख़ासकर उलट-क्रान्ति के नेताओं को उकसाना और उन्हें हथियारों की व पैसे की मदद देना। कई पुराने ज़ारशाही सेनापति भी सोवियत के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे।

ज़ार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस में यूराल के पहाड़ों के पास वहाँ की मुक़ामी सोवियत की निगरानी में क़ैदी बनाकर रक्खे गये थे। इस प्रदेश में चेक सैनिकों के चढ़ आने से यह सोवियत डर गई, और इस अन्देशे ने उसे दहला दिया कि कहीं भूतपूर्व ज़ार क़ैद से छूटकर उलटी-क्रान्ति का ज़बर्दस्त नेता न बन जाय। इसलिए उन्होंने क़ायदे-क़ानून को ताक में रखकर ज़ार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं थी, और लेनिन, अन्तर्राष्ट्रीय नीति के नाते भूतपूर्व ज़ार की, और इन्सानियत के नाते उसके कुटुम्ब की, हत्या के ख़िलाफ़ था। लेकिन जब यह काम हो ही गया तो केन्द्रीय सरकार ने उसे वाजिब ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्री सरकारों को और भी ज़्यादा बौखला दिया और उन्हें पहले से भी ज़्यादा सरकश बना दिया।

अगस्त में स्थिति और भी बिगड़ गई और दो घटनाओं के नतीजे से क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गये। इनमें से एक तो थी लेनिन को मारने की कोशिश और दूसरी थी उत्तरी रूस में आर्केञ्जल पर मित्र-राष्ट्रों की फ़ौजों का उतरना। मास्को में बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत की ज़िन्दगी ख़त्म होती हुई नज़र आने लगी। ख़ुद मास्को भी एक तरह से जर्मनों, चेकों, उलट-क्रान्तिकारी तत्वों-जैसे शत्रुओं से घिरा हुआ था। मास्को के इर्द-गिर्द कुछ-ही ज़िले सोवियत के राज में रह गये थे, और मित्र-राष्ट्री सेना के उतरने से अन्त बिलकुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोलशेविकों के पास कुछ ज़्यादा सेना नहीं थी; ब्रेस्त-लितोवस्क की सन्धि को पाँच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के ज़्यादातर सिपाही भागकर खेती में जा लगे थे। ख़ुद मास्को में ही षड्यन्त्रों की भरमार थी, और मध्यमवर्ग के लोग सोवियतों के होने वाले पतन पर खुले-आम ख़ुशियाँ मना रहे थे।

नौ महीने की उम्र का यह सोवियत गणराज्य ऐसी भयंकर मुसीबत में फँसा हुआ था। बोलशेविकों को बेबसी और डर ने घेर लिया, और जब इन्होंने

देखा कि हर हालत में मरना ही है तो फ़ैसला कर लिया कि लड़ते-लड़ते ही मरना चाहिए। जैसा कि सवा सौ वर्ष पहले कम उम्र के फ़्रान्सीसी गणराज्य ने किया था, वे चारों ओर से घिरे हुए जंगली जानवर की तरह अपने शत्रुओं पर उलट पड़े। उन्होंने सब्र और दया दोनों को तिलांजलि दे दी। सारे देश में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू में केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने 'लाल आतंक'[1] का ऐलान कर दिया। "तमाम देशद्रोहियों के लिए मौत, विदेशी हमलावरों के ख़िलाफ़ बिना रहम का युद्ध।" वे अन्दरूनी और बाहरी दोनों शत्रुओं से इस तरह लड़ेंगे कि पीछे हटने का नाम नहीं। सोवियत सारी दुनिया के मुक़ाबले में और ख़ुद अपने प्रगति-विरोधियों के मुक़ाबले में डटकर खड़ी हो गई। इसी समय 'लड़ाकू साम्यवाद' का ज़माना भी शुरू हुआ और सारा देश मानो शत्रुओं से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को संगठित करने का पूरा यत्न किया गया और वह काम त्रॉत्स्की के सिपुर्द किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, १९१८ ई०, के आस-पास की बात है जब पश्चिम में जर्मनी की फ़ौजी-मशीन टूट रही थी और युद्ध बन्द करने की चर्चा चल रही थी। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने 'चौदह सूत्र' रख दिये थे, जिनके बारे में यह माना गया था कि उनमें मित्र-राष्ट्रों के सब इरादे शामिल कर दिये गए थे। ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि इनमें से एक सूत्र यह था कि तमाम रूसी प्रदेश पर से फ़ौजें हटा ली जायँगी और रूस को बड़ी शक्तियों की सहायता से अपना विकास करने का पूरा मौक़ा दिया जायगा। रूस में मित्र-राष्ट्रों की दस्तन्दाज़ी और वहाँ उनकी फ़ौजों का उतरना इस सूत्र की एक निराली व्याख्या सामने ला रहे थे। बोलशेविक सरकार ने राष्ट्रपति विल्सन को एक विरोध-पत्र भेजा, जिसमें उसके चौदह सूत्रों की तीखी आलोचना की गई थी। इस विरोध-पत्र में उन्होंने लिखा था: "आप पोलैण्ड, सर्बिया, बेलजियम, वग़ैरा की स्वाधीनता की, और आस्ट्रिया-हंगरी के लोगों के लिए आज़ादी की माँग करते हैं।...लेकिन अजीब बात है कि आपकी माँगों में हमें आयर्लैण्ड, मिस्र, भारत और फ़िलीपाइन टापुओं तक की आज़ादी का कोई ज़िक्र नहीं दिखाई देता है।"

११ नवम्बर, १९१८ ई०, को मित्र-राष्ट्रों और जर्मन शक्तियों के बीच सुलह हो गई और लड़ाई बन्द करने के सुलहनामे पर दस्तख़त हो गये। लेकिन रूस में १९१९ और १९२० ई० में गृह-युद्ध ज़ोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले-दम झुण्ड-के-झुण्ड दुश्मनों का मुक़ाबला किया। एक वक़्त तो ऐसा था जब सोवियत सेना पर सत्रह अलग-अलग मोर्चों पर एक साथ हमले हुए। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ़्रान्स, जापान, इटली, सर्बिया, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया,

[1] Red Terror.

बाल्टिक सागर के तटवर्त्ती राज्य, पोलैण्ड, और ढेरों उलट-क्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे और यह लड़ाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर बाल्टिक सागर और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार-बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होनेवाला है; मास्को भी ख़तरे में पड़ गया था; पेत्रोग्राद दुश्मनों के हाथ में पड़ने ही वाला था; पर सोवियत हर संकट को पार कर गई, और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और बल बढ़ते गये।

उलट-क्रान्ति के नेताओं में एक एडमिरल कोलचक था। वह अपने को रूस का शासक कहने लगा और मित्र-राष्ट्रों ने सचमुच उसे ऐसा मान भी लिया और बहुत सहायता दी। साइबेरिया में इसने जो हरकत की उसका हाल उसके युद्ध-साथी जनरल ग्रेव्ज़ ने लिखा है, जो कोलचक को मदद देनेवाली अमेरिकी सेना का सेनापति था। यह अमेरिकी सेनापति लिखता है:

> "वहाँ बड़ी भयंकर हत्याएँ हुईं; लेकिन जैसा कि दुनिया का विश्वास है, वे बोलशेविकों ने नहीं की थीं। अगर मैं, कम-से-कम करके भी कहूँ, तो बोलशेविकों के हाथों एक-एक आदमी की हत्या के मुक़ाबले में बोलशेविक-विरोधियों ने पूर्वी साइबेरिया में सौ-सौ आदमियों को मौत के घाट उतारा।"

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि नामी राजनीतिज्ञ कितनी जानकारी के बल पर महान् राष्ट्रों का कारोबार चलाते हैं और युद्ध व सुलह करते हैं। लॉयड जॉर्ज ने, जो उस समय इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री था और यूरोप में शायद सबसे ज़्यादा असरवाला व्यक्ति था, ब्रिटिश कामन्स-सभा में रूस के बारे में बोलते हुए वहाँ के कोलचक व दूसरे सेनापतियों का ज़िक्र किया था। इन्हीं नामों के साथ उसने 'सेनापति खारकोफ़' का भी नाम लिया था। खारकोफ़ किसी सेनापति का नाम नहीं बल्कि एक मशहूर शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है! पर भूगोल की मामूली बातों से इतने अनजान होते हुए भी इन राजनीतिज्ञों ने यूरोप के टुकड़े-टुकड़े कर ही डाले और उसका नया नक़शा बना ही डाला!

मित्र-राष्ट्रों ने रूस की भी नाकाबन्दी कर दी और यह इतनी कारगर हुई कि १९१९ ई० के पूरे वर्ष में रूस न तो बाहर से कुछ भी ख़रीद सका और न बाहर कुछ बेच सका।

इन ज़बर्दस्त कठिनाइयों और कई शक्तिशाली दुश्मनों के बावजूद सोवियत रूस सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय हासिल की। यह बात इतिहास की सबसे ज़्यादा अजीब कारगुज़ारियों में गिनी जाती है। सोवियत यह कैसे कर पाई? इसमें कोई शक नहीं कि अगर मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ एक हो जातीं और बोलशेविकों का नाश करने पर तुल जातीं, तो वे शुरू के दिनों में ऐसा कर

सकती थीं। जर्मनी से निबट लेने के बाद उनके पास मनमानी करने के लिए बड़ी-बड़ी फ़ौजें थीं। पर इन फ़ौजों का हर-कहीं इस्तेमाल करना आसान नहीं था, खासकर सोवियतों के खिलाफ़। ये युद्ध से थक चुकी थीं और अगर इनसे विदेशों में युद्ध करने की माँग की जाती तो ये इन्कार कर देतीं। इसके अलावा मजदूरों में नये रूस के लिए काफ़ी सहानुभूति थी, और मित्र-राष्ट्री सरकारों को डर था कि अगर वे सोवियतों के खिलाफ़ युद्ध का खुला ऐलान कर देंगे तो उन्हें अपने-अपने देशों में मुसीबत का सामना करना पड़ेगा। सच तो यह है कि यूरोप विद्रोह के किनारे खड़ा मालूम दे रहा था। और इसके अलावा मित्र-राष्ट्री शक्तियों की आपसी लाग-डाँट चल रही थी। सुलह होते ही उन्होंने आपस में लड़ना-झगड़ना शुरू कर दिया था। इन सब कारणों से वे बोलशेविकों को खत्म करने के लिए कोई पक्का यत्न नहीं कर सकीं। इसलिए उन्होंने इस काम को जहाँतक हो सके टेढ़े रास्ते से पूरा कराने के लिए यह कोशिश की कि अपनी खातिर दूसरों को लड़वा दिया और उन्हें रुपये, हथियारों और माहिरों की सलाह की मदद दी। उन्हें विश्वास था कि सोवियतें टिक नहीं सकेंगी।

इन सब बातों से सोवियतों को बेशक मदद मिली और उन्हें अपनी ताक़त बढ़ाने का समय मिल गया। लेकिन यह समझ लेना उनके साथ अन्याय करना होगा कि उनकी विजय बाहरी परिस्थितियों के सबब से हुई। दरअसल यह तो रूसी जनता के आत्म-विश्वास, आत्म-त्याग और न झुकने वाले इरादे की विजय थी, और इसमें चमत्कार की बात यह थी कि इन लोगों को हर जगह काहिल, जाहिल, पस्त-हिम्मत और किसी ज़ोरदार कोशिश के नाक़ाबिल समझा जाता था, और ठीक ही समझा जाता था। आज़ादी एक आदत है और अगर हम बहुत दिनों उससे महरूम रहें तो बहुत करके उसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानों और मजदूरों को इस आदत पर अमल करने का कोई मौक़ा नहीं मिला था। फिर भी उन दिनों के रूसी नेताओं में यह गुण था कि उन्होंने इस नाचीज़ इन्सानी मसाले को एक बलवान, संगठित राष्ट्र के रूप में बदल दिया, जिसे अपने उद्देश्य में विश्वास और अपनी शक्ति का भरोसा था। कोलचक और उसके संगी-साथी हरा दिये गए, सिर्फ़ इस वजह से नहीं कि बोलशेविक नेता क़ाबिल और पक्के इरादेवाले थे, बल्कि इसलिए भी कि रूसी किसान ने उन्हें बर्दाश्त करने से इन्कार कर दिया। उसके लिए वे पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे जो उसकी नई जीती हुई धरती को और दूसरी रियायतों को छीनने के लिए आये थे। इसलिए उसने मरते-दम तक इनको बचाने का फ़ैसला कर लिया।

मीनार की तरह सभी से ऊँचा और सबके ऊपर एकछत्र प्रभुता जमानेवाला—ऐसा था लेनिन। रूसी जनता के लिए तो वह मानो देवता था, जो आशा

और विश्वास का चिह्न था, जो इतना बुद्धिमान था कि हर कठिनाई में रास्ता निकाल सकता था, और जो न तो किसी भी हालत में परेशान होता था, न घबराता था। उसके बाद उन दिनों त्रॉत्स्की का नम्बर आता था (क्योंकि अब वह रूस में बदनाम है), जो लेखक और वक्ता था, जिसे पहले का कोई फ़ौजी तजुर्बा नहीं था, और जो अब गृह-युद्ध और नाके-बन्दी के बीच एक बड़ी सेना तैयार करने के काम में जुट गया था। त्रॉत्स्की जान पर खेलनेवाला बहादुर था और लड़ाई में अक्सर अपनी जान ख़तरे में डाल देता था। जिन लोगों में हिम्मत व अनुशासन की कमी होती थी उनके लिए उसके दिल में कोई दया नहीं थी। गृह-युद्ध की एक नाजुक घड़ी में उसने यह आज्ञा निकाली थी:

> "मैं चेतावनी देता हूँ कि अगर फ़ौज की कोई इकाई बिना हुक्म के पीछे हटेगी तो पहले उस टुकड़ी का नायक गोली से उड़ाया जायगा और फिर सेनापति। उनकी जगहों पर वीर और जवाँमर्द सिपाही मुक़र्रर किये जायँगे। कायर, नामर्द और ग़द्दार गोली से नहीं बच सकेंगे। यह मैं सारी लाल सेना के सामने क़सम खाकर वचन देता हूँ।"

और उसने अपना वचन पूरा किया।

अक्तूबर, १९१९ ई० में त्रॉत्स्की ने जो दूसरा फ़ौजी हुक्म निकाला वह भी दिलचस्प है, क्योंकि उससे ज़ाहिर होता है कि बोलशेविक लोग जनता और पूंजीशाही सरकारों को किस तरह दो अलग-अलग चीजें मानने की हरदम कोशिश करते थे, और कोरा राष्ट्रीय नज़रिया कभी भी नहीं अपनाते थे। इस हुक्म में कहा गया था:

> "लेकिन आज भी, जब हम इंग्लैण्ड के भाड़े के टट्टू यूदेनिश के साथ सख्त लड़ाई में फँसे हुए हैं, मैं माँग करता हूँ कि तुम यह कभी मत भूलो कि इंग्लैण्ड दो हैं। मुनाफ़ाखोरों, मारकाट करनेवालों, रिश्वतखोरों और ख़ून के प्यासों के इंग्लैण्ड के अलावा, मज़दूरों का, आध्यात्मिक शक्ति का, अन्तर्राष्ट्रीय एकता के ऊँचे आदर्शों का एक इंग्लैण्ड और है। हमसे जो लड़ रहा है वह सट्टाबाज़ार के सटोरियों का कमीना और बेईमान इंग्लैण्ड है। मज़दूरों का और जनता का इंग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस वक़्त पेत्रोग्राद यूदेनिश के हाथों में पड़ने ही वाला था, तब उसको बचाने के फ़ैसले में उसकी कुछ झलक नज़र आती है, जिसके साथ लाल सेना को लड़ाया जा रहा था। बचाव-परिषद् ने हुक्म जारी किया था कि "ख़ून की एक बूंद बाक़ी रहने तक भी पेत्रोग्राद की हिफ़ाज़त करो, बित्ताभर भी पीछे न हटो, और शहर की गली-गली में दुश्मन का मुक़ाबला करो।"

महान् रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की लिखता है कि लेनिन ने एक बार ट्रॉट्स्की के बारे में कहा था:

"भला मुझे ऐसा दूसरा व्यक्ति बतलाओ तो सही जो एक साल के भीतर ऐसी फ़ौज तैयार कर दे जो दूसरों के लिए मिसाल बन जाय, और इसके अलावा फ़ौजी मामलों के माहिर भी जिसकी इज़्ज़त करने लगें। हमारे पास ऐसा व्यक्ति है। हमारे पास सबकुछ है। और चमत्कार अब भी होने बाक़ी हैं।"

यह लाल सेना दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। दिसम्बर, १९१७ ई० में, जब बोलशेविक ने सत्ता पर क़ब्ज़ा किया ही था, इस सेना की संख्या ४,३५,००० थी। ब्रैस्त लितोव्स्क की सन्धि के बाद ज़्यादातर सिपाही छोड़कर चले गये होंगे और सेना का दुबारा संगठन करना पड़ा होगा। १९१९ ई० के बीच तक इसकी संख्या १५,००,००० हो गई थी। एक वर्ष बाद यह बढ़कर ५३,००,००० की भारी तादाद पर पहुँच गई थी।

१९१९ ई० के अन्त तक गृह-युद्ध में सोवियतें पूरे तौर पर अपने विरोधियों के ऊपर हावी हो चुकी थीं। मगर युद्ध एक साल तक और चलता रहा और इस बीच कई नाज़ुक घड़ियाँ आईं। १९२० ई० में पोलैण्ड (जो जर्मनी की पराजय के बाद नया बना था) की रूस से खटक गई और दोनों में युद्ध छिड़ गया। १९२० ई० के अन्त तक ये सब युद्ध क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुके थे और रूस को आख़िर कुछ राहत मिली थी।

इसी बीच अन्दरूनी कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और अकाल ने देश की हालत बहुत बुरी कर डाली थी। उत्पादन बहुत कम हो गया था, क्योंकि जब मुक़ाबले की दो सेनाएँ लगातार देश को रौंद रही हों तो न तो किसान खेत बो सकते हैं और न मज़दूर कारखाने चला सकते हैं। युद्ध-काल में साम्यवादी तरीक़े अपनाने से देश किसी तरह मुसीबतों से पार हो गया था, लेकिन हरेक व्यक्ति को अपने पेट पर कसकर पट्टी बाँधनी पड़ी थी और अब इस सिलसिले को सहन करना कठिन हो रहा था। खेतिहर लोग ज्यादा उत्पादन में दिलचस्पी नहीं ले रहे थे, क्योंकि उनका कहना था कि जो लड़ाकू साम्यवाद चल रहा था उसके मातहत उनकी पैदा की हुई सारी फ़ालतू फ़सल को राज्य छीन लेगा, इसलिए वे मेहनत क्यों करें? एक बहुत ही कठिन और खतरनाक स्थिति पैदा हो रही थी। पेत्रोग्राद के नज़दीक में मल्लाहों का विद्रोह तक भी हो गया था, और खुद पेत्रोग्राद (या लेनिनग्राद) में हड़तालें हो रही थीं।

लेनिन ने, जिसमें बुनियादी बातों को मौजूदा हालतों के मुताबिक़ ढालने की अद्भुत खासियत थी, फ़ौरन कार्रवाई की। उसने युद्धकालीन साम्यवाद को

ख़त्म कर दिया और 'नई अर्थनीति' के नाम से एक नई नीति चलाई। इसके मातहत किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को बेचने की ज्यादा आज़ादी मिल गई, और कुछ ख़ानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तों से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने, इसे काम-चलाऊ तदबीर कहकर, वाजिब ठहराया। इससे जनता को ज़रूर ही बहुत राहत मिली। लेकिन जल्द ही रूस को एक और आफ़त का सामना करना पड़ा। यह सूखे के कारण, और उसकी वजह से दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्बे-चौड़े प्रदेश में फ़सल चौपट होने के कारण पड़नेवाला अकाल था। यह भयंकर अकाल था, इतिहास में इससे बड़ा अकाल पहले कभी नहीं पड़ा था, और इसमें लाखों लोग भूखों मर गये। इस अकाल से सरकार का सारा ढाँचा ही टूट जाने का अन्देशा था, क्योंकि एक तो यह वर्षों के युद्ध और नाकेबन्दी और अर्थ-व्यवस्था की गड़-बड़ी के बाद ही आ पड़ा था, और दूसरे तबतक सोवियत सरकार को लड़ाई-झगड़े से बेफ़िक्र होकर काम करने का मौक़ा नहीं मिला था। पर फिर भी, जिस तरह सोवियत पहले की आफ़तों को पार कर गई थी, उसी तरह इसे भी सही-सलामत पार कर गई। यूरोपीय सरकारों का एक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि अकाल का कष्ट दूर करने के लिए रूस को क्या सहायता देनी चाहिए। उन्होंने ज़ाहिर किया कि वे तबतक कोई सहायता नहीं देंगे जबतक कि सोवियत सरकार ज़ारशाही के उन पुराने क़र्ज़ों को चुकाने का वादा न करे, जिन्हें उसने रद्द कर दिया था। साहूकारी इन्सानियत से ज्यादा ज़ोरदार साबित हुई और रूसी माताओं ने अपने अध-मरे बच्चों के नाम पर जो दिल पिघलानेवाली अपील की उसपर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका ने कोई शर्तें नहीं लगाईं और बहुत मदद पहुँचाई।

जब इंग्लैण्ड व दूसरे यूरोपीय देशों ने रूस को अकाल में सहायता देने से इन्कार किया तो इसका यह मतलब नहीं था कि वे और मामलों में सोवियत का बायकाट कर रहे थे। १९२१ ई० के शुरू में ही एक आंग्ल-रूसी तिजारती सन्धि पर दस्तख़त हो चुके थे और दूसरे देशों ने भी उनके रास्ते पर चलकर सोवियत के साथ तिजारती सन्धियाँ कर ली थीं।

चीन, तुर्की, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, वग़ैरा पूर्वी देशों के साथ सोवियत ने बड़ी उदार नीति अपनाई। उसने पुरानी ज़ारशाही रियायतें छोड़ दीं और बहुत दोस्ताना व्यवहार करने की कोशिश की। यह चीज़, तमाम पराधीन और शोषित क़ौमों के लिए आज़ादी के सोवियत सिद्धान्तों के मुताबिक़ थी, लेकिन इसके पीछे सोवियत की ज्यादा महत्ववाली नीति थी अपनी स्थिति मज़बूत बनाना। सोवियत रूस की उदारता से इंग्लैण्ड-जैसी साम्राज्यशाही शक्तियाँ

अक़्सर विषम स्थिति में पड़ जाती थी, क्योंकि पूर्वी देश जब दोनों को मुक़ाबले में रखते थे तो उन्हें इंग्लैण्ड व दूसरी शक्तियाँ हेच मालूम पड़ती थीं।

१९१९ ई० में एक और घटना हुई, जिसका ज़िक्र यहाँ करना ज़रूरी है। यह थी साम्यवादी दलों के हाथों मास्को में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना। पिछले पत्रों में मैं प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ का ज़िक्र कर चुका हूँ, जिसे कार्ल मार्क्स ने क़ायम किया था, और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का भी जो बहादुरी की बहुत-सी बातें करने के बाद १९१४ ई० का महायुद्ध छिड़ते ही टूट गया। बोलशेविकों का ख़याल था कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को क़ायम करनेवाले पुराने मज़दूर व साम्यवादी दलों ने मज़दूर-वर्ग को धोखा दिया। इसलिए उन्होंने साफ़ क्रान्तिकारी नज़रियेवाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया ताकि पूँजीशाही और साम्राज्यशाही के ख़िलाफ़ और उन मौक़ा-परस्त साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ भी लड़ा जाय जो 'मध्यम-वर्ग' की नीति पर चलनेवाले थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ को अक़्सर 'कॉमिन्तर्न'[1] भी कहा जाता है, और बहुत-से देशों में प्रचार करने में इसने बहुत भारी हिस्सा लिया है। जसा कि इसके नाम से मतलब है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, जिसका चुनाव बहुत-से जुदा-जुदा देशों के साम्यवादी दल करते हैं। लेकिन, चूँकि रूस ही वह देश है जहाँ साम्यवाद की शानदार विजय हुई है, इसलिए कॉमिन्तर्न में लाज़िमी तौर पर रूसी प्रभाव सबसे ज्यादा है। अलबत्ता कॉमिन्तर्न और सोवियत सरकार अलग-अलग चीज़ें हैं, हालाँकि बहुत-से व्यक्ति दोनों में ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर हैं। चूँकि कॉमिन्तर्न ऐलानिया तौर पर क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलानेवाला संगठन है, इसलिए साम्राज्यशाही शक्तियाँ इससे बुरी तरह चिढ़ी हुई हैं और वे अपने-अपने प्रदेशों में इसकी हलचलों को दबाने की बराबर कोशिश करती रहती हैं।

युद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (मज़दूर और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ) भी दुबारा जिलाया गया। बहुत हद तक द्वितीय व तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघों का, कम-से-कम उसूली बातों में, एक ही मक़सद है। पर दोनों की विचारधाराएँ और तरीक़े बिलकुल अलग-अलग हैं और दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। ये आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और एक दूसरे पर ऐसे हमले करते हैं जैसे कि अपने दोनों के दुश्मन पूँजीवाद पर भी नहीं करते। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ अब एक इज़्ज़तदार संगठन बन गया है और इसके सदस्य अक़्सर यूरोपीय सरकारों के मन्त्रिमण्डलों में शामिल होते रहते हैं। तृतीय संघ क्रान्तिकारी संगठन चला आ रहा है, इसलिए यह इज़्ज़तदार नहीं माना जाता।

---

[1] Comintern—यह Communist International का संक्षिप्त रूप है।

रूस के गृह-युद्ध में शुरू से आख़ीर तक 'लाल आतंक' और 'सफ़ेद आतंक' सख़्त बेरहमी से एक दूसरे से होड़ लगाते रहे, और इसमें शायद 'सफ़ेद आतंक' 'लाल आतंक' से ज़बर्दस्त बाज़ी ले गया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारों के बारे में अमेरिकी सेनापति के बयान से (जो मैं ऊपर दे चुका हूँ), और दूसरे बयानों से, यही नतीजा निकलता है। लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं हो सकता कि 'लाल आतंक' कठोर था, और इसका फल कितने ही बेक़सूर आदमियों को भोगना पड़ा होगा। बोलशेविकों पर सब तरफ़ से हमले हो रहे थे और वे चारों ओर षड्यन्त्रों व जासूसों से घिरे हुए थे, इसलिए उनका धीरज टूट गया और ज़रा भी शुबहा होनेपर वे बड़ी कठोर सज़ाएँ देने लगे। ख़ासकर उनकी राजनीतिक पुलिस, जो 'चेका'[1] कहलाती थी, इस आतंक के लिए बहुत बदनाम थी। यह भारत की 'सी० आई० डी०'[2] जैसी थी, पर इसके अधिकार बहुत बढ़े-चढ़े थे।

यह पत्र लम्बा होता जा रहा है। लेकिन इसे पूरा करने से पहले मैं तुम्हें लेनिन के बारे में कुछ और बातें बतलाना चाहता हूँ। अगस्त, १९१८ ई० में, जब उसकी हत्या की कोशिश की गई थी, तब उसे गहरे घाव लगे थे। पर इनके बावजूद उसने कुछ आराम नहीं लिया था। वह काम के ज़बर्दस्त बोझ को निबटाता रहा, और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि मई, १९२२ ई० में, उसकी हालत गिर गई। कुछ दिन आराम लेने के बाद वह फिर काम में लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नहीं। १९२३ ई० में उसकी हालत पहले से भी ज्यादा गिर गई और वह सम्हल न सका। २१ जनवरी, १९२४ ई०, को मास्को के पास उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनों तक उसकी लाश मास्को में रक्खी गई—सर्दी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर लाश को वर्षों तक के लिए टिकाऊ बना दिया गया था। और जनसाधारण के प्रतिनिधि, किसान और मज़दूर, नर और नारियाँ और बच्चे, सारे रूस से और साइबेरिया के दूरवर्ती मैदान से, अपने उस परम-प्यारे साथी को आख़िरी ताज़ीम देने आये, जिसने उन्हें गहराइयों में से खींचकर बाहर निकाला था और भरे-पूरे जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होंने मास्को के सुन्दर 'लाल चौक' में उसके लिए एक सादा और बिना सजावट का मक़बरा बनाया। उसकी लाश एक काँच के सन्दूक़ में अभीतक वहाँ रक्खी हुई है और हर शाम को लोगों की एक लम्बी क़तार ख़ामोशी के साथ उसके पास से गुज़रती

[1] Cheka.

[2] C. I. D. (Criminal Investigation Department)—अंग्रेज़ी राज्य का भारतीय पुलिस का ख़ुफ़िया विभाग।

है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नहीं बीते हैं, लेकिन इतने थोड़े समय में ही वह, न सिर्फ़ अपने रूस में बल्कि सारे संसार में, एक ज़बर्दस्त परम्परा क़ायम करनेवाला बन गया है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसकी महानता को चार चाँद लगते जाते हैं; वह संसार के कुछ गिने-चुने अमर-जनों में गिना जाने लगा है। पेत्रोग्राद अब लेनिनग्राद हो गया है, और क़रीब-क़रीब हर रूसी घर में एक लेनिन का कोना है, या लेनिन का चित्र होता है। मगर लेनिन ज़िन्दा है, यादगारों में या तसवीरों में नहीं, बल्कि अपने किये हुए ज़बर्दस्त कारनामों में, और आज करोड़ों मज़दूर-पेशा लोगों के दिलों में, जो उसकी मिसाल से प्रेरणा और अच्छे दिनों की आशा हासिल करते हैं।

यह न समझना कि लेनिन एक बेदर्द मशीन की तरह था, जो अपने काम में डूबा रहता था और इसके सिवा और कोई बात नहीं सोचता था। वह अपने काम का और अपनी ज़िन्दगी के उद्देश्य का पूरा पुजारी ज़रूर था, लेकिन साथ ही उसमें यह भावना ज़रा भी नहीं थी कि लोग उसकी ओर आँखें लगाये हुए हैं। वह तो एक विचार का सच्चा पुतला था। और इसपर भी उसमें इन्सानियत बहुत थी, और इन्सानी गुणों में सबसे बड़ा गुण था—दिल खोलकर हँसने की आदत। मास्को में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि लॉकहार्ट, जो सोवियत के ख़तरनाक दिनों में वहाँ था, लिखता है कि चाहे जो हो जाय, लेनिन हमेशा खुश-मिज़ाज रहता था। इस ब्रिटिश राजनयिक ने लिखा है: "अपने जीवन में मैं जिन सार्वजनिक नेताओं से मिला हूँ उन सबमें ज्यादा यकसाँ स्वभाववाला मैंने इसी को पाया।" वह अपनी बातचीत में और अपने काम में सीधा व सच्चा, और लम्बी-चौड़ी बातों से और ढोंग से नफ़रत करनेवाला था। वह संगीत-प्रेमी था, यहाँतक कि उसे डर लगा रहता था कि इस संगीत-प्रेम का उसपर इतना ज्यादा असर न हो जाय कि वह अपने काम में ढीला बन जाय।

लेनिन के एक साथी ल्यूनाशास्र्की ने, जो बहुत वर्षों तक शिक्षा-विभाग का बोलशेविक मन्त्री रहा था, उसके बारे में एक निराली बात कही थी। लेनिन का पूंजीपतियों को सताना, और ईसा का एक मन्दिर से सूद-खोरों को निकालना—इन दोनों बातों का मुक़ाबला करते हुए उसने कहा था—"अगर ईसा आज ज़िन्दा होता तो वह बोलशेविक होता।" मज़हब को न माननेवाले लोगों के लिए इस तरह की तुलना करना एक निराली बात है।

स्त्रियों के बारे में लेनिन ने एक बार कहा था: "जबतक आधी आबादी रसोई-घर में गुलामी करती रहेगी, तबतक कोई राष्ट्र आज़ाद नहीं हो सकता।" एक दिन जब वह कुछ बच्चों को दुलार रहा था तब उसने बड़े भेद की बात कही थी। उसका पुराना मित्र मैक्सिम गोर्की लिखता है कि उसने कहा था: "इनके

जीवन हमारे जीवनों से ज्यादा आनन्द के होंगे। इन्हें उन बहुत-सी मुसीवतों में से नहीं गुज़रना पड़ेगा जिन्हें हम लोगों ने पार किया है। इन्हें अपने जीवन में इतने ज्यादा जुल्म नहीं देखने पड़ेंगे।" हम सबको ऐसी ही उम्मीद करनी चाहिए।

इस पत्र के अन्त में मैं पूरे आर्केस्ट्रा के लिए और लोगों के समूह-गान के लिए हाल ही में लिखी गई एक रूसी रचना के शब्द दूंगा। जिन लोगों ने इसे सुना है, उनका कहना है कि इसके संगीत में जान और शक्ति भरी है और यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना को ज़ाहिर करनेवाला है। इस गीत का जो हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है उसमें भी इस भावना का कुछ अंश आ जाता है। यह गीत 'अक्तूबर' कहलाता है और इसका अर्थ है 'नवम्बर, १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति।' उन दिनों रूस में वह कैलेण्डर चलता था जो बिना सुधारा हुआ कैलेण्डर कहलाता है और यह मामूली पश्चिमी कैलेण्डर से तेरह दिन पीछे था। इस कैलेण्डर के मुताबिक़ मार्च, १९१७ ई०, की क्रान्ति फ़रवरी में हुई और इस लिए वह 'फ़रवरी की क्रान्ति' कहलाती है। इसी तरह नवम्बर, १९१७ ई० के शुरू में होनेवाली बोलशेविक क्रान्ति 'अक्तूबर की क्रान्ति' कहलाती है। अब रूस ने अपना कैलेण्डर बदल दिया है और सुधरा हुआ कैलेण्डर अपना लिया है, पर ये पुराने नाम अभीतक काम में आते हैं।

हम काम और रोटी की भीख माँगने के लिए गये,
हमारे हृदय पीड़ा से दबे हुए थे,
कारखानों की चिमनियाँ आकाश की ओर इशारा कर रही थीं,
मानो मुट्ठी बांधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हों।
हमारे दुःख और हमारी पीड़ा के, तोपों की आवाज़ से भी अधिक घोर
शब्दों ने खामोशी को भंग कर दिया।
ऐ लेनिन! तू हमारे गाँठ-गठीले हाथों की अभिलाषा है।
हमने समझ लिया है लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे भाग्य में है
संघर्ष! संघर्ष! संघर्ष!
तूने अन्तिम लड़ाई में हमारा नेतृत्व किया। संघर्ष!
तूने हमें मज़दूर-वर्ग की विजय दी।
अज्ञान और जुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई न छीन सकेगा।
कोई नहीं! कोई नहीं! कभी नहीं! कभी नहीं!
आओ, इस संघर्ष में हरेक जवान वीर बन जाओ,
क्योंकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर! अक्तूबर!

अक्तूबर सूर्य का सन्देश-वाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियों का संकल्प है।
अक्तूबर! यह श्रम है, यह खुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर! यह खेतों और मशीनों के लिए शुभ शकुन है।
यह नई सन्तति और लेनिन का झण्डे पर लिखा हुआ नाम है।

: १५३ :

जापान चीन को डराता-धमकाता है

१४ अप्रैल, १९३३

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, उस समय सुदूर पूर्व में कुछ घटनाएँ हुईं जिनपर ध्यान देना ज़रूरी है। इसलिए अब मैं तुम्हें चीन ले चलता हूँ। चीन के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने वहाँ गणराज्य की स्थापना का और उसके नतीजे से होनेवाली गड़बड़ों का ज़िक्र किया था। साम्राज्य को फिर से क़ायम करने के यत्न किये गए। ये तो विफल रहे; पर गणराज्य समूचे देश पर अपनी सत्ता क़ायम करने में सफल नहीं हुआ, या यों कहो कि कोई भी एक सरकार इसमें सफल नहीं हुई। तबसे अबतक कोई भी ऐसी हुकूमत समूचे चीन पर राज नहीं कर पाई है, जिसे सब मानते हों। कुछ वर्षों तक देश में दो बड़ी सरकारें रहीं, एक उत्तरी और दूसरी दक्षिणी। दक्षिण में डॉ० सुन-यात-सेन और उसके राष्ट्रीय दल कुओ-मिन-तांङ का प्रभुत्व था। उत्तर में युआन शिह्-काई की फ़ौजी हुकूमत थी और उसके बाद सेनापतियों और फ़ौजी आदमियों का एक ताँता लगा रहा। ये फ़ौजी हौसलेबाज़ तूशन कहलाते थे और अब भी कहलाते हैं; पिछले वर्षों में ये लोग चीन के लिए एक बवाल साबित हुए हैं।

इस तरह चीन लगातार गड़बड़ी की दुःखदाई हालत में, और अक्सर उत्तर व दक्षिण के बीच या मुक़ाबलेदार तूशनों के बीच गृह-युद्ध की हालत में रहा। साम्राज्यशाही शक्तियों के लिए साज़िशें करने का, और कभी एक दल या तूशन को और कभी दूसरे को उकसाकर इस अन्दरूनी फूट से फ़ायदा उठाने की कोशिश करने का, यह बड़ा अच्छा मौक़ा था। तुम्हें याद होगा कि इसी तरकीब से अंग्रेज़ों ने भारत में अपना पाँव जमाया था। यूरोपीय शक्तियों ने इस मौक़े का फ़ायदा उठाया और साज़िशें करना व एक तूशन को दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ाना शुरू किया। लेकिन जल्द ही उनकी खुद की परेशानियों ने और महायुद्ध ने सुदूर-पूर्व में उनकी हरकतों का ख़ात्मा कर दिया।

लेकिन जापान की हालत इससे जुदा थी। युद्ध का मुख्य जंगी मोर्चा बहुत

दूर था, और जापान बिलकुल बेखटके चीन में अपनी पुरानी हरकतें जारी रख सकता था। वास्तव में उस समय वह ऐसा करने के लिए पहले से बहुत ज्यादा अच्छी स्थिति में था, क्योंकि दूसरी शक्तियाँ और जगह उलझी हुई थीं और उनकी दस्तन्दाज़ी करने की गुंजायश नहीं थी। उसने जर्मनी से युद्ध सिर्फ़ इसलिए छेड़ा कि उसे चीन में जर्मनी के रियायती प्रदेश क्याउ-चाउ पर क़ब्ज़ा करना था और फिर भीतर की ओर आगे घुसना था।

पिछले चालीस वर्षों में जापानियों ने चीन के साथ जो नीति बरती है, वह निराले तौरपर एक-सी चली आती हुई दिखाई देती है। जैसे ही उन्होंने अपनी सेना का आधुनिक ढंग पर संगठन कर लिया और अपने देश के उद्योगीकरण को तेज़ी से आगे बढ़ा दिया, उन्होंने चीन में अपनी प्रभुता क़ायम करने का फ़ैसला किया। वे फैलने के लिए और अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिए जगह चाहते थे। कोरिया और चीन दोनों नज़दीक भी थे और कमज़ोर भी, और मानो न्यौता दे रहे थे कि कोई आकर उनपर हुकूमत करे और उनका शोषण करे। जापानियों की पहली कोशिश थी चीन के साथ १८९४-९५ ई० का युद्ध। वे जीत तो गये पर कुछ यूरोपीय शक्तियों के विरोध के सबब उन्हें उतना नहीं मिला जितना वे चाहते थे। इसके बाद रूस के साथ १९०४ ई० का ज़रा कठिन झगड़ा आया। इसमें भी वे जीत गये और उन्होंने कोरिया और मंचूरिया में अपने पाँव मज़बूती से जमा लिये। कुछ ही दिन बाद उन्होंने कोरिया पर क़ब्ज़ा करके उसे जापानी साम्राज्य का हिस्सा बना लिया।

लेकिन मंचूरिया चीन का ही हिस्सा बना रहा। इसमें चीन के तीन पूर्वी प्रान्त शामिल हैं और यही बात कही भी जाती है। जापानियों ने सिर्फ़ वहाँ के रूसी रियायती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, जिसमें रूसियों का बनाया हुआ रेल-मार्ग भी, जो तबतक 'चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे' कहलाता था, शामिल था। इस रेल-मार्ग का नाम बदलकर 'साउथ मंचूरिया रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मंचूरिया पर अपना पंजा खूब मज़बूती से जकड़ना शुरू कर दिया। इसी बीच रेल-मार्ग ने चीन के बहुत ज्यादा घनी आबादीवाले बाक़ी हिस्से से लोगों को खींचना शुरू किया और चीनी किसानों का ताँता बँध गया। मंचूरिया में सोयाबीन नामक बीज खूब पैदा होता था और इसके क़ीमती गुणों के सबब से इसके लिए सारी दुनिया की माँग बढ़ने लगी। इस बीज से और चीजों के अलावा एक तरह का तेल भी निकाला जाता है। इस सोयाबीन की खेती ने भी लोगों को मंचूरिया की तरफ़ खींचा। इस तरह, इधर तो जापानी लोग मंचूरिया की अर्थ-व्यवस्था पर ऊपर के सिरे से पूरा क़ब्ज़ा करने का यत्न कर रहे थे, उधर दक्षिण से ढेर-के-ढेर चीनी चले आ रहे थे और वहाँ बसते जाते थे। मंचूरिया के पुराने

निवासी, चीनी किसानों व दूसरे लोगों की इस बाढ़ में डूब गये और संस्कृति व आचार-विचार में खुद ही पूरे चीनी बन गये।

चीन में गणराज्य की स्थापना जापान को नहीं भायी। वह तो चीन की ताक़त बढ़ानेवाली हर चीज़ को नापसन्द करता था, और उसकी सारी कूटनीति का लक्ष्य यह था कि सारा चीन मिलकर एक मज़बूत राज्य न बन जाय। इसलिए उसने एक तूशन की दूसरे के खिलाफ़ मदद करने में कारगर दिलचस्पी ली ताकि अन्दरूनी गड़बड़ी चलती रहे।

चीन के कम उम्रवाले गणराज्य के सामने बड़ी ज़बर्दस्त समस्याएँ थीं। यह सिर्फ़ अधमरी साम्राज्यशाही सरकार से राजनीतिक सत्ता छीन लेने का ही सवाल नहीं था। छीनने के लिए राजनीतिक सत्ता तो कुछ थी ही नहीं, क्योंकि ऐसी केन्द्रीय सत्ता की कोई हस्ती ही नहीं थी। केन्द्रीय सत्ता तो बनाई जाने को थी। पुराना चीन नाम के लिए साम्राज्य था। अमली तौरपर तो वह बहुत-से खुदमुख़्तार इलाक़ों का जमघट था, जिन्हें आपस में जोड़नेवाली गाँठें ढीली-ढाली थीं। सारे प्रान्त थोड़े या बहुत खुदमुख़्तार थे, और नगर व गाँव तक भी ऐसे ही थे। केन्द्रीय सरकार की या सम्राट् की सत्ता तो मानी जाती थी, पर यह सरकार मुक़ामी मामलों में दख़ल नहीं देती थी। यह 'एक-सत्तावाला' राज्य नहीं था, यानी ऐसा राज्य नहीं था जिसमें सारी सत्ता और असली शासन केन्द्र के हाथ में हो और सरकार के जुदा-जुदा पहलुओं में इकसारपन हो। यह तो वह ढीले बन्धनों-वाला राज्य था (राजनीतिक लिहाज़ से) जो पश्चिमी उद्योगों व साम्राज्यशाही हवस की टक्कर से टूक-टूक हो गया था। अब यह महसूस किया जा रहा था कि अगर चीन को सही-सलामत रहना है तो उसे मज़बूत केन्द्रीय राज्य बनना चाहिए जिसकी शासन-प्रणाली इकसार हो। नया गणराज्य ऐसा ही राज्य क़ायम करना चाहता था। यह चीज़ कुछ नई थी, और इसीलिए गणराज्य के सामने इसने यह एक बहुत बड़ी कठिनाई पैदा कर दी। चीन में सड़कों, रेलों, वग़ैरा, आवा-जाई के उचित साधनों की कमी राजनीतिक एकता के रास्ते में खुद ही एक ज़बर्दस्त रुकावट बन रही थी।

पुराने ज़माने में चीन के लोग कोरी राजनीतिक सत्ता को कोई महत्व की चीज़ नहीं समझते थे। उनकी समूची शानदार सभ्यता की बुनियाद संस्कृति पर थी, और जीने की कला सिखाने का इसका ढंग संसारभर में बेजोड़ था। वे अपनी इस पुरानी संस्कृति से इतने भरपूर थे कि जब उनका राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा टूटकर गिर पड़ा, तब भी वे अपनी पुरानी संस्कृति के ढंगों से चिपके रहे। जापान ने समझ-बूझकर पश्चिमी उद्योगों को और पश्चिमी रंग-ढंग को अपनाया था, लेकिन दिल से वह सामन्तशाही बना रहा। चीन सामन्तशाही

नहीं था; उसमें बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना भरी थी, और विज्ञान व उद्योगों में पश्चिम में होनेवाली उन्नतियों को वह शौक़ से देख रहा था। लेकिन फिर भी वह इस तरह नहीं दौड़ पड़ा जैसे जापान दौड़ पड़ा था। इसमें शक नहीं कि उसके रास्ते में कई कठिनाइयाँ थीं, जो जापान के सामने नहीं थीं। मगर फिर भी कोई ऐसा काम करने में उसे झिझक थी, जिसके नतीजे से पुरानी संस्कृति से बिलकुल नाता टूट जाय। चीन का स्वभाव दार्शनिकों के जैसा था, और दार्शनिक लोग जल्दबाज़ी में कोई काम नहीं किया करते उसके मन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी और अब भी है; क्योंकि जिन समस्याओं का उसे सामना करना पड़ा था वे सिर्फ़ राजनीतिक ही नहीं थीं। वे आर्थिक और समाजी और दिमाग़ी और शिक्षा से ताल्लुक़ रखनेवाली, वग़ैरा थीं।

और फिर, चीन और भारत जैसे बेहद लम्बे-चौड़े देशों का आकार ही कठिनाइयाँ पैदा करता है। ये महाद्वीप-सरीखे देश हैं और इनमें कुछ-कुछ महाद्वीपों-जैसा भारीपन है। हाथी जब गिरता है तो उठने में अपने भारीपन के मुताबिक़ समय लेता है; वह बिल्ली या कुत्ते की तरह उछलकर खड़ा नहीं हो सकता।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो जापान फ़ौरन मित्र-राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया और उसने जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। उसने क्याउ-चाउ पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर चीन के भीतर की तरफ़ शान्तुंङ प्रान्त में बढ़ने लगा, जिसमें क्याउ-चाउ है। इसका मतलब यह था कि जापानी लोग खास चीन पर धावा बोल रहे थे। जर्मनी के खिलाफ़ लड़ने का यहाँ कोई सवाल नहीं था, क्योंकि इस इलाक़े से जर्मनी का कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। चीनी सरकार ने नर्मी के साथ उनसे वापस चले जाने को कहा। ऐसी ट्रेकड़ी! और यह कहकर जापानियों ने झट एक सरकारी विरोध-पत्र भेज दिया, जिसमें इक्कीस माँगें गिनाई गई थीं।

ये 'इक्कीस माँगें' मशहूर हो गईं। मैं यहाँ उनका ज़िक्र नहीं करूँगा। इनका मतलब यह था कि तरह-तरह की रियायतें और खास रियायतें, खासकर मंचूरिया, मंगोलिया और शान्तुंङ प्रान्त में, जापान के हवाले कर दी जायें। इन माँगों को मान लेने का नतीजा यह होता कि अमल में चीन जापान का एक उपनिवेश बन जाता। उत्तरी चीन की कमज़ोर सरकार ने इन माँगों पर ऐतराज किया, पर वह शक्तिशाली जापानी सेना के सामने क्या कर सकती थी? और फिर, उत्तरी चीन की यह सरकार खुद अपनी ही जनता में लोकप्रिय नहीं थी। इसपर भी इसने एक काम किया, जिससे बहुत मदद मिली। इसने जापानी माँगों को प्रकाशित कर दिया। फ़ौरन ही चीन में ज़बर्दस्त बावैला मच गया, यहाँतक कि दूसरी शक्तियाँ, जो युद्ध में मशग़ूल थीं, इस कार्रवाई से घबरा गईं। अमेरिका ने खास-

तौर पर ऐतराज़ किया। नतीजा यह हुआ कि जापान को कुछ माँगें तो वापस लेनी पड़ीं और कुछ को नर्म करना पड़ा। बाक़ी माँगों का यह हुआ कि मई, १९१५ ई० में जापान चीनी सरकार को डरा-धमकाकर उन्हें मनवाने में सफल हो गया। इसकी वजह से चीन में सख़्त जापान-विरोधी भावना फैल गई।

अगस्त, १९१७ ई० में, युद्ध शुरू होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रों के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ दी। यह बेहूदा-सी बात थी, क्योंकि चीन जर्मनी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसमें चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रों को मनाना चाहता था और जापान के और ज़्यादा चंगुल से अपनेको बचाना चाहता था।

इसके कुछ ही दिन बाद, नवम्बर, १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति हो गई, जिसके सबब से सारे उत्तरी एशिया में बड़ी भारी गड़बड़ फैल गई। सोवियत व सोवियत-विरोधी फ़ौजों का एक जंगी मैदान साइबेरिया था। रूसी 'सफ़ेद' सेनापति कोलचक, सोवियतों के खिलाफ़ साइबेरिया को अपना अड्डा बनाकर लड़ रहा था। सोवियत की शानदार जीत से चौकन्ने होकर जापानियों ने साइबेरिया को एक बड़ी सेना भेजी। ब्रिटिश और अमेरिकी सिपाही भी वहाँ भेजे गये। कुछ दिनों के लिए साइबेरिया से और मध्य एशिया से रूसी असर ग़ायब हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इन इलाक़ों में रूस का इक़बाल पूरी तरह खत्म करने का भरसक जतन किया। मध्य एशिया के बीचों-बीच काशगर में अंग्रेज़ों ने बोलशेविक विरोधी प्रचार के लिए एक रेडियो स्टेशन क़ायम कर दिया।

मंगोलिया में भी सोवियत व सोवियत-विरोधी लोगों के बीच घमासान लड़ाई हुई। १९१५ ई० में ही, जबकि महायुद्ध चल रहा था, ज़ारशाही रूस की मदद से मंगोलिया चीनी सरकार से स्वाधीनता हासिल करने में सफल हो गया था। राज तो चीन का ही बना रहा, पर मंगोलिया के विदेशी सम्बन्धों के मामले में रूस को भी वहाँ कुछ बराबरी का दर्जा दे दिया गया। यह अजीब बन्दोबस्त था। सोवियत क्रान्ति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध हुआ, जिसमें तीन वर्ष से ऊपर लड़ाई के बाद सोवियतों की जीत हुई।

महायुद्ध के बाद होनेवाले सुलह-सम्मेलन के बारे में मैंने अभीतक तुम्हें कुछ नहीं बताया है। इसकी चर्चा मैं अगले पत्र में करूँगा। पर यहाँ इतना ज़िक्र कर देना चाहता हूँ कि इस सम्मेलन ने यानी बड़ी शक्तियों ने—जिनमें खासतौर से इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका को गिनना चाहिए, चीन का शान्तुंङ प्रान्त जापान को भेंट करना तय किया। इस तरह, इस युद्ध के नतीजे से, इन शक्तियों ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकड़ा सचमुच जापान को दिलवा दिया। इसकी वजह यह थी कि युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और जापान

के बीच कोई गुप्त सन्धि हो गई थी। वजह चाहे जो रही हो, चीन के साथ इस गन्दी चालबाजी पर चीनी जनता ने सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की और पेकिंग की सरकार को धमकी दी कि अगर उसने इस मामले में समझौता कर लिया तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी माल के चौकस बायकाट का भी ऐलान कर दिया गया और जापान-विरोधी दंगे हुए। चीनी सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिंग सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) सुलह की सन्धि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिंगटन नगर में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें शान्तुंङ का यह सवाल उठाया गया। यह सम्मेलन उन सब शक्तियों का था, जिनका सुदूर पूर्व के सवाल से सरोकार था, और वे अपने जंगी बेड़ों की तादाद पर विचार करने के लिए जमा हुई थीं। जहाँतक चीन और जापान का ताल्लुक़ था, १९२२ ई० के इस वाशिंगटन-सम्मेलन से बड़े नतीजे निकले। जापान शान्तुंङ वापस देने को राज़ी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगों को बुरी तरह बेचैन कर रक्खा था, उसका फ़ैसला हो गया। इन शक्तियों के बीच दो महत्व के इक़रारनामे भी हुए।

इनमें से एक इक़रारनामा, जो अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान और फ़ान्स के बीच हुआ, 'चार-शक्ति क़रार'[1] कहलाता है। इन चारों शक्तियों ने आपस में वचन दिये कि प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के क़ब्ज़े के प्रदेशों की सीमाओं को मानेंगे; यानी उन्होंने वादे किये कि एक दूसरे के प्रदेशों में घुस-पैठ नहीं करेंगे। दूसरा इक़रारनामा, जो 'नौ-शक्ति सन्धि'[2] कहलाता है, इस सम्मेलन में शामिल होनेवाले संयुक्त राज्य अमेरिका, बेलजियम, इंग्लैण्ड, फ़ान्स, इटली, जापान, हॉलैण्ड, पुर्तगाल और चीन, इन नौ शक्तियों के बीच हुआ। इस सन्धि की पहली ही धारा इस प्रकार शुरू होती थी:

"चीन की प्रभुता, स्वाधीनता और प्रदेश की व शासन की अखण्डता को तस्लीम करने के लिए...।"

ज़ाहिर है कि इन दोनों इक़रारनामों का मक़सद आयन्दा हमलों से चीन को बचाना था। इनका मक़सद था शक्तियों के रियायत-ज़ोई और क़ब्ज़ा करने के उस खेल को रोकना जो वे अबतक खेलती आ रही थीं। पश्चिमी शक्तियों को युद्ध के बाद पैदा होनेवाली समस्याओं से ही फ़ुरसत नहीं थी, इसलिए उस वक़्त चीन में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसीलिए उन्होंने आत्म-त्याग का यह फ़रमान निकाला और उसपर अमल करने की क़समें खाईं। जापान ने भी

[1] Four-Power Pact. [2] Nine-Power Treaty.

इसपर अमल करने की प्रतिज्ञा की, हालाँकि यह उस इरादी नीति से टक्कर खाता था जिसे वह बहुत वर्षों से बरत रहा था। लेकिन ज्यादा साल बीतने न पाये थे कि यह बिलकुल ज़ाहिर हो गया कि तमाम इक़रारनामों और वायदों के बावजूद, जापान ने उलटे अपनी पुरानी नीति जारी रक्खी और चीन पर हमला कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय झूठ और मक्कारी की यह एक अनोखी निर्लज्जतापूर्ण मिसाल है। आगे चलकर जो घटनाएँ हुईं, उनकी भूमिका समझाने के लिए मुझे यहाँ वाशिंगटन-सम्मेलन का ज़िक्र करना पड़ा।

इसी वाशिंगटन-सम्मेलन के आस-पास ही साइबेरिया से विदेशी सिपाहियों को आखिरी तौर पर हटा लिया गया। जापानी सबसे आखीर में हटे। इनके हटते ही मुक़ामी सोवियतें फ़ौरन मैदान में आ गईं और रूस के सोवियत गणराज्य में शामिल हो गईं।

रूसी सोवियत ने अपने क़ायम होने के कुछ ही दिन बाद चीनी सरकार को लिखा था और उन तमाम ख़ास सहूलियतों को छोड़ने का इरादा ज़ाहिर किया था, जिनका दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियों की तरह, ज़ारशाही रूस भी फ़ायदा उठा रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नहीं हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशों के साथ जिन्हें पश्चिमी शक्तियाँ बहुत समय से निचोड़ रही थीं और दबा रही थीं, जानबूझकर उदार नीति अपनाई। सोवियत रूस के लिए यह नेक-नीयती तो थी ही, ठोस नीति भी थी, क्योंकि इससे पूर्व के कई देश उसके दोस्त बन गये। ख़ास सहूलियतों को छोड़ने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तों के था; वह बदले में कुछ नहीं चाहता था। इसपर भी चीनी सरकार रूस के साथ ताल्लुक़ बढ़ाने में डरती थी कि कहीं पश्चिम की यूरोपीय शक्तियाँ नाराज़ न हो जायँ। ख़ैर, अन्त में रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले और १९२४ ई० में दोनों में कुछ बातों पर इक़रारनामा हो गया। इस इक़रारनामे की ख़बर लगते ही फ़्रान्सीसी, अमेरिकी और जापानी सरकारों ने पेकिंग सरकार को अपना विरोध लिख भेजा और वह इतनी घबरा गई कि उसने सचमुच इस इक़रारनामे पर अपने प्रतिनिधि के दस्तख़तों को ही मानने से इन्कार कर दिया। बेचारी पेकिंग सरकार की हालत इतनी तंग हो गई थी! इसपर रूसी प्रतिनिधि ने इक़रारनामे की सारी इबारत प्रकाशित कर दी। इससे काफ़ी सनसनी फैल गई। यह पहला ही मौक़ा था कि शक्तियों के साथ अपने रब्त-ज़ब्त में चीन को इज्ज़त और भलमनसाहत का बर्ताव मिला था और उसके हक़ों को तस्लीम किया गया था। चीनी लोग तो इसपर ख़ुशी से उछल पड़े और सरकार को इसके ऊपर सही करनी पड़ी। साम्राज्यशाही शक्तियों के लिए इसे नापसन्द करना लाज़िमी था क्योंकि

इससे उनकी सारी पोल खुल जाती थी। रूस तो उदारता से दे रहा था, पर ये अपनी तमाम ख़ास सहूलियतों पर अड़ी हुई थीं।

सोवियत सरकार ने डॉ० सनयात-सेन की दक्षिणी चीनी सरकार से भी बातचीत शुरू की, जिसका सदर मुक़ाम कैण्टन में था, और दोनों में आपसी समझौता हो गया। क़रीब-क़रीब इस सारे ही समय में, उत्तर व दक्षिण के बीच, और उत्तर में कितने ही फ़ौजी सेनापतियों के बीच, एक हलका-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमें से महा-तूशन कहलानेवाले कुछ लोग, किसी उसूल या कायक्रम के लिए नहीं लड़ रहे थे; उनकी लड़ाई तो अपने-अपने लिए सत्ता हथियाने की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष में जा मिलते और नई गुट-बन्दी कर लेते। ये लगातार बदलनेवाली गुट-बन्दियाँ बाहरवालों को बहुत चक्कर में डाल देती थीं। ये तूशन, या फ़ौजी हौसलेबाज़, निजी सेनाएँ खड़ी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे, और निजी युद्धों में लगे रहते थे और इन सबका बोझ पड़ता था बेचारी मुसीबत की मारी चीनी जनता पर। कहते हैं कि कुछ महा-तूशनों की पीठ पर विदेशी शक्तियाँ थीं; ख़ासकर जापान। शांघाई की बड़ी-बड़ी व्यापारी कम्पनियों से भी इन्हें रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अँधेरे के बीच दक्षिण ही एक चमकदार मुक़ाम था, जहाँ डॉ० सनयात-सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नीति थी, और यह तूशनों की कुछ हुकूमतों की तरह लुटेरों का मामला नहीं था। १९२४ ई० में कुओ-मिन-तांङ या जनता के दिल की पहली राष्ट्रीय कांग्रेस हुई और डॉ० सनयात-सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रक्खा। इस घोषणा-पत्र में उसने उन सिद्धान्तों को पेश किया, जिनपर राष्ट्र को चलना चाहिए। यह घोषणा-पत्र और ये सिद्धान्त तबसे कुओ-मिन-तांङ का आधार रहे हैं, और आज भी यह कहा जाता है कि नामधारी राष्ट्रीय सरकार की आम नीति इन्हीं पर आधारित है।

मार्च, १९२५ ई०, में डॉ० सनयात-सेन की मृत्यु हो गई। इसने अपनी ज़िन्दगी चीन की सेवा में खपा दी थी और यह चीनी जनता का प्यारा बन गया था।

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६, अप्रैल १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने के नाते भारत का तो महायुद्ध से सीधा लगाव था। लेकिन भारत में या उसके पास कोई असली लड़ाई का मैदान नहीं

बना। फिर भी, युद्ध ने भारत की घटनाओं पर, कितनी ही तरह से सीधा और तिरछा असर डाला, जिसके नतीजे से यहाँ भारी परिवर्तन हुए। मित्र-राष्ट्रों को सहायता पहुँचाने के लिए यहाँ के साधनों का भरपूर कस निकाल लिया गया।

यह भारत का युद्ध नहीं था। जर्मन शक्तियों के ख़िलाफ़ भारत को कोई शिकायत नहीं थी और तुर्की के लिए तो यहाँ बहुत ज्यादा सहानुभूति थी। लेकिन इस मामले में भारत लाचार था। वह तो इंग्लैण्ड की मातहती रियासत था जिसे मजबूरन अपने साम्राज्यशाही मालिक की मर्ज़ी के मुताबिक़ चलना पड़ता था। बस, इसलिए देश में घोर विरोध होते हुए भी भारतीय सिपाही तुर्कों और मिस्रियों और दूसरे लोगों के ख़िलाफ़ लड़े और इसकी वजह से पश्चिमी एशिया में भारत बुरी तरह बदनाम हो गया।

जैसाकि मैं किसी पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, युद्ध शुरू होने के समय भारत की राजनीतिक हालत बहुत गिरी हुई थी। युद्ध शुरू होने पर तो लोगों का ध्यान राजनीति की तरफ़ से और भी हट गया और युद्ध के सिलसिले में ब्रिटिश सरकार की बहुत-सी एहतियाती कार्रवाइयों की वजह से कोई भी कारगर राजनीतिक हलचल कठिन हो गई। सरकारें बाक़ी सबको दबाने के लिए और अपनी मनमानी करने के लिए युद्ध-काल को अच्छा बहाना बना लेती हैं। अगर कोई छूट दी जाती है तो खुद अपने-आपको। अख़बारों पर सेंसर लगा दिया जाता है, जो सचाई का गला घोंट देता है, अक्सर झूठी बातें फैलाता है, और आलोचना का मुँह बन्द कर देता है। हर क़िस्म की राष्ट्रीय हलचलों पर रोकथाम रखने के लिए ख़ास क़ानून और क़ायदे बनाये जाते हैं। युद्ध में फँसे हुए सारे देशों में ऐसा ही किया गया और भारत में भी लाज़िमी तौर पर यही हुआ। यहाँ 'भारत रक्षा क़ानून'[1] जारी किया गया। इस तरह युद्ध की, या युद्ध से ताल्लुक़ रखनेवाली हर बात की सार्वजनिक आलोचना का रास्ता कारगर तरीक़े से बन्द कर दिया गया। पर इस सबके पीछे लोगों के दिलों में तुर्की के लिए आम सहानुभूति थी, और सब यह मनाते थे कि इंग्लैण्ड की जर्मनी के हाथों खूब पिटाई हो। जो देश खुद बुरी तरह पिट चुके थे, उनमें तो ऐसी चाह का होना क़ुदरती बात थी। लेकिन खुल्लम-खुल्ला इसका इजहार नहीं किया जाता था।

खुले तौर पर तो इंग्लैण्ड के लिए वफ़ादारी की ज़ोरदार पुकारों से आसमान गूंज रहा था। सबसे ज्यादा शोर मचानेवाले राजा लोग थे और उनसे कम ऊपर के मध्यमवर्गी लोग थे, जिनका सरकार से ताल्लुक़ पड़ता था। मित्र-राष्ट्रों ने लोकतन्त्र व स्वतन्त्रता की और छोटे-छोटे राष्ट्रों की आज़ादी की जो पाखण्डभरी दुहाइयाँ दीं, उनके जाल में कुछ हद तक मध्यमवर्ग भी फँस गया।

[1] Defence of India Act.

लोगों ने सोचा कि शायद यह चीज़ भारत पर भी लागू हो, और उन्हें आशा हुई कि इस मुसीबत की घड़ी में इंग्लैण्ड को जो मदद दी जायगी उसका बाद में उचित इनाम मिलेगा। और फिर हर हालत में इसके सिवा कोई चारा ही नहीं था, और न कोई दूसरा बेखटक रास्ता था; इसलिए उन्होंने रपट पड़े की हरगंगा में ही भलाई समझी। भारत में वफ़ादारी के इस ऊपरी इज़हार को उन दिनों इंग्लैण्ड में खूब सराहा गया और तरह-तरह से एहसान जतलाया गया। जिनके हाथ में सत्ता थी उनकी ओर से कहा गया कि इसके बाद इंग्लैण्ड भारत को 'नये दृष्टि-कोण' से देखेगा। पर भारत में और विदेशों में कुछ भारतवासी ऐसे भी थे, जिन्होंने 'वफ़ादारी' का यह रुख नहीं अपनाया। ज़्यादातर लोगों की तरह वे चुपचाप और हाथ-पर-हाथ धरकर भी नहीं बैठे रहे। आयर्लैण्डवालों के पुराने क़ौल के मुताबिक़ उनका विश्वास था कि इंग्लैण्ड की कठिनाई उनके देश के लिए अच्छा मौक़ा है। ख़ासकर जर्मनी व यूरोप के दूसरे देशों में रहनेवाले कुछ भारतीय इंग्लैण्ड के दुश्मनों को मदद देने के उपाय खोजने के लिए बर्लिन में जमा हुए और इस काम के लिए उन्होंने एक कमेटी बनाई। जर्मन सरकार तो हर तरह की सहायता लेने को क़ुदरती तौर पर तैयार बैठी ही थी, इसलिए उसने इन भारतीय क्रान्तिकारियों का स्वागत किया। जर्मन सरकार और भारतीय कमेटी, इन दोनों पक्षों के बीच बाक़ायदा तहरीरी समझौता हुआ और दोनों ने इसपर दस्तख़त किये। इसके मातहत भारतीयों ने, दूसरी बातों के अलावा, युद्ध में जर्मन सरकार को सहायता देने का इस शर्त पर वचन दिया कि जीत होने पर जर्मनी भारत की आज़ादी पर ज़ोर देगा। इसपर इस कमेटी ने जबतक युद्ध चला तबतक जर्मनी के हित में काम किया। इन्होंने भारत से बाहर भेजे जाने-वाले भारतीय सिपाहियों में प्रचार किया और इनकी कार्रवाइयाँ ठेठ अफ़ग़ानिस्तान और भारत के सरहदी इलाक़े तक फैल गईं। लेकिन अंग्रेजों की परेशानियाँ खूब बढ़ा देने के सिवा वे और कुछ करने में सफल नहीं हुए। समुद्री रास्ते से भारत को हथियार भेजने की कोशिश को अंग्रेज़ों ने विफल कर दिया। युद्ध में जर्मनी की हार से इस कमेटी का और इसके हौसलों का खुद ही अन्त हो गया।

भारत में भी क्रान्तिकारी हलचलों के कुछ मामले हुए और षड्यन्त्र के मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिए ख़ास अदालतें क़ायम की गईं। बहुतों को फाँसी की और बहुतों को लम्बी-लम्बी क़ैद की सजाएँ दी गईं। उस समय के सज़ा पाये हुए कुछ लोग आज अठारह वर्ष बाद भी जेलों में पड़े हुए हैं।

युद्ध के दौरान और देशों की तरह यहाँ के मुट्ठीभर लोगों ने भी खूब लम्बे-चौड़े मुनाफ़े कमाये, लेकिन ज़्यादातर जनता को दिन-पर-दिन ज़्यादा तंगी महसूस हुई और असन्तोष बढ़ने लगा। मोर्चे पर भेजने के लिए आदमियों की माँग

बढ़ती ही चली गई और सेना के लिए बड़े ज़ोरों से भर्ती की जाने लगी। रंगरूट लानेवालों को हर तरह के लालच और इनाम दिये गए, और ज़मींदारों को अपने असामी काश्तकारों में से रंगरूटों की बँधी हुई संख्या देने को मजबूर किया गया। सेना और मज़दूरों की पलटनों के लिए आदमियों को जबरन भर्ती के ये 'दबाऊ तरीक़े'[1] पंजाब में ख़ासतौर पर इस्तेमाल किये गए। सिपाहियों की तरह और मज़दूर पलटनों के लिए जुदा-जुदा मोर्चों पर भारत से जानेवाले आदमियों की कुल संख्या दस लाख से ऊपर पहुँच गई थी। जिन लोगों पर इन बातों का असर पड़ा, उनमें इन तरीक़ों से बहुत नाराज़ी फैली, और कहते हैं कि युद्ध के बाद पंजाब में जो झगड़े हुए, उनका एक सबब यह भी था।

पंजाब पर युद्ध का एक और तरह से भी असर पड़ा। बहुत-से पंजाबी, और ख़ासकर सिक्ख, संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया में और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया में जाकर बस गये थे। जबतक अमेरिका और कनाडा के अधिकारियों ने बन्द नहीं किया तबतक प्रवासियों का यह ताँता लगा ही रहा। इस तरह आनेवालों के रास्ते में रुकावट पैदा करने के लिए कनाडा की सरकार ने एक नियम बनाया कि सिर्फ़ उन्हीं आनेवालों को कनाडा में क़दम रखने दिया जायगा जो रास्ते में बिना जहाज़ की बदली किये सीधे एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह को आयेंगे। इसका मतलब भारतीय आनेवालों को रोकना था, क्योंकि उन्हें चीन या जापान में हर हालत में जहाज़ बदलने पड़ते थे। इसपर बाबा गुरदित्त सिंह नामक एक सिक्ख ने कोमागातामारू नामक पूरा-का-पूरा जहाज़ किराये पर लिया और वह अपने साथ प्रवासियों की भीड़-की-भीड़ कलकत्ता से ठेठ कनाडा में वैन्कोवर को ले गया। इस तरह इसने चालाकी से कनाडा के क़ानून की बचत निकाल ली, पर कनाडा तो उसे किसी तरह भी अपने यहाँ नहीं रखना चाहता था, इसलिए किसी प्रवासी को जहाज़ से नहीं उतरने दिया गया। उन्हें उसी जहाज़ से वापस भेज दिया गया और वे सब-कुछ खोकर और गुस्से में भरे हुए भारत लौटे। कलकत्ता के पास बज-बज में पुलिस के साथ इनकी ख़ासी झड़प हुई, जिसमें ख़ासकर सिक्खों के बहुत आदमी मारे गये। बाद में इन सिक्खों के पीछे ख़ुफ़िया पुलिस लगा दी गई और सारे पंजाब में इनका पीछा किया गया। इन लोगों ने भी पंजाब में गुस्सा और असन्तोष भड़काया, और कोमागातामारू की घटना से सारे भारत में नाराज़ी फैल गई।

युद्ध के उन दिनों में जो कुछ हुआ, उस सबकी जानकारी करना मुश्किल है, क्योंकि सेन्सर की वजह से बहुत सारे समाचार प्रकाशित ही नहीं हो पाते थे, और इसलिए बे-सिर-पैर की अफ़वाहें उड़ा करती थीं। फिर भी, यह मालूम है कि

[1] "Press-gang" Methods.

सिंगापुर में एक भारतीय पलटन में भारी बग़ावत हुई और दूसरे बहुतेरे स्थानों पर भी छोटे पैमाने पर गड़बड़ें हुईं।

युद्ध के लिए सिपाही देने व दूसरी तरह से मदद पहुँचाने के अलावा भारत को नक़द रुपया भी मुहैय्या करना पड़ा। यह भारत की 'भेंट' कहलाती थी। एक मौक़े पर इस तरह दस करोड़ पौण्ड दिये गए और बाद में इससे भी बड़ी रक़म दी गई। एक ग़रीब देश से जबरन वसूल किये गए इस चन्दे को 'भेंट' कहने के लिए ब्रिटिश सरकार के मसख़रेपन की दाद देनी चाहिए!

यह सब जो कुछ अभी मैंने तुम्हें बतलाया है, उसमें, जहांतक भारत का ताल्लुक़ है, युद्ध के कम महत्ववाले नतीजों को ही शामिल किया गया है। लेकिन युद्धकालीन हालतों के सबब से एक बहुत बड़ा बुनियादी परिवर्तन पैदा हो रहा था। युद्ध के दौरान, और देशों के विदेशी व्यापार की तरह, भारत का विदेशी व्यापार भी बिलकुल चौपट हो गया था। ब्रिटिश माल की भारी मिक़दार, जो भारत आया करती थी, अब बहुत कम हो गई। भूमध्य सागर में और अतलान्तिक महासागर में जर्मन पनडुब्बियां जहाज़ों को डुबो देती थीं और इन हालतों में व्यापार जारी रखना सम्भव नहीं था। इसलिए भारत को अपने लिए खुद इन्तज़ाम करना पड़ा और अपनी ज़रूरतें आप पूरी करनी पड़ीं। युद्ध के लिए ज़रूरी हर क़िस्म की चीज़ें भी उसे सरकार के लिए मुहैय्या करनी पड़ती थीं। इसके नतीजों से भारतीय उद्योग-धन्धे तेज़ी से बढ़ने लगे। इनमें कपड़े और पटसन-जैसे पुराने उद्योग और नये युद्धकालीन उद्योग, दोनों शामिल थे। टाटा के लोहे व इस्पात के कारख़ाने ने, जिसकी तरफ़ सरकार ने अभीतक बेरुख़ी दिखाई थी, अब ज़बर्दस्त महत्व हासिल कर लिया, क्योंकि वह युद्ध का सामान तैयार कर सकता था। अब इसका संचालन बहुत-कुछ सरकारी देख-रेख में होने लगा।

इसलिए जबतक युद्ध चलता रहा तबतक भारत के अंग्रेज़ों व भारतीय पूंजीपतियों, दोनों को खुला मैदान मिल गया और विदेशों से कोई होड़ नहीं रही। इस मौक़े का उन्होंने पूरा फ़ायदा उठाया और बेचारी भारतीय जनता का पेट काटकर मुनाफ़े कमाये। माल की क़ीमतें बढ़ा दी गईं और बेशुमार मुनाफ़े बाँटे गये। पर जिन मज़दूरों की मेहनत ने ये मुनाफ़े और नफ़े पैदा किये थे, उनकी दुखी हालतों में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। उनकी मजूरियाँ कुछ बढ़ीं, लेकिन जीवन की ज़रूरी चीज़ों की क़ीमतें इससे बहुत ज़्यादा बढ़ गईं, इसलिए उनकी हालत सचमुच और भी बुरी हो गई।

लेकिन पूंजीपति ख़ूब मालदार हो गये और उन्होंने मुनाफ़े से बेशुमार दौलत जमा कर ली, जिसे उन्होंने फिर उद्योगों में लगाना चाहा। यह पहला मौक़ा था जब भारतीय पूंजीपति इतने ज़ोरदार हो गये कि वे सरकार पर दबाव

डालने लगे। इस दबाव के अलावा भी घटनाओं के ज़ोर ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध-काल में भारतीय उद्योगों की मदद करने के लिए मजबूर कर दिया। देश के और ज्यादा उद्योगीकरण की माँग के सबब से विदेशों से ज्यादा मशीनें मँगवाई गईं, क्योंकि इस क़िस्म की मशीनें उस समय भारत में नहीं बन सकती थीं। इसलिए जहाँ पहले इंग्लैण्ड से भारत को तैयार माल आता था, उसके बजाय अब मशीनें ज्यादा आने लगीं।

इन सब बातों की वजह से भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति में भारी परिवर्तन हो गया; सौ वर्ष पुरानी नीति छोड़ दी गई और उसकी जगह एक नई नीति अपनाई गई। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने अपनेको बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ ढालकर अपना चेहरा पूरी तरह बदल डाला! तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें भारत में अंग्रेज़ी राज की शुरू की मंज़िलों का हाल बतलाया था। पहली मंज़िल लूट का माल और नक़दी ले जाने की अठारहवीं सदी की थी। फिर दूसरी मंज़िल आई जब अंग्रेज़ी हुकूमत की जड़ मज़बूती से जम गई और जो युद्ध की ठेठ शुरुआत तक सौ वर्षों से ऊपर बनी रही। इसमें भारत को कच्चे माल के मैदान की तरह और इंग्लैण्ड के तैयार माल का हाट-बाज़ार बनाकर रक्खा गया। यहाँ बड़े-बड़े उद्योगों के विकास को हर तरह से रोका गया और भारत की आर्थिक उन्नति नहीं होने दी गई। अब युद्ध-काल में तीसरी मंज़िल आई जब ब्रिटिश सरकार ने भारत के बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया और यह इस तथ्य के बावजूद किया गया कि इससे कुछ हद तक इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों के स्वार्थों को नुक़सान पहुँचा। यह साफ़ है कि अगर भारतीय कपड़ा-उद्योग को बढ़ावा दिया जाता है तो उसी हद तक लंकाशायर को नुक़सान पहुँचता है, क्योंकि भारत लंकाशायर का सबसे बड़ा ग्राहक रहा है। तब ब्रिटिश सरकार ने लंकाशायर व दूसरे ब्रिटिश उद्योगों के हितों को नुक़सान पहुँचाकर अपनी नीति में यह परिवर्तन क्यों किया? मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि युद्ध से पैदा होनेवाली हालतों ने उसे ऐसा करने के लिए किसी तरह मजबूर कर दिया था। इस नीति-परिवर्तन के कारणों पर हम ब्यौरे के साथ विचार कर लें:

१. युद्ध-काल की माँगें अपने-आप इस नतीजे पर पहुँचने के लिए मजबूर करती हैं और भारत में उद्योगीकरण को आगे की ओर धकेलती हैं।

२. इससे भारतीय पूंजीपति-वर्ग बढ़ता है और ज़ोरदार बनता है। नतीजा यह होता है कि अपने बचत के धन को व्यवसाय में लगाने का मौक़ा हासिल करने के लिए वह उद्योगों के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा सहूलियतों की माँग करता है। इंग्लैण्ड अब इस स्थिति में नहीं है कि इनकी परवाह न करे, क्योंकि ऐसा करने के इनके विरोधी बन जाने की, और देश के उन सरगर्म व क्रान्ति-

कारी तत्वों के समर्थक बन जाने का डर है, जिनका ज़ोर बढ़ रहा है। इसलिए, विकास के लिए कुछ सहूलियतें देकर इन्हें जहाँतक हो सके ब्रिटिश पक्ष में मिलाये रखना ज़रूरी हो जाता है।

३. इंग्लैण्ड के पूँजीपति-वर्ग का फ़ालतू धन भी अविकसित देशों के उद्योगों में लगने के मौक़े तलाश करता है, क्योंकि यहाँ मुनाफ़े वहाँ से ज़्यादा हैं। चूँकि खुद इंग्लैण्ड का भरपूर उद्योगीकरण हो चुका है, इसलिए वहाँ पूँजी लगाने के ऐसे माक़ूल साधन नहीं हैं। मुनाफ़े भी बहुत ज़्यादा नहीं मिलते, और संगठित मज़दूर-आन्दोलन की ताक़त के सबब से मज़दूर-वर्ग के साथ झगड़े अक्सर होते हैं। अविकसित इलाक़ों का मज़दूर-वर्ग कमज़ोर है, इसलिए मजूरी की दरें नीची हैं और मुनाफ़े ऊँचे हैं। इसलिए अंग्रेज़ पूँजीपति क़ुदरती तौर पर अपनी पूँजी भारत-जैसे इंग्लैण्ड के अधीन अविकसित इलाक़ों में लगाना ज़्यादा पसन्द करते हैं। बस, ब्रिटिश पूँजी भारत में आ जाती है और इसके नतीजों से उद्योगीकरण और भी आगे बढ़ जाता है।

४. युद्ध से हासिल होनेवाले तजुर्बे बतलाते हैं कि सिर्फ़ वे ही देश युद्ध को कारगर तरीक़े से जारी रख सकते हैं, जिनका भरपूर उद्योगीकरण हो चुका हो। युद्ध में आखिरकार ज़ारशाही रूस की कमर इसीलिए टूट गई कि वहाँ काफ़ी उद्योगीकरण नहीं हुआ था और उसे दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ा था। इंग्लैण्ड को डर है कि शायद अगला युद्ध भारतीय सरहद पर सोवियत रूस के साथ छिड़ जाय। अगर भारत में भारत के अपने बड़े-बड़े उद्योग न हों तो ब्रिटिश सरकार सरहद पर युद्ध को ठीक तरह चलाने में समर्थ न होगी। इतना बड़ा खतरा उठाया नहीं जा सकता। इसलिए फिर वही नतीजा निकलता है कि भारत का उद्योगीकरण होना चाहिए।

इन वजहों से ब्रिटिश नीति लाज़िमी तौर पर बदली और भारत के उद्योगीकरण का फ़ैसला किया गया। इंग्लैण्ड की आम साम्राज्यशाही नीति की यह माँग थी, भले ही उससे लंकाशायर को या दूसरे ब्रिटिश उद्योगों को धक्का पहुँचे। हाँ, इंग्लैण्ड ने यह ज़रूर जतलाया कि इस परिवर्तन की वजह भारत के लिए और उसकी भलाई के लिए ब्रिटिश सरकार की बेहद चाह है। इस नीति का फ़ैसला कर लेने के बाद इंग्लैण्ड ने यह पक्का करने के उपाय किये कि भारत के नये उद्योगों की बागडोर ब्रिटिश पूँजीपतियों के हाथों में रहे। भारतीय पूँजीपतियों को बड़े एहसान के साथ इस व्यवसाय में बहुत छोटे साझेदार की तरह लिया जाता है!

युद्ध-काल में, १९१६ ई० में, एक भारतीय उद्योग-कमीशन मुक़र्रर किया गया, और दो वर्ष बाद उसने अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें ये सिफ़ारिशें की गईं कि

सरकार भारतीय उद्योगों को बढ़ावा दे और खेती में नये औद्योगिक साधनों का इस्तेमाल शुरू किया जाय। उसने यह भी सुझाया कि देश के सब बालक-बालिकाओं को प्राथमिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाय। जैसाकि इंग्लैण्ड में कारखानों के विकास में शुरुआती दिनों में किया गया था, उसी तरह यहाँ भी कारीगर मज़दूर-वर्ग पैदा करने के लिए बड़े पैमाने पर मामूली शिक्षा ज़रूरी समझी गई।

युद्ध के बाद इस कमीशन के पीछे ढेरों दूसरे कमीशन और कमेटियाँ बनाई गईं। यहाँतक सुझाव रक्खा गया कि भारतीय उद्योगों को चुंगियों या आयात-निर्यात चुंगियों के ज़रिये 'संरक्षण'[1] दिया जाना चाहिए। भारतीय उद्योगों के लिए यह बड़ी भारी जीत समझी गई। और कुछ हद तक यह थी भी। लेकिन बारीकी से छान-बीन करने पर कुछ मज़ेदार पहलू सामने आये। इरादा यह था कि विदेशी पूंजी को भारत आने के लिए बढ़ावा दिया जाय, और अमल में विदेशी पूंजी का मतलब था ब्रिटिश पूंजी; और ब्रिटिश पूंजी धड़ाधड़ आने लगी। उसकी प्रधानता तो हो ही गई, बल्कि प्रधानता भी ऐसी कि ग़र्क़ करनेवाली। बड़ी-बड़ी कम्पनियों में से बहुत ज़्यादा कम्पनियाँ ब्रिटिश पूंजी के बल पर चल रही थीं। इसलिए भारत में आयात-निर्यात चुंगियों और संरक्षणों का नतीजा हुआ भारत में ब्रिटिश पूंजी का संरक्षण! यों भारत में ब्रिटिश नीति में यह बड़ा परिवर्तन आखिर ब्रिटिश पूंजीपतियों के हित में इतना बुरा साबित नहीं हुआ। उन्हें पाँव फैलाने के लिए और अपने मज़दूरों को कम मजूरियाँ देकर मुनाफ़ा कमाने के लिए अच्छे पनाहदार हाट-बाज़ार मिल गये। भारत, चीन, मिस्र व ऐसे ही दूसरे देशों में, जहाँ मजूरी की दरें कम थीं, अपनी पूंजी लगाने के बाद उन्होंने इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ मज़दूरों की मजूरियाँ कम करने की धमकी दी। उन्होंने मज़दूरों से कहा कि अगर ऐसा नहीं किया गया तो वे भारत, चीन, वग़ैरा के कम मजूरी के बने हुए माल के मुक़ाबले में खड़े नहीं रह सकेंगे। और इन पूंजीपतियों ने अंग्रेज़ कारीगर को यह भी बतला दिया कि अगर वह अपनी मजूरी में कटौती पर एतराज़ करेगा तो उन्हें दुःख के साथ मजबूर होकर इंग्लैण्ड में अपने कारखाने बन्द करने पड़ेंगे और अपनी पूंजी दूसरी जगह लगानी पड़ेगी।

भारत में उद्योगों पर क़ाबू रखने के लिए भारत की अंग्रेज़ सरकार ने और भी कई तरह की कार्रवाइयाँ कीं। यह पेचीदा विषय है, इसलिए मैं इसकी चर्चा नहीं करना चाहता। लेकिन एक चीज़ मैं बतला दूं। आजकल के उद्योगों में बैंकों का काम बहुत महत्व का होता है, क्योंकि बड़े-बड़े उद्योगों के लिए रुपया उधार लेने की ज़रूरत होती है। अगर उधार लेने की ये सहूलियतें मिलना बन्द हो जायें

[1] Protection—विदेशी माल पर चुंगियाँ या महसूल लगाकर देश की पैदावार बढ़ाना या उसे नुक़सान न होने देना।

तो अच्छे-से-अच्छा धन्धा भी एकदम पैंदे बैठ सकता है। चूंकि बैंक यह रुपया उधार देते हैं, इसलिए तुम समझ सकती हो कि उनमें ज़रूरी तौर पर कितनी ताक़त होती है। वे किसी भी धन्धे को बना या बिगाड़ सकते हैं। युद्ध खत्म होने के कुछ ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत की सारी बैंक-व्यवस्था को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। इस तरह से, और सरकारी सिक्कों के चलन में हथकण्डे करके, सरकार भारतीय उद्योगों और कम्पनियों पर बड़ा भारी अधिकार चला सकती है। इसके अलावा, भारत में अंग्रेज़ी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने 'इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स' की नीति चलाई। इसका मतलब यह था कि अगर विदेशी माल पर संरक्षण के लिहाज़ से टैक्स लगाये जायँ तो ब्रिटिश माल पर या तो कम टैक्स लगें या बिलकुल न लगें, ताकि दूसरे मालों के मुक़ाबले में ब्रिटिश माल का पाया ऊँचा रहे।

युद्ध के दौरान भारतीय पूंजीपति-वर्गों और ऊपर के मध्यम वर्गों की बढ़ती हुई ताक़त का असर राजनीतिक आन्दोलन में भी ज़ाहिर होने लगा। राजनीति धीरे-धीरे युद्ध से पहले की और युद्ध के शुरू की सुस्ती से बाहर निकली, और स्वराज वग़ैरा के लिए तरह-तरह की माँगें की जाने लगीं। अपनी लम्बी सज़ा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये। जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, कांग्रेस उन दिनों नर्म दल के हाथों में थी और यह एक छोटी-सी बिना असरवाली जमात थी, जिसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं था। चूंकि ज्यादा तरक्क़ी-पसन्द राजनीतिक लोग कांग्रेस के बाहर थे, इसलिए उन्होंने होमरूल लीगों का संगठन किया। इस तरह की दो लीगें क़ायम हुईं, एक लोकमान्य तिलक की, और दूसरी श्रीमती ऐनी बेसेन्ट की। कुछ वर्षों तक श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीय राजनीति में बहुत बड़ा हिस्सा लिया और उनकी बोलने की कला व ज़ोरदार वकालत ने राजनीति में लोगों की दिलचस्पी फिर से जगाने में बहुत मदद की। सरकार ने उनके प्रचार को इतना खतरनाक समझा कि उसने उन्हें, उनके दो साथियों समेत, कुछ महीनों के लिए नज़रबन्द तक कर दिया। उन्होंने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की सदारत की, और वह पहली महिला थीं, जो कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं। कुछ वर्ष बाद श्रीमती सरोजनी नायडू कांग्रेस की दूसरी महिला अध्यक्ष हुईं।

१९१६ ई० में कांग्रेस के दोनों पक्षों—नर्म व गर्म दलों—में समझौता हो गया और दिसम्बर, १९१६ ई० के लखनऊ अधिवेशन में दोनों शामिल हुए। मगर यह समझौता बहुत थोड़े दिन टिका क्योंकि दो ही वर्ष के भीतर फिर फूट पड़ गई, और नर्म दल के लोग, जो अब अपनेको 'उदारदली' कहने लगे थे, कांग्रेस से अलग हो गये, और तब से अलग ही हैं।

कांग्रेस का, १९१६ ई० का लखनऊ अधिवेशन, कांग्रेस में दुबारा जान

पड़ने को जाहिर करता है। तब से कांग्रेस का बल और महत्व बढ़ते ही चले गये और अपने इतिहास में वह पहली बार मध्यम-वर्गों का सच्ची राष्ट्रीय संगठन बनने लगी। असली जनता से उसका कोई सरोकार नहीं था और जबतक गांधीजी नहीं आये तबतक जनता को भी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। इस तरह नाम-धारी नर्मदली और गर्मदली लोग कम-बढ़ एक ही वर्ग के, यानी मध्यमवर्ग के प्रतिनिधि थे। नर्मदल वाले मुट्ठीभर खुशहाल लोगों के या सरकारी नौकरियों के लिए तैयार बैठे लोगों के प्रतिनिधि थे, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि खुद ही खुशहाल थे या सरकारी नौकरियाँ चाहते थे। गर्मदलवालों के साथ मध्यम-वर्ग के ज्यादातर हिस्से की सहानुभूति थी और उनकी क़तारों में बहुत सारे बेकार दिमाग़ी लोग थे। ये दिमाग़ी लोग (जिनसे मेरा मतलब सिर्फ़ थोड़े-बहुत शिक्षित लोगों से है) इनकी क़तारों को कट्टर बनाते थे और क्रान्तिकारियों की क़तारों को भी रंगरूट देते थे। नर्म और गर्म-दलों के मक़सदों और आदर्शों में कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं था। दोनों ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वराज के हामी थे, और दोनों फ़िलहाल स्वराज का एक टुकड़ा लेने को तयार थे। हाँ, गर्मदलवाले नर्मदलवालों से कुछ ज्यादा चाहते थे और उनकी बनिस्बत ज़रा ज्यादा कड़ी भाषा बोलते थे। अलबत्ता मुट्ठीभर क्रान्तिकारी आज़ादी की पूरी मिक़दार चाहते थे, पर कांग्रेस के नेताओं पर उनका कोई असर नहीं था। नर्मदल और गर्म-दल में बुनियादी फ़र्क़ यह था कि नर्म-दली लोग धन-साधन वालों[1] और इनके पिछलग्गुओं का एक मालदार दल थे और गर्मदली लोगों में कुछ धन-साधन हीन[2] लोग भी थे। और, गर्मदल के ज्यादा गर्म विचारों के सबब से देश के युवक और युवतियाँ क़ुदरती तौर पर उसकी ओर खिंचते थे क्योंकि इनमें से ज्यादातर यह समझते थे कि कार्रवाई के एवज़ कड़ी भाषा बोलना काफ़ी है। हाँ, ये बातें आमतौर पर दोनों तरफ़ के तमाम व्यक्तियों पर लागू नहीं होतीं। मसलन नर्मदल के एक योग्य और त्यागी नेता, गोपालकृष्ण गोखले थे, जो किसी तरह भी धन-साधनवाले नहीं थे। सर्वेन्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी इन्होंने ही क़ायम की थी। लेकिन नर्मदल या गर्मदल दोनों में किसी का भी असली धन-साधनहीन वर्ग से यानी मजदूरों और किसानों से, कोई ताल्लुक़ नहीं था। हाँ, तिलक अपनी निजी हैसियत से जनता में लोकप्रिय थे।

१९१६ ई० की लखनऊ-कांग्रेस एक और दोबारा मेल, यानी हिन्दू-मुस्लिम एकता, के लिए मशहूर है। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार को पकड़े हुए थी,

---

[1] Haves—वह वर्ग जिसके हाथ में धन और साधन रहता है।

[2] Have-nots—अधिकांश जनता जिसके पास धन और सत्ता और जीवन के कोई साधन नहीं हैं। ये दोनों शब्द अंग्रेजी से पारिभाषिक हो गये हैं।

लेकिन व्यवहार में वह प्रबल हिन्दू संस्था थी, क्योंकि उसमें हिन्दुओं का ज़बर्दस्त बहुमत था। युद्ध से कुछ वर्ष पहले मुस्लिम शिक्षित वर्ग ने, कुछ हद तक सरकार के बढ़ावा देने पर, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नामक अपनी अलग जमात खड़ी कर ली थी। इसका मक़सद मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखना था, पर जल्द ही वह कांग्रेस की तरफ़ बह गई और लखनऊ में दोनों के बीच भारत के भावी संविधान के बारे में समझौता हो गया। यह कांग्रेस-लीग-योजना कहलाई और दूसरी बातों के अलावा, इसमें यह तय पाया गया कि विधान-सभाओं में मुस्लिम अल्प-संख्यकों के लिए किस हिसाब से जगहें सुरक्षित की जायँ। इसके बाद यह कांग्रेस-लीग-योजना एक जुड़वाँ कार्यक्रम बन गई, जो देश की माँग के तौर पर मान ली गई। यह मध्यम-वर्गों के विचारों की वकालत करती थी, क्योंकि उस समय इन्हीं लोगों का राजनीति की तरफ़ झुकाव था। इस योजना के आधार पर हलचलें ज़ोर पकड़ने लगीं।

मुसलमानों का झुकाव राजनीति की तरफ़ ज़्यादा हो गया था और कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने की वजह बहुत करके यह थी कि वे तुर्की के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों की लड़ाई से खीझ उठे थे। तुर्की के साथ हमदर्दी की वजह से और इस हमदर्दी का खूब ज़ोरों से इज़हार करने की वजह से मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली नामक दो मुस्लिम नेताओं को युद्ध के शुरू में ही नज़रबन्द कर दिया गया था। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अपनी लिखी किताबों से अरब देशों में बहुत लोकप्रिय थे और इन देशों से ताल्लुक़ होने के कारण उन्हें भी नज़रबन्द कर दिया गया था। इनसब बातों से मुसलमान लोग चिढ़ गये और भड़क गये और वे दिन-पर-दिन सरकार के ज़्यादा विरोधी बनते गये।

चूँकि भारत में स्वराज की माँग ज़ोर पकड़ने लगी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने तरह-तरह के वादे किये और जाँच-कमेटियाँ बैठाईं जिनसे लोगों का ध्यान बँट गया। १९१८ ई० की गर्मियों में उस ज़माने के भारत-मन्त्री और वायसराय ने एक शामिल रिपोर्ट पेश की, जो इन दोनों के नामों पर माण्टेग्यू-चैम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट कहलाती है, और जिसमें भारत के लिए कुछ सुधारों व परिवर्तनों के प्रस्ताव शामिल थे। इन आज़मायशी प्रस्तावों पर देश में फ़ौरन ही ज़बर्दस्त बहस छिड़ गई। कांग्रेस ने ज़ोरों से इनका विरोध किया और उन्हें नाकाफ़ी बतलाया। उदारदल ने इनका स्वागत किया और इसीलिए उन्होंने कांग्रेस का साथ छोड़ दिया।

जब युद्ध खत्म हुआ उस समय भारत में यह हालत थी। देशभर में बड़ी आशा के साथ परिवर्तन की बाट देखी जा रही थी। राजनीतिक हवा में गर्मी बढ़ रही थी। उदारदल की मुलायम व पुचकारनेवाली और कुछ झिझकभरी व बे-असर कानाफूसियों की जगह गर्म-दल की विश्वासभरी, सरगर्म, सीधी और

लड़ाकू पुकारें ले रही थीं। पर उदारदल और गर्मदल दोनों ही राजनीति की भाषा में और शासन के ऊपरी ढाँचे के बारे में बातें करते थे; उनकी पीठ के पीछे ब्रिटिश साम्राज्यशाही देश के आर्थिक जीवन पर अपना पंजा चुपचाप मज़बूत किये चली जा रही थी।

: १५५ :

यूरोप का नया नक़्शा

२१ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध के दौर पर संक्षेप में विचार करने के बाद हमने रूसी क्रान्ति की चर्चा की और उसके बाद युद्ध-काल में भारत की हालत की। अब हम फिर युद्ध का अन्त करनेवाले सुलहनामे पर आते हैं और देखते हैं कि जीतनेवालों ने क्या-क्या किया। जर्मनी तो धूल में लोट रहा था। कैसर भाग गया था और गणराज्य की घोषणा कर दी गई थी। जर्मन सेना को उन इलाक़ों से तो हटना ही पड़ा, जिन-पर उसने धावा करके क़ब्ज़ा कर लिया था, बल्कि अलसास लॉरेन से और ठेठ राइन नदी तक जर्मनी के कुछ हिस्से से भी हाथ धोना पड़ा। राइनलैण्ड पर, यानी कोलोन के आसपास के इलाक़े पर, मित्र-राष्ट्रों का दख़ल तय पाया गया। जर्मनी को अपने तमाम जंगी-जहाज़ और पनडुब्बियाँ, जो 'यू-बोट' कहलाती थीं, और हज़ारों भारी-भारी तोपें और हवाई-जहाज़ और रेल के इंजन और लारियाँ और दूसरे सामान मित्र-राष्ट्रों के हवाले करने पड़े।

उत्तरी फ़्रान्स में कौंप्येन के वन में, जहाँ सुलहनामे पर दस्तख़त हुए थे, एक यादगार बनी हुई है जिसपर नीचे लिखी इबारत खुदी हुई है:

"यहाँ, ११ नवम्बर, १९१८ ई०, को जर्मन साम्राज्य का पापी घमण्ड चूर हो गया, जिसे उन आज़ाद क़ौमों ने नीचा दिखाया, जिन्हें उसने ग़ुलाम बनाना चाहा था।"

कम-से-कम ज़ाहिरा तौर पर तो जर्मन साम्राज्य वास्तव में ख़त्म हो गया था, और प्रशियाई फ़ौजी मग़रूर धूल में मिला दिया गया था। मगर रूसी साम्राज्य का तो इससे भी पहले अन्त हो चुका था और रोमानॉफ़ का घराना उस रंगमंच से धक्का देकर हटा दिया गया था, जिसपर उसने इतने वर्षों तक बुरी हरकतें की थीं। यह युद्ध एक तीसरे साम्राज्य और प्राचीन राजवंश का, यानी हैप्सबर्गों के आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का, भी मरघट साबित हुआ। लेकिन जीतनेवालों में दूसरे साम्राज्य अभीतक बाक़ी थे, और विजय से न तो उनका घमण्ड ही कम

हुआ था और न उन्हें उन लोगों के हक़ों की ज़्यादा परवाह हुई, जिन्हें उन्होंने ग़ुलाम बना रक्खा था।

विजयी मित्र-राष्ट्रों ने १९१९ ई० में पेरिस में अपना एक सुलह-सम्मेलन किया। पेरिस में इनके हाथों दुनिया का भविष्य गढ़ा जानेवाला था, इसलिए महीनों तक इस शहर पर सारी दुनिया की आँखें लगी रहीं। दूर-दूर से और आस-पास से हर तरह के लोग यात्राएँ करके यहाँ पहुँचे। इनमें राजनीतिज्ञ और राजनीतिक लोग थे, जो अपने-आपको सब-कुछ समझ रहे थे; और राजनयिक और ख़ास जानकारी रखनेवाले और फ़ौजी अफ़सर और साहूकार, और मुनाफ़ाख़ोर थे, और सबके साथ सहायकों और टाइपिस्टों और क्लर्कों की भीड़-की-भीड़ थी। और पत्रकारों की तो फ़ौज-की-फ़ौज थी ही। आज़ादी के लिए लड़नेवाली आयरी, मिस्री, अरबी वग़ैरा क़ौमों के, और दूसरी क़ौमों के, जिनके नाम तक पहले नहीं सुने गये थे, प्रतिनिधि वहाँ पहुँचे। और उन क़ौमों के प्रतिनिधि भी पहुँचे जो आस्ट्रिया और तुर्की के साम्राज्यों के खण्डहरों में से अपने-अपने लिए अलग-अलग राज्य तराश लेने की फ़िराक़ में थे। और मौक़े से फ़ायदा उठानेवाले ले-भग्गू तो ढेर-के-ढेर थे ही। दुनिया का नये सिरे से बँटवारा होने जा रहा था, और ये गिद्ध इस मौक़े को कभी नहीं चूकना चाहते थे।

सुलह-सम्मेलन से लोगों को बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं। लोगों को आशा थी कि युद्ध के भयंकर तजुर्बों के बाद इन्साफ़ी और टिकाऊ शान्ति का कोई उपाय सोच निकाला जायगा। युद्ध का ज़बर्दस्त बोझ जनता को अभीतक पीस रहा था, और मेहनतकश-वर्गों में बड़ी भारी बेचैनी फैल रही थी। ज़िन्दगी की ज़रूरी चीज़ों की क़ीमतें बहुत चढ़ गई थीं और इसके सबब से जनता के कष्ट बढ़ गये थे। १९१९ ई० में समाजी क्रान्ति की घटा के बहुत आसार नज़र आ रहे थे। रूस की मिसाल छूत की तरह लग रही थी।

यह थी उस सुलह-सम्मेलन की पृष्ठभूमि जिसकी बैठक वर्साई के उसी भवन में हुई जहाँ अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी। इतने बड़े सम्मेलन को हर रोज़ बैठना कठिन था, इसलिए उसे कई कमेटियों में बाँट दिया गया। इन कमेटियों की बैठकें ख़ानगीतौर पर होती थीं और इनकी साज़िशें व खींचा-तानियाँ तमीज़ के बुर्क़े में ढँकी रहती थीं। सम्मेलन की बागडोर मित्र-राष्ट्रों की 'दस की कौन्सिल'[१] के हाथों में थी। बाद में यह घटकर पाँच की रह गई, जो 'पाँच बड़े'[२] कहलाते थे—यानी संयुक्त राज्य अमेरिका,

[१] Council of Ten. [२] Big Five.

इंग्लैण्ड, फ़ान्स, इटली और जापान। जब जापान निकल गया तो 'चार की कौन्सिल' रह गई; और अन्त में इटली के निकल जाने पर सिर्फ़ 'तीन-बड़े' बाक़ी रह गये—अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ़ान्स। इन तीन देशों के प्रतिनिधि थे राष्ट्रपति विल्सन, लॉयड जॉर्ज और क्लैमैन्शो। और दुनिया को नये साँचे में ढालने की और उसके भयंकर घावों को भरने की महान् ज़िम्मेदारी इन तीनों के ऊपर आ पड़ी। यह काम तो महामानवों और नर-देवों के बूते का था! और ये तीनों न तो कोई महामानव थे और न नर-देव। बादशाहों, राजनीतिज्ञों, सेनापतियों, वग़ैरा सत्ताधारी व्यक्तियों का अखबार वग़ैरा इतना ज़्यादा विज्ञापन करते हैं, और उन्हें इतना आसमान पर चढ़ा देते हैं कि साधारण लोगों को वे अक्सर विचार और कर्म के देव-सरीखे दिखाई देने लगते हैं। उनके चारों ओर एक प्रभा-मण्डल-सा दिखाई देता है और अपने अज्ञान की वजह से हम उनको ऐसे कितने ही गुणों की खान समझ लेते हैं, जो उनके पास फटकते तक नहीं। नज़दीक से जानकारी होने के बाद वे बहुत ही मामूली व्यक्ति निकल आते हैं। आस्ट्रिया के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को यह मालूम पड़ जाय कि उसपर कितनी कम-अ़क़्ली से हुकूमत की जाती है तो वह हक्का-बक्का हो जाय। कहने का मतलब यह है कि हालाँकि ये तीनों, यानी 'तीन बड़े', देखने में बड़े लगते थे, पर उनका नज़रिया बेहद तंग था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से नावाकिफ़ थे, यहाँतक कि उन्हें भूगोल का भी ज्ञान नहीं था!

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ज़बर्दस्त नेकनामी और शोहरत लेकर आया था। उसने अपने भाषणों में और सरकारी टीपों में इतने सुन्दर व आदर्शवादी फ़िक़रों का इस्तेमाल किया था कि लोग उसे आगे आनेवाली आज़ादी का पैग़म्बर ही समझने लगे थे। इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री लॉयड जॉर्ज भी लच्छेदार फ़िक़रों का जाल बुननेवाला था, लेकिन वह मशहूर मौक़ा-परस्त था। 'शेर' कहलानेवाला क्लैमैन्शो तो आदर्शों और ढोंगभरे फ़िक़रों को बेकार चीज़ समझता था। वह तो फ़ान्स के पुराने दुश्मन जर्मनी को कुचल डालने पर, उसे हर तरह कुचलने और ज़लील करने पर तुला बैठा था ताकि वह फिर कभी सिर न उठा सके।

बस, ये तीनों तो आपस में एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते थे और अपनी-अपनी तरफ़ खींचतान करते थे, और इन तीनों को सम्मेलन में भी, और उसके बाहर भी दूसरे कई लोग खींचते और धक्के देते रहते थे। और इन सबके पीछे रूस का भूत खड़ा हुआ था। सम्मेलन में रूस का कोई प्रतिनिधि नहीं था और न जर्मनी का था; पर सोवियत रूस की सिर्फ़ हस्ती ही पेरिस में जमा होनेवाली तमाम पूँजीवादी शक्तियों के लिए लगातार चुनौती बनी हुई थी।

अन्त में, लॉयड जॉर्ज की मदद से क्लैमैन्शो की जीत हुई। विल्सन जिन

चीज़ों पर बहुत ज़ोर देता था, उनमें से एक चीज़ राष्ट्र-संघ मिल गई, और जब उसने सब को इसपर राज़ी करा लिया तो वह बाक़ी बहुत-सी बातों में झुक गया। कई महीनों के तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के बाद इस सुलह-सम्मेलन में आखिरकार मित्र-राष्ट्र सन्धि के एक मसं.दे पर सहमत हुए। और आपस में सहमत हो जाने के बाद उन्होंने अपना हुक़्मनामा सुनाने के लिए जर्मन प्रतिनिधियों को तलब किया। सन्धि का यह ४४० खण्डोंवाला भारी-भरकम मसौदा इन जर्मनों पर फेंक दिया गया और उन्हें इसपर दस्तखत करने को कहा गया। उनके साथ कोई दलील नहीं की गई, न उन्हें सुझाव देने या परिवर्तन करने का मौक़ा दिया गया। यह सुलह तो उनपर लादी जानेवाली थी; या तो वे इसपर ज्यों-के-त्यों दस्तखत कर दें या इन्कारी का नतीजा भुगतने को तैयार हो जायँ। नये जर्मन गणराज्य के प्रतिनिधियों ने ऐतराज़ किया पर मोहलत के आखिरी दिन इस 'वर्साई की सन्धि' पर दस्तखत कर दिये।

आस्ट्रिया, हंगरी, बलगारिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रों ने अलग-अलग सन्धियाँ तय कीं और उनपर दस्तखत किये। तुर्की-सन्धि पर, हालाँकि सुल्तान राज़ी हो गया था, पर कमालपाशा और उसके साथियों ने डटकर विरोध किया, इसलिए वह बीच में ही टूट गई। लेकिन इसकी कहानी मैं तुम्हें अलग बतलाना चाहता हूँ।

इन सन्धियों के सबब से क्या-क्या परिवर्तन हुए? इलाक़ों में ज्यादातर रद्दो-बदल पूर्वी यूरोप, पश्चिमी एशिया और अफ़्रीका में हुई। अफ़्रीका में मित्र-राष्ट्रों ने जर्मन उपनिवेशों को युद्ध की लूट के तौर पर हड़प लिया, और सबसे बढ़िया टुकड़ा इंग्लैण्ड के हाथ में आया। अफ़्रीका के एक छोर से दूसरे छोर तक, यानी उत्तर में मिस्र से लगाकर दक्षिण में उत्तमाशा अन्तरीप तक, साम्राज्य की अटूट पट्टी का जो सपना अंग्रेज़ लोग बहुत दिनों से देख रहे थे, उसे वे पूर्वी अफ़्रीका में टांगानिका व दूसरे इलाक़ों पर क़ब्ज़ा करके पूरा करने में सफल हो गये।

यूरोप में भारी तब्दीलियाँ हुईं और नक़्शे पर नये राज्यों की काफ़ी संख्या नज़र आने लगी। पुराने नक़्शे की नये नक़्शे से तुलना करने पर तुम्हें ये बड़ी तब्दीलियाँ देखते ही नज़र आ जायँगी। इनमें से कुछ तब्दीलियाँ तो रूसी क्रान्ति की नतीजा थीं, क्योंकि रूस की सरहद पर बसनेवाली कई क़ौमों ने, जो खुद रूसी नहीं थीं, सोवियत से नाता तोड़ लिया और अपनी स्वाधीनता का ऐलान कर दिया। सोवियत सरकार ने आत्म-निर्णय के उनके हक़ों को मान लिया और किसी तरह की अड़चन नहीं डाली। यूरोप के नये नक़्शे को देखो। एक बड़ा राज्य आस्ट्रिया-हंगरी ग़ायब हो गया है और उसकी जगह कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गये हैं, जो अक़्सर 'आस्ट्रिया के उत्तराधिकारी राज्य' कहे जाते हैं। ये हैं: आस्ट्रिया, जो

अब घटकर अपने पुराने रूस का ज़रा-सा टुकड़ा रह गया है और वियना-जैसा शानदार बड़ा शहर जिसकी राजधानी है; हंगरी, जिसका आकार भी बहुत छोटा रह गया है; चेकोस्लोवाकिया, जिसमें पुराना बोहेमिया शामिल है; यूगोस्लाविया, जो हमारा पुराना और बुरा जाना-पहचाना सर्बिया है, और जो इतना फैल गया है कि पहचाना नहीं जाता; और बाक़ी हिस्से रूमानिया, पोलैण्ड और इटली को चले गये हैं। यह काट-छाँट बिलकुल मुकम्मिल तौर पर की गई थी।

दूर उत्तर में एक और नया राज्य पोलैण्ड बन गया, या यों कहो कि एक पुराना राज्य फिर प्रकट हो गया। यह प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया के इलाक़ों को जोड़-तोड़कर बनाया गया था। पोलैण्ड को बन्दरगाह देने के लिए एक बड़ा ही अनोखा करतब दिखाया गया। जर्मनी के, या यों कहो कि प्रशिया के, दो हिस्से कर दिये गए और दोनों हिस्सों के बीच में समुद्र तक ज़मीन की एक 'गली' पोलैण्ड को दे दी गई। इसलिए पश्चिमी प्रशिया से पूर्वी प्रशिया जानेवाले को पोलैण्ड की इस गली को पार करना पड़ता है। इस गली के नज़दीक दानत्सिख़ का मशहूर शहर है। इसे आज़ाद शहर बना दिया गया है—यानी न तो वह जर्मनी का है और न पोलैण्ड राज्य का। यह ख़ुद ही एक राज्य है, जो सीधा राष्ट्र-संघ के मातहत है।

पोलण्ड के उत्तर में लिथ्यूनिया, लातविया, एस्तोनिया और फ़िनलैण्ड के बाल्टिक तटवर्ती राज्य हैं जो तमाम पुराने ज़ारशाही साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं। ये राज्य हैं तो छोटे-छोटे पर हरेक राज्य अपनी संस्कृति की अलग हस्ती है, और हरेक की अपनी अलग भाषा है। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि लिथ्यूनिया-निवासी आर्य हैं (यूरोप की कई दूसरी क़ौमों की तरह) और उनकी भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मार्के की बात है, जिसे शायद भारत के बहुत से लोग महसूस नहीं करते, लेकिन जो हमको दूर-दूर बसनेवाली क़ौमों को जोड़नेवाली कड़ियों का पता देती है।

यूरोप में इलाक़ों की एक और बड़ी तब्दीली यह हुई कि अलसास और लॉरेन के प्रान्त फ़्रान्स को वापस मिल गये। कुछ और परिवर्तन भी हुए, लेकिन उनकी झंझट में मैं तुम्हें नहीं डालना चाहता। अब तुमने देख लिया कि इन परिवर्तनों के नतीजे से कई नये राज्य पैदा हो गये, जिनमें से ज्यादातर बिलकुल छोटे-छोटे थे। पूर्वी यूरोप अब बलकान-जैसा बन गया, और इसलिए अक्सर यह कहा जाता है कि सुलह-सन्धियों से यूरोप का 'बलकानीकरण' हो गया। अब पहले से बहुत ज्यादा सरहदें हो गई हैं, और इन ज़रा-ज़रा-से राज्यों के बीच अक्सर झगड़े-टण्टे रहा करते हैं। यह देखकर हैरत होती है कि ये एक-दूसरे से कितनी नफ़रत करते हैं, ख़ासकर डैन्यूब के कांठेवाले राज्य। इसकी बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी मित्र-

राष्ट्रों पर है, जिन्होंने बिलकुल ग़लत तरीक़े पर यूरोप का बँटवारा कर डाला, और इस तरह कई नई समस्याएँ पैदा कर दीं। बहुत-सी अल्पसंख्यक क़ौमें विदेशी हुकूमतों के अधीन हैं, जो उन्हें सताती रहती हैं। पोलैण्ड को ज़मीन का एक बड़ा टुकड़ा मिल गया है, जो वास्तव में यूक्रेन का भाग है। इस इलाक़े के बेचारे यूक्रेनियों का जबरन 'पोलीकरण' करने के इरादे से उनपर हर तरह के अत्याचार किये गए हैं। यूगोस्लाविया और रूमानिया और इटली में भी इसी तरह की विदेशी अल्पसंख्यक जातियाँ हैं और इनके साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया जाता है। दूसरी तरफ़ आस्ट्रिया और हंगरी की धज्जियाँ उड़ा दी गई हैं और ज़्यादातर ख़ुद उनके ही निवासी उनसे छीन लिये गए हैं। इन तमाम इलाक़ों पर विदेशी क़ब्ज़ा होने के सबब से राष्ट्रीय आन्दोलन और लगातार रगड़े-झगड़े क़ुदरती तौर पर होते रहते हैं।

नक़्शे पर फिर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फ़िनलैण्ड, एस्तोनिया, लातविया, लिथ्यूनिया, पोलैण्ड और रूमानिया राज्यों की लड़ी ने रूस को पश्चिमी यूरोप से बिलकुल काट दिया है। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, इनमें से ज़्यादातर राज्य वर्साई की सन्धि से नहीं बने थे, बल्कि सोवियत क्रान्ति के नतीजे थे। मगर फिर भी मित्र-राष्ट्रों ने इनका स्वागत किया, क्योंकि ये रूस को ग़ैर-बोलशेविक यूरोप से अलग करनेवाली क़तार बन गये थे। ये बोलशेविक छूत को दूर रखने में मदद देनेवाला एक 'सफ़ाई का घेरा'[1] (जिससे छूत की बीमारियों को फैलने से रोका जाता है) बन गये थे! बाल्टिक-तटवर्ती ये तमाम राज्य ग़ैर-बोलशेविक हैं, वरना वे सोवियत संघ में ज़रूर ही शामिल हो गये होते।

पश्चिमी एशिया में पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ भागों पर पश्चिमी शक्तियों की लार टपकने लगी। युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने अरब, फ़िलिस्तीन और सीरिया को मिलाकर संयुक्त अरब सल्तनत बना देने का वायदा करके अरबों को तुर्की के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए उकसाया था। इधर तो अरबों से यह वायदा किया जा रहा था, उधर ये ही अंग्रेज इन्हीं प्रदेशों के बँटवारे की एक गुप्त सन्धि फ़्रान्स के साथ कर रहे थे। यह कार्रवाई इनकी शान के लिए भद्दी चीज़ थी, और इंग्लैण्ड के एक प्रधान-मन्त्री रैम्जे मैक्डानल्ड ने इसे 'भोंड़ी दोरंगी चालबाज़ी' की मिसाल बतलाया था। लेकिन यह दस वर्ष पहले की बात है जब वह प्रधान-मन्त्री नहीं था, और इसलिए कभी-कभी सच्ची बात कहने की हिम्मत कर सकता था।

जब ब्रिटिश सरकार ने सिर्फ़ अरबों के साथ किये हुए वादे को ही नहीं बल्कि फ़्रान्स के साथ की हुई गुप्त सन्धि को भी तोड़ने के विचार से खेलना शुरू किया तो इससे भी ज़्यादा अजीब नतीजा निकला। भारत से लगातार मिस्र तक

---

[1] Cordon Sanitaire.

फैले हुए एक महान् मध्य-पूर्वी साम्राज्य का, यानी अपने भारतीय साम्राज्य को अपने अफ़्रीकी उपनिवेशों से जोड़नेवाले एक बहुत-ही बड़े खण्ड का, सपना आँखों के आगे नाचने लगा। यह एक लुभावना और ज़बर्दस्त सपना था। मगर फिर भी उस समय इसका पूरा होना ज्यादा कठिन नहीं नज़र आता था। उस समय, यानी १९१८ ई० में, इस सारे लम्बे-चौड़े इलाक़े में, यानी ईरान, इराक, फ़िलिस्तीन, अरब के कुछ भाग, मिस्र, वग़ैरा में अंग्रेज़ी फ़ौजों ने क़ब्ज़ा जमा रक्खा था। ये लोग फ़्रान्स को सीरिया में क़दम नहीं रखने देना चाहते थे। खुद क़ुस्तुन्तुनिया भी अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में था। लेकिन जब १९२० और १९२१ और १९२२ ई० के वर्षों की होनेवाली घटनाएँ सामने आने लगीं तो यह सपना ग़ायब हो गया। पीछे से सोवियत ने और सामने से कमालपाशा ने इंग्लैण्ड के मन्त्रियों की इन ऊँचे हौसलों-वाली योजनाओं को मिट्टी में मिला दिया।

लेकिन फिर भी इंग्लैण्ड पश्चिमी एशिया में इराक़ और फ़िलिस्तीन वग़ैरा के बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा जमाये रहा और घूस व दूसरी तरकीबों से उसने अरब के घटनाचक्र पर असर डालने की कोशिश की। सीरिया फ़्रान्सीसियों के हिस्से पड़ा। अरब देशों की नई राष्ट्रीयता का और आज़ादी के लिए उनकी लड़ाई का हाल मैं फिर कभी लिखूंगा।

अब हमें वर्साई की सन्धि पर लौट जाना चाहिए। इस सन्धि के मातहत जर्मनी को युद्ध छेड़नेवाला क़सूरवार ठहराया गया और सन्धि पर दस्तख़त कराके इस तरह जर्मनों से ज़बर्दस्ती यह इक़बाल कराया गया कि वे युद्ध के क़सूरवार हैं। ऐसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती के इक़बालनामों की कोई क़ीमत नहीं होती; वे कड़वाहट ही पैदा करते हैं, जैसा कि इस मामले में हुआ भी।

जर्मनी से यह भी माँग की गई कि वह बिलकुल बे-हथियार हो जाय। उसे थोड़ी-बहुत पुलिस की तरह काम करनेवाली छोटी-सी सेना रखने की इजाज़त दी गई और अपना जंगी-बेड़ा मित्र-राष्ट्रों के हवाले कर देना पड़ा। जब जर्मन बेड़ा इस तरह सौंपे जाने के लिए जा रहा था, तब उसके अफ़सरों और जहाज़ियों ने अपनी ही ज़िम्मेदारी पर यह तय कर डाला कि अंग्रेज़ों के हवाले करने की बजाय उसे डुबो देना बेहतर है। बस, जून १९१९ ई० में, स्कैपा फ़्लो की खाड़ी में, अंग्रेज़ों की निगाह के सामने, जो उसे लेने की तैयारियाँ कर रहे थे, सारे जर्मन बेड़े को उसीके जहाज़ियों ने जहाज़ों में छेद करके डुबो दिया।

इसके अलावा, जर्मनी से युद्ध का दण्ड और मित्र-राष्ट्रों को युद्ध से होने-वाले नुक़सानों व तबाहियों का हर्जाना भी तलब किया गया। इसे 'रिपेअरेशन्स' (नुक़सान का बदला) कहा गया, और यह शब्द कई वर्षों तक यूरोप के ऊपर भूत की तरह सवार रहा। सन्धि में कोई निश्चित रक़म तय नहीं की गई थी, पर उसमें

इसके तय किये जाने का विधान रक्खा गया था। मित्र-राष्ट्रों के युद्ध के नुक़सानों को पूरा करने की यह ज़िम्मेदारी एक जबर्दस्त मामला था। जर्मनी तो उस वक़्त वैसे ही हारा हुआ और बर्बाद देश था, जिसके सामने अपने ही घर का खर्च चलाने की विकट समस्याएँ थीं। इसपर मित्र-राष्ट्रों का यह बोझ कन्धों पर उठाना एक नामुमकिन काम था, जो कभी भी पूरा नहीं हो सकता था। लेकिन मित्र-राष्ट्र तो नफ़रत और बदले की भावना से भरे हुए थे। वे जर्मनी से सिर्फ़ अपना 'एक पौण्ड माँस'[1] ही वसूल नहीं करना चाहते थे, बल्कि उसके ज़मीन पर पड़े हुए शरीर के खून की आखिरी बूंद तक चूस लेना चाहते थे। इंग्लैण्ड में लॉयड जॉर्ज ने 'कैसर को फाँसी दो' का नारा लगाकर चुनाव जीते थे। फ़्रान्स में तो लोगों की भावनाएँ इससे भी ज्यादा कट्टर थीं।

सन्धि की तमाम धाराओं का सारा मतलब यह था कि जर्मनी को हर सम्भव उपाय से बाँध दिया जाय, अपाहिज बना दिया जाय, और फिर पनपने नहीं दिया जाय। इरादा यह था कि वह पीढ़ियों तक मित्र-राष्ट्रों का आर्थिक गुलाम बना रहे और हर साल उन्हें बेशुमार रक़में खिराज की तरह देता रहे। जिन अक़्लमन्द महा-राजनीतिज्ञों ने वर्साई में इस बदला लेनेवाली सुलह की नींव डाली, उनके ध्यान में इतिहास की यह ज़ाहिरा नसीहत नहीं आई कि इस तरह किसी महान् क़ौम को लम्बे अर्से तक बाँधे रखना असम्भव है। अब वे इसपर पछता रहे हैं।

अन्त में मैं राष्ट्रपति विल्सन के दिमाग़ की उपज उस राष्ट्र-संघ का ज़िक्र करना चाहता हूँ, जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया को भेंट किया। यह आज़ाद और स्वशासित राज्यों का एक संघ बननेवाला था और इसका मक़सद था "इन्साफ़ और मान के आधार पर आपसी रिश्ते क़ायम करके भावी युद्धों को रोकना और संसार के राष्ट्रों के बीच दुनिया की चीज़ों और दिमाग़ी बातों से ताल्लुक़ रखनेवाले मामलों में सहयोग बढ़ाना"। बड़ी तारीफ़ के क़ाबिल था यह मक़सद! संघ के हर सदस्य-राज्य ने वायदा किया कि जबतक बिना लड़ाई के समझौते की सारी सम्भावनाएँ खत्म न हो जायँ तबतक वह किसी साथी-राज्य से युद्ध

---

[1] शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' नामक नाटक का नायक एक व्यापारी एक यहूदी से रुपया उधार लेता है और दस्तावेज़ लिख देता है कि अगर निश्चित तारीख तक क़र्ज़ा न लौटा सके तो उसके बाद यहूदी को उसके शरीर का एक पौण्ड मांस काट लेने का अधिकार होगा। व्यापारी उस तारीख को रुपया नहीं दे पाता है और यहूदी उसका एक पौण्ड मांस मांगता है। इसपर मुक़दमा अदालत में जाता है और व्यापारी की प्रेमिका वकील बनकर उसे छुड़ा लेती है। इसी कथानक के आधार पर अंग्रेजी में 'एक पौण्ड माँस' की कहावत बन गई है।

नहीं छेड़ेगा, और अगर छेड़ेगा भी तो उसके बाद नौ महीने छोड़कर। कोई सदस्य-राज्य इस वचन को भंग करे, उस हालत में दूसरे राज्य इस वचन से बँधे हुए थे कि उस राज्य के साथ अपने लेन-देन के और माली रिश्ते तोड़ दें। काग़ज़ पर तो यह सब बड़ा सुहावना लगता है, पर अमल में मामला बिलकुल बदल गया। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि संघ ने भी युद्धों का अन्त करने की कोशिश नहीं की; उसने तो युद्धों के रास्ते में कठिनाइयाँ पैदा करनी चाहीं, ताकि समय बीतने पर और मेल-जोल की कार्रवाइयों से युद्ध का जोश ठण्डा पड़ जाय। उसने युद्धों के कारणों को भी दूर करने की कोशिश नहीं की।

संघ में एक तो असेम्बली शामिल थी, जिसमें तमाम सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि लिये गए थे, और एक कौन्सिल थी, जिसमें बड़ी-बड़ी शक्तियों के स्थायी प्रतिनिधियों के अलावा असेम्बली के चुने हुए कुछ और प्रतिनिधि भी आ सकते थे। संघ का एक सचिवालय रक्खा गया था, जिसका सदर मुक़ाम, जैसाकि तुम्हें मालूम है, जेनेवा था। संघ की हलचलों के और विभाग भी रक्खे गये थे: अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कार्यालय, जिसका ताल्लुक़ मज़दूरों के मामलों से था; हेग में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत; और बौद्धिक सहयोग की एक समिति। संघ की ये सारी हलचलें एकसाथ शुरू नहीं हुईं। कुछ हलचलें बाद में शामिल की गईं।

संघ का मूल संविधान वर्साई की सन्धि में ही शामिल था। यह 'राष्ट्र-संघ का इक़रारनामा'[1] कहलाता है। इसमें यह शर्त रक्खी गई थी कि तमाम राज्य अपनी-अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए लड़ाई के साज़-सामान की कम-से-कम जितनी ज़रूरत हो, उससे ज्यादा नहीं रक्खें। जर्मनी का निरस्त्रीकरण (जो लाज़िमी था) इस दिशा में पहला क़दम माना गया था; दूसरे देशों का नम्बर इसके बाद आता था! इसके अलावा यह भी कहा गया था कि अगर कोई राज्य दूसरे पर हमला करे तो उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई की जाय। लेकिन यह नहीं बतलाया गया कि हमला किस हालत में माना जायगा। जब दो क़ौमें या दो राष्ट्र लड़ते हैं तो हरेक दूसरे को दोषी ठहराता है और उसे ही हमलावर बतलाता है।

बड़े-बड़े मामलों को संघ सिर्फ़ सबकी एक-राय से ही तय कर सकता था। यानी, अगर किसी प्रस्ताव के ख़िलाफ़ एक भी सदस्य-राज्य ने मत दे दिया, तो वह गिर जाता था। इसका अर्थ यह था कि बहुमत की धींगा-धींगी नहीं चल सकती थी। इसका मतलब यह भी था कि राष्ट्रीय सत्ताएँ पहले ही की तरह स्वाधीन और बहुत-कुछ ग़ैर-ज़िम्मेदार बनी रहीं, संघ उनके सिर पर कोई महा-राज्य

---

[1] Covenant of the League of Nations.

नहीं बन गया। इस इन्तज़ाम ने संघ को बहुत कमज़ोर कर दिया और अमल में उसे एक सलाहकार कमेटी जैसा बना दिया।

कोई भी स्वाधीन राज्य इस संघ में शामिल हो सकता था, पर चार देशों को जान-बूझकर अलग रक्खा गया था: तीन तो हारी हुई शक्तियाँ—जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्की; और चौथी बोलशेविक शक्ति रूस। हाँ, यह बात ज़रूर रख दी गई थी कि बाद में ये देश कुछ शर्तों पर संघ में आ सकते हैं। मगर निराली बात यह हुई कि भारत इस संघ का मूल सदस्य बन गया, हालाँकि यह चीज़ उस नियम के बिलकुल खिलाफ़ थी, जिसके मुताबिक़ सिर्फ़ स्व-शासित राज्य ही संघ के सदस्य हो सकते थे। अलवत्ता, 'भारत' से मतलब था भारत की ब्रिटिश सरकार, और इस चतुर चालबाज़ी से ब्रिटिश सरकार ने एक और प्रतिनिधि शामिल करने का ढंग बैठा लिया। मगर, दूसरी तरफ़ अमेरिका ने, जो एक तरह से संघ का जन्मदाता था, इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया। अमेरिकावासियों ने राष्ट्रपति विल्सन की कार्रवाइयों को, और यूरोपीय साज़िशों व उलझनों को, पसन्द नहीं किया और अलग ही रहने का फ़ैसला किया।

बहुत लोग संघ की तरफ़ बड़े शौक़ से देख रहे थे और आशा लगा रहे थे कि वह आजकल की दुनिया के झगड़े-फ़िसादों का अन्त कर देगा, या कम-से-कम उनमें बहुत-कुछ कमी कर देगा, और अमन व खुशहाली का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने के लिए और, कहा जाता है कि, लोगों में चीज़ों को अन्तर्राष्ट्रीय नज़र से देखने की आदत डालने के लिए, बहुतेरे देशों में राष्ट्र-संघ-समितियाँ क़ायम हुईं। दूसरी ओर, बहुत-से अन्य लोगों ने संघ को एक ढोंग व ढकोसला बतलाया जो बड़ी-बड़ी शक्तियों के इरादों को आगे बढ़ाने की नीयत से बनाया गया था। अबतक हमें इसका कुछ अमली तजुर्बा भी हो गया है और शायद इसके लाभों के बारे में राय देना आसान हो गया है। संघ ने १९२० ई० के साल के नये दिन से काम करना शुरू किया। अभीतक उसके जीवन के थोड़े-ही दिन बीते हैं, पर इतने ही समय में उसकी पोल बिलकुल खुल गई है। इसमें शक नहीं कि आज के ज़माने की ज़िन्दगी के गली-कूचों में इसने अच्छा काम किया है, और यह तथ्य कि इसने राष्ट्रों को, या यों कहो कि उनकी सरकारों को, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए एक साथ ला बिठाया है, पुराने तरीक़ों से आगे बढ़ा हुआ है। लेकिन अमन क़ायम रखने का, या युद्ध की सम्भावनाओं को ही कम करने का, अपना असली मक़सद हासिल करने में बिलकुल नाकामयाब रहा है।

राष्ट्र-संघ के बारे में राष्ट्रपति विल्सन का असली इरादा चाहे जो रहा हो, पर इसमें कोई शक नहीं रह गया है कि बड़ी-बड़ी शक्तियों ने, खासकर इंग्लैण्ड

और फ़ान्स ने, इसे अपना औज़ार बना लिया है। इसका बुनियादी फ़र्ज़ ही मौजूदा व्यवस्था को क़ायम रखना है। यह राष्ट्रों के बीच इन्साफ़ और मान की डींगें तो मारता है, पर यह जाँच नहीं करता कि मौजूदा आपसी रिश्तों की बुनियादें भी इन्साफ़ और मान पर क़ायम हैं या नहीं। उसका दावा है कि वह राष्ट्रों के 'घरू मामलों' में दस्तन्दाज़ी नहीं करता। साम्राज्यशाही शक्तियों के अधीन देश उसके लिए घरू मामले हैं। इसलिए, जहाँतक राष्ट्र-संघ का ताल्लुक़ है, उसका यही नजरिया है कि इन शक्तियों की अपने-अपने साम्राज्यों पर हमेशा के लिए प्रभुता बनी रहे। इसके अलावा, जर्मनी व तुर्की से छीने हुए नये प्रदेश 'मैन्डेट्स' (फ़रमानों) के नाम से मित्र-राष्ट्री शक्तियों को इनाम में दे दिये गए। यह शब्द राष्ट्र-संघ की खासियत है, क्योंकि इसका मतलब है पुराने साम्राज्यशाही शोषण को एक सुहावना नाम देकर जारी रखना। कहा जाता है कि ये फ़रमान, फ़रमानी प्रदेशों की जनता की इच्छाओं के मुताबिक़ दिये गए थे। इनमें से बेचारी कितनी ही क़ौमों ने इन फ़रमानों के खिलाफ़ बग़ावतें भी कीं और वर्षों तक खूनी लड़ाइयाँ जारी रक्खीं, पर अन्त में बमों और गोलों की मार से उन्हें झुकने को मजबूर कर दिया गया। सरोकारी क़ौमों की इच्छाएँ मालूम करने का यही तरीक़ा था!

लच्छेदार शब्दों व फ़िक़रों का इस्तेमाल किया गया। साम्राज्यशाही शक्तियाँ फ़रमानी प्रदेशों के निवासियों की 'अमानतदार' मानी गईं और संघ का काम यह देखना था कि अमानत की शर्तों का पालन हो। पर असल में इससे मामला और भी ज्यादा बिगड़ गया। शक्तियों ने अपनी मनमानी की, पर ज़रा ज्यादा बगुला-भगती जामा पहन लिया, और इस तरह भोले-भाले लोगों के भीतरी मन को तसल्ली दिला दी। जब किसी छोटे राज्य ने किसी तरह की खिलाफ़-वर्ज़ी की, तो संघ ने कड़ा रुख इख्तियार कर लिया और अपनी नाराज़गी की धमकी दिखाई। लेकिन जब किसी बड़ी शक्ति ने खिलाफ़-वर्ज़ी की, तो संघ नज़र बचाकर दूर देखने लगा, या उसने क़सूर को बिलकुल छोटा बनाने की कोशिश की।

इस तरह संघ में बड़ी-बड़ी शक्तियों की तूती बोलती रही। जब-जब इनका स्वार्थ सधा तब-तब इन्होंने इससे फ़ायदा उठाया, और जब उसकी परवाह न करना ज्यादा फ़ायदेमन्द दिखाई दिया तब इसे ताक में रख दिया। शायद इसमें संघ का कोई क़सूर नहीं था; क़सूर तो खुद उस ढाँचे का था जिसे संघ को इसलिए बर्दाश्त करना पड़ता था क्योंकि वह बना ही इस ढंग पर था। जुदा-जुदा शक्तियों के बीच कट्टर मुक़ाबलेबाज़ी और होड़बाज़ी तो साम्राज्यवाद का सार ही था, क्योंकि हरेक शक्ति दुनिया का ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करने पर उतारू थी। अगर किसी समाज के लोग एक दूसरे की जेबें कतरने की बराबर कोशिशें करते रहें और एक

दूसरे की गर्दनें काटने के लिए चाकुओं पर सान चढ़ाते रहें, तो उनके बीच ज़्यादा सहयोग होने की गुंजायश नहीं रहती और न यह गुंजायश रहती है कि समाज कोई निराली प्रगति करेगा। इसलिए, अगर सरपरस्तों और धर्म-पिताओं की आलीशान जमात के बावजूद राष्ट्र-संघ पनप नहीं सका, तो इसमें अचम्भे की बात नहीं है।

जब वर्साई में सन्धि की चर्चाएँ चल रही थीं, तब जापान सरकार की तरफ़ से यह प्रस्ताव रक्खा गया कि सन्धि में सब नस्लों के लोगों को बराबर माननेवाली एक धारा शामिल कर दी जाय। पर यह प्रस्ताव माना नहीं गया। मगर चीन में क्याउ-चाउ जापान को भेंट करके उसके आँसू पोंछ दिये गए। चीन-जैसे एक कमज़ोर और सीधे-सादे साथी को नुक़सान पहुँचाकर 'तीन बड़ों' ने अपनी दरिया-दिली दिखाई। इसी वजह से चीन ने सन्धि पर दस्तखत नहीं किये।

ऐसी थी यह वर्साई की सन्धि जिसने 'युद्धों का अन्त करनेवाले युद्ध' का अन्त कर दिया। फ़िलिप स्नाउडन ने, जो आगे चलकर वाइकाउण्ट स्नाउडन और इंग्लैण्ड का एक मन्त्री हुआ, सन्धि के बारे में नीचे लिखी टीका की थी:

> "यह सन्धि लुटेरों, साम्राज्यवादियों और फ़ौजी-पेशा लोगों को राज़ी कर देगी। लेकिन जो इस इन्तज़ार में थे कि युद्ध का अन्त होने पर अमन-चैन का राज हो जायगा, उनकी आशाओं का तो इसने गला घोंट दिया। यह अमन की सन्धि नहीं है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह लोकतन्त्र के साथ और युद्ध के शहीदों के साथ विश्वासघात है। इस सन्धि ने मित्र-राष्ट्रों की असली नीयतों को उघाड़कर रख दिया है।"

यह सच भी है कि नफ़रत, घमण्ड और लालच के बस में होकर मित्र-राष्ट्र अपने बूते से बाहर निकल गये। बाद के वर्षों में जब उन्हें ख़ुद ही अपनी बेवक़ूफ़ी के नतीजों में ग़र्क़ हो जाने का ख़तरा पैदा हुआ, तो वे पछताने लगे। पर तबतक चिड़ियाँ खेत को चुग गई थीं।

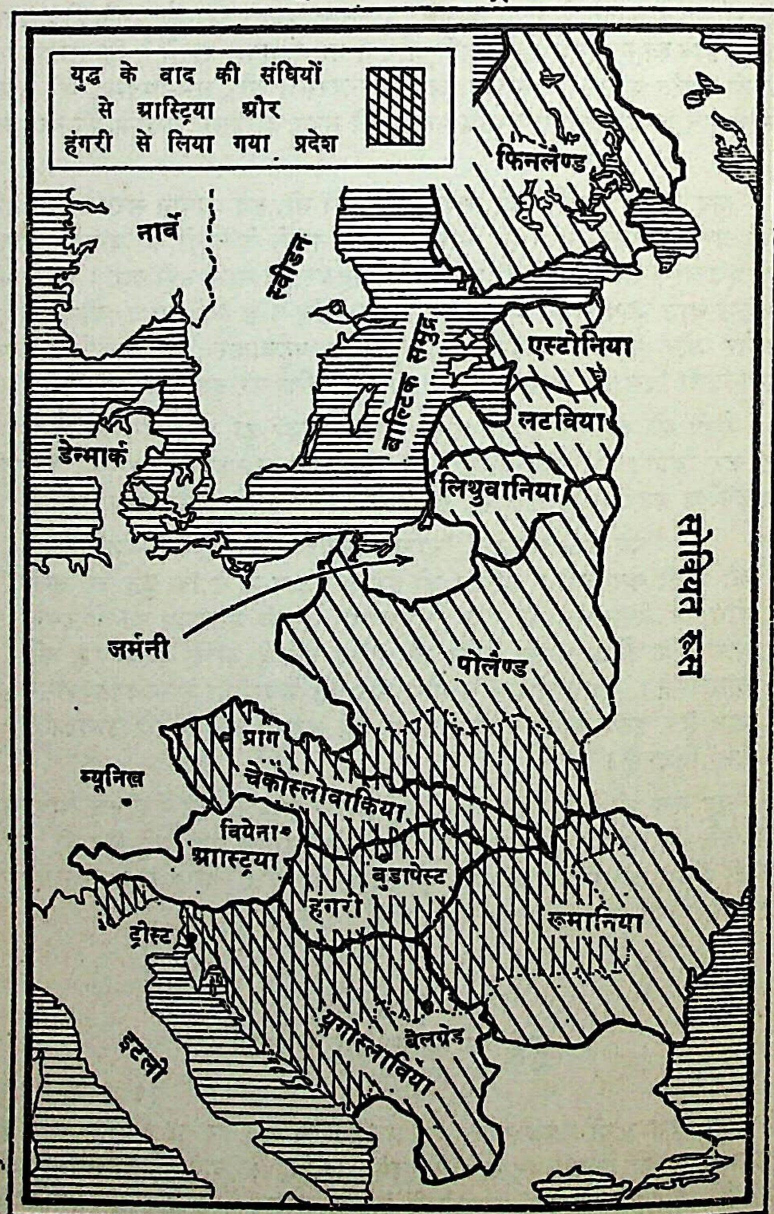
: १५६ :

युद्ध के बाद की दुनिया

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने लम्बे सफ़र की आख़िरी मंज़िल पर आ गये हैं; यानी हम वर्तमान काल की देहली पर खड़े हैं। हमें महायुद्ध के बाद की दुनिया पर ग़ौर करना है। अब हम अपने ही ज़माने में हैं, जो वास्तव में तुम्हारा ही ज़माना है।

यूरोप के नये राष्ट्र


युद्ध के बाद की संधियों से आस्ट्रिया और हंगरी से लिया गया प्रदेश
फिनलैण्ड
नार्वे
स्वीडन
बाल्टिक समुद्र
एस्टोनिया
लटविया
लिथुवानिया
डेन्मार्क
सोवियत रूस
जर्मनी
पोलैण्ड
प्राग
म्यूनिख
चेकोस्लोवाकिया
वियेना
आस्ट्रिया
बुडापेस्ट
हंगरी
रूमानिया
ट्रीस्ट
बेलग्रेड
युगोस्लाविया
इटली

यह आखिरी मंज़िल है, और समय के लिहाज़ से बहुत छोटी-सी मंज़िल है, पर फिर भी कठिन मंज़िल है। युद्ध को ख़त्म हुए ठीक साढ़े चौदह वर्ष बीत गये हैं, और इतिहास के जिन लम्बे-लम्बे ज़मानों पर हम विचार कर चुके हैं उनके मुक़ाबले में समय का यह नन्हा-सा टुकड़ा क्या चीज़ है? पर हम तो बिलकुल इसकी रेल-पेल के बीच में हैं, और इतने नज़दीक से घटनाओं के बारे में सही रायें बनाना कठिन है। न तो हमें इसकी तसवीर को दूर से देखने का सही रुख मिल सकता है और न वह स्थिर अलगाव मिल सकता है, जिसका इतिहास तक़ाज़ा करता है। बहुतेरी घटनाओं के बारे में हम बहुत ज्यादा भड़के हुए हैं, और हो सकता है कि छोटी-छोटी चीज़ें हमें बड़ी दिखाई देने लगें, और कुछेक सचमुच बड़ी चीज़ों के महत्व को हम पूरी तरह न आँक सकें। हो सकता है कि हम पेड़ों के झुरमुट में ही भटकते रह जायें और सारे जंगल को न देख पा सकें।

इसके अलावा दूसरी कठिनाई यह पता लगाने में है कि घटनाओं के महत्व को कैसे नापा जाय? इसके लिए हम कौन-सा गज़ काम में लें? यह तो काफ़ी ज़ाहिर है कि बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम चीज़ों को किस ढंग से देखते हैं। एक तरह की नज़र से कोई घटना हमें महत्व की लग सकती है, पर दूसरी तरह की नज़र से वह बिलकुल बिना महत्व की और तुच्छ मालूम दे सकती है। मुझे डर है कि अबतक जितने पत्र मैंने तुम्हें लिखे हैं उनमें कुछ हद तक इस सवाल को टाला है; मैंने इसका सफ़ाई से और ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया है। इतने पर भी जो कुछ मैंने लिखा है उसपर मेरे आम नज़रिये का रंग चढ़ गया है। इन्हीं जमातों और इन्हीं घटनाओं के बारे में कोई दूसरा लिखता तो शायद बिलकुल दूसरी तरह से लिखता।

यहाँ मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता कि इतिहास के बारे में हमारा नज़रिया क्या होना चाहिए। पिछले वर्षों में इस विषय पर मेरा खुद का नज़रिया बहुत बदल गया है। और जिस तरह इस मामले में और दूसरे मामलों पर मैंने अपने विचार बदले हैं, उसी तरह बहुत-से दूसरे लोगों ने भी बदले हैं। क्योंकि युद्ध ने हर चीज़ को और हर आदमी को बुरी तरह झँझोड़ दिया है। इसने पुरानी दुनिया को बिलकुल उलट दिया है, और तब से हमारी बेचारी पुरानी दुनिया दुबारा उठ खड़ी होने की कोशिश में तकलीफ़ उठा रही है, पर सफल नहीं हो पाती। युद्ध ने विचारों के उस सारे ढाँचे को हिला दिया जिसपर हमारा विकास हुआ था, और हमारे मन में आधुनिक समाज व सभ्यता की बुनियाद के बारे में ही दुविधा पैदा कर दी है। हमने नौजवान ज़िन्दगियों की ज़बर्दस्त बर्बादी, झूठी बातें, मार-काट, हैवानियत, तबाही देखीं और हम हैरान होकर सोचने लगे कि कहीं यह सभ्यता का अन्त तो नहीं है। रूस में सोवियत का उदय हुआ, जो एक नई चीज़ थी, एक नई समाजी व्यवस्था थी, और पुरानेपन को एक चुनौती थी। दूसरे विचार भी हवा में फैल रहे थे। यह विष-

टन का ज़माना था, यानी पुराने विश्वास और दस्तूर टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे; यह दुविधा और ऐतराज़ का युग था जो एक हालत से दूसरी में गुज़रनेवाले और तेज़ी से बदलनेवाले ज़माने में सदा पैदा होते रहते हैं।

इन सब बातों से हमारे लिए युद्ध के बाद के ज़माने पर इतिहास की तरह विचार करना कुछ कठिन हो जाता है। हम तरह-तरह के विश्वासों और विचारों पर चर्चाएँ और सवाल भले ही करें, और उनमें से किसी को सिर्फ़ इसलिए क़बूल भले ही न करें कि वह पुराना कहा जाता है, मगर इन चीज़ों को हम विचारों से सिर्फ़ खिलवाड़ करने का, या अपना कर्त्तव्य जानने के लिए दिमाग़ लड़ाने की परेशानी से बचने का, बहाना नहीं बना सकते। संसार के इतिहास में इस तरह के बदलते हुए ज़माने दिमाग़ और शरीर की चुस्ती का ख़ासतौर पर तकाज़ा करते हैं। ये ही ऐसे मौक़े होते हैं जब ज़िन्दगी के मन्द ढर्रे में जान पड़ जाती है और जोखिम के काम हमें पुकारते हैं, और हम सब नई व्यवस्था की इमारत खड़ी करने में अपना-अपना हिस्सा अदा कर सकते हैं। ऐसे ही मौक़ों पर नौजवानों ने हमेशा आगे बढ़कर हिस्सा लिया है, क्योंकि ये अपने को बदलते हुए विचारों और हालतों के मुताबिक़ उन लोगों की बनिस्बत ज्यादा आसानी से ढाल सकते हैं जो बूढ़े और सख्त हो गये हैं, और प्राचीन विश्वासों में जम गये हैं।

इस युद्ध के बाद के ज़माने की ज़रा ब्यौरे से जाँच करना शायद अच्छा होगा। पर इस पत्र में मैं चाहता हूँ कि तुम इस पर चौतरफ़ा निगाह डालो। नेपोलियन के पतन के बाद उन्नीसवीं सदी का हमने जो सिंहावलोकन किया था वह तुम्हें याद होगा। अब १८१५ ई० की वियना की सुलह और उसके नतीजों पर बरबस हमारा ध्यान जाता है। और हम उसकी तुलना १९१९ ई० की वर्साई की सुलह व उसके नतीजों से करने लगते हैं। वियना की सुलह कोई मुबारक सुलह नहीं थी; उसने यूरोप में आयन्दा युद्धों के बीज बो दिये। तजुर्बे से सबक़ न लेकर हमारे राजनीतिज्ञों ने वर्साई की सुलह को उससे भी बहुत ज्यादा बुरी बना दिया, जैसा कि हम पिछले पत्र में देख चुके हैं। युद्ध के बाद के वर्षों पर इस नामधारी सुलह की अँधेरी छाया बहुत गहरी छायी रही है।

इन बीते चौदह वर्षों की मार्के की घटनाएँ क्या हैं? मेरे ख़याल से महत्व में अव्वल और सबसे ज्यादा ध्यान खींचनेवाली घटना सोवियत संघ का उदय होना और मज़बूत बनना है। इस सोवियत संघ का पूरा नाम यूनियन ऑफ़-सोशलिस्ट सोवियत रिपब्लिक्स' है जो यू० एस० एस० आर० लिखा जाता है। अपनी हस्ती क़ायम रखने की लड़ाई में सोवियत रूस को जिन ज़बर्दस्त कठिनाइयों

का सामना करना पड़ा उनका कुछ ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। इन कठिनाइयों के बावजूद भी उसका सफल होना इस सदी का एक चमत्कार है। सोवियत व्यवस्था पुराने ज़ारशाही साम्राज्य के सारे एशियाई भाग पर, ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरिया में, और भारत की सरहद के बिलकुल नज़दीक मध्य-एशिया में, फैल गई। सोवियतों के गणराज्य तो अलग-अलग बने, पर वे सब एक संघ में शामिल हो गये, और यही अब समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ या संक्षेप में सोवियत संघ कहलाता है। यह संघ यूरोप और एशिया के विशाल क्षेत्र पर छाया हुआ है, और सारे संसार की धरती के क्षेत्रफल का लगभग छठा भाग है। यहाँ का क्षेत्रफल बहुत बड़ा है, लेकिन बड़ापन खुद कोई अर्थ नहीं रखता, और रूस बहुत पिछड़ा हुआ था और साइबेरिया व मध्य-एशिया तो उससे भी गये-बीते थे। सोवियत रूस ने दूसरा चमत्कार यह कर दिखाया कि निर्माण की भारी-भरकम योजनाओं के ज़रिये अपने देश के बड़े-बड़े भागों का रूप ऐसा बदल दिया कि उन्हें पहचाना नहीं जा सकता। किसी क़ौम की इतनी तेज़ी के साथ तरक्क़ी की ऐसी मिसाल इतिहास में दूसरी नहीं मिलती है। मध्य-एशिया के सबसे ज्यादा पिछड़े हुए इलाक़े भी इतनी तेज़ी के साथ बढ़ गये हैं कि हम भारतवासियों को उसकी होड़ करनी चाहिए। सबसे ज्यादा मार्के की प्रगतियाँ शिक्षा और उद्योगों में हुई हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के ज़रिये रूस का उद्योगीकरण सरगर्मी और ज़ोरों के साथ किया गया है और बहुत बड़े-बड़े कारखाने खड़े कर दिये गए हैं। इस सबका जनता पर बड़ा भारी बोझ पड़ा है, जिसे आराम और ज़रूरी चीज़ों तक से महरूम रहना पड़ा है, ताकि उसकी कमाई का ज्यादातर हिस्सा पहले समाजवादी देश के निर्माण में लग जाय। किसान वर्ग पर खासतौर से ज्यादा बोझ पड़ा है।

इस प्रगतिशील और आगे बढ़ने की धुनवाले सोवियत देश के मुक़ाबले में, सदा बढ़नेवाली परेशानियोंवाले पश्चिमी यूरोप का फ़र्क़, साफ़ नज़र आता है। अपनी तमाम कठिनाइयों के बावजूद पश्चिमी यूरोप अभी तक रूस से बहुत ज्यादा मालदार है। अपनी खुशहाली के लम्बे अर्से में उसने बहुत काफ़ी चर्बी जमा कर ली है जिसके आसरे वह कुछ समय तक गुज़र कर सकता है। लेकिन हर देश पर लदा हुआ क़र्ज़ों का बोझ, मुआवज़ों की उस रक़म की समस्या, जो वर्साई सन्धि के मातहत जर्मनी को अदा करनी थी, और बड़ी-छोटी शक्तियों की आपसी लगातार लाग-डाँट और लड़ाई-झगड़े, इन सबने बेचारे यूरोप को बड़ी मुसीबत की हालत में डाल दिया है। इस कठिनाई का हल निकालने के लिए बेशुमार सम्मेलनों की बैठकें होती रहती हैं, पर कोई रास्ता नहीं निकलता, और स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती जाती है। सोवियत रूस की आज के पश्चिमी यूरोप से तुलना करना ऐसा है जैसे किसी भारी बोझा लदे हुए लेकिन ज़िन्दगी और जीवट

से भरपूर नौजवान की ऐसे बूढ़े आदमी से तुलना करना, जिसमें कोई आशा और फुर्ती बाक़ी नहीं रही है, और जो गर्व के साथ, लेकिन बरबस, अपनी मौजूदा अवस्था के अन्त की ओर बढ़ा चला जा रहा है।

मालूम होता था कि युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका यूरोप की इस छूत से बच गया। दस वर्ष तक उसने ख़ूब दौलत बटोरी। युद्ध-काल में उसने साहूकारी के धन्धे पर से इंग्लैण्ड की सवारी को धक्का देकर हटा दिया था। अब अमेरिका सारी दुनिया का बौहरा बन गया था और तमाम दुनिया उसकी क़र्ज़दार थी। आर्थिक निगाह से समूची दुनिया पर उसका दबदबा छा गया था और शायद दुनिया से मिलनेवाले ख़िराज पर वह बड़े आराम से ज़िन्दगी बसर करता रहता, जैसा कि पहले कुछ हद तक इंग्लैण्ड ने किया था। लेकिन इसमें दो दिक्क़तें थीं। क़र्ज़दार देश तंग हालत में थे और अपने क़र्ज़ों का भुगतान नक़द रक़म में नहीं कर सकते थे। वास्तव में अगर उनकी हालत अच्छी भी होती तो भी वे इतनी बड़ी-बड़ी रक़में नक़दी में नहीं दे सकते थे। क़र्ज़ अदा करने की कोशिश सिर्फ़ एक ही तरह की जा सकती थी कि वे माल तैयार करते और उसे अमेरिका भेज देते। मगर अमेरिका को यह विचार पसन्द नहीं था कि विदेशी माल उसके यहाँ आये, इसलिए ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी गईं जिससे बाहर के ज़्यादातर माल का वहाँ आना रुक गया। फिर बेचारे क़र्ज़दार देश क़र्ज़ किस तरह चुकाते? तब एक नई सूझ-बूझ का उपाय सोच निकाला गया। अमेरिका उन्हें और रुपया उधार दे ताकि वे उसका ब्याज उसे अदा कर सकें! क़र्ज़ों का भुगतान कराने का यह अनोखा तरीक़ा था, क्योंकि इसका अर्थ यह था कि क़र्ज़ देनेवाला रक़में-पर-रक़में उधार देता चला जाय और क़र्ज़ बढ़ता चला जाय। थोड़े ही दिनों में यह बिलकुल ज़ाहिर हो गया कि ज़्यादा क़र्ज़दार देश क़र्ज़ से कभी भी बरी नहीं हो पायेंगे। और तब अमेरिका ने अचानक उधार देना बन्द कर दिया और सारा काग़ज़ी ढाँचा फ़ौरन ही टूटकर गिर पड़ा। और फिर एक बहुत ही अजीब बात हुई। अमेरिका, मालदार अमेरिका, नाक तक सोने से भरा हुआ अमेरिका, अचानक ही बेशुमार बेकार मज़दूरों का देश हो गया, और उद्योग की कलें चलना बन्द हो गईं, और मुफ़लिसी फैलने लगी।

जब मालदार अमेरिका पर ऐसी कड़ी चोट पड़ी तो यह ख़याल किया जा सकता है कि यूरोप की क्या हालत थी। हरेक देश ने भारी-भारी आयात-चुंगियाँ लगाकर, और दूसरे उपायों से, और 'स्वदेशी माल ख़रीदो' का आन्दोलन करके, विदेशी माल का आना रोकने की कोशिशें कीं। हर देश यह चाहता था कि बेचे ही बेचे, ख़रीदे कुछ नहीं, और ख़रीदे भी तो जितना हो सके उतना कम! इस तरह की चीज़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हत्या किये बिना ज़्यादा दिन नहीं चल

सकती, क्योंकि व्यापार और व्यवसाय तो विनिमय के सहारे चलते हैं। यह नीति आर्थिक राष्ट्रवाद कहलाती है। यह तमाम देशों में फैल गई और इसी तरह सरगर्म राष्ट्रवाद के दूसरे रूप भी फैले। जब व्यापार और उद्योग मन्दे पड़ने लगे, तो हर देश की दिक्क़तें बढ़ने लगीं, और बड़ी-बड़ी साम्राज्यशाही शक्तियों ने बाहर तो साम्राज्यशाही शोषण बढ़ाकर और घर में मज़दूरों की मजूरियाँ घटाकर अपना जमा-खर्च बराबर करने का जतन किया। संसार के अलग-अलग भागों को निचोड़ने की इच्छा और कोशिशें करनेवली मुक़ाबलेदार साम्राज्यशाहियाँ आपस में दिन-पर-दिन ज्यादा टकराने लगीं। इधर तो राष्ट्र-संघ निरस्त्रीकरण की पाखण्डभरी बातें कर रहा था, और हाथ-पर-हाथ धरे बैठा था, उधर युद्ध का भूत सिर पर चढ़ता हुआ दिखाई दे रहा था। शक्तियाँ एक बार फिर उस मुठभेड़ के लिए आपस में गुट-बन्दियाँ करने लगीं, जो न टलनेवाली दिखाई पड़ रही थी।

मतलब यह है कि अब हम उस बड़े ज़माने के अन्त के नज़दीक पहुँचते हुए मालूम होते हैं, जिसमें पश्चिमी यूरोप व अमेरिका में पूंजीशाही सभ्यता का राज रहा और बाक़ी दुनिया पर उसकी प्रभुता छाई रही। युद्ध के बाद के पहले दस वर्षों में ऐसा मालूम होने लगा था कि शायद पूंजीशाही फिर पनप जाय और एक और लम्बे अर्से के लिए जमकर खड़ी हो जाय। लेकिन इसके बाद के क़रीब तीन वर्षों ने, इसकी सम्भावना बहुत कम कर दी है। पूंजीशाही राज्यों की आपसी मुक़ाबलेदारी तो बढ़ते-बढ़ते ख़तरनाक शक्ल ले ही रही है, पर साथ ही हर राज्य के भीतर वर्गों के बीच, और सरकार को चलानेवाले पूंजीशाही मालिक-वर्ग व मज़दूरों के बीच, रगड़े-झगड़े दिन-पर-दिन तेज़ी पकड़ते जा रहे हैं। ज्यों-ज्यों ये हालतें बिगड़ती जाती हैं, मालिक-वर्ग उठते हुए मज़दूर-वर्ग को कुचलने का आख़िरी प्रयत्न जान लड़ाकर करता है। यह फ़ासीवाद[1] का रूप धारण कर लेता है। फ़ासीवाद वहाँ प्रकट होता है, जहाँ वर्गों का संघर्ष बहुत तेज़ हो गया हो और मालिक-वर्ग के लिए अपनी ख़ास-रियायती हैसियत खोने का ख़तरा पैदा हो गया हो।

फ़ासीवाद का जन्म महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद इटली में हुआ। वहाँ जब मज़दूर लोग क़ाबू से बाहर हो रहे थे तब मुसोलिनी की नेतागिरी में फ़ासीवादियों ने सत्ता छीन ली, और तब से वे ही सत्ताधारी हैं। फ़ासीवाद का अर्थ है नंगी तानाशाही। वह लोकतन्त्री प्रणालियों को खुल्लमखुल्ला हिक़ारत की नज़र से देखता है। फ़ासीवादी तरीक़े कम या ज्यादा रूप में यूरोप के कई देशों में फैल गये हैं और तानाशाही वहाँ बिलकुल साधारण घटना हो गई है। १९३३ ई० के शुरू में जर्मनी

[1] Fascism.

में भी फ़ासीवाद की पूरी जीत हुई, जहाँ १९१८ ई० में क़ायम हुए कम-उम्र-वाले गणराज्य का अन्त कर दिया गया और मज़दूरों के आन्दोलन का नाश करने के लिए निहायत वहशियाना उपायों का सहारा लिया गया।

बस, यूरोप में फ़ासीवाद लोकतन्त्र और समाजवादी ताक़तों के मुक़ाबले में खड़ा हो गया, और साथ ही पूंजीशाही शक्तियाँ एक दूसरी को घूरने लगीं और आपस में लड़ने की तैयारियाँ करने लगीं। और, इसके अलावा, पूंजीशाही ने एक तरफ़ बहुतायत और दूसरी तरफ़ ग़रीबी का बड़ा ही निराला नज़ारा पेश कर दिया; एक तरफ़ तो अन्न सड़ रहा था और फेंका भी जा रहा था और नष्ट भी किया जा रहा था, और दूसरी तरफ़ जनता भूखों मर रही थी।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान यूरोप का एक प्राचीन देश स्पेन गणराज्य बन गया है और उसने अपने हैप्सबुर्ग-बूर्बों राजा को निकाल बाहर किया है। इस तरह यूरोप में और दुनिया में एक बादशाह और कम हो गया है।

महायुद्ध के बाद के चौदह वर्षों में जो मार्के की घटनाएँ हुईं, उनमें से तीन का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ: पहली, सोवियत यूनियन का उदय; दूसरी, दुनिया पर अमेरिका का आर्थिक दबदबा और उसका मौजूदा संकट; और तीसरी, यूरोप की गुत्थी। इस ज़माने की चौथी मार्के की घटना है पूर्वी देशों का पूरी तरह जाग उठना और आज़ादी हासिल करने के लिए सरगर्म कोशिशें करना। पूर्व अब साफ़तौर पर दुनिया की राजनीति में दाखिल हो जाता है। इन पूर्वी राष्ट्रों को दो दर्जों में बांटा जा सकता है: एक तो वे जो स्वाधीन समझे जाते हैं, और दूसरे वे जो किसी-न-किसी साम्राज्यशाही शक्ति के अधीन उपनिवेशी देश हैं। एशिया व उत्तरी अफ़्रीका के इन तमाम देशों में राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ गई है, और आज़ादी की उमंग ज़ोरदार व सरगर्म हो गई है। इन सब देशों में पश्चिमी साम्राज्यशाही के खिलाफ़ ज़ोरदार आन्दोलन हुए हैं, और कुछ देशों में बग़ावतें तक हुई हैं। इनमें से कई देशों को अपनी लड़ाई में संकट के मौक़े पर सोवियत संघ से सीधी मदद मिली है, और इससे भी बहुत ज़्यादा महत्व की बात यह है कि सोवियत संघ ने उनकी पीठ ठोंकी है।

तुर्की का फिर से ज़िन्दा होना एक ऐसे राष्ट्र का बहुत ही मार्के का ज़िन्दा होना है, जो गिरा हुआ और बीता हुआ दिखाई देता था। और इसके लिए ज़्यादा-तर तारीफ़ उस दिलेर नेता मुस्तफ़ा कमालपाशा की है, जिसने उस वक़्त भी घुटने टेकने से इन्कार कर दिया जब सब-कुछ उसके विरोध में नज़र आ रहा था। उसने न सिर्फ़ अपने देश के लिए आज़ादी हासिल की, बल्कि आज के ज़माने का जामा पहनकर उसे इतना बदल दिया कि उसकी शक़्ल ही दूसरी हो गई। उसने सुलतानियत का, और खिलाफ़त का, और स्त्रियों के पर्दे का, और ढेरों पुराने

रिवाजों का अन्त कर दिया। सोवियत की हिमायत और असली सहारे ने उसे बड़ी भारी मदद पहुँचाई। अंग्रेज़ों के रोब-दाब से छुटकारा पाने की कोशिश में सोवियत ने ईरान को भी मदद दी। यहाँ भी रिज़ा खाँ नामक मज़बूत व्यक्ति आगे आया, और आजकल यही ईरान का शासक है। इस अर्से में अफ़ग़ानिस्तान भी अपनी मुकम्मिल स्वाधीनता क़ायम करने में सफल हो गया।

अरब देश को छोड़कर बाक़ी सारे अरबी देश अभी तक विदेशियों के अधीन हैं। अरबी क़ौमों की एकता की माँग अभी तक पूरी नहीं हुई है। अरब देश का ज़्यादातर भाग सुलतान इब्न सऊद के मातहत स्वाधीन हो गया है। इराक़ काग़ज़ी तौर पर तो स्वाधीन है, मगर अमलीतौर पर वह अंग्रेज़ों के असर और इख़्तियार के दायरे में है। फ़िलिस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन ब्रिटिश 'फ़रमानी' हैं और सीरिया फ़्रान्सीसी 'फ़रमानी' है। सीरिया में फ़्रान्सीसियों के ख़िलाफ़ अनोखी बहादुराना बग़ावत हुई और वह कुछ-कुछ सफल भी हुई। मिस्र में भी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ छोटे-छोटे विद्रोह हुए और बड़ी लम्बी लड़ाई चली। यह लड़ाई अभी-तक जारी है, हालाँकि कहने को मिस्र स्वाधीन है, पर अंग्रेज़ों के सहारे टिका हुआ बादशाह वहाँ राज करता है। उत्तरी अफ़्रीका के दूर पश्चिम में, मोरक्को में भी अब्दुल करीम की रहनुमाई में बड़ी बहादुराना लड़ाई हुई। वह स्पेनियों को तो निकाल बाहर करने में सफल हो गया पर बाद में फ़्रान्सीसियों ने पूरा ज़ोर लगाकर उसे कुचल दिया।

एशिया और अफ़्रीका में आज़ादी की ये लड़ाइयाँ ज़ाहिर करती हैं कि पूर्व के दूर-दूर देशों में नई चेतना किस तरह फैल रही थी और नर-नारियों के दिलों में किस तरह घर कर रही थी। दो देशों के नाम आगे आते हैं, क्योंकि उनका संसार-व्यापी महत्व है। ये चीन और भारत हैं। इनमें से एक भी देश में होनेवाला कोई बुनियादी परिवर्तन संसार की बड़ी शक्तियों के समूचें ढाँचे पर असर डालता है; संसारी राजनीति में इसके ज़बर्दस्त नतीजे पैदा हुए बिना नहीं रह सकते। इसलिए चीन व भारत में होनेवाली लड़ाइयाँ इन देशों की जनता की घरू लड़ाइयाँ न रहकर दुनिया के लिए बहुत ज़्यादा महत्व रखती हैं। चीन की कामयाबी का अर्थ है एक ज़बर्दस्त राज्य का उदय, जो शक्तियों के मौजूदा नामधारी सन्तुलन को बिगाड़ देता है और जो साम्राज्यशाही शक्तियों के हाथों चीन के शोषण का अपने-आप अन्त कर देता है। भारत की सफलता का भी अर्थ है ऐसे बड़े राज्य का प्रकट होना, जिसमें और कुछ नहीं तो बहुत ताक़त भरी हुई है, और इसका अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यशाही का न टलनेवाला अन्त।

गत दस वर्षों के दौरान चीन में कितने ही उतार-चढ़ाव आये। कुओ-मिन-तांङ और साम्यवादियों का गठ-बन्धन टूट गया, और तबसे आज तक चीन

तूशनों व ऐसे ही लुटेरे सरदारों का शिकार बना हुआ है, जिन्हें अक्सर उन विदेशी स्वार्थों से सहायता मिलती रहती है, जो चाहते हैं कि चीन में गड़बड़ चलती रहे। पिछले दो वर्षों से तो जापान ने चीन पर सचमुच चढ़ाई कर रक्खी है और कई प्रान्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। यह ग़ैर-रस्मी युद्ध अभी तक चल रहा है। इस बीच चीन के भीतरी भाग में कई बड़े-बड़े इलाक़े साम्यवादी बन गये हैं और वहाँ कुछ-कुछ सोवियत के ढंग की हुकूमत क़ायम हो गई है।

भारत में पिछले चौदह वर्ष बड़े भरपूर रहे हैं और इस समय में यहाँ सरगर्म लेकिन अमन-पसन्द राष्ट्रीयता सामने आई है। महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद, जब बड़े-बड़े सुधारों के इन्तज़ार में उम्मीदें बाँधी जा रही थीं, हमें पंजाब में फ़ौजी क़ानून और जलियाँवाला बाग़ का भयंकर हत्याकाण्ड मिला। इस पर ग़ुस्से से, और तुर्की व खिलाफ़त के साथ बुरे बर्ताव पर मुसलमानों में सख़्त नाराज़ी से, गांधीजी की रहनुमाई में १९२०-२२ ई० का असहयोग-आन्दोलन हुआ। वास्तव में, १९२० ई० से ही गाँधीजी भारतीय राष्ट्रीयता के सर्वमान्य नेता हो गये हैं। भारत में यह गांधी-युग रहा है, और अहिंसक विद्रोह के उनके बिलकुल नये व कारगर तरीक़ों ने इसी ख़ासियत की वजह से दुनिया-भर का ध्यान खींच लिया है। कुछ दिनों धीमी हलचलों व तैयारियों के बाद, १९३० ई० में, जब कांग्रेस ने स्वाधीनता की मंज़िल पर पहुँचने का पक्का इरादा कर लिया, तो आज़ादी की लड़ाई फिर शुरू हो गई। तबसे हमारे यहाँ सविनय अवज्ञा,[1] और जेलों का ठसाठस भरना, और बहुत-सी दूसरी बातें जो तुम्हें मालूम हैं, होती रही हैं। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि नाम के सुधारों से कुछ लोगों को हो सके तो अपनी तरफ़ मिला लिया जाय, और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने का यत्न किया जाय।

१९३१ ई० में बरमा में भूखों-मरते किसान-वर्ग का एक बड़ा भारी विद्रोह हुआ। इसे बड़ी बेरहमी से दबा दिया गया। जावा और इन्दोनेशिया में भी विद्रोह हुआ। स्याम में खलबली मची और कुछ परिवर्तन हुआ, जिससे बादशाह के अधिकारों को पाबन्द कर दिया गया। फ़्रान्सीसी हिन्द-चीन में भी राष्ट्रीयता आगे बढ़ रही है।

मतलब यह कि सारे पूर्व में राष्ट्रीयता ज़ाहिर होने के लिए छटपटा रही है और कहीं-कहीं उसमें कुछ साम्यवाद का मेल हो गया है। इन दोनों के बीच कोई एक-जैसी चीज़ नहीं है, सिवाय इसके कि दोनों साम्राज्यशाही से एक-जैसी नफ़रत करते हैं। सोवियत संघ के भीतर और बाहर के तमाम पूर्वी देशों के साथ

[1] Civil Disobedience—शान्ति के साथ क़ानून तोड़ना—सिविल नाफ़रमानी।

सोवियत रूस की समझदार और खुले दिल से मदद देनेवाली नीति ने ग़ैर-साम्यवादी देशों तक में भी उसके बहुत सारे दोस्त पैदा कर दिये हैं।

हाल के वर्षों का एक और मार्के का पहलू यह रहा है कि स्त्रियाँ उन बहुत-से क़ानूनी, समाजी और रिवाजी बन्धनों से आज़ाद हो गई हैं, जिन्होंने उन्हें जकड़ रक्खा था। पश्चिम में तो महायुद्ध ने इस चीज़ को बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ाया। और पूर्व में भी, तुर्की से लगाकर भारत और चीन तक, स्त्री-जाति उठकर चलने लगी है और राष्ट्रीय व समाजी हलचलों में निडर होकर भाग ले रही है।

ऐसा है यह समय जिसमें हम रह रहे हैं। हर रोज़ परिवर्तन के, और बड़ी-बड़ी घटनाओं के, राष्ट्रों की आपसी रगड़-झगड़ के, पूंजीवाद व समाजवाद और फ़ासीवाद व लोकतन्त्र के बीच बैर-भाव के, बढ़ती हुई ग़रीबी और मुफ़लिसी के समाचार सुनाई पड़ते हैं, और इन सबके ऊपर युद्ध की शाम की छाया पड़ रही है।

इतिहास का यह दिल हिलानेवाला ज़माना है, और इसमें जीना और हिस्सा लेना सौभाग्य की बात है, फिर चाहे वह हिस्सा देहरादून-जेल में एकान्तवास ही क्यों न हो!

: १५७ :

गणतन्त्र के लिए आयर्लैण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षों की महत्व की घटनाओं पर कुछ ज्यादा ब्यौरे के साथ विचार करेंगे। मैं आयर्लैण्ड से शुरू करूँगा। दुनिया के इतिहास और दुनिया की ताक़तों के लिहाज़ से यूरोप के दूर पश्चिम में यह छोटा-सा देश आज कोई बड़ा महत्व नहीं रखता है। मगर यह एक बहादुर और कभी न दबनेवाला देश है, और ब्रिटिश-साम्राज्य की सारी ज़बर्दस्त ताक़त भी इसकी आत्मा को न तो कुचल सकी है और न इसे डराकर सिर झुकाने को मजबूर कर सकी है।

आयर्लैण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने होमरूल बिल का ज़िक्र किया था जिसे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने महायुद्ध शुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टैण्ट नेताओं ने और इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया था और इसके ख़िलाफ़ बाक़ायदा बग़ावत खड़ी की गई थी। इस पर, ज़रूरत पड़े तो अल्स्टर के ख़िलाफ़ लड़ने को, दक्षिणी आयरवासियों ने भी अपने 'राष्ट्रीय स्वयंसेवकों' का संगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध टल नहीं सकता। ठीक इसी समय महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा

ध्यान बेलजियम और उत्तरी फ़्रान्स के मोर्चों की तरफ़ बँट गया। पार्लमेण्ट में आयरी नेताओं ने युद्ध में सहायता देने की अपनी तैयारी ज़ाहिर की, मगर देश को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी और वह सहायता देने को ज़रा भी तैयार नहीं था। इधर अल्स्टर के 'बाग़ियों' को ब्रिटिश सरकार में ऊँचे-ऊँचे ओहदे दे दिये गये, जिससे आयरनिवासी और भी ज्यादा नाराज़ हो गये।

आयर्लैण्ड में नाराज़ी बढ़ने लगी और यह भावना ज़ोर पकड़ने लगी कि इंग्लैण्ड के युद्ध में यहाँ के लोगों को क़ुर्बानी का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इंग्लैण्ड की तरह आयर्लैण्ड में भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीरवाले तमाम नौजवानों को सेना में जबरन भर्ती किया जाय, तो सारे देश में विरोध की ग़ुस्साभरी आग भड़क उठी। ज़रूरत पड़ने पर आयर्लैण्ड भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

१९१६ ई० के ईस्टर[1] सप्ताह में डबलिन में बलवा हुआ और आयरी गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। कुछ दिन की लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया, और बाद में इस चन्द-रोज़ा बग़ावत में भाग लेनेवाले आयर्लैण्ड के कुछ सबसे बहादुर और होनहार नौजवानों को गोलियों से उड़ा दिया गया। यह बलवा, जो 'ईस्टर बलवे' के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई गम्भीर प्रयास नहीं गिना जा सकता। यह तो दुनिया को सिर्फ़ यह जतलाने का एक बहादु ाना इशारा था कि आयर्लैण्ड अब भी गणराज्य के सपने देखता था और अपनी इच्छा से अंग्रेज़ों की मातहती क़बूल करने को कभी तैयार नहीं था। दुनिया को यह दिखाने के लिए इस बलवे को खड़ा करनेवाले नवयुवकों ने जान-बूझकर अपनी जानें निछावर कर दीं। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार असफल होंगे, पर उन्हें आशा थी कि उनकी क़ुर्बानी बाद में फल देगी और आयर्लैण्ड को आज़ादी के नज़दीक ले जायगी।

इसी बलवे के दिनों के आसपास जर्मनी से आयर्लैण्ड को हथियार लाने की कोशिश करनेवाले एक आयरवासी को अंग्रेज़ों ने गिरफ़्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोज़र केसमैण्ट था; जो बहुत वर्षों तक इंग्लैण्ड की विदेशी व्यापार-सेवा में रह चुका था। केसमैण्ट पर लन्दन में मुक़दमा चलाया गया और उसे मौत की सज़ा दी गई। अदालत में क़ैदी के कठघरे में खड़े होकर उसने जो बयान पढ़ा था, वह बड़ा ही दिल खींचनेवाला और असर डालनेवाला था और उसमें आयरी आत्मा के जोशीले देश-प्रेम को खोलकर रख दिया गया था।

---

[1] Easter week—ईसाइयों का त्यौहार, जो ईसा मसीह के स्वर्गारोहण की याद में मनाया जाता है। यह सप्ताह प्रतिवर्ष २१ मार्च से २८ अप्रैल के बीच में पड़ता है।

बलवा तो असफल रहा, पर उसकी हार में ही उसकी शानदार जीत थी। इसके बाद ही ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, और ख़ासकर नौजवान नेताओं के एक दल को जो गोलियों से उड़ा दिया, इनका आयरवासी जनता पर गहरा असर पड़ा। ऊपर-ऊपर तो आयलैंण्ड ख़ामोश नज़र आता था, लेकिन नीचे गुस्से की आग दहक रही थी, और जल्द ही यह 'शिनफ़ेन' के रूप में फूट पड़ी। शिनफ़ेन की विचारधारा बड़ी तेज़ी से फैलने लगी। आयलैंण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र में मैं इस शिनफ़ेन का ज़िक्र कर चुका हूँ। शुरू में तो इसे सफलता नहीं मिली; पर अब यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा।

महायुद्ध ख़त्म होने के बाद लन्दन की पार्लमेण्ट के लिए सारे ब्रिटिश आइल्स[1] में चुनाव हुए। आयलैंण्ड में, शिनफ़ेन दल ने, अंग्रेज़ों के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करनेवाले पुराने राष्ट्रवादियों को हराकर, पार्लमेण्ट की बहुत ज़्यादा सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया। मगर शिनफ़ेनी लोगों ने चुनाव इसलिए नहीं जीता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकों में भाग लें। उनकी नीति बिलकुल दूसरे क़िस्म की थी; वे तो असहयोग और बायकाट में विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिनफ़ेनी लन्दन की पार्लमेण्ट में नहीं गये, और उन्होंने १९१९ ई० में डबलिन में अपनी ख़ुद की गणतन्त्री विधान-सभा बना डाली। उन्होंने आयरी गणराज्य की घोषणा कर दी और अपनी विधान-सभा का नाम 'देइल आरन'[2] रक्खा। वे लोग यह मान कर चले थे कि यह अल्स्टर-समेत समूचे आयलैंण्ड के लिए है, पर अल्स्टरवालों का इससे अलग रहना लाज़िमी ही था। कैथलिक आयलैंण्ड से उन्हें कोई प्यार नहीं था। 'देइल आरन' ने दि वैलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफ़िथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय संयोग से नये गणराज्य के ये दोनों सरदार इंगलैण्ड की जेलों में थे।

फिर एक बहुत ही निराली लड़ाई शुरू हुई। यह लड़ाई बेमिसाल थी और आयलैंण्ड व इंगलैण्ड के बीच पिछली कितनी ही लड़ाइयों से बिलकुल अलग तरह की थी। निरे मुट्ठीभर युवक और युवतियाँ, अपने देशवासियों की सहानुभूति का सहारा पाकर, अपने से बे-अन्दाज़ ज़्यादा बड़ी ताक़त के ख़िलाफ़ लड़े; उनके मुक़ाबले में एक बड़ा और संगठित साम्राज्य खड़ा था। शिनफ़ेनी लड़ाई एक क़िस्म का असहयोग थी, जिसमें कभी-कभी ख़ून बह जाता था। उन्होंने ब्रिटिश संस्थाओं के बायकाट का प्रचार किया और जहाँ सम्भव हुआ वहाँ अपनी संस्थाएँ क़ायम कर दीं, जैसे मामूली अदालतों की जगह पंचायती अदालतें। देहात में

---

[1] British Isles—इंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड, आयलैंण्ड, और उसके तटवर्ती टापुओं का सामूहिक नाम।

[2] Dail Eireann.

पुलिस की चौकियों के खिलाफ़ लड़ाई के छापामार ढंग का सहारा लिया गया। जेलों में भूख-हड़तालें करके शिनफ़ेन क़ैदियों ने अंग्रेज़ सरकार को बहुत परेशान किया। सबसे मशहूर भूख-हड़ताल, जिसने आयर्लैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लॉर्ड मेयर टैरेन्स मैक्स्विनी की हुई। जब उसे जेल में डाला गया तो उसने ज़ाहिर कर दिया कि वह जेल से ज़रूर छूटेगा, जिन्दा नहीं छूटा तो मरकर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसकी लाश जेल से बाहर निकली।

माइकेल कॉलिन्स शिनफ़ेन बग़ावत के नामी संगठन करनेवालों में गिना जाता है। शिनफ़ेन की चतुर चालों ने आयर्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार को बहुत-कुछ अपंग बना दिया, और देहात के ज़िलों में तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनों तरफ़ हिंसा का ज़ोर बढ़ने लगा और कई बार अदले के बदले लिये गए। आयर्लैण्ड में लड़ने के लिए ख़ास ब्रिटिश फ़ौजी दल भर्ती किया गया। इस दल के सिपाहियों को बड़ी ऊँची-ऊँची तनख्वाहें दी गईं और इसमें महायुद्ध की सेनाओं से हाल ही में छुट्टी पाये हुए वे लोग थे जो बहुत ख़तरनाक और ख़ूनी समझ जाते थे। अपनी वर्दियों के रंग के कारण यह दल 'काला व भूरा'[1] के नाम से मशहूर हो गया। इस काले व भूरे दल ने बेदर्द हत्याओं का जंगी दौर शुरू कर दिया। ये लोग शिनफ़ेन को आतंकित करके सिर झुकाने को मजबूर करने के इरादे से सोते हुए लोगों को गोलियों से मार देते थे। पर शिनफ़ेनों ने सिर नहीं झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रक्खा। इस पर 'काले व भूरे' दल ने ख़ूनी बदले निकाले, और समूचे गाँव-के-गाँव और शहरों के बड़े हिस्से जलाकर राख कर डाले। आयर्लैण्ड लड़ाई का बड़ा भारी मैदान बन गया, जिसमें दोनों पक्ष ख़ून-ख़राबी और बर्बादी में एक-दूसरे से होड़ लगाने लगे। एक पक्ष के पीछे तो साम्राज्य का संगठित बल था, दूसरे के पीछे मुट्ठी भर लोगों का लोहे-जसा मज़बूत इरादा था। १९१९ ई० से अक्तूबर, १९२१ ई० तक, दो वर्ष यह आँग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरम्यान, १९२० ई० में, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने फ़ुर्ती से नया होमरूल बिल पास कर दिया। युद्ध से पहले पास किया गया पुराना विधान, जिसकी वजह से अल्स्टर में विद्रोह की नौबत पहुँच गई थी, चुपचाप मंसूख कर दिया गया। नये बिल के मुताबिक आयर्लैण्ड के दो टुकड़े कर दिये गए—एक तो अल्स्टर या उत्तरी आयर्लैण्ड, और दूसरा देश का बाक़ी भाग, और दोनों के लिए अलग-अलग पार्लमेण्टें रक्खी गईं। आयर्लैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए बँटवारा होने पर ये दोनों भाग एक छोटे-से टापू के नन्हे-नन्हे इलाक़े हो गये। उत्तरी भाग के लिए

[1] Black and Tan.

अल्स्टर में नई पार्लमेण्ट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयर्लैण्ड के बाक़ी भाग में, होमरूल क़ानून पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। वे सब तो शिनफ़ेनी बग़ावत में मशग़ूल थे।

अक्तूबर, १९२१ ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज ने शिनफ़ेनों से आरज़ी-सुलह की अपील की ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके, और उसकी बात मान ली गई। इसमें शक नहीं कि अपने ज़बर्दस्त साधनों से, और सारे आयर्लैण्ड को वीरान बनाकर, इंग्लैण्ड अन्त में शिनफ़ेनों को कुचल ही डालता, पर आयर्लैण्ड में इस नीति के सबब से वह अमेरिका व दूसरे देशों में बहुत बदनाम होता जा रहा था। लड़ाई जारी रखने के लिए अमेरिका में रहनेवाले और ब्रिटिश उपनिवेशों तक में रहनेवाले आयरी लोगों ने आयर्लैण्ड को खूब धन भेजा। लेकिन इधर शिनफ़ेन लोग भी थक चुके थे, क्योंकि उनपर बड़ा भारी बोझ पड़ा था।

अंग्रेज और आयरी प्रतिनिधि लन्दन में मिले, और दो महीने की चर्चा व बहस के बाद दिसम्बर, १९२१ ई० में एक काम-चलाऊ समझौते पर दोनों के दस्तख़त हो गये। इसमें आयरी गणराज्य को तो नहीं माना गया, पर दो-एक मामलों को छोड़कर इसमें आयर्लैण्ड को उससे कहीं ज्यादा आज़ादी मिल गई जितनी किसी उपनिवेश को अभीतक हासिल थी। इतने पर भी आयरी प्रतिनिधि इसे मंजूर करने को राज़ी नहीं थे, और उन्होंने तभी अपनी मंज़ूरी दी जब इंग्लैण्ड ने फ़ौरन और भयंकर युद्ध की धमकी की तलवार उनके सिर पर चमकाई।

इस सन्धि के ऊपर आयर्लैण्ड में ज़बर्दस्त खींच-तान हुई। कुछ लोग इसके समर्थक थे, दूसरे लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर शिनफ़ेन दल के दो टुकड़े हो गये। अन्त में जाकर देइल आरन ने इस सन्धि को मंजूर कर लिया, और 'आयरिश आज़ाद राज्य' की स्थापना हुई, जो आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर 'साओरस्टाथ आरन' कहलाता है। मगर इसके नतीजे से शिनफ़ेन दल के पुराने साथियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। देइल आरन का अध्यक्ष दि वैलेरा इंग्लैण्ड के साथ सन्धि के ख़िलाफ़ था, और दूसरे बहुत लोग भी ख़िलाफ़ थे; उधर माइकेल कॉलिन्स व दूसरे लोग पक्ष में थे। देश में कई महीनों तक गृह-युद्ध ज़ोरों के साथ चलता रहा, और विपक्षियों को दबाने के लिए सन्धि व आज़ाद राज्य के समर्थकों को ब्रिटिश फ़ौजों ने मदद दी। गणराज्यवादियों ने माइकेल कॉलिन्स को गोली से मार दिया, और इसी तरह गणराज्यवादी नेताओं को आज़ाद राज्य के हामियों ने गोलियों से मार दिया। सारी जेलें गणराज्यवादियों से भर गईं। यह सारा गृह-युद्ध और आपसी वैर आयर्लैण्ड की बहादुराना आज़ादी की

लड़ाई का बहुत ही ज्यादा दुखदायी नतीजा था। जहाँ अंग्रेज़ों के हथियार कुन्द पड़ गये थे वहाँ उनकी नीति ने विजय पाई। एक आयरवासी दूसरे आयरवासी से लड़ रहा था, और इंग्लैण्ड इस नये शुगूफ़े से मन-ही-मन खुश होता हुआ कुछ हद तक एक पक्ष को चुपचाप सहायता दे रहा था और खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा था।

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठण्डा पड़ गया, पर गणराज्यवादी फिर भी आज़ाद राज्य को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं हुए। यहाँतक कि वे गणराज्यवादी भी, जो 'देइल' (आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट) में चुने गये थे, उसकी बैठकों में हाज़िर होने से इन्कारी हो गये, क्योंकि वफ़ादारी की जिस शपथ में बादशाह का नाम आता था उसे लेने में उन्हें ऐतराज़ था। इसलिए दि वैलेरा व उसका दल 'देइल' से दूर रहे और दूसरे आज़ाद राज्य दल ने, जिसका नेता आज़ाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, गणराज्यवादियों को तरह-तरह से कुचलने का यत्न किया।

आयरी आज़ाद राज्य के बनने से इंग्लैण्ड की साम्राज्यवादी नीति में दूर तक असर डालनेवाले नतीजे पैदा हो गये—आयरी सन्धि से आयर्लैण्ड को उससे कहीं ज्यादा स्वाधीनता मिल गई थी, जितनी उस समय क़ानूनन दूसरे उपनिवेशों को हासिल थी। ज्योंही आयर्लैण्ड को यह मिली, त्योंही दूसरे उपनिवेशों ने भी उसे आपसे-आप हासिल कर लिया, और उपनिवेशों के दर्जे के विचार में परिवर्तन पैदा हो गया। इंग्लैण्ड और उपनिवेशों के जो कई इम्पीरियल सम्मेलन हुए, उनके नतीजे से उपनिवेशों की ज़्यादा स्वाधीनता की दिशा में और भी परिवर्तन हुए। अपने ज़ोरदार गणराज्य आन्दोलनवाला आयर्लैण्ड हमेशा मुकम्मिल स्वाधीनता की तरफ़ गाड़ी खींचता रहता था। बोअरों के बहुमतवाले दक्षिण अफ़्रीका का भी यही हाल था। इस तरह उपनिवेशों की स्थिति बदलती और सुधरती चली गई, और वे राष्ट्रों के ब्रिटिश कॉमनवैल्थ में इंग्लैण्ड की बराबरी के राष्ट्र माने जाने लगे। देखने-सुनने में यह बड़ा भला लगता है, और इसमें शक नहीं कि एक-से राजनीतिक दर्जे की ओर यह बढ़ता हुआ क़दम है। पर यह बराबरी जितनी कल्पना में है उतनी असल में नहीं है। आर्थिक लिहाज़ से उपनिवेश इंग्लैण्ड और ब्रिटिश पूंजी के साथ बँधे हुए हैं, और उन पर आर्थिक दबाव डालने के बहुत-से रास्ते हैं। साथ-ही-साथ, ज्यों-ज्यों उपनिवेशों का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उनके आर्थिक स्वार्थ इंग्लैण्ड के आर्थिक स्वार्थों से टकरानेवाले सबब बनने लगते हैं। इस तरह साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ता जाता है। सच तो यह है कि साम्राज्य के टूट-फूट जाने का खतरा सिर पर सवार होने की वजह से ही इंग्लैण्ड बन्धनों को ढीला करने पर और उपनिवेशों के साथ बराबरी का

राजनीतिक दर्जा क़बूल करने के लिए रज़ामन्द हुआ। मौक़े पर इतना आगे बढ़कर उसने बहुत-कुछ बचा लिया। लेकिन ज्यादा दिन के लिए नहीं? उपनिवेशों को इंग्लैण्ड से अलगानेवाली ताक़तें लगातार काम कर रही हैं; खासतौर पर वे आर्थिक ताक़तें हैं, और ये ताक़तें साम्राज्य को लगातार कमज़ोर करने के सबब बन रही हैं। इस वजह से, और इंग्लैण्ड के यक़ीनी पतन की वजह से, मैंने तुम्हें लिखा था कि ब्रिटिश साम्राज्य धीरे-धीरे ग़ायब होता जा रहा है। जब एक-सी परम्पराएँ व संस्कृति और नस्ली एकता के होते हुए भी उपनिवेशों का इंग्लैण्ड के साथ ज्यादा दिनों तक बँधे रहना मुश्किल है, तो फिर भारत का उसके साथ बँधे रहना और भी ज्यादा मुश्किल होना चाहिए। क्योंकि भारत के आर्थिक हितों की तो ब्रिटिश स्वार्थों के साथ सीधी टक्कर है, और किसी एक को दूसरे के सामने झुकना ही पड़ेगा। इसलिए यह सम्भव नहीं कि आज़ाद भारत इंग्लैण्ड के साथ बँधे रहना मंजूर कर लेगा, क्योंकि इसका लाज़िमी नतीजा है भारत की आर्थिक नीति का इंग्लैण्ड की आर्थिक नीति की ताबेदार बन जाना।

इस तरह ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का अर्थ है राजनीतिक लिहाज़ से आज़ाद इकाइयाँ; लेकिन इस समूह का मतलब सिर्फ़ आज़ाद उपनिवेशों से है, बेचारे पराधीन भारत से नहीं। परन्तु ये ईकाइयाँ अभी तक इंग्लैण्ड के आर्थिक समूह साम्राज्य के अधीन हैं। आयरी सन्धि का अर्थ था ब्रिटिश पूंजी के हाथों कुछ हद तक आयर्लैण्ड का शोषण जारी रहना, और गणराज्य के लिए आन्दोलन के पीछे असली झगड़ा यही था। दि वैलेरा और गणराज्यवादी लोग ज्यादा ग़रीब किसानों के, निचले मध्यम-वर्गों के, और ग़रीब दिमाग़ी लोगों के, प्रतिनिधि थे। कॉस्ग्रेव और आज़ाद राज्यवाले धनवान मध्यम-वर्ग के और धनवान किसानों के प्रतिनिधि थे, और इन दोनों वर्गों के हित अंग्रेज़ी व्यापार में थे, और अंग्रेज़ी पूंजी का हित इनमें था।

कुछ समय बाद दि वैलेरा ने अपने दाँव-पेच बदलने का फ़ैसला किया। वह और उसका दल देइल आरन में गये और उन्होंने वफ़ादारी की शपथ भी ले ली, पर साथ ही यह ज़ाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होंने सिर्फ़ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होते ही वे उसे हटा देंगे। १९३२ ई० के शुरू में होनेवाले चुनावों में दि वैलेरा को आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट में यह बहुमत हासिल भी हो गया और उसने फ़ौरन ही अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया। गणराज्य के लिए लड़ाई तो अब भी चल रही थी पर लड़ाई का ढंग बदल गया था। दि वैलेरा ने वफ़ादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा ज़ाहिर किया और ब्रिटिश सरकार को यह इत्तला भी दे दी कि आगे से वह ज़मीन की सालाना क़िस्तें नहीं देगा। मेरा ख़याल है कि इन सालाना क़िस्तों का ज़िक्र मैं

पहले कर चुका हूँ। जब आयर्लैण्ड की ज़मीनें बड़े-बड़े ज़मींदारों से ले ली गई थीं तब उन्हें इनका भरपूर मुआवज़ा दिया गया था, और इसका रुपया हर साल उन किसानों से वसूल किया जाता था, जिन्हें ये ज़मीनें दी गई थीं। यह सिलसिला शुरू हुए एक पीढ़ी से ज़्यादा गुज़र चुकी थी, लेकिन यह अभी तक ज़ारी था। दि वैलेरा ने कह दिया कि आगे यह एक पाई भी न देगा।

इस पर इंग्लैण्ड में फ़ौरन ही वावैला मच गया और ब्रिटिश सरकार से झगड़ा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश सरकार ने यह ऐतराज़ किया कि दि वैलेरा ने वफ़ादारी की शपथ हटाकर १९२१ ई० की आयरी सन्धि को तोड़ा है। दि वैलेरा ने कहा कि उपनिवेशों के बारे में की गई घोषणा के मुताबिक़ अगर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड बराबर के राष्ट्र हैं और अगर हरेक को अपना संविधान बदलने की आज़ादी है, तो ज़ाहिर है कि आयर्लैण्ड को संविधान में से वफ़ादारी की शपथ को वदलने या निकाल देने का अधिकार है। इसलिए अब १९२१ ई० की सन्धि का सवाल ही नहीं उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नहीं है, तो उस हद तक वह इंग्लैण्ड के मातहत है।

दूसरे, सालाना क़िस्तों के वन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश सरकार ने और भी ज़ोर-शोर से विरोध किया और कहा कि यह अहदनामे का और फ़र्ज़ की ज़िम्मेदारी का वहुत वेहूदा उल्लंघन है। दि वैलेरा ने इस बात को नहीं माना, और इस पर क़ानूनी दलीलें हुईं। पर इसके पचड़े में हम नहीं पड़ना चाहते। जब सालाना क़िस्तें चुकाने का समय आया और वे नहीं दी गईं, तो इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के खिलाफ़ नया युद्ध छेड़ दिया। यह आर्थिक युद्ध था। इंग्लैण्ड में आनेवाले आयरी माल पर भारी आयात चुंगियाँ लगा दी गईं; ताकि इंग्लैण्ड को अपनी उपज भेजनेवाले आयरी किसान बर्बाद हो जायँ और आयरी सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। जैसी कि इंग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा घुमाया, पर इस क़िस्म के तरीक़े अब पहले की तरह कारगर नहीं रह गये थे। आयरी सरकार ने इसके जवाव में आयर्लैण्ड आनेवाले ब्रिटिश माल पर चुंगियाँ लगा दीं। इस आर्थिक युद्ध ने दोनों तरफ़ के किसानों और उद्योगों को भारी नुक़सान पहुँचाया। परन्तु अपमानित राष्ट्रीयता और शान का खयाल दोनों में से किसी भी एक पक्ष के झुकने के रास्ते में रोड़ा बन गये।

१९३२ ई० के शुरू में आयर्लैण्ड में नये चुनाव हुए, और इनमें जब दि वैलेरा पहले से भी ज़्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज़्यादा वहुमत हो गया तो ब्रिटिश सरकार को बहुत खिझलाहट हुई। इसका मतलब यह था कि आर्थिक शिकंजा कसने की ब्रिटिश नीति सफल नहीं हुई। मज़ेदार बात यह है कि इधर तो

ब्रिटिश सरकार क़र्ज़े न चुकाने में आयरवासियों की बदमाशी की पुकार करती है, उधर वह खुद अमेरिका के क़र्ज़े नहीं चुकाना चाहती।

बस, आज दि वैलेरा आयरी सरकार का अध्यक्ष है और वह एक-एक पग बढ़ाता हुआ अपने देश को गणराज्य की ओर ले जा रहा है। वफ़ादारी की शपथ तो कभी की खत्म हो गई; सालाना क़िस्तों का भुगतान सदा के लिए बन्द कर दिया गया है; गवर्नर-जनरल का पुराना पद भी तोड़ दिया गया है, और इस पद पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं रह गया है, दि वैलेरा ने अपने दल के एक आदमी को मुक़र्रर कर दिया है। गणराज्य के लिए लड़ाई चल रही है, पर अब उसके ढंग बदल गये हैं; सदियों पुरानी आँग्ल-आयरी कशमकश जारी है और आज इसने आर्थिक युद्ध का रूप ले लिया है।

आयर्लैण्ड के जल्द ही गणराज्य बन जाने के आसार हैं। पर एक बड़ी रुकावट रास्ते में अटकी हुई है। दि वैलेरा और उसके दल की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि अल्स्टर समेत अखण्ड आयर्लैण्ड, एक गणराज्य बन जाय, और समूचे टापू की एक केन्द्रीय सरकार हो। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसके दो टुकड़े नहीं किये जा सकते। दि वैलेरा के सामने बड़ी समस्या यह है कि अल्स्टर को बाक़ी आयर्लैण्ड के साथ किस तरह जोड़ा जाय। ज़बर्दस्ती से यह काम नहीं हो सकता। १९१४ ई० में ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोशिश से बग़ावत होते-होते रह गई थी। और आज़ाद राज्य तो अल्स्टर को मजबूर कर ही नहीं सकता, न ऐसा करने का उसका सपने में भी कोई इरादा है। दि वैलेरा को आशा है कि वह अल्स्टर की सद्भावना हासिल कर लेगा और इस तरह दोनों को एक कर देगा। पर आशा में ज़रूरत से ज्यादा आशावाद दिखाई देता है, क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट अल्स्टर का कैथलिक आयर्लैण्ड की तरफ कट्टर अविश्वास अभी तक चला आ रहा है।

टिप्पणी (१९३८ ई०)—कुछ साल चलने के बाद दोनों देशों के बीच यह आर्थिक युद्ध दोनों देशों के एक आपसी राज़ीनामे के ज़रिये खत्म कर दिया गया। यह राज़ीनामा, जिससे सालाना क़िस्तों की समस्या का और रुपये-पैसे तथा दूसरे देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आज़ाद राज्य के लिए बहुत फ़ायदे-मन्द रहा। दि वैलेरा ने गणराज्य की तरफ़ और भी क़दम बढ़ाये हैं, और ब्रिटिश सरकार और ताज से कितने ही रिश्ते तोड़ दिये हैं। आयर्लैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा ज़रूरी सवाल देश की एकता है, जिसमें अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राज़ी नहीं है।

: १५८ :

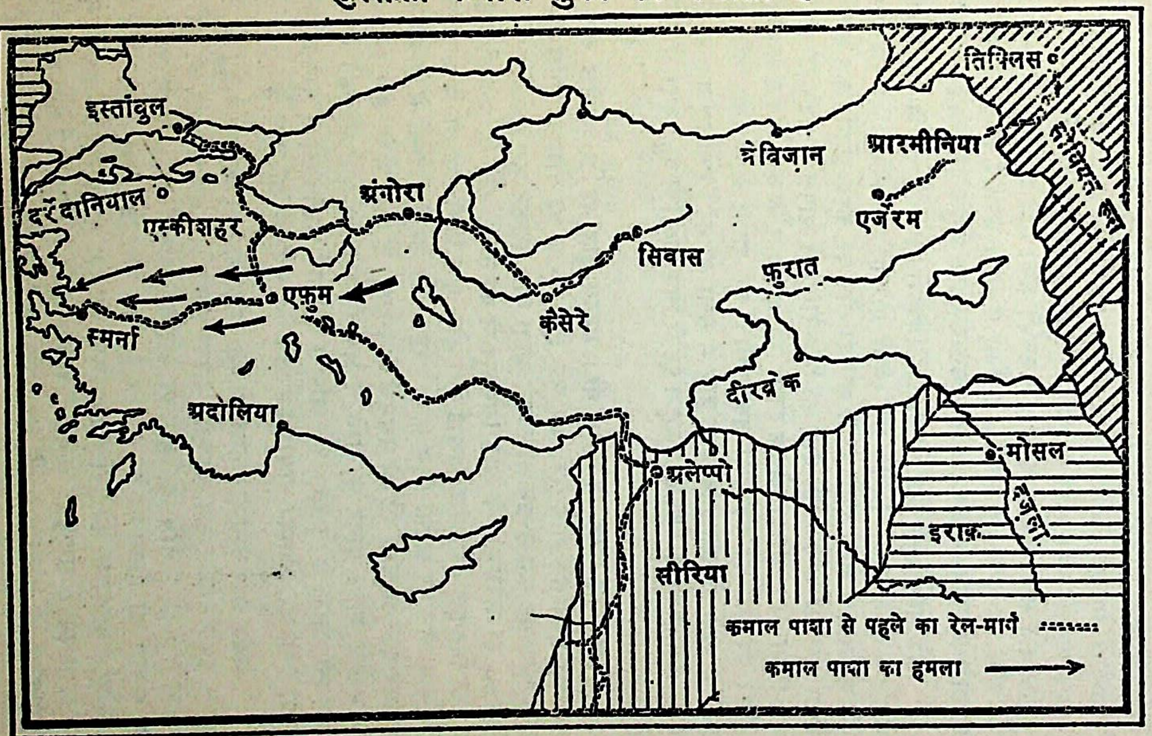
राख के ढेर से नये तुर्की का उदय

७ मई, १९३३

पिछले पत्र में मैं गणराज्य के लिए आयर्लैण्ड की बहादुराना लड़ाई का हाल लिख चुका हूँ। आयर्लैण्ड का तुर्की से कोई वास्ता नहीं है, लेकिन आज मुझे नये तुर्की का ध्यान आ रहा है, इसलिए तुम्हें उसीके बारे में लिखना चाहता हूँ। आयर्लैण्ड की ही तरह तुर्की ने भी जीतने के कोई आसार न होने पर भी हैरत में डाल लेनेवाला डटकर मुक़ाबला किया। हम देख चुके हैं कि महायुद्ध के नतीजों से रूस, जर्मनी व आस्ट्रिया, ये तीन साम्राज्य ग़ायब हो गये। तुर्की में हम चौथे बड़े साम्राज्य, यानी उस्मानी साम्राज्य, का अन्त देखते हैं। उस्मान और उसके उत्तराधिकारियों ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की नींव डाली थी और इसका निर्माण किया था। इसलिए इनका राजवंश रूस के रोमोनॉफ़ घराने से या प्रशिया और जर्मनी के हॉयनत्सालर्न घराने से बहुत पुराना था। ये तेरहवीं सदी के शुरूआती हैप्सबर्गों के ज़माने के थे, और इन दोनों प्राचीन घरानों का एक साथ पतन हुआ।

महायुद्ध में जर्मनी की हार से कुछ दिन पहले ही तुर्की का ढेर हो गया, और उसने मित्र-राष्ट्रों के साथ लड़ाई बन्द करने का मामला अलग तय किया। देश बहुत-कुछ टूक-टूक हो चुका था, साम्राज्य मिट गया था, और सरकार की व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक़ और अरबी देश तुर्की से बिलकुल कट गये थे और बहुत-कुछ मित्र-राष्ट्रों के अधीन थे। ख़ुद क़ुस्तुन्तुनिया पर भी मित्र-राष्ट्रों का क़ब्ज़ा था, और विजयी ताक़त के अहंकारी निशान ब्रिटिश जंगी-जहाज़ बास्फ़ोरस में, इस महान् शहर के सामने ही, लंगर डाले पड़े थे। हर जगह अंग्रेज़ी, फ़्रान्सीसी व इतालवी सिपाही नज़र आते थे, और ब्रिटिश ख़ुफ़िया विभाग के जासूस सब जगह गीदड़-गश्त लगा रहे थे। तुर्की क़िले ढाये जा रहे थे, और बची-खुची तुर्की सेना के हथियार रखवाये जा रहे थे। नौजवान तुर्की नेता अनवर पाशा और तलअ़त बेग वग़ैरा, दूसरे देशों को भाग गये थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली ख़लीफ़ा वहीदुद्दीन बैठा हुआ था, जो इस तबाही में से अपने-आपको बचाने पर तुला हुआ था, उसका देश भले ही चूल्हे में जाय। ब्रिटिश सरकार की पसन्द का एक और कठपुतली व्यक्ति वज़ीर आज़म बनाया गया। तुर्की पार्लमेण्ट तोड़ दी गई।

१९१८ ई० के अन्त में और १९१९ ई० के शुरू में, तुर्की के अन्दर इस तरह की हालतें थीं। तुर्क लोग बिलकुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिलकुल पस्त हो चुके थे। तुम्हें याद होगा कि उन्हें कितनी ज़बर्दस्त मुसीबतें सहनी पड़ी थीं।


मुस्तफ़ा कमाल तुर्की को बचाता है
तिफ़्लिस
आरमीनिया
त्रेबिज़ान
एर्ज़रम
इस्तांबुल
दर्रे दानियाल
एस्कीशहर
अंगोरा
सिवास
फ़ुरात
एफ़ुम
कैसेरे
स्मर्ना
अदालिया
दीयरबक्र
मोसल
अलेप्पो
दजला
इराक़
सीरिया
कमाल पाशा से पहले का रेल-मार्ग
कमाल पाशा का हमला

महायुद्ध के चार वर्षों से पहले बलकानी युद्ध हुआ था, और उससे भी पहले इटली के साथ युद्ध हुआ था, और यह सब नौजवान तुर्कों की उस क्रान्ति के बिलकुल पीछे-पीछे लगा हुआ आया था, जिसने सुलतान अब्दुल हमीद को हटाकर पार्लमेण्ट क़ायम कर दी थी। तुर्कों ने हमेशा अद्‌भुत धीरज का परिचय दिया है, लेकिन क़रीब आठ साल के लगातार युद्ध ने उनकी कमर तोड़ दी; ऐसी हालत में किसी भी क़ौम की कमर टूट जाती। इसलिए वे सारी उम्मीदें छोड़ बैठे और अपने-आपको बदनसीबी के हवाले करके मित्र-राष्ट्रों के फ़ैसले का इन्तज़ार करने लगे।

दो साल पहले युद्ध के दौरान, मित्र-राष्ट्रों ने इटली के साथ एक गुप्त क़रार कर लिया था, जिसमें उसे स्मर्ना और एशिया-कोचक का पश्चिमी भाग देने का वायदा था। इससे पहले काग़ज़ी तौर पर क़ुस्तुन्तुनिया रूस को भेंट कर दिया गया था और अरबी देशों का मित्र-राष्ट्रों ने आपस में बँटवारा करना तय कर लिया था। एशिया कोचक इटली को दिये जाने के बारे में इस आख़िरी गुप्त क़रार पर रूस की रज़ामन्दी ज़रूरी थी। पर इटली की बदक़िस्मती से, ऐसा होने के पहले ही, बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आ गई। इसलिए यह क़रारनामा मंज़ूर नहीं हो पाया, जिसकी वजह से इटली मित्र-राष्ट्रों से बहुत कुढ़ा और नाराज़ हुआ।

बस, उस वक़्त यह हालत थी। मालूम होता था कि बुज़दिल सुलतान से लगाकर नीचे तक सारे तुर्क गिर चुके हैं। 'यूरोप का बीमार' आख़िरकार दम तोड़ चुका था, कम-से-कम नज़र यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे, जो क़िस्मत या परिस्थिति के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं थे, भले ही मुक़ाबला करना बिलकुल बे-उम्मीद दिखाई देता हो। कुछ दिनों तक तो वे चुपचाप और ख़ुफ़िया तौर पर अपना काम करते रहे। वे उन्हीं गोदामों से हथियार और सामान इकट्ठा करते रहे जो सचमुच मित्र-राष्ट्रों के क़ब्ज़े में थे, और इन्हें जहाज़ों में भरकर काला सागर के रास्ते से अनातोलिया (एशिया-कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन ख़ुफ़िया कार्रवाई करनेवालों में मुस्तफ़ा कमाल-पाशा मुख्य था, जिसका नाम मेरे पिछले कई पत्रों में आ चुका है।

अंग्रेज लोग मुस्तफ़ा कमाल को फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। वे उसपर शुबहा करते थे और उसे गिरफ़्तार करना चाहते थे। सुलतान भी, जो पूरी तरह अंग्रेज़ों के अँगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नहीं चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की तरफ़ बहुत दूर भेज देना बिना ख़तरे की चाल होगी, इसलिए कमालपाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इन्स्पेक्टर-जनरल मुक़र्रर कर दिया गया। सच पूछो तो वहाँ देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नहीं थी, और असल में कमालपाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्की सिपाहियों के

हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बढ़िया मौक़ा था; उसने तपाक से इसे मंजूर कर लिया और वह फ़ौरन रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसके रवाना होने के कुछ ही घण्टे बाद सुलतान की मति पलट गई। कमाल के डर ने अचानक उसे दबा दिया, और आधी रात गये उसने अंग्रेज़ों के पास ख़बर भेजी कि वे कमाल को रोक लें। पर चिड़िया तो उड़ चुकी थी।

कमाल पाशा और कुछ गिने-चुने दूसरे तुर्क अनातोलिया में राष्ट्रीय पैमाने पर मुक़ाबले की तैयारी करने लगे। शुरू-शुरू में वे चुपचाप और चौकस होकर चले, और वहाँ पड़े हुए फ़ौजी अफ़सरों को अपनी तरफ़ मिलाने का यत्न करने लगे। ज़ाहिरा तौर पर तो वे सुलतान के कारकुनों की तरह काम करते थे, पर क़ुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशों पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। घटनाचक्र उनकी मदद कर रहा था। काकेशिया में अंग्रेज़ों ने आर्मीनिया का गणराज्य बनाया था और तुर्की के पूर्वी प्रान्त उसमें मिला देने का वायदा किया था। (आजकल आर्मीनिया का गणराज्य सोवियत संघ का भाग है)। आर्मीनियनों और तुर्कों में कट्टर दुश्मनी थी, और बीते वर्षों में कभी एक ने और कभी दूसरे ने बहुतेरे हत्याकाण्ड किये थे। जबतक तुर्कों का दबदबा था तबतक तो इस ख़ूनी खेल में उनकी ही जीत होती रही, ख़ासकर अब्दुल हमीद के राज में। इसलिए अब तुर्कों को आर्मीनियनों के मातहत रक्खे जाने का अर्थ था उनका सर्वनाश। इस तरह मरने से उन्होंने लड़ना अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी प्रान्तों के तुर्क कमाल पाशा की अपीलों और जोश दिलानेवाली बातों को बड़े चाव के साथ सुनने को तैयार थे।

इसी बीच बहुत महत्व की दूसरी घटना ने तुर्कों को उभाड़ दिया। १९१९ ई० के शुरू में इतालवी लोगों ने एशिया-कोचक में अपने सिपाही उतारकर फ़्रान्स व इंग्लैण्ड के साथ किये गए उस ख़ुफ़िया क़रार को पूरा करना चाहा, जो अमल में नहीं आ पाया था। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने इसे बिलकुल पसन्द नहीं किया; उस वक़्त वे इतालवी लोगों को बढ़ावा नहीं देना चाहते थे। जब उन्हें और कुछ न सूझा तो वे इसपर राज़ी हो गये कि स्मर्ना पर यूनानी सिपाही क़ब्ज़ा कर लें, ताकि इतालवी लोगों की पेशबन्दी हो जाय।

इस काम के लिए यूनानियों को क्यों पसन्द किया गया? फ़्रान्सीसी और अंग्रेज़ सिपाही लड़ाई से थक चुके थे और ग़दर पर उतारू थे। वे फ़ौजी सेवा से छुटकारा पाना चाहते थे और जितनी जल्दी हो सके घर लौट जाना चाहते थे। इधर यूनानी तैयार थे, और यूनानी सरकार एशिया-कोचक व क़ुस्तुन्तुनिया दोनों को अपने राज्य में मिलाने के और इस तरह पुराने बिज़ैन्तीन साम्राज्य में फिर से

जान डालने के सपने देख रही थी। दो बड़े क़ाबिल यूनानी लॉयड जॉर्ज के दोस्त थे, जो उन दिनों इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री था और मित्र-राष्ट्रों की मण्डली में जिसका बहुत ज़ोर था। इनमें से एक तो यूनान का प्रधान-मन्त्री वेनिज़ेलोस था। दूसरा सर बसील ज़हरॉफ़ के नाम से मशहूर एक बड़ा अजीब व्यक्ति था, हालाँकि उसका मूल नाम बेसीलिओस ज़करियास था। १८७७ ई० में ही, जबकि यह नौजवान था, यह हथियार बनानेवाली एक अंग्रेज़ी कम्पनी का बलकानी राज्यों में एजेण्ट बन गया था। जब महायुद्ध ख़त्म हुआ तब यह सारे यूरोप में, और शायद सारे संसार में, सबसे ज़्यादा मालदार व्यक्ति था, और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ व सरकारें इसको सलाम झुकाने में बड़ी ख़ुशी महसूस करते थे। इसे ऊँचे-ऊँचे अंग्रेज़ी व फ़ान्सीसी ख़िताब दिये गए; यह कई अख़बारों का मालिक था, और मालूम होता था कि पर्दे के पीछे से सरकारों पर ख़ूब असर डालता था। आम लोगों को उसके बारे में कोई जानकारी नहीं थी, और वह उजाले से दूर ही रहता था। सचमुच वह नमूने का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार था, जो बहुत-से देशों व असरदार मण्डलों में घरोपा महसूस करता है और जिसके हाथों में कुछ हद तक कितनी ही लोकतन्त्री सरकारों की बागडोर रहती है। ऐसे देशों के लोग मन में समझते हैं कि उनपर उनकी अपनी ही हुकूमत है, मगर पर्दे के पीछे आँखों से ओझल अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारों की असली सत्ता काम करती रहती है।

ज़हरॉफ़ इतना मालदार और असरदार कैसे बन गया? उसका धन्धा था हर तरह के युद्ध का सामान बेचना, और बलकान में तो ख़ासतौर से यह बड़े नफ़े का काम था। लेकिन बहुत लोगों का मानना है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश ख़ुफ़िया विभाग का आदमी था। इससे उसे धन्धे में और राजनीति में बहुत मदद मिली, और बार-बार होनेवाले युद्धों में उसने करोड़ों का मुनाफ़ा बटोरा, और इस तरह वह आज का एक अजीब देव बन गया।

क़िस्से-कहानियों के जैसे मालदार इस अजीब आदमी ने और वेनिज़ेलोस ने लॉयड जॉर्ज को इस बात पर राज़ी करा लिया कि यूनानी सिपाही एशिया-कोचक में भेज दिये जायँ। ज़हरॉफ़ इस कार्रवाई का पूरा ख़र्चा उठाने को तैयार हो गया। उसने बिना मुनाफ़े के जो सौदे किये थे, उनमें से यह भी एक था, क्योंकि लोगों का ख़याल है कि तुर्की युद्ध के लिए इसने यूनानियों को जो दस करोड़ डॉलर पेशगी दिये वे सब बट्टे खाते गये।

यूनानी सिपाही अंग्रेज़ी जहाज़ों में समुद्र पार करके एशिया-कोचक पहुँचे और मई, १९१९ ई० में अंग्रेज़ी, फ़ान्सीसी और अमेरिकी जंगी-जहाज़ों की हिफ़ाज़त में स्मर्ना पर उतरे। इन सिपाहियों ने, जो तुर्की को मित्र-राष्ट्रों की 'भेंट' थे, फ़ौरन ही ज़बर्दस्त पैमाने पर हत्याकाण्ड और अत्याचार शुरू कर दिये।

वहाँ आतंक का ऐसा राज फैला कि युद्ध से थके हुए संसार का थका-माँदा विवेक भी थर्रा उठा। खुद तुर्की में तो इसका बड़ा ही बुरा असर पड़ा, क्योंकि तुर्कों को पता लग गया कि मित्र-राष्ट्रों के हाथों उनकी कैसी बुरी हालत होती दिखाई देती है। और फिर अपने पुराने दुश्मन व प्रजा यूनानियों के हाथों इस तरह मारा-काटा जाना और बर्ताव किया जाना! तुर्कों के दिल में आग धधकने लगी, और राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। यहाँतक कहा जाता है कि, हालाँकि कमाल पाशा इस आन्दोलन का नेता था, मगर स्मर्ना पर यूनानियों का क़ब्ज़ा इसे पैदा करनेवाला था। कई तुर्की अफ़सर, जो तबतक डाँवाडोल थे, इस आन्दोलन में शामिल हो गये, हालाँकि इसका अर्थ सुलतान को ललकारना था। क्योंकि सुलतान ने अब मुस्तफ़ा कमाल की गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर, १९१९ ई०, में अनातोलिया के सिवास में चुने हुए प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर मोहर लगा दी, और कमाल की सदारत में एक कार्यकारिणी कमेटी बना दी गई। मित्र-राष्ट्रों के साथ सुलह की कम-से-कम शर्तों का एक 'राष्ट्रीय क़रार' भी मंजूर किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रक्खा गया था। क़ुस्तुन्तुनिया में सुलतान पर इसका असर पड़ा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वायदा किया और चुनावों का हुक्म निकाला। इन चुनावों में सिवास कांग्रेस के लोगों को भारी बहुमत हासिल हुआ। कमाल पाशा को क़ुस्तुन्तुनिया के लोगों पर भरोसा नहीं था, और उसने नये चुने गये डिपुटियों को वहाँ न जाने की सलाह दी। पर वे इसपर राज़ी नहीं हुए और रऊफ़बेग की अगुआई में वे इस्तम्बूल चले गये (क़ुस्तुन्तुनिया को अब मैं इसी नाम से पुकारूँगा)। उनके वहाँ जाने का एक सबब यह था कि मित्र-राष्ट्रों ने ज़ाहिर कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल में सुलतान की सदारत में बैठेगी तो वे उसे तस्लीम कर लेंगे। हालाँकि कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह खुद नहीं गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, १९२० ई०, में इस्तम्बूल में बैठी, और उसने फ़ौरन ही उस 'राष्ट्रीय क़रार' को मंजूर कर लिया, जो सिवास कांग्रेस में तैयार किया गया था। मित्र-राष्ट्रों के इस्तम्बूल में तैनात प्रतिनिधियों को यह बात अच्छी नहीं लगी, और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत-से काम किये वे भी उन्हें अच्छे नहीं लगे। इसलिए छै सप्ताह बाद उन्होंने अपनी वही हस्ब-मामूल और ज़रा भौंड़ी चालबाज़ियाँ शुरू कर दीं, जिनको वे मिस्र में व दूसरी जगह कई बार आज़मा चुके थे। अंग्रेज़ सेनापति अपनी फ़ौज लेकर इस्तम्बूल में घुस आया, उसने शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया, फ़ौजी क़ानून लागू कर दिया, रऊफ़बेग समेत चालीस राष्ट्रीय

डिपुटियों को गिरफ़्तार कर लिया, और उन्हें देश-निकाला देकर माल्टा भेज दिया ! अंग्रेज़ों के इस 'नर्म' उपाय का मतलब दुनिया को सिर्फ़ यह ज़ाहिर करना था कि मित्र-राष्ट्रों ने 'राष्ट्रीय क़रार' को नापसन्द किया था।

तुर्की में फिर खलबली मच गई। अब यह बिलकुल ज़ाहिर हो गया कि सुलतान अंग्रेज़ों के हाथों की कठपुतली था। ज़्यादातर तुर्की डिपुटी भागकर अंगोरा चले गये, और वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय विधान-सभा' रक्खा। उसने अपनेको देश की सरकार क़रार दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अंग्रेज़ों ने इस्तम्बूल पर क़ब्ज़ा किया उसी दिन से सुलतान का और इस्तम्बूल में उसकी सरकार का राज खत्म हो गया था।

इसके जवाब में सुलतान ने कमाल पाशा को व दूसरे लोगों को बाग़ी क़रार दिया, उनका हुक़्क़ा-पानी बन्द कर दिया और उन्हें मौत की सज़ा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने यह भी डुग्गी पिटवा दी कि अगर कोई आदमी कमाल पाशा व उसके साथियों की हत्या कर देगा तो वह पाक फ़र्ज़ अदा करेगा और उसे इस लोक व परलोक दोनों में सवाब मिलेगा। याद रहे कि सुलतान खलीफ़ा, यानी अमीर-उल-मोमिनीन भी था, और हत्या के लिए खुली इजाज़त का उसका यह फ़तवा बड़ी भयंकर चीज़ था। कमाल पाशा न सिर्फ़ ऐसा बाग़ी था, जिसके पीछे सरकारी भेड़िये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से बेदीन होनेवाला भी क़रार दिया गया था, जिसे कोई भी मज़हबी अन्धा या दीवाना क़त्ल कर सकता था। सुलतान ने राष्ट्रवादियों को कुचलने में कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी। उसने उनके खिलाफ़ जिहाद बोल दिया और उनसे लड़ने के लिए ग़ैर-सैनिकों की एक 'खलीफ़ा की फ़ौज' तैयार करवाई। मुल्लाओं वग़ैरा को बलवे खड़े करवाने के लिए भेजा गया। जगह-जगह बलवे हुए और कुछ दिन तो तुर्की में गृह-युद्ध की आग धधकती रही। यह नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, सख्त दुश्मनी की लड़ाई थी, और दोनों तरफ़ से निर्दय ज़ुल्म ढाये गए।

इधर स्मर्ना में यूनानी लोग ऐसी हरकतें कर रहे थे, मानो वे ही देश के हमेशा के लिए मालिक हों, और बिलकुल वहशियाना मालिक हों। उन्होंने उपजाऊ काँठों को वीरान कर दिया और हज़ारों बेघर तुर्कों को वहाँ से खदेड़ दिया। तुर्कों की तरफ़ से कोई कारगर मुक़ाबला न होने के सबब वे आगे बढ़ते चले गये।

राष्ट्रवादियों के सामने दुखदायी माजरा था—घर में गृह-युद्ध, जिसके पीछे उनके खिलाफ़ फ़तवा, उधर विदेशी हमलावरों की उनपर चढ़ाई, और सुलतान व यूनानियों दोनों की पीठ ठोंकनेवाली बड़ी मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ, जो जर्मनी पर

जीत हासिल करने के बाद सारी दुनिया पर हावी हो रही थीं। लेकिन कमाल पाशा ने अपने लोगों को यह नारा दिया कि 'जीतो या मर मिटो।' एक अमेरिकी ने जब उससे पूछा कि अगर राष्ट्रवादी नाकाम हुए तो क्या होगा, तो उसने जवाब दिया, "जो राष्ट्र जिन्दगी और स्वाधीनता के लिए आखिरी कुर्बानियाँ करता है वह कभी नाकाम नहीं होता। नाकामी का अर्थ है कि राष्ट्र मर चुका।"

मित्र-राष्ट्रों ने कम्बख्त तुर्की के लिए जो सन्धि तैयार की थी, वह अगस्त, १९२० ई०, में प्रकाशित कर दी गई। यह सेव्र की सन्धि कहलाई। इसने तुर्की की आजादी का अन्त कर दिया; स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सजा सुना दी गई। तुर्की के सिर्फ़ टुकड़े-टुकड़े ही नहीं कर दिये गए, बल्कि खुद इस्तम्बूल तक में धरना देने और क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्री कमीशन बिठा दिया गया। सारे देश में रंज छा गया और प्रार्थनाओं व हड़ताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। अखबारों में काले हाशिये छापे गये। पर इससे क्या होता था, क्योंकि सुलतान के प्रतिनिधि सन्धि पर दस्तखत कर चुके थे। हाँ, राष्ट्रवादियों ने उसे बड़ी हिक़ारत के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि के प्रकाशन का यह नतीजा हुआ कि उनका बल बढ़ने लगा, और अपने देश की मिट्टी बिलकुल खराब होने से बचाने के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा तुर्क उनकी तरफ़ आने लगे।

लेकिन बग़ावत पर उतारू तुर्की पर इस सन्धि का अमल कौन कराता? मित्र-राष्ट्र खुद यह काम नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी फ़ौजों को तोड़ दिया था, और घर में उन्हें फ़ौजों से निकले हुए सिपाहियों व मजदूरों के बिगड़े हुए मिजाज का सामना करना पड़ रहा था। पश्चिमी यूरोप के देशों में अभी तक हवा में क्रान्ति की भावना मौजूद थी। उधर मित्र-राष्ट्रों में आपस में ही मतभेद पैदा हो रहे थे और वे युद्ध की लूट के बँटवारे पर लड़-झगड़ रहे थे। पूर्व में इंग्लैण्ड को और कुछ हद तक फ़ान्स को एक खतरनाक़ सूरत का सामना करना पड़ रहा था। फ़ान्सीसी 'फ़रमान' के अधीन सीरिया में बेचैनी की आग फैल रही थी और वहाँ गड़बड़ के आसार थे। मिस्र में खूनी बग़ावत हो ही चुकी थी, जिसे अंग्रेजों ने कुचल दिया था। भारत में १८५७ ई० के विद्रोह के बाद बग़ावत का पहला बड़ा आन्दोलन तैयार हो रहा था, हालाँकि यह शान्ति के साथ था। यह गांधीजी की रहनुमाई में असहयोग का आन्दोलन था और खिलाफ़त का सवाल और तुर्की के साथ किया गया बर्ताव इस आन्दोलन का एक खास सहारा था।

इस तरह हम देखते हैं कि मित्र-राष्ट्र इस हैसियत में नहीं थे कि खुद अपनी ही सन्धि तुर्की पर लाद सकें; न वे तुर्की राष्ट्रवादियों के हाथों इसकी खुल्लमखुल्ला

धज्जियाँ उड़ाया जाना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होंने अपने दोस्तों वेनिज़ेलोस व ज़हरॉफ़ का सहारा ढूंढ़ा और ये दोनों यूनान की तरफ़ से इस काम को अंजाम देने के लिए पूरी तरह तैयार हो गये। यह किसीको आशा नहीं थी कि पस्त-हिम्मत तुर्क कुछ ज्यादा परेशान करेंगे, और एशिया-कोचक की लूट हथियाने लायक़ थी। इसलिए और भी ज्यादा यूनानी सिपाही भेजे गये, और यूनानी-तुर्की युद्ध बड़े पैमाने पर छिड़ गया। १९२० ई० में गर्मियों से लगाकर खरीफ़ तक जीत ने यूनानियों का साथ दिया, और उन्होंने सामना करनेवाले तुर्कों को खदेड़ दिया। कमाल-पाशा और उसके साथियों के हाथ में सेना के जो बचे-खुचे टुकड़े रह गये थे, उन्हींमें से एक कारगर सेना तैयार करने के लिए उन्होंने जी-तोड़ कोशिश की। जिस वक़्त उन्हें मदद की निहायत ज़रूरत पड़ी तभी उन्हें मदद मिल गई, और ठीक मौक़े पर मिल गई। यानी सोवियत रूस ने हथियारों से और पैसे से उन्हें मदद पहुँचाई। क्योंकि इंग्लैण्ड दोनों ही के लिए एक-सा दुश्मन था।

ज्यों-ज्यों कमाल की ताक़त बढ़ने लगी त्यों-त्यों मित्र-राष्ट्रों के दिलों में इस लड़ाई के नतीजे के बारे में कुछ-कुछ अन्देशा होने लगा, और उन्होंने पहले से अच्छी शर्तें पेश कीं। पर कमालियों के लिए अब भी वे मंजूर करने लायक़ न थीं, और उन्होंने इन्हें ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रों ने यूनानी-तुर्की झगड़े से अपना पिण्ड छुड़ाया और अपनी ग़ैर-तरफ़दारी ज़ाहिर कर दी। यूनानियों को जंजाल में फँसवाकर उन्होंने उन्हें मंझधार में छोड़ दिया। यहाँतक कि फ़्रान्स ने, और कुछ हद तक इटली ने भी, तुर्कों को दोस्त बनाने की गुप-चुप कोशिशें कीं। पर अंग्रेज़ अभी थोड़े-बहुत यूनानियों की तरफ़ थे, लेकिन थे ग़ैर-सरकारी तौर पर।

१९२१ ई० की गर्मियों में यूनानियों ने तुर्की की राजधानी अंगोरा पर क़ब्ज़ा करने के लिए बड़ा ज़ोर लगाया। वे नगर के बाद नगर पर क़ब्ज़ा जमाते हुए अंगोरा के पास तक आ पहुँचे, पर अन्त में सक़रिया नदी पर उन्हें रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनों सेनाएँ आपस में जूझती रहीं, सदियों पुराने सारे नस्ली बैर को लेकर लगातार लड़ती रहीं, और एक ने दूसरी के साथ ज़रा भी रू-रियायत नहीं की। धीरज की यह ज़बर्दस्त कसौटी बन गई; तुर्क तो बस किसी तरह डटे रहे, पर यूनानियों ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढंग रहा था, यूनानी सेना हर चीज़ को जलाती और तबाह करती हुई पीछे लौटी, और उसने दो सौ मील के उपजाऊ देहात को वीरान बना दिया।

सक़रिया नदी की जंग में तुर्कों की बस बाल-बाल जीत हुई। यह आख़िरी जीत किसी तरह भी नहीं थी, पर फिर भी इसकी गिनती आधुनिक इतिहास की निर्णायक लड़ाइयों में की जाती है। इसके बाद ज्वार का रुख ही पलट गया। पूर्व व

पश्चिम के बीच जिन बड़ी-बड़ी मुठभेड़ों ने पिछले दो सौ से भी ज्यादा वर्षों में एशिया-कोचक की चप्पा-चप्पा ज़मीन को इन्सान के ख़ून से तर कर दिया है, यह लड़ाई उन्हींमें एक और थी।

दोनों की सेनाएँ बेदम हो गई थीं और वे फिर ताक़त हासिल करने के लिए और दुबारा तैयार होने के लिए सुस्ताने लगी थीं। मगर कमाल पाशा का सितारा बुलन्दी पर था। फ़्रान्सीसी सरकार ने अंगोरा से सन्धि कर ली। अंगोरा और सोवियत के बीच भी सन्धि हो गई। फ़्रान्स के तस्लीम कर लेने पर मुस्तफ़ा कमाल को दो फ़ायदे हुए। एक तो उसका डर निकल गया, दूसरे उसे कुछ चीज़ें भी मिलीं। इससे सीरिया की सरहद के तुर्की सिपाही यूनान के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए ख़ाली हो गये। ब्रिटिश सरकार अभी तक कठपुतली सुलतान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ़्रान्सीसी सन्धि से उसे धक्का पहुँचा।

अगस्त, १९२२ ई०, में तुर्की सेना ने, अचानक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियों पर हमला बोल दिया और उन्हें आसानी से समुद्र में धकेल दिया। आठ दिनों में यूनानी लोग १६० मील पीछे हट गये, लेकिन हटते-हटते भी उन्होंने जो भी तुर्की पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते में पड़ा उसे मारकर ख़ूनी बदला लिया। तुर्कों ने भी कम बेरहमी नहीं दिखाई, और वे यूनानियों को क़ैदी बनाने की झंझट में नहीं पड़े। जो थोड़े-से क़ैदी उन्होंने पकड़े उनमें यूनानी सेना का सेनापति व अफ़सर थे। यूनानी सेना का ज्यादा हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा, पर ख़ुद स्मर्ना शहर का बड़ा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमाल पाशा ने दम नहीं लिया और अपनी सेनाओं को लेकर इस्तम्बूल की तरफ़ कूच कर दिया। नगर के पास चनक पर अंग्रेज़ सिपाहियों ने उसे रोका और सितम्बर, १९२२ ई० में कुछ दिनों तुर्की व इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ जाने का अन्देशा रहा। पर अंग्रेज़ों ने तुर्की की क़रीब सभी माँगों को मंजूर कर लिया और दोनों ने आरज़ी सुलह पर दस्तख़त कर दिये, जिसमें अंग्रेज़ों ने सचमुच यह वायदा किया कि वे थ्रेस में तबतक पड़ी हुई यूनानी फ़ौजों को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खड़ा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे, जिसमें रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफ़ा कमाल ने शानदार विजय हासिल की, और १९१९ ई० के मुट्ठीभर बाग़ी अब बड़ी-बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों से बराबरी की हैसियत में बात करने लगे। इन दिलेर लोगों को बहुत-सी सूरतों ने सहायता पहुँचाई थी—जैसे युद्ध के बाद पड़नेवाले असर, मित्र-राष्ट्रों में आपसी फूट, भारत व मिस्र में होने-वाली गड़बड़ों में इंग्लैण्ड का फँसा रहना, सोवियत रूस की सहायता, अंग्रेज़ों के

हाथों तुर्की का ज़लील किया जाना, वग़ैरा। मगर इन सबके अलावा तुर्कों की शानदार विजय के कारण थे ख़ुद उन्हींके मज़बूत इरादे और आज़ाद होने की ज़ोरदार इच्छा, और तुर्की किसानों व सिपाहियों में लड़ने की अद्‌भुत ख़ूबियाँ।

लोज़ान में एक सुलह-सम्मेलन हुआ और यह कई महीनों तक खिंचता रहा। इंग्लैण्ड के अहंकारी और रोब जमानेवाले प्रतिनिधि लॉर्ड कर्ज़न, और कुछ-कुछ बहरे व कूढ़-मग्ज़ इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था, और जिस बात को वह नहीं सुनना चाहता था, उसे अनसुनी कर देता था, जिससे कर्ज़न को सख़्त झुँझलाहट होती थी। भारत के वायसराई ढंगों के आदी और वैसे भी बहुत घमण्डी कर्ज़न ने गर्जन-तर्जन के तरीक़ों का प्रयोग किया पर बहरे और मुस्कराते इस्मत के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। आख़िर तंग आकर कर्ज़न लौट गया और सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद में फिर हुई, पर इस बार कर्ज़न के बजाय दूसरा ब्रिटिश-प्रतिनिधि आया। 'राष्ट्रीय क़रार' में शामिल तमाम तुर्की माँगें, सिवाय एक माँग के, मान ली गईं और जुलाई, १९३३ ई०, में लोज़ान की सन्धि पर दस्तख़त हो गये। इस बार भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रों की आपसी लाग-डॉट ने तुर्की की मदद की।

ग़ाज़ी, यानी विजयी, कमाल पाशा को वे सब चीज़ें मिल गईं, जिन्हें हासिल करने का उसने बीड़ा उठाया था। लेकिन शुरू से ही उसने यह बुद्धिमानी की थी कि अपनी माँगें कम-से-कम रक्खी थीं और विजय की घड़ी में भी वह उन्हीं पर जमा रहा। अरब, इराक़, फ़िलस्तीन, सीरिया, वग़ैरा ग़ैर-तुर्की देशों पर तुर्की-प्रभुत्व जमाने का विचार उसने बिलकुल छोड़ दिया था। वह तो यही चाहता था कि तुर्क क़ौम का वतन ख़ास तुर्की आज़ाद हो जाय। वह नहीं चाहता था कि तुर्क लोग दूसरी क़ौमों के मामलों में टाँग अड़ायें, पर वह तुर्की में विदेशियों की भी कोई दस्तन्दाज़ी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। बस, तुर्की एक ठोस और एक-रस देश बन गया। कुछ वर्षों बाद, यूनानियों के सुझाव पर, आबादियों की अनोखी अदला-बदली हुई। अनातोलिया में बाक़ी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गए, और उनके बदले में यूनान में रहनेवाले तुर्क बुला लिये गए। इस तरह क़रीब पन्द्रह लाख यूनानियों की अदला-बदली हुई, और इनमें से ज्यादातर परिवार पीढ़ियों से और सदियों से अनातोलिया या यूनान में रहते आये थे। यह क़ौमों की अजीब उखाड़-पछाड़ थी और इसने तुर्की के आर्थिक जीवन को बिलकुल उलट-पलट दिया, क्योंकि यूनानी लोगों का वहाँ के व्यवसाय में ख़ासतौर पर बड़ा-भारी साझा था। लेकिन इससे तुर्की और भी ज्यादा एक-रस देश बन गया, और शायद इसके जैसा एक-रस देश यूरोप या एशिया में दूसरा कोई नहीं है।

मैं लिख चुका हूँ कि लोज़ान की सन्धि से तुर्की की एक के सिवाय सारी माँगें पूरी हो गईं। यह अपवाद इराक़ की सरहद के पास विलायत यानी मोसल का सूबा था। चूँकि दोनों पक्ष इसके बारे में एकमत नहीं हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-संघ के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ तो तेल के कुओं के कारण, पर ज्यादातर जंगी महत्व के कारण, मोसल का महत्व था। मोसल के पहाड़ों पर क़ब्ज़ा रखने का अर्थ था कुछ हदतक तुर्की, इराक़ व ईरान, और रूस में काकेशिया पर भी, दबाव रखना। इसलिए तुर्की के लिए इसका महत्व लाज़िमी था। इंग्लैण्ड के लिए भी यह उतना ही महत्व रखता था; एक तो भारत जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तों की रक्षा के लिए, और दूसरे सोवियत रूस पर हमले या उससे बचाव के मोर्चे के तौर पर। नक़शा देखने से तुम्हें पता लग जायगा कि मोसल की जगह कितने महत्व की है। इस सवाल पर राष्ट्र-संघ ने इंग्लैण्ड के हक़ में फ़ैसला दिया। तुर्कों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया, और युद्ध की चर्चा फिर शुरू हो गई। ठीक उसी समय, दिसम्बर, १९२५ ई० में रूसी-तुर्की सन्धि हो गई। पर अन्त में अंगोरा की सरकार झुक गई, और मोसल इराक़ के नये राज्य को दे दिया गया। इराक़ स्वाधीन राज्य माना जाता है, पर अमल में वह अभी तक इंग्लैण्ड की सरपरस्ती में है, और वहाँ अंग्रेज़ अफ़सरों व सलाहकारों की भरमार है।

मुझे याद है कि लगभग ग्यारह वर्ष पहले जब हमने यूनानियों पर मुस्तफ़ा कमाल की महान् विजय का समाचार सुना था तो हमें कितनी खुशी हुई थी। यह अगस्त, १९२२ ई० में अफ़्यूम क़ाराहिसार की जंग थी, जबकि उसने यूनानी मोर्चे को तोड़ दिया था और यूनानी सेना को स्मर्ना की तरफ़ और समुद्र में खदेड़ दिया था। हममें से कई उस समय लखनऊ की ज़िला-जेल में थे, और जो कुछ टीम-टाम हम इकट्ठी कर सके, उससे अपने बारक को सजाकर हमने तुर्की की विजय का उत्सव मनाया था, और शाम को रोशनी करने का भी कुछ ढंग किया था।

: १५९ :

मुस्तफ़ा कमाल पाशा अतीत से नाता तोड़ता है

८ मई, १९३३

हमने तुर्की की पराजय के अँधेरे दिनों से लगाकर उसकी शानदार विजय के दिन तक उसके उतार-चढ़ाव को देखा है, और हमने यह काफ़ी अजीब बात देखी है कि मित्र-राष्ट्रों ने, और ख़ासकर इंग्लैण्ड ने, तुर्कों को दबाने व निर्बल करने के लिए जो उपाय अपनाये, उन्हींका उनपर बिलकुल उलटा असर हुआ,

और इन उपायों ने सचमुच राष्ट्रवादियों का बल बढ़ा दिया तथा उन्हें ज़्यादा ज़ोरदार मुक़ाबला करने के लिए खूब मज़बूत कर दिया। तुर्की का अंग-भंग करने की मित्र-राष्ट्रों की कोशिशें, यूनानी सैनिकों का स्मर्ना भेजा जाना, मार्च, १९२० ई०, में अंग्रेज़ों की राजनीतिक चोट, जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को गिर-फ़्तार करके देश से बाहर भेज दिया गया था, राष्ट्रवादियों के खिलाफ़ इंग्लैण्ड का अपने कठपुतली सुलतान को सहारा दिया जाना, इन सब बातों ने तुर्कों के क्रोध और जोश की आग में घी का काम किया। किसी बहादुर क़ौम को ज़लील करने और कुचलने के यत्न का लाज़िमी नतीजा यही होता है।

मुस्तफ़ा कमाल और उसके साथियों को जो विजय हासिल हुई, उसका उन्होंने क्या किया? कमाल पाशा पुरानी लकीर का फ़क़ीर बने रहने का क़ायल नहीं था; वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। लेकिन विजय के बाद खूब लोकप्रिय बन जाने पर भी उसे बड़ी सावधानी से आगे बढ़ना ज़रूरी था, क्योंकि किसी क़ौम को लम्बी परम्परा व मज़हब की नींव पर खड़े हुए उसके प्राचीन रिवाजों से ज़बर्दस्ती हटा देना कोई आसान काम नहीं होता। वह सुलतानियत और खिलाफ़त दोनों का अन्त करना चाहता था, पर उसके कई साथी इससे सहमत नहीं थे, और आम तुर्की भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के खिलाफ़ थी। कोई नहीं चाहता था कि कठपुतली सुलतान वहीदुद्दीन एक दिन भी बना रहे। उसे लोग देशद्रोही-जैसा नीच समझते थे जिसने अपने देश को विदेशियों के हाथ बेच देने की कोशिश की थी। मगर बहुत-से लोग एक क़िस्म की संविधानी सुलतानियत और खिलाफ़त चाहते थे, जिसमें असली सत्ता राष्ट्रीय विधान-सभा के हाथों में हो। पर कमाल पाशा ऐसा कोई समझौता नहीं चाहता था, इसलिए वह मौक़े का इन्तज़ार करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अंग्रेज़ों ने यह मौक़ा दे दिया। जिस वक़्त लोज़ान के शान्ति-सम्मेलन की तैयारी की जा रही थी, तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बूल में सुलतान को उसमें शामिल होने के लिए बुलावा भेजा, जिसमें सुलतान से कहा गया था कि सुलह की शर्तों पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ ही उससे यह भी अर्ज़ की गई थी कि इस निमन्त्रण की खबर अंगोरा पहुँचा दे। अंगोरा की युद्ध जीतनेवाली राष्ट्रीय सरकार के साथ इस रूखे व्यवहार ने, और कठपुतली सुलतान को फिर आगे ढकेलने की इस इरादतन कोशिश ने, तुर्की में संनसनी पैदा कर दी और तुर्कों को आग-बबूला कर दिया। उन्हें शक हो गया कि अंग्रेज़ और दग़ाबाज़ सुलतान मिलकर कोई और साज़िश कर रहे हैं। मुस्तफ़ा कमाल ने इस भावना का फ़ौरन फ़ायदा उठाया, और नवम्बर, १९२२ ई०, में राष्ट्रीय विधान-सभा से सुलतानियत को रद्द करा डाला। पर सिर्फ़ खिलाफ़त

के रूप में खिलाफ़त अब भी बाक़ी रह गई, और यह ज़ाहिर कर दिया गया कि उसका उत्तराधिकार उस्मानी ख़ानदान में रहेगा। इसके थोड़े ही दिन बाद गद्दी से उतारे गये सुलतान वहीदुद्दीन के खिलाफ़ घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की बजाय भाग जाना बेहतर समझा, और वह एक अंग्रेज़ी ऐम्बुलेन्स गाड़ी में बैठकर चोरी-छिपे भाग गया, और इसने उसे एक अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ तक पहुँचा दिया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफ़न्दी को नया ख़लीफ़ा चुन लिया, जो अब सिर्फ़ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनीतिक सत्ता उसके हाथ में कुछ नहीं थी।

अगले साल, १९२३ ई० में, तुर्की गणराज्य की बाक़ायदा घोषणा हो गई, और उसकी राजधानी अंगोरा रक्खी गई। मुस्तफ़ा कमाल राष्ट्रपति चुना गया, और उसने सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में कर ली, जिससे वह तानाशाह बन गया। विधान-सभा उसके आदेशों का पालन करने लगी। अब उसने बहुत-से पुराने रिवाजों पर हथौड़ा चलाना शुरू किया। मज़हब की वह कोई ज्यादा इज्ज़त नहीं करता था। बहुतेरे लोग, ख़ासकर मज़हबी ख़यालोंवाले भोले लोग, उसके तरीक़ों से और तानाशाही से नाराज़ हो उठे, और वे नये ख़लीफ़ा के गिर्द जमा हो गये। ख़लीफ़ा एक ठण्डा और सीधा-सादा आदमी था। कमाल पाशा को यह बात ज़रा भी अच्छी नहीं लगी। उसने ख़लीफ़ा के साथ ज़रा भद्दा बर्ताव किया, और वह अगला बड़ा क़दम उठाने के लिए मौक़े का इन्तज़ार करने लगा।

उसे यह मौक़ा फिर जल्दी ही मिल गया, और मिला भी बड़े अजीब ढंग से। आग़ा ख़ाँ और भारत के एक पेन्शनयाफ़्ता जज अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक संयुक्त ख़त भेजा। उन्होंने भारत के करोड़ों मुसलमानों की वकालत का दावा किया और ख़लीफ़ा के साथ किये गए सलूक पर ऐतराज़ किया। उन्होंने माँग की कि ख़लीफ़ा की शान क़ायम रक्खी जाय और उसके साथ बेहतर सलूक किया जाय। इस ख़त की नक़लें उन्होंने इस्तम्बूल के कुछ अख़बारों को भेज दीं; और हुआ यह कि असली ख़त के अंगोरा पहुँचने से पहले ही उसकी नक़ल इस्तम्बूल में प्रकाशित हो गई। इस ख़त में भड़कानेवाली कोई बात नहीं थी, पर कमाल पाशा ने फ़ौरन इसे घूर-दबाया और ज़बर्दस्त हो-हल्ला मचा दिया। जिस मौक़े की वह तलाश में था, वह उसे मिल गया था, और वह इससे पूरा फ़ायदा उठाना चाहता था। बस, यह बात फैला दी गई कि तुर्कों में फूट डालने की यह एक और अंग्रेज़ी साज़िश थी। कहा गया कि आग़ा ख़ाँ अंग्रेज़ों का ख़ास एजेण्ट है; वह इंग्लैण्ड में रहता है, अंग्रेज़ी घुड़दौड़ों से उसका ख़ास सरोकार है, और वह अंग्रेज़ राजनीतिकों से खूब

मिलता-जुलता है। वह कट्टर मुसलमान भी नहीं है, क्योंकि वह एक ख़ास तवक़े का पीर है। इसके अलावा यह भी बतलाया गया कि महायुद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने आग़ा ख़ाँ को पूर्व के सुलतान-ख़लीफ़ा के मुक़ाबले में बराबरी के दर्जे पर खड़ा कर दिया था, और प्रचार वग़ैरा से उसकी इज़्ज़त बढ़ा दी थी, और उसे भारतीय मुसलमानों का नेता बनाने की कोशिश की थी, ताकि उन्हें मुट्ठी में रक्खा जा सके। अगर आग़ा ख़ाँ को ख़लीफ़ा की इतनी चिन्ता थी तो उसने युद्धकाल में उस वक़्त ख़लीफ़ा का समर्थन क्यों नहीं किया जब अंग्रेज़ों के खिलाफ़ जिहाद का ऐलान कर दिया गया था? उस वक़्त तो उसने ख़लीफ़ा के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों का पक्ष लिया था वग़ैरा-वग़ैरा।

इस तरह कमाल पाशा ने इस संयुक्त ख़त के ऊपर, जिसे उसके लेखकों ने लन्दन से भेजा था, अच्छा-ख़ासा तूफ़ान खड़ा कर दिया, और आग़ा ख़ाँ को लोगों की निगाह में गिरा दिया। ख़त लिखनेवालों को यह गुमान भी नहीं था कि इसके ये नतीजे निकलेंगे। खत छापनेवाले वेचारे इस्तम्बूली सम्पादकों पर देश-द्रोही व इंग्लैण्ड के एजेण्ट होने का इलज़ाम लगा दिया गया और उन्हें सख्त सज़ाएँ दी गईं। इस तरह भावनाओं को ख़ूब भड़काने के बाद मार्च, १९२४ ई०, में खिलाफ़त को ख़त्म करने का बिल राष्ट्रीय विधान-सभा में पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया। इस तरह आज की दुनिया से एक ऐसी संस्था बिदा हो गई, जिसने इतिहास में बड़ा खेल खेला था। जहाँतक तुर्की का ताल्लुक़ था, कम-से-कम वहाँ तो अब कोई 'अमीर-उल-मोमिनीन' नहीं था, क्योंकि तुर्की अब बग़ैर-मजहब का राज्य बन गया था।

इससे कुछ दिन पहले, जब युद्ध के बाद अंग्रेज़ों की तरफ़ से ख़िलाफ़त को ख़तरा था, तब भारत में इसपर ज़बर्दस्त हलचल मची थी। सारे देश में खिलाफ़त कमेटियाँ बन गई थीं, और बहुतेरे हिन्दू इस हलचल में मुसलमानों के साथ हो गये थे, क्योंकि वे समझते थे कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम को चोट पहुँचा रही है। अब, जब ख़ुद तुर्कों ने ही इरादा करके ख़िलाफ़त का अन्त कर दिया, तो इस्लाम ख़लीफ़ा के बग़ैर हो गया। कमाल पाशा की यह पक्की राय थी कि तुर्कों को अरबी देशों के साथ या भारत के साथ किसी मज़हबी मामले में नहीं फँसना चाहिए। अपने देश को या अपने-आपको इस्लाम का नेता बनाने की उसकी बिलकुल इच्छा नहीं थी। जब भारत और मिस्र के कुछ लोगों ने उससे कहा कि वह ख़ुद ख़लीफ़ा बन जाय, तो उसने इन्कार कर दिया। उसकी निगाह पश्चिम की तरफ़ यूरोप पर थी, और वह तुर्की को जल्दी-से-जल्दी पश्चिमी देशों के ढंग का बनाना चाहता था। अखिल इस्लामवाद के विचार का वह पूरा विरोधी था। उसका नया नारा था अखिल तूरानीवाद, क्योंकि तुर्क लोग तूरानी नस्ल के थे। यानी,

इस्लाम में फैले हुए और ढीले-ढाले अन्तर्राष्ट्रीय नारे की बनिस्बत वह खालिस राष्ट्रीयता के ज़्यादा कड़े व ठोस रिश्ते को बेहतर समझता था।

मैं बतला चुका हूँ कि तुर्की अब पूरा एक-रस देश हो गया था, जिसमें विदेशी लोग नहीं के बराबर थे। पर इराक़ व ईरान की सीमाओं के आस-पास पूर्वी तुर्की में अब भी एक ग़ैर-तुर्की नस्ल रहती थी। यह प्राचीन कुर्द नस्ल थी, जो ईरानी भाषा बोलती थी। ये लोग जिस कुर्दिस्तान के निवासी थे, उसके टुकड़े तुर्की, इराक, ईरान व मोसल प्रदेश में बाँट दिये गए थे। कुल तीस लाख कुर्दों में से आधे के क़रीब अब भी खास तुर्की में बसे हुए थे। १९०८ ई० के नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद यहाँ आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। वर्साई-सम्मेलन में भी कुर्दों के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की माँग रक्खी थी।

१९२५ ई० में तुर्की के कुर्दी क्षेत्र में ज़ोर की बग़ावत फूट पड़ी। यह ठीक वही ज़माना था जब मोसल का झगड़ा इंग्लैण्ड और तुर्की के बीच रगड़ा पैदा कर रहा था। मोसल खुद एक कुर्दी क्षेत्र था जो तुर्की के उस भाग से मिला हुआ था जहाँ बग़ावत हो रही थी। तुर्कों के लिए इस नतीजे पर पहुँचना लाज़िमी था कि इस बग़ावत के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है, और ब्रिटिश एजेण्टों ने ज़्यादा कट्टर कुर्दों को कमाल पाशा के सुधारों के खिलाफ़ भड़का दिया है। यह बतलाना सम्भव नहीं कि इस बग़ावत से ब्रिटिश एजेण्टों का कोई ताल्लुक़ था या नहीं, हालाँकि यह तो ज़ाहिर था कि उस मौक़े पर तुर्की में इस कुर्दी गड़बड़ पर ब्रिटिश सरकार को खुशी हुई थी। अलबत्ता यह साफ़ दिखाई देता है कि इस फ़िसाद में मज़हबी कट्टरपन का बहुत बड़ा हाथ था, और यह भी उतना ही साफ़ है कि कुर्दी राष्ट्रीयता का भी इसमें बड़ा हाथ था। राष्ट्रीयता की उकसाहट सबसे ज़ोरदार थी।

कमाल पाशा ने फ़ौरन यह हल्ला मचा दिया कि तुर्की राष्ट्र खतरे में है, क्योंकि कुर्दों की पीठ पर इंग्लैण्ड है। उसने राष्ट्रीय विधान-सभा से एक क़ानून पास करा लिया, जिसमें लिखा गया था कि भाषणों के ज़रिये या छपे साहित्य के ज़रिये जनता की भावनाओं को भड़काने के वास्ते मज़हब का इस्तेमाल घोर देश-द्रोह माना जाना चाहिए, और इस हैसियत से उसके लिए सख्त-से-सख्त सज़ाएँ दी जानी चाहिएँ। मस्जिदों में ऐसे मज़हबी उसूलों का पढ़ाया जाना भी रोक दिया गया, जिनसे गणराज्य के लिए वफ़ादारी की भावनाओं के गुमराह होने का अन्देशा हो। इसके बाद उसने बिना किसी दया-माया के कुर्दों को कुचलना शुरू किया और हज़ारों की संख्या में उनका फ़ैसला करने के लिए 'स्वाधीनता की खास अदालतें' क़ायम कर दीं। शेख सईद, डॉक्टर फ़ुआद, वग़ैरा कितने ही कुर्दी नेता फाँसी पर लटका दिये गए। वे कुर्दिस्तान की स्वाधीनता की पैरवी करते हुए मरे।

मतलब यह कि जो तुर्क कुछ ही दिन पहले अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे, उन्होंने अपनी आज़ादी चाहनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि अपना बचाव करनेवाली राष्ट्रीयता किस तरह हमलावर राष्ट्रीयता बन जाती है, और आज़ादी के लिए लड़ाई दूसरों पर प्रभुता जमाने की लड़ाई बन जाती है। १९२९ ई० में कुर्दों ने दूसरी बार विद्रोह किया, और कम-से-कम उस समय तो इसे भी फिर कुचल दिया गया। लेकिन जो क़ौम आज़ादी हासिल करने पर तुली हो और उसकी क़ीमत चुकाने को तैयार हो, उसे हमेशा के लिए कोई कैसे कुचल सकता है?

इसके बाद कमाल पाशा ने उनसब लोगों पर गुस्सा उतारना शुरू किया, जिन्होंने राष्ट्रीय विधान-सभा में या बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। तानाशाह की सत्ता की भूख हमेशा उसके इस्तेमाल के साथ बढ़ती जाती है; वह कभी नहीं बुझती; वह किसी तरह का विरोध बर्दाश्त नहीं कर सकती। बस, कमाल पाशा ने भी हर तरह के विरोध पर सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की, और जब एक मज़हबी दीवाने ने उसकी हत्या की कोशिश की तब तो मामला बिलकुल ही बिगड़ गया। अब स्वाधीनता की अदालतें ग़ाज़ी पाशा का विरोध करनेवाले सब लोगों का फ़ैसला करती हुईं और उन्हें सख्त सज़ाएँ देती हुईं सारे तुर्की का दौरा करने लगीं। यहाँतक कि अगर विधान-सभा के बड़े-से-बड़े नेताओं और कमाल के पुराने राष्ट्रवादी साथियों ने भी विरोध किया तो उन्हें भी नहीं बख़्शा गया। रऊफ़ बेग को, जिसे ब्रिटिश सरकार ने माल्टा में निर्वासित कर दिया था और जो बाद में तुर्की का प्रधान-मन्त्री हुआ, उसकी ग़ैर-हाज़िरी में ही सज़ा दे दी गई। स्वाधीनता के युद्ध में भाग लेनेवाले कितने ही बड़े-बड़े नेताओं व सेनापतियों को ज़लील किया गया, और सज़ाएँ दी गईं, और कुछ को तो फाँसी पर लटका दिया गया। उनपर यह इलज़ाम लगाया गया था कि उन्होंने कुर्दों से मिलकर, या तुर्की के पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड तक से मिलकर, राज्य को ख़तरे में डालनेवाली साज़िशें की थीं।

तमाम विरोध का सफ़ाया करके मुस्तफ़ा कमाल अब एक-छत्र तानाशाह बन गया, और इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग़ में जो विचार भरे हुए थे, उनमें से अब बहुतों को उसने अमल में लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी पर नमूनेदार चीज़ से शुरुआत की। उसने 'फ़ैज़'[1] टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की और कुछ हद तक मुसलमान की निशानी बन गई थी। पहले

[1] Fez Cap—तुर्रेदार लाल तुर्की टोपी जो तुर्की, मिस्र, भारत आदि देशों के मुसलमान पहना करते थे। मोरक्क़ो के फ़ैज़ नगर में बनने के कारण इसका यह नाम पड़ा है।

उसने होशियारी के साथ फ़ौज से इसकी शुरुआत की। इसके बाद वह ख़ुद हैट पहनकर बाहर निकला, जिससे लोगों को बड़ा अचम्भा हुआ; और अन्त में जाकर उसने फ़ैज़ टोपी पहनना फ़ौजदारी जुर्म ही करार दिया! सिर्फ़ टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना ज़रा नादानी की बात लगती है। बहुत ज्यादा महत्व की बात तो यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि सिर के ऊपर क्या रक्खा है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी चीज़ें बड़ी-बड़ी चीज़ों की निशानियाँ बन जाती हैं, और सीधी-सादी फ़ैज़ टोपी के ज़रिये कमाल पाशा ने, मालूम होता है, पुराने रिवाजों और कट्टरपन पर हमला किया था। इस सवाल को लेकर दंगे हो गये। इन्हें दबा दिया गया और दंगाइयों को सख्त सज़ाएँ दी गईं।

इस पहली बाज़ी को जीतकर मुस्तफ़ा कमाल ने एक क़दम और आगे बढ़ाया। उसने तमाम ख़ानक़ाहों (मठों) और मज़हबी इबादत-गाहों को बन्द कर दिया और तोड़ दिया, और उनकी सारी जायदादें राज्य के लिए ज़ब्त कर लीं। जो दरवेश इनमें रहते थे, उनसे कह दिया गया कि अपनी गुज़र के लिए मज़ूरी करें। दरवेशों की ख़ास पोशाक पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मकतब तोड़ दिये गए थे और उनकी जगह पर राज्य के ग़ैर-मज़हबी स्कूल खोल दिये गए थे। तुर्की में कितने ही विदेशी स्कूल और कॉलेज थे। इनमें दी जानेवाली मज़हबी शिक्षा भी बन्द करा दी गई, और अगर किसीने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे बन्द करा दिया गया।

क़ानूनों में एक साथ रद्दो-बदल कर दी गई। अभी तक बहुतेरी बातों में क़ानून का आधार शरीअत[1] था। अब स्वीज़रलैण्ड का ज़ाब्ता दीवानी, और इटली का ज़ाब्ता फ़ौजदारी, और जर्मनी का ज़ाब्ता व्यापारी, पूरे-के-पूरे लागू कर दिये गए। इसके नतीजों से विवाह, वसीयत, वग़ैरा पर लागू होनेवाले ज़ाती क़ानूनों में बिलकुल परिवर्तन हो गया। इन मामलों से सम्बन्ध रखनेवाला पुराना इस्लामी क़ानून बदल गया। कई बीवियाँ रखने की प्रथा भी हटा दी गई।

पुराने मज़हबी दस्तूर के खिलाफ़ जानेवाली दूसरी तब्दीली थी आदमी की शक्ल के आलेखों, चित्रों और मूर्त्तियों को बढ़ावा दिया जाना। इस्लाम में ऐसा करना शरीअत के खिलाफ़ माना जाता है। मुस्तफ़ा कमाल ने ये काम सिखाने के लिए लड़कों व लड़कियों की कला-शालाएँ खोल दीं।

नौजवान तुर्कों के ज़माने से ही तुर्की स्त्रियाँ आज़ादी की लड़ाई में खूब महत्व का हिस्सा लेती आई थीं। कमाल पाशा की ख़ास मंशा थी कि वे सब तरह के बन्धनों से छुटकारा पा जायँ। एक 'नारी अधिकार-रक्षा-समिति'

---

[1] क़ुरान के आदर्शों तथा सिद्धान्तों के अनुसार मुसलमानों का धर्मशास्त्र।

बनाई गई और नौकरियों व धन्धों के दरवाज़े स्त्रियों के लिए खोल दिये गए। सबसे पहले बुर्क़े पर ज़ोरदार धावा बोला गया और यह ग़ज़ब की तेज़ी से गायब हो गया। स्त्रियों को तो इस बुर्क़े को फाड़ फेंकने का मौक़ा मिलने की देर थी। कमाल पाशा ने उन्हें यह मौक़ा दिया और वे दौड़ी-दौड़ी चली आईं। उसने यूरोपीय ढंग के नाच को खूब बढ़ावा दिया। वह खुद तो इसका शौक़ीन था ही, साथ ही उसके मन में यह नारियों की रिहाई की और पश्चिमी सभ्यता की निशानी बन गया था। हैट और नाच, प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये! ये पश्चिम के कोई अच्छे निशान नहीं थे, पर कम-से-कम ऊपरी सतह पर उनका असर पड़ा, और तुर्की ने अपनी टोपी और अपनी पोशाक और अपने रहन-सहन का ढंग बदल दिये। पर्दे में पाली-पोसी हुई स्त्रियों की सारी पीढ़ी ने कुछ ही वर्षों में एकदम बदलकर वकीलों, अध्यापकों, डॉक्टरों और जजों के काम सम्हाल लिये। इस्तम्बूल के बाज़ारों में स्त्री-पुलिस भी दिखाई देती है! यह देखकर बड़ी दिलचस्पी होती है कि किस तरह एक चीज़ का असर दूसरी चीज़ पर होता है। लातीनी वर्णमाला को अपनाने से तुर्की में टाइप-राइटरों का इस्तेमाल बहुत बढ़ गया। इससे शीघ्र-लिपि (शार्ट-हैण्ड) जाननेवाले टाइपिस्टों की ज़रूरत बढ़ गई, और इसका नतीजा हुआ स्त्रियों को और भी ज्यादा नौकरियाँ मिलना।

बच्चों को भी कई तरह से बढ़ावा दिया गया कि मकतबों के पुराने तोता-रटन्ती नमूने बनने के बजाय अब पूरा विकास करके अपने पाँवों पर खड़े होनेवाले और लायक़ नागरिक बन जायँ। एक बड़ी निराली संस्था 'बच्चों का सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ़्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी की कुर्सी पर नाम के लिए एक-एक बच्चे को बैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मैं नहीं कह सकता कि यह काम कैसे चलता होगा, पर यह सूझ बड़ी मज़ेदार है, और मुझे यक़ीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और नातजुर्बेकार क्यों न हों, उनका बर्ताव हमारे बड़ी उम्रवाले और गम्भीर और रोबदार सूरतोंवाले शासकों व सरकारी कर्मचारियों के बर्ताव से ज्यादा नासमझी का नहीं हो सकता।

एक छोटा-सा परिवर्तन, पर तुर्की के शासकों के नये विचारों का ख़ास इशारा, सलाम करने के रिवाज को रोकना था। उन्होंने साफ़ बतला दिया कि हाथ मिलाना सलाम करने का ज्यादा सभ्य तरीक़ा है, और आगे से इसीको अपनाया जाना चाहिए।

इसके बाद कमाल-पाशा ने तुर्की भाषा पर, या यूँ कहो कि उसमें जिन्हें वह विदेशी तत्व मानता था उनपर, ज़बर्दस्त हमला बोल दिया। तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी, और कमाल पाशा इसे कठिन भी समझता था

और विदेशी भी। मध्य-एशिया में सोवियतों के सामने भी इसी क़िस्म की समस्या आई थी; क्योंकि कई तातारी क़ौमों की लिपियाँ अरबी या फ़ारसी लिपियों से निकली हुई थीं। १९२४ ई० में सोवियतों ने इस सवाल पर विचार करने के लिए बाकू में एक सम्मेलन बुलाया, और इसमें यह तय किया गया कि मध्य-एशिया की जुदा-जुदा तातारी भाषाओं के लिए लातीनी लिपि काम में ली जाय। मतलब यह कि भाषाएँ तो वैसी-की-वैसी रहीं, पर वे लातीनी या रोमन अक्षरों में लिखी जाने लगीं। इन भाषाओं की ख़ास ध्वनियों को अदा करने के लिए चिह्नों की ख़ास तरकीब सोच निकाली गई। इस तरकीब ने मुस्तफ़ा कमाल को मोह लिया और उसने इसे सीख लिया। उसने इसे तुर्की भाषा पर लागू किया, और इसके पक्ष में उसने ख़ुद ज़ोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्षों के प्रचार और सिखाई के बाद क़ानून के ज़रिये एक तारीख़ तय कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का इस्तेमाल मना कर दिया गया, और लातीनी लिपि लाज़िमी कर दी गई। अख़बार, किताबें, वग़ैरा, हर चीज़ लातीनी लिपि में निकालना ज़रूरी कर दिया गया। सोलह से चालीस वर्ष तक की उम्र के हर व्यक्ति को लातीनी वर्णमाला सीखने के लिए स्कूल में जाना पड़ा। जो सरकारी कर्मचारी इस लिपि को न जानते हों, उन्हें बर्ख़ास्त किया जा सकता था। क़ैदी लोग जबतक नई लिपि में पढ़ना-लिखना न सीख लेते तबतक उन्हें सज़ा पूरी होने पर भी जेलों से नहीं छोड़ा जाता था! तानाशाह अच्छी तरह पूरा काम कर सकता है, ख़ासकर अगर वह लोकप्रिय भी हो। कोई भी दूसरी सरकारें जनता के जीवन में इस क़दर दख़ल देने की हिम्मत नहीं कर सकतीं।

इस तरह तुर्की में लातीनी लिपि की जड़ जम गई, पर इसके बाद जल्द ही दूसरा परिवर्तन किया गया। यह देखा गया कि अरबी व फ़ारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नहीं लिखे जा सकते थे; उनकी ख़ास ध्वनियाँ और उनके बारीक भेद इसमें अदा नहीं किये जा सकते थे। ख़ालिस तुर्की शब्द इतने उम्दा नहीं थे, वे ज़्यादा अनगढ़, ज़्यादा सीधे और ज़ोरदार थे, और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह फ़ैसला किया गया कि तुर्की भाषा में से अरबी व फ़ारसी शब्दों को निकाल दिया जाय और उनकी जगह ख़ालिस तुर्की शब्द रक्खे जायँ। इस फ़ैसले के पीछे अलबत्ता राष्ट्रीय सबब था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, कमाल पाशा चाहता था कि जहाँतक हो तुर्की को अरबी व दूसरे पूर्वी असरों से दूर कर दिया जाय। अरबी व फ़ारसी शब्दों और मुहावरों से भरी पुरानी तुर्की भाषा शाही उस्मानी दरबार के सजधज और टीम-टामवाले रहन-सहन के लिए भले ही काफ़ी माक़ूल हो, पर नये व ज़ोरदार गणतन्त्री तुर्की के लिए वह माक़ूल नहीं समझी गई। इसलिए अरबी-फ़ारसी के उम्दा-उम्दा शब्द छोड़ दिये गए और विद्वान्, प्रोफ़ेसर व दूसरे लोग किसानों की भाषा सीखने को,

और पुराने ख़ालिस तुर्की नस्ल के शब्दों की तलाश करने को, गाँव-गाँव घूमने लगे। यह परिवर्तन आजकल हो रहा है। उत्तरी भारत के हम लोग अगर ऐसा परिवर्तन करें, तो उसका अर्थ यह होगा कि हमें लखनऊ या दिल्ली की लच्छेदार और कुछ-कुछ बनावटी हिन्दुस्तानी को छोड़ना होगा, जो पुराने दरबारी ढंग की बची-खुची निशानी है, और उसकी जगह देहात के बहुत सारे गँवारू शब्दों को अपनाना होगा।

भाषा में इन परिवर्तनों के सबब से नगरों और व्यक्तियों के नामों में भी परिवर्तन हो गये हैं। जैसा कि तुम जानती हो, क़ुस्तुन्तुनिया अब इस्ताम्बूल हो गया है, अंगोरा अब अंकारा है, और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में व्यक्तियों के नाम आमतौर पर अरबी से लिये गए हैं—मुस्तफ़ा कमाल भी अरबी नाम है। नई चाल ख़ालिस तुर्की नाम रखने की हो गई है।

एक परिवर्तन, जिसकी वजह से बखेड़ा पैदा हो गया है, यह क़ानून है कि इस्लामी नमाज़ और अज़ान[1] भी तुर्की भाषा में हो। मुसलमान लोग हमेशा से मूल अरबी में नमाज़ पढ़ते आये हैं; भारत में आज भी ऐसा ही होता है। इसलिए बहुत-से मौलवियों और मस्जिदों के मुल्लाओं ने महसूस किया कि यह नयापन अनुचित है, और उन्होंने अपनी नमाज़ अरबी में जारी रखी। पर तुर्की सरकार ने इस विरोध को भी दूसरे विरोधों की तरह कुचल दिया है।

गत दस वर्षों के इन तमाम लम्बे-चौड़े समाजी उलट-फेरों ने जनता की ज़िन्दगी के ढंग को बिलकुल बदल दिया है, और पुराने रिवाजों व मज़हबी लगावों से बिलकुल अलग एक नई पीढ़ी तैयार हो रही है। मगर महत्व रखते हुए भी इन परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत ज्यादा असर नहीं पड़ा है। चोटी पर कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के सिवा इसका आधार वही बना हुआ है, जो पहले था। कमाल पाशा अर्थ-शास्त्री नहीं है, पर न वह ऐसे बुनियादी परिवर्तनों का हामी है, जैसे सोवियत रूस में हुए हैं। इसलिए, हालाँकि राजनीतिक मामलों में उसका सोवियतों के साथ दोस्ती का नाता है, पर आर्थिक मामलों में वह साम्यवाद से दूर ही रहता है। मालूम होता है कि उसके राजनीतिक व समाजी विचार महान् फ़्रान्सीसी राज्यक्रान्ति से लिये हुए हैं।

अभी तक तुर्की में नौकरी-पेशा वर्ग को छोड़कर कोई ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नहीं है। यूनानियों व दूसरे विदेशी लोगों को निकाल देने से व्यवसाय की हालत कमज़ोर पड़ गई है। पर अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोने की बनिस्बत तुर्की सरकार राष्ट्र की ग़रीबी को और उद्योगों के धीमे विकास को जान-बूझकर ज्यादा अच्छा समझती है। और चूंकि उसे डर है कि तुर्की में बड़े पैमाने पर विदेशी

[1] नमाज़ के लिए मस्जिद में मुल्ला की बाँग।

पूंजी के आ जाने से उसे अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोना पड़ेगा, और इसकी वजह से विदेशियों के हाथों देश का शोषण होगा, इसलिए उसने विदेशी उद्योगों का शुरू होना रोक दिया है। विदेशी माल पर भारी चुंगियाँ लगा दी गई हैं। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया है—यानी जनता की तरफ़ से सरकार उनकी मालिक है और उन्हें चलाती है। रेलमार्गों का निर्माण काफ़ी तेज़ी से हो रहा है।

खेती में कमाल पाशा की ज्यादा दिलचस्पी है, क्योंकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र व सेना की रीढ़ रहा है। आदर्श फ़ार्म बनाये गए हैं, ट्रैक्टर चालू कर दिये गए हैं, और सहकारी समितियों को बढ़ावा दिया जा रहा है।

बाक़ी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामन्दी में फँस गया था और उसे अपना ख़र्च चलाना मुश्किल हो गया था। पर वह तो मुस्तफ़ा कमाल की रहनुमाई में धीरे-धीरे और मज़बूती के साथ आगे बढ़ रहा है, और मुस्तफ़ा कमाल देश का सबसे ऊँचा नेता व तानाशाह बना हुआ है। उसे 'अता तुर्क' यानी देश-पिता का ओहदा दिया गया है, और आजकल वह इसी नाम से मशहूर है।[1]

: १६० :

भारत गांधीजी के पीछे चलता है

११ मई, १९३३

अब मैं तुम्हें भारत की हाल की घटनाओं के बारे में कुछ बतलाऊँगा। बाहर की घटनाओं की बनिस्वत इनमें हमारी ज्यादा दिलचस्पी होना लाज़िमी ही है, और मुझे अपने ऊपर क़ाबू रखना पड़ेगा कि कहीं मैं बहुत ज्यादा ब्यौरों में न चला जाऊँ। पर हमारी ज़ाती दिलचस्पी के अलावा भी, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, आज भारत दुनिया की एक बड़ी समस्या है। साम्राज्यशाही हुकूमत का यह एक ही नमूनेदार और सबसे बढ़िया देश है। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सारा ढाँचा ही इसपर खड़ा है, और अंग्रेज़ों की इस सफल मिसाल ने दूसरे देशों को भी साम्राज्यशाही हौसलेबाज़ी के रास्ते पर चलने के लिए लुभाया है।

भारत के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने यहाँ युद्ध के ज़माने में होनेवाले परिवर्तनों का, भारतीय उद्योगों व भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास का, और भारतीय उद्योगों की तरफ़ ब्रिटिश नीति में परिवर्तन का, ज़िक्र किया है। इंग्लैण्ड पर भारत का औद्योगिक और व्यापारी दबाव बढ़ता जा रहा था, और इसी तरह राजनीतिक दबाव भी बढ़ रहा था। समूचे पूर्व में राजनीतिक चेतना जाग रही थी,

[1] कमाल पाशा की मृत्यु १९३८ ई० में हो गई, और उसके बाद इस्मत इनोनू तुर्की का राष्ट्रपति चुना गया।

सारी दुनिया में युद्ध के बाद उथल-पुथल और बेचैनी हो रही थी। भारत में ख़ूनी क्रान्तिकारी हलचलें अक्सर सामने आती रहती थीं। लोगों के दिलों में बड़ी-बड़ी उमंगें थीं। ख़ुद ब्रिटिश सरकार भी महसूस करने लगी थी कि कुछ-न-कुछ किया जाना चाहिए। राजनीतिक मैदान में उसने एक जाँच की कार्रवाई की, और उसके बाद माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट में परिवर्तन के कुछ सुझाव पेश किये गए। आर्थिक मैदान में उसने उठते हुए मध्यम-वर्ग को बहलाने के लिए टुकड़े फेंकने की कार्रवाई की, पर यह ध्यान रक्खा कि सत्ता और शोषण के गढ़ उसीके हाथों में बने रहें।

युद्ध के बाद कुछ दिनों तक व्यापार की तरक़्क़ी हुई और काफ़ी तेज़ी का ज़माना रहा, जिसमें ज़बर्दस्त मुनाफ़े बटोरे गये, ख़ासकर बंगाल के पटसन व्यापार में। हिस्सेदारों को बाँटे जानेवाले मुनाफ़े अक्सर सौ फ़ीसदी से भी ऊपर पहुँच जाते थे। चीज़ों की क़ीमतें बढ़ गईं, और कुछ हद तक मज़ूरियाँ भी बढ़ीं, पर क़ीमतों के मुक़ाबले बहुत कम। क़ीमतों के साथ काश्तकारों के ज़मींदारों को दिये जानेवाले लगान भी बढ़ गये। इसके बाद मन्दी आई और व्यापार मन्दा होने लगा। कारखानों के मज़दूरों व खेतिहरों की हालत ख़राब हो गई और बेचैनी तेज़ी के साथ बढ़ने लगी। दिन-पर-दिन ज़्यादा बुरी हालतें होने से कारख़ानों में बहुत हड़तालें होने लगीं। अवध में जहाँ ताल्लुक़ेदारी-प्रथा के मातहत काश्तकार-वर्ग की हालत ख़ासतौर पर ख़राब थी, एक ज़बर्दस्त किसानी आन्दोलन बिलकुल अपने-आप ही पैदा हो गया। पढ़े-लिखे निचले मध्यम-वर्गों में बेकारी बढ़ने लगी, जिसके सबब से बहुत मुसीबत फैली।

युद्ध के बाद के शुरू के दिनों में आर्थिक तसवीर यही थी और अगर तुम इसे ध्यान में रक्खोगी तो तुम्हें राजनीतिक घटनाचक्र को समझने में मदद मिलेगी। देश में लड़ाकू भावना फैल रही थी और तरह-तरह के रूपों में ज़ाहिर हो रही थी। कारख़ानों का मज़दूर-वर्ग ट्रेड यूनियनें बनाकर अपना संगठन कर रहा था और बाद में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को बढ़ाने में लग गया था। छोटे-छोटे ज़मींदार और मौरूसी काश्तकार सरकार से नाराज़ थे और राजनीतिक कार्रवाई को अच्छी निगाह से देख रहे थे। कहावत है कि चोट खाने पर कीड़ा भी उलटकर वार करता है; इसी तरह काश्तकार भी उलटने की कोशिश कर रहे थे। और मध्यम-वर्ग, ख़ासकर बेरोज़गार-वर्ग, के लोग साफ़तौर पर राजनीति की तरफ़ झुक रहे थे। और उनमें से कुछ गिने-चुने व्यक्ति क्रान्तिकारी हलचलों की तरफ़ झुक रहे थे। इन हालतों का हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, वग़ैरा सबपर एक-सा असर पड़ रहा था, क्योंकि आर्थिक हालत मज़हबी अलगावों की कोई परवाह नहीं करती। पर मुसलमान लोग इसके अलावा भी तुर्की के

ख़िलाफ़ युद्ध से, और इस डर से कि ब्रिटिश सरकार जज़ीरत-उल-अरब कहलानेवाले मक्का, मदीना और येरूशलम के पाक शहरों पर क़ब्ज़ा कर लेगी, बहुत भड़के हुए थे (येरूशलम यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों, तीनों के लिए पवित्र शहर है)।

बस, गुस्से से भरा, कुछ लड़ने पर आमादा और ज्यादा उम्मेदवार न होते हुए भी उम्मेद लगाये हुए भारत युद्ध के बाद कुछ मिलने की बाट देख रहा था। कुछ ही महीनों के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के जिन पहले फलों की बेताबी से बाट देखी जा रही थी, वे क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए ख़ास क़ानून बनाने के प्रस्ताव के रूप में सामने आये। ज्यादा आज़ादी के बजाय ज्यादा दमन होनेवाला था। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर रक्खे गये थे और 'रौलट बिल' के नाम से मशहूर हुए। पर सारे देश में ये बहुत जल्दी 'काले बिल' कहलाने लगे। हर जगह, हर भारतीय ने, यहाँतक कि नर्म-से-नर्म विचारवाले भारतीय ने भी, इन बिलों की निन्दा की। सरकार को और पुलिस को इन बिलों ने ऐसे बहुत ज्यादा इख्तियार दे दिये थे कि जिस किसी व्यक्ति पर उन्हें नाराज़ी या सन्देह हो, उसे गिरफ़्तार किया जा सकता था, बिना मुक़दमा चलाये जेल में डाला जा सकता था, या उसपर गुप-चुप मुक़दमा चलाया जा सकता था। उन दिनों इन बिलों के बारे में यह बात मशहूर हो गई थी कि 'न वकील, न अपील, न दलील'। ज्योंही इनके ख़िलाफ़ मचनेवाली दुहाई ने ज़ोर पकड़ा, त्योंही एक नया तत्व, राजनीतिक क्षितिज पर एक छोटा-सा बादल, प्रकट हुआ जो तेज़ी के साथ बढ़कर और फैलकर सारे भारतीय आकाश पर छा गया।

यह नया तत्व मोहनदास करमचन्द गांधी था। गांधीजी युद्ध-काल में दक्षिण अफ़्रीका से भारत लौट आये थे, और अपने साथियों को लेकर साबरमती के पास आश्रम में बस गये थे। अभी तक वह राजनीति से दूर रहे थे। उन्होंने युद्ध के लिए रंगरूटों की भर्ती में सरकार को मदद भी दी थी। दक्षिण अफ़्रीका में उनकी सत्याग्रह की लड़ाई के समय से भारत में तो लोग उन्हें अच्छी तरह जानते ही थे। १९१७ ई० में उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले के निलहे गोरों से सताये हुए और रौंदे हुए काश्तकारों की कामयाबी के साथ हिमायत की थी। बाद में वह गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों के लिए लड़े थे। १९१९ ई० के शुरू में वह बहुत बीमार पड़ गये। इस बीमारी से वह पूरी तरह उठने भी न पाये थे कि रौलट बिल-विरोधी हलचल देश-भर में फैल गई। चारों तरफ़ जो दुहाई मच रही थी, उसमें गांधीजी ने भी अपनी आवाज़ शामिल कर दी।

लेकिन यह आवाज़ दूसरी आवाज़ों से कुछ अलग तरह की थी। यह बे-शोर और धीमी थी, फिर भी भीड़ के शोरगुल के ऊपर सुनाई दे सकती थी। यह मुलायम और हल्की थी, पर मालूम होता था कि उसमें कहीं फ़ौलाद की धार

छिपी हुई है। यह नम्र और दिल को छूनेवाली थी, पर फिर भी उसमें कोई डरावनी और दहशत पैदा करनेवाली चीज़ थी। इसका हर शब्द अर्थ-भरा था और उसमें जान लड़ाने की सच्ची लगन थी। सुलह और दोस्ती की भाषा के पीछे शक्ति थी, और कर्म की काँपती हुई छाया थी, और असत्य के आगे सिर न झुकाने का पक्का इरादा था। इस आवाज़ से अब हम परिचित हो चुके हैं; पिछले चौदह वर्षों में हमने इसे बहुत बार सुना है। पर १९१९ ई० के फ़रवरी और मार्च में यह हमारे लिए नई थी; हम अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे कि इसका क्या अर्थ है, पर हम थर्रा उठते थे। यह चीज़ हमारी उस कोरी निन्दा करनेवाली गला-फाड़ राजनीति से बहुत अलग तरह की थी, जिसके लम्बे-लम्बे भाषण सदा एक-सरीखे उन बेकार और बेअसर प्रस्तावों पर ही ख़त्म हो जाते थे, जिनपर कोई ध्यान नहीं देता था। यह कर्म करने की राजनीति थी, कोरी बातों की नहीं।

महात्मा गांधी नें उन लोगों की सत्याग्रह-सभा बनाई, जो कुछ चुने हुए क़ानूनों को तोड़ने के लिए और इस तरह से जेल जाने के लिए तैयार थे। उस वक़्त यह बिलकुल नया विचार था, जिस पर हममें से बहुत-से तो उतावले हो गये पर बहुत-से सहम गये। आज यह बहुत ही मामूली घटना हो गई है और हममें से ज्यादातर के लिए तो यह ज़िन्दगी का एक बँधा हुआ और बाक़ायदा सिलसिला बन गया है!

अपने क़ायदे के मुताबिक़ गांधीजी ने वायसराय को बड़ी नम्र अपील और चेतावनी भेजी। जब उन्होंने देखा कि सारे भारत के एक स्वर से विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलों को पास करने पर तुली हुई है, तो उन्होंने आवाज़ उठाई कि जिस दिन ये बिल कानून बन जायँ, उससे आगे के पहले रविवार को सारे भारत में मातम का दिन मनाया जाय, हड़ताल की जाय, सब कारोबार बन्द रक्खे जायँ और सभाएँ की जायँ। सत्याग्रह आन्दोलन इसी दिन से शुरू किया जानेवाला था, इसलिए ६ अप्रैल, १९१९ ई० के दिन सारे देश में, हर नगर और गाँव में, सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला ही अखिल भारतीय प्रदर्शन था, जिसका निराला ही गहरा असर रहा, और जिसमें हर क़िस्म के लोगों ने और समुदायों ने भाग लिया। हमारे जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए कोशिशें की थीं, वे इसकी सफलता को देखकर हैरत में भर गये। हम शहरों के कुछ गिने-चुने लोगों के ही पास पहुँच पाये थे। पर हवा में एक नया जोश भर रहा था, और किसी तरह यह सन्देश हमारे विशाल देश के दूर-से-दूर गाँवों तक में जा पहुँचा। पहली ही बार देहात के लोगों ने और शहरी मजदूरों ने सारी जनता के इस राजनीतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

दिल्लीवालों ने अप्रैल की ६ तारीख से एक सप्ताह पहले, तारीख की ग़लतफ़हमी से, इससे पहले के रविवार यानी ३१ मार्च को ही हड़ताल मना ली। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में अद्भुत भाईचारे और मेल-मिलाप के थे, और लोगों ने आर्यसमाज के बड़े नेता स्वामी श्रद्धानन्द का दिल्ली की मशहूर जामा मस्जिद में भारी भीड़ों के सामने भाषण देने का निराला नज़ारा देखा। ३१ मार्च को पुलिस और फ़ौज के सिपाहियों ने बाज़ारों की भारी भीड़ों को तितर-बितर करने की कोशिश की और उनपर गोलियाँ चलाईं, जिनसे कुछ लोग मारे गये। संन्यासी के भेष में बुलन्द और शानदार दिखाई देनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द चांदनी चौक में छाती खोलकर और बेधड़क होकर गुरखों की संगीनों के सामने खड़े हो गये। इनसे तो वे बच गये और इस घटना से भारत-भर में खुशी की लहर दौड़ गई; पर दुःख की बात तो यह है कि इस घटना को पूरे आठ वर्ष भी नहीं बीते थे कि जब वह रोगशय्या पर पड़े थे तब एक मज़हबी दीवाने मुसलमान ने धोखे से गोली मारकर उन्हें मार डाला।

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के बाद घटनाएँ तेज़ी के साथ दौड़ने लगीं। १० अप्रैल को अमृतसर में भी फ़िसाद हुआ। डॉ० किचलू व डॉ० सत्यपाल की गिरफ़्तारी पर शोक मनानेवाली निहत्थी और सिर-नंगी भीड़ पर फ़ौज के सिपाहियों ने गोलियाँ चला दीं, जिनसे बहुत लोग मारे गये। इसपर भीड़ ने दफ़्तरों में बैठे हुए पाँच-छँ बेक़सूर अंग्रेज़ों को मारकर और उनके बैंकों की इमारतों में आग लगाकर पागलपन भरा बदला निकाला। फिर तो पंजाब पर मानो पर्दा पड़ गया। ख़बरों पर कड़ा सेन्सर बिठाकर उसे बाक़ी भारत से काट दिया गया था; वहाँ से कोई ख़बर नहीं आने पाती थी, और लोगों के लिए इस प्रान्त में जाना या वहाँ से आना बहुत मुश्किल था। वहाँ फ़ौजी क़ानून लगा दिया गया था, और इसकी सख़्त तकलीफ़ कई महीनों तक लोगों को सहनी पड़ी। धीरे-धीरे हफ़्तों और महीनों की दर्दभरी अकुलाहट के बाद पर्दा उठा और लोगों को उन ख़ौफ़नाक सच्ची घटनाओं का पता लगा।

पंजाब में फ़ौजी शासन के ज़माने की दिल दहलानेवाली बातों का ज़िक्र मैं यहाँ नहीं करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में १३ अप्रैल को जो हत्याकाण्ड हुआ उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस पिंजरे में, जिसमें से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हज़ारों मर गये और घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही हत्याकाण्ड का अर्थ रखनेवाला हो गया है। यह तो बुरा था ही पर इसके अलावा सारे पंजाब में और भी इससे ज्यादा शर्मनाक कारनामे हुए।

इतने वर्ष बीत जाने पर भी इस सारी वहशत और ख़ौफ़नाक हालत को भूलना मुश्किल है; पर फिर भी इसे समझना कठिन नहीं है। भारत में अंग्रेज़ों

की हुकूमत का ढंग ही ऐसा है कि वे सदा अपनेको ज्वालामुखी के किनारे पर बैठा हुआ महसूस करते हैं। उन्होंने भारत के दिल या दिमाग़ को न तो कभी समझा और न कभी समझने की कोशिश की। अपनी लम्बे-चौड़े और पेचीदा इन्तज़ामी ढांचे पर, और पीछे से उसे सहारा देनेवाले बल पर, भरोसा करते हुए वे अपनी जिन्दगी अलग ही बिताते रहे हैं। पर उनके इस सारे भरोसे के पीछे अनजान होनी का भय सदा बना रहता है, और डेढ़ सौ वर्षों के राज के बावजूद भी भारत उनके लिए अनजान देश बना हुआ है। १८५७ ई० के विद्रोह की यादें उनके दिमाग़ में अभी तक ताज़ा हैं, और वे महसूस करते हैं कि मानो वे किसी अजनबी और दुश्मनी रखनेवाले देश में रहते हैं, जो किसी भी दिन उनपर उलटकर उन्हें चाक कर सकता है। उनके पीछे की ज़मीन आमतौर पर यही है। इसलिए जब उन्होंने अपने खिलाफ़ लड़ने पर आमादा एक ज़बर्दस्त आन्दोलन देशभर में उठता हुआ देखा तो, उनके मन में डर पैदा हुआ। जब अमृतसर में की गई १० अप्रैल की खूनी कार्रवाइयों का समाचार लाहौर में पंजाब के ऊँचे अफ़सरों के पास पहुँचा तो उनके होश बिलकुल गुम हो गये। उन्होंने समझा कि १८५७ ई० के विद्रोह की तरह यह भी बड़े पैमाने पर दूसरा खूनी विद्रोह है, और सारे अंग्रेज़ लोगों की जानें ख़तरे में हैं। उन्हें ख़तरे की लाल झण्डी दिखाई देने लगी, और उन्होंने आतंक जमाने का फ़ैसला कर लिया। जलियाँवाला बाग़ और फ़ौजी क़ानून और जो कुछ इनके बाद हुआ, वह सब इनके सोचने के इसी ढंग का नतीजा था।

डरे हुए आदमी की बौखलाहट को भले ही कोई माफ़ न कर सके, पर वह उसे समझ सकता है, चाहे ख़ौफ़ या असली सबब कुछ भी न हो। पर जिस चीज़ ने भारत को और भी ज़्यादा हैरत में डाला और ग़ुस्सा दिलाया वह यह थी कि जिस जनरल डायर ने अमृतसर में गोलियाँ चलवाई थीं, और गोलियाँ चलवाने के बाद हज़ारों घायलों की तरफ़ वहशियाना लापरवाही दिखाई थी, उसने कई महीनों बाद अपनी इस कार्रवाई को बड़े ताने के साथ वाजिब ठहराया। घायलों के बारे में उसने कहा था—"यह मेरा काम नहीं था।" इंग्लैण्ड के कुछ लोगों ने और वहाँ की सरकार ने डायर की हलकी-सी बुराई की, पर इंग्लैण्ड के शासक-वर्ग का असल रवैय्या लॉर्ड-सभा की उस बहस में प्रकट हुआ, जिसमें डायर पर तारीफ़ों की बौछार की गई। इन सब बातों ने भारत के ग़ुस्से की आग में घी का काम किया और पंजाब पर किये गए अत्याचारों से देश-भर में सख़्त कड़वाहट पैदा हो गई। पंजाब में सचमुच जो कुछ हुआ, उसका पता लगाने के लिए सरकार और कांग्रेस दोनों ने जाँच कमेटियाँ मुक़र्रर कर दी थीं। देश में उनकी रिपोर्टों की बाट देखी जा रही थी।

उस साल से. १३ अप्रैल का दिन भारत के लिए 'राष्ट्रीय दिवस' बन गया

है, और ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक के आठ दिन 'राष्ट्रीय सप्ताह' बन गये हैं। जलियाँवाला बाग़ अब राजनीतिक तीर्थस्थान हो गया है। आजकल यह ख़ूबसूरत ढंग से लगाया हुआ बाग़ है और उसकी पुरानी दिल दहलानेवाली सूरत बहुत-कुछ बदल गई है। पर याद अभी तक बाक़ी है।

उस साल, १९१९ ई० के दिसम्बर में, एक अजीब संयोग से कांग्रेस का सालाना जलसा अमृतसर में ही हुआ। चूंकि जाँचों के नतीजों की बाट देखी जा रही थी, इसलिए इस कांग्रेस में कोई बड़े फ़ैसले नहीं किये गए, पर यह ज़ाहिर हो गया कि कांग्रेस बदल गई थी। वह अब कुछ-कुछ जनता की कांग्रेस बन गई थी, और उसमें एक नई जीवट पैदा हो गई थी जो कुछ पुराने कांग्रेसजनों को घबरानेवाली थी। सदा की तरह अडिग लोकमान्य तिलक अपनी ज़िन्दगी में आख़िरी बार कांग्रेस में भाग लेने आये थे, क्योंकि अगले कांग्रेस-अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। इस कांग्रेस में गांधीजी भी आये थे, जो जनता में लोकप्रिय हो गये थे और कांग्रेस व भारतीय राजनीति पर जिनके रोब-दाब का लम्बा ज़माना शुरू हो रहा था। इस कांग्रेस में सीधे जेल से छूटकर बहुत-से नेता भी आये थे, जिन्हें फ़ौजी क़ानून के दिनों में षड्यन्त्र के बेहूदे मुक़दमों में फँसा दिया गया था और लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दी गई थीं, पर अब उन सज़ाओं को माफ़ करके उन्हें छोड़ दिया गया था। और मशहूर अली-बन्धु[1] भी आये थे, जो कई वर्षों की नज़रबन्दी के बाद उसी समय छोड़े गये थे।

अगले साल कांग्रेस लड़ाई में कूद पड़ी और उसने गांधीजी के असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में यह कार्यक्रम मंजूर किया गया और बाद में नागपुर के सालाना अधिवेशन में इसे तसदीक़ कर दिया गया। इस लड़ाई का तरीक़ा पूरी तरह शान्ति का, यानी अहिंसा (बिना ख़ून-ख़राबी) का रक्खा गया था और इसका आधार यह था कि भारत के शासन और शोषण में सरकार को कोई मदद न दी जाय। इसकी शुरुआत कुछ बायकाटों से होनेवाली थी, जैसे विदेशी सरकार के दिये हुए ख़िताबों, सरकारी जलसों वग़ैरा का, वकीलों व मुक़दमेबाज़ों द्वारा अदालतों का, सरकारी स्कूलों व कॉलेजों का, और साण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के मातहत नई कौन्सिलों का। आगे चलकर इन बायकाटों में असैनिक व सैनिक नौकरियों को और टैक्सों को भी शामिल किया जानेवाला था। रचनात्मक कार्यक्रम में हाथ-कताई और खद्दर पर, और सरकारी अदालतों के बजाय पंचायती अदालतें क़ायम करने पर, ज़ोर दिया गया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओं में छुआछूत मिटाना इस आन्दोलन के दो और सबसे ज़्यादा महत्व के अंग थे।

---

[1] मौलाना मोहम्मदअली और मौलाना शौकतअली।

कांग्रेस ने अपना संविधान भी बदल दिया, और वह कार्रवाई करने के क़ाबिल जमात बन गई। साथ ही उसने अपनी मेम्बरी का दरवाज़ा जनता के लिए खोल दिया।

अबतक कांग्रेस जो करती चली आई थी, उससे अब यह कार्यक्रम बिलकुल ही अलग चीज़ था; सचमुच यह दुनिया में ही बिलकुल नई चीज़ थी, क्योंकि दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह का दायरा बहुत छोटा रहा था। इसका अर्थ था कि कुछ लोग फ़ौरन और भारी क़ुर्बानियाँ दें, जैसे वकीलों से कहा गया था कि वे अपनी वकालत छोड़ दें, और विद्यार्थियों से कहा गया था कि सरकारी कॉलेजों का बायकाट कर दें। इसके बारे में कोई पक्की राय देना मुश्किल था, क्योंकि इसे नापने के लिए कोई गज़ ही नहीं था। इसलिए अगर पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता आगा-पीछा सोचने लगे और दुविधा में पड़ गये, तो इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। कांग्रेस के सबसे बड़े नेता लोकमान्य तिलक की मृत्यु इसके कुछ दिन पहले ही हो चुकी थी। बाक़ी के नामी कांग्रेसी नेताओं में सिर्फ़ अकेले मोतीलाल नेहरू ने शुरू की मंज़िलों में गांधीजी का समर्थन किया था। पर साधारण कांग्रेसजन के, या हर आदमी के, या जनता के रुख़ के बारे में कोई शक न था। गांधीजी इन्हें अपने साथ बहा ले गये और उन्होंने इनपर मानो जादू डाल दिया। और 'महात्मा गांधी की जय' के ऊँचे नारों के साथ इन लोगों ने अहिंसावाले असहयोग के नये सिद्धान्त की मंजूरी ज़ाहिर की। मुसलमानों में भी इसके लिए उतना ही जोश था, जितना दूसरों में। सच तो यह है कि अली-बन्धुओं की रहनुमाई में चलनेवाली ख़िलाफ़त कमेटी ने तो इस कार्यक्रम को कांग्रेस से भी पहले अपना लिया था। जल्द ही जनता के जोश ने और आन्दोलन की जल्दी सफलताओं ने पुराने कांग्रेसी नेताओं में से ज़्यादातर को इस आन्दोलन में खींच लिया।

इन पत्रों में मैं इस बिलकुल नई तरह के आन्दोलन की ख़ूबियों-कमियों की, या इसे ठीक बतानेवाली दलीलों की, जाँच नहीं कर सकता। यह सवाल इतना पेचीदा है कि मेरे बूते से बाहर है, और सिवाय गांधीजी के, जो इसके कर्ता हैं, शायद कोई भी इसकी तसल्ली देने लायक़ व्याख्या नहीं कर सकता। फिर भी हमको इसे एक बाहरी व्यक्ति के नज़रिये से देखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी तेज़ी से और सफलता से कैसे फैल गया।

मैं ग़रीब जनता पर पड़नेवाले आर्थिक दबाव का, और विदेशी शोषण के मातहत उनकी बराबर गिरी हुई हालत का, और मध्यम-वर्गों में बेकारी बढ़ने का, ज़िक्र कर चुका हूँ। इसका इलाज क्या था? राष्ट्रीयता के विकास ने लोगों का ध्यान राजनीतिक आज़ादी की ज़रूरत की तरफ़ फेर दिया। आज़ादी

सिर्फ़ इसीलिए ज़रूरी नहीं थी कि पराधीन और ग़ुलाम बने रहना ज़लालत था, या सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि जैसा तिलक ने कहा था 'स्वराज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे', बल्कि हमारी जनता की ग़रीबी के बोझ को कम करने के लिए भी जरूरी थी। पर यह आज़ादी कैसे हासिल हो सकती थी? ज़ाहिर था कि चुपचाप बैठे रहने और इन्तज़ार करते रहने से वह हमें मिलने-वाली नहीं थी। और यह भी इतना ही ज़ाहिर था कि कोरे विरोध और भीख माँगने के तरीक़े, जिनपर कांग्रेस अबतक थोड़ी-बहुत सरगर्मी के साथ चल रही थी, किसी क़ौम की शान के ख़िलाफ़ ही नहीं थे, बल्कि बेकार और बे-असर भी थे। इतिहास में ऐसी कोई मिसाल नहीं है, जिसमें इस क़िस्म के तरीक़े सफल हुए हों, या इनसे शासक-वर्ग अथवा ख़ास रियायती वर्ग सत्ता छोड़ने को मजबूर हुए हों। इतिहास ने तो सचमुच हमें यह बतलाया था कि जिन क़ौमों को या वर्गों को ग़ुलाम बना लिया गया था, उन्होंने अपनी आज़ादी ख़ूनी बग़ावतों या विद्रोहों के ज़रिये हासिल की थी।

भारतीय जनता के लिए हथियारों की बग़ावत का कोई सवाल ही नहीं दिखाई देता था। हम लोग निहत्थे कर दिये गए थे, और हममें से बहुत ज़्यादा लोग तो हथियार चलाना ही नहीं जानते थे। इसके अलावा मार-काट की लड़ाई ब्रिटिश सरकार की या किसी भी राज्य की संगठित शक्ति इतनी ज़्यादा थी कि उसके मुक़ाबले में कोई चीज़ खड़ी नहीं की जा सकती थी। फ़ौजों में ग़दर हो सकता था, पर निहत्थे लोगों का बग़ावत करना और हथियारबन्द फ़ौजों का मुक़ाबला करना मुमकिन नहीं था। दूसरी तरफ़, व्यक्तियों पर वार करने की नीति यानी अलग-अलग अफ़सरों को बम से या पिस्तौल से मार डालना दिवा-लियापन की नीति थी। यह चीज़ क़ौम को गिरानेवाली थी, और यह ख़याल बेहूदा था कि वह एक संगठित शक्तिशाली सरकार को हिला सकेगी, व्यक्तियों को भले ही वह चाहे जितनी दहशत दिला दे। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, इस क़िस्म की व्यक्तियों की मार-काट रूसी क्रान्तिकारियों तक ने भी त्याग दी थी।

तब फिर क्या रह जाता था? रूस अपनी क्रान्ति में सफल हो गया था, और उसने मज़दूरों का गणराज्य क़ायम कर लिया था, और उसके तरीक़े थे सामूहिक कार्रवाई, जिसकी पीठ पर सेना का सहारा था। पर रूस में भी सोवियतों को तभी कामयाबी मिली थी जबकि युद्ध के नतीजों से देश व पुरानी सरकार दोनों बिलकुल पस्त हो चुके थे, और सोवियतों का विरोध करनेवाला कोई बचा ही नहीं था। इसके अलावा उस समय भारत में रूस को या मार्क्सवाद को कोई जानता भी न था और न मज़दूरों या किसानों की बाबत कुछ सोचता ही था।

इसलिए ये सब अन्धी गलियाँ थीं, और ज़लालतभरी ग़ुलामी की

सहन न की जा सकनेवाली हालतों में से निकलने का कोई रास्ता नज़र नहीं आता था। जो लोग ज़रा भी नाज़ुक-तबीयत थे, वे ज़बर्दस्त उदासी और लाचारी महसूस कर रहे थे। ठीक इसी मौक़े पर गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा। आयलैंण्ड के शिनफ़ेन की तरह इसने हमें अपने ऊपर भरोसा करना और अपनी ताक़त बढ़ाना सिखाया, और सरकार पर दबाव डालने का तो यह बहुत ही असरदार तरीक़ा साफ़ दिखाई दे रहा था। सरकार तो ज्यादातर भारतवासियों की, मर्ज़ी या बेमर्ज़ी के, सहयोग पर टिकी हुई थी, और अगर यह सहयोग हटा लिया जाता और बायकाट पर अमल किया जाता, तो फ़र्ज़ी तौर पर तो सरकार के सारे ढांचे को गिरा देना बिलकुल सम्भव था। और अगर असहयोग इतनी दूर न भी पहुँच पाता, तो भी इसमें तो कोई शक नहीं था कि इससे सरकार पर ज़बर्दस्त दबाव पड़ सकता था, और साथ ही जनता का बल बढ़ सकता था। असहयोग पूरी तरह शान्ति के साथ होनेवाला था, पर फिर भी वह कोरा अ-प्रति-रोध यानी ख़ामोश मुक़ाबला नहीं था। सत्याग्रह ग़लत समझी जानेवाली बातों के मुक़ाबले का साफ़-साफ़, पर अहिंसावाला रूप था। अमल में वह बिना मार-काट की बग़ावत था, लड़ाई लड़ने का सबसे ज्यादा सभ्य तरीक़ा था, पर फिर भी राज्य के टिकाऊपन के लिए ख़तरनाक था। जन-समूह से अपना फ़र्ज़ अदा कराने का यह असरकारक उपाय था, और भारत के लोगों की अपनी ख़ास तबीयत से मेल खाता हुआ नज़र आता था। हमको तो यह बड़ा भलामानस साबित करता था और सामनेवाले को मानो ग़लत साबित कर देता था। इसने हमारा वह डर दूर कर दिया, जिसके मारे हम मरे जा रहे थे, और हम इस तरह तनकर लोगों के सामने खड़े होने लगे जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था, और अपने मन की बात पूरी तरह और साफ़-साफ़ कहने लगे। हमारे दिलों पर से मानो बड़ा भारी बोझ हट गया और बोलने व काम करने की इस आज़ादी ने हमारे दिलों में भरोसा और बल भर दिये। और, सबसे बड़ी बात यह हुई कि शान्ति के उपायों ने बहुत हद तक उन ज़बर्दस्त दुश्मनी के नस्ली व राष्ट्रीय बैर-भावों को नहीं बढ़ने दिया जो अबतक सदा से ऐसी लड़ाइयों के साथ-साथ पैदा होते रहे थे, और इस तरह अन्त में जाकर निबटारा ज्यादा आसान कर दिया।

इसलिए, अगर असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गांधीजी की निराली शख़्सियत जुड़ी हुई थी, देश के ख़यालों को जगा दिया और उसे आशा से भर दिया, तो इसमें ताज्जुब की बात नहीं थी। यह फैलने लगा, और इसके आते ही पुरानी पस्त-हिम्मती ग़ायब हो गई। नई कांग्रेस ने देश के ज्यादातर जानदार तबक़ों को अपनी तरफ़ खींच लिया और उसका बल व उसकी इज़्ज़त बढ़ने लगी।

इसी बीच सुधारों की माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-योजना के मातहत नई कौन्सिलें और असेम्बलियाँ बनाई जा चुकी थीं। नर्म दल ने, जो अब उदार दल कहलाने लगा था, इनका स्वागत किया था और वे उनके मातहत मन्त्री या दूसरे सरकारी अफ़सर बन गये थे। वे तो एक तरफ़ से सरकार में ही मिल गये थे, और उन्हें जनता का कोई समर्थन नहीं था। कांग्रेस ने इन विधान-मण्डलों का बायकाट कर दिया था, और देश में इनकी तरफ़ किसीका ध्यान नहीं था। सबकी निगाहें असली लड़ाई की ओर लगी हुई थीं, जो बाहर नगरों में और गाँवों में चल रही थी। पहली ही बार बहुतेरे कांग्रेस कार्यकर्त्ता गाँवों में गये, और वहाँ उन्होंने कांग्रेस कमेटियाँ क़ायम कीं, और गाँवों के लोगों में राजनीतिक चेतना फैलाने में सहायता दी।

मामला अब तूल पकड़ने लगा था, और दिसम्बर, १९२१ ई० में मुठभेड़ रुक नहीं सकी। इंग्लैण्ड के युवराज की भारत-यात्रा, जिसका कांग्रेस ने बायकाट कर दिया था, इस मुठभेड़ का सबब बन गई। भारत-भर में सामूहिक गिरफ़्तारियाँ हुईं और जेलें हज़ारों 'राजबन्दियों' (राजनीतिक क़ैदियों) से भर गईं। हममें से बहुतों को तो जेल के भीतर का तब पहली बार तजुर्बा हुआ। कांग्रेस के चुने हुए अध्यक्ष देशबन्धु चितरंजनदास भी गिरफ़्तार हो गये, और उनकी जगह पर अहमदाबाद-अधिवेशन की सदारत हकीम अजमलखां ने की। पर तबतक खुद गांधीजी को गिरफ़्तार नहीं किया गया था। बस, आन्दोलन बढ़ने लगा, और जो लोग गिरफ़्तारी के लिए आगे आते थे, उनकी संख्या गिरफ़्तार किये जानेवालों से सदा ज्यादा होती थी। चूंकि नामी नेता और कार्यकर्त्ता जेलों में ठूंस दिये गए थे, इसलिए नातजुर्बेकार और कभी-कभी ग़लत लोग तक भी (कभी-कभी ख़ुफ़िया पुलिस के एजेण्ट भी), उनकी जगह लेने लगे, और ढांचा बिखर गया और कुछ मार-काट भी हुई। १९२२ ई० के शुरू के दिनों में उत्तर प्रदेश में गोरखपुर के पास चौरी-चौरा में किसानों की भीड़ व पुलिस के बीच भिड़न्त हो गई, जिसके बाद किसानों ने पुलिस चौकी को, जिसमें कुछ सिपाही भी थे, जला डाला। इस घटना से व ऐसी ही दूसरी घटनाओं से, जिनसे ज़ाहिर होता था कि आन्दोलन बेतरतीब और ख़ूनी होता जा रहा है, गांधीजी के दिल को बहुत चोट पहुँची। इसलिए उनके सुझाव पर कांग्रेस कार्य-समिति ने असहयोग का क़ानून-भंगवाला कार्यक्रम रोक दिया। इसके कुछ ही दिन बाद गांधीजी भी गिरफ़्तार कर लिये गए, उनपर मुक़दमा चला, और उन्हें छै साल क़ैद की सज़ा दे दी गई। यह मार्च, १९२२ ई० की बात है। असहयोग-आन्दोलन का पहला दौर इस तरह ख़त्म हुआ।

: १६१ :

सन् १९२०-३० ई० में भारत की हालत

१४ मई, १९३३

१९२२ ई० में सविनय-अवज्ञा आन्दोलन के रोक लिये जाने पर असहयोग का पहला दौर खत्म हो गया, पर इसे रोक दिये जाने से वहुत-से कांग्रेसजनों को बड़ी नाराज़ी हुई। इससे वड़ी भारी वेदारी पैदा हो गई थी। क़रीव ३०,००० व्यक्ति क़ानून तोड़कर जेल गये थे। क्या यह सब फ़िज़ूल जानेवाला था, और क्या आन्दोलन को उसका मक़सद हासिल होने से पहले ही अध-बीच में सिर्फ़ इसलिए रोक देना चाहिए था कि कुछ बेचारे जोशीले किसानों ने गड़बड़ कर दी थी? आज़ादी तो अभी बहुत दूर थी और ब्रिटिश सरकार पहले ही की तरह अपना काम कर रही थी। दिल्ली में और प्रान्तों में क़ानून बनानेवाली कौन्सिलें थीं, पर इनके हाथ में असली सत्ता कुछ भी नहीं थी। कांग्रेस ने उनका बायकाट कर दिया था। गांधीजी जेल में थे।

अगला क़दम क्या हो, इसके वारे में कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में वहुत मतभेद था, और कांग्रेस की नीति में परिवर्तन की पैरवी करने के लिए 'स्वराज पार्टी' के नाम से एक दल बनाया गया। इनका सुझाव था कि असहयोग के बुनियादी कार्यक्रम पर तो जमा रहा जाय, पर उसकी एक मद में रद्दोबदल कर दी जाय। यानी कौन्सिलों का बायकाट उठा लिया जाय। इससे कांग्रेस में दो दल हो गये, पर अन्त में स्वराज-पार्टी की ही बात चली।

कांग्रेसजन कौन्सिलों में गये, और वहाँ उन्होंने ज़ोरदार भाषण दिये और सरकार के खर्चे को नामंज़ूर कर दिया। पर सरकार ने उनके प्रस्तावों और वोटों की कोई परवाह नहीं की, और जिस बजट को विधान-सभा ने नामंज़ूर कर दिया था उसे वायसराय ने तसदीक़ कर दिया। कौन्सिलों में कांग्रेसजनों की इन कार्रवाइयों ने कुछ समय के लिए प्रचार का अच्छा काम किया, पर इनसे आन्दोलन की तर्ज़ में गिरावट आ गई। इनका नतीजा यह हुआ कि जन-समूह से इन लोगों का सम्पर्क टूट गया, और ये लोग प्रगति-विरोधी गुटों से भद्दे समझौते करने लगे।

१९२०-३० ई० के इन वर्षों में जो तरह-तरह की ताक़तें व आन्दोलन भारत को हिलकोर रहे थे, उन्हें समझने की हमें कोशिश करनी चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम समस्या सारी फ़िज़ा पर हावी हो रही थी। आपसी रगड़ बढ़ रही थी, और मस्जिदों के सामने बाजा बजाने के हक़-जैसे तुच्छ सवालों पर उत्तर भारत की कई जगहों में दंगे हो गये थे। असहयोग के दिनों की निराली एकता

के बाद यह अजीब और अचानक परिवर्तन हो गया था। यह क्यों हुआ, और उस एकता की बुनियाद क्या थी?

राष्ट्रीय आन्दोलन का बहुत-कुछ आधार था आर्थिक तंगी और बेरोज़गारी। इसकी वजह से सब जमातों में इकसार ब्रिटिश-सरकार विरोधी भावना और स्वराज के लिए धुंधली-सी चाहना पैदा हो गई थी। दुश्मन से लड़ने की यह भावना सबको जोड़नेवाली कड़ी बन गई थी, और सब लोग मिलकर काम कर रहे थे; पर अलग-अलग जमातों की मंशाएँ अलग-अलग थीं। हर जमात के लिए स्वराज अलग-अलग माने रखता था—बेरोज़गार मध्यम-वर्ग नौकरियों की आशा लगा रहा था, किसान को यह आशा थी कि ज़मींदार की बहुत-सी भारी वसूलियों से राहत मिलेगी। मज़हबी जमातों की नज़र से इस सवाल को देखा जाय तो मुसलमान लोग सामूहिक रूप से आन्दोलन में खासकर खिलाफ़त की वजह से शामिल हुए थे। यह निरा मज़हबी सवाल था, जो सिर्फ़ मुसलमानों से ताल्लुक़ रखता था, और ग़ैर-मुसलमानों को इससे कोई लेना-देना नहीं था। फिर भी गांधीजी ने इसे अपना लिया था, और दूसरों पर भी इसके लिए ज़ोर डाला था, क्योंकि मुसीबत में पड़े भाई की मदद करना वह अपना फ़र्ज़ समझते थे। उन्हें यह भी उम्मेद थी कि इस तरह वे हिन्दुओं व मुसलमानों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक ला सकेंगे। इस तरह मुसलमानों का आम नज़रिया मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता का था, सच्ची राष्ट्रीयता का नहीं। हाँ, उस घड़ी दोनों के बीच झगड़ा दिखाई नहीं दे रहा था।

दूसरी ओर, हिन्दुओं का राष्ट्रीयता का खयाल साफ़ तौर पर हिन्दू राष्ट्रीयता का खयाल था। इस मामले में हिन्दू राष्ट्रीयता को सच्ची राष्ट्रीयता से एकदम अलग करना आसान नहीं था (मुसलमानों के मामले में ऐसा करना आसान था)। दोनों राष्ट्रीयताएँ आपस में मिली हुई थीं, क्योंकि भारत अकेला हिन्दुओं का घर है और उनका यहाँ बहुमत है। इसलिए मुसलमानों की बनिस्बत हिन्दुओं का पक्के राष्ट्रवादी दिखाई देना ज़्यादा आसान था, हालांकि दोनों ही अपनी-अपनी खास क़िस्म की राष्ट्रीयता की पैरवी करते थे।

तीसरी वह चीज़ थी, जिसे सच्ची या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता था, और जो इन दोनों मज़हबी व साम्प्रदायिक क़िस्मों से बिलकुल जुदा थी। और, सही बात तो यह है कि, यही वह क़िस्म थी, जिसे इस शब्द के आज के अर्थों में राष्ट्रीयता कहा जा सकता था। अलबत्ता इस तीसरी जमात में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, और दूसरे लोग भी। राष्ट्रीयता की ये तीनों क़िस्में असहयोग-आन्दोलन के ज़माने में, १९२० से १९२२ ई० तक, इत्तफ़ाक से साथ हो गई

थीं। रास्ते तो तीनों अलग-अलग थे, पर उस घड़ी तीनों बराबर-बराबर चल रहे थे।

१९२१ ई० के जन-आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को बिलकुल हक्का-बक्का कर दिया। हालांकि इसकी सूचना उन्हें बहुत दिन पहले मिल गई थी, पर उन्हें यह नहीं सूझ रहा था कि इससे किस तरह निबटना चाहिए। गिरफ़्तारियों और सज़ाओं का हस्ब-मामूल सीधा उपाय बे-असर हो रहा था, क्योंकि कांग्रेस तो यह चाहती थी ही। इसलिए उनके ख़ुफ़िया विभाग ने कांग्रेस को भीतर से कमज़ोर करने के लिए एक नई तरकीब ईजाद की। पुलिस के गुर्गे और ख़ुफ़िया विभाग के कर्मचारी कांग्रेस-कमेटियों में घुस गये और मार-पीट की कार्रवाइयों को भड़काकर गड़बड़ें पैदा करने लगे। दूसरा उपाय यह अपनाया गया कि साम्प्रदायिक झगड़े पैदा करने के लिए ख़ुफ़िया-विभाग के गुर्गे साधुओं और फ़क़ीरों के भेष में जगह-जगह भेजे गये।

यह सही है कि लोगों की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ राज करनेवाली सरकारें हमेशा इसी तरह के उपायों का सहारा लिया करती हैं। साम्राज्यशाही शक्तियों का धन्धा इन्हीं चीज़ों पर चलता है। इन तरीक़ों का सफल होना जनता की कमज़ोरी और पिछड़ेपन को जितना बतलाता है उतना उनसे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकार की बदकारी को नहीं। दूसरे लोगों में फूट डालना, और उन्हें आपस में लड़ा देना. और इस तरह उन्हें कमज़ोर कर देना व उनका शोषण करना, अपने में ही इन्तज़ाम के बेहतर होने की निशानी है। यह नीति सिर्फ़ तभी सफल हो सकती है जब दूसरी तरफ़ फूट और अलहदगियाँ हों। यह कहना खुले तौर पर ग़लत होगा कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पैदा की, लेकिन उसने इस समस्या को ज़िन्दा रखने के और दोनों जातियों में मेल न होने देने की जो लगातार कोशिशें कीं उनको दरगुज़र करना भी उतना ही ग़लत होगा।

१९२२ ई० में, असहयोग-आन्दोलन मुल्तवी किया जाने के बाद, इस तरह के दाँव-पेचों के लिए ज़मीन तैयार थी। बिना कोई ज़ाहिरा नतीजा निकले एक दिलेर आन्दोलन अचानक ख़त्म होने के बाद उलटा असर हुआ। तीनों जुदा-जुदा रास्ते, जो एक दूसरे के बराबर-बराबर चल रहे थे, अब अलग-अलग दिशाओं में जाने लगे। ख़िलाफ़त का सवाल रास्ते में से हट गया था। हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों के साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के दिनों के जनता के जोश से दब गये थे, फिर उठ खड़े हुए और सार्वजनिक हलचलों में भाग लेने लगे। बेरोज़गार मध्यम-वर्गी मुसलमान यह समझने लगे कि हिन्दुओं ने तमाम नौकरियों का ठेका ले रक्खा है, और उनके रास्ते में रोड़ा बन रहे हैं। इसलिए उन्होंने अलग व्यवहार की और हर चीज़ में अलग हिस्सों की माँग की।

राजनीतिक लिहाज़ से हिन्दू-मुस्लिम सवाल असल में मध्यम-वर्गी मामला था, और नौकरियों के पीछे झगड़ा था। पर इसका असर जन-समूह पर भी पड़ने लगा।

कुल मिलाकर हिन्दू जाति मुसलमानों से ज्यादा अच्छी हालत में थी। अंग्रेज़ी शिक्षा को शुरू में ही अपनाकर उन्होंने ज्यादातर सरकारी नौकरियों पर क़ब्ज़ा कर लिया था। हिन्दू लोग मुसलमानों से मालदार भी ज्यादा थे। गाँव का बौहरा या साहूकार बनिया होता था, जो छोटे-छोटे ज़मींदारों और काश्तकारों को चूसता था, और उन्हें धीरे-धीरे भिखमंगा बनाकर उनकी धरती पर खुद क़ब्ज़ा कर लेता था। यह बनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारों व ज़मींदारों को इकसार चूसता था, पर उसके हाथों मुसलमानों का शोषण साम्प्रदायिक मोड़ ले लेता था, खासकर उन प्रान्तों में, जहाँ खेतिहर लोग ज्यादातर मुसलमान थे। मशीन से बने माल के ज्यादा चलन ने मुसलमानों को हिन्दुओं से ज्यादा नुक़सान पहुँचाया, क्योंकि मुसलमानों में दस्तकारों की संख्या हिन्दुओं से कहीं ज्यादा थी। इन तमाम कारणों ने भारत की दो बड़ी जातियों के बीच दुश्मनी की भावना बढ़ाई और मुस्लिम राष्ट्रीयता को, जो देश के बजाय सम्प्रदाय का ज्यादा लिहाज़ रखती थी, मज़बूत कर दिया।

मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं की माँगें ऐसी थीं कि जो भारत में सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी उम्मीदों पर पानी फेरनेवाली थीं। उनसे उन्हींके साम्प्रदायिक तरीक़े पर लोहा लेने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन भी ज़ोर पकड़कर आगे आने लगे। सच्ची राष्ट्रीयता का ढोंग करनेवाले ये संगठन उतने ही फ़िरक़ापरस्त और तंग-नज़र थे, जितने मुसलमानों के।

खुद कांग्रेस तो इन साम्प्रदायिक संगठनों से दूर रही, पर कांग्रेस-जनों पर उनका ज़हर चढ़ गया। सच्चे राष्ट्रवादी लोगों ने इस साम्प्रदायिक जुनून को रोकने का जतन किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली और बड़े-बड़े दंगे हो गये।

इस गड़बड़झाले को ज्यादा बढ़ाने के लिए एक तीसरी तरह की फ़िरक़ेवाराना राष्ट्रीयता का, यानी सिक्ख राष्ट्रीयता का, उदय हुआ। अबतक हिन्दुओं व सिक्खों को अलहदा करनेवाली लकीर बहुत-कुछ धुंधली थी। पर राष्ट्रीय चेतना ने जीवटदार सिक्खों को भी हिला दिया और वे अपनी ज्यादा साफ़ व अलग हैसियत बनाने की कोशिश करने लगे। इनमें ज्यादा संख्या फ़ौजों से छूटे हुए सिपाहियों की थी, जिन्होंने इस छोटे, पर खूब संगठित सम्प्रदाय को, जो कहनी की बनिस्बत करनी का ज्यादा आदी था, कड़ा रुख दे दिया। ज्यादातर सिक्ख पंजाब में मौरूसी किसान थे, और वे महसूस करने लगे थे कि शहरी साहूकार व शहरों के दूसरे स्वार्थ उन्हें खा जायेंगे। अपना अलग फ़िरक़ा मनवाने

की उनकी इच्छा के पीछे यही भावना काम कर रही थी। शुरू-शुरू में अकाली आन्दोलन मज़हबी मामलों में, या यों कहो कि गुरुद्वारों की जायदाद पर क़ब्ज़ा करने में, दिलचस्पी लेने लगा। इसे अकाली आन्दोलन इसलिए कहते थे कि अकाली लोग सिक्खों की एक चुस्त और सरगर्म जमात थे। इसलिए इस सवाल पर इनकी सरकार से मुठभेड़ हुई, और अमृतसर के पास गुरु का बाग़ में दिलेरी और धीरज का अद्भुत प्रदर्शन देखने में आया। पुलिस के हाथों अकाली जत्थों की बड़ी बेदर्दी से पिटाई हुई, पर वे न तो क़दम-भर पीछे हटे और न उन्होंने पुलिस पर हाथ उठाया। अन्त में अकालियों की जीत हुई और गुरुद्वारों पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। तब वे राजनीति के मैदान में उतर आये और अपने लिए हर दर्जे की माँगें करने में दूसरे साम्प्रदायिक फ़िरक़ों की होड़ करने लगे।

जुदा-जुदा जातियों की ये तंग साम्प्रदायिक भावनाएँ, जिन्हें मैंने फ़िरक़े-वाराना राष्ट्रीयता कहा है, बड़ी दुखदायी थीं। पर उनका होना एक तरह से क़ुदरती चीज़ थी। असहयोग ने भारत को पूरी तरह हिला डाला था, और ये फ़िरक़ेवाराना चेतनाएँ और हिन्दू, मुस्लिम व सिक्ख राष्ट्रीयता, इस थरथराहट का पहला नतीजा थीं। इनके अलावा और भी बहुत-सी छोटी-छोटी जमातों ने अपनी हस्ती को पहचाना। 'दलित वर्ग' कहलानेवाली जातियाँ इनमें ख़ास हैं। दलित वर्ग के लोग, जिन्हें सवर्ण हिन्दुओं ने सदियों से दबा रक्खा था, ज़्यादा-तर खेती में काम करनेवाले बे-ज़मीन मज़दूर थे। इसलिए जब इनमें अपनी हस्ती की भावना पैदा हुई तो यह लाज़िमी था कि अपनी कितनी ही मजबूरियों से छुटकारा पाने की उमंग उनके सिर पर सवार हो जाती और जिन हिन्दुओं ने उन्हें सदियों से सताया था, उनके ख़िलाफ़ वे सख़्त ग़ुस्से से भर जाते।

हरेक चेतन फ़िरक़ा राष्ट्रीयता और देशभक्ति को अपने-अपने स्वार्थों की रोशनी में देखने लगा। जिस तरह राष्ट्र स्वार्थी होते हैं, उसी तरह फ़िरक़े या जातियाँ भी स्वार्थी हुआ करते हैं; यह दूसरी बात है कि जातियों या राष्ट्रों के कुछ ख़ास लोग बे-स्वार्थ नज़रिया रखते हों। बस, हर फ़िरक़ा अपने हिस्से से बहुत ज़्यादा चाहता था, और इसलिए इनके बीच झगड़े टल नहीं सकते थे। ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिक बैर-भाव बढ़ने लगा त्यों-त्यों हर फ़िरक़े के तेज़-तर्रार साम्प्रदायिक नेता आगे आने लगे, क्योंकि क्रोध के आवेश में हर फ़िरक़ा उसी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि समझता है, जो अपने फ़िरक़े की माँगें सबसे ऊँची रक्खे और दूसरों को सबसे ज़्यादा गालियाँ दे। सरकार ने भी इस आपसी झगड़े को कई तरीक़ों से भड़काया, ख़ासकर ज़्यादा तेज़-तर्रार साम्प्रदायिक नेताओं को बढ़ावा देकर। बस, ज़हर फैलता चला गया, और हम ऐसे शैतानी चक्कर में फँस गये, जिसमें से निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था।

जिन दिनों भारत में ये ताक़तें और ये फूट डालनेवाली हालतें पैदा हो रही थीं, उन्हीं दिनों यरवदा-जेल में गांधीजी बहुत बीमार पड़ गये और उन्हें ऑपरेशन कराना पड़ा। १९२४ ई० के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गए। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन्हें बहुत रंज हुआ, और बाद में एक बड़े दंगे ने उनके दिल को इतनी चोट पहुँचाई कि उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास किया? आपसी सुलह कराने के लिए कई 'एकता'-सम्मेलन हुए, पर कोई नतीजा नहीं निकला।

इन साम्प्रदायिक तकरारों और फ़िरक़ेवाराना राष्ट्रीयता का नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस और कौन्सिलों की स्वराज पार्टी, दोनों कमज़ोर पड़ गईं। स्वराज का ख़याल गड्ढे में जा पड़ा, क्योंकि ज्यादातर लोग अपने-अपने फ़िरक़ों के हितों के बाबत ही सोचने और बोलने लगे। किसी भी फ़िरक़े की तरफ़दारी से बचने की कोशिश में कांग्रेस पर चारों ओर से सम्प्रदायवादियों के हमले होने लगे। इन दिनों कांग्रेस ने चुपचाप संगठन और कुटीर-उद्योगों (खद्दर) वग़ैरा को अपना सबसे बड़ा काम बना लिया था, और इससे उसे किसानों के जन-समूह से सम्पर्क बनाये रखने में मदद मिली।

अपने देश के साम्प्रदायिक झगड़ों के बारे में मैंने ज़रा विस्तार के साथ इसलिए लिखा है कि १९२०-३० ई० के वर्षों में इन्होंने हमारे राजनीतिक जीवन पर बहुत बड़ा असर डाला। लेकिन इतने पर भी हमें इनको बहुत ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए। इन्हें ज़रूरत से बहुत ज्यादा महत्व देने की आदत पड़ गई है, और किसी हिन्दू लड़के और मुसलमान लड़के का हर आपसी झगड़ा एक साम्प्रदायिक झगड़ा समझा जाता है, और हर अदना दंगे को बड़ा भारी दर्शाया जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि भारत बहुत बड़ा देश है, और लाखों शहरों व गाँवों में हिन्दू व मुसलमान आपस में बड़े मेल से रहते हैं, और उनमें कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं है। आमतौर पर इस तरह के झगड़े कुछ गिने-चुने शहरों में ही होते हैं, हालाँकि कभी-कभी गाँवों में भी झगड़ा फैल जाता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साम्प्रदायिक सवाल भारत में जड़-मूल से एक मध्यम-वर्गी सवाल है, और चूँकि कांग्रेस में, कौन्सिलों में, अख़बारों में, और क़रीब-क़रीब सारी हलचलों में हमारी राजनीति पर मध्यम-वर्ग हावी हो रहा है, इसलिए इसे बहुत ज्यादा महत्व दे दिया जाता है। किसान-वर्ग तो शोर मचाना जानता ही नहीं; ये लोग तो अभी हाल ही में गाँवों की कांग्रेस-कमेटियों, किसान-सभाओं वग़ैरा के ज़रिये राजनीतिक कामों में भाग लेने लगे हैं। शहरी मज़दूर, ख़ासकर बड़े-बड़े कारखानों के मज़दूर, ज़रा ज्यादा चौकस हैं, और उन्होंने अपनी ट्रेड यूनियनें खड़ी कर ली हैं। पर कारखानों के ये मज़दूर तक भी, और इनसे भी ज्यादा किसान-वर्ग, अपनी रहनुमाई के लिए मध्यम-वर्गों से निकले हुए व्यक्तियों का ही

मुंह ताकते हैं। अब हमें इस ज़माने के जन-समूह, किसान-वर्ग और कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग की हालत पर ग़ौर करना चाहिए।

महायुद्ध की वजह से भारतीय उद्योगों में जो बढ़ोतरी हुई, वह सुलह के कुछ वर्षों बाद तक भी जारी रही। ब्रिटिश पूंजी भारत में धड़ाधड़ आती रही, और नये कारखाने व उद्योगों को चलाने के लिए बहुत सारी नई-नई कम्पनियाँ दर्ज हुईं। ज्यादा बड़ी औद्योगिक कम्पनियाँ ख़ासतौर पर विदेशी पूंजी के सहारे खड़ी की गईं, और इस तरह बड़े पैमानेवाले उद्योगों की बागडोर दरअसल अंग्रेज़ पूंजीपतियों के हाथ में आ गई। कुछ वर्ष हुए यह अन्दाज़ा लगाया गया था कि भारत में काम करनेवाली कम्पनियों में से ८७ फ़ीसदी कम्पनियों में अंग्रेज़ों की पूंजी लगी हुई थी, और शायद यह अन्दाज़ा भी नीचा है। इस तरह भारत पर इंग्लैण्ड का असली आर्थिक पंजा और भी मज़बूत हो गया। छोटे-छोटे क़स्बों को नुक़सान पहुँचाकर बड़े-बड़े शहर पैदा हो गये, पर गाँवों को कोई नुक़सान नहीं हुआ। कपड़ा-उद्योग ख़ासतौर पर बढ़ गया, और खनिज-उद्योग भी इसी तरह बढ़ा।

बढ़ते हुए उद्योगीकरण की नई-नई समस्याओं पर ग़ौर करने के लिए सरकार ने बहुत कमेटियाँ और कमीशन मुक़र्रर किये। इन्होंने सिफ़ारिश की कि विदेशी पूंजी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। साथ ही इन्होंने भारत में अंग्रेज़ों के औद्योगिक हितों का आमतौर पर पक्ष लिया। भारतीय उद्योगों को नुक़सान से बचाने के लिए एक टैरिफ़ बोर्ड मुक़र्रर किया गया। लेकिन, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, बहुत-से मामलों में इस बचाने का अर्थ था भारत में ब्रिटिश पूंजी की रक्षा करना। मण्डियों में इस रक्षा किये हुए माल की क़ीमतें बढ़ जाना लाज़िमी था, और इससे उसी हद तक रोज़ाना ज़रूरत की चीज़ें भी मँहगी हो गईं। नतीजा यह हुआ कि उद्योगों की रक्षा का बोझ जनता पर, या इस माल के ख़रीदारों पर, पड़ा और कारखानेदारों को ऐसी पनाहदार मण्डी मिल गई, जिसमें होड़ या तो बिलकुल नहीं रही थी, या कम हो गई थी।

कारख़ानों की बढ़ोतरी के साथ-साथ क़ुदरती तौर पर कारख़ानों में मज़दूरी कमानेवाले वर्ग की संख्याओं में भी बढ़ोतरी हुई। सन् १९२२ ई० में ही सरकारी अन्दाज़ा था कि भारत में इस वर्ग के लोगों की संख्या कम-से-कम दो करोड़ थी। देहाती इलाक़ों के बे-ज़मीन बेकार मज़दूर इस वर्ग में शामिल होने के लिए कारख़ानेवाले नगरों में आने लगे, और यहाँ इन्हें आमतौर पर शोषण की शर्मनाक हालतों में रहने को मजबूर होना पड़ा। जो हालतें इंग्लैण्ड में सौ वर्ष पहले कारख़ाना-प्रणाली के शुरू में थीं, वे ही अब भारत में पैदा हो गईं—जैसे कारख़ानों में काम के कमर-तोड़ घण्टे, बहुत ही कम मजूरी, रहन-सहन की गिरी हुई और गन्दी हालतें। कारख़ानेदार-वर्ग की तो एक ही मंशा थी: ख़ूब मुनाफ़े

बटोरकर तेज़ी के ज़माने से पूरा फ़ायदा उठाना। और कुछ वर्षों तक तो उन्होंने बड़ी सफलता के साथ यह धन्धा किया, और हिस्सेदारों को भारी-भारी मुनाफ़े बाँटे, पर उधर मज़दूरों की हालत बहुत बुरी ही बनी रही। अपने पैदा किये हुए इन ज़बर्दस्त मुनाफ़ों में मज़दूरों का कोई साझा नहीं था, पर आगे चलकर जब तेज़ी के ज़माने के बाद मन्दी आई और व्यापार गिरने लगा, तो मज़दूरों से कहा गया कि कम मजूरियाँ लेकर दोनों की इस कम्बख़्ती में साझा बटावें।

ज्यों-ज्यों मज़दूरों के संगठन, यानी ट्रेड यूनियनें, ज़ोर पकड़ते गये, त्यों-त्यों साथ-ही-साथ, मज़दूरों के रहन-सहन और काम की बेहतर हालतों के लिए, काम के घण्टों में कमी के लिए और ऊँची मजूरियों के लिए, पुकार भी ज़ोर पकड़ती गई। कुछ तो इसके असर से, और कुछ मज़दूर-वर्ग के साथ अच्छा बर्ताव किये जाने की आम संसार-व्यापी माँग के असर से, सरकार ने कारख़ानों के मज़दूरों की हालत में सुधार करने के इरादे से कई क़ानून पास किये। मैं किसी पिछले पत्र में कारख़ाना क़ानून पास किये जाने का ज़िक्र कर चुका हूँ। इसके मुताबिक़ बारह से पन्द्रह वर्ष की उम्र के बच्चों से दिन-भर में छै घण्टे से ज़्यादा काम नहीं लिया जाना चाहिए। स्त्रियों और बच्चों के रात में काम करने पर भी रोक लगा दी गई थी। बालिग़ पुरुषों और स्त्रियों के लिए दिन-भर में काम के ज़्यादा-से-ज़्यादा ग्यारह घण्टे और सप्ताह में साठ घण्टे (काम का सप्ताह छै दिन का माना गया था) तय कर दिये गए। बाद में होनेवाले कुछ संशोधनों के साथ यह कारख़ाना क़ानून अभीतक लागू है।

खानों में काम करनेवाले कम्बख़्त मज़दूरों को, खासकर ज़मीन के अन्दर कोयले की खानों में काम करनेवालों को, कुछ राहत देने के लिए १९२३ ई० में भारतीय खान-क़ानून पास किया गया। तेरह वर्ष से कम के बच्चों के लिए ज़मीन के अन्दर काम करने पर पाबन्दी लगा दी गई और स्त्रियाँ ज़मीन के अन्दर काम करती रहीं, और देखा जाय तो इनकी संख्या मज़दूरों की कुल संख्या से आधी के क़रीब थी। बालिग़ों के लिए छै दिन के हफ़्ते में काम के ज़्यादा-से-ज़्यादा घण्टे इस तरह तय किये गए: ज़मीन पर काम करने के साठ और ज़मीन के भीतर काम करने के चौवन। एक दिन में मेरे ख़याल से, ज़्यादा-से-ज़्यादा बारह घण्टे होते हैं। काम के घण्टों के ये आँकड़े मैं इसलिए बता रहा हूँ कि तुम्हें मज़दूरों की हालतों का कुछ अन्दाज़ा हो जाय। पर इनकी मदद से भी तुम्हें थोड़ा-सा ही अन्दाज़ा हो सकता है, क्योंकि पूरी जानकारी के लिए इनके अलावा और भी बहुत-सी चीज़ों का जानना ज़रूरी है, जैसे मजूरियों की दर, रहन-सहन की हालतें, वग़ैरा। यहाँ हम इन बातों के ब्यौरे में नहीं जा सकते। लेकिन यह महसूस करना भी कम बात नहीं है कि किस तरह लड़कों व लड़कियों और पुरुषों व स्त्रियों को कारख़ानों में

सिर्फ़ पेट भरने लायक़ टुच्ची मजूरी पर ग्यारह-ग्यारह घण्टे रोज़ काम करना पड़ता है। कारख़ानों में जैसा हरदम एक-सा काम वे करते हैं, वह ज़बर्दस्त उदासी पैदा करनेवाला होता है; उसमें कोई मज़ा नहीं होता। और जब वे बिलकुल थके-माँदे घर पहुँचते हैं, तो आमतौर पर एक पूरे कुनबे को मिट्टी की छोटी-सी झोंपड़ी में भर जाना पड़ता है, जिसमें टट्टी-पेशाब की कोई सहूलियतें नहीं होतीं।

कुछ और क़ानून भी पास किये गए, जिनसे मज़दूरों को मदद मिली। १९२३ ई० में कामगरों का मुआवज़ा क़ानून बना, जिसके मातहत दुर्घटनाओं वग़ैरा में घायल हुए मज़दूर को कुछ मुआवज़ा दिया जाना ज़रूरी था। और १९२६ ई० में ट्रेड यूनियन क़ानून बनाया गया, जो ट्रेड यूनियनों के गठन और बाक़ायदा माने जाने से, ताल्लुक़ रखता था। इन दिनों में भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलन ज़रा तेज़ी के साथ बढ़ा, ख़ासकर बम्बई में। एक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनी, पर कुछ वर्षों बाद यह दो दलों में बँट गई। महायुद्ध व रूसी क्रान्ति के ज़माने से ही दुनिया-भर में मज़दूर-वर्ग दो अलग-अलग दिशाओं में खींचा जा रहा है। एक तरफ़ तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (जिसका ज़िक्र मैं कर चुका हूँ) से जुड़े हुए पुराने कट्टर पन्थी और नर्मदली मज़दूर-संघ हैं; दूसरी तरफ़ सोवियत रूस व तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का ज़बर्दस्त नया खिंचाव है। इसलिए हर जगह कारख़ानों के नर्म विचारवाले और आमतौर पर ख़ुशहाल मज़दूर कोई ख़तरा नहीं उठाना चाहते और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर झुक रहे हैं; और ज़्यादा क्रान्तिकारी मज़दूर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर। यह खींचतान भारत में भी हुई और १९२९ के अन्त में यहाँ भी दो दल हो गये। तभी से भारत में मज़दूर-आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया है।

किसान-वर्ग के बारे में मैं उससे ज़्यादा यहाँ कुछ नहीं लिख सकता जितना अपने पिछले पत्रों में लिख चुका हूँ। इनकी हालत और भी बिगड़ती जा रही है और वे साहूकार के क़र्ज़ों में दिन-पर-दिन बड़ी बुरी तरह फँसते जा रहे हैं। छोटे-छोटे ज़मींदार, मौरूसी काश्तकार और साधारण काश्तकार, सब-के-सब क़र्ज़ देनेवाले बनिये या साहूकार के पंजों में फँस जाते हैं। चूँकि काश्तकार क़र्ज़ नहीं चुका सकता है, इसलिए धरती धीरे-धीरे इस साहूकार के क़ब्ज़े में चली जाती है। और चूँकि यह साहूकार ज़मींदार भी होता है और साहूकार भी, इसलिए काश्तकार उसका दोहरा गुलाम बन जाता है। आमतौर पर यह बनिया ज़मींदार शहर में रहता है, और उसके व काश्तकार-वर्ग के बीच कोई गहरा आपसी सम्पर्क नहीं रहता। इसकी लगातार कोशिश इसी दिशा में रहती है कि भूखों-मरते किसान-वर्ग से जितना मुमकिन हो सके उतना ज़्यादा रुपया वसूल किया जाय। पुराना ज़मींदार, जो अपने काश्तकार-वर्ग के बीच में ही रहता था, कभी-कभी उनपर

दया भी दिखा सकता था; पर शहर में रहनेवाला साहूकार-ज़मींदार वसूली के लिए अपने कारिन्दे भेज देता है, और ऐसी कमज़ोरी कभी नहीं दिखाता।

सरकारी कमेटियों ने खेतिहर वर्गों के क़र्ज़ों के बारे में कितने ही सरकारी तख़मीने बनाये हैं। १९३० ई० में यह अन्दाज़ा लगाया गया था कि सारे भारत में (बरमा को छोड़कर) इन वर्गों के कुल क़र्ज़ों की भारी रक़म ८,०३,००,००,००० रुपये है! इसमें ज़मींदारों और खेती करनेवालों, दोनों के क़र्ज़े शामिल हैं। मन्दी के वर्षों में और बाद में यह रक़म बहुत ज्यादा बढ़ गई।

इस तरह खेतिहर-वर्ग, छोटे-छोटे ज़मींदार और काश्तकार दोनों, दिन-पर-दिन गहरी दलदल में धँसते जा रहे हैं और इनके बाहर निकलने का सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं है कि मौजूदा भूमि-प्रणाली की पूरी तरह से जड़ ही काट दी जाय। टैक्स लगाने की मौजूदा व्यवस्था ऐसी है कि उसका सबसे ज्यादा बोझ उस वर्ग पर पड़ता है, जो सबसे ज्यादा ग़रीब है और जो उसे बर्दाश्त करने की सबसे कम हैसियत रखता है। ख़र्च की बड़ी-बड़ी मदें सेना, प्रशासन सेवाएँ और इंग्लैण्ड की दूसरी वसूलियाँ हैं, जिनसे जनता को कोई लाभ नहीं पहुँचता। शिक्षा पर फ़ी आदमी क़रीब आठ आने ख़र्च किये जाते हैं, जबकि इसके मुक़ाबले में इंग्लैण्ड का यह ख़र्च २ पौण्ड १५ शिलिंग (क़रीब ४० रु०) फ़ी-आदमी है। इस तरह इंग्लण्ड में शिक्षा पर भारत से ७३।। गुना ज्यादा ख़र्च होता है।

पिछले वर्षों में भारत की आबादी की फ़ी-आदमी राष्ट्रीय आमदनी का तख़मीना लगाने के यत्न कई बार किये गए हैं। यह मुश्किल मामला है, और तख़मीनों में बड़ा फ़र्क़ है। १८७० ई० में दादाभाई नौरोजी ने हिसाब लगाया था कि यह २० रु० फ़ी-आदमी है। हाल के तख़मीने ६७ रु० तक जा पहुँचे हैं, और कुछ अंग्रेजों के लगाये हुए सबसे अच्छे तख़मीने भी ११६ रु० से ऊँचे नहीं जाते। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके मुक़ाबले का आँकड़ा १९२५ रु० है, और तबसे यह बहुत ज्यादा बढ़ चुका है। इंग्लैण्ड में फ़ी-आदमी आमदनी १,००० रु० है।[1]

: १६२ :

भारत में हिंसा के बिना बग़ावत

१७ मई, १९३३

भारत व उसके गुज़रे ज़माने के बारे में मैंने तुमको जितने ज्यादा पत्र लिखे हैं, उतने किसी और देश के बारे में नहीं लिखे। लेकिन गुज़रा ज़माना अब मौजूदा ज़माने में विलीन होता जा रहा है, और मुझे आशा है कि यह जो पत्र मैं शुरू कर

[1] ये आँकड़े प्रति व्यक्ति की सालाना औसत आमदनी के हैं।

रहा हूँ, वह मेरी कहानी को आज के भारत तक ले आयेगा। मैं हाल की कुछ घटनाओं का ज़िक्र करूँगा, जो हमारे दिमाग़ों में ताज़ा बनी हुई हैं। उनके बारे में लिखने का वक़्त अभी नहीं आया है, क्योंकि कहानी अभी अधूरी है। मगर सारा इतिहास वर्तमान में आकर एकदम ही रुक जाता है, और कहानी के बाक़ी अध्याय भविष्य के गर्भ में छिपे पड़े रहते हैं। सच पूछो तो कहानी का कोई अन्त ही नहीं है; वह तो बराबर आगे चलती रहती है।

१९२७ ई० के आखिरी दिनों में ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि सरकारी ढाँचे में आयन्दा सुधारों व परिवर्तनों के बारे में जाँच करने के लिए एक कमीशन भारत भेजा जायगा। भारत के सारे राजनीतिक दलों ने इस घोषणा पर क्रोध ज़ाहिर किया और इसे बुरा बताया। कांग्रेस ने इसपर इसलिए ऐतराज़ किया कि वह तो इस ख़याल को ही सख़्त नापसन्द करती थी कि स्वराज की क़ाबलियत के लिए भारत का समय-समय पर इम्तहान लिया जाया करे। इस देश पर जबतक हो सके क़ब्ज़ा बनाये रखने की अपनी इच्छा पर पर्दा डालने के लिए अंग्रेज़ लोग इसी फ़िक़रे का इस्तेमाल करते थे। कांग्रेस ने बहुत बरसों से अपने देश के लिए आत्म-निर्णय के उसी हक़ का दावा किया था, जिसका महायुद्ध के दौरान मित्र-राष्ट्रों ने इतना ढिंढोरा पीटा था। और, उसने भारत पर हुक्म चलाने या उसकी क़िस्मत का आखिरी फ़ैसला करने के ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिकार को क़बूल करने से इन्कार कर दिया। इसी बिना पर कांग्रेस ने इस नये पार्लमेण्टी कमीशन पर ऐतराज़ किया। भारत के नर्म दलों ने इस कमीशन पर दूसरे सबबों से ऐतराज़ किया, जिनमें ख़ास यह था कि किसी भारतीय को इसका सदस्य नहीं बनाया गया था। यह ख़ालिस अंग्रेज़ी कमीशन था। हालाँकि ऐतराज़ के सबब अलग-अलग थे, पर यह सच बात है कि नर्म-से-नर्म विचार के लोगों समेत भारत की क़रीब-क़रीब हर जमात ने एक-स्वर से इसकी निन्दा की और इसके बायकाट की सिफ़ारिश की।

इसी समय के लगभग, दिसम्बर, १९२७ ई० में, मद्रास में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन हुआ और उसने तय किया कि भारत के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता उसका लक्ष्य है। यह पहला ही मौक़ा था जब कांग्रेस ने स्वाधीनता की घोषणा की। दो वर्ष बाद, लाहौर में, स्वाधीनता साफ़ तौर पर कांग्रेस की नीति बन गई। मद्रास कांग्रेस ने 'सर्वदल-सम्मेलन' भी बनाया, जो थोड़े दिन ज़ोर-शोर से काम करके ख़त्म हो गया।

अगले वर्ष, १९२८ ई० में, ब्रिटिश कमीशन ने भारत में क़दम रक्खा और जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, आमतौर पर उसका बायकाट किया गया। जहाँ-जहाँ यह गया वहाँ-वहाँ इसके खिलाफ़ बड़े-बड़े प्रदर्शन किये गए। इसके समापति

के नाम पर इसे साइमन कमीशन कहते थे, और 'साइमन लौट जाओ'[1] का नारा भारत-भर में गूंज उठा। कई मौक़ों पर पुलिस ने प्रदर्शन करनेवालों पर लाठियाँ चलाईं; लाहौर में पुलिस ने लाला लाजपतराय तक को पीटा। कुछ महीनों बाद लालाजी की मौत हो गई, और डॉक्टरों की राय थी कि हो सकता है पुलिस की मार से लालाजी को मौत जल्दी हो गई हो। इन सब बातों से देश में क़ुदरती तौर पर बड़ी उत्तेजना और बड़ा क्रोध पैदा हो गया।

इस अर्से में सर्वदल-सम्मेलन संविधान का मसौदा बनाने का और साम्प्रदायिक उलझन का हल ढूंढ़ निकालने की कोशिश कर रहा था। इसने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें संविधान के बारे में और साम्प्रदायिक समस्या के बारे में सुझाव थे। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट कहलाती है, क्योंकि जिस कमेटी ने इसका मसौदा बनाया था, उसके सभापति पण्डित मोतीलाल नेहरू थे।

सरकार द्वारा मालगुज़ारी की दर में बढ़ोतरी के ख़िलाफ़ गुजरात के बारडोली गाँव के किसानों का बड़ा मोर्चा इस वर्ष की एक और मार्के की घटना थी। उत्तर प्रदेश की तरह गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों की प्रथा नहीं हैं। वहाँ सिर्फ़ मालगुज़ार किसान हैं। इन किसानों ने सरदार वल्लभभाई पटेल की रहनुमाई में अनोखी दिलेरी की लड़ाई चलाई और महान् विजय हासिल की।

दिसम्बर, १९२८ ई०, की कलकत्ता-कांग्रेस ने नेहरू-रिपोर्ट मंज़ूर कर ली, जिसमें ब्रिटिश उपनिवेशों के संविधान से मिलते-जुलते संविधान की सिफ़ारिश की गई थी। कांग्रेस ने इसे मंज़ूर तो कर लिया, पर यह मंज़ूरी थोड़े दिन के लिए थी, और इसके लिए उसने एक वर्ष की मीयाद मुक़र्रर कर दी। अगर एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश सरकार से इसके आधार पर कोई समझौता न हो, तो कांग्रेस फिर स्वाधीनता की माँग पर चली जायगी। इस तरह कांग्रेस व देश न टलनेवाले संकट की तरफ़ दौड़ रहे थे।

मज़दूर-वर्ग भी बड़ा उतावला हो रहा था, और कुछ औद्योगिक केन्द्रों में जब मजूरियाँ घटाने की कोशिश की गई तो वहाँ वह सरगर्म बनने लगा। बम्बई में इनका संगठन ख़ासतौर पर बहुत अच्छा था, और यहाँ बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं, जिनमें एक लाख से भी ज्यादा मज़दूरों ने भाग लिया। मज़दूरों में समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी विचार फैलने लगे और इस क्रान्तिकारी उभाड़ से और मज़दूर-वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त से भयभीत होकर सरकार ने १९२९ ई० के शुरू में एकाएक बत्तीस मज़दूर नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया, और उनके ख़िलाफ़ षड्यन्त्र का बड़ा मुक़दमा चला दिया। यह मुक़दमा दुनिया-भर में 'मेरठ केस' के नाम से मशहूर हो गया। लगभग चार वर्ष की अदालती सुनवाई के बाद

[1] 'Simon go Back.'

तमाम मुजरिमों को क़ैद की ज़बर्दस्त सज़ाएँ दे दी गईं। और मज़े की बात यह थी कि उनमें से किसीपर भी बग़ावत की अमली कार्रवाई और शान्ति-भंग करने तक का जुर्म नहीं लगाया गया था। मालूम होता है कि उनका क़सूर यह था कि वे एक ख़ास तरह का मत रखते थे और उसका प्रचार करते थे। अपील करने पर ये सज़ाएँ बहुत कम कर दी गईं।

एक और क़िस्म की हलचल, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी और कभी-कभी ऊपरी सतह पर भी प्रकट हो जाती थी, यह थी कि कुछ लोग क्रान्ति लाने के लिए हिंसा के उपायों में विश्वास करते थे। ये हलचलें सबसे ज्यादा बंगाल में, कुछ हद तक पंजाब में, और थोड़ी-बहुत उत्तर प्रदेश में थीं। ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के बहुत उपाय किये और षड्यन्त्रों के कितने ही मुक़दमे चलाये गए। सरकार ने 'बंगाल आर्डिनेन्स' नामक एक विशेष क़ानून जारी किया ताकि जिस किसीपर वह सन्देह करने का इरादा कर ले, उसे गिरफ़्तार करने और बिना मुक़दमा चलाये जेल में रखने का अधिकार उसे मिल जाय। इस आर्डिनेन्स के मातहत कितने ही सौ बंगाली नौजवान गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिये गए। ये 'नज़रबन्द' कहलाते थे और उनकी क़ैद की कोई मीयाद नहीं होती थी। ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि जब यह निराला आर्डिनेन्स जारी किया गया था, तब इंग्लैण्ड में मज़दूर सरकार सत्ता में थी, और इस आर्डिनेन्स की ज़िम्मेदारी उसीके ऊपर आती थी।

इन क्रान्तिकारियों ने आतंक फैलाने की बहुत-सी कार्रवाइयाँ कीं, जिनमें से ज्यादातर बंगाल में हुईं। इनमें से तीन घटनाओं ने लोगों का ध्यान ख़ासतौर पर खींचा। पहली तो लाहौर में एक अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर पर गोली चलाने की थी, जिसके बारे में ख़याल किया जाता था कि उसने साइमन-कमीशन के खिलाफ़ प्रदर्शन में लाला लाजपतराय को मारा था। दूसरी भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के हाथों दिल्ली के असेम्बली-भवन में बम फेंके जाने की थी। इस बम से कोई नुक़सान नहीं हुआ, और मालूम होता है कि यह सिर्फ़ ज़ोरदार धड़ाका करने और देश का ध्यान खींचने के इरादे से फेंका गया था। तीसरी घटना १९३० ई० में चटगाँव में उस समय के लगभग हुई जब सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन शुरू ही हुआ था। यह वहाँ के हथियारख़ाने पर बड़ा हिम्मतवर और बड़ी तैयारी के साथ मारा गया छापा था, और कुछ सफल भी रहा। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने दिमाग़ में सूझनेवाली सारी तरक़ीबें काम में लीं। जासूस और मुख़बिर रक्खे गये, बहुत लोगों को गिरफ़्तार किया गया और षड्यन्त्र के मुक़दमे चलाये गए, लोगों को नज़रबन्द किया गया (कभी-कभी अदालतों से बरी किये गए लोगों को फ़ौरन ही फिर गिरफ़्तार करके आर्डिनेन्स के मातहत

नज़रबन्द बनाकर रक्खा जाता था), और पूर्व बंगाल के कुछ भागों पर फ़ौजी शासन क़ायम कर दिया गया था, और लोग परमिटों के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे, न वे साइकिलों की सवारी कर सकते थे और न मनचाही पोशाक बदल सकते थे। पुलिस को इत्तला न देने के जुर्म में पूरे-के-पूरे नगरों और गाँवों पर भारी-भारी जुर्माने लगा दिये गए थे।

१९२९ ई० में लाहौर में एक षड्यन्त्र के मुक़दमे के एक क़ैदी जतीन्द्रनाथ दास ने जेल के बुरे वर्ताव के विरोध में भूख हड़ताल कर दी। यह नौजवान अन्त तक डटा रहा और इस भूख-हड़ताल से इकसठवें दिन उसकी मौत हो गई। जतीनदास के आत्म-बलिदान ने भारत में गहरा असर डाला। एक और घटना, जिसने देश को सदमा व दर्द पहुँचाया, १९३१ ई० के शुरू में भगतसिंह की फाँसी थी।

अब मैं फिर कांग्रेस की राजनीति पर आता हूँ। कलकत्ता-कांग्रेस ने जो एक साल की मोहलत दी थी, वह पूरी हो रही थी। १९२९ ई० के आखिरी दिनों में सरकार ने उन गम्भीर घटनाओं को रोकने के लिए ज़ोर लगाया, जिनका अन्देशा नज़र आ रहा था। उसने आयन्दा कुछ आगे क़दम बढ़ाने के बारे में एक गोलमोल घोषणा की। उस वक़्त भी कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया। पर जब ये शर्तें पूरी नहीं हुईं तो दिसम्बर, १९२९ ई०, की लाहौर-कांग्रेस ने लाचार होकर स्वाधीनता के पक्ष में और उसे हासिल करने के लिए लड़ने का फ़ैसला किया।

इस तरह १९३० ई० का वर्ष होनेवाली घटनाओं की घटा से घिरे हुए आसमान में शुरू हुआ। सविनय अवज्ञा की तैयारियाँ हो रही थीं। विधान-सभा व कौन्सिलों का फिर बायकाट कर दिया गया था और उनके कांग्रेसी सदस्यों ने इस्तीफ़े दे दिये थे। जनवरी की २६ तारीख को शहरों व गाँवों की अनगिनती सभाओं में सारे देश में स्वाधीनता की विशेष प्रतिज्ञा ली गई। इस दिन की वर्ष-गाँठ हर साल 'स्वाधीनता-दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च में, नमक-क़ानून तोड़ने के लिए समुद्र-तट पर गांधीजी की मशहूर दाण्डी-यात्रा हुई। अपना धावा शुरू करने के लिए उन्होंने नमक-कर को इसलिए चुना था कि यह कर ग़रीब लोगों पर बड़ा बोझ था, और इसलिए ख़ासतौर पर बुरा था।

अप्रैल, १९३० ई०, के बीच तक सविनय अवज्ञा का आन्दोलन पूरे ज़ोर पर पहुँच गया था। हर जगह सिर्फ़ नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया, बल्कि दूसरे क़ानून भी तोड़े गये। देश-भर में शान्ति के साथ बग़ावत फैल गई और उसे कुचलने के लिए नये-नये क़ानून और आर्डिनेन्स एक के बाद एक तेज़ी के साथ निकलने लगे। पर ये आर्डिनेन्स ही सविनय अवज्ञा के सबब बन गये। सामूहिक गिरफ़्तारियाँ

हुईं, और लाठियों की हैवानी मार, शान्त भीड़ों पर गोलियाँ चलाना, कांग्रेस-कमेटियों का ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना, अख़बारों का मुँह बन्द किया जाना, सेन्सर का बिठाया जाना, मार-पीट और जेलों में सख़्ती का बर्ताव—ये सब रोजमर्रा की घटनाएँ हो गईं। एक तरफ़ तो आर्डिनेन्स का राज था, दूसरी तरफ़ इन्हें पक्के इरादे से और क़रीने से तोड़ा जाता था। साथ-साथ विदेशी माल और अंग्रेज़ी कपड़े का बायकाट भी चल रहा था। लगभग एक लाख व्यक्ति जेलों में गये, और कुछ दिनों तक भारत की इस शान्त मगर मज़बूत इरादे की लड़ाई पर दुनिया-भर का ध्यान लगा रहा।

तीन हक़ीक़तें मैं तुम्हारी निगाह में लाना चाहता हूँ। पहली तो थी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में मार्के की राजनीतिक चेतना। लड़ाई शुरू होते ही, यानी १९३० ई० के अप्रैल में, पेशावर में शान्त भीड़ों पर गोलियों की ज़बर्दस्त बौछार की गई, और पूरे साल-भर तक सीमाप्रान्त के हमारे देशवासियों ने बे-अन्दाज़ ज़ालिमाना बर्ताव को शानदार धीरज के साथ बर्दाश्त किया। यह चीज़ दुगनी मार्के की थी, क्योंकि सरहदी लोग शान्ति-पसन्द बिलकुल नहीं होते, और ज़रा-सी उत्तेजना पर भड़क उठते हैं। पर इतने पर भी वे शान्त बने रहे। राजनीतिक मैदान में नया क़दम रखनेवाली पठानों-जैसी क़ौम के लिए फ़ौरन ही आगे आ जाना और ऐसा बहादुरी का काम कर दिखाना अचम्भे की और बड़ी तारीफ़ के क़ाबिल बात थी।

दूसरी ध्यान देने लायक़ हक़ीक़त, जो यक़ीनन इस महान् वर्ष की सबसे ज़्यादा मार्के की घटना थी, भारतीय नारियों में पैदा होनेवाली अद्भुत चेतना थी। जिस ढंग से लाखों स्त्रियों ने घूंघट हटा दिये और वे घरों की चहारदीवारी को छोड़कर लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर लड़ने के लिए गलियों और बाज़ारों में निकल पड़ीं, यह ऐसी चीज़ थी कि जिन लोगों ने इसे नहीं देखा वे इसपर विश्वास नहीं कर सकते थे।

तीसरी ध्यान देने लायक़ हक़ीक़त यह थी कि ज्यों-ज्यों आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया त्यों-त्यों, जहाँतक किसान-वर्ग से ताल्लुक़ था, आर्थिक हेतु अपना असर दिखाने लगा। १९३० ई० का साल महान् संसारव्यापी संकट का पहला साल था, और खेती की उपज की क़ीमतें बहुत गिर गई थीं। किसान-वर्ग को इससे बहुत नुक़सान हुआ, क्योंकि उनकी आमदनी उनकी उपज की बिक्री पर निर्भर होती है। इसलिए टैक्सबन्दी के आन्दोलन ने उनकी मुसीबत से मेल खाया, और स्वराज उनके लिए सिर्फ़ दूर की राजनीतिक मंज़िल नहीं रहा, बल्कि मौजूदा आर्थिक सवाल बन गया, और यह चीज़ ज़्यादा महत्व की थी। बस, उनके लिए इस आन्दोलन का एक नया और ज़्यादा गहरा अर्थ हो गया और

ज़मींदारों व काश्तकारों के बीच वर्ग-संघर्ष का बीज पैदा हो गया। संयुक्त प्रान्त और पश्चिमी भारत में यह बात ख़ासतौर पर हुई।

जब भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन ज़ोरों के साथ चल रहा था, तब समुद्र-पार लन्दन में ब्रिटिश सरकार ने बड़ी धूम-धाम और कैफ़ियत के साथ एक गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स बुलाई। कांग्रेस को इससे कोई वास्ता नहीं था। जो भारतीय उसमें शामिल होने को गये, वे सब सरकार के नामज़द किये हुए थे। कठ-पुतलियों की तरह, या बेजान छायामूर्तियों की तरह, वे लन्दन के उस रंगमंच पर फुदकते फिरते थे, और मन में अच्छी तरह जानते थे कि असली लड़ाई तो भारत में हो रही है। भारतवासियों की कमज़ोरियाँ दुनिया को जताने के लिए सरकार ने चर्चाओं में साम्प्रदायिक समस्या को सबसे आगे खड़ा कर दिया था। उसने यह होशियारी की थी कि कान्फ़्रेन्स के लिए हद दर्जे के सम्प्रदायवादियों और प्रगति-विरोधियों को नामज़द किया था, जिससे समझौते का कोई मौक़ा ही नहीं था।

मार्च, १९३१ ई०, में कांग्रेस और सरकार के बीच कुछ दिन के लिए सुलह या अस्थायी समझौता हुआ ताकि दोनों मिलकर आगे बातचीत कर सकें। यह 'गांधी-इर्विन समझौता' कहलाया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन कुछ दिन के लिए रोक दिया गया, और हज़ारों सत्याग्रही क़ैदी छोड़ दिये गए, और आर्डिनेन्स उठा लिये गए।

१९३१ ई० में कांग्रेस की तरफ़ से गांधीजी गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में भाग लेने के लिए लन्दन गये। इधर भारत में तीन समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, और कांग्रेस व सरकार दोनों का ध्यान उनपर अटक गया। पहली समस्या बंगाल की थी, जहाँ आतंकवादी कार्रवाइयों को रोकने के बहाने सरकार ने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के ख़िलाफ़ सख़्त धावा बोल दिया था। पहले से भी ज़्यादा सख़्त एक नया आर्डिनेन्स जारी किया गया था, और दिल्ली समझौते के बावजूद बंगाल ने नहीं जाना कि शान्ति क्या होती है।

दूसरी समस्या सीमाप्रान्त में थी, जहाँ राजनीतिक चेतना लोगों को अभी तक कार्रवाई करने के लिए मजबूर कर रही थी। ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ की रहनुमाई में एक विशाल, अनुशासनदार, पर शान्ति-पसन्द संगठन ज़ोर पकड़ रहा था। ये 'ख़ुदाई ख़िदमतगार' कहलाते थे, और इन्हें 'लाल-कुर्ती दल' भी कहते थे, क्योंकि ये लोग लाल रंग की वर्दी पहनते थे (समाजवादियों या साम्यवादियों से उनका कोई वास्ता नहीं था)। सरकार इस आन्दोलन से बहुत चिढ़ती थी। वह इससे डरती भी थी, क्योंकि वह अच्छे पठान-लड़ाकू के जौहर को जानती थी।

तीसरी समस्या संयुक्त प्रान्त में पैदा हुई। संसार-व्यापी मन्दी और क़ीमतों के गिरने से ग़रीब किसान पर बड़ी भारी मुसीबत आ गई थी। वह लगान अदा नहीं कर सकता था। उसे कुछ छूटें दी गईं, पर ये काफ़ी नहीं समझी गईं। कांग्रेस ने उसकी ओर से बीच-बचाव करने की कोशिश की, पर कोई नतीजा नहीं निकला। जब १९३१ ई० के नवम्बर में लगान वसूली का मौक़ा आया तो मामला तूल पकड़ गया। कांग्रेस ने इलाहाबाद ज़िले से शुरुआत की और काश्तकारों व ज़मींदारों दोनों को सलाह दी कि जबतक छूटों के सवाल का फ़ैसला न हो जाय तबतक वे लगान और मालगुज़ारी अदा न करें। बस, सरकार ने इसकी पेशबन्दी करने के लिए संयुक्त प्रान्त के लिए एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया। यह आर्डिनेन्स बड़ा सख्त और बड़े पैमाने पर था, जिसमें ज़िला अफ़सरों को हर तरह की हलचल को कुचलने के और व्यक्तियों की गति-विधियों तक पर रोक लगाने के पूरे अधिकार दे दिये गए थे।

इस आर्डिनेन्स के फ़ौरन बाद ही सीमाप्रान्त के लिए दो अनोखे आर्डिनेन्स निकले, और वहाँ व संयुक्त प्रान्त में नामी क़ांग्रेसी-जनों को गिरफ़्तार कर लिया गया।

बस, जब साल के आखिरी हफ़्ते में गांधीजी लन्दन से खाली हाथ लौटे, तो उनके सामने यह स्थिति खड़ी थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेन्स का राज था, और उनके कई साथी जेलों में बन्द हो चुके थे। एक ही सप्ताह के भीतर कांग्रेस ने दुबारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन की घोषणा कर दी, और उधर सरकार ने अपनी ओर से हज़ारों कांग्रेस-कमेटियों और कांग्रेस से मिले हुए ढेरों संगठनों को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया।

यह लड़ाई १९३० की लड़ाई से बहुत ज्यादा कड़ी थी। पिछले तजुर्बों से फ़ायदा उठाकर सरकार ने इसके लिए अपने-आपको बड़ी सावधानी से तैयार कर लिया था। रवादारी का पर्दा और क़ानून के रस्मी तरीक़े हटा दिये गए थे, और सारी चीज़ों को घेरनेवाले आर्डिनेन्सों के मातहत असैनिक अफ़सरों के मातहत देश भर में एक तरह के फ़ौजी शासन का बोलबाला था। राज्य की असली हैवानी ताक़त का नंगा नाच हो रहा था। यह नतीजा लाज़िमी था, क्योंकि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जाता है त्यों-त्यों वह विदेशी हुकूमत की जड़-बुनियाद को ही खतरे में डालता जाता है, और हुकूमत की तरफ़ से रुकावटी मुक़ाबला भी उतना ही खूँख्वार बनता जाता है। अमानतदारी और नेकनीयती की ढोंगी बातें ताक में रख दी जाती हैं और डण्डा व संगीन विदेशी शासन को सहारा देनेवाली असली थूनियों के रूप में सामने आते हैं। क़ानून सिर्फ़ ऊपर बैठे हुए वायसराय की ही नहीं, बल्कि हर अदना सरकारी कर्मचारी की मर्ज़ी का काम

हो जाता है और वह अपनी मनमानी करने लगता है क्योंकि वह खूब जानता है कि उसके ऊपर के अफ़सर उसे सहारा देंगे। खुफ़िया विभाग और सी० आई० डी०, ज़ारशाही रूस के ज़माने की तरह हर जगह फैल जाते हैं और उनकी शक्ति बढ़ जाती है। किसीपर कोई रोक-थाम नहीं रहती, और ज्यों-ज्यों निरंकुश सत्ता का इस्तेमाल होता है त्यों-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती जाती है। जो सरकार सबसे ज्यादा अपने खुफ़िया विभाग के वल पर हुकूमत करती है, और जो देश उसके मातहत तकलीफ़ें उठाता है, उन दोनों का चाल-चलन बहुत जल्दी गिर जाता है। क्योंकि हर खुफ़िया विभाग साज़िश, जासूसी, मक्कारियों, आतंकवाद, लोगों को भड़काना, झूठे मामले बनाना, डरा-धमकाकर रुपया ऐंठना, वग़ैरा की फ़िज़ा में खूब मज़े से फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षों में अदना सरकारी कर्मचारियों को और पुलिस को और सी० आई० डी० को, जो वेहद अधिकार दे दिये गए, और जिस तरह इनका इस्तेमाल किया गया, उसकी वजह से इन विभागों के लोग दिन-पर-दिन ज्यादा हैवान वनते गये और नीचे गिरते गये। इनका मक़सद था देश में आतंक फैलाना।

मैं ब्यौरे में नहीं जाना चाहता। इस मौक़े पर सरकार की नीति का एक मज़ेदार पहलू था संगठनों व व्यक्तियों, दोनों की जायदादों, मकानों, मोटरों, बैंकों में जमा रुपयों, वग़ैरा की चारों तरफ़ ज़ब्ती। इसका मतलब था कांग्रेस के मध्यम-वर्गी मददगारों पर चोट करना। एक आर्डिनेन्स का मामली पर निराला पहलू यह था कि माता-पिताओं और अभिभावकों को उनके बच्चों या पालितों के क़सूरों के लिए सज़ा दी जा सकती थी!

इधर तो ये सबकुछ हो रहा था, और उधर ब्रिटिश सरकार के प्रचार के सारे साधन दुनिया के सामने भारत की लुभावनी तसवीर खींचने में लगे हुए थे। खुद भारत में तो कोई भी अखबार, बुरा नतीजा भुगतने के डर से, सच्ची बातें छापने की हिम्मत नहीं करता था—यहाँतक कि गिरफ़्तार किये गए व्यक्तियों के नाम छापना भी जुर्म था!

लेकिन भारत के तमाम सबसे ज्यादा प्रगति-विरोधी तत्वों के साथ गठ-बन्धन करने का यत्न भारत में ब्रिटिश नीति का सबसे ज्यादा भण्डा फोड़नेवाला पहलू रहा है। आज भारत में ब्रिटिश साम्राज्य प्रगति के बलों से लड़ने के यत्न में सामन्ती व परले सिरे के प्रगति-विरोधी बलों के सहारे खड़ा है। अंग्रेज़ों ने अपने सहारे के लिए 'निहित स्वार्थों' को एक झण्डे के नीचे लाने का यत्न किया है, और उन्हें यह हौवा वताकर डराया है कि अगर भारत से ब्रिटिश सत्ता उठ जायगी तो समाजी क्रान्ति हो जायगी। सामन्ती राजा लोग उनके वचाव की पहली क़तार हैं; इनके बाद ज़मींदार वर्गों की क़तार हैं। चालाक तिकड़में

करके और कट्टर सम्प्रदायवादियों को आगे धकेलकर, उन्होंने अल्पसंख्यकों की समस्या को भारत की आज़ादी के रास्ते में एक बाड़ बना दिया है। हाल ही में मन्दिर-प्रवेश के सवाल पर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं में परले सिरे के कट्टर-पन्थियों के साथ हर तरह की हमदर्दी और दिली उल्फ़त दिखाकर बड़ा अजीब नज़ारा पेश कर दिया था। ब्रिटिश सरकार हर जगह प्रगति-विरोधियों में, और तंग-नज़र कट्टरपन्थियों में और गुमराह स्वार्थियों में अपना सहारा ढूंढ़ती रहती है।

जनता की सामूहिक लड़ाई में एक बड़ा भारी फ़ायदा होता है। जनता को राजनीति का पाठ पढ़ाने का यह सबसे बढ़िया और सबसे जल्दी का तरीक़ा है, हालांकि है शायद सख्त। क्योंकि जनता को "बड़ी घटनाओं के स्कूल में पाठ पढ़ना" ज़रूरी होता है। शान्ति-काल की साधारण राजनीतिक हलचलें, मसलन लोकतन्त्री देशों के चुनाव, औसत आदमी को अक्सर भ्रम में डाल देते हैं। लच्छेदार भाषणों की बाढ़-सी आ जाती है। हर उम्मीदवार तरह-तरह के सब्ज़ बाग़ दिखाता है, और बेचारा मतदाता, या खेत में या कारखाने में या दूकान पर काम करनेवाला मामूली आदमी, चक्कर में पड़ जाता है। उसे एक दल और दूसरे दल के बीच अलहदगी की कोई साफ़ लकीरें नहीं दिखाई देतीं। पर जब जनता की लड़ाई होती है, या क्रान्ति होती है, तो असली हालत साफ़ सामने आ जाती है, मानो बिजली कौंध उठी हो। संकट की ऐसी नाजुक घड़ियों में समुदाय या वर्ग या व्यक्ति अपने असली भावों को या स्वरूप को छिपा नहीं सकते। सचाई ज़ाहिर ही होकर रहती है। क्रान्ति का ज़माना सिर्फ़ चरित्र, साहस, धीरज और बे-स्वार्थीपन की ही कसौटी नहीं होता, बल्कि वह जुदा-जुदा वर्गों और गिरोहों की उन आपसी असली टकराहटों को भी ज़ाहिर कर देता है, जो तबतक लुभावने और गोलमोल फ़िक़रों से ढकी हुई थीं।

भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन रहा है; वह वर्ग-संघर्ष कभी नहीं हुआ। और वह तो साफ़तौर पर मध्यम-वर्गी आन्दोलन रहा है, जिसे किसान-वर्ग ने सहारा दिया है। इसलिए वह वर्गों को इस तरह अलग नहीं कर सका जैसा कि वर्ग-आन्दोलन ने किया होता। पर फिर भी इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भी कुछ हदतक जुदा-जुदा वर्गों की अलग-अलग क़तारें बन गईं। इनमें से सामन्ती राजाओं, ताल्लुक़ेदारों, बड़े ज़मींदारों, वग़ैरा के कुछ वर्ग पूरी तरह सरकार की क़तार में चले गये। उन्होंने अपने वर्ग-हित को राष्ट्रीय आज़ादी पर तरजीह दी।

कांग्रेस की रहनुमाई में राष्ट्रीय आन्दोलन की तरक़्क़ी की वजह से किसान जनता कांग्रेस के साथ हो गई, और बहुत-से बोझों से छुटकारा पाने के लिए

कांग्रेस की ओर देखने लगी। इससे कांग्रेस की शक्ति बहुत बढ़ गई, और साथ ही उसका नज़रिया भी जनता का हो गया। नेतागिरी तो मध्यम-वर्ग के पास ही बनी रही, पर नीचे से दबाव के सबब से वह मुलायम पड़ गया और कांग्रेस दिन-पर-दिन किसानों की व समाजी समस्याओं पर ज़्यादा ध्यान देने लगी। समाजवाद की तरफ़ भी धीरे-धीरे उसका झुकाव बढ़ने लगा। कराची-कांग्रेस ने १९३१ ई० में बुनियादी अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रम का जो महत्ववाला प्रस्ताव पास किया, उससे यह चीज़ साफ़ हो गई। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि विधान में कुछेक जाने-माने लोकतन्त्री अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की, और अल्पसंख्यकों के हक़ों की भी गारण्टी होनी चाहिए। इसमें यह भी कहा गया था कि मुख्य व बुनियादी उद्योगों और सेवाओं पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। स्वाधीनता के लिए लड़ाई का अर्थ अब ऐसी चीज़ हो गया जो राजनीतिक आज़ादी से बहुत ज़्यादा थी, और अब इसमें समाजी बातें भी शामिल कर दी गईं। जनता की ग़रीबी और शोषण का अन्त करने का सवाल असली सवाल बन गया और स्वाधीनता इस मंज़िल पर पहुँचने का ज़रिया बन गई।

जिस समय भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, और हज़ारों राजनीतिक कार्यकर्त्ता जेलों में बन्द थे, तब ब्रिटिश सरकार ने भारत में संविधानी सुधारों के बारे में अपने प्रस्ताव पेश किये। इनमें प्रान्तीय स्व-शासन का एक बाड़दार रूप सुझाया गया था, और ऐसे संघ का सुझाव था, जिसमें सामन्ती राजा लोगों की ही तूती बोलती। इन प्रस्तावों में सरकार ने वे सब बन्दिशें रख दी थीं, जिनकी ईजाद आदमी की अक़्ल कर सकती है, ताकि अंग्रेज़ लोग न सिर्फ़ अपने स्वार्थ साधते रहें, बल्कि भारत पर उनका तिहरा—सैनिक, असैनिक और तिजारती—क़ब्ज़ा भी मज़बूत हो जाय। हर निहित स्वार्थ की पूरी तरह रक्षा की गई थी, और सबसे बड़ा स्वार्थ, यानी इंग्लैण्ड का स्वार्थ, तो बख़ूबी बचाया गया था। हाँ, मालूम होता था कि नज़र-अन्दाज़ किया गया है सिर्फ़ भारत के क़रीब पैंतीस करोड़ निवासियों के हितों को! इन प्रस्तावों पर भारत में विरोध का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ।

बरमा को मैंने अबतक बिलकुल छोड़ रक्खा है, इसलिए अब उसके बारे में कुछ लिखूंगा। बरमा के लोगों ने १९३० या १९३२ ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। मगर १९३० व १९३१ ई० में आर्थिक मुसीबतों की वजह से उत्तर बरमा में किसानों का बड़ा भारी विद्रोह हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इस विद्रोह को बड़े वहशियाना जुल्म करके दबा दिया। अब राजनीतिक लिहाज़ से बरमा को भारत से अलग करने के यत्न किये जा रहे हैं, ताकि अगर भारत आज़ादी हासिल कर ले तो भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही बरमा का शोषण

करती रहे। बरमा के तेल और इमारती लकड़ी और खनिज साधनों के सबब से उसका महत्व बहुत ज्यादा है।

टिप्पणी (अक्तूबर १९३८):

जब साढ़े पाँच वर्ष पहले जेल में यह पत्र लिखा गया था तब से अबतक भारत में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं। उस समय सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चल तो रहा था, पर उसका रूप बहुत हलका हो गया था और बहुत से कांग्रेसजन जेलों में पड़े थे। अपनी हज़ारों कमेटियों और जुड़ी हुई संस्थाओं समेत कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी गई थी। १९३४ ई० में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन बन्द कर दिया और सरकार ने कांग्रेस पर लगाई गई रोक उठाली। कांग्रेस ने कौन्सिलों के बायकाट की अपनी पुरानी नीति बदल दी और केन्द्रीय विधान-सभा के चुनाव लड़कर उनमें काफ़ी कामयाबी हासिल की।

१९३५ ई० में, बड़ी लम्बी बहस के बाद, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट पास किया, जिसमें भारत के लिए नया संविधान तय किया गया था। इसके मातहत कई तरह की पाबन्दियों के साथ किसी हद तक प्रान्तीय स्व-शासन दिया गया था, और प्रान्तों व देशी रियासतों का एक संघ रक्खा गया था। भारत में इस क़ानून का चारों ओर से विरोध हुआ, और कांग्रेस ने इसे ठुकरा दिया। गवर्नरों व वायसराय के हाथों में दी गई पाबन्दियाँ और 'विशेष शक्तियों' पर ख़ासतौर से ऐतराज़ किया गया, क्योंकि इनसे प्रान्तीय स्व-शासन का असली तत्व ही निकल जाता था। संघ का और भी ज़ोरों के साथ विरोध किया गया, क्योंकि इसमें देशी रियासतों का निरंकुश राज सदा के लिए क़ायम रहता था, और सामन्ती व निरंकुश सत्तावाली ईकाइयों और आधे-लोकतन्त्री प्रान्तों के बीच एक नाकारा गठ-जोड़ा बनता था। इसको भारत की राजनीतिक व समाजी प्रगति का गला घोंटने का, और सीधे तौर पर व सामन्ती राजा लोगों के ज़रिये, ब्रिटिश साम्राज्यशाही का पंजा मज़बूत करने का, नपा-तुला प्रयत्न समझा गया। एक साम्प्रदायिक तरक़ीब भी इस नये संविधान का अंग थी, और इससे बहुत-से पृथक निर्वाचक मण्डल पैदा हो जाते थे। कुछ अल्पसंख्यकों ने इसका स्वागत किया, क्योंकि उनको कुछ हद तक इससे फ़ायदा पहुँचता था, लेकिन इस बिना पर सबने इसे बुरा बताया कि यह लोकतन्त्री उसूलों के ख़िलाफ़ था और प्रगति को रोकनेवाला था।

इस क़ानून का प्रान्तीय स्व-शासन से ताल्लुक़ रखनेवाला हिस्सा १९३७ ई० के शुरू में लागू कर दिया गया, और इसके मुताबिक़ सारे भारत में आम चुनाव हुए। हालाँकि कांग्रेस ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था, पर उसने इन

चुनावों में शरीक होने का फ़ैसला किया और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चुनाव का ज़ोरदार और चौतरफ़ा हल्ला बोल दिया। सारे प्रान्तों में से बहुत ज्यादा प्रान्तों में कांग्रेस को ज़बर्दस्त सफलता मिली और ज्यादातर नये प्रान्तीय विधान मण्डलों में कांग्रेस-जनों के बहुमतवाले दल बन गये। अब इस सवाल पर गर्मा-गर्म बहस हुई कि प्रान्तीय हुकूमतों में इन्हें मन्त्रियों की कुर्सियाँ लेनी चाहिए या नहीं। निदान कांग्रेस ने कुर्सियाँ लेने का फ़ैसला किया, पर यह ज़ाहिर कर दिया कि स्वाधीनता का पुराना मुद्दा और पुरानी नीति बरक़रार हैं और उसने इसी नीति को आगे बढ़ाने के इरादे से और स्वाधीनता की लड़ाई के लिए देश को बलवान बनाने के इरादे से, कुर्सियों पर बैठना क़बूल किया है। उसने यह भी जतला दिया कि गवर्नरों को पावन्दियाँ लगाने का अधिकार काम में नहीं लाना चाहिए।

इस फ़ैसले के नतीजे से इन सात प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने—बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त, उड़ीसा, और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त। असम में कुछ दिन बाद कांग्रेस ने मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया। जिन दो प्रान्तों में ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल थे, वे बंगाल और पंजाब थे।

कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के बनने के बाद राजनीतिक क़ैदी रिहा कर दिये गए, और उन प्रान्तों में नागरिक स्वतन्त्रता पर लगी हुई पावन्दियाँ हटा दी गईं। जनता ने इस परिवर्तन का स्वागत किया और अपनी हालत में जल्दी सुधार होने का बेताबी से इन्तज़ार करने लगी। जनता में राजनीतिक चेतना तेज़ी से बढ़ गई और किसानों व मज़दूरों के आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे। बहुत-सी हड़तालें हुईं। मन्त्रि-मण्डलों ने किसान-वर्ग का बोझ हलका करने के लिए आराज़ी व क़र्ज़ों के क़ानून बनाने का काम फ़ौरन हाथ में ले लिया और कारख़ानों के मज़दूरों की हालत सुधारने की कोशिश की। उन्होंने कुछ-न-कुछ किया ज़रूर, पर वे ऐसी परिस्थिति में थे और क़ानून की ऐसी बन्दिशों के भीतर काम चला रहे थे कि दूर तक असर करनेवाले कोई भी परिवर्तन शुरू नहीं कर सकते थे।

कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों और गवर्नरों के बीच बार-बार टक्करें हुईं, और दो मौक़ों पर तो मन्त्रियों ने अपने इस्तीफ़े भी पेश कर दिये। इन इस्तीफ़ों की मंजूरी का नतीजा यह होता कि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच गहरी मुठभेड़ हो जाती। सरकार यह नहीं चाहती थी, इसलिए मन्त्रियों की राय मान ली गई। पर फिर भी हक़ीक़त में स्थिति डाँवा-डोल है और दोनों की टक्करें लाज़िमी हैं। कांग्रेस के लिए तो यह एक चलती-फिरती छाया है, और स्वाधीनता ही उसका मुद्दा बना हुआ है।

अगर ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से भारत को ज़बर्दस्ती संघ बनाने की

कोशिश की गई तो बड़ी मुठभेड़ बहुत जल्दी हो सकती है। कट्टर विरोध की वजह से अभी तक तो ऐसा नहीं किया गया है। कांग्रेस आज इतनी ज्यादा ताक़तवर हो गई है जितनी अपनी ज़िन्दगी में वह पहले कभी नहीं हुई; इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसने फ़ैसला कर लिया है कि संघ के सवाल पर नहीं झुकेगी। कांग्रेस की माँग है कि बालिग़ मताधिकार से चुनी हुए संविधान-सभा बनाई जाय, जो आज़ाद भारत के संविधान की रचना करे।

भारत में साम्प्रदायिक समस्या ने फिर सिर उठाया है और इसकी वजह से रगड़े-झगड़े पैदा हो गये हैं। मगर कुछ ऐसे आसार हैं कि आर्थिक व समाजी सवाल सबसे आगे आ जायें और साम्प्रदायिक व मज़हबी भेदभावों की ओर से ध्यान हटा दें।

भारत में जनता की चेतना देशी रियासतों में भी फैलने लगी है, और बहुत-सी रियासतों में उत्तरदायी शासन की माँग करनेवाले ज़ोरदार आन्दोलन बढ़ रहे हैं। बड़ी-बड़ी रियासतों में मैसूर, कश्मीर और त्रावनकोर के नाम लिये जा सकते हैं। रियासती अधिकारियों ने इन माँगों का जवाब ज़ालिमाना दमन और हिंसा से दिया है, खासकर त्रावनकोर में तो यह हाल ही की बात है। इनमें से बहुत-सी अर्ध-सामन्ती रियासतों (मसलन कश्मीर) के राज-काज की बागडोर अंग्रेज़ अफ़सरों के हाथों में है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान भारत अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दिन-पर-दिन ज्यादा दिलचस्पी लेता रहा है और अपनी खुद की समस्या को संसार की समस्या के लिहाज़ से देखने की कोशिश करता रहा है। अबीसीनिया, स्पेन, चीन, चेकोस्लोवाकिया और फ़िलस्तीन की घटनाओं ने भारतवासियों के दिलों पर गहरा असर डाला है, और कांग्रेस की विदेशी नीति धीरे-धीरे बनने लगी है। यह नीति शान्ति की और लोकतन्त्र के समर्थन की है। वह जितना साम्राज्यवाद का विरोध करती है उतना ही फ़ासीवाद का भी।

१९३७ ई० में बरमा भारत से अलग कर दिया गया। उसे भी एक विधान सभा दे दी गई है, जो भारत की प्रान्तीय विधान-सभाओं से मिलती-जुलती है।

: १६३ :

मिस्र आज़ादी के लिए जूझता है

२० मई, १९३३

अब हम मिस्र की चर्चा करेंगे और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता व साम्राज्यशाही शक्ति के बीच एक और लड़ाई के दौर पर निगाह डालेंगे। यह शक्ति

भारत की तरह मिस्र में भी इंग्लैण्ड ही है। कई बातों में मिस्र भारत से बहुत जुदी तरह का है, और इंग्लैण्ड को वहाँ अड्डा जमाये बहुत ज़माना नहीं हुआ है। फिर भी दोनों देशों में कई समान बातें और समान सूरतें हैं। भारत व मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने अलग-अलग तरीक़े अपनाये हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर आज़ादी की उमंग एक-सी ही है और मुद्दा भी एक-सा ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने की कोशिशों में साम्राज्यशाही जिस ढंग से काम करती है, वह भी बहुत-कुछ एक-सा है। हम दोनों एक दूसरे के तजुर्बों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हम भारतवासियों के लिए तो यह ख़ास नसीहत की चीज़ है, क्योंकि मिस्र की मिसाल में हम देख सकते हैं कि अंग्रेज़ों का 'आज़ादी' बख्शना क्या अर्थ रखता है और उसका क्या नतीजा होता है।

सारे अरबी देशों (अरब, इराक़, सीरिया, फ़िलस्तीन) में मिस्र सबसे ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच बड़ा राजमार्ग और स्वेज़ नहर तैयार होने के समय से ही भाप के जहाज़ों का बड़ा तिजारती रास्ता रहा है। उन्नीसवीं सदी के नये यूरोप के साथ इसका सम्पर्क पश्चिमी एशिया के किसी भी देश के मुक़ाबले में बहुत ही ज़्यादा रहा है। यह बहुत ही ख़ास क़िस्म की राष्ट्रीय इकाई है, जो दूसरे अरबी देशों से बिलकुल अलग है, पर जिसका संस्कृति के मामले में उनके साथ बहुत गहरा रिश्ता है; क्योंकि इन सबकी भाषा, दस्तूर व मज़हब एक ही हैं। क़ाहिरा के दैनिक अख़बार सारे अरबी देशों में पहुँचते हैं और वहाँ इनका बड़ा भारी असर है। इन तमाम देशों में से मिस्र में ही पहले-पहल राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ल बनी, इसलिए यह लाज़िमी ही था कि मिस्री राष्ट्रीयता दूसरे अरबी देशों के लिए नमूना बन जाय।

मिस्र के बारे में अपने सबसे पिछले पत्र में मैंने अरबी पाशा की रहनुमाई में १८८१-८२ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन का ज़िक्र किया था और बताया था कि इंग्लैण्ड ने इसे किस तरह कुचल दिया। मैं शुरू के सुधारकों का, जमालुद्दीन अफ़ग़ानी का, और शरीअत के पाबन्द इस्लाम पर नई विचारधाराओं की टक्कर का ज़िक्र भी कर चुका हूँ। इन सुधारकों ने पुराने उसूलों का सहारा लेकर और दीन से चिपकी हुई बहुत-सी बुराइयों को हटाकर, यानी उन चीज़ों को हटाकर जो सदियों के दौरान मज़हब के साथ जुड़ जाती हैं, इस्लाम का ज़माने की रफ़्तार के साथ मेल बिठाने की कोशिश की। प्रगति-पसन्द लोगों का अगला क़दम था मज़हब को समाजी रस्मों से अलग करना। पुराने मज़हबों का कुछ ढंग है कि वे हमारी रोज़ाना ज़िन्दगी के हर पहलू को घेर लेते हैं और उसे क़ायदों के मुताबिक़ चलाते हैं। इस तरह हिन्दूधर्म ने और इस्लाम ने, अपने-अपने खरे मज़हबी उपदेशों से बिलकुल जुदा, विवाह, उत्तराधिकार, दीवानी व फ़ौजदारी

क़ानून, राजनीतिक ढाँचा और वास्तव में लगभग हर बात के लिए, समाजी ज़ाब्ते व क़ायदे तय कर दिये हैं। दूसरे शब्दों में, इन्होंने समाज के लिए पूरा ढाँचा तय कर दिया है और उसे मज़हब की सनद व सत्ता देकर हमेशा क़ायम रखने की कोशिश की है। हिन्दूधर्म तो अपनी बेलोच वर्ण-व्यवस्था से इस मामले में हद दर्जे को पहुँच गया है। किसी समाजी ढाँचे को यों मज़हब के नाम पर सदा के लिए क़ायम कर देने से फिर कोई परिवर्तन मुश्किल हो जाता है। इसलिए, दूसरे देशों की तरह मिस्र के प्रगति-पसन्द लोगों ने भी मज़हब को समाजी ढाँचे और रस्मों से अलगाने की कोशिश की। उन्होंने यह दलील दी कि ये पुरानी रस्में, जिन्हें मज़हब या रिवाज ने गुज़रे ज़माने में लोगों पर लाद दिया था, उन हालतों के लिए बेशक उचित और मौज़ूं थीं, जो धर्म पुस्तकों के ज़माने में चालू थीं। पर अब ये हालतें बहुत बदल गई थीं और पुरानी रस्में इनके साथ मेल नहीं खाती थीं। साधारण सहज बुद्धि हमें बतलाती है कि बैलगाड़ी के लिए बनाया गया क़ायदा मोटर गाड़ी या रेलगाड़ी पर लागू नहीं हो सकता।

इन प्रगति-पसन्द लोगों व सुधारकों की यही दलील थी। इसके नतीजे में राज्य को व बहुतेरी रस्मों को दिन-पर-दिन ज्यादा ग़ैर-मज़हबी बना दिया गया, यानी उन्हें मजहब से अलग कर दिया गया। जैसा कि हम देख चुके हैं, तुर्की में रफ़्तार हद दर्जे तक पहुँच गई है। तुर्की गणराज्य का राष्ट्रपति तो अपने पद की शपथ भी ख़ुदा के नाम पर नहीं लेता; अपनी ईमानदारी के नाम पर लेता है। मिस्र में मामला इस हद तक तो नहीं पहुँचा, पर वहाँ व दूसरे इस्लामी देशों में इसी क़िस्म का झुकाव काम कर रहा है। तुर्की, मिस्र, सीरिया, ईरान, वग़ैरा के लोग आज मज़हब की पुरानी बातों की बनिस्बत राष्ट्रीयता की नई बातों पर ही ज्यादा ज़ोर देते हैं। भारत को एक राष्ट्र बनाने की इस रफ़्तार को रोकने की भारतीय मुसलमानों ने जितनी कोशिश की है, उतनी दुनिया के मुसलमानों की किसी और बड़ी जमात ने नहीं की। इसलिए भारत के मुसलमान इस्लामी देशों के अपने सहधर्मियों के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा दक़ियानूसी और मज़हबी रंग में रँगे हुए हैं। यह एक विचित्र और मार्के की हक़ीक़त है। नई राष्ट्रीयता अक़्सर करके पूंजीवादी आर्थिक ढाँचे के मातहत मध्यम-वर्गों के विकास के साथ-ही-साथ चलती आई है। भारत के मुसलमान इन मध्यम-वर्गों का विकास करने में पिछड़ गये हैं, और इस कमी ने शायद राष्ट्रीयता की ओर उनकी गति में रुकावट डाल दी है। यह भी सम्भव है कि भारत का एक अल्पसंख्यक समुदाय होने के नाते उनकी भय की भावना इतना ज़ोर पकड़ गई है कि वे ज्यादा दक़ियानूसी बन गये, पुराने दस्तूरों के साथ ज्यादा बँध गये हैं, और नई बातें पसन्द करनेवाली रायों व विचारों को सन्देह की नज़र से देखने लगे हैं। इसलिए लगभग एक हज़ार वर्ष पहले जब भारत में मुसलमानों के हमले शुरू हुए, तब कुछ इसी प्रकार की मनोदशा के

सबब से हीं हिन्दू लोग अपने खोलों में घुस गये होंगे और जात-पांत में खूब मज़बूती के साथ जकड़-बन्द समुदाय बन गये होंगे।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों में और इनके बाद के समय में, विदेशी व्यापार की बढ़ोतरी के साथ मिस्र में एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया। इस वर्ग का एक व्यक्ति सअ़द ज़ग़लूल था, जिसका जन्म 'फ़लाह' या किसान-परिवार में हुआ था और जो तरक़्क़ी करके इस वर्ग में आ गया था। जब अरबी पाशा १८८१-८२ ई० में ब्रिटिश सरकार के मुक़ाबले में खड़ा हो गया था, तब ज़ग़लूल नौजवान था और उसने अरबी पाशा के मातहत काम किया था। तबसे लगाकर १९२७ ई० में अपनी मृत्यु तक, ज़ग़लूल ने मिस्र की आज़ादी के लिए काम किया, और वह मिस्र के स्वाधीनता-आन्दोलन का नेता बन गया। वह मिस्र का सबका माना हुआ नेता था। जिस किसान-वर्ग में उसका जन्म हुआ था, उनका यह बहुत प्यारा था, और जिन मध्यम-वर्गों का वह आदमी था वे उसकी पूजा करते थे। पर नामधारी रईस-वर्ग, यानी पुराना सामन्ती ज़मींदार-वर्ग, उसे पसन्द नहीं करता था। वे लोग उठते हुए मध्यम-वर्ग को पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि यह देहात में उनकी प्रभुता को धीरे-धीरे छीनता जा रहा था। उनकी निगाह में ज़ग़लूल कल का छोकरा था, और इसे एक नेता की हैसियत से और अपने वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से उनके खिलाफ़ लड़ना पड़ता था। भारत की तरह यहाँ भी ब्रिटिश सरकार ने इसी सामन्ती ज़मींदार-वर्ग में अपना पाया तलाश करने की कोशिश की। असल में यह वर्ग मिस्री की बनिस्बत तुर्की ज़्यादा था, और पुराने शासक अमीर-वर्ग का प्रतिनिधि था।

इस तरह ब्रिटिश सरकार ने मिस्र में, साम्राज्यशाही के माने हुए और जँचे-जँचाये ढंग से, किसी-न-किसी समाजी जमात या राजनीतिक तबक़े को अपने साथ जोड़ लेने का यत्न किया, और जुदा-जुदा वर्गों व तबक़ों को एक दूसरे से लड़ाकर देश में सच्ची राष्ट्रीयता के विकास में रुकावटें डाल दीं। भारत की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ों ने अल्पसंख्यकों का सवाल खड़ा करने की कोशिश की, क्योंकि मिस्र में ईसाई कॉप्ट लोग अल्प संख्या में थे। पर इसमें यह सफल नहीं हुए। और यह सबकुछ उसी माने हुए ढंग से किया गया; उनकी ज़बान पर व्यंगभरे शब्द थे और यह बहाना था कि जो कुछ वे करते थे वह सब दूसरों की भलाई के लिए था। वे अपनेको 'मूक जनता' का 'अमानतदार' बतलाते थे, और कहते थे कि अगर 'फ़िसादी' या ऐसे ही दूसरे लोग, जिनका "देश के नफ़े-नुक़सान से कोई वास्ता नहीं", गड़बड़ न करें तो सब काम ठीक हो जाय। संयोग की बात है कि भलाइयाँ बख़्शने की इस रफ़्तार का बहुत करके यह रूप बना कि जिन लोगों की भलाई की गई, उनमें बहुतों को गोलियों से भून दिया गया। शायद

इस तरह उन्हें दुनिया की मुसीबतों से छुटकारा दिला दिया गया, और बहुत जल्दी स्वर्ग पहुँचा दिया गया!

युद्ध के दौरान शुरू से आख़ीर तक और बाद में भी बहुत समय तक मिस्र फ़ौजी क़ानून के मातहत रहा। युद्ध के ज़माने में वहाँ एक तो बेहथियार करने का क़ानून और दूसरा जबरन् फ़ौज में भर्ती का क़ानून पास किये गए थे। सारे देश में ब्रिटिश सिपाही भरे थे। युद्ध के शुरू में ही मिस्र को इंग्लैण्ड की सरपरस्ती-वाली रियासत क़रार दिया गया था।

१९१८ ई० में सुलह होते ही मिस्र के राष्ट्रवादी फिर तेज़ हो गये और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को और पेरिस के सुलह-सम्मेलन को पेश करने के लिए मिस्र की स्वाधीनता का दावा तैयार किया। उस वक़्त मिस्र में दलों की कोई हस्ती नहीं थी। 'वतनी' नामक एक राजनीतिक दल था, जिसके सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। मिस्र की स्वाधीनता की पैरवी के लिए सअद ज़गलूल पाशा की निगरानी में एक बड़े प्रतिनिधि-मण्डल को लन्दन व पेरिस भेजे जाने का प्रस्ताव किया गया, और इस प्रतिनिधि-मण्डल को मज़बूत करने और राष्ट्रीय रूप देने के लिए देशव्यापी संगठन बनाया गया। मिस्र के बड़े वफ़्द दल का मूल यही था क्योंकि 'वफ़्द' का अर्थ प्रतिनिधि-मण्डल होता है। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रतिनिधि-मण्डल को लन्दन जाने की इजाज़त नहीं दी और १९१९ ई० के मार्च में ज़ग़लूल व दूसरे नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया।

इस कारण से ख़ूनी क्रान्ति भड़क उठी। कुछ अंग्रेज़ मारे गये, और क़ाहिरा शहर व दूसरे केन्द्र क्रान्तिकारी समिति के हाथों में चले गये। कई जगह राष्ट्रवादियों की जन-सुरक्षा समितियाँ बन गईं। इस बग़ावत में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने बड़ा भारी हिस्सा लिया। पर इन शुरू की सफलताओं के बावजूद यह बग़ावत बहुत हद तक दबा दी गई। हालांकि कभी-कदास अंग्रेज़ अमलदार मारे जाते रहे और तेज़ विद्रोह दब गया था, पर आन्दोलन कुचला नहीं जा सका। उसने अपने पैंतरे बदल दिये और निष्क्रिय प्रतिरोध के दूसरे दौर में क़दम रक्खा। यह इतना सफल रहा कि ब्रिटिश सरकार मिस्र की माँग पूरी करने के लिए कुछ क़दम उठाने पर मजबूर हो गई। लॉर्ड मिलनर की निगरानी में इंग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्र के राष्ट्रवादियों ने इस कमीशन का बायकाट करने का फ़ैसला किया, और इसमें उन्हें मार्के की सफलता मिली। मिलनर-कमीशन के बायकाट में विद्यार्थियों ने फिर बहुत बड़ा भाग लिया। इस राष्ट्र-व्यापी प्रतिरोध का कमीशन पर इतना गहरा असर पड़ा कि उसने कुछ ऐसी सिफ़ारिशें कर डालीं, जिनका नतीजा बहुत दूर तक पहुँचता था। ब्रिटिश सरकार ने इस सिफ़ारिशों की परवाह नहीं की, और मिस्र की आज़ादी के लिए लड़ाई

१९१९ ई० के शुरू से लगाकर १९२२ ई० के शुरू तक, तीन साल चलती रही। मिस्री लोग 'इस्तिक़लाल-अल-ताम' यानी पूरी स्वाधीनता से कम कोई चीज़ लेने को तैयार नहीं थे।

गिरफ़्तार होने के कुछ दिन बाद, १९१९ ई० में, ज़ग़लूल पाशा को रिहा कर दिया गया। पर दिसम्बर, १९२१ ई० में उसे फिर गिरफ़्तार कर लिया गया और देश-निकाला दे दिया गया। पर अंग्रेज़ों की निगाह में इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ और मिस्रवासियों को ठण्डा करने के लिए उन्हें कुछ कार्रवाई करने को मजबूर होना पड़ा। हालांकि ज़ग़लूल कोई हठधर्मी गर्म-ख़्याली नहीं था, पर राज़ीनामे के सब प्रयत्न विफल हो गये। सच तो यह है कि कुछ लोगों ने एक बार ज़ग़लूल की हत्या तक की कोशिश की, क्योंकि वे उसपर यह आरोप लगाते थे कि उसने अंग्रेज़ों के साथ ढीले-ढाले राज़ीनामे की कोशिश करके अपने देश के साथ दग़ा की है। पर उस वक़्त ब्रिटिश सरकार व मिस्री राष्ट्रवादियों के एकमत न हो सकने के असली सबब बुनियादी थे और अबतक भी चले आते हैं। वे सबब उन सबबों से मिलते-जुलते हैं, जो भारत में समझौता नहीं होने दे रहे हैं। मिस्री लोग मिस्र में सारे ब्रिटिश हितों को नामंज़ूर नहीं करना चाहते थे। वे इन पर बातचीत करने के लिए, और साम्राज्यव्यापी व्यापार, जंगी महत्व के रास्तों व दूसरे मामलों पर इंग्लैण्ड के हितों की गुंजायश रखने को तैयार थे। लेकिन उनका कहना था कि वे इन सवालों पर बातचीत तभी करेंगे जब उनकी पूरी स्वाधीनता मान ली जायगी, और इन सवालों का इस स्वाधीनता पर कोई बुरा असर न पड़ेगा। दूसरी ओर इंग्लैण्ड का ख़याल था कि मिस्र को कितनी आज़ादी दी जाय यह तय करना उसका काम है। और यह आज़ादी भी इंग्लैण्ड के हितों के अन्तर्गत होनी चाहिए, क्योंकि इन हितों की हिफ़ाज़त सबसे पहली चीज़ थी।

इसलिए दोनों के बीच समझौते का कोई दुतरफ़ा आधार नहीं था। मगर ब्रिटिश सरकार ने महसूस किया कि कुछ-न-कुछ तो किया जाना लाज़िमी है, इसलिए उसने २८ फ़रवरी, १९२२ ई०, को बिना किसी समझौते के ही एक घोषणा कर दी। उसने बयान दिया कि आगे से वह मिस्र को 'स्वाधीन प्रभु राज्य' मानेगी, मगर—और यह बड़ा भारी मगर था—चार बातें आगे ग़ौर करने के लिए हाथ में रख ली गईं। ये थीं :

१. मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के आवा-जाई के साधनों की सुरक्षा।
२. सीधे या तिरछे विदेशी हमले या दख़लन्दाज़ी से मिस्र का बचाव।
३. मिस्र में विदेशी हितों की और अल्पसंख्यकों की हिफ़ाज़त।
४. सूदान के भविष्य का सवाल।

ये शर्तें उन शर्तों की ख़ानदानी बहनों-जैसी लगती हैं, जो भारत पर लगाई

जाती हैं। हम इन्हें 'सुरक्षण'[1] कहते हैं, और यहाँ इनका कुनबा बहुत बड़ा है। मिस्र ने इन शर्तों को मंजूर नहीं किया, क्योंकि वैसे तो ये सीधी-सादी और भोली-भाली नज़र आती थीं, पर इनका अर्थ यह था कि मिस्र को, न तो घरेलू मामलों में और न विदेशी मामलों में, कोई असली स्वाधीनता मिलनेवाली थी। इसलिए २८ फ़रवरी, १९२२ ई०, की घोषणा ब्रिटिश सरकार की एकतरफ़ा कार्रवाई थी, जिसे मिस्र ने नहीं माना। शर्तों और सुरक्षणों के साथ स्वाधीनता का भी क्या अर्थ हो सकता है, यह आगे के वर्षों में मिस्र में खूब अच्छी तरह ज़ाहिर हो गया।

इस 'स्वाधीनता' के बावजूद ब्रिटिश अफ़सरों की मातहती में फ़ौजी क़ानून डेढ़ साल और लागू रहा। इसका अन्त तभी हुआ जब मिस्र की सरकार ने एक बरियत का क़ानून पास किया, यानी तमाम सरकारी कर्मचारियों को फ़ौजी क़ानून के ज़माने में की गई सारी ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाइयों की ज़िम्मेदारी से बरी करने का क़ानून बनाया।

नये 'स्वाधीन' मिस्र को बहुत ही उलटी चाल का संविधान भेंट किया गया, जिसमें बादशाह के हाथों में बड़ी भारी शक्तियाँ थीं। यह बादशाह फ़ुआद था, जो बेचारे मिस्रियों के सिर पर थोप दिया गया था। बादशाह फ़ुआद और ब्रिटिश अफ़सरों में बड़े मज़े की पटने लगी। दोनों राष्ट्रवादियों से नफ़रत करते थे और जनता की आज़ादी के विचार को, या असली पार्लमेण्टी हुकूमत तक को, नापसन्द करते थे। फ़ुआद ने अपने-आपको ही सरकार समझ लिया और अपनी खूब मन-मानी की। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया, और आड़े समय में मदद के लिए सदा तैयार ब्रिटिश संगीनों के भरोसे तानाशाह की तरह राज करने लगा।

मिस्र की स्वाधीनता की घोषणा करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने परोपकार की सबसे पहली कार्रवाई यह की कि नई हुकूमत के मातहत जो अफ़सर रिटायर होनेवाले थे, उनके लिए मुआवज़े की भारी-भारी रक़मों का दावा पेश किया। मिस्री सरकार की हैसियत से बादशाह फ़ुआद फ़ौरन राज़ी हो गया, और इस तरह ६५,००,००० पौण्ड की ज़बर्दस्त रक़म चुका दी गई है। एक ऊँचे अफ़सर को तो ८५,००० पौण्ड भी दिये गए। और मज़ेदार बात यह है कि रिटायर होने के लिए जिन अफ़सरों को इतने भारी-भारी मुआवज़े दिये गए थे, उन्हींमें से कुछको खास मुआहिदों के मातहत फिर रख लिया गया। यह याद रहे कि मिस्र कोई बड़ा देश नहीं है और उसकी आबादी संयुक्त प्रान्त की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्र के संविधान में बड़े ठाठ-बाट से यह माना गया है कि "सारी सत्ता का निकास राष्ट्र में है।" पर असल में, नये संविधान के लागू होने के वक़्त से ही, मिस्री

[1] Safeguards.

पार्लमेण्ट बड़ी डाँवाडोल रही है। जहाँतक मुझे मालूम है, कोई भी पार्लमेण्ट अपनी नियम की मीयाद पूरी नहीं कर पाई है। बादशाह फ़ुआद ने संविधान को बार-बार ताक में रखकर जब मन में आया तब उसकी हत्या की है और निरंकुश राजा की तरह राज किया है।

नई पार्लमेण्ट के सबसे पहले चुनाव १९२३ ई० में हुए, और ज़ग़लूल पाशा और उसके दल ने, जो आजकल वफ़्द दल कहलाता है, देश-भर में झाड़ू फेर दी। उन्हें नब्बे फ़ी सदी वोट मिले और उन्होंने पार्लमेण्ट की २१४ सीटों में से ११७ जीत लीं। इंग्लैण्ड को मनाने की एक और कोशिश की गई, और इस काम के लिए ज़ग़लूल लन्दन भी गया। पर दोनों की रायों में मेल नहीं बैठ सका, और समझौते की बातचीत कई सवालों पर टूट गई, जिनमें से एक सवाल सूदान का था। सूदान मिस्र के दक्षिण में एक देश है; मिस्र से यह बिलकुल अलग है; निवासी भी अलग हैं, और भाषा भी। नील नदी अपने ऊपरले प्रदेशों में सूदान में होकर बहती है। लिखे हुए इतिहास के शुरू से ही, यानी सात-आठ हज़ार वर्षों से, नील नदी मिस्र की रगों का खून रही है। मिस्र की सारी खेती-बाड़ी और ज़िन्दगी का दारोमदार नील नदी में हर साल आनेवाली बाढ़ों पर रहता है, जिन्होंने अबीसीनिया के पठारों से खादभरी मिट्टी लाकर इस रेगिस्तान को हरी-भरी और उपजाऊ धरती बना दिया है। लॉर्ड मिलनर (बायकाट किये गए कमीशन के अध्यक्ष) ने नील नदी के बारे में लिखा है:

"यह विचार परेशानी पैदा करनेवाला है कि इस बड़ी नदी से पानी का बराबर मिलते रहना मिस्र के लिए महज़ सहूलियत व खुशहाली का ही नहीं बल्कि जीने-मरने का सवाल है, और इसे तबतक हमेशा कुछ-न-कुछ खतरों का अन्देशा बना रहना लाज़िमी है जबतक कि इस नदी के ऊपरले फैलाव मिस्र के क़ब्ज़े में न हों।"

नील नदी के ऊपरले फैलाव सूदान में हैं; इसलिए मिस्र के वास्ते सूदान जीवन का आधार है।

पहले यह माना जाता था कि सूदान पर इंग्लैण्ड व मिस्र का जुड़वाँ इख्तियार है। इसका नाम आँग्ल-मिस्री सूदान[1] था। चूंकि असल में मिस्र पर इंग्लैण्ड का राज था, इसलिए दोनों के हितों में कोई टक्कर नहीं थी, और मिस्र का बहुत-सा रुपया सूदान में खर्च किया जाता था। लॉर्ड कर्ज़न ने १९२४ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में सचमुच यह बयान दिया था कि अगर मिस्र ने सूदान के खर्च की ज़िम्मेदारी न उठाई होती तो सूदान दिवालिया हो गया होता। लेकिन जब अंग्रेज़ों को आखिरकार मिस्र से अपना बिस्तर गोल करने के सवाल का सामना करना

[1] Anglo-Egyptian Sudan.

पड़ा तो उन्होंने सूदान पर क़ब्ज़ा बनाये रखना चाहा। दूसरी ओर, मिस्री यह महसूस करते थे कि उनकी हस्ती सूदान में नील नदी की ऊपरली धाराओं पर मिस्र के इख़्तियार के साथ बँधी हुई है। इसलिए दोनों के हितों की टक्कर हुई।

१९२४ ई० में जब सूदान के सवाल पर सअद ज़ग़लूल और ब्रिटिश सरकार के बीच बातचीत चल रही थी, तब सूदानियों ने मिस्र के साथ कई तरह से अपना लगाव ज़ाहिर किया। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सख्त सज़ा दी, और मिस्र की सरकार से कोई सलाह-मशविरा किये बिना ही जो मन में आया सो किया; हालाँकि सूदान में दोनों का जुड़वाँ शासन था, जिसके लिए मिस्र को काफ़ी खर्च करना पड़ता था।

मिस्र की स्वाधीनता की नामधारी घोषणा में इंग्लैण्ड ने विदेशी हितों की हिफ़ाज़त की एक और शर्त रक्खी थी। ये विदेशी हित क्या थे? पिछले किसी पत्र में मैं इनके बारे में लिख चुका हूँ। जब तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था, तब बड़ी-बड़ी शक्तियों ने उसपर तरह-तरह के क़ायदे थोप दिये थे, जिनके मातहत तुर्की में उनके नागरिकों के साथ खास तरह का बर्ताव होना चाहिए था। ये यूरोपीय विदेशी तुर्की में चाहे जो जुर्म करें, उनपर न तो तुर्की क़ानून लागू होते थे और न तुर्की अदालतों में मुक़दमे चल सकते थे। उनके खिलाफ़ मुक़दमों की सुनवाई या तो उन्हींके देशों के राजदूतों अथवा राजनयिक प्रतिनिधियों के सामने हो सकती थी, या विदेशी जजों की खास अदालतों में। उन्हें और भी कई रियायतें थीं, जैसे, कई क़िस्म के टैक्सों से छूट। विदेशियों की ये खास और बड़ी क़ीमती रियायतें "कैपिटचुलेशन्स" यानी 'शर्तों पर सौंपना' कहलाती थीं, क्योंकि वे कुछ हद तक किसी राज्य का अपनी प्रभुता सौंप देने के बराबर थीं। चूंकि तुर्की को इन्हें बर्दाश्त करना पड़ा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के जुदा-जुदा भागों को भी उन्हें मंजूर करना पड़ा। मिस्र को, जो पूरी तरह ब्रिटिश राज के अधीन था और जहाँ तुर्की की नाम को भी सत्ता नहीं थी, इस मामले में तुर्की साम्राज्य के अंग की तरह पीसा गया, और यहाँ ये कैपिटचुलेशन्स ज़बर्दस्ती लागू किये गए। इन बहुत ही खुश-नसीब हालतों को पाकर शहरों में विदेशी व्यापारियों व पूंजीपतियों की असरदार बस्तियाँ पैदा हो गईं। इसलिए यह लाज़िमी ही था कि ये लोग उस ढाँचे को हटाने का विरोध करते जो हर तरह से इनकी हिफ़ाज़त करता था और कोई टैक्स न देने पर भी इन्हें मालदार और खुशहाल बनने की छूट देता था। ये ही वे विदेशी निहित स्वार्थ थे जिनकी हिफ़ाज़त की ब्रिटिश सरकार ने ज़िम्मेदारी ली थी। मिस्र के लिए ऐसा ढाँचा अंगीकार करना सम्भव नहीं था, जो सिर्फ़ स्वाधीनता से बिलकुल मेल खानेवाला ही नहीं था, बल्कि जिसके सबब से उसकी आमदनी में ज़बर्दस्त कमी आती थी। और जब

सबसे ज्यादा मालदार लोग ही टैक्सों से बरी हो जाते थे, तो समाजी हालतों में सुधार की दिशा में बड़े पैमाने पर कुछ भी करना ज़रा भी सम्भव नहीं था। सीधे ब्रिटिश राज के लम्बे ज़माने में, अंग्रेज़ों ने प्राइमरी शिक्षा, या सफ़ाई, या गाँवों की हालत सुधारने के लिए, देखा जाय तो, कुछ भी नहीं किया था।

संयोग से तुर्की ने, जो कैंपिटचुलेशन्स का मूल सबब रहा था, कमाल पाशा की जीत के बाद इनसे पिण्ड छुड़ाया। यहाँ मैं यह भी ज़िक्र कर दूं कि चीन भी इन्हीं कैंपिटचुलेशन्स से मिलती-जुलती चीज़ के साथ अभी तक जूझ रहा है। उन्नीसवीं सदी में कुछ समय तक जापान को भी ये बर्दाश्त करने पड़े, पर ज्यों-ही वह ताक़तवर हुआ, उसने इन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

मतलब यह कि विदेशी निहित स्वार्थों का सवाल इंगलैण्ड व मिस्र के आपसी समझौते के रास्ते में एक और रोड़ा था। निहित स्वार्थ आज़ादी के रास्ते में हमेशा रोड़ा लगाया करते हैं!

अपनी हस्ब-मामूल नेक मंशा के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का भी फ़ैसला कर लिया था। फ़रवरी, १९२२ ई० की स्वाधीनता की घोषणा में यह भी एक शर्त थी। मुख्य अल्पसंख्यक वर्ग कॉप्टों का था। ये लोग प्राचीन मिस्रियों की औलाद माने जाते हैं और इसलिए मिस्र की सबसे पुरानी नस्ल हैं। ये लोग ईसाई हैं, और ईसाइयत के शुरू में, जब यूरोप ईसाई नहीं हुआ था, ईसाई बन गये थे। अल्पसंख्यकों के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो बड़ी भारी चिन्ता दिखाई, उसपर धन्यवाद देने के बजाय इन कॉप्टों ने ऐसा नाशुकरापन दिखाया कि उससे कह दिया कि आप हमारी फ़िक्र न करें! फ़रवरी, १९२२ ई० की घोषणा के कुछ ही दिनों बाद कॉप्टों ने अपनी बड़ी भारी सभा बुलाई और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय मक़सद पर पहुँचने की ख़ातिर वे अल्पसंख्यकों को दी गई सारी ख़ास सहूलियतें और हिफ़ाजतें निछावर करते हैं।" अंग्रेज़ों ने कॉप्टों के इस फ़ैसले को बिलकुल बे-समझी का कहकर उसकी बुराई की! मगर समझदारी का हो या बे-समझी का, इस फ़ैसले ने अंग्रेज़ों के अल्पसंख्यकों की हिफ़ाज़त के दावे को रद्द कर दिया और अल्पसंख्यकों का सवाल चर्चा का विषय नहीं रह गया। सच तो यह है कि आज़ादी की लड़ाई में कॉप्टों ने बड़ा भारी हिस्सा लिया था और वफ़्द दल में ज़ग़लूल पाशा के सबसे ज्यादा भरोसे के साथियों में कुछ कॉप्ट भी थे।

इन एक-दूसरी के खिलाफ़ मंशाओं के कारण और स्वार्थों की असली टक्करों के कारण, १९२४ ई० में मिस्र, जिसके प्रतिनिधि सअद ज़ग़लूल और उसके साथी थे, और ब्रिटिश सरकार के बीच चलनेवाली समझौते की बातचीत बीच में ही टूट गई। इसपर ब्रिटिश सरकार को बड़ा ग़ुस्सा आया। उन्हें तो

मिस्र में अपनी मर्ज़ी का काम करवाने की आदत पड़ी हुई थी, इसलिए क़ाहिरा की नई पार्लमेण्ट पर और खासकर वफ़्द दल के नेताओं पर उन्हें बड़ी खीझ महसूस हुई। उन्होंने वफ़्द दल को और मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्यशाही तरीक़े से सबक़ सिखाने का फ़ैसला किया। इसका मौक़ा भी उन्हें जल्दी ही मिल गया, और जिस अजीब ढंग से उन्होंने इस मौक़े को झपटकर उससे फ़ायदा उठाया, उसका बयान मैं अगले पत्र में करूँगा। यह निराली घटना, जो एक तरह से आज की साम्राज्यशाही के कारनामों को आईना दिखा देती है, एक अलग पत्र में लिखने लायक़ है।

: १६४ :

अंग्रेज़ों की मातहती में स्वाधीनता का अर्थ

२२ मई, १९३३

पिछले पत्र में मैं मिस्री सरकार के राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों और ब्रिटिश सरकार के बीच १९२४ ई० में समझौते की बातचीत विफल होने का और इसपर ब्रिटिश सरकार के गुस्से का ज़िक्र कर चुका हूँ। इसके बाद होनेवाली खास-खास घटनाओं का हाल शुरू करने से पहले मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि नामधारी स्वाधीनता के बावजूद, मिस्र में ब्रिटिश फ़ौजें दखल जमाकर बैठी रहीं। वहाँ न सिर्फ़ ब्रिटिश फ़ौज तैनात कर दी गई थी, बल्कि मिस्री फ़ौज भी अंग्रेज़ों के इख़्तियार में थी, और इसके ऊपर एक अंग्रेज़ था, जो फ़ौज का 'सरदार' कहलाता था। पुलिस के मुख्य अफ़सर भी अंग्रेज़ थे, और मिस्र में विदेशियों की हिफ़ाज़त के बहाने ब्रिटिश सरकार का वित्त, न्याय तथा अन्दरूनी मामलों के विभागों पर भी इख़्तियार था। मतलब यह कि सरकार की हरेक निहायत ज़रूरी चीज़ पर अंग्रेज़ों का इख़्तियार था। मिस्री लोगों का इस बात पर ज़ोर देना लाज़िमी था कि ब्रिटिश सरकार इस क़िस्म के क़ब्ज़े को हटा ले।

१९ नवम्बर, १९२४ ई० को सर ली स्टैक की, जो मिस्री फ़ौज के सरदार के पद पर था और सूदान का गवर्नर जनरल भी था, कुछ मिस्रियों ने हत्या कर दी। इससे मिस्र में व इंग्लैण्ड में अंग्रेजों को क़ुदरती तौर पर सदमा पहुँचा। शायद इससे भी ज्यादा सदमा मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ़्द को हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसका मतलब उनपर हमला होगा। और यह हमला काफ़ी फ़ुर्ती से हुआ। तीन ही दिन के भीतर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लॉर्ड ऐलनबी ने मिस्री सरकार को अपना आख़िरी शर्तनामा पेश कर दिया, जिसमें नीचे लिखी माँगें फ़ौरन पूरी करने को कहा गया था :

१. क़सूर माना जाय और उसके लिए माफ़ी माँगी जाय;

२. मुजरिमों को सज़ा दी जाय;

३. तमाम राजनीतिक प्रदर्शनों पर रोक लगा दी जाय;

४. पाँच लाख पौण्ड का हर्जाना चुकाया जाय;

५. सूदान से सारे मिस्री सिपाहियों को चौबीस घण्टे के भीतर हटा लिया जाय;

६. सूदान में सिंचाई के क्षेत्रों पर मिस्र के हित में जो बन्दिशें लगा दी गई थीं, उन्हें उठा लिया जाय;

७. मिस्र में तमाम विदेशियों की हिफ़ाज़त का जो अधिकार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था, उसका विरोध आयन्दा से ख़त्म कर दिया जाय। (इसका ख़ास मतलब, वित्त, न्याय व अन्दरूनी मामलों के विभागों पर ब्रिटिश सत्ता बनी रहने से था।)।

ये सातों माँगें ज़रा ध्यान देने क़ाबिल हैं। चूँकि कुछ लोगों ने सर ली स्टैक की हत्या कर दी थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने, किसी जाँच की गुंजायश तक न रहने देकर, फ़ौरन ही समूची मिस्री सरकार के साथ यानी मिस्र की जनता के साथ ऐसा बर्ताव किया मानो वे सब-के-सब हत्या के अपराधी थे। इसके अलावा, इस सारे मामले से उसने खूब अच्छा माली फ़ायदा उठाया; और सबसे महत्व की बात तो यह है कि उसने इस मौक़े का उपयोग करके अपने व मिस्री सरकार के बीच झगड़े के उन सब मामलों को ज़बर्दस्ती तय कर दिया, जिनके बारे में कुछ ही महीने पहले लन्दन में होनेवाली समझौते की बातचीत टूट चुकी थी। मानो सिर्फ़ यही काफ़ी नहीं था, इसलिए उसने यह भी जोड़ दिया कि तमाम राजनीतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जायँ। इस तरह उसने देश की जनता की हस्ब-मामूल ज़िन्दगी के सिलसिले को ही रोक दिया।

देखा जाय तो यह सब उस हत्या से पैदा होनेवाला बड़ा अजीब-सा माजरा था, और एक हत्या में से ब्रिटिश सरकार के फ़ायदे की इतनी सारी चीज़ें निकाल लेना बड़ी ज़ोरदार और उपजाऊ कल्पना-शक्ति का काम था। इसे और भी ज्यादा विचित्र बनानेवाली बात यह है कि जिन दो मुख्य अफ़सरों को (ये नाम-मात्र को मिस्री सरकार के अधीन थे), यानी क़ाहिरा की पुलिस के सरदार और जन-सुरक्षा के यूरोपीय विभाग के डायरेक्टर-जनरल को, अपराध व जुल्म रोकने के लिए ख़ासतौर पर ज़िम्मेदार माना जा सकता था, वे दोनों अंग्रेज थे। उन्हें किसी ने भी हत्या के लिए ज़िम्मेदार नहीं ठहराया। पर बेचारी मिस्री सरकार को, जिसने हत्या के बाद फ़ौरन ही अपना सख्त रंज और अफ़सोस ज़ाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार के भारी, पर बेदर्दी से हिसाब लगाये गए और नफ़ेदार, गुस्से का नतीजा भुगतना पड़ा।

मिस्री सरकार इतनी झुक गई कि ज़मीन चाटने लगी। ज़ग़लूल पाशा ने शर्तनामे की लगभग सारी बातें मान लीं; यहाँतक कि चौबीस घण्टे में ५।८ लाख पौण्ड का हर्जाना भी चुका दिया। सिर्फ़ सूदान के बारे में मिस्री सरकार ने कहा कि वह अपने हक़ नहीं छोड़ सकती। पर लॉर्ड ऐलनबी के लिए यह खाकसारी और माफ़ीनामा भी काफ़ी नहीं थे, और चूँकि सूदानवाली शर्त नहीं मानी गई थी, इसलिए उसने ब्रिटिश सरकार की ओर से इस्कन्दरिया के चुंगीघर पर जबर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह चुंगी की आमदनी को अपने हाथ में ले लिया। इसके अलावा, मिस्री सरकार के ऐतराज़ों के बावजूद उसने इन शर्तों को सूदान पर ज़बर्दस्ती लागू कर दिया और सूदान को ब्रिटिश उपनिवेश बना दिया। सूदान में मिस्री फ़ौजियों ने विद्रोह किये, पर उन्हें हद दर्जे की सख़्ती से दबा दिया गया।

ब्रिटिश सरकार की इस कार्रवाई पर विरोध जताने के लिए ज़ग़लूल पाशा व उसकी सरकार ने फ़ौरन इस्तीफ़े दे दिये, और १९२४ ई० के उसी नवम्बर महीने में शाह फ़ुआद ने पार्लमेण्ट को भंग कर दिया। इस तरह ब्रिटिश सरकार ज़ग़लूल व उसके वफ़्द दल को कुर्सियों से हटाने में और कम-से-कम उस वक़्त पार्लमेण्ट को खत्म करने में सफल हुई। उसने सूदान पर भी क़ब्ज़ा कर लिया, और इस तरह सूदान में नील नदी की धाराओं पर क़ब्ज़ा करके मिस्र का गला घोंटने की आसानी हासिल कर ली।

बेचारी मिस्री पार्लमेण्ट ने "एक दुखदायी वारदात से साम्राज्यशाही मतलबों के लिए फ़ायदा उठाने" के खिलाफ़ राष्ट्रसंघ में अपील की। पर बड़ी-बड़ी शक्तियों के खिलाफ़ शिकायतों को राष्ट्रसंघ न देखता है न सुनता है।

इस समय से मिस्र में एक लगातार लड़ाई शुरू हो गई। इस खींचतान में एक तरफ़ तो सारे देश का असली प्रतिनिधि वफ़्द दल था, और दूसरी तरफ़ शाह फ़ुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर का गुट्ट था, जिसके पीछे कई विदेशी स्वार्थ और दरबार के टुकड़-खोर थे। इस सारे वक़्त में संविधान को ताक में रखकर तानाशाहियाँ देश पर राज कर रही थीं, और शाह फ़ुआद निरंकुश राजा बना हुआ था। जब-जब पार्लमेण्ट का अधिवेशन होने दिया गया तब-तब उसने ज़ाहिर कर दिया कि लगभग सारा देश वफ़्द दल का समर्थक है, इसलिए पार्लमेण्ट को ही भंग कर दिया गया। अगर फ़ुआद को अंग्रेज़ों का और उनके अधीन सेना व पुलिस का सहारा न होता, तो वह इस ढंग की कार्रवाइयाँ शायद नहीं कर सकता। 'स्वाधीन' मिस्र के साथ बहुत-कुछ भारत की किसी देशी रियासत-जैसा सलूक किया जाता है, जहाँ असली सत्ताधारी ब्रिटिश रैज़ीडेण्ट के इशारों पर काम होता है।

नवम्बर, १९२४ ई०, को पार्लमेण्ट भंग कर दी गई थी। मार्च, १९२५ ई० में नई चुनी हुई पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ। इसमें वफ़्द दल का भारी बहुमत था, और इसने उसी वक्त ज़ग़लूल पाशा को 'चैम्बर ऑफ़ डिपुटीज़' का अध्यक्ष चुन लिया। यह चीज़ न तो अंग्रेज़ों को पसन्द आई और न बादशाह फ़ुआद को। इसलिए बस उसी दिन यह नई-नकोर, एक दिन की उम्रवाली पार्लमेण्ट, भंग कर दी गई! इसके बाद पूरे एक वर्ष तक संविधान के रहते-रहते मिस्र में कोई पार्लमेण्ट नहीं रही, और फ़ुआद ने एक तानाशाह की तरह राज किया। हाँ, उसकी पीठ पर असली ताक़त ब्रिटिश कमिश्नर की थी। इस पर सारे देश ने नाराज़ी ज़ाहिर की, और शाह फ़ुआद व अंग्रेज़ों के इस गुट का विरोध करने के लिए ज़ग़लूल सारे तबक़ों को एक करने में सफल हो गया। नवम्बर, १९२५ ई०, में यहाँतक हुआ कि सरकारी मुमानियत को अगूठा दिखाकर पार्लमेण्ट के सदस्यों की एक सभा हुई। चूंकि पार्लमेण्ट-भवन में फ़ौजी सिपाही भरे हुए थे, इसलिए सदस्यों की यह सभा दूसरी जगह की गई।

तब फ़ुआद ने अपने महलों से महज़ एक फ़रमान निकालकर सारे संविधान को ही बदल डालने की कोशिश की। उसका इरादा इसे और भी ज्यादा दक़ियानूसी बनाने का था, ताकि आगे की पार्लमेण्टों पर ज्यादा आसानी से क़ाबू रक्खा जा सके और ज़ग़लूल-दल को बाहर ही रक्खा जा सके। पर इसके ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त हो-हल्ला मच गया, और यह साफ़ हो गया कि नये ढांचे के भीतर चुनावों का बायकाट कर दिया जायगा। इसपर शाह फ़ुआद को झुकना पड़ा और चुनाव पुराने ढाँचे के ही मुताबिक़ हुए। नतीजा ज़ग़लूल के दल का भारी बहुमत, यानी इस दल की संख्या २०० और विरोधियों की संख्या १४! राष्ट्र पर ज़ग़लूल के क़ाबू का, और मिस्र क्या चाहता था इसका, इससे ज्यादा बड़ा सबूत नहीं हो सकता था। इसके बावजूद भी ब्रिटिश कमिश्नर (जो भारत का एक भूतपूर्व गवर्नर लॉर्ड लॉयड था) ने कहा कि उसे ज़ग़लूल के प्रधान-मन्त्री बनने पर ऐतराज़ है, इसलिए इसकी जगह दूसरा व्यक्ति मुक़र्रर किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि इस मामले में अंग्रेज़ों को दख़ल देने का क्या वास्ता था। फिर भी, नई सरकार की बागडोर बहुत-कुछ ज़ग़लूल के ही दल के हाथों में थी, और सम्हलकर चलने के जतनों के बावजूद उसकी लॉर्ड लॉयड से अक्सर टक्करें होती रहती थीं, क्योंकि लॉर्ड लॉयड निहायत शाह-मिजाज और घौंस जमानेवाला व्यक्ति था, और वह मिस्र को अक्सर अंग्रेज़ी जंगी-जहाज़ों की धमकियाँ दिया करता था।

१९२७ ई० में इंग्लैण्ड के साथ समझौता करने की एक और कोशिश की

गई, पर बादशाह फ़ुआद का बहुत मुलायम प्रधान-मन्त्री भी अंग्रेज़ों की शर्तों पर हक्का-बक्का रह गया। काग़ज़ी स्वाधीनता के पर्दे में उनका असली इरादा मिस्र को इंग्लैण्ड की रियासत बनाने का था। इसलिए समझौते की बातचीत फिर विफल हुई।

जिन दिनों समझौते की ये बातचीतें चल रही थीं तभी २३ अगस्त, १९२७ ई० को मिस्र के महान् नेता सअ़द ज़ग़लूल पाशा की सत्तर वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गई। वह तो नहीं रहा, पर मिस्र में उसकी याद एक चमत्कार व क़ीमती विरासत के रूप में ज़िन्दा है, और लोगों को प्रेरणा देती है। उसकी पत्नी, बेग़म सफ़िया ज़ग़लूल, अभी ज़िन्दा है; सारा राष्ट्र उसे चाहता है, उसे अपनी बुज़ुर्ग मानता है और उसे 'मादरे क़ौम' कहकर पुकारता है। क़ाहिरा में ज़ग़लूल का मकान, जो 'क़ौम का मकान' कहलाता है, बहुत अर्से से मिस्री राष्ट्रवादियों का सदर मुक़ाम है।

ज़ग़लूल के बाद मुस्तफ़ा नहास पाशा वफ़्द का नेता हुआ। कुछ दिन बाद, मार्च, १९२८ ई० में वह प्रधान-मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता और लोगों के हथियार रखने के हक़ से वास्ता रखनेवाले कुछ मामूली-से अन्दरूनी सुधार किये। फ़ौजी क़ानून के ज़माने में ब्रिटिश सरकार ने इन हक़ों को कम कर दिया था। ज्योंही मिस्री पार्लमेण्ट ने इस सवाल पर ग़ौर करना शुरू किया, त्योंही इंग्लैण्ड से धमकियाँ आईं कि ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। इंग्लैण्ड का इस तरह एक बिलकुल घरू मामले में दख़ल देना बड़ी विचित्र बात मालूम होती है। मगर लॉर्ड लॉयड ने, माने हुए पुराने ढंग से, आख़िरी चेतावनी दे दी और ब्रिटिश जंगी-जहाज़ माल्टा से इस्कन्दरिया के बन्दरगाह में आ धमके। नहास पाशा कुछ हद तक झुक गया, और इन मामलों को कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन तक के लिए टालने पर राज़ी हो गया।

मगर दूसरा अधिवेशन तो होनेवाला ही न था। शाह फ़ुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने, यानी प्रगति-विरोधी तत्वों और साम्राज्यशाही ने ऐसी तरकीब की कि पार्लमेण्ट को गड़बड़ करने का आगे कोई मौक़ा ही न मिले। इन दोनों की साज़िश एक अजीब रंग लाई। नहास पाशा के लिए ख़ासतौर पर कहा जाता था कि उसका चरित्र बड़ा ऊँचा है और वह किसी लालच में नहीं फँस सकता। अचानक ही, एक पत्र के आधार पर (जो बाद में जाली साबित हुआ) नहास पाशा और वफ़्द के एक कॉप्ट नेता पर भ्रष्टाचार का इलज़ाम लगाया गया। दरबारी लोगों ने और अंग्रेज़ों ने इसके बारे में धुँआँधार प्रचार किया। ब्रिटिश संवाद-एजेन्सियों और पत्र-संवाददाताओं ने इन झूठे अभियोगों को सिर्फ़ मिस्र में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी खूब फैलाया। इस इलज़ाम की आड़ लेकर शाह फ़ुआद ने नहास पाशा से प्रधान-

मन्त्री-पद से इस्तीफ़ा देने को कहा। जब नहास पाशा ने ऐसा करने से इन्कार किया तो फ़ुआद ने उसे बरख़ास्त कर दिया। अब लॉयड-फ़ुआद-साज़िश का अगला क़दम उठाया गया। अचानक एक राजनीतिक दाँव खेला गया और बादशाह ने फ़रमान जारी करके पार्लमेण्ट को मुल्तवी कर दिया और संविधान को बदल दिया। संविधान में से अख़बारों की आज़ादी व दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताओं से ताल्लुक़ रखनेवाली दफ़ाएँ रद्द कर दी गईं और तानाशाही की घोषणा कर दी गई। इस पर इंग्लैण्ड के अख़बारों ने और मिस्र में रहनेवाले विदेशियों ने ख़ूब ख़ुशियाँ मनाईं।

पर तानाशाही की घोषणा के बावजूद पार्लमेण्ट के सदस्यों ने अपनी सभा की, और नई सरकार को ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया। मगर लॉयड को या फ़ुआद को इनसे कोई परेशानी नहीं थी। 'क़ानून और व्यवस्था' का फ़र्ज़ है प्रगति-विरोध और साम्राज्यशाही को सहारा देना, इनके ख़िलाफ़ हथियार की तरह इस्तेमाल किया जाना नहीं!

सरकार ने नहास पाशा पर जो मुक़दमा चलाया था, वह सरकारी दबाव के बावजूद धूल में मिल गया। उसके ऊपर लगाये गए आरोप झूठे साबित हुए। और सरकार ने हुक्म जारी कर दिया कि इस मुक़दमे का फ़ैसला अख़बारों में न छापा जाय (सरकार कैसी अद्‌भुत इन्साफ़-पसन्द और बहादुर दिलवाली थी!) मगर इसपर भी यह समाचार फ़ौरन फैल गया, और हर जगह बहुत ख़ुशियाँ मनाई गईं।

तानाशाही ने, जिसकी पीठ पर लॉर्ड लॉयड व अंग्रेज़ी फ़ौजें थीं, वफ़्द दल को, यानी वास्तव में मिस्री राष्ट्रीयता को, कुचलने और तहस-नहस करने का भरसक यत्न किया। देश में बाक़ायदा आतंक का राज हो गया और समाचारों पर पूरी रोक लगा दी गई। पर इस सबके बावजूद बड़े-बड़े राष्ट्रीय प्रदर्शन हुए, जिनमें स्त्रियों ने ख़ास हिस्सा लिया। सप्ताह-भर की एक हड़ताल हुई, जिसमें वकीलों व दूसरे लोगों ने भाग लिया, मगर समाचारों पर सेन्सर होने की वजह से अख़बार इसे प्रकाशित तक नहीं कर सके।

बस, १९२८ ई० का साल बड़ी खलबली और मुसीबत में बीता। साल के अन्त में इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन होने से मिस्र में भी फ़ौरन ही इसका असर पड़ा। वहाँ मज़दूर दल की सरकार क़ायम हो गई थी, और सबसे पहली कार्रवाई इसने यह की कि लॉर्ड लॉयड को वापस बुला लिया, जो ब्रिटिश सरकार तक के लिए नाक़ाबिले-बर्दाश्त हो गया था। लॉयड के हटाये जाने से कुछ दिनों के लिए फ़ुआद-अंग्रेज़ गठबन्धन टूट गया। बिना अंग्रेज़ों के सहारे फ़ुआद एक दिन भी काम नहीं चला सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर, १९२८ ई० में पार्लमेण्ट के

नये चुनावों की इजाज़त दे दी। इस बार फिर वफ़्द दल ने लगभग सारी सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इंग्लैण्ड की मज़दूर सरकार ने मिस्र के साथ समझौते की बातचीत फिर शुरू की, और इस काम के लिए १९२९ ई० में नहास पाशा लन्दन गया। इस बार मज़दूर सरकार अपने पहले की सरकारों से कुछ आगे बढ़ी और तीन शर्तों के बारे में नहास पाशा का कहना मान लिया गया। लेकिन चौथी शर्त—सूदान के बारे में फिर कोई समझौता नहीं हुआ, इसलिए बातचीत भंग हो गई। फिर भी इस मौक़े पर पहले से बहुत ज़्यादा बातों पर समझौता हो गया था; दोनों पक्षों में दोस्ताना ताल्लुक़ बने रहे और दोनों ने फिर चर्चा चलाने के वादे किये। कुल मिलाकर नहास पाशा और वफ़्द दल के लिए यह सफलता की बात थी, जो मिस्र में अंग्रेज़ व दूसरे विदेशी व्यापारियों और साहूकारों को ज़रा भी अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून, १९३० ई० में बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच झगड़ा हो गया और नहास पाशा ने प्रधान-मन्त्री के पद से इस्तीफ़ा दे दिया।

इस खाली जगह में फ़ुआद फिर तानाशाही लेकर आ कूदा—यह उसके राज्य-काल की तीसरी तानाशाही थी। पार्लमेण्ट भंग कर दी गई, वफ़्द दल के अख़बार बन्द कर दिये गए और आमतौर पर यह तानाशाही बड़ी सख़्ती के साथ काम करने लगी। पार्लमेण्ट की दोनों सभाओं, यानी चेम्बर व सीनेट, के सब सदस्यों ने महलों की सरकार की ज़रा भी परवाह नहीं की और पार्लमेण्ट-भवन में ज़बर्दस्ती घुसकर अधिवेशन कर डाला। २३ जून, १९३० ई० को उन्होंने संविधान की वफ़ादारी की गम्भीर शपथ ली और क़सम खाई कि वे अपनी पूरी ताक़त के साथ उसकी रक्षा करेंगे। सारे देश में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए। इन्हें फ़ौजी सिपाहियों ने संगीनों के ज़ोर से तितर-बितर कर दिया, और बहुत ख़ून-ख़राबी हुई। नहास पाशा ख़ुद भी घायल हो गया। इस तरह ब्रिटिश अफ़सरों के मातहत फ़ौजियों और पुलिस के सिपाहियों ने उस तानाशाही को बरक़रार रक्खा, जिसपर शाह के पिछलग्गू, मुट्ठीभर रईसों व धनवानों के सिवाय, सारा राष्ट्र सख़्त नाराज़ था। वफ़्दियों के अलावा दूसरे लोगों तक ने, यहाँतक कि भारत की तरह के नर्मदली और उदारदली लोगों ने भी, जो जनता की ओर से सख़्त कार्रवाई के विरोध में हल्ला मचाते थे, तानाशाही के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई।

इसी साल, यानी १९३० ई० में, कुछ दिन बाद शाह ने एक नये संविधान की घोषणा करनेवाला फ़रमान जारी किया, जिसमें उसने पार्लमेण्ट के अधिकार तो कम कर दिये और अपने अधिकार बढ़ा लिये! इस क़िस्म की चीज़ बहुत आसान थी। बस, एक घोषणापत्र जारी किया और काम हुआ; क्योंकि शाह के पीछे एक साम्राज्यशाही शक्ति की भयानक छाया थी।

मिस्र के १९२२ ई० से लगाकर १९३० ई० तक के, इन नौ वर्षों की कहानी मैंने तुम्हें ज़रा ब्यौरे के साथ बतलाई है, क्योंकि यह कहानी मुझे अनोखी मालूम हुई। ये वर्ष, ब्रिटिश सरकार की फ़रवरी, १९२२ ई० की घोषणा के अनुसार मिस्र की 'स्वाधीनता' के वर्ष थे। मिस्री लोग क्या चाहते थे, इसका तो कोई सवाल ही नहीं था। हाँ, जब-जब उन्हें मौक़ा दिया गया तब-तब उनके बहुत बड़े बहुमत ने, जिसमें मुसलमान व कॉप्ट दोनों शामिल थे, वफ़्दियों को ही चुना। मगर चूंकि ये लोग विदेशियों की और ख़ासकर अंग्रेज़ों की, देश का शोषण करने की ताक़त को कम करना चाहते थे, इसलिए इन सारे विदेशी निहित स्वार्थों ने संगीनों के ज़ोर पर और खून-ख़राबी, जालसाज़ी व साज़िश से, हर तरह इनका विरोध किया, और अपने इशारे पर नाचनेवाला कठपुतली-जैसा शाह खड़ा कर दिया।

वफ़्द-आन्दोलन बिल्कुल राष्ट्रीय मध्यम-वर्गी आन्दोलन रहा है। इसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ाई लड़ी है, और समाजी समस्याओं में दख़ल नहीं दिया है। जब कभी पार्लमेण्ट ने अपना काम किया, उसने शिक्षा व दूसरे विभागों में कुछ अच्छा काम कर दिखाया। सच तो यह है कि राष्ट्रीय लड़ाई के होते हुए भी इस थोड़े-से समय में पार्लमेण्ट ने जितना किया उतना ब्रिटिश शासन पिछले चालीस वर्षों में भी नहीं कर पाया था। किसान-वर्ग वफ़्द दल को कितना चाहता है, यह बात चुनावों से और बड़े-बड़े प्रदर्शनों से ज़ाहिर हो चुकी है। मगर फिर भी चूंकि यह आन्दोलन असल में मध्यम-वर्गी था, इसलिए उस हद तक चेतना नहीं पैदा कर सका है जिस हद तक समाजी परिवर्तन के मक़सदवाला कोई आन्दोलन करता।

इस पत्र को ख़त्म करने से पहले मैं स्त्रियों के आन्दोलन का हाल बतलाना चाहता हूँ। शायद ख़ुद अरब को छोड़कर सारे अरबी देशों की नारियों में बड़ी भारी चेतना जागी है। दूसरी बहुत-सी बातों की तरह इस बात में भी इराक़ या सीरिया या फ़िलस्तीन के मुक़ाबले में मिस्र ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ है। पर इन सब देशों में नारियों का एक संगठित आन्दोलन है, और जुलाई १९३० ई० में दमिश्क में अरब नारियों की कांग्रेस का पहला अधिवेशन भी हुआ था। उन्होंने राजनीतिक मामलों की बनिस्बत संस्कृति व समाज की तरक़्क़ी पर ही ज़्यादा ज़ोर दिया। मिस्र की स्त्रियों का राजनीति की तरफ़ ज़्यादा झुकाव है। वे राजनीतिक प्रदर्शनों में भाग लेती हैं, और उनका एक मज़बूत 'नारी मताधिकार संघ' भी है। उनकी माँग है कि विवाह के क़ानून में ऐसा सुधार किया जाय, जो उनके हक़ में हो, रोज़गारों में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर की सहूलियतें दी जायँ, वग़ैरा। मुसलमान व ईसाई नारियाँ आपस में पूरा सहयोग करती हैं। मुंह पर बुर्क़ा डालने की आदत हर जगह कम होती जा रही है, ख़ासकर मिस्र में। तुर्की की तरह से बुर्क़ा ग़ायब तो नहीं हुआ है, पर उसकी धज्जियां उड़ रही हैं।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८)

१९३० ई० से मिस्र तानाशाही हुकूमत के मातहत रहा, जिसकी नकेल महलों से घुमाई जाती थी। फ़र्ज़ी तौर पर तो वह 'प्रभुता-सम्पन्न स्वाधीन राज्य' था, पर अमल में वह एक तरह से इंग्लण्ड का उपनिवेश था, जहाँ क़ाहिरा व इस्कन्दरिया में विदेशी छावनियाँ पड़ी हुई थीं, और स्वेज़ नहर व सूदान पर इंग्लैण्ड का इख़्तियार था। ये साल दुनिया भर में भारी आर्थिक मन्दी के थे, और रुई की क़ीमतें गिरने के सबब से मिस्र को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा था।

१९३५ ई० में फ़ासीवादी इटली ने अबीसीनिया पर धावा बोल दिया, और मिस्र व नील के ऊपरले काँठे में ब्रिटिश हितों के लिए इस नये ख़तरे से मिस्र व इंग्लैण्ड के आपसी रिश्तों में फ़र्क़ आ गया। अब इंग्लैण्ड की यह ताक़त नहीं थी कि मिस्र बाग़ी और विरोधी बना रहे, और मिस्री नेताओं को इंग्लैण्ड के साथ दोस्ती के आसार नज़र आने लगे। पार्लमेण्ट के चुनावों में वफ़्द दल की शानदार जीत हुई, और नहास पाशा प्रधान-मन्त्री बना। अबीसीनिया में इटली की हमलावर कारंवाई से जो नई फ़िज़ा पैदा हुई, उसमें मिस्र व इंग्लैण्ड ने एक दूसरे की शर्तें मान लीं, और अगस्त, १९३६ ई० में एक सन्धि पर दोनों के दस्तख़त हो गये। सुलह की ख़ातिर मिस्र उन बहुत-सी बातों को छोड़ने पर राज़ी हो गया, जिन-पर वह पहले अड़ा हुआ था; उसने सूदान में जैसी-की-तैसी हालत को और स्वेज़ नहर को बचाने के इंग्लैण्ड के अधिकार को क़बूल कर लिया। इसके अलावा मिस्र की विदेश नीति इंग्लैण्ड की विदेश नीति से जोड़ दी गई। दूसरी ओर, इंग्लैण्ड ने क़ाहिरा व इस्कन्दरिया से अपने फ़ौजी हटा लिये; मिली-जुली अदालतों और विदेशियों के ख़ास अधिकारों को मंसूख़ कराने में मदद देने का और राष्ट्रसंघ में मिस्र के दाख़िले की हिमायत का वायदा किया।

इस समझौते पर ख़ूब ख़ुशियाँ मनाई गईं, लेकिन अभी इनके लिए ठीक वक़्त नहीं आया था। राजाओं के बदल जाने के बावजूद भी राज-महल वफ़्द दल से नफ़रत करता रहा और उसके ख़िलाफ़ साज़िशें रचता रहा। पर्दे की आड़ से ब्रिटिश साम्राज्यशाही अब भी अपना काम कर रही थी! मिस्र की धरती के बहुत बड़े हिस्से पर मुट्ठीभर लोगों की मालकियत है, और शाही-घराना भी इसके ज़बर्दस्त हिस्से का मालिक है। ये बड़े-बड़े भू-स्वामी प्रगतिशील क़ानून बनाये जाने के और जनता की शक्ति में बढ़ोतरी के घोर विरोधी हैं। इसलिए लगातार रगड़-झगड़ होने लगी, और शाह ने नहास पाशा को उसके पद से हटा दिया और पार्लमेण्ट को भंग कर दिया।

कुछ अर्से तक राजमहल की हुकूमत के बाद नये चुनाव हुए, और जब इनमें वफ़्द दल की भारी हार हुई, तो सबको ताज्जुब हुआ। बाद में मालूम हुआ कि

यह चुनाव ज्यादातर बनावटी मामला था, और धोखेबाज़ी से चुनाव के ग़लत विवरण तैयार किये गए थे। नहास पाशा की रहनुमाई में वफ़्द दल अब भी जनता का बहुत प्यारा बना हुआ है, पर आज की सरकार को राजमहल का गुट्ट ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सहारे पर चलाता है।

: १६५ :

पश्चिमी एशिया का दुनिया की राजनीति में दुबारा प्रवेश

२५ मई, १९३३

समुद्र की एक ज़रा-सी पट्टी ही मिस्र व अफ़्रीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब हम इस स्वेज़ नहर को लाँघ कर अरब और फ़िलस्तीन, सीरिया और इराक़--इन तमाम देशों की, और इनसे कुछ परे ईरान की यात्रा करेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, पश्चिमी एशिया ने इतिहास में जबर्दस्त हिस्सा अदा किया है, और यह अक्सर संसार के मामलों की धुरी रहा है। इसके बाद कई सदियों तक चलनेवाला ऐसा ज़माना आया जब राजनीतिक लिहाज़ से यह नज़र से ओझल हो गया। यह रुके हुए पानी की खाड़ी-जैसा बन गया; जीवन की धारा इसके पास होकर हरहराती हुई बहती रही, पर इससे इसकी ख़ामोश सतह पर हलकी-सी लहर भी पैदा नहीं हुई। और अब हम एक और परिवर्तन अपनी आँखों से देख रहे हैं, जो मध्य-पूर्व के देशों को फिर दुनिया के गोरखधन्धे में ला रहा है; पूर्व और पश्चिम को जानेवाला राजमार्ग फिर इनमें होकर गुज़रने लगा है। यह हक़ीकत हमारे लिए ध्यान देने लायक़ है।

जब कभी मैं पश्चिमी एशिया की बात सोचता हूँ तो मैं गुज़रे ज़माने में अपना आपा खो बैठता हूँ। मेरे मन में पुराने दिनों की इतनी यादें भर जाती हैं कि उनकी मोहिनी से बचना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है। मैं इस आकर्षण से बचने की कोशिश करूँगा, लेकिन कहीं तुम भूल न जाओ, इसलिए मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि दुनिया के इस हिस्से के इतिहास का शुरू से ही हज़ारों वर्षों तक बड़ा महत्व रहा है। पुराना ख़ाल्दिया सात हज़ार वर्ष पहले इतिहास में क़दम रखता है (यह प्रदेश आजकल का इराक़ है)। उसके बाद बाबिलन आता है। और बाबिलनों के बाद असीरियाइयों का उदय होता है, जिनकी महान् राजधानी निनीवे है। फिर इन असीरियाइयों को भी धक्का देकर निकाल दिया जाता है, और ईरान से आनेवाला एक नया राजवंश और एक नई क़ौम भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व पर अपना सिक्का जमा लेते हैं। ये लोग ईरान के हकामनी थे, जिनकी राजधानी पर्सिपोली थी। इनमें 'महान्

बादशाह' कुरुश और दारा और ज़रक्स पैदा हुए, जिन्होंने छोटे-से यूनान को हड़पने की कोशिश की पर जो उसे जीत नहीं सके। बाद में यूनान के, या यों कहो कि मक़दूनिया के एक सपूत सिकन्दर ने इन्हें अपनी करनी का मज़ा चखाया। सिकन्दर की ज़िन्दगी में यह निराली घटना हुई कि उसने एशिया व यूरोप के इस मिलन-स्थान में दोनों महाद्वीपों के लिए एक योजना बनाई, जिसे 'विवाह' कहा जाता है। उसने खुद ईरान के शाह की पुत्री से विवाह किया (हालांकि पहले ही उसकी कई पत्नियाँ थीं) और उसके हज़ारों अफ़सरों व सिपाहियों ने भी ईरानी लड़कियों से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद कितनी ही सदियों तक भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व में यूनानी संस्कृति छाई रही। इस ज़माने में रोम की शक्ति बढ़ी और एशिया की तरफ़ फैली। पर सासानियों के नये ईरानी साम्राज्य तक पहुँचकर इसे रुकना पड़ा। खुद रोमन साम्राज्य के ही टूटकर दो भाग हो गये—एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी, और क़ुस्तुन्तुनिया पूर्वी साम्राज्य की राजधानी बन गया। पश्चिमी एशिया के इन मैदानों में पूर्व और पश्चिम का पुराना झगड़ा जारी रहा, जिसमें क़ुस्तुन्तुनिया का बिज़ेन्तीन साम्राज्य व ईरान का सासानी साम्राज्य इसके दो मुख्य लड़वैये थे। और उधर उन्हीं दिनों ऊँटों पर सौदागरी का सामान लादे बड़े-बड़े कारवाँ इन मैदानों को पार करके पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व आते-जाते थे, क्योंकि मध्य-पूर्व उन दिनों संसार के बड़े राजमार्गों में गिना जाता था।

पश्चिमी एशिया के इन देशों में तीन महान् मज़हबों का जन्म हुआ था; एक यहूदा मज़हब (यानी यहूदियों का मज़हब), दूसरा ज़रतुश्त-मज़हब (आजकल के पारसियों का मज़हब), और तीसरा ईसाइयत। अब अरब के रेगिस्तान में चौथा मज़हब प्रकट हुआ, और संसार के इस भाग में यह बहुत जल्दी इन तीनों पर छा गया। इसके बाद बग़दाद का अरबी साम्राज्य आया और पुराने झगड़े ने नया रूप ले लिया—यानी एक तरफ़ अरब लोग, दूसरी तरफ़ बिज़ेन्तीन लोग : एक लम्बे और शानदार दौर के बाद सेलजूक़ तुर्कों के मुक़ाबले में अरबी-सभ्यता मन्द पड़ गई, और मंगोल चंगेज़ख़ाँ के उत्तराधिकारियों ने उसे सदा के लिए दबा दिया।

पर मंगोलों के पश्चिम आने से पहले ही एशिया के पश्चिमी तटों पर ईसाई-पश्चिम और मुस्लिम-पूर्व के बीच खूंख्वार लड़ाई शुरू हो चुकी थी। ये क्रूसेडों की लड़ाई थी, जो बीच-बीच में रुकती हुई लगभग तेरहवीं सदी के बीच तक चली। ये क्रूसेड मज़हबी युद्ध माने जाते थे, और वास्तव में थे भी। मगर युद्धों के लिए मज़हब बहाना ज़्यादा था, सबब नहीं। उन दिनों पूर्व के लोगों के मुक़ाबले में यूरोप के लोग पिछड़े हुए थे। यूरोप में यह अन्धकार का युग था। लेकिन यूरोप जागने लगा

था, और ज़्यादा आगे बढ़े हुए व सुसंस्कृत पूर्व ने उसे चुम्बक की तरह खींच लिया। पूर्व की ओर इस खिंचाव ने कई रूप लिये और इनमें क्रूसेडों का सबसे ज़्यादा महत्व था। इन युद्धों के नतीजे से यूरोप ने पश्चिमी एशियाई देशों से बहुत-कुछ सीखा। उसने कई ललित कलाएँ और दस्तकारियाँ और विलास की आदतें सीखीं, और सबसे महत्व की बात तो यह है कि काम करने व सोचने के वैज्ञानिक तरीक़े सीखे।

जब मंगोल लोग तबाही साथ लिये हुए पश्चिमी एशिया पर टूट पड़े थे, तबतक क्रूसेडों का युद्ध ख़त्म नहीं होने पाया था। पर हमें मंगोलों को महज़ सत्यानाश करनेवाले ही नहीं समझना चाहिए। चीन से लगाकर रूस तक उनकी लम्बी-चौड़ी दौड़ ने दूर-दूर देशों की क़ौमों का मेल करा दिया और व्यापार व आमद-रफ़्त को बढ़ाया। उनके विशाल साम्राज्य के मातहत पुराने कारवानी रास्ते यात्रा के लिए निरापद हो गये, और इन रास्तों पर सिर्फ़ सौदागर लोग ही नहीं, बल्कि राजनयिक धर्म-प्रचारक व दूसरे लोग भी अपनी ज़बर्दस्त यात्राओं पर जाते-आते थे। मध्य-पूर्व संसार के इन प्राचीन राजमार्गों के सीधे रास्ते में पड़ता था और यह एशिया और यूरोप को जोड़नेवाली कड़ी था।

तुम्हें शायद याद होगा कि मंगोलों के ज़माने में ही मार्को पोलो अपने वतन वेनिस से सारे एशिया को लाँघकर चीन पहुँचा था। उसकी लिखी हुई, या यों कहो कि लिखाई हुई एक पुस्तक संयोग से हमें मिल गई है, जिसमें उसकी यात्राओं का हाल दिया हुआ है; और इसीलिए हम उसका नाम जानते हैं। लेकिन और भी बहुत लोगों ने इस क़िस्म की लम्बी यात्राएँ की होंगी, और सोचा होगा कि इनके बारे में लिखने की इल्लत कौन करे, और अगर कुछ लिखा भी होगा तो उनकी पुस्तकें शायद नष्ट हो गई होंगी, क्योंकि वे दिन तो हाथ की लिखी पुस्तकों के थे। एक देश से दूसरे देश को आने-जानेवाले कारवाँ नित्य चलते रहते थे, और हालाँकि मुख्य धन्धा व्यापार था, पर कितने ही लोग धन की व धन कमाने के मौक़ों की तलाश में इनके साथ हो जाते थे। पुराने ज़माने का एक और महान् यात्री मार्को पोलो की तरह सामने आता है। यह इब्नबतूता नामक एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवीं सदी के शुरू में मोरक्को के तनजीर में हुआ था। यह मार्को पोलो के ठीक एक पीढ़ी बाद पैदा हुआ था। इक्कीस साल का यह नौजवान लम्बी-चौड़ी दुनिया में अपनी ज़बर्दस्त यात्रा पर निकल पड़ा। समझ-बूझ, बुद्धि और एक मुसलमान क़ाज़ी से पाई हुई शिक्षा के सिवाय इसका कोई सम्बल नहीं था। मोरक्को से सारे उत्तरी अफ़्रीका को लाँघकर यह मिस्र जा पहुँचा और वहाँ से अरब और सीरिया और ईरान गया। फिर वह अनातोलिया (तुर्की), और दक्षिणी रूस (सुनहले क़बीले के मंगोल खानों के अधीन), और क़ुस्तुन्तुनिया (जो अभी तक बिजैन्तिया की राजधानी था), और मध्य-एशिया होता हुआ

भारत आया। भारत को उत्तर से दक्षिण तक लाँघकर वह मलावार और लंका पहुँचा, और फिर चीन चला गया। वापस लौटते वक़्त वह अफ़्रीका में घूमता फिरा, और उसने सहारा के रेगिस्तान तक को पार कर डाला। यात्रा का यह ऐसा लेखा है कि आज बहुतेरी सहूलियतों के होते हुए भी इसकी मिसाल बहुत दुर्लभ है। इसे देखकर चौदहवीं सदी के बारे में हमारी आँखें ताज्जुब से खुली रह जाती हैं, और इससे हमें पता लगता है कि उन दिनों साधारण यात्रा की क्या हालत थी। कुछ भी हो, इब्नबतूता पिछले व अगले सारे महान् यात्रियों में गिना जाना चाहिए।

इब्नबतूता की पुस्तक में, जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँ के निवासियों और देशों के बारे में बड़ी मज़ेदार बातें हैं। उस समय मिस्र मालदार था, क्योंकि पश्चिम के साथ भारत का सारा व्यापार यहीं होकर गुज़रता था और यह बड़े मुनाफ़े का धन्धा था। इन मुनाफ़ों के सबब से क़ाहिरा बड़ा शहर बन गया था, जिसमें बड़ी सुन्दर पुरानी इमारतें थीं। इब्नबतूता ने भारत में जात-पाँत का, सती का, और पान-सुपारी भेंट करने के रिवाजों का वर्णन किया है! उसकी पुस्तक से हमें पता चलता है कि भारत के सौदागर विदेशी बन्दरगाहों में ज़ोरों का व्यापार करते थे, और भारतीय जहाज़ समुद्रों पर यात्राएँ करते थे। उसने इस पर खासतौर से ध्यान दिया है और लिखा है कि सुन्दर स्त्रियाँ उसने कहाँ-कहाँ देखीं और उनके लिबास, इत्र-फुलेल व ज़ेवर किस-किस ढंग के थे। दिल्ली शहर का वह यों वर्णन करता है: "यह भारत की राजधानी है, एक विशाल और शानदार शहर है, जिसमें ख़ूबसूरती और मज़बूती मिली हुई हैं"। यह उस सनकी सुलतान महमूद तुग़लक का ज़माना था, जो क्रोध के आवेश में अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर दक्षिण में दौलतावाद ले गया था, और जिसने इस "विशाल व शानदार शहर" को "खाली, और कुछेक निवासियों के सिवा निर्जन" बना कर वीरान कर दिया था, और जो गिने-चुने लोग वहाँ थे, वे भी बहुत दिनों बाद चुपचाप वहाँ आ बसे थे।

मैंने इब्नबतूता के बहाव में थोड़ा बह जाने का ढंग निकाल लिया है, क्योंकि पुराने ज़माने की यात्राओं की ये कहानियाँ मुझे बहुत लुभाती हैं।

बस, हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी तक मध्य-पूर्व, यानी पश्चिमी एशिया, ने दुनिया के मामलों में बड़ा भारी हिस्सा लिया था, और यह पूर्व व पश्चिम को जोड़नेवाली मुख्य कड़ी था। पर अगले सौ वर्षों में हालत बदल गई। उस्मानी तुर्कों ने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया, और वे मिस्रसमेत मध्य-पूर्व के इन तमाम देशों में फैल गये। यूरोप व एशिया के बीच व्यापार को इन्होंने रोकने की कोशिश की, और इसका कुछ कारण यह था कि यह व्यापार भूमध्य सागर में

उनके मुक़ाबलेदार वियेनावासियों और जिनोआवासियों के हाथों में था। पर व्यापार ने खुद ही दूसरी राह पकड़ ली, क्योंकि नये समुद्री रास्ते खुल गये थे और इन समुद्री रास्तों ने खुश्की के पुरानी कारवानी रास्तों की जगह ले ली थी। इस तरह पश्चिमी एशिया में होकर गुज़रनेवाले ये खुश्की के रास्ते, जिन्होंने हज़ारों वर्षों तक बड़ा अच्छा काम दिया था, अब बेकाम हो गये, और जिन देशों में होकर ये गुज़रते थे, उनका महत्व धीरे-धीरे कम होता गया।

सोलहवीं सदी की शुरुआत से लगाकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक, यानी लगभग चार सौ वर्षों तक, समुद्री रास्तों का सबसे ऊँचा महत्व रहा। इन्होंने खुश्की के रास्तों को पीछे डाल दिया, ख़ासकर उन जगहों में, जहाँ रेलमार्ग नहीं थे—और पश्चिमी एशिया में तो रेलमार्ग थे ही नहीं। महायुद्ध से कुछ दिन पहले जर्मन सरकार के भरोसे पर, क़ुस्तुन्तुनिया और बग़दाद के बीच रेलमार्ग डालने की योजना बनाई गई थी। दूसरी शक्तियाँ यह ज़रा भी नहीं सहन कर सकती थीं कि जर्मनी इस काम को करे, क्योंकि इससे मध्य-पूर्व में जर्मनी का असर बढ़ जाता। मगर इसी बीच महायुद्ध शुरू हो गया।

१९१८ ई० में जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तब पश्चिमी यूरोप में इंग्लैण्ड का बोलबाला था और, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, ज़रा देर के लिए, भारत से लगाकर तुर्की तक एक महान् मध्य-पूर्वी साम्राज्य के नज़्ज़ारे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चौंधियाई हुई आँखों के आगे नाचने लगे। लेकिन यह तो होनेवाला न था। इस सपने के पूरा होने में बोलशेविक रूस और कमाल पाशा और दूसरे कारणों ने रुकावट डाल दी, लेकिन फिर भी इंग्लैण्ड बहुत-कुछ हिस्से पर क़ब्ज़ा जमाये रहा। इराक़ और फ़िलस्तीन अंग्रेज़ों के रौब या इख्तियार में बने रहे। इसलिए हालाँकि अंग्रेज़ लोग अपने लम्बे-चौड़े अरमानों को पूरा नहीं कर सके, पर वे भारत को जानेवाले मार्गों और भारत के दरवाज़ों पर क़ब्ज़ा बनाये रखने की अपनी पुरानी नीति पर टिके रहने में सफल हो गये। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश सेनाएँ युद्ध-काल में शाम व फ़िलस्तीन में लड़ी थीं और इसी उद्देश्य से उन्होंने तुर्की के खिलाफ़ अरबों के विद्रोह को भड़काया था और सहायता दी थी। यही वजह थी कि युद्ध के बाद मोसल के सवाल पर इंग्लैण्ड और तुर्की के बीच भारी झगड़ा पैदा हो गया। और इंग्लैण्ड व सोवियत रूस के बीच मन-मुटाव का यह एक खास कारण था, क्योंकि इंग्लैण्ड इस विचार को ही सख्त नापसन्द करता है कि रूस-जैसी बड़ी शक्ति भारत को जानेवाली राह के किनारे की मेंड़ पर बैठी हुई ताक लगाती रहे।

जिन दो रेलमार्गों के बारे में महायुद्ध से पहले इतना झगड़ा था—एक तो बग़दाद रेलवे और दूसरी हिजाज़ रेलवे—वे अब तैयार हो गये हैं। बग़दाद

रेलवे बग़दाद को भूमध्य-सागर व यूरोप से जोड़ती है। हिजाज़ रेलवे अरब देश में मदीना को अलेप्पो पर बग़दाद रेलवे से जोड़ती है (हिजाज़ अरब का सबसे ज्यादा महत्व का भाग है, जिसमें इस्लाम के मशहूर शहर मक्का और मदीना हैं)। इस तरह पश्चिमी एशिया के कई बड़े शहर रेलमार्गों के ज़रिये यूरोप व मिस्र से जुड़ गये हैं, और अब वहाँ आसानी से पहुँचा जा सकता है। अलेप्पो शहर बहुत बड़ा रेलवे जंकशन बनता जा रहा है, क्योंकि तीन महाद्वीपों के रेलमार्ग यहाँ मिलनेवाले हैं : पहला तो यूरोप से आनेवाला रेलमार्ग, दूसरा बग़दाद होकर एशिया से आनेवाला, तीसरा क़ाहिरा होकर अफ़्रीका से आनेवाला। एशिया और अफ़्रीका के इन रास्तों पर क़ाबू रखना ब्रिटिश नीति का बहुत वर्षों से इरादा रहा है। बग़दाद से आगे बढ़ाया जाने पर एशियाई रेलमार्ग भारत तक भी आ सकता है। अफ़्रीकावाले रेलमार्ग को अफ़्रीका महाद्वीप के ठेठ आर-पार क़ाहिरा से धुर दक्षिण में केपटाउन तक ले जाने का इरादा है। केप से क़ाहिरा तक 'पूरा-लाल' रेलमार्ग बहुत दिनों से अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों का सपना रहा है, और अब जल्दी ही पूरा होने जा रहा है। 'पूरा-लाल' का अर्थ यह है कि यह रेलमार्ग ठेठ ब्रिटिश प्रदेश में होकर गुज़रे, क्योंकि ब्रिटिश-साम्राज्य ने नक़शों में लाल रंग पर अपना इजारा कर लिया है।

कह नहीं सकते कि आगे चलकर ये बातें पूरी होंगी या नहीं; क्योंकि मोटरकार और हवाई-जहाज़ अब रेल के करारे मुक़ाबलेदार होते जा रहे हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने लायक़ है कि पश्चिमी एशिया के ये दोनों रेलमार्ग—बग़दाद रेलवे और हिजाज़ रेलवे—ज़्यादातर अंग्रेज़ों के इख़्तियार में हैं, और उनके इख़्तियार में भारत तक एक नया और सीधा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का मक़सद पूरा कर रहे हैं। बग़दाद रेलवे का एक टुकड़ा सीरिया में होकर गुज़रता है, जो फ़्रान्सीसियों के क़ब्ज़े में है। फ़्रान्सीसियों के भरोसे रहना ब्रिटिश सरकार पसन्द नहीं करती, इसलिए वह इसकी जगह फ़िलस्तीन में होकर एक नया रेलमार्ग डालने का इरादा कर रही है। एक और छोटा-सा रेल-मार्ग अरब में लाल सागर के बन्दरगाह जद्दा व मक्का के बीच बनाया जा रहा है। हर साल मक्का जानेवाले हज़ारों यात्रियों को इससे बड़ी सुविधा हो जायगी।

यह वर्णन रेलमार्गों की उस प्रणाली का है, जो पश्चिमी एशिया का दरवाज़ा दुनिया के लिए खोलती जा रही है। मगर यह काम पूरा होने से पहले ही इसका महत्व कुछ कम होता जा रहा है, और मोटरकार व हवाई-जहाज़ इसे हटाकर इसकी जगह ले रहे हैं। मोटरकार रेगिस्तान में बड़ी आसानी से चलती है, और उन्हीं कारवानी रास्तों पर सरपट दौड़ने लगती है, जिनपर चुपचाप कष्ट सहनेवाला ऊँट हज़ारों वर्षों से पैर घसीटता रहा है। रेलमार्ग पर बहुत ख़र्चा

बैठता है, और उसे बनाने में वक़्त भी बहुत लगता है। मोटर सस्ती पड़ती है और जब ज़रूरत हो तब फ़ौरन काम में ली जा सकती है। लेकिन मामूली तौर पर मोटर-गाड़ियाँ व लारियाँ लम्बी दूरियाँ तय नहीं कर सकतीं; वे तो ज्यादा-से-ज्यादा सौ मील के छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही इधर-उधर दौड़ सकती हैं।

मगर लम्बी-लम्बी दूरियों के लिए हवाई-जहाज़ है ही, जो रेल से सस्ता भी है और बहुत ज्यादा तेज़-रफ़्तारवाला भी। इसमें कोई शक नहीं कि सवारियाँ व सामान ढोने के लिए हवाई-जहाज़ों का उपयोग दिन-पर-दिन तेज़ी के साथ बढ़ता जायगा। इस दिशा में बड़ी भारी प्रगति हो चुकी है और हवाई रास्तों पर चलनेवाले खूब बड़े-बड़े हवाई-जहाज एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को बराबर आने-जाने लगे हैं। पश्चिमी एशिया फिर से इन बड़े हवाई रास्तों का चौराहा बन गया है, और बग़दाद तो इनका ख़ास केन्द्र हो गया है। लन्दन से भारत जानेवाले 'ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज़' के हवाई-जहाज बग़दाद होकर जाते हैं; इसी तरह डच के० एल० एम० के एम्स्टरडम से बटाविया जानेवाले हवाई-जहाज और 'एयर फ़ान्स' के पेरिस से हिन्द-चीन जानेवाले फ़ान्सीसी हवाई जहाज भी बग़दाद से गुज़रते हैं। मास्को व ईरान को भी बग़दाद से हवाई-जहाज़ जाते-आते हैं। चीन व सुदूर-पूर्व जानेवाले हवाई मुसाफ़िर को बग़दाद होकर जाना पड़ता है। बग़दाद से हवाई-जहाज़ क़ाहिरा भी जाते हैं, और वहाँ केपटाउन जानेवाले अफ़्रीकी हवाई-जहाज़ों से मिलान करते हैं।

हवाई-जहाज़ चलानेवाली ज्यादातर कम्पनियाँ घाटे में चल रही हैं, और इनकी अपनी-अपनी सरकारें इन्हें रुपये की भरपूर सरकारी सहायता देती हैं; क्योंकि साम्राज्यों के लिए हवाई ताक़त आज सबसे ज्यादा महत्व की चीज़ है। हवाई ताक़त की बढ़ोतरी के साथ-साथ समुद्री-ताक़त का महत्व बहुत कम हो गया है। इंग्लैण्ड, जिसे अपनी नौ-सेना पर बड़ा घमण्ड था और जो अपने को हमलों से बचा हुआ समझता था, अब बचाव के लिहाज़ से टापू नहीं रह गया। हवाई हमलों से उसे उतनी ही जोखम है, जितनी फ़्रान्स या दूसरे किसी देश को। इसलिए सारी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपनी-अपनी हवाई ताक़त बढ़ाने की धुन में हैं, और समुद्र पर मुक़ाबलेदारी की जगह अब हवाई मुक़ाबलेदारी ने ले ली है। शान्ति-काल में हर देश हवाई मुसाफ़िरी को बढ़ावा और सरकारी सहायता देता है, क्योंकि इसके ज़रिये ट्रेनिंग पाये हुए हवाबाज़ों की सेना तैयार हो जाती है, जिनका युद्ध-काल में इस्तेमाल किया जा सकता है। असैनिक उड़ान से फ़ौजी उड़ान के विकास में मदद मिलती है। इसलिए असैनिक उड़ान का बड़ी तेज़ी से विकास हो रहा है, और यूरोप व अमेरिका में हवाई आमद-रफ़्त के सैकड़ों सिलसिले चल रहे हैं। इस मामले में संयुक्त राज्य अमेरिका शायद सबसे आगे है। सोवियत

संघ में भी खूब प्रगति हुई है और इसके विशाल प्रदेशों में एक सिरे से दूसरे सिरे तक आमद-रफ़्त के बहुत सिलसिले चल रहे हैं।

हवाई शक्ति के इस युग में पश्चिमी एशिया ने नया महत्व हासिल कर लिया है। वजह यह है कि दूर-दूर देशों को जानेवाले हवाई रास्ते यहीं मिलान करते हैं। पश्चिमी एशिया ने संसार की राजनीति में फिर क़दम रक्खा है, और यह महाद्वीपों के आपसी सरोकार के मामलों की चूल बन गया है। इसका मतलब यह भी है कि पश्चिमी एशिया बड़ी-बड़ी शक्तियों की आपसी रगड़-झगड़ और लड़ाई का अखाड़ा बन गया है, क्योंकि इनकी हविसें टकराती हैं और हरेक शक्ति इस कोशिश में रहती है कि दूसरी को धोखा देकर आगे निकल जाय। अगर हम यह ध्यान में रख लें, तो हम उस नीति को समझ सकते हैं जिसने मध्य-पूर्व व दूसरे देशों में इंग्लैण्ड व दूसरी शक्तियों की कार्रवाइयों को ढाला है।

भारत को जानेवाले इस नये बड़े रास्ते में पड़ने के अलावा मोसल में तेल है, और हवाई ताक़त के इस युग में तेल का महत्व इतना ज्यादा बढ़ गया है, जितना पहले कभी नहीं था। इराक़ में तेल के महत्वपूर्ण कुएँ हैं, और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह महाद्वीपों के बीच चलनेवाली हवाई प्रणाली के ठीक बीच में है। इसलिए इराक़ पर क़ाबू रखने का अंग्रेज़ों के लिए बड़ा भारी महत्व है। ईरान में भी लम्बे-चौड़े तेल-क्षेत्र हैं, जिनमें से ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी बहुत अर्से से तेल निकाल-कर फ़ायदा उठा रही है। इस कम्पनी में ब्रिटिश सरकार के भी कुछ हिस्से हैं। तेल व पेट्रोल का महत्व बढ़ता जा रहा है, और साम्राज्यशाही नीतियों पर असर डाल रहा है। सच तो यह है कि आज की साम्राज्यशाही को कभी-कभी 'तेल की साम्राज्यशाही' भी कहा जाता है।[1]

इस पत्र में हमने कुछेक उन कारणों पर विचार किया है, जिन्होंने मध्य-पूर्व को नया महत्व दे दिया है और उसे संसार की राजनीति के भँवर में दुबारा ला पटका है। लेकिन इस सबके पीछे सारे एशियाई पूर्व की चेतना है।

: १६६ :

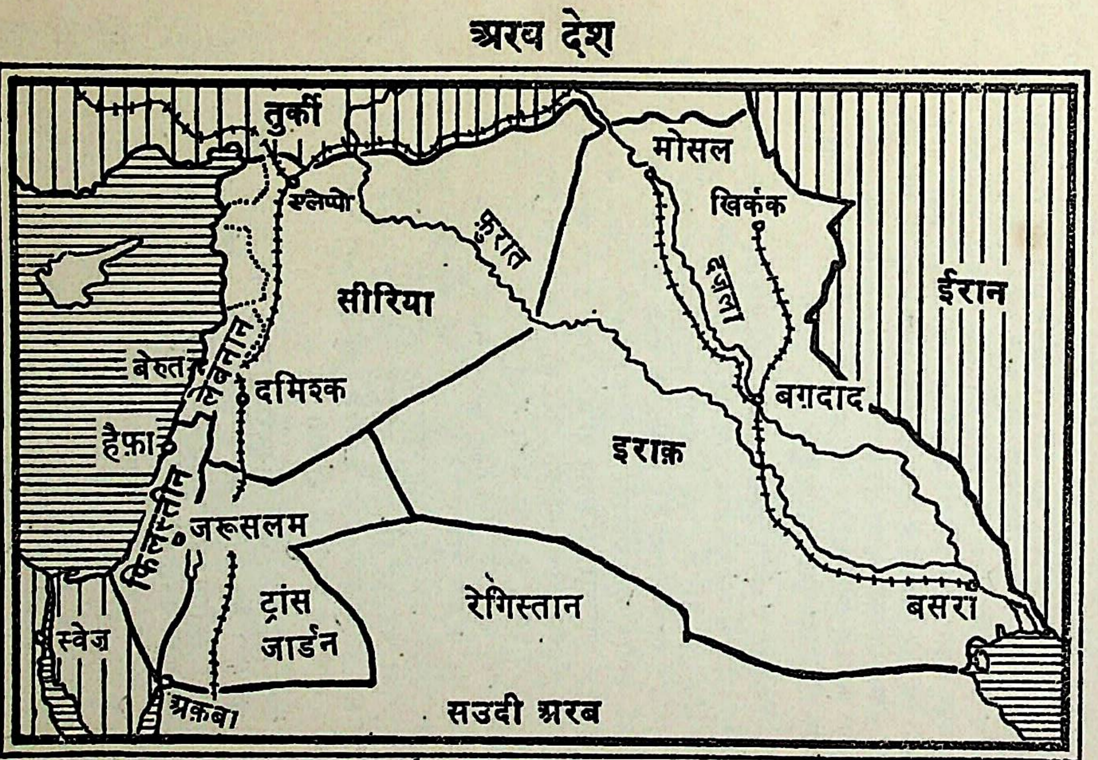
अरब-देश—सीरिया

२८ मई, १९३३

हम देख चुके हैं कि आमतौर पर एक-सी भाषा व परम्पराओंवाले देशों

[1] यहाँ तेल से अभिप्राय खनिज तेल से है, जिसमें से मिट्टी का तेल, पेट्रोल वग़ैरा अनेक आवश्यक चीज़ें निकलती हैं। यह तेल जमीन में छेद किये हुए कुओं में से निकाला जाता है।

अरब देश


तुर्की
मोसल
खिर्कूक
ईरान
अलेप्पो
फ़ुरात
दजला
सीरिया
लेबनान
बेरूत
दमिश्क
बग़दाद
हैफ़ा
इराक़
फ़िलस्तीन
जरूसलम
ट्रांस
जार्डन
रेगिस्तान
बसरा
स्वेज़
अक़बा
सऊदी अरब

में रहनेवाले अलग-अलग लोगों को एक डोरी में बाँधने और मज़बूत बनाने में राष्ट्रीयता कितना ज़ोरदार बल रही है। लेकिन जहाँ यह राष्ट्रीयता किसी एक समुदाय को एक डोरी में बाँधती है, वहाँ दूसरे समुदायों से उसका भेद जता देती है और उसे ज्यादा अलग कर देती है। मिसाल के लिए, राष्ट्रीयता ने फ़्रान्स को एक मज़बूत, ठोस राष्ट्रीय इकाई बना दिया है, जो कसकर बँधा हुआ है, और बाक़ी दुनिया को ऐसे देख रहा है मानो वह कोई दूसरी तरह की चीज़ हो; इसी तरह इसने जुदा-जुदा जर्मन क़ौमों को मिलाकर एक ताक़तवर जर्मन राष्ट्र बना दिया है। पर फ़्रान्स व जर्मनी का इस तरह अगल-अलग बँध जाना ही दोनों को एक दूसरे से और भी ज्यादा जुदा कर रहा है।

जिस देश में अपनी-अपनी खासियत रखनेवाले कई राष्ट्रीय समुदाय होते हैं, वहाँ राष्ट्रीयता अक्सर फूट डालनेवाले बल का काम करती है, जो देश को मज़बूत बनाने और एक डोरी में बाँधने के बजाय सचमुच उसे कमज़ोर कर देता है और उसे टूक-टूक करने लगता है। महायुद्ध से पहले आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य कई छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयों का ऐसा ही देश था, जिनमें से दो, यानी जर्मन-आस्ट्रियाई व हंगेरियाई, तो प्रधान थीं और बाक़ी उनकी मोहताज थीं। इसलिए राष्ट्रीयता की बढ़ोतरी ने आस्ट्रिया-हंगरी को कमज़ोर कर दिया, क्योंकि उसने हरेक राष्ट्रीय इकाई में अलग-अलग ताज़ा ज़िन्दगी भर दी, और इसके साथ उनमें आज़ादी की तमन्ना पैदा हुई। युद्ध ने मामले को और भी बिगाड़ दिया, और जब युद्ध के बाद हार सामने आई, तो देश छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया, और हर राष्ट्रीय क्षेत्र एक अलग राज्य बन गया (यह बँटवारा कुछ अच्छा या सही नहीं था, पर यहाँ हमें इसके ब्यौरे में जाने की ज़रूरत नहीं है)। दूसरी ओर, करारी हार के बावजूद भी, जर्मनी के टुकड़े नहीं हुए। राष्ट्रीयता के ज़बर्दस्त दबाव के नीचे वह आफ़त में भी बँधा रहा।

महायुद्ध के पहले, आस्ट्रिया-हंगरी की भाँति तुर्की भी कई राष्ट्रीय इकाइयों का जमघट था। बलकानी नस्लों के अलावा वहाँ अरबी, आर्मीनियाई, वग़ैरा नस्लें भी थीं। इसलिए इस साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता फूट डालनेवाला बल साबित हुई। सबसे पहले बलकान देशों पर इसका असर पड़ा, और उन्नीसवीं सदी में शुरू से आखीर तक तुर्की को, यूनान से शुरू करके, सब बलकानी नस्लों के साथ बारी-बारी से लड़ना पड़ा। बड़ी शक्तियों ने, और खासकर ज़ारशाही रूस ने, इस उगती हुई राष्ट्रीयता से फ़ायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साँठ-गाँठ की। उन्होंने आर्मीनियाई लोगों को उस्मानी साम्राज्य को कमज़ोर बनाने का और उसपर हथौड़े चलाने का औज़ार भी बनाया, और इसीलिए तुर्की सरकार और आर्मीनियाई लोगों में बार-बार लड़ाइयाँ हुईं, जिनके सबब से खूनी हत्या-

काण्ड हुए। बड़ी शक्तियों ने इन आर्मीनियाई लोगों को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करके प्रचार का साधन बनाया। पर महायुद्ध के बाद जब इनका कोई काम नहीं रहा, तो उन्होंने इन्हें अपने भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। बाद में आर्मीनिया, जो काले सागर से लगा हुआ तुर्की के पूर्व में है, एक सोवियत गणराज्य बन गया और रूसी सोवियत संघ में शामिल हो गया।

तुर्की उपनिवेशों के अरबी भागों को चेतन होने में ज्यादा वक़्त लगा, हालाँकि अरबों व तुर्कों में बहुत आपसी मन-मुटाव था। सबसे पहले संस्कृति की चेतना पैदा हुई और अरबी भाषा व साहित्य में फिर से जान पड़ी। इसकी शुरुआत सीरिया में १८६० ई० के लगभग ही हो गई थी, और फिर यह चीज़ मिस्र व दूसरे अरबी भाषा-भाषी देशों में फैली। तुर्की में १९०८ ई० की नौजवान तुर्क क्रान्ति और सुलतान अब्दुल हमीद के पतन के बाद राजनीतिक आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। अरबी मुसलमानों व ईसाइयों दोनों में राष्ट्रवादी भावनाएँ ज़ोर पकड़ने लगीं, और अरबी देशों को तुर्की-राज से आज़ाद करने और उन्हें मिलाकर एक राज्य बनाने का खयाल शक्ल लेने लगा। हालाँकि मिस्र अरबी भाषा-भाषी देश था, पर राजनीतिक लिहाज़ से वह बहुत-कुछ अलग-सा था। इसलिए इस सोचे गये अरबी राज्य में, जिसमें अरब, सीरिया, फ़िलस्तीन व इराक़ को शामिल करने का इरादा था, मिस्र के शरीक होने की आशा नहीं की गई थी। अरब लोग यह भी चाहते थे कि खलीफ़ा के पद को उस्मानी सुलतान से हटाकर किसी अरबी राजवंश में लाया जाय, जिससे दीन इस्लाम की नेतागिरी फिर उनके हाथ में आ जाय। इस चीज़ को भी मजहबी क़दम की बनिस्बत राष्ट्रीय क़दम ही ज्यादा माना गया,—ऐसा क़दम जो अरबों के महत्व और शान को चार चाँद लगानेवाला था। इसलिए सीरिया के ईसाई अरबों तक़ ने इसका समर्थन किया।

इंग्लैण्ड ने महायुद्ध के पहले से ही इस अरबी राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ साँठ-गाँठ शुरू कर दी थी। युद्धकाल में एक महान् अरबी सल्तनत के बारे में तरह-तरह के वायदे किये गए, और मक्का के शरीफ़ हुसैन ने अपने सामने लटकी हुई इस आशा से लुभाकर अंग्रेजों का साथ दिया और तुर्कों के खिलाफ़ अरबों की बग़ावत खड़ी की कि वह एक बड़ा शासक व खलीफ़ा बन जायगा। सीरिया के मुसलमान व ईसाई अरबों ने बग़ावत में शरीफ़ हुसैन का साथ दिया, और उनके कई नेताओं को इसकी क़ीमत अपनी जानें देकर चुकानी पड़ी, क्योंकि तुर्कों ने इन्हें फाँसी पर लटका दिया। ये लोग मई की ६ तारीख को दमिश्क और बेरूत में फाँसियों पर चढ़ाये गये थे, और तबसे इन राष्ट्रीय शहीदों की याद में यह दिन सीरिया में अभी तक मनाया जाता है।

अरबों का यह विद्रोह सफल हो गया; ब्रिटिश सरकार ने इसे रुपये की सहायता की थी, और अंग्रेज़ों के एक निराले व पोशीदा आदमी और ख़ुफ़िया विभाग के एजेण्ट कर्नल लॉरेन्स का इसमें ख़ास हाथ था। युद्ध ख़त्म होते-होते, तुर्कों के लगभग सारे अरबी उपनिवेश अंग्रेज़ों के इख़्तियार में आ गये थे। तुर्की साम्राज्य टूक-टूक हो गया था। मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि मुस्तफ़ा कमाल का, तुर्कों की स्वाधीनता के लिए अपनी लड़ाई में, ग़ैर-तुर्की प्रदेशों पर (कुर्दिस्तान के कुछ भाग के सिवा) क़ब्ज़ा जमाने का इरादा कभी नहीं रहा। उसने ख़ास तुर्की पर ही जमे रहकर बड़ी अक़्लमन्दी का काम किया।

इसलिए युद्ध के बाद इन अरबी देशों के भविष्य का निपटारा ज़रूरी हो गया। विजयी मित्र-राष्ट्रों ने, या यों कहो कि ब्रिटिश व फ़ान्सीसी सरकारों ने, ईमानदारी का ढोंग रचकर इन देशों के बारे में यह ज़ाहिर किया कि उनका इरादा था "अर्से से तुर्कों से सताई हुई क़ौमों की पूरी और साफ़-साफ़ मुक्ति, और ऐसी राष्ट्रीय सरकारों व प्रशासनों की स्थापना, जिनकी सत्ता उनके मूल निवासियों की पहल व स्वतन्त्र पसन्द में से निकलती हो"। इस ऊँचे इरादे को पूरा करने के लिए इन दोनों सरकारों ने इन अरबी राज्यों के बड़े भाग की आपस में बन्दर-बाँट शुरू कर दी। फ़ान्स और इंग्लैण्ड को, राष्ट्रसंघ के आशीर्वाद के साथ, 'फ़रमान' जारी कर दिये गए, जो साम्राज्यशाही शक्तियों का प्रदेश हड़पने का नया तरीक़ा था। फ़ान्स को सीरिया मिला; इंग्लैण्ड को फ़िलस्तीन और इराक़ मिल गये। अरब का सबसे बढ़िया हिस्सा हिजाज़, इंग्लैण्ड के पिट्ठू मक्का के शरीफ़ हुसैन के मातहत कर दिया गया। इस तरह एक अकेला अरबी राज्य बनाने के वायदों के बावजूद, इन अरबी प्रदेशों को अलग-अलग 'फ़रमानों' के अधीन अलग-अलग क्षेत्रों में बाँट दिया गया। हिजाज़ का एक राज्य अलबत्ता ऊपर से स्वाधीन था, पर वास्तव में वह अंग्रेज़ों के अधीन था। इन बँटवारों से अरब लोगों को भारी निराशा हुई और उन्होंने इन्हें अटल मानने से इन्कार कर दिया। लेकिन उन्हें तो अभी और भी अचम्भे और निराशाएँ देखना बाक़ी था, क्योंकि इन लोगों पर ज़्यादा आसानी से राज करने के लिए, हर 'फ़रमान' की हदों के भीतर वही पुरानी साम्राज्यशाही भेदनीति बरती जाने लगी। अब इन देशों में से हरेक पर अलग-अलग ग़ौर करना आसान होगा। इसलिए सबसे पहले मैं फ़ान्सीसी 'फ़रमान' सीरिया को लेता हूँ।

१९२० ई० के शुरू में सीरिया में, अंग्रेज़ों की मदद से अमीर फ़ैसल (हिजाज़ के शाह हुसैन का पुत्र) के अधीन एक अरबी सरकार क़ायम की गई। सीरियाई राष्ट्रीय कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ और उसने संयुक्त सीरिया के लिए एक लोकतन्त्री संविधान का मसविदा पास किया। लेकिन यह तो कुछ ही महीनों का

तमाशा था, क्योंकि १९२० ई० की गर्मियों में फ़ान्सीसी अपनी जेब में राष्ट्रसंघ का सीरिया के लिए 'फ़रमान' लेकर आ धमके, और उन्होंने फ़ैसल को निकाल बाहर किया और देश पर ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया। सब मिलाकर भी सीरिया एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी तीस लाख से कम है। लेकिन फ़ान्सीसियों के लिए यह बर्रों का छत्ता साबित हुआ, क्योंकि अब जब मुसलमान व ईसाई दोनों सीरियाई अरबों ने स्वाधीनता का फ़ैसला कर लिया था, तब वे किसी दूसरी शक्ति की हुकूमत को आसानी से कैसे मंजूर कर सकते थे! बस, वहाँ लगातार झगड़ा-फ़साद रहने लगा और जगह-जगह बलवे होने लगे और सीरिया में फ़ान्सीसियों का राज चलाने के लिए बड़ी भारी फ़ान्सीसी सेना की जरूरत पड़ गई। तब फ़ान्सीसी सरकार ने, साम्राज्यशाही के हस्ब-मामूल दाव-पेंच चलाये, और देश को और भी छोटे-छोटे राज्यों में बाँटकर और मज़हबी व अल्पसंख्यक मतभेदों को महत्व देकर सीरियाई राष्ट्रीयता को कमज़ोर करने का जतन किया। 'राज करने के लिए फूट डालने' की यह नीति इरादा करके अपनाई गई थी, और क़रीब-क़रीब सरकारी तौर पर ज़ाहिर कर दी गई थी।

सीरिया पहले ही छोटा-सा देश था; अब उसे पाँच अलग-अलग राज्यों में बाँट दिया गया। पश्चिमी समुद्र-तट पर लबनान पहाड़ों के नज़दीक लबनान का राज्य बना दिया गया। यहाँ की आबादी में ज्यादा संख्या ईसाइयों के मैरोनाइट सम्प्रदाय की थी। इन लोगों को सीरियाई अरबों के खिलाफ़ अपनी तरफ़ मिलाने के लिए फ़ान्सीसियों ने खास दर्जा दे दिया।

लबनान के उत्तर में, समुद्र के ही किनारे, पहाड़ों में, जहाँ अलावी नामक मुसलमान क़ौम निवास करती थी, एक और छोटा-सा राज्य बना दिया गया। इसके भी और आगे उत्तर में अलेग्ज़ेण्ड्रेटा नामक तीसरा राज्य क़ायम किया गया; यह तुर्की से लगा हुआ था और इसके निवासी ज्यादातर तुर्की भाषा-भाषी लोग थे।

इस तरह कट-छँटकर जो खास सीरिया रह गया, वह अपने सबसे ज्यादा उपजाऊ ज़िलों से महरूम था, और इससे भी ज्यादा खराबी की बात यह थी कि समुद्र से वह बिलकुल कट गया था। हजारों वर्षों से सीरिया भूमध्य सागर के किनारों के बड़े देशों में गिना जाता था, लेकिन अब यह प्राचीन रिश्ता टूट गया और उसे उजाड़ रेगिस्तान से नाता जोड़ना पड़ा। यही नहीं बल्कि इस बचे-खुचे सीरिया में से भी एक पहाड़ी टुकड़ा अलग करके जबल-उद्-द्रूज़ नामक अलग राज्य बना दिया गया, जहाँ क़बीलोंवाली द्रूज़ क़ौम बसती थी।

सीरियावासी शुरू से ही फ़ान्सीसी 'फ़रमान' को चुपचाप सहन करने को तैयार नहीं थे। वहाँ मुठभेड़ें और बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए, जिनमें अरब स्त्रियों ने

भाग लिया। फ़्रान्सीसियों ने इनका बड़ी सख़्ती से दमन किया। देश के बँटवारे ने, और मज़हबी व अल्पसंख्यक समस्याएं खड़ी करने के जान-बूझकर किये गए प्रयत्न ने, मामला और भी बिगाड़ दिया और असन्तोष बढ़ने लगा। इसे दबाने के लिए फ़्रान्सीसियों ने, भारत में अँग्रेजों के ढंग पर, व्यक्तिगत व राजनीतिक आजादी पर पाबन्दियाँ लगा दीं, और देश-भर में अपने भेदियों व ख़ुफ़िया विभाग के आदमियों का जाल फैला दिया। उन्होंने ऐसे 'वफ़ादार' सीरियाइयों को सरकारी ओहदों पर मुक़र्रर किया, जिनका जनता पर कोई असर नहीं था और जिन्हें उनके देशवासी आमतौर पर ग़द्दार समझते थे। अलबत्ता यह सब ख़ूब नेक-नीयती का ढोंग रचकर किया गया, और फ़्रान्सीसियों ने घोषणा की कि वे "सीरियाइयों को राजनीति में समझदार बनाने के लिए और स्वाधीनता के लिए तैयार करना अपना फ़र्ज़" समझते हैं। यह फ़िक़रा भारत में भी ख़ूब जाना-पहचाना है।

मामला नाज़ुक होता जा रहा था, ख़ासकर जबल-उद्-द्रूज़ के लड़ाक व कुछ-कुछ आदिम निवासियों में (जो हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के क़बीलों से मिलते-जुलते हैं)। फ़्रान्सीसी गवर्नर ने इन द्रूज़ों के नेताओं के साथ बड़ी गन्दी चाल खेली। उसने इन्हें बुलाया और फिर क़ैद करके बन्धक बनाकर रख लिया। यह घटना १९२५ ई० की गर्मियों में हुई, और जबल-उद्-द्रूज़ में फ़ौरन बलवा फूट पड़ा। यह मुक़ामी विद्रोह सारे देश में फैल गया, और सीरिया की आज़ादी व एकता के लिए आम बग़ावत बन गया।

सीरिया की स्वाधीनता का यह युद्ध एक निराली चीज़ था। भारत के दो या तीन ज़िलों के आकार का यह छोटा-सा देश उस फ़्रान्स से लड़ने को खड़ा हो गया, जो उस समय संसार की सबसे ज़बर्दस्त फ़ौजी शक्ति था। यह तो सही है कि सीरियाई लोग फ़्रान्स की बेशुमार और साज़-सामान से पूरी तरह लैस सेनाओं से जमकर लड़ाइयाँ नहीं लड़ सकते थे, पर उन्होंने इनका देहाती इलाक़ों पर क़ब्ज़ा रखना मुश्किल कर दिया। फ़्रान्सीसियों के क़ब्ज़े में सिर्फ़ बड़े-बड़े नगर थे, और इनपर भी सीरियाई लोग अक्सर छापे मारते रहते थे। फ़्रान्सीसियों ने हज़ारों को गोलियों से भूनकर और बहुत-से गाँवों को आग लगाकर लोगों में दहशत फैलाने का भरसक प्रयत्न किया। अक्तूबर, १९२५ ई० में दमिश्क के मशहूर पुराने शहर पर भी बम बरसाये गए और उसका बहुत-सा हिस्सा तबाह कर दिया गया। सारा-का-सारा सीरिया फ़ौजी छावनी बन गया था। पर यह सबकुछ होते हुए भी उपद्रव दो साल तक नहीं दबा। आख़िरकार फ़्रान्स की ज़बर्दस्त फ़ौजी मशीन ने इसे कुचल दिया, पर सीरियाइयों की महान् क़ुर्बानियाँ अकारथ नहीं थीं। उन्होंने अपनी आज़ादी का हक़ साबित कर दिया था, और दुनिया जान गई थी कि वे किस मसाले के बने हुए थे।

ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि फ़्रान्सीसियों ने तो इस उपद्रव को मज़हबी रंग देने की कोशिश की और ईसाइयों को द्रूज़ों से लड़ाना चाहा, पर सीरियाइयों ने साफ़ कह दिया कि वे तो राष्ट्रीय आजादी के लिए लड़ रहे थे, किसी मज़हबी मक़सद के लिए नहीं। उपद्रव के ठेठ शुरू में ही द्रूज़ प्रदेश में एक कामचलाऊ सरकार क़ायम कर ली गई थी। इस सरकार ने एक घोषणा जारी की, जिसमें जनता से अपील की गई थी कि वह स्वाधीनता के युद्ध में शरीक होकर "एक व अखण्ड सीरिया के लिए स्वाधीनता" हासिल करे, "संविधान का मसौदा बनाने के लिए संविधान-सभा का आज़ाद चुनाव हो, देश में दखल जमानेवाली विदेशी सेना हटाई जाय, और सुरक्षा का ज़िम्मा लेने के लिए तथा फ़्रान्सीसी क्रान्ति व मानव-अधिकारों के उसूलों को लागू करने के लिए एक राष्ट्रीय सेना तैयार की जाय।" मतलब यह कि फ़्रान्सीसी सरकार और फ़्रान्सीसी सेना ने ऐसी क़ौम को दबाने की कोशिश की, जो फ़्रान्सीसी क्रान्ति के उसूलों के लिए और उसके ऐलान किये हुए हक़ों के लिए लड़ रही थी!

१९२८ ई० के शुरू के दिनों में ही सीरिया में फ़ौजी शासन खत्म हो गया; अखबारों पर से सेन्सर भी हटा लिया गया; बहुत-से राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये गए। राष्ट्रवादियों की माँग के मुताबिक़ संविधान का मसौदा बनाने के लिए एक संविधान-सभा बनाई गई। लेकिन अलग-अलग मज़हबी निर्वाचक मण्डलों का जाल रचकर (जैसा कि आजकल भारत में है), फ़्रान्सीसियों ने आफ़त के बीज बो दिये। मुसलमानों, यूनानी कैथलिकों, यूनानी कट्टर-पन्थी ईसाइयों और यहूदियों के लिए अलग-अलग परकोटे बना दिये गए और हर मतदाता को अपने ही मज़हबी तबक़े के आदमी को वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क में एक विचित्र और आँखें खोलनेवाली सूरत पैदा हो गई। राष्ट्रवादियों का नेता प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टेण्ट होने के नाते वह किसी खास निर्वाचक-मण्डल में नहीं आता था, और इसलिए चुना ही नहीं जा सकता था, हालाँकि वह दमिश्क के सबसे ज्यादा लोकप्रिय आदमियों में गिना जाता था। मुसलमानों ने अपनी दस सीटों में से एक सीट खाली करने की तैयारी दिखाई ताकि वह प्रोटेस्टेण्टों को दी जा सके, पर फ़्रान्सीसी सरकार इसपर राज़ी नहीं हुई।

फ़्रान्सीसियों की इन तमाम कार्रवाइयों के बावजूद संविधान-सभा पर राष्ट्रवादियों का क़ब्ज़ा हो गया, और उन्होंने सीरिया के लिए स्वाधीन व प्रभु-राज्य के संविधान का मसौदा बनाया। इसके मुताबिक़ सीरिया ऐसा गणराज्य बननेवाला था, जिसमें सारी सत्ता का स्रोत जनता थी। इस संविधान में फ़्रान्सीसियों का या उनके 'फ़रमान' का कहीं ज़िक्र भी न था। फ़्रान्सीसियों ने इसपर अपना विरोध ज़ाहिर किया, मगर संविधान-सभा टस-से-मस न हुई, और महीनों तक खींच-

तान होती रही। अन्त में फ़ान्सीसी हाई कमिश्नर ने सुझाव रक्खा कि इस संविधान को सिर्फ़ एक कामचलाऊ दफ़ा के साथ पास कर दिया जाय; और वह यह कि जब तक 'फ़रमान' चलता रहे तबतक संविधान की किसी दफ़ा को ऐसे लागू न किया जाय कि वह 'फ़रमान' के मातहत फ़ान्स की जिम्मेदारियों के ख़िलाफ़ पड़े। यह कुछ गोलमोल बात थी, पर फिर भी फ़ान्सीसियों की तो इसमें बड़ी हेठी होती थी। लेकिन संविधान-सभा यह बात भी मानने को तैयार नहीं हुई। निदान, मई, १९३० ई०, में फ़ान्सीसी सरकार ने संविधान-सभा को भंग कर दिया और साथ ही संविधान का अपना तैयार किया हुआ मसौदा ज़ाहिर कर दिया, जिसमें वह काम-चलाऊ दफ़ा जोड़ दी गई थी।

इस तरह ख़ास सीरिया जो कुछ चाहता था, उसका बड़ा हिस्सा हासिल करने में सफल हो गया। मगर न तो उसने अपनी किसी एक भी माँग को समझौते की ख़ातिर ढीली किया और न छोड़ा। दो चीज़ें रह गई थीं—एक तो 'फ़रमान' का अन्त, जिसके साथ कामचलाऊ दफ़ा भी ख़त्म हो जाती; दूसरी सीरिया की एकता का बड़ा सवाल। इनके अलावा वैसे यह संविधान प्रगति की तरफ़ ले जाने-वाला है, और ऐसा बनाया गया है कि देश पूरी तरह आज़ाद हो जाय। अपने महान् विद्रोह में सीरियाइयों ने अपने को बहादुर और हठी लड़ाके साबित कर दिया, और बाद में समझौते की बातचीत में भी वे उतने ही पक्के इरादेवाले और अटल बने रहे, और उन्होंने पूरी आज़ादी की अपनी माँग को ज़रा भी मुलायम करने या शर्तों में बाँधने से इन्कार कर दिया।

नवम्बर, १९३३ ई० में फ़ान्स ने सीरिया के 'डिपुटियों के चैम्बर' के सामने एक सन्धि रक्खी। इस चैम्बर में ऐसे लोग भर दिये गए थे, जो फ़ान्स की तरफ़ झुके हुए थे। इसमें फ़ान्सीसी सरकार के हिमायती नर्मदली लोगों का बहुमत था। लेकिन इसपर भी चैम्बर ने इस सन्धि को ठुकरा दिया। इसकी वजह यह थी कि फ़ान्स एक तो इसपर अड़ा हुआ था कि सीरिया का पाँच राज्यों में मौजूदा बँटवारा बना रहे और दूसरे यह कि सीरिया में उसकी छावनियाँ, बारकें, हवाई अड्डे और फ़ौजें क़ायम रहें।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८):

चेकोस्लोवाकिया में नात्सियों की शानदार जीत ने, और यूरोप पर जर्मनी के बढ़ते हुए दबदबे ने और उपनिवेशों के लिए उसकी माँग ने, संसार-भर में एक नई सूरत पैदा कर दी है। फ़ान्स अब बड़ी शक्तियों की दूसरी क़तार में हो गया है, और इतने लम्बे-चौड़े समुद्रपार साम्राज्य को ज़्यादा दिनों तक नहीं सम्हाल सकता। फ़िलस्तीन में जो मुश्किलें पैदा हो गई हैं, उनके सबब से यह सुझाव दिया जा रहा

है कि सीरिया और फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन को एक करके उनका अरब-संघ बनाया जा सकता है।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन

२९ मई, १९३३

सीरिया से लगा हुआ फ़िलस्तीन है, जिसपर ब्रिटिश सरकार को राष्ट्रसंघ से 'फ़रमान' मिला हुआ है। यह देश तो और भी छोटा है, जिसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन जो अपने पुराने इतिहास और लगावों की वजह से लोगों का ध्यान बहुत खींचता है। क्योंकि यह यहूदियों व ईसाइयों, दोनों की पवित्र-भूमि है, और कुछ हद तक मुसलमानों की भी है। इसके निवासी ज्यादातर मुसलमान अरब हैं, और वे आज़ादी की और सीरिया के अपने अरब-भाइयों के साथ एकता की माँग करते हैं। लेकिन अंग्रेज़ों की नीति ने यहाँ यहूदियों की ख़ास अल्पसंख्यक समस्या खड़ी कर दी है। ये यहूदी अंग्रेज़ों का पक्ष लेते हैं और फ़िलस्तीन की आज़ादी का विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि इससे वहाँ अरबी राज हो जायगा। अरब और यहूदी अलग-अलग दिशाओं में ज़ोर लगा रहे हैं, इसलिए आपसी मुठभेड़ें हो जाना लाज़िमी है। अरबों की तरफ़ उनकी बड़ी संख्या है; दूसरी तरफ़ रुपये के ज़बर्दस्त साधन हैं और यहूदी क़ौम का संसार-व्यापी संगठन है। इसलिए इंग्लैण्ड यहूदी मज़हबी राष्ट्रीयता को अरब राष्ट्रीयता के मुक़ाबले में खड़ी कर रहा है, और दुनिया में दिखावा यह करता है कि बीच-बचाव करनेवाले की हैसियत से और दोनों के बीच अमन रखने के लिए उसका वहाँ बना रहना ज़रूरी है। यह वही पुराना खेल है, जिसे हम साम्राज्यशाही हुकूमत के मातहत दूसरे देशों में देख चुके हैं; यह अनोखी बात है कि इसे बार-बार दोहराया जाता है।

यहूदी लोग बड़ी निराली क़ौम हैं। शुरू-शुरू में फ़िलस्तीन में इनका छोटा-सा क़बीला था, या कई क़बीले थे, और इनकी पहले की कहानी बाइबिल के पुराने अहदनामे (तौरात) में बयान की गई है। वे बड़े ही मग़रूर थे, और यह समझते कि वे 'ख़ुदा की प्यारी क़ौम' हैं। लेकिन इस तरह की मग़रूरी में लगभग सभी क़ौमें फँसी हुई हैं। यहूदियों को बार-बार जीता गया, उनका दमन किया गया और उन्हें ग़ुलाम बनाया गया, और बाइबिल के सही माने गये अनुवाद में इन यहूदियों के जो गीत और विलाप दिये हुए हैं, वे अंग्रेज़ी भाषा की सबसे सुन्दर और मर्मस्पर्शी कविताओं में गिने जाते हैं। मेरा ख़याल है कि मूल हिब्रू भाषा में वे इतने ही या इससे ज्यादा सुन्दर होंगे। एक भजन की कुछ सतरें मैं यहाँ देना चाहता हूँ:

"बाबिलन के समुद्रतट पर हम बैठ गये और विलाप करने लगे : उस समय ऐ ज़ाइयन[1] हमें तेरी याद आई।

अपने सुरमण्डलों[2] को हमने लटका दिया : उन पेड़ों पर जो वहीं थे।

क्योंकि जो हमें बन्दी बनाकर हाँक ले गये थे, वे हमसे, हमारी रंजीदा हालत में, एक गीत और राग सुनना चाहते थे : हमें ज़ाइयन का एक गीत सुनाओ।

हम प्रभु का गीत कैसे गावें : एक बिराने देश में ? ऐ येरूशलम, अगर मैं तुझे भूल जाऊँ : तो मेरा दाहिना हाथ अपना हुनर भूल जाय।

अगर मैं तुझे याद न करूँ, तो मेरी ज़बान तालू से चिपक जाय; हाँ, अगर हँसी-खेल में भी मैं येरूशलम का तिरस्कार करूँ।"

आख़िरकार ये यहूदी संसार-भर में बिखर गये। इनका न तो कोई वतन था और न कोई राष्ट्र, इसलिए जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ-वहाँ उनके साथ नागवार और नापसन्द अजनबियों जैसा बर्ताव किया गया। इन्हें शहरों के ख़ास मोहल्लों में, जिन्हें 'गैटो' कहते थे, दूसरों से बिलकुल अलग बसाया गया, ताकि ये दूसरों को नापाक न कर दें। कभी-कभी तो इन्हें ख़ास तरह का लिबास पहनने को मजबूर किया जाता था। इन्हें ज़लील किया जाता था, नफ़रतभरे ताने सुनाये जाते थे, भयानक तकलीफ़ें दी जाती थीं, और हत्याकाण्डों के ज़रिये मौत के घाट उतार दिया जाता था। 'यहूदी' शब्द ही एक गाली, और कंजूस व मक्खीचूस बौहरे का अर्थ रखनेवाला शब्द बन गया है। इतने पर भी यह अद्‌भुत क़ौम इस सबमें से न सिर्फ़ ज़िन्दा निकल आई, बल्कि अपनी नस्ली व संस्कृति की ख़ास निशानियाँ भी क़ायम रख सकी, और ख़ूब फूली-फली, और इसने ढरों महान् पुरुषों को जन्म दिया। आज यहूदियों ने वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों, साहूकारों, व्यापारियों, वग़ैरा में आगे का दर्जा हासिल कर लिया है; यहाँतक कि बड़े-से-बड़े समाजवादी और साम्यवादी भी यहूदी रहे हैं। अलबत्ता इनमें ज्यादातर लोग बहुत मालदार नहीं हैं, ये पूर्वी यूरोप के शहरों में भरे हुए हैं, और समय-समय पर इन्हें 'पोग्रोमों' यानी हत्याकाण्डों का शिकार बनना पड़ता है। इन बे-घरबार और बे-वतन लोगों ने, ख़ासकर इनमें से ग़रीबों ने, उस पुराने येरूशलम के सपने देखना कभी नहीं छोड़ा जो उनकी कल्पना में इतना महान् व शानदार दिखाई देता है जितना असलियत में वह कभी रहा ही नहीं। वे येरूशलम को ज़ाइयन कहते हैं और उसे बहिश्त (स्वर्ग) की तरह मानते हैं। ज़ाइयनवाद वही पुरातन की पुकार है, जो इन्हें येरूशलम व फ़िलस्तीन की ओर खींचती है।

---

[1] Zion or Sion—येरूशलम की एक पहाड़ी, जिसपर हज़रत दाऊद का निवास-स्थान था।

[2] एक प्रकार का तारों का बाजा।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में इस ज़ाइयनवादी आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बसाने के आन्दोलन की शक्ल ले ली, और बहुत-से यहूदी फ़िलस्तीन में बसने को चले गये। इबरानी भाषा को भी फिर से जिलाया गया। महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश सेनाओं ने फ़िलस्तीन पर धावा किया, और जब वे येरूशलम पर कूच कर रही थीं तब ब्रिटिश सरकार ने, नवम्बर, १९१७ ई० में एक घोषणा की जो बालफ़ोर-घोषणा कहलाती है। उन्होंने ऐलान किया कि उनका इरादा फ़िलस्तीन में 'यहूदी राष्ट्रीय वतन' क़ायम करने का है। यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी क़ौम की सद्‌भावना हासिल करने के लिए की गई थी, और पैसे के लिहाज़ से इसका महत्व भी था। यहूदियों ने इसका स्वागत किया। लेकिन एक छोटी-सी कमी रह गई! मालूम होता है एक ऐसी हक़ीकत पर ध्यान ही नहीं गया, जो कम महत्व की नहीं थी। फ़िलस्तीन कोई वीरान जंगल या ख़ाली और बे-आबाद जगह नहीं थी। वह तो पहले से ही किसी दूसरों का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने जो यह फ़ैय्याज़ी दिखाई वह वास्तव में उन लोगों को नुक़सान पहुँचाने-वाली थी, जो फ़िलस्तीन में पहले से ही रहते आये थे। और इन लोगों ने, जिनमें अरब, ग़ैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, और वास्तव में सारे ग़ैर-यहूदी शामिल थे, इस घोषणा पर ज़ोरदार विरोध ज़ाहिर किया। यह तो असल में आर्थिक सवाल था। इन लोगों को लगा कि यहूदी लोग तमाम काम-धन्धों में उनका मुक़ाबला करेंगे, और अपनी भारी दौलत के बल पर देश के आर्थिक स्वामी बन जायँगे। उन्हें डर था कि यहूदी लोग उनके मुँह की रोटी और किसान-वर्ग की धरती छीन लेंगे

तभी से फ़िलस्तीन की कहानी अरबों और यहूदियों के बीच लड़ाई-झगड़े की कहानी रही है, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने हवा के रुख़ के मुताबिक़ कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लिया है; लेकिन आमतौर पर यहूदियों की हिमायत की है। इस देश को बिना स्वराज का ब्रिटिश उपनिवेश माना जाता रहा है। अरबों ने ईसाइयों व दूसरी ग़ैर-यहूदी क़ौमों का सहारा लेकर आत्म-निर्णय के हक़ की और पूरी आज़ादी की माँग रक्खी है। उन्होंने 'फ़रमान' पर और नये आनेवालों पर इस वजह से सख़्त ऐतराज़ किया है कि वहाँ ज़्यादा लोगों के लिए गुंजायश ही नहीं है। ज्यों-ज्यों यहूदी आवासियों का ताँता बँध रहा है, त्यों-त्यों उनका डर व ग़ुस्सा भी बढ़ते जा रहे है। अरबों ने साफ़ कह दिया है कि "ज़ाइयन-वाद ब्रिटिश साम्राज्यशाही का मददगार है; ज़िम्मेदार ज़ाइयनवादी नेता इसपर बराबर ज़ोर देते रहे हैं कि बलवान 'यहूदी राष्ट्रीय वतन' भारत के मार्ग पर पहरा देने के लिए अंग्रेज़ों के लिए बहुत फ़ायदेमन्द होगा, और सिर्फ़ इस कारण होगा कि वह अरबों की राष्ट्रीय तमन्नाओं को रोकनेवाला बल है।" भारत का नाम कैसी अटपटी जगहों में उठ खड़ा होता है

अरब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग का, और उसके हाथों बनाई जानेवाली विधान-परिषद् के चुनावों के बायकाट का फ़ैसला किया। यह बायकाट बड़ा सफल हुआ, और परिषद् बन ही नहीं सकी। एक तरह के असहयोग की नीति वर्षों चलती रही; फिर वह ज़रा हलकी पड़ गई और कुछ तबक़ों ने ब्रिटिश सरकार को कुछ सहयोग दिया। मगर इसपर भी अंग्रेज़ लोग चुनी हुई परिषद् नहीं बनवा सके और हाई कमिश्नर सर्व-सत्ताधारी सुलतान की तरह हुकूमत करने लगा।

१९२८ ई० में जुदा-जुदा अरबी फ़िरक़े अरब कांग्रेस में मिलकर फिर एक हो गये, और उन्होंने "अपने हक़ की तरह" लोकतन्त्री पार्लमेण्टी ढंग की सरकार की माँग की। उन्होंने निडर होकर यह भी कह दिया कि "फ़िलस्तीन की जनता मौजूदा निरंकुश उपनिवेशी ढंग की हुकूमत को न तो बर्दाश्त कर सकती है और न करेगी।" अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर का ध्यान देने लायक़ पहलू था आर्थिक सवालों पर ज़ोर दिया जाना। यह हमेशा इस बात का चिह्न हुआ करता है कि लोग मौक़े की असलियत के महत्व को दिन-पर-दिन ज़्यादा समझते जा रहे हैं।

अगस्त, १९२९ ई० में बड़े भारी अरब-यहूदी दंगे हुए। इनका असली सबब तो था यहूदियों की बढ़ती हुई दौलत व संख्या की वजह से अरबों में कड़वाहट और डर फलना, और साथ ही यहूदियों की तरफ़ से अरबों की आज़ादी की माँग का विरोध। लेकिन नज़दीकी सबब उस दीवार का झगड़ा था, जो "विलाप की दीवार"[1] कहलाती है। यह दीवार पुराने ज़माने में हिरोद के मन्दिर के पर-कोटे का हिस्सा थी। इसलिए यहूदियों के लिए यह पवित्र जगह है और वे इसे अपने उन दिनों की यादगार मानते हैं जब वे एक महान् क़ौम थे। बाद में इस जगह मस्जिद बना दी गई, और यह दीवार उसीकी इमारत में शामिल कर दी गई। यहूदी लोग इस दीवार के पास प्रार्थना करते हैं, और ज़ोर-ज़ोर से नौहा[2] पढ़ते हैं। इसीलिए इसका नाम "विलाप की दीवार" पड़ गया है। अपनी एक सबसे मशहूर मस्जिद के पास इस नौहा-गरी पर मुसलमान लोग ऐतराज़ करते हैं।

दंगों के दबा दिये जाने के बाद यह झगड़ा दूसरे तरीक़ों से चलने लगा। और अनोखी बात यह है कि अरबों को इसमें फ़िलस्तीन के सारे ईसाई सम्प्रदायों का समर्थन हासिल था। इसलिए मुसलमानों और ईसाइयों, दोनों ने एक होकर बड़ी-बड़ी हड़तालें और प्रदर्शन किये। स्त्रियों तक ने भी इसमें आगे होकर भाग लिया। इससे जाहिर होता है कि असली झगड़ा मज़हबी नहीं था, बल्कि नये

[1] Wailing Wall.

[2] बाइबिल के पुराने अहदनामे का वह अंश, जिसमें यहूदी क़ौम का विलाप है।

आनेवालों और पुराने निवासियों के बीच आर्थिक टक्कर थी। ब्रिटिश हुकूमत 'फ़रमान' के मातहत अपने फ़र्ज़ पूरे नहीं कर सकी, और ख़ासकर १९२९ ई० के दंगों को न रोक सकी; इसके लिए राष्ट्रसंघ ने उसकी कड़ी निन्दा की।

बस, फ़िलस्तीन असल में एक ब्रिटिश उपनिवेश बना हुआ है, और कुछ बातों में तो मुकम्मिल उपनिवेश से भी बदतर है। और अंग्रेज़ लोग यहूदियों को अरबों के खिलाफ़ अपना मोहरा बनाकर इस हालत को बरक़रार रख रहे हैं। यहाँ अंग्रेज कर्मचारी भरे हुए हैं और तमाम ऊँचे ओहदों को घेरे हुए हैं। जैसाकि अंग्रेज़ों के सब अधीन देशों में होता आया है, यहाँ भी शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया गया है, हालांकि अरब लोग बहुत ही चाहते हैं। यहूदियों के आलीशान स्कूल और कॉलेज हैं, क्योंकि उनके पास रुपये-पैसे के खूब साधन हैं। यहूदियों की आबादी मुसलमानों की आबादी की लगभग एक-चौथाई तक तो पहुँच ही चुकी है, और उनकी आर्थिक शक्ति भी बहुत ज़्यादा है। वे तो शायद उस दिन की आस लगाये बैठे हैं जिस दिन फ़िलस्तीन में उनकी क़ौम का बोलबाला होगा। राष्ट्रीय आज़ादी व लोकतन्त्री शासन के लिए अपनी लड़ाई में अरबों ने यहूदियों का सहयोग हासिल करने की कोशिश की, पर इस प्रस्ताव को यहूदियों ने ठुकरा दिया। उन्होंने विदेशी शासक शक्ति का पक्ष लेने में ही अपना भला समझा है, और इस तरह बहुसंख्यक जनता की आज़ादी रोक रखने में उसे मदद पहुँचाई है। इसलिए ताज्जुब नहीं कि यह बहुमत, जिसमें अरबों की सबसे ज़्यादा संख्या है और ईसाई भी हैं, यहूदियों के इस रुख पर सख्त नाराज है।

ट्रान्स-जॉर्डन

फ़िलस्तीन से लगा हुआ, जॉर्डन नदी के उस पार एक और छोटा-सा राज्य है, जो अंग्रेज़ों की युद्ध के बाद की उपज है। यह ट्रान्स-जॉर्डन कहलाता है। यह नन्हा-सा इलाक़ा रेगिस्तान की सीमा पर है और सीरिया व अरब के बीच में है। इस राज्य की कुल आबादी तीन लाख है, जो किसी बिचले दर्जे के शहर के बराबर भी नहीं है! ब्रिटिश सरकार इसे आसानी से फ़िलस्तीन में शामिल कर सकती थी, पर साम्राज्यशाही नीति मिलाकर एक करने के बजाय बँटवारा करना हमेशा बेहतर समझती है। यह राज्य भारत को जानेवाले खुश्की और हवाई रास्ते में एक महत्वपूर्ण मंज़िल की तरह है। रेगिस्तान और पश्चिम में समुद्र तक फैले हुए उपजाऊ प्रदेशों के बीच यह उपयोगी सरहदी राज्य भी है।

छोटा-सा होने पर भी इस राज्य में घटनाओं का वही सिलसिला चलता रहता है जो पड़ौस के बड़े देशों में। यहाँ भी लोकतन्त्री पार्लमेण्ट के लिए माँग है, जो मानी नहीं जाती, प्रदर्शनों का दमन होता है, अखबारों पर सेन्सर है, नेताओं

को देश-निकाला है, सरकारी कार्रवाइयों का बायकाट है, वगै़रा, वगै़रा। अंग्रेज़ों ने अमीर अब्दुल्ला (हिजाज़ के शाह हुसैन का दूसरा पुत्र और फ़ैसल का भाई) को बड़ी चालाकी से ट्रान्स-जॉर्डन का शासक बना दिया, जो पूरी तरह उनके अँगूठे के नीचे कठपुतली शासक है। लेकिन वह अंग्रेज़ों को जनता से छिपानेवाले परदे का काम देता है। जो कुछ वहाँ होता है, उसका ज्यादातर क़सूर उसीके सिर मढ़ा जाता है, और जनता उससे बुरी तरह नाराज़ होती जा रही है। अब्दुल्ला के मातहत ट्रान्स-जॉर्डन वास्तव में कुछ ऐसा ही है जैसे कि हमारी बहुत-सी छोटी-छोटी देशी रियासतें।

फ़र्ज़ी तौर पर तो यह राज्य स्वाधीन है, लेकिन १९२८ ई० में अब्दुल्ला ने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस सन्धि पर दस्तख़त किये थे, उसके मुताबिक़ इंग्लैण्ड को तरह-तरह की फ़ौजी व दूसरी ख़ास रियायतें दे दी गई हैं। अंग्रेज़ों की छत्रछाया में नये नमूने की जो स्वाधीनता गुलज़ार होती है, उसकी यह छोटे पैमाने पर एक और मिसाल है। मुसलमान और ईसाई दोनों ही इस सन्धि से, और आमतौर पर इस हालत से, बुरी तरह नाराज़ हैं। सन्धि के ख़िलाफ़ ज़ोरदार हलचल दबा दी गई, यहाँतक कि इसका समर्थन करनेवाले अख़बार भी बन्द कर दिये गए, और जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, नेताओं को देश से बाहर निकाल दिया गया। इसपर विरोध और भी बढ़ गया, और राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना अधिवेशन करके एक राष्ट्रीय क़रार पास किया, और सन्धि की खुली निन्दा की। जब नये चुनावों के लिए मतदाताओं की सूचियाँ बनने लगीं तो कुछ लोगों के सिवाय सबने इसका बायकाट कर दिया। मगर फिर भी अब्दुल्ला व ब्रिटिश सरकार ने सन्धि की दिखाऊ तसदीक़ के लिए जैसे-तैसे कुछ समर्थक जमा कर ही लिये।

१९२९ ई० में फ़िलस्तीन में जो उपद्रव हुए, उनके दौरान ट्रान्स-जॉर्डन में भी ब्रिटिश सरकार और बालफ़ोर-घोषणा के ख़िलाफ़ भारी प्रदर्शन हुए।

मैं जुदा-जुदा देशों में होनेवाली घटनाओं के बारे में विस्तार के साथ लिखता जा रहा हूँ, और ये घटनाएँ ऐसी दिखाई पड़ती हैं, मानो एक ही क़िस्सा बार-बार दोहराया जाता हो। ये बातें मैं तुम्हें यह मान कराने को लिख रहा हूँ कि किस तरह हम अपने-अपने देशों में इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि हमें सिर्फ़ राष्ट्रों की अपनी-अपनी बातों पर जितना विचार करना है, उतना उन संसार-व्यापी बलों पर नहीं, जिनके साथ सारे पूर्व की उठती हुई राष्ट्रीयता है, जिससे लड़ने के लिए साम्राज्यशाही का वही ढंग व सलीक़ा है। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता पनपती है और आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों साम्राज्यशाही के दाव-पेंच ज़रा बदल जाते हैं; जहाँतक ऊपरी बातों का ताल्लुक़ है वहाँतक लोगों को राज़ी करने का और झुकने का दिखावटी यत्न होता है। उधर ज्यों-ज्यों यह राष्ट्रीय लड़ाई अलग-अलग देशों में आगे

बढ़ती है, त्यों-त्यों समाजी झगड़ा, यानी हर देश के जुदा-जुदा वर्गों में वर्ग-संघर्ष, भी ज्यादा जाहिर होता जाता है, और सामन्ती-वर्ग, और कुछ हद तक मालिक-वर्ग, साम्राज्यशाही शक्ति की दिन-पर-दिन ज्यादा तरफ़दारी करने लगते हैं।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८) :

फ़िलस्तीन में अरब राष्ट्रीयता, यहूदी ज़ाइयनवाद और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की तिकोनी टक्कर जारी है, और दिन-पर-दिन ज्यादा ला-इलाज होती गई है। जर्मनी में नात्सियों की शानदार सफलता ने यहूदियों की बहुत बड़ी संख्या को मध्य-यूरोप से खदेड़ दिया, और इसलिए फ़िलस्तीन पर यहूदियों का बोझ बढ़ने लगा। इसने अरबों के इन अन्देशों को गहरा कर दिया कि वे यहूदी आवासियों की बाढ़ में डूब जायँगे, और फ़िलस्तीन में यहूदियों की हुकूमत हो जायगी। अरबों ने इसके खिलाफ़ लड़ाई ठान दी, और उनमें से कुछ लोग आतंकवादी कार्रवाइयों में पड़ गये। बाद में कुछ ज्यादा सरगर्म ज़ाइयनवादियों ने भी इसी ढंग की कार-वाइयों के ज़रिये जैसे-का-तैसा बदला लिया।

अप्रैल, १९३३ ई० में फ़िलस्तीन के अरबों ने आम हड़ताल का ऐलान कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियों ने फ़ौजी ताक़त और बदले की कार्रवाइयों से इस हड़ताल को कुचलने की भरपूर कोशिश की, पर इसके बावजूद यह क़रीब छै महीने चली। नात्सियों के नामी नमूने की, बहुत बड़ी-बड़ी नज़रबन्द-छावनियाँ बन गईं। इस कोशिश में असफल होने पर सरकार ने फ़िलस्तीन के मामलों की जाँच करने के लिए एक शाही कमीशन मुक़र्रर किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि 'फ़रमान' सफल नहीं हुआ, इसलिए वह वापस लौटा दिया जाना चाहिए। कमीशन ने सुझाव दिया कि देश को तीन क्षेत्रों में बाँट दिया जाय; सबसे बड़ा क्षेत्र अरबों के इख्तियार में, समुद्र के पासवाला छोटा क्षेत्र यहूदियों के इख्तियार में, और येरूशलम समेत तीसरा क्षेत्र सीधा अंग्रेज़ों के इख्तियार में। बँटवारे की इस योजना पर अरबों, यहूदियों, वग़ैरा सभी ने ऐतराज़ किया, लेकिन बहुत-से यहूदी इसपर अमल करने को भी तैयार हो गये। पर अरबों ने साफ़ कह दिया कि वे इस योजना से कोई वास्ता नहीं रक्खेंगे; और राष्ट्रीय कार्रवाइयाँ ज़ोर पकड़ने लगीं। पिछले कुछ महीनों में इस विरोध ने, अंग्रेज़ी राज के कट्टर बैरी एक ज़बर्दस्त राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लिया है, जो फ़िलस्तीन के बड़े-बड़े क्षेत्रों में से उसे धीरे-धीरे हटाता जा रहा है, और ये क्षेत्र अरब राष्ट्रवादियों के क़ब्ज़े में आ गये हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस देश को दुबारा जीतने के लिए नई सेनाएँ भेज दी हैं, और आजकल वहाँ आतंक और भय का राज हो रहा है।

दुःख की बात है कि अरब लोगों ने आतंक फैलानेवाली बहुत-सी कार्रवाइयाँ कर डाली हैं। कुछ हदतक यहूदियों ने भी अरबों के खिलाफ़ ऐसा ही किया है।

उधर ब्रिटिश सरकार ने आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई को कुचलने के इरादे से तबाही और हत्याओं की बेरहम नीति का सहारा लिया और अब भी ले रही है। आयर्लैण्ड में 'काले और भूरे' आतंक के दिनों में जिन तरीक़ों का इस्तेमाल किया गया था, उनसे भी बुरे तरीक़े फ़िलस्तीन में अपनाये जा रहे हैं, और समाचारों पर लगाये गए कड़े सेन्सर ने उन्हें दुनिया की नज़रों से छिपा रक्खा है। लेकिन फिर भी जो ख़बरें आ रही हैं, वे काफ़ी बुरी हैं। अभी मैंने पढ़ा है कि 'मुश्तबा'[1] अरब लोगों को ब्रिटिश फ़ौजी सिपाही किस तरह 'लोहे के पिंजरे' कहलानेवाले और काँटेदार तारों से घिरे बड़े-बड़े बाड़ों में भेड़ों की तरह ठूंस देते हैं। हरेक 'पिंजरे' में ५० से लगाकर ४०० तक क़ैदियों को भर दिया जाता है, और इनके रिश्तेदार इन्हें ठीक इस तरह खाना खिलाते हैं जैसे पिंजरों में बन्द जानवरों को खिलाया जाता है।

इस बीच सारी अरबी दुनिया में ग़ुस्से की भावना आग की तरह भड़क उठी है, और अपनी आज़ादी के लिए छटपटानेवाली क़ौम को कुचलने की इस हैवानी कारंवाई ने पूर्व-भर के मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमानों दोनों के दिलों को हिला दिया है। यह सही है कि इन लोगों ने बहुत-सी ग़लत और आतंकवादी कारंवाइयाँ की हैं, लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि वे असल में राष्ट्रीय आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं, और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की फ़ौजों ने बड़ी बेरहमी से उनको दबाया है।

बड़े दुःख की बात है कि अरब व यहूदी, दो सतायी हुई क़ौमें, आपस में ही एक दूसरी से टकरा रही हैं। यूरोप में यहूदी लोग ज़बर्दस्त आफ़तों की मार में से गुज़र रहे हैं और वहाँ इनकी बड़ी भारी संख्या हर देश से दुतकारी जाकर बे-वतनों की तरह मारी-मारी फिर रही है, इसलिए इनके साथ हरेक की सहानुभूति होना लाज़िमी है। फ़िलस्तीन की तरफ़ उनके खिंचाव की वजह भी हरेक समझ सकता है। और यह भी हक़ीक़त है कि यहूदी आवासियों ने देश की तरक्क़ी की है, वहाँ उद्योगों के कल-कारख़ाने डाले हैं, और रहन-सहन के दर्जों को ऊँचा उठाया है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि लाज़िमी तौर पर फ़िलस्तीन एक अरबी देश है, और ऐसा ही रहेगा, और अरबों को उन्हींके बाप-दादों की ज़मीनों पर कुचला जाना और दबाया जाना ठीक नहीं है। दोनों क़ौमों की भलाई इसीमें है कि आज़ाद फ़िलस्तीन में, एक दूसरी के वाजिब हितों को बेजा तौर पर छीने बिना, आपसी सहयोग के साथ रहें और एक आगे बढ़नेवाला देश बनाने में मदद दें।

बदक़िस्मती की बात यह है कि भारत व पूर्व को जानेवाले समुद्री व हवाई

---

[1] जिसपर किसी तरह का सन्देह किया जाय।

रास्तों में पड़ने से, फ़िलस्तीन ब्रिटिश साम्राज्यशाही योजना का निहायत ज़रूरी हिस्सा है, और इस योजना को आगे बढ़ाने के लिए अरबों व यहूदियों, दोनों का वेजा तरीक़े से इस्तेमाल किया गया है। आगे क्या होगा, यह कहना मुश्किल है। बँटवारे की पुरानी योजना के असफल होने का अन्देशा है, और अब अरब देशों के बड़े संघ की चर्चा चल रही है, जिनके बीच में यहूदियों का स्वाधीन इलाक़ा रहेगा। पर यह साफ़ है कि फ़िलस्तीन में अरब राष्ट्रीयता कुचली नहीं जा सकेगी, और देश का भविष्य सिर्फ़ अरब-यहूदी सहयोग और साम्राज्यशाही के सफ़ाये की पक्की नींव पर ही बनाया जा सकता है।

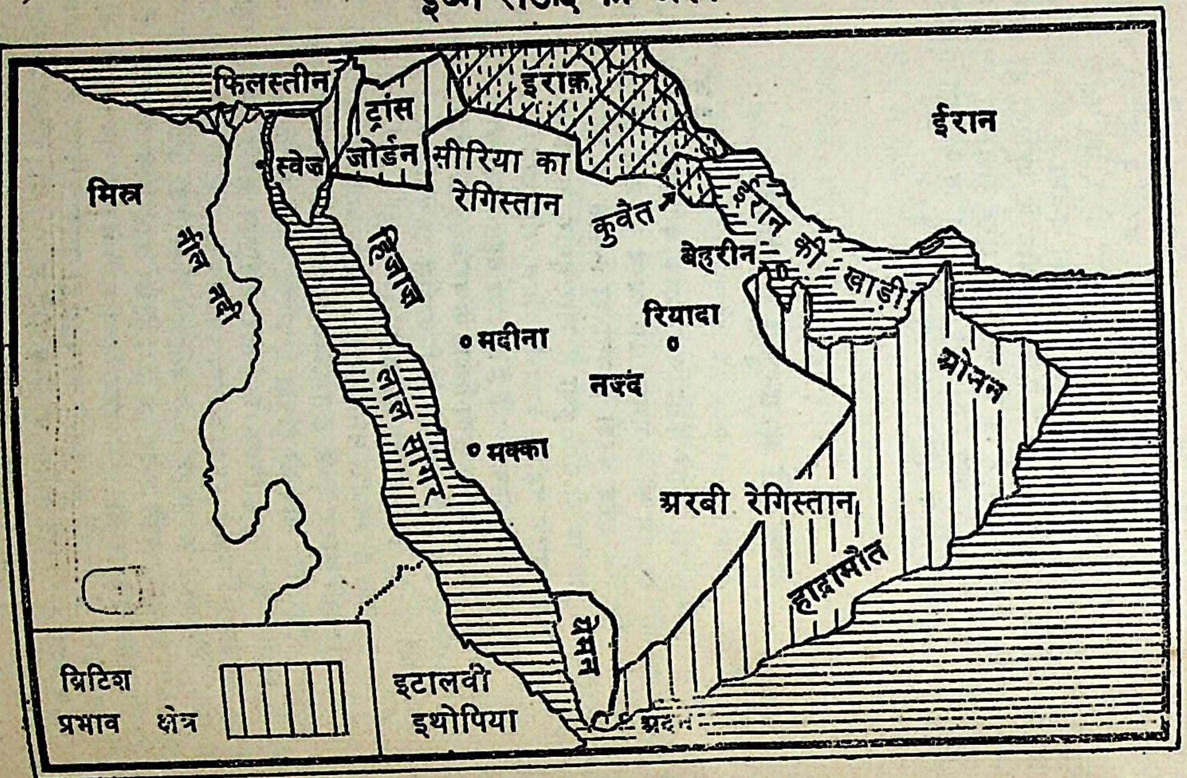
: १६८ :

अरब की मध्य-युगों से छलाँग

३ जून, १९३३

मैंने तुम्हें अरब-देशों के बारे में तो लिख दिया है, पर अरबी भाषा व संस्कृति के बड़े विकास और इस्लाम की जन्मभूमि ख़ास अरब का अभी तक कुछ बयान नहीं किया है। हालाँकि अरब अरबी सभ्यता का निकास रह चुका है, पर वह फिसड्डी और मध्यकालीन ही बना हुआ है, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटी के मुताबिक़, उसके पड़ौसी अरब-देश मिस्र, सीरिया, फ़िलस्तीन और इराक़ उससे बहुत दूर आगे निकल गये हैं। अरब बहुत लम्बा-चौड़ा देश है—आकार और क्षेत्रफल में वह भारत के दो-तिहाई के बराबर है। लेकिन इतना बड़ा होने पर भी आबादी इस सारे देश की सिर्फ़ चालीस या पचास लाख ही आँकी जाती है—यानी भारत की आबादी का क़रीब ७०वाँ या ८०वाँ भाग। इससे ज़ाहिर है कि यह बहुत ही बिखरा बसा हुआ है। इसका ज्यादा हिस्सा असल में रेगिस्तान है; और इसी कारण गुज़रे ज़माने में यह लालची ले-भग्गुओं की नज़र से बचा रह गया, और चारों ओर की दुनिया में परिवर्तन होते हुए भी मध्यकालीन हालतों की निशानी बना रहा, जिसमें रेल, तार, टेलीफ़ोन, वग़ैरा कुछ भी नहीं हैं। इसके ज्यादातर निवासी घुमक्कड़ ख़ानाबदोश क़बीले थे, जो बद्दू कहलाते हैं। ये लोग 'रेगिस्तान के जहाज़' कहे जानेवाले अपने तेज़ ऊँटों पर बैठकर और दुनिया-भर में नामी अपने सुन्दर अरबी घोड़ों पर सवार होकर रेगिस्तान की बालू पर एक छोर से दूसरे छोर तक सफ़र किया करते थे। ये लोग क़बीलों की ज़िन्दगी बसर करते थे, जिनमें हर क़बीले का बुज़ुर्ग ही उसका मुखिया होता था। उनकी यह परम्परा हज़ार वर्ष से वैसी-की-वैसी चली आ रही थी। लेकिन महायुद्ध ने जिस तरह और बहुत-सी चीज़ों को बदल दिया, उसी तरह इसे भी बदल दिया।

इब्न सऊद का अरब


फिलस्तीन
ट्रांस जोर्डन
इराक़
ईरान
मिस्र
स्वेज
सीरिया का रेगिस्तान
कुवैत
ईरान की खाड़ी
बेहरीन
नील नदी
हिजाज़
रियादा
मदीना
नज्द
ओमन
मक्का
लाल सागर
अरबी रेगिस्तान
हाद्रामौत
यमन
ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र
इटालवी इथोपिया
अदन

अगर तुम नक़शे को देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि अरब का बड़ा प्रायद्वीप लाल सागर व ईरान की खाड़ी के बीच में पड़ा है। इसके दक्षिण में अरब सागर है; उत्तर में फ़िलस्तीन, ट्रान्स-जॉर्डन व सीरियाई रेगिस्तान है; और उत्तर-पूर्व में इराक़ की हरी-भरी और उपजाऊ घाटियाँ हैं। पश्चिमी किनारे पर, लाल सागर से लगा हुआ, हिजाज़ का प्रदेश है, जहाँ इस्लाम ने परवरिश पाई, और जिसमें मक्का व मदीना के पाक शहर और जद्दा का बन्दरगाह है, जहाँ हर साल मक्का जानेवाले हज़ारों हाजी उतरते हैं। अरब के बीचों-बीच और पूर्व की ओर ईरान की खाड़ी तक नज्द फैला हुआ है। हिजाज़ और नज्द अरब के दो मुख्य टुकड़े हैं। दक्षिण-पश्चिम में यमन है, जो पुराने रोमन ज़माने से "अरेबिया फ़ेलिक्स" यानी मुबारक, ख़ुशहाल अरब के नाम से मशहूर रहा है; क्योंकि बाक़ी के ज्यादातर बंजर और रेगिस्तानी हिस्से के मुक़ाबले में यह उपजाऊ और फलदार है। इस हिस्से की आबादी जैसी घनी होनी चाहिए वैसी ही है। अरब की दक्षिण-पश्चिमी नोक के ठीक पास ही अदन है, जो अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में है, और जिसके बन्दर पर पूर्व से पश्चिम को जाने-आनेवाले जहाज़ ठहरा करते हैं।

महायुद्ध के पहले लगभग समूचा देश तुर्की इख़्तियार में था, या यों कहो कि तुर्की की छत्रछाया को मानता था। पर नज्द में अमीर इब्न सऊद धीरे-धीरे स्वाधीन शासक के रूप में आगे आ रहा था और प्रदेशों को जीतता हुआ ईरान की खाड़ी की ओर बढ़ रहा था। इब्न सऊद मुसलमानों के वहाबी नामक ख़ास सम्प्रदाय या फ़िरक़े का सरदार था, जिसे अठारहवीं सदी में अब्दुल वहाब ने चलाया था। यह असल में ईसाइयत के प्यूरिटनों की तरह इस्लाम में सुधार का आन्दोलन था। वहाबी लोग बहुत-सी रस्मों के विरोधी हैं और उस वीर-पूजा के भी विरोधी हैं, जो पीरों-फ़क़ीरों की क़ब्रों और निशानियाँ मानी जानेवाली चीज़ों की पूजा के रूप में मुसलमान जनता में बहुत फैली हुई हैं। वहाबी लोग इसे बुतपरस्ती[1] कहते हैं, जिस तरह यूरोप के प्यूरिटन लोग सन्तों की मूर्त्तियों और यादगारों की पूजा करनेवाले रोमन कैथलिकों को बुतपरस्त कहा करते थे। इसलिए राजनीतिक लाग-डाँट के अलावा वहाबियों और अरब के दूसरे मुसलमान फ़िरक़ों के बीच मज़हबी वैर भी था।

महायुद्ध के दिनों में अरब अंग्रेज़ों की साज़िशों के लिए बड़ी उपजाऊ जगह बन गया, और जुदा-जुदा अरब सरदारों को रिश्वतें व धन की सहायता देने में इंग्लैण्ड का और भारत का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे तरह-तरह के वायदे किये गए, और उन्हें तुर्की के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए उकसाया गया। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि आपस में लड़नेवाले दो मुक़ाबलेदार सरदारों में

[1] मूर्ति-पूजा।

दोनों को अंग्रेज़ों की तरफ़ से पैसे की मदद मिलती रहती थी! आख़िर अंग्रेज़ों ने मक्का के शरीफ़ हुसैन को अरब-विद्रोह का झण्डा खड़ा करने के लिए आमादा कर ही लिया। शरीफ़ हुसैन का महत्व इस सबब से था कि वह मुसलमानों के पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद के वंश का था, और इसलिए इसकी बड़ी इज़्ज़त थी। ब्रिटिश सरकार ने हुसैन को संयुक्त अरब की सल्तनत देने का वायदा किया।

लेकिन इब्न सऊद ज्यादा होशियार था। उसने ब्रिटिश सरकार से अपनेको स्वाधीन बादशाह क़बूल करवा लिया, पाँच हज़ार पौण्ड, यानी क़रीब सत्तर हज़ार रुपये की अच्छी-ख़ासी रक़म माहवारी लेना मंजूर कर लिया, और ग़ैर-तरफ़दार रहने का वचन दे दिया। बस, जबकि दूसरे तो लड़-झगड़ रहे थे, उसने अपनी हैसियत जमा ली, और कुछ हद तक इंग्लैण्ड के धन से उसे मज़बूत बना ली। उधर तुर्की के सुलतान के खिलाफ़, जो उस समय ख़लीफ़ा भी था, बग़ावत की वजह से शरीफ़ हुसैन भारत समेत तमाम इस्लामी देशों में बदनाम होता जा रहा था। इब्न सऊद ने चुपचाप तटस्थ रहकर इन बदलती हुई हालतों से पूरा फ़ायदा उठाया, और धीरे-धीरे इस्लाम का सरगर्म नेता होने की शोहरत बना ली।

अरब के दक्षिण में यमन था। यमन का इमाम महायुद्ध के शुरू से आख़ीर तक तुर्कों का वफ़ादार रहा। लेकिन वह जंग के मैदानों से अलग जा पड़ा था, इसलिए कुछ कर-धर नहीं सकता था। तुर्की की पराजय के बाद वह स्वाधीन हो गया। अभी तक यमन एक स्वाधीन राज्य है।

जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तब अरब पर इंग्लैण्ड का दबदबा था, और वह शरीफ़ हुसैन व इब्न सऊद दोनों को अपना औज़ार बनाने की कोशिश कर रहा था। लेकिन इब्न सऊद इतना होशियार था कि उसने अपनेको इस तरह उल्लू नहीं बनने दिया। लेकिन शरीफ़ हुसैन के ख़ानदान की शान-शौक़त एकदम पूरी तरह खिल उठी, क्योंकि उसकी पीठ पर अंग्रेज़ों की फ़ौज जो थी। ख़ुद हुसैन हिजाज़ का बादशाह बन गया; उसका एक पुत्र फ़ैसल सीरिया का शासक बना; दूसरे पुत्र अब्दुल्ला को अंग्रेज़ों ने ट्रान्स-जॉर्डन के छोटे-से नये राज्य का शासक बना दिया। लेकिन यह शान ज्यादा दिन नहीं टिकी, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, फ़ैसल को फ़ान्सीसियों ने सीरिया से निकाल बाहर किया, और हुसैन की बादशाहत इब्न सऊद के वहाबियों की बाढ़ में बह गई। फ़ैसल को, जो फिर बेकारों की मण्डली में शामिल हो गया था, अंग्रेज़ों ने इराक़ की हुकूमत बख़्श दी, और वहाँ वह अपने सरपरस्तों की कृपा के भरोसे राज करने लगा।

हिजाज़ में हुसैन की बादशाहत के चन्द दिनों में अंगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने १९२४ ई० में ख़लीफ़ा का पद हटा दिया। जब कोई ख़लीफ़ा न रहा तो हुसैन बड़ी हौसलेबाज़ी से इस ख़ाली सिंहासन पर कूद पड़ा और उसने अपनेको इस्लाम का

ख़लीफ़ा ऐलान कर दिया। इब्न सऊद ने देखा कि अब उसका मौक़ा आ गया है, इसलिए उसने अरब राष्ट्रीयता व मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता से हुसैन के ख़िलाफ़ कार्रवाई की अपील की। वह एक मग़रूर ले-भग्गू के मुक़ाबले में इस्लाम के ग़ाज़ी की हैसियत से खड़ा हो गया, और होशियारी से किये गए प्रचार की बदौलत दूसरे देशों के मुसलमानों की अच्छी राय हासिल करने में भी सफल हो गया। भारत की खिलाफ़त-कमेटी ने भी उसे अपनी नेक दुआएँ भेजीं। अंग्रेज़ों ने हवा का रुख देखकर, और यह महसूस करके कि जिस घोड़े पर उन्होंने दाव लगाया था, वह जीतनेवाला नहीं है, चुपचाप हुसैन का साथ छोड़ दिया। उन्होंने रुपये की मदद देना बन्द कर दिया, और बेचारा हुसैन, जिसे इतनी उम्मीदें दिलाई गई थीं, ताक़तवर और चढ़े आनेवाले दुश्मन के आगे एक तरह से अकेला व बे-आसरे छोड़ दिया गया।

कुछ ही महीनों के भीतर, अक्तूबर, १९२४ ई० में वहाबी लोग मक्का में घुस आये, और अपने सुधारवादी इस्लाम के मुताबिक़ उन्होंने कुछ मक़बरे तोड़ डाले। इस तोड़-फोड़ से इस्लामी देशों में बहुत घबराहट फैल गई; भारत में भी मुसलमानों की भावनाएँ बहुत भड़क गईं। अगले साल मदीना और जद्दा भी इब्न सऊद के क़ब्ज़े में आ गये और हुसैन व उसके खानदान को हिजाज़ से निकाल बाहर किया गया। १९२६ ई० के शुरू में इब्न सऊद ने अपने को हिजाज़ का बादशाह ऐलान कर दिया। अपनी नई हैसियत को मज़बूत बनाने के लिए और विदेशों के मुसलमानों को राज़ी रखने के लिए, उसने जून, १९२६ ई० में मक्का में विश्व इस्लामी कांग्रेस का इजलास किया, जिसमें दूसरे देशों के प्रतिनिधि मुसलमानों को न्यौता देकर बुलाया। ख़लीफ़ा बनने की उसकी कोई इच्छा दिखाई नहीं देती थी, और कम-से-कम उसके वहाबी मत की वजह से यह मुमकिन भी नहीं था कि ज़्यादातर मुसलमान उसे ख़लीफ़ा मान लेते। मिस्र का शाह फ़ुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी और ज़ालिमाना कारनामों की जाँच हम कर चुके हैं, ख़लीफ़ा-बनने का बड़ा शौक़ीन था, लेकिन उसे कोई भी नहीं चाहता था, यहाँतक कि उसकी मिस्री प्रजा भी नहीं चाहती थी! हुसैन ने जो ख़लीफ़ा की गद्दी ले ली थी, उसे उसने अपनी हार के बाद त्याग दिया।

मक्का की इस्लामी कांग्रेस ने कोई महत्व का फ़ैसला नहीं किया, और शायद किसी फ़ैसले पर पहुँचने के इरादे से वह बुलाई भी नहीं गई थी। यह तो इब्न सऊद ने अपनी हैसियत को, खासकर विदेशी शक्तियों के सामने, मज़बूत बनाने के लिए एक चाल खेली थी। ख़िलाफ़त-कमेटी के भारतीय प्रतिनिधि, जिनमें मेरे ख़याल से मौलाना मोहम्मद अली भी थे, नाकाम होकर और इब्न सऊद से नाराज़ होकर वापस आये। लेकिन इससे उसका कुछ नहीं बिगड़ा।

उसने तो ज़रूरत के वक़्त भारत की ख़िलाफ़त-कमेटी से अपना मतलब साधा था, और अब उसे इसकी हिमायत की कोई ज़रूरत नहीं रही थी।

इब्न सऊद कुछ ही दिनों में क़रीब-क़रीब सारे अरब का मालिक बन गया, सिवाय यमन के, जो अपने पुराने इमाम के मातहत स्वाधीन राज्य बना रहा! दक्षिण-पश्चिम के इस कोने के अलावा वह अरब का सरदार था। उसने नज्द के बादशाह का ख़िताब ले लिया, और इस तरह वह दोहरा बादशाह बन गया, यानी हिजाज़ का बादशाह और नज्द का बादशाह। विदेशी शक्तियों ने उसकी स्वाधीनता को मान लिया, और उसने विदेशियों को ऐसी कोई ख़ास रियायतें नहीं दीं जैसी मिस्र में अभी तक हैं। सच तो यह है कि वे वहाँ शराब वग़ैरा तक नहीं पी सक़ते थे।

इब्न सऊद एक सफल सिपाही और लड़ाका साबित हो गया था। अब उसने अपने राज्य को ज़माने की हालतों के मुताबिक़ ढालने का ज्यादा मुश्किल काम हाथ में लिया। बुज़ुर्ग-मुखियावाले क़बीलों की ज़िन्दगी से छलाँग मारकर वह आज के संसार में आनेवाली बात थी। मालूम तो यह होता है कि इस काम में भी इब्न सऊद को भारी कामयाबी मिली है, और इस प्रकार उसने दुनिया को जतला दिया है कि वह एक दूरन्देश राजनीतिज्ञ है।

उसकी सबसे पहली कामयाबी अन्दरूनी गड़बड़ को दबाने में हुई। कुछ ही दिनों में कारखानों और हाजियों के बड़े रास्ते पूरी तरह बेख़तरे के हो गये। यह बड़ी भारी सफलता थी, और हाजियों की उस बड़ी संख्या ने क़ुदरती तौर पर इसका स्वागत किया, जिन्हें रास्तों में अबतक अक्सर डाकुओं का सामना करना पड़ता था।

ख़ानाबदोश बद्दुओं को बसा देना इससे भी ज्यादा मार्के की कामयाबी थी। हिजाज़ को जीतने से पहले ही इब्न सऊद ने इनकी बस्तियाँ बसाना शुरू कर दिया था, और इस तरह एक आधुनिक राज्य की नींव डाल दी थी। एक जगह न टिकनेवाले और घुमक्कड़ और आज़ादी-पसन्द बद्दुओं को बसाना आसान नहीं था, लेकिन इब्न सऊद इस काम में बहुत-कुछ सफल हो गया है। राज्य की शासन-व्यवस्था को कई दिशाओं में सुधारा गया है, और हवाई-जहाज़ और मोटरें और टेलीफ़ोन और आज की सभ्यता के बहुत-से दूसरे चिह्न नज़र आने लगे हैं। हिजाज़ को धीरे-धीरे लेकिन सचमुच नये ज़माने का बनाया जा रहा है। लेकिन मध्य-युगों से छलाँग लगाकर आजकल के ज़माने में आना कोई आसान बात नहीं है, क्योंकि सबसे बड़ी कठिनाई तो लोगों के विचारों को बदलने में होती है। यह नई प्रगति और नया परिवर्तन बहुत-से अरब-वासियों को अच्छे नहीं लगे; पश्चिम की नये-नये ढंग की मशीन, उसके इंजन और मोटरें और हवाई-जहाज़, उन्हें शैतान

की करामातों जैसे दिखाई दिये। उन्होंने इन नये रवैयों के खिलाफ़ आवाज़ उठाई, और १९२९ ई० में तो वे इब्न सऊद के खिलाफ़ भड़क ही उठे। इब्न सऊद ने हिकमत और दलीलों से उन्हें अपनी राय का बनाने की कोशिश की, और बहुतों को तो उसने बना भी लिया। लेकिन कुछ लोग विद्रोह करते रहे, पर इब्न सऊद ने उन्हें हरा दिया।

इसके बाद इब्न सऊद के सामने एक और कठिनाई आई; लेकिन इस कठिनाई का सामना सारी दुनिया को करना पड़ रहा था। १९३० ई० से हर जगह व्यापार में ज़बर्दस्त मन्दी आने लगी है। इसका सबसे ज्यादा असर पश्चिम के बड़े-बड़े औद्योगिक देशों पर पड़ा है, जो इसके लगातार कसते हुए शिकंजे में अभी तक छटपटा रहे हैं। अरब का संसार के व्यापार से कोई वास्ता नहीं है, पर वहाँ इस मन्दी ने अपना असर दूसरे ही ढंग से डाल दिया है। मक्का की बड़ी सालाना ज़ियारत से वसूल होनेवाली आमदनी इब्न सऊद की मालगुज़ारी का खास ज़रिया रही है। सारे देशों से हर साल लगभग एक लाख हाजी हज के लिए मक्का जाया करते थे। १९३० ई० में यह संख्या एकदम घटकर चालीस हज़ार रह गई, और यह घटोतरी बाद के वर्षों में भी चलती रही। इसके सबब से देश का आर्थिक ढांचा बिलकुल उलट गया और अरब के कई हिस्सों के लोगों पर ज़बर्दस्त मुसीबत पड़ गई। पैसे की कमी ने इब्न सऊद के लिए बहुत-से कामों में खर्च की तंगी पैदा कर दी है, और सुधार की उसकी बहुत-सी योजनाओं को खटाई में डाल दिया है। वह विदेशियों को रियायतें देने के लिए कभी तैयार नहीं था, क्योंकि उसका यह डर वाजिब था कि देश के साधनों से विदेशियों को फ़ायदा उठाने दिया गया तो देश में उनका प्रभाव बढ़ जायगा; और इसका नतीजा होगा विदेशियों की दस्तन्दाज़ी और देश की स्वाधीनता में कमी आना। उसके ये अन्देशे बिलकुल वाजिब थे, क्योंकि पराधीन उपनिवेशी देशों को जो मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं, उनमें से ज्यादातर मुसीबतें विदेशियों के हाथों उनके शोषण से पैदा हुई हैं। इब्न सऊद ने बिना आज़ादी की घड़ा-भरी प्रगति व दौलत की बनिस्बत ग़रीबी और आज़ादी को ज्यादा अच्छा समझा।

मगर व्यापार की मन्दी के दबाव ने इब्न सऊद को अपनी नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन करने को मजबूर कर दिया, और उसने विदेशियों को कुछ रियायतें देना शुरू किया। पर फिर भी उसने यह सावधानी रक्खी कि उसकी स्वाधीनता पर आँच न आने पावे, और इसके लिए उसने शर्तें लगा दीं। फ़िलहाल ये रियायतें सिर्फ़ विदेशी मुसलमानों की कम्पनियों को ही दी जायँगी। मसलन, सबसे पहली रियायत भारतीय मुसलमान पूँजीपतियों की एक कम्पनी को, जद्दा बन्दरगाह और मक्का के बीच रेलमार्ग डालने के लिए दी गई है। अरब के लिए यह रेलमार्ग

एक ज़बर्दस्त चीज़ है, क्योंकि इससे हज की सालाना ज़ियारत का रूप ही बिलकल बदल जाता है। हाजियों को तो इससे सुविधा होगी ही, पर अरबों के नज़रिये को ज़माने के माफ़िक़ बनाने में भी यह बहुत बड़ा हाथ बटायेगी।

पिछले किसी पत्र में मैं लिख चुका हूँ कि फ़िलहाल अरब में एक ही रेलमार्ग है। यह हिजाज़ रेलवे है जो मदीना को सीरिया के अलेप्पो नामक स्थान पर बग़दाद रेलवे से जोड़ती है।

इस पत्र के शुरू में मैं लिख चुका हूँ कि दक्षिण-पश्चिम में यमन पहले 'अरेबिया फ़ेलिक्स' कहलाता था। सच तो यह है कि यह नाम दक्षिणी अरब के उस बड़े भाग का भी था, जो क़रीब-क़रीब ईरान की खाड़ी तक फैला हुआ है। पर इस इलाक़े के लिए यह नाम बिलकुल ग़ैर-मौज़ूँ है, क्योंकि यह तो वीरान रेगिस्तान है। पुराने ज़माने में लोग शायद इसके बारे में ज्यादा नहीं जानते थे, इसीलिए यह ग़लती हो गई। कुछ ही दिन पहले तक यह अनजाना प्रदेश था, जिसकी न तो कोई खोज की गई थी और न नक़शा तैयार किया गया था।

: १६९ :

इराक़ और हवाई बमबारी की खूबियाँ

७ जून, १९३३

अब एक अरबी देश पर विचार करना बाक़ी रह गया है। यह है इराक़ या मैसोपोटामिया—दज़ला और फ़ुरात नामक दो नदियों के बीच का हरा-भरा और उपजाऊ खण्ड; बग़दाद और हारूँ रशीद और अलिफ़लैला की पुरानी कहानियों की भूमि। यह ईरान व अरब के रेगिस्तान के बीच में है। इसके दक्षिण में इसका मुख्य बन्दरगाह बसरा है, जो ईरान की खाड़ी में गिरनेवाली नदी के मुहाने से कुछ ऊपर हट कर है; उत्तर में इसकी सरहद तुर्की से लगी हुई है। इराक़ और तुर्की की सरहदें कुर्दिस्तान में मिलती हैं, जहाँ कुर्द लोग रहते हैं। इन कुर्दों की ज्यादातर संख्या आजकल तुर्की में है, और तुर्कों के खिलाफ़ इनकी आज़ादी की लड़ाई का हाल मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। लेकिन बहुत-से कुर्द इराक़ में भी हैं, और ये यहाँ की एक बड़ी अल्पसंख्यक क़ौम हैं। मोसल, जो बहुत वर्षों तक इंग्लैण्ड और तुर्की के बीच बखेड़े की जड़ रहा था, अब इराक़ के इसी कुर्दी इलाक़े में है, और इसका मतलब यह है कि वह अंग्रेज़ों के इख्तियार में है। मोसल के पास असीरियाइयों के प्राचीन नगर निनीवे के खण्डहर हैं।

इराक़ उन देशों में से था, जिनके लिए राष्ट्रसंघ ने इंगलैण्ड को 'फ़रमान' दिया था। राष्ट्रसंघ की पाखण्डी भाषा में 'फ़रमान' का अर्थ है राष्ट्रसंघ के नाम पर सभ्यता की 'पवित्र धरोहर'। मतलब यह था कि 'फ़रमानी' प्रदेश के

निवासी न तो इतने आगे बढ़े हुए थे, और न अपने निजी हितों को सम्हालने के क़ाबिल थे, इसलिए बड़ी शक्तियों के हाथों उन्हें इसके लिए मदद दिया जाना ज़रूरी था। इसके मुक़ाबले की कार्रवाई शायद यह होगी कि गायों या हिरनों के झुण्ड के हितों की रखवाली के लिए किसी शेर को तैनात किया जाय। कहा यह गया था कि ये 'फ़रमान' वहाँ की जनता की माँग पर दिये गए थे। पश्चिमी एशिया में तुर्की राज से छुटकारा दिलाये हुए देशों के 'फ़रमान' इंग्लैण्ड और फ़ान्स के हिस्से पड़े। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, इन दोनों देशों की सरकारों ने घोषणा की थी कि उनकी एक ही इच्छा थी "इन क़ौमों की मुकम्मिल व साफ़-साफ़ मुक्ति... और ऐसी हुकूमतें व प्रशासन क़ायम करना, जिनकी सत्ता वहीं के निवासियों की पहल और आज़ाद पसन्द से निकली हुई हो"। पिछले बारह वर्षों में इस नेक मंशा को पूरा करने के लिए क्या-क्या कार्रवाइयाँ की गई हैं, उनकी कुछ झाँकी हम सीरिया, फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन में देख चुके हैं, जहाँ बार-बार उपद्रव हुए और असहयोग हुआ और बायकाट हुआ। उस समय लोगों की "पहल और आज़ाद पसन्द" को बढ़ावा देने के लिए उन्हें गोलियों का शिकार बनाया गया, उनके नेताओं को देश से बाहर भेज दिया गया या निकाल दिया गया, उनके अखबारों का गला घोंट दिया गया, उनके शहर और गाँव बर्बाद कर दिये गए, और अक़्सर फ़ौजी क़ानून लागू कर दिया गया। इस तरह की घटनाएँ कोई नई चीज़ नहीं हैं। जबसे इतिहास लिखा जाना शुरू हुआ है, तभी से साम्राज्य-शाही शक्तियों ने ख़ून-ख़राबी और बर्बादी और आतंक का दिल खोलकर सहारा लिया है। आज के नमूने की साम्राज्यशाही की नई ख़ासियत यह है कि वह अपने आतंक और शोषण को 'अमानतदारी' और 'जनसमूह की भलाई' और 'पिछड़ी हुई क़ौमों को स्वराज की तालीम' वग़ैरा के पाखण्डभरे शब्दों के परदे में छिपाने की कोशिश करती है। अगर वे गोलियाँ चलाते हैं और हत्याएँ करते हैं और बर्बादी करते हैं, तो सिर्फ़ उन लोगों की भलाई के लिए जो गोलियों से मारे जाते हैं। शायद यह पाखण्ड तरक़्क़ी का चिह्न हो, क्योंकि पाखण्ड का मतलब है नेकी की बड़ाई क़बूल करना, और पाखण्ड इस बात को ज़ाहिर करता है कि चूंकि सच्ची बात लोगों को पसन्द नहीं आती है, इसलिए उसे इस तरह के दिलासा देनेवाले और झाँसा देनेवाले शब्दों में लपेटकर छिपा लिया जाता है। पर कुछ भी हो, यह मक्कारीभरा पाखण्ड नंगी सचाई के मुक़ाबले में बहुत बदतर मालूम होता है।

अब हमें यह देखना है कि इराक़ में वहाँ के निवासियों की तमन्नाओं को किस तरह पूरा किया गया, और इस देश ने ब्रिटिश 'फ़रमान' के मातहत आज़ादी की तरफ़ कैसे क़दम बढ़ाया है। महायुद्ध के दौरान अंग्रेजों ने इराक़ को, जो उस समय मैसोपोटामिया कहलाता था, तुर्की के खिलाफ़ अपने जंग का अड्डा बनाया था। उन्होंने इस देश को ब्रिटिश व भारतीय फ़ौजियों से भर दिया। अप्रैल, १९१६

ई० में उन्होंने भारी शिकस्त खाई, जबकि जनरल टाउनशैण्ड के मातहत लड़नेवाली ब्रिटिश सेना को कुतल-अमारा में तुर्कों के आगे हथियार डालने पड़े। मैसोपोटामिया अभियान में ज़बर्दस्त बर्बादी और बद-इन्तज़ामी हुई, और चूंकि भारत-सरकार इसके लिए बहुत ज्यादा ज़िम्मेदार थी, इसलिए उसे अपनी नाक़ाबलियत व बेवक़ूफ़ी की कड़ी आलोचनाएँ खूब सुननी पड़ीं। फिर भी, अन्त में अंग्रेज़ों के बढ़िया साधनों ने अपना असर दिखाया, और उन्होंने तुर्कों को उत्तर की ओर खदेड़ दिया और बग़दाद पर क़ब्ज़ा कर लिया और बाद में वे मोसल के नज़दीक जा पहुँचे। महायुद्ध का अन्त होते-होते समूचे इराक़ पर अंग्रेज़ी फ़ौजों ने क़ब्ज़ा जमा लिया।

इंगलैण्ड को इराक़ का जो 'फ़रमान' दिया गया था, उसका पहला असर १९२० ई० के शुरू में दिखाई दिया। इसके ख़िलाफ़ ज़ोरदार विरोध ज़ाहिर किया गया और इस विरोध ने बहुत जल्दी दंगे-फ़िसाद का रूप ले लिया, और इन दंगे-फ़िसादों ने बढ़ते-बढ़ते बग़ावत का रूप ले लिया, जो सारे देश में फैल गई। यह अनोखा और दिलचस्प संयोग है कि १९२० ई० के इस पहले हिस्से में तुर्की, मिस्र, सीरिया, फ़िलस्तीन और इराक़ में क़रीब-क़रीब एक ही साथ दंगे-फ़िसाद हुए। उन दिनों भारत में भी असहयोग-आन्दोलन की चर्चा थी। इराक़ की बग़ावत आख़िरकार कुचल दी गई, और इसमें भारत के सिपाहियों ने ज्यादातर मदद दी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का गन्दा काम करना बहुत वर्षों से भारतीय सेना का अमल रहा है, और इसी वजह से मध्य-पूर्व व दूसरी जगहों में हमारे देश की क़ाफ़ी बदनामी हो गई है।

अंग्रेज़ों ने इराक़ की बग़ावत को कुछ तो ताक़त से और कुछ आयन्दा स्वाधीनता का यक़ीन दिलाकर ठण्डा कर दिया। उन्होंने अरबी मन्त्रियों की काम-चलाऊ सरकार क़ायम की, लेकिन हर मन्त्री के साथ एक-एक अंग्रेज़ सलाहकार लगा दिया, जिसके हाथ में असली सत्ता थी। लेकिन ये सीधे-सादे और नामज़द मन्त्री तक भी इतने सरगर्म साबित हुए कि अंग्रेज़ों को पसन्द न आये। ब्रिटिश सरकार की योजनाओं का तक़ाज़ा था कि इराक़ पूरी तरह उसका ताबेदार बन जाय, पर कुछ मन्त्रियों ने उसका साथ देने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल, १९२१ ई० में ब्रिटिश सरकार ने मन्त्रियों के नेता सैयद तालिबशाह को, जो सबसे क़ाबिल था, गिरफ़्तार करके देश से निकाल दिया, और इस तरह देश को स्वाधीनता के लिए तैयार करने की दिशा में दूसरा क़दम उठाया गया। १९२१ ई० की गर्मियों में ब्रिटिश सरकार हिजाज़ से हुसैन के पुत्र फ़ैसल को पकड़ लाई और उसे इराक़ियों को उनके होनेवाले बादशाह की तरह भेंट कर दिया। तुम्हें याद होगा कि फ़ैसल उन दिनों बेकार था, क्योंकि सीरिया में इसने जो दाँव

खेला था वह फ़्रान्सीसी हमले के सामने बिलकुल ढेर हो गया था। अंग्रेज़ों का यह भला दोस्त था, और महायुद्ध के दौरान में इसने तुर्की के खिलाफ़ अरबों के विद्रोह में ख़ास हिस्सा लिया था। इसलिए, अंग्रेज़ों के मनसूबों के साथ इसके हाँ-में-हाँ मिलाने की उससे ज्यादा उम्मीद थी, जितनी कि देशी मन्त्रियों ने अबतक पूरी की थी। 'नामवर' लोग, मालदार मध्यम-वर्ग के लोग, और दूसरे बड़े-बड़े आदमी फ़ैसल को इस शर्त पर अपना बादशाह बनाने के लिए राज़ी हो गये कि लोकतन्त्री पार्लमेण्टवाली संविधानी हुकूमत क़ायम की जायगी। इस मामले में उनके लिए कोई चारा तो था ही नहीं। पर वे चाहते थे कि जो पार्लमेण्ट बने वह असली हो और चूंकि फ़ैसल तो हर हालत में बादशाह होने ही वाला था, इसलिए उन्होंने पार्लमेण्ट की यह शर्त रख दी। आम जनता की इस बारे में कोई राय नहीं ली गई। बस, अगस्त, १९२१ ई० में फ़ैसल बादशाह बन गया।

लेकिन समस्या का यह कोई हल नहीं था, क्योंकि इराक़ की जनता ब्रिटिश 'फ़रमान' की कट्टर विरोधी थी, और पूरी स्वाधीनता व बाद में दूसरे अरबी देशों के साथ एक होना चाहती थी। शोर-गुल व प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल बाद, अगस्त, १९२२ ई० में, मामला नाज़ुक हो गया। तब ब्रिटिश अधिकारियों ने इराक़ियों को स्वाधीनता का एक और सबक़ पढ़ाया। ब्रिटिश हाई-कमिश्नर सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह (जो उस समय बीमार पड़ा हुआ था) के अधिकारों को, और साथ ही मन्त्रियों के और इराक़ को दी गई कौन्सिल के अधिकारों को, ख़त्म कर दिया और हुकूमत की सारी बागडोर खुद अपने हाथों में ले ली। सच तो यह है कि वह एक-छत्र तानाशाह बन गया। उसने अपनी मनमानियों पर जबरन अमल करवाया, और अंग्रेज़ी फ़ौजों की मदद से, और खासकर ब्रिटिश हवाई फ़ौज की मदद से, उपद्रवों को दबा दिया। वही पुराना क़िस्सा, जो जुदा-जुदा रूपों में भारत, मिस्र, सीरिया, वग़ैरा में हर जगह हुआ, यहाँ भी दोहराया गया। राष्ट्रवादी अख़बार बन्द कर दिये गये, राजनीतिक दल तोड़ दिये गए, नेताओं को देश-निकाला दे दिया गया, और ब्रिटिश हवाई-जहाज़ों ने अपने बमों से ब्रिटिश-साम्राज्य की ज़बर्दस्त ताक़त साबित कर दी।

मगर फिर भी यह समस्या का हल नहीं था। कुछ महीनों के बाद सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह और मन्त्रि-मण्डल को ज़ाहिरा तौर पर अपना काम करने की इजाज़त दे दी, और उन्हें इंग्लैण्ड के साथ सन्धि करने पर राज़ी करा लिया। यह यक़ीन फिर दिलाया गया कि इराक़ को स्वाधीनता हासिल कराने में इंग्लैण्ड उसकी मदद करेगा, और उसे राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लेगा। मगर इन लच्छेदार और दिलासाभरे वायदों के पीछे ठोस हक़ीक़त यह थी कि इराक़ सरकार को इस बात पर राज़ी होने के लिए मजबूर किया गया कि वह अपना राज-काज अंग्रेज़

अफ़सरों की मदद से, या इंग्लैण्ड के मंजूरशुदा अफ़सरों की मदद से चलावे। अक्तूबर, १९२२ ई० की यह सन्धि जनता की राय के खिलाफ़ की गई थी, और उसने इसे लानत दी। लोगों ने साफ़ कह दिया कि अरबी सरकार सिर्फ़ ढकोसला है और असली सत्ता पहले की तरह ही अंग्रेज़ अधिकारियों के हाथ में है। नेताओं ने फ़ैसला किया कि आयन्दा संविधान का मसौदा बनाने के लिए जो राष्ट्रीय संविधान-सभा बुलाई जानेवाली थी, उसके चुनावों का बायकाट किया जाय। यह असहयोग सफल हुआ और संविधान-सभा बुलाई ही न जा सकी। टैक्सों की वसूली में भी दंगे हुए, और मुश्किलें आईं।

साल-भर से ज्यादा, यानी १९२३ ई० के शुरू से आखीर तक, ये गड़बड़ियाँ चलती रहीं। आखिरकार, इस सन्धि में इराक़ के हक़ में कुछ परिवर्तन किये गए और हलचल मचानेवालों के कुछ नेताओं को देश-निकाला दे दिया गया। इससे आन्दोलन कुछ ठण्डा पड़ा, और १९२४ ई० के शुरू में संविधान-सभा के चुनाव किये जा सके। पर इस सभा ने भी ब्रिटिश-सन्धि का विरोध किया। इसपर ब्रिटिश सरकार ने संविधान-सभा पर ज़ोरदार दबाव डाला, और अन्त में एक-तिहाई से कुछ ज्यादा सदस्यों ने सन्धि पर मंजूरी की मोहर लगा दी, क्योंकि डिपुटियों की बड़ी संख्या इस अधिवेशन में हाज़िर ही नहीं थी।

संविधान-सभा ने इराक़ के लिए नये संविधान का मसौदा बनाया, और काग़ज़ पर तो यह वाजिब ही मालूम देता था, क्योंकि इसमें यह तजवीज़ थी कि इराक़ संविधानी मौरूसी बादशाहत और पार्लमेण्टी ढंग की हुकूमतवाला पूरा सत्ताधीश और स्वाधीन आज़ाद राज्य है। लेकिन पार्लमेण्ट के दो सदनों में से एक-सीनेट बादशाह का नामज़द होनेवाला था। इस तरह बादशाह के हाथ में बहुत बड़ी शक्ति थी, और बादशाह की पीठ पर अंग्रेज़ अफ़सर थे, जो कुंजीवाले ओहदों पर बैठे हुए थे। यह संविधान मार्च, १९२५ ई० में लागू हुआ, और पार्लमेण्ट ने कुछ वर्षों तक अपना काम किया, पर 'फ़रमान' के खिलाफ़ आवाज़ें उठती रहीं। मोसल के बारे में इंग्लैण्ड व तुर्की के बीच तक़रार पर लोगों का बहुत-सा ध्यान सिमटकर लगा रहा, क्योंकि इस इलाक़े के लिए इराक़ भी दावेदार था। जून, १९२६ ई० में इंग्लैण्ड, इराक़ व तुर्की की आपसी शामिल सन्धि से यह झगड़ा आखिरी तौर पर तय हो गया। मोसल इराक़ को दे दिया गया, और चूंकि इराक़ तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही की छाया में है ही, इसलिए इस तरह ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाजत हो गई।

जून, १९३० ई० में इंग्लैण्ड और इराक़ के बीच दोस्ती की नई सन्धि हुई। अन्दरूनी और विदेशी दोनों मामलों में इराक़ की पूरी स्वाधीनता इस बार फिर मान ली गई। पर इसमें जो पाबन्दियाँ और शर्तें रक्खी गई थीं, वे ऐसी थीं कि

उनसे इस स्वाधीनता का रूप बदलकर ढकी हुई सरपरस्ती की हुकूमत बन जाता था। भारत को जानेवाले रास्ते की हिफ़ाज़त के लिए, जिसे सन्धि में इंग्लैण्ड के 'आवा-जाई के ज़रूरी ज़रिये' कहा गया है, इराक़ इंग्लैण्ड को हवाई अड्डों के लिए जगहें देता है। इंग्लैण्ड मोसल में व दूसरी जगहों पर अपने फ़ौजी सिपाही भी हमेशा रखता है। इराक़ फ़ौजी तालीम के लिए सिर्फ़ अंग्रेज़ों को ही रख सकता है, और इराक़ी फ़ौजों में अंग्रेज़ अफ़सर सलाहकारों की हैसियत से काम करेंगे : हथियार गोला-बारूद और हवाई-जहाज़ इंग्लैण्ड से ही हासिल किये जायँगे। अगर युद्ध छिड़ जाय तो दुश्मन के ख़िलाफ़ युद्ध-जैसी कार्रवाइयों के लिए देश में इंग्लैण्ड को सब तरह की सुविधाएँ दी जायँगी। इस तरह मोसल के आस-पास के जंगी अहमियतवाले मुक़ामों तुर्की व ईरान पर, या अज़रबाइज़ान में सोवियतों पर, इंग्लैण्ड आसानी से वार कर सकता है।

इस सन्धि के फ़ौरन बाद ही, १९३१ ई० में इंग्लैण्ड और इराक़ के बीच एक न्यायिक (जुडीशल) क़रार हुआ, जिसमें इराक़ ने वचन दिया है, कि वह एक ब्रिटिश न्यायिक सलाहकार, अपील की अदालत का अंग्रेज़ अध्यक्ष, और बग़दाद, बसरा, मोसल वग़ैरा में अदालतों के अंग्रेज़ अध्यक्ष तनख्वाहें देकर रक्खेगा।

इन शर्तों के अलावा भी यह नज़र आता है कि इराक़ में अंग्रेज़ अफ़सरों ने बहुत-से ऊँचे ओहदों को घेर रक्खा है। इसलिए अमल में यह 'स्वाधीन' देश एक तरह से इंग्लैण्ड का पलुआ देश है, और इसको पक्का करनेवाली १९३० ई० की दोस्ती की सन्धि पच्चीस वर्ष के लिए है।

हालाँकि पार्लमेण्ट ने १९२५ ई० में नये संविधान की मंज़ूरी के बाद से ही अपना काम चालू कर दिया था, पर जनता ज़रा भी ख़ुश नहीं थी, और दूर के इलाक़ों में कभी-कभी फ़िसाद हो जाते थे। कुर्दी इलाक़ों में तो ख़ासतौर पर यह बात थी। यहाँ बार-बार उपद्रव हुए, जिन्हें ब्रिटिश हवाई फ़ौज ने बमबारी की व समूचे गाँवों के सत्यानाश की हलकी-सी कार्रवाई से दबा दिया। १९३० ई० की सन्धि के बाद, अंग्रेज़ों की छत्रछाया में इराक़ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाये जाने का सवाल उठा। पर देश में शान्ति नहीं थी और फ़िसाद चालू थे। यह न तो 'फ़रमानी' शक्ति इंग्लैण्ड के लिए नामवरी की बात थी और न शाह फ़ैसल की मौजूदा सरकार के लिए। क्योंकि ये विद्रोह इस बात के काफ़ी सबूत थे कि जनता उस हुकूमत से ख़ुश नहीं थी, जो ब्रिटिश सरकार ने उसपर जबरन थोप दी थी। इन मामलों का राष्ट्रसंघ के सामने आना बहुत बुरा समझा गया, इसलिए इन उपद्रवों को डण्डे के ज़ोर से और आतंक की कार्रवाइयों से ख़त्म करने के लिए ख़ास ज़ोर लगाया गया। इस काम के लिए ब्रिटिश हवाई फ़ौज का इस्तेमाल किया गया, और शान्ति व अमन क़ायम करने के इन जतनों का क्या नतीजा हुआ, यह कुछ हद तक एक ऊँचे अंग्रेज़ अफ़सर के बयान से जाना जा सकता है। लैफ़्टिनेन्ट

कर्नल सर आर्नोल्ड विल्सन ने ८ जून, १९३२ ई० को लन्दन की रॉयल एशियन सोसाइटी के सालाना जलसे पर दिये गए अपने भाषण में ज़िक्र किया था कि किस

"ढिठाई के साथ (जेनेवा की घोषणाओं के बावजूद) रॉयल एयर फ़ोर्स पिछले दस वर्षों से, और ख़ासकर गुज़रे छै महीनों में, कुर्दिस्तान के निवासियों पर बमबारी करता रहा। 'टाइम्स' के विशेष संवाददाता के शब्दों में, तबाह किये गए गाँव, क़त्ल किये गए मवेशी, अंग-भंग किये गए स्त्रियाँ और बच्चे, सभ्यता के एक-समान नमूने का सबूत देते है।"

जब यह पता लगा कि गाँवों के लोग हवाई-जहाज़ की आवाज़ पर भाग जाते थे और छिप जाते थे, और इतनी भी खिलाड़ी की भावना नहीं थी कि जबतक बमों से मर न जायँ तबतक बमों का इन्तज़ार करते रहें, तो देर से फटनेवाले नई क़िस्म के बमों का इस्तेमाल किया गया। ये बम गिरने पर नहीं फटते थे, बल्कि इस तरह बँधे हुए होते थे कि कुछ देर बाद फटते थे। इस शैतानी फ़रेब का मक़सद यह था कि हवाई-जहाज़ों के चले जाने पर गाँव के लोग धोखे में आकर अपनी झोंपड़ियों में लौट आवें और फिर बम के फटने से घायल हो जायँ। जो लोग मर जाते थे, उनकी क़िस्मत एक तरह से अच्छी थी। जो अपंग हो जाते थे, जिनके हाथ-पाँव कभी-कभी कटकर जा पड़ते थे, वे बहुत ज़्यादा बदनसीब थे, क्योंकि दूर-दूर के उन गाँवों में डॉक्टरी इलाज का कोई इन्तज़ाम नहीं था।

बस, इस तरह शान्ति व अमन फिर क़ायम कर दिये गए और ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में इराक़ ने अपनेको राष्ट्रसंघ के सामने पेश किया, और उसे सदस्य बना लिया गया। कहा जाता है, और यह सही भी है, कि इराक़ को 'बमों के ज़रिये' राष्ट्रसंघ में फेंक दिया गया।

राष्ट्रसंघ का सदस्य-राज्य बन जाने की वजह से इराक़ पर ब्रिटिश 'फ़रमान' ख़त्म हो गया है। उसकी जगह अब १९३० ई० की सन्धि ने ले ली है, जिसके मातहत इस राज्य पर अंग्रेज़ों का कारगर इख़्तियार पक्का हो गया है। इस सूरते-हाल पर नाराज़ी बराबर जारी है, क्योंकि इराक़ की जनता मुकम्मिल आज़ादी और अरबी देशों के साथ एक होना चाहती है। राष्ट्रसंघ का सदस्य होने में उनकी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि पूर्व की दूसरी सताई हुई क़ौमों की तरह वे समझते हैं कि राष्ट्रसंघ को तो यूरोप की बड़ी शक्तियों ने अपने उपनिवेशी व दूसरे स्वार्थ साधने का महज़ औज़ार बना रक्खा है।[1]

---

[1] शाह फ़ैसल की मृत्यु सितम्बर, १९३३ ई० में हो गई। इसके बाद इसका पुत्र ग़ाज़ी प्रथम गद्दी पर बैठा, जिसका १९३९ ई० में एक दुर्घटना में प्राणान्त हो गया। इसके बाद इसका बालक पुत्र गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

अब हमने अरबी क़ौमों का सिंहावलोकन पूरा कर दिया है। तुमने ग़ौर किया होगा कि महायुद्ध के बाद भारत व दूसरे पूर्वी देशों के साथ-साथ ये सब भी राष्ट्रीयता की लहर से किस तरह ज़ोरों के साथ उमड़ उठे थे। ऐसा मालूम होता था कि सबमें एक साथ बिजली की धारा चल रही है। दूसरा मार्के का पहलू था सबका एक ही तरह के तरीक़े अपनाना। इनमें से बहुत-से देशों में बग़ावतें और ख़ूनी उपद्रव हुए, पर धीरे-धीरे वे असहयोग और बायकाट की नीति का दिन-पर-दिन ज्यादा सहारा लेने लगे। इसमें कोई शक नहीं कि मुकाबले में अड़ने के इस नये तरीक़े का रिवाज भारत ने ही १९२० ई० में डाला था, जबकि कांग्रेस गांधीजी के दिखाये रास्ते पर चली थी। असहयोग और विधान-मण्डलों के बायकाट का विचार भारत से ही पूर्व के दूसरे देशों में फैला है, और राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई का यह एक जाना-माना और अक्सर अमल में आनेवाला तरीक़ा बन गया है।

साम्राज्यवादी अधिकार के अंग्रेजी और फ़्रान्सीसी तरीक़ों में एक दिलचस्प फ़र्क़ की तरफ़ मैं तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इंग्लैण्ड ने अपने सारे उपनिवेशी देशों में सामन्ती, ज़मींदारों, और सबसे ज्यादा दक़ियानसी व पिछड़े हुए वर्गों से गठ-बन्धन का जतन किया। यह चीज़ हम भारत में, मिस्र में और कई जगह देख चुके हैं। उसने अपने उपनिवेशी देशों में डाँवाडोल राजगद्दियाँ क़ायम कीं, और उनपर प्रगति-विरोधी शासकों को बिठा दिया, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि ये उसकी मदद करेंगे। बस, उसने मिस्र में फ़ुआद को, इराक़ में फ़ैसल को और ट्रान्स-जॉर्डन में अब्दुल्ला को बिठाया, और हिजाज़ में हुसैन को बिठाने की कोशिश की। दूसरी ओर फ़्रान्स ख़ुद ही अपने नमूने का मध्यम-वर्गी देश होने के सबब से उपनिवेशी देशों के कुछ मध्यमवर्गों में, यानी उठते हुए मध्यमवर्गों में अपना सहारा ढूंढ़ने की कोशिश करता है। मसलन सीरिया में उसने सहारे के लिए ईसाई मध्यमवर्गों पर नज़र डाली। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स दोनों ही अपने अधीन उपनिवेशी देशों में ज्यादातर इस नीति पर अमल करते हैं कि विरोध करनेवाली राष्ट्रीयता को फूट डालकर कमज़ोर कर देना, और मज़हबी, अल्पसंख्यक और नस्ली समस्याएँ खड़ी कर देना। मगर सारे पूर्व में राष्ट्रीयता धीरे-धीरे इन भेद-भावों को दबाती जा रही है, और शायद यह चीज़ इतनी कहीं नहीं हो रही, जितनी कि मध्य-पूर्व के अरबी देशों में, जहाँ मज़हबी फ़िरक़े आम राष्ट्रीयता के आदर्श के आगे कमज़ोर पड़ते जा रहे हैं।

ऊपर मैंने इराक़ में इंग्लैण्ड के रॉयल एयर फ़ोर्स की कार्रवाइयों का ज़िक्र किया है। पिछले क़रीब बारह वर्षों से ब्रिटिश सरकार की यह साफ़-साफ़ नीति बन गई है कि अपने नीम-उपनिवेशी देशों में नामधारी 'पुलिस कार्रवाई' के लिए हवाई-जहाज़ों का इस्तेमाल करना। जहाँ कुछ हदतक स्वराज दे दिया गया है और जहाँ का प्रशासन बहुत-कुछ देशी हो गया है, वहाँ यह नीति ख़ासतौर पर बरती जाती है। इन देशों में अब क़ब्ज़ा जमानेवाली सेनाएँ या तो रक्खी नहीं

जातीं या उन्हें बहुत कम कर दिया गया है। इसमें बहुत लाभ हैं। एक तो बहुत-सा ख़र्च बच जाता है, दूसरे, देश पर फ़ौजी क़ब्ज़ा कम नज़र आने लगता है। साथ ही हवाई-जहाज़ों व बमों के ज़रिये स्थिति उनके पूरे क़ाबू में रहती है। इस तरह, स्वाधीन इलाक़ों में हवाई-जहाज़ों से बमबारी का इस्तेमाल बहुत ज्यादा बढ़ गया है, और इंग्लैण्ड इस तरीक़े का जितना ज्यादा इस्तेमाल करता है उतना शायद दूसरी कोई शक्ति नहीं करती। इराक़ के बारे में तो मैं बतला ही चुका हूँ। यही क़िस्सा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के लिए दोहराया जा सकता है, जहाँ इस तरह की बमबारी लगातार और बार-बार का वाक़या हो गई है।

शायद यह तरीक़ा फ़ौजें भेजने के पुराने तरीक़े से ज्यादा सस्ता और ज्यादा जल्दी का है। पर यह तरीक़ा निहायत ज़ालिमाना और भयानक है। सच तो यह है कि ऐसी किसी चीज़ की कल्पना ही कठिन है, जो बम गिराने और खासकर देर से फटनेवाले बम गिराने, और बेगुनाहों व गुनहगारों की इकसार हत्या करने के तरीक़े से ज्यादा नफ़रत पैदा करनेवाली व वहशियाना हो। इस तरीक़े से दूसरे देश पर हमला करना भी बहुत आसान हो जाता है। इसलिए इसके खिलाफ़ हो-हल्ला मच गया है, और शहरी आबादियों पर हवाई हमलों के वहशीपन के खिलाफ़ जेनेवा में राष्ट्र-संघ में बड़े असरदार भाषण दिये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका समेत सारे राष्ट्र इस पक्ष में थे कि हवाई बमबारी बिलकुल बन्द कर दी जाय। लेकिन इंग्लैण्ड अपने उपनिवेशों में 'पुलिस कार्रवाइयों' के लिए हवाई-जहाज़ों के इस्तेमाल का अधिकार अपने हाथ में रखने पर अड़ा रहा, और इसलिए राष्ट्र-संघ में और १९३३ ई० के निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में इस बात पर कोई आपसी समझौता नहीं हो पाया।

: १७० :

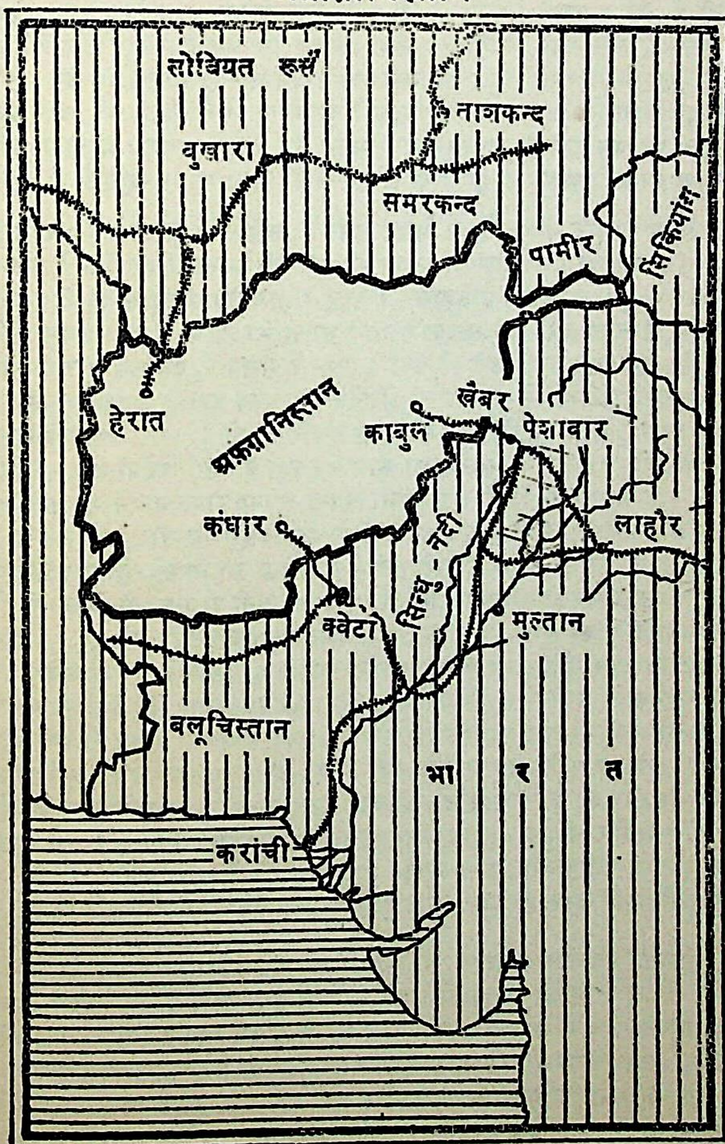
अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ और देश

८ जून, १९३३

इराक़ के पूर्व में ईरान फैला हुआ है और ईरान के पूर्व में अफ़ग़ानिस्तान फैला हुआ है। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान दोनों भारत के पड़ौसी हैं, क्योंकि ईरान की सरहद कई सौ मील तक (बलूचिस्तान) में भारत से लगती है, और अफ़ग़ानिस्तान व भारत, बलूचिस्तान के ठेठ पश्चिमी सिरे से लगाकर हिन्दूकुश के उत्तरी पहाड़ों तक,—जहाँ भारत अपना बर्फ़ से ढँका माथा मध्य-यूरोप के सीने पर आराम से टिकाये हुए है और नीचे सोवियत प्रदेशों में नज़र डाल रहा है,—क़रीब एक हज़ार मील तक अगल-बगल फैले हुए हैं।[1] ये तीनों देश सिर्फ़ पड़ौसी

[1] हिन्दुस्तान के विभाजन के बाद ये सीमाएँ अब पाकिस्तान में चली गई हैं, और ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान भारत के पड़ौसी नहीं रहे।

अफ़ग़ानिस्तान



सोवियत रूस
ताशकन्द
बुखारा
समरकन्द
पामीर
सिंकियांग
अफ़ग़ानिस्तान
हेरात
खैबर
काबुल
पेशावर
कंधार
लाहौर
सिन्धु नदी
क्वेटा
मुल्तान
बलूचिस्तान
भा र त
करांची

ही नहीं हैं, बल्कि नस्ली लिहाज से भी इनमें एक ही खून है, क्योंकि इन सबमें आर्य नस्ल के लोग सबसे ज्यादा हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृति के लिहाज़ से गुज़रे ज़माने में इनमें बहुत-सी बातें एक-समान रही हैं। कुछ ही दिन पहले तक उत्तर भारत में फ़ारसी भाषा विद्वानों की भाषा गिनी जाती थी, और यह अभी तक भी चल रही है, ख़ासकर मुसलमानों में। अफ़ग़ानिस्तान में तो फ़ारसी अभी तक दरबारी भाषा है, हालाँकि अफ़ग़ानों की आम भाषा पश्तो है।

ईरान के बारे में जितना मैं पिछले पत्रों में लिख चुका हूँ, उससे ज्यादा कुछ नहीं लिखना चाहता। पर अफ़ग़ानिस्तान की हाल की घटनाओं का थोड़े में बयान करना ज़रूरी है। अफ़ग़ानी इतिहास एक तरह से भारतीय इतिहास का ही टुकड़ा है; असल में बहुत वर्षों तक अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही भाग था। अलग होने के बाद से, और ख़ासकर पिछले सौ वर्षों से ऊपर के समय में, यह रूस और इंग्लैण्ड के दो महान् साम्राज्यों के बीच झोंक झेलनेवाला राज्य रहा है। रूसी साम्राज्य तो मिट चुका है और उसकी जगह सोवियत-संघ ने ले ली है, पर अफ़ग़ानिस्तान अभी तक वही पुराना झोंक झेलनेवाला काम कर रहा है, जहाँ अंग्रेज़ों और रूसियों की साँठ-गाँठें चलती रहती हैं, और दोनों अपना-अपना पौवा जमाने की कोशिश में रहते हैं। उन्नीसवीं सदी में इन साज़िशों ने बढ़कर इंग्लैण्ड और अफ़ग़ानिस्तान के बीच युद्ध का रूप ले लिया, जिसके नतीजे से अंग्रेज़ों को आफ़तें तो बहुत झेलनी पड़ीं, पर अन्त में उनकी प्रभुता क़ायम हो गई। अफ़ग़ानी राज-घराने के कितने ही व्यक्ति नज़रबन्दों की तरह उत्तर भारत में अभी तक इधर-उधर बसे हुए हैं, और हमें अफ़ग़ानिस्तान में इंग्लैण्ड की दस्तन्दाज़ी की याद दिलाते हैं। यहाँ अंग्रेज़ों से दोस्ती रखनेवाले अमीरों का राज रहा, और अफ़ग़ानिस्तान की विदेशी नीति तो साफ़-साफ़ अंग्रेज़ों के इख्तियार में रक्खी गई। पर ये अमीर कितने ही दोस्ताना क्यों न हों, उनपर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें हर साल बड़ी-बड़ी रक़में सरकारी मदद के तौर पर दी जाती थीं। अमीर अब्दुल रहमान, जिसकी लम्बी बादशाही १९०१ ई० में ख़त्म हुई, इसी तरह का अमीर था। इसके बाद अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। यह भी अंग्रेज़ों की तरफ़ ही बहुत झुका हुआ था।

अफ़ग़ानिस्तान को भारत की अंग्रेज़ी हुकूमत का सहारा इसलिए लेना पड़ा कि दुनिया के नक़्शे में इसकी जगह ही ऐसी है। नक़्शे में, तुम देखोगी कि बलूचिस्तान के बीच में आने से इसका समुद्र से लगाव कट गया है। इसलिए इसकी हालत उस मकान जैसी है जिसे आम रास्ते पर पहुँचने के लिए दूसरे की ज़मीन पर होकर गुज़रने के सिवाय कोई चारा न हो। और यह बड़ी झंझट का मामला है। अफ़ग़ानिस्तान के लिए बाहरी दुनिया से सम्बन्ध क़ायम रखने का सबसे आसान

रास्ता भारत होकर था। अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर के रूसी प्रदेशों में उन दिनों आवा-जाई के अच्छे साधन नहीं थे। मेरा ख़याल है कि हाल में सोवियत सरकार ने रेलमार्ग डालकर और हवाई व मोटर सेवाओं को बढ़ावा देकर आवा-जाई के साधनों का विकास किया है। बस, चूंकि अफ़ग़ानिस्तान के लिए भारत ही दुनिया की तरफ़ खुलनेवाला दरवाज़ा था, इसलिए ब्रिटिश सरकार उसपर कई तरह से दवाव डालकर इस कमज़ोरी का फ़ायदा उठा सकती थी। समुद्र तक पहुँचने में अफ़ग़ानिस्तान की यह दि़क़्क़त, देश के सामने खड़ी हुई एक बहुत बड़ी समस्या है।

१९१९ ई० के शुरू में अफ़ग़ानी राजदरबार की साज़िशें और लाग-डाँट भीतर से ऊपर को निकलकर फूट पड़ीं, और राजमहलों की दो लगातार क्रान्तियाँ तुर्त-फुर्त हो गईं। मुझे यह ठीक तरह नहीं मालूम कि परदे के पीछे क्या-क्या हुआ और इन परिवर्तनों के लिए कौन ज़िम्मेदार था। अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन नसरुल्ला भी बहुत जल्दी हटा दिया गया, और हबीबुल्ला का एक छोटा पुत्र अमानुल्ला अमीर बना। गद्दी पर बैठते ही उसने १९१९ ई० में भारत पर एक छोटा-सा हमला कर दिया। इस हमले का उस वक़्त भड़कानेवाला ठीक क्या कारण था या पहल किसकी तरफ़ से हुई, यह मुझे नहीं मालूम। शायद अमानुल्ला ब्रिटिश सरकार का किसी भी तरह मोहताज बनने से सख़्त नाराज़ था और अपने देश की पूरी स्वाधीनता क़ायम करना चाहता था। शायद उसने यह भी सोचा हो कि हालतें उसके माफ़िक़ थीं। तुम्हें याद होगा कि उन दिनों पंजाब में फ़ौजी क़ानून लागू था, भारत में चारों तरफ़ असन्तोष था, और ख़िलाफ़त के सवाल पर मुसलमानों की हलचल ज़ोर पकड़ रही थी। सबब या लोभ कुछ भी रहे हों, अंग्रेज़ों के साथ अफ़ग़ानों का युद्ध छिड़ गया। पर यह युद्ध बहुत ही थोड़े दिन चला और लड़ाई भी बहुत कम हुई। फ़ौजी हैसियत से भारत में अंग्रेज़ लोग अमानुल्ला से अलबत्ता बहुत ज़्यादा ताक़तवर थे; मगर वे लड़ने को तैयार नहीं थे और कुछ मामूली वारदातों से ही वे अफ़ग़ानों के साथ राज़ीनामा करने को तैयार हो गये। नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान को स्वाधीन देश मान लिया गया, और दूसरे देशों के साथ विदेशी रिश्तों के मामले में उसका पूरा इख़्तियार क़बूल कर लिया गया। इस तरह अमानुल्ला ने अपना उद्देश्य हासिल कर लिया, और यूरोप व एशिया में हर जगह उसकी शान बढ़ गई। अंग्रेज़ों का तो उससे नाराज़ होना लाज़िमी ही था।

अमानुल्ला ने अपने देश में जो नई नीति बरती, उससे लोगों का ध्यान उसकी ओर और भी खिंचने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढंग पर तेज़ी के साथ सुधार, जिसे अफ़ग़ानिस्तान का 'पश्चिमीकरण' कहा जाता है। इस काम में

उसकी बेग़म सुरैय्या ने उसे बहुत सहायता दी। उसने यूरोप में कुछ शिक्षा पाई थी, और बुर्क़े में स्त्रियों का परदा उसे बहुत अखरता था। इस तरह एक पिछड़े हुए देश को कुछ ही दिनों में बदल डालने का, यानी अफ़ग़ानों को ढकेलकर और पुराने ढर्रे में से निकालकर नये रास्ते पर डालने का अनोखा सिलसिला शुरू हुआ। मालूम होता है कि अमानुल्ला ने मुस्तफ़ा कमाल पाशा को अपना नमूना बनाया था, और कई बातों में उसकी नक़ल करने की कोशिश की, यहाँतक कि अफ़ग़ानों को कोट-पतलून और यूरोपीय टोप भी पहना दिये, और उनकी दाढ़ियाँ भी मुँड़वा दीं। पर अमानुल्ला में मुस्तफ़ा कमाल जैसी हिम्मत और क़ाबलियत नहीं थी। मुस्तफ़ा कमाल ने अपने झाड़ू-फेर सुधारों की शुरुआत करने से पहले राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से अपनी हैसियत ख़ूब मज़बूत बना ली थी। उसकी पीठ पर एक मुस्तैद व संगीन फ़ौज थी और अपने तमाम देशवासियों पर ज़बर्दस्त रोब था। पर अमानुल्ला इन पेशबन्दियों के बिना ही आगे बढ़ गया और उसे बहुत ज्यादा मुश्किलें उठानी पड़ीं, क्योंकि अफ़ग़ान लोग किसी भी तुर्क से बहुत ज्यादा पिछड़े हुए थे।

लेकिन काम बिगड़ जाने पर समझदारी की बातें करना आसान होता है। अपने राजकाल के शुरू के वर्षों में अमानुल्ला मानो सारी रुकावटों को पार करता चला गया। उसने बहुत-से अफ़ग़ान लड़कों व लड़कियों को शिक्षा पाने के लिए यूरोप भेजा। उसने अपने राजकाज में बहुत-से सुधार शुरू किये। उसने अपने पड़ौसी देशों और तुर्की के साथ सन्धियाँ करके अन्तर्राष्ट्रीय मामले में अपनी हैसियत मज़बूत बनाई। सोवियत रूस ने चीन से लगाकर तुर्की तक सारे पूर्वी देशों के साथ जान-बूझकर शरीफ़ाना और दोस्ताना नीति अपनाई थी, और तुर्की व ईरान को विदेशी पंजे से छुटकारा दिलाने में रूस की यह दोस्ती और सहायता बड़ा भारी हेतु बनी थी। १९१९ ई० में इंग्लैण्ड के साथ चन्दरोज़ा युद्ध में अमानुल्ला ने जिस आसानी से अपना मक़सद हासिल कर लिया था, उसका भी यह बड़ा हेतु रही होगी। बाद के वर्षों में, सोवियत रूस, तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान, इन चार शक्तियों के बीच काफ़ी सन्धियाँ और आपसी क़ौल-क़रार हुए। इन सबके बीच कोई शामिल सन्धि नहीं हुई, या किन्हीं तीन के बीच भी नहीं हुई। हरेक ने बाक़ी तीन के साथ अलग-अलग और बहुत कुछ मिलती-जुलती सन्धियाँ कीं। इस तरह मध्य-पूर्व में, इनसब देशों की ताक़त बढ़ानेवाली सन्धियों का जाल-सा बिछ गया। यहाँपर मैं इन सन्धियों की सिर्फ़ सूची, उनकी तारीख़ों के, साथ देता हूँ:

तुर्की-अफ़ग़ान सन्धि	१० फरवरी, १९२१ ई०
सोवियत-तुर्की सन्धि	१७ दिसम्बर, १९२५ ई०
तुर्की-ईरान सन्धि	२२ अप्रैल, १९२६ ई०

सोवियत-अफ़ग़ान सन्धि	३१ अगस्त, १९२६ ई०
सोवियत-ईरान सन्धि	१ अक्तूबर, १९२७ ई०
ईरान-अफ़ग़ान सन्धि	२८ नवम्बर, १९२७ ई०

ये सन्धियाँ सोवियत कूटनीति की शानदार जीत थीं, मगर मध्य-पूर्व में अंग्रेज़ों के असर पर गहरी चोट थीं। कहना न होगा कि ब्रिटिश सरकार ने इन पर सख़्त ऐतराज़ किया और अमानुल्ला की सोवियत रूस के साथ दोस्ती को, और रूस की तरफ़ झुकाव को तो, ख़ासतौर पर नापसन्द किया।

१९२८ ई० के शुरू में अमानुल्ला और बेग़म सुरैय्या अफ़ग़ानिस्तान से यूरोप के शानदार दौरे पर रवाना हुए। वे रोम, पेरिस, बर्लिन, लन्दन, मास्को, वग़ैरा, यूरोप की कई राजधानियों में गये और हर जगह उनकी ख़ूब आव-भगत हुई। ये तमाम देश व्यापार व राजनीति के मतलबों से अमानुल्ला को ख़ुश रखना चाहते थे। उसे क़ीमती तोहफ़े भी दिये गए। पर उसने राजनयिकों जैसा खेल खेला और किसी बात की हामी नहीं भरी। लौटते समय वह तुर्की और ईरान होता हुआ आया।

उसके लम्बे दौरे ने लोगों का ध्यान ख़ूब खींचा। इस दौरे ने अमानुल्ला की इज़्ज़त बढ़ा दी, और दुनिया में अफ़ग़ानिस्तान का महत्व भी बहुत बढ़ा दिया। मगर ख़ुद अफ़ग़ानिस्तान में हालत अच्छी नहीं थी। अमानुल्ला ने ऐसे बड़े-बड़े परिवर्तनों के बीच में अपने देश से बाहर जाकर भारी जोखिम उठाई थी, जो रहन-सहन के पुराने ढर्रे को ही उलट-पुलट कर रहे थे। मुस्तफ़ा कमाल ने ऐसी जोखिम कभी नहीं उठाई थी। अमानुल्ला की ग़ैरहाज़िरी के लम्बे समय में, उसके ख़िलाफ़ क़तार बाँधनेवाले तमाम प्रगति-विरोधी लोग और ताक़तें धीरे-धीरे सामने आ गये। उसे बदनाम करने के लिए हर तरह की साज़िशें की गईं और अनगिनत अफ़वाहें फैलाई गईं। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए न मालूम कहाँ से रुपये की मानो नदी बही चली आ रही थी। मालूम होता था कि बहुत-से मुल्लाओं को इस काम के लिए रुपया मिल रहा था। ये लोग देश-भर में फैल गये और अमानुल्ला को काफ़िर क़रार देकर फ़तवे निकालने लगे। यह दिखलाने के लिए कि बेग़म सुरैय्या कितनी भद्दी पोशाक पहनती है, उसकी हज़ारों ऐसी विचित्र तसवीरें गाँव-गाँव में बाँटी गईं, जिनमें वह यूरोपीय ढंग की शाम की पोशाक या कोई ढीला-ढाला गाउन पहने हुए दिखाई गई थी। इस तूल-तवील और ख़र्चीले प्रचार के लिए कौन ज़िम्मेदार था? अफ़ग़ानों के पास न तो इसके लिए पैसा था और न कभी उन्होंने यह काम सीखा था; वे तो इसके लिए सिर्फ़ काम का मसाला थे। मध्य-पूर्व में और यूरोप में आमतौर पर यह ख़याल किया जाता था, और कहा जाता था, कि इस प्रचार के पीछे ब्रिटिश ख़ुफ़िया विभाग का हाथ था। इस तरह

की बातें कभी साबित नहीं की जा सकतीं, और इस काम के साथ अंग्रेज़ों का नाम जोड़ने के लिए कोई साफ़-साफ़ सबूत भी नहीं मिल रहा था, हालाँकि यह कहा जाता है कि अफ़ग़ान-बाग़ियों के पास अंग्रेज़ी रायफ़लें थीं। परन्तु यह तो काफ़ी ज़ाहिर बात है कि अफ़ग़ानिस्तान में अमानुल्ला की ताक़त कम करने में इंग्लैण्ड की दिलचस्पी थी।

जब इधर अफ़ग़ानिस्तान में अमानुल्ला की जड़ें खोखली की जा रही थीं तब वह यूरोप की राजधानियों में शानदार स्वागतों के मज़े ले रहा था। जब वह देश लौटा तो अपने सुधारों के लिए नये जोश से भरा हुआ, नये विचारों से भरा हुआ और कमाल पाशा का, जिससे वह अंगोरा में मिला था, पहले से भी ज़्यादा मुरीद बना हुआ था। वह इन सुधारों को आगे बढ़ाने में फ़ौरन जुट गया। उसने अमीर-वर्ग की उपाधियाँ मिटा दीं, और मुल्लाओं की ताक़त कम करने का प्रयत्न किया। उसने मन्त्रियों की एक कौन्सिल के हाथ में सरकार की बागडोर भी देने की कोशिश की, और इस तरह ख़ुद अपने निरंकुश अधिकारों को कम कर दिया। नारियों के बन्धन काटने का काम भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाया गया।

लेकिन सुलगती हुई आग अचानक भड़क उठी, और १९२८ ई० के अन्त में बग़ावत की लपटें फैलने लगीं। यह बग़ावत बच्चा सक़्क़ा नामक एक मामूली भिश्ती की सरदारी में ज़ोर पकड़ गई और १९२९ ई० में पूरी तरह सफल हो गई। अमानुल्ला और उसकी बेग़म देश छोड़कर भाग गये और बच्चा-सक़्क़ा बादशाह बन बैठा। पाँच महीने तक बच्चा सक़्क़ा काबुल में राज करता रहा, फिर अमानुल्ला के एक सेनापति व मन्त्री नादिर ख़ाँ ने उसे हटा दिया। नादिर ख़ाँ ने अपनी ही चालें खेलीं, और जब वह पूरी तरह सफल हो गया तो ख़ुद ही नादिरशाह के नाम से राजगद्दी पर बैठ गया। देश में बार-बार झगड़े और उपद्रव होते रहे, लेकिन नादिरशाह बादशाह बना रहा, क्योंकि इंग्लैण्ड से उसकी दोस्ती थी, और सहायता भी मिलती थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे बहुत बड़ी रक़म बिना सूद के उधार दी और रायफ़लें व गोली-बारूद भी भेजीं। अफ़ग़ानिस्तान की डावाँडोल हालत का सबसे बड़ा सबब यह है कि वह दो ताक़तवर मुक़ाबलेदारों के बीच में झोंक झेलनेवाला राज्य है।[1]

मैं अफ़ग़ानिस्तान का और पश्चिमी व दक्षिणी एशिया का हाल पूरा कर चुका हूँ। अब मैं तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की कुछ हाल की घटनाओं के बारे में थोड़े में बतलाकर इस पत्र को ख़त्म कर दूंगा।

---

[1] नवम्बर, १९३३ ई० में नादिरशाह की हत्या कर दी गई और उसके बाद उसका पुत्र ज़हीरशाह गद्दी पर बैठा।

बरमा के पूर्व में स्याम[1] है, और दुनिया के इस भाग में अकेला यही देश अपनी स्वाधीनता बनाये रख सका है। यह ब्रिटिश बरमा और फ़ान्सीसी हिन्दचीन के बीच में भिंचा हुआ है। इस देश में पुराने भारतीय चिह्न भरे पड़े हैं, और इसकी परम्पराओं और संस्कृति और रीति-रिवाजों पर अभी तक पुरानी भारतीयता की छाप है। कुछ ही दिन पहले तक यहाँ निरंकुश सल्तनत थी, और यहाँ की समाजी हालत ज्यादातर सामन्ती थी, जिसमें छोटा-सा उठता हुआ मध्यमवर्ग था। मेरा ख़याल है कि यहाँ के राजा की उपाधि बहुत करके 'राम' होती थी और यह शब्द हमें भारत की याद दिलाता है। यानी यहाँ राम प्रथम, राम द्वितीय, वग़ैरा नाम के राजा होते रहे हैं। महायद्ध के दौरान, जब मित्र-राष्ट्रों की जीत साफ़-साफ़ दिखाई देने लगी, तब यह देश मित्र-राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया, और बाद में यह राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया।

१९३२ ई० में स्याम की राजधानी बैंकाक में अचानक राजनीतिक उखाड़-पछाड़ हुई और निरंकुश ढंग का राज ख़त्म हो गया, और इसकी जगह स्यामी लोक-दल की सरकार के मातहत लोकतन्त्र की शुरुआत हो गई। लुआंङ प्रदीत नामक एक वकील की नेतागिरी में नौजवान स्यामी फ़ौजी अफ़सरों व दूसरे लोगों के दल ने राजघराने के व्यक्तियों को और ख़ास-ख़ास मन्त्रियों को गिरफ़्तार कर लिया, और राजा प्रजाधिपोक को एक संविधान मंजूर करने पर मजबूर कर दिया। राजा की शक्तियाँ सीमित कर दी गईं और एक लोकसभा बनाई गई। इस परिवर्तन का जनता ने समर्थन तो किया पर यह सारी जनता की उथल-पुथल के सबब से नहीं हुआ था। यह घटना उस अचानक फ़ौजी उखाड़-पछाड़ से मिलती-जुलती थी, जिसके ज़रिये नौजवान तुर्कों ने सुलतान अब्दुल हमीद के ज़ुल्मों का अन्त कर दिया था। राजा के फ़ौरन घुटने टेकने से संकट तो टल गया, पर परिवर्तन के आगे झुकने की उसकी यह तैयारी सच्ची नहीं थी। अप्रैल, १९३३ ई० में उसने लोक-सभा को अचानक भंग कर दिया और लुआंङ प्रदीत को निकाल दिया। दो महीने बाद फिर अचानक राजनीतिक उखाड़-पछाड़ हुई और लोक-सभा फिर से बहाल कर दी गई। स्याम की नई सरकार ने इंग्लैण्ड के साथ कोई गहरे लगाव क़ायम नहीं किये हैं, बल्कि वह जापान की तरफ़ बहुत ज्यादा झुकी हुई है।[2]

स्याम के पूर्व में फ़ान्सीसी हिन्दचीन में भी राष्ट्रीयता फैल रही है और ज़ोर पकड़ती जा रही है। इस राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए फ़ान्सीसी सरकार

---

[1] आजकल इसका राष्ट्रीय नाम थाईलैण्ड है।

[2] अक्तूबर, १९३३ ई० में एक दक्षिण-पक्षीय उपद्रव हुआ, पर इसे दबा दिया गया और लुआंङ प्रदीत सरकार का नेता बना रहा।

ने षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चला दिये हैं, और बहुत लोगों को क़ैद की लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दे दी हैं। मार्च, १९३३ ई० में, जिनेवा में होनेवाले निरस्त्रीकरण सम्मेलन की बैठक में फ़ान्सीसी प्रतिनिधि ने एक भेद खोलनेवाला बयान दिया था। यह प्रतिनिधि, मोश्ये सारियो, फ़ान्सीसी हिन्द-चीन का खुद गवर्नर रह चुका था। उसने बतलाया कि "उपनिवेशी मिल्कियतों में राष्ट्रीयता का विकास हो रहा है और वहाँ राज चलाना दिन-पर-दिन निहायत दुश्वार हो रहा है"। उसने फ़ान्सीसी हिन्दचीन की मिसाल दी कि जब वह वहाँ का गवर्नर था तब अमन क़ायम रखने के लिए १.५०० आदमी काफ़ी थे, पर इसके मुक़ाबले में अब वहाँ १०,००० आदमियों की ज़रूरत पड़ रही थी।

अन्त में डच ईस्ट-इण्डीज़ में जावा है, जो अपनी शकर और अपने रबड़ के लिए मशहूर है, और अपनी जनता के उस ज़बर्दस्त शोषण के लिए भी नामी है, जो उसके बाग़ानों में हुआ करता था। भारत के साथ-साथ यहाँ भी राष्ट्रीयता बढ़ने की वजह से कुछ हद तक सुधार हुए हैं और बहुत ज्यादा दमन हुआ है। जावा-निवासियों में ज्यादातर मुसलमान हैं, और महायुद्ध के दौरान, और उसके बाद, पश्चिमी एशिया की घटनाओं का उनपर भी असर पड़ा। कैण्टन में चीनी क्रान्तिकारी आन्दोलन के उत्थान ने उनपर बहुत असर डाला, और वे भारत के असहयोग आन्दोलन की तरफ़ भी मायल हुए। १९१६ ई० में डच सरकार ने जावा-वासियों को संविधानी सुधार देने का वायदा किया, और बटाविया में जनता की कौन्सिल क़ायम कर दी गई। पर इसके ज्यादातर सदस्य नामज़द थे और इसे कोई ख़ास अधिकार नहीं दिये गए थे, इसलिए इसके खिलाफ़ आन्दोलन जारी रहा। १९२५ ई० में फिर नया संविधान लागू किया गया, पर इससे कुछ फ़र्क़ नहीं हुआ, यह जनता को राज़ी न कर सका। जावा व सुमात्रा में हड़तालें और दंगे हुए, और १९२७ ई० में डच सरकार के खिलाफ़ एक बलवा हुआ। इसे बड़ी बेरहमी से कुचल दिया गया। पर राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा, और ठोस कामों के मैदान में इसने बहुत-से राष्ट्रीय स्कूल खोले, और भारत की तरह कुटीर उद्योगों व दस्तकारियों को बढ़ावा दिया। आज़ादी के लिए लड़ाई अब भी जारी है। संसार-व्यापी आर्थिक मन्दी की वजह से, और भारी बचाव चुंगियाँ लगाने से विदेशी मण्डियाँ पाबन्द हो जाने की वजह से, जावा के चीनी-उद्योग को बहुत नुक़सान पहुँचा है।

१९३३ ई० के शुरू में जावा के पूर्वी तट के पास एक विचित्र वारदात हो गई। एक डच जंगी-जहाज़ के मल्लाहों ने, वेतन में कटौती किये जाने का विरोध करने के लिए, जहाज़ पर कब्ज़ा कर लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होंने जहाज़ को कोई नुक़सान नहीं पहुँचाया और यह भी ज़ाहिर कर दिया कि वे तो सिर्फ़ अपने वेतनों के लिए अड़ रहे थे। यह एक क़िस्म की सरगर्म हड़ताल थी। इसपर डच

हवाई-जहाज़ों ने इस जंगी जहाज़ पर बम गिराये, जिससे बहुत-से मल्लाह मारे गये, और जहाज़ पर क़ब्ज़ा कर लिया गया।

बस, अब हम राष्ट्रीयता व साम्राज्यशाही के बीच बार-बार होनेवाली टक्करोंवाले एशिया को छोड़कर यूरोप की तरफ़ चलते हैं, क्योंकि यूरोप हमारा ध्यान खींच रहा है। हमने अभी तक युद्ध के बाद के यूरोप पर ग़ौर नहीं किया है। ध्यान रहे कि यूरोप की हालत आज भी संसार-व्यापी हालतों की कुंजी है। इसलिए मेरे कुछ अगले पत्र यूरोप के ही बारे में होंगे।

लेकिन अभी एशिया के भी दो भागों पर, दो विशाल प्रदेशों पर, ग़ौर करना बाक़ी है: एक तो चीन और दूसरा उत्तर में सोवियत इलाक़ा। इनका हम कुछ समय बाद लौटकर बयान करेंगे।

: १७१ :

क्रान्ति, जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चैस्टरटन नामक मशहूर अंग्रेज़ लेखक ने कहीं लिखा है कि इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी की सबसे बड़ी घटना वह क्रान्ति थी, जो नहीं हुई। तुम्हें याद होगा कि इस सदी में कई मौक़ों पर इंग्लैण्ड क्रान्ति की ठेठ ड्योढ़ी पर पहुँच गया था, यानी वहाँ छोटे-छोटे मध्यम-वर्गों और मज़दूरों की पैदा की हुई समाजी क्रान्ति होने ही वाली थी। मगर शासक-वर्ग हमेशा ऐन मौक़े पर ज़रा झुक गये, उन्होंने वोट का हक़ बढ़ाकर पार्लमेण्टी ढाँचे में जनता को दिखावटी हिस्सा दे दिया, और विदेशों के साम्राज्यशाही शोषण की लूट का ज़रा-सा टुकड़ा भी उन्हें दे दिया, और इस तरह सिर पर झूमनेवाली क्रान्ति को रोके रक्खा। अपने फैलते हुए साम्राज्य और उससे वसूल होनेवाले पैसे के बल पर उनके लिए ऐसा करना आसान था। इसलिए इंग्लैण्ड में क्रान्ति तो नहीं हुई, पर उसकी छाया देश पर अक्सर पड़ती रही, और उसके भय से घटनाओं के रूप ज़रूर बने-बिगड़े। कहा जाता है कि इस तरह वह चीज़, जो हक़ीक़त में हुई ही नहीं, पिछली सदी की सबसे बड़ी घटना है।

इसी तरह शायद यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप में युद्ध के बाद के ज़माने की सबसे बड़ी घटना वह क्रान्ति थी, जो होते-होते रह गई। जिन हालतों ने रूस में बोलशेविक क्रान्ति पैदा की थी, वे मध्य व पश्चिमी यूरोप के देशों में भी मौजूद थीं, हालाँकि थीं किसी क़दर कम। रूस और पश्चिमी यूरोप के इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ़्रान्स, वग़ैरा औद्योगिक देशों के बीच ख़ास फ़र्क़ यह था कि रूस में ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नहीं थे। सच तो यह है कि मार्क्स के मुताबिक़ मज़दूर-वर्ग की क्रान्ति पहले इन आगे बढ़े हुए औद्योगिक देशों में फूट पड़ने की उम्मीद थी, पिछड़े,

हुए रूस में तो हरगिज़ नहीं। पर महायुद्ध ने ज़ारशाही के घुने हुए पुराने ढाँचे को चकनाचूर कर दिया, और मज़दूरों की सोवियतों ने सिर्फ़ इसी वजह से सत्ता छीन ली कि वहाँ ऐसा कोई ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नहीं था, जो आगे आकर पश्चिमी ढंग की पार्लमेण्ट के ज़रिये सरकार पर क़ब्ज़ा करता। इसलिए, यह बड़ी विचित्र बात है कि रूस का यह पिछड़ापन ही, जो उसकी कमज़ोरी का सबब था, उसके लिए ज़्यादा आगे बढ़े हुए देशों से भी बड़ा क़दम बढ़ाने का सबब बन गया। बोलशेविकों ने लेनिन की रहनुमाई में यह क़दम उठाया था, पर वे किसी भ्रम में नहीं थे। वे जानते थे कि रूस पिछड़ा हुआ देश है और ज़्यादा आगे बढ़े हुए देशों के बराबर पहुँचने में उसे वक़्त लगेगा। उन्हें आशा थी कि मज़दूर-वर्ग का गणराज्य क़ायम करने की जो मिसाल उन्होंने पेश की थी, वह यूरोप के दूसरे देशों के मज़दूरों को मौजूदा हुकूमतों के खिलाफ़ विद्रोह करने के लिए उकसायेगी। उन्होंने महसूस किया कि यूरोप की इस आम समाजी क्रान्ति में ही उनके ज़िन्दा रहने की अकेली उम्मीद भरी है, वरना बाक़ी की पूँजीवादी दुनिया रूस की कम-उम्र सोवियत सरकार को उभरने ही न देगी।

अपनी क्रान्ति के शुरू के दिनों में उन्होंने इसी आशा और इसी भरोसे के साथ संसार के मज़दूरों के नाम अपनी अपीलें बिखेरी थीं। उन्होंने मुल्क़ जीतने के तमाम साम्राज्यशाही इरादों की खुली मलामात की; उन्होंने कहा कि ज़ारशाही रूस और फ़्रान्स व इंग्लैण्ड के बीच जो खुफ़िया सन्धियाँ हुई थीं, उनके आधार पर वे कोई दावा नहीं करेंगे; उन्होंने साफ़ कह दिया कि क़ुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही क़ब्ज़े में रहेगा। उन्होंने पूर्वी देशों और ज़ारशाही साम्राज्य की सताई हुई कई छोटी-छोटी क़ौमों के सामने बहुत ही शरीफ़ाना शर्तें रक्खीं। और, सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-वर्ग के हामी की तरह सामने आ डटे, और उन्होंने हर जगह के मज़दूरों से अपील की कि वे भी उनकी मिसाल पर चलकर समाजवादी गणराज्य क़ायम करें। राष्ट्रीयता या राष्ट्र के रूप में रूस उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते थे, सिवाय इसके कि यह संसार का वह भाग था, जहाँ इतिहास में पहली बार मज़दूरों की सरकार क़ायम हुई थी।

जर्मन सरकार और मित्र-राष्ट्र-सरकारों ने तो बोलशेविकों की अपीलों को अपने यहाँ नहीं पहुँचने दिया, पर इनकी खबरें जैसे-तैसे कितने ही मोर्चों और कारखानी इलाक़ों में जा पहुँचीं। हर जगह उनका ज़बर्दस्त असर पड़ा, और फ़्रान्सीसी फ़ौजों में तो काफ़ी दरारें नज़र आने लगीं। जर्मन फ़ौजों और मज़दूरों पर तो और भी ज़्यादा असर पड़ा। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, वग़ैरा हारे हुए देशों में तो बलवे और विद्रोह भी हुए, और कई महीनों तक, या साल दो साल तक, ऐसा मालूम हुआ मानो यूरोप एक ज़बर्दस्त समाजी क्रान्ति की ड्योढ़ी पर खड़ा है।

फ़तहमन्द मित्र-राष्ट्री देशों की हालत हारे हुए देशों से कुछ बेहतर थी, क्योंकि सफलता ने उनमें ताज़गी पैदा कर दी थी और उम्मीदें पैदा कर दी थीं (जिन्हें बाद की घटनाओं ने बिलकुल थोथी साबित कर दिया) कि वे हारी हुई शक्तियों से धन वसूल करके अपने कुछ नुक़सानों को पूरा कर सकेंगे। पर मित्र-राष्ट्री देशों तक में भी क्रान्ति की हवा थी। वास्तव में यूरोप व एशिया-भर की फ़िज़ा नाराज़ी के धुएँ से भरी हुई थी, और क्रान्ति की आग अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी, और भभक उठना ही चाहती थी। मगर एशिया और यूरोप में फैली हुई नाराज़ी जुदा-जुदा ढंग की थी और क्रान्ति पर आमादा वर्गों में भी कुछ फ़र्क़ था। एशिया में पश्चिमी साम्राज्यशाही के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय विद्रोहों की बागडोर मध्यम-वर्गों के हाथ में थी; यूरोप के मज़दूर-वर्ग मौजूदा मध्यय-वर्गी पूंजीवादी समाजी व्यवस्था को उलटने पर और मध्यम-वर्गों से सत्ता छीन लेने पर आमादा हो रहे थे।

पर इन तमाम गड़गड़ाहटों और बुरे शकुनों के बावजूद, मध्य यूरोप और पश्चिमी यूरोप में रूसी क्रान्ति की तरह की कोई क्रान्ति नहीं भड़की। पुराना ढाँचा इतना मज़बूत था कि अपने ऊपर किये गए वारों को बर्दाश्त कर सकता था। लेकिन इन वारों ने उसे इतना कमज़ोर कर दिया और इतना हिला दिया कि इससे सोवियत रूस बच गया। अगर सोवियत रूस को मोर्चों के पीछे से यह ज़ोरदार मदद न मिली होती, तो पूरा अन्देशा था कि वह १९१९ या १९२० ई० में साम्राज्यशाही शक्तियों के आगे ढेर हो जाता।

धीरे-धीरे महायुद्ध के बाद ज्यों-ज्यों एक के बाद दूसरा साल गुज़रता गया, त्यों-त्यों कुछ हद तक गड़बड़ियाँ ठण्डी पड़ती दिखाई देने लगीं। एक तरफ़ तो प्रगति-विरोधी दक़ियानूसी बादशाहवादी व सामन्ती ज़मींदार थे और दूसरी तरफ़ नर्म समाजवादी या समाजी लोकतन्त्रवादी थे। इनके अजीब गठ-बन्धन ने क्रान्तिकारी तत्वों को दबा दिया। सचमुच यह गठ-बन्धन अजीब था, क्योंकि समाजी लोकतन्त्रवादी लोग यह दुहाई देते थे कि वे मार्क्सवाद और मज़दूरों की हुकूमत में विश्वास रखते हैं। इसलिए ऊपर से तो उनका आदर्श वही नज़र आता था, जो सोवियतों और साम्यवादियों का था। मगर फिर भी ये समाजी लोकतन्त्रवादी पूंजीवादियों से उतना नहीं डरते थे, जितना साम्यवादियों से, और साम्यवादियों को कुचलने के लिए पूंजीवादियों से मिल गये। या यह भी हो सकता है कि वे पूंजीवादियों से इतना डरते थे कि उनके ख़िलाफ़ जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे; वे बिना लड़ाई-झगड़े के और पार्लमेण्टी उपायों से अपनी हैसियत मज़बूत बनाने की, और इस तरह बिलकुल नामालूम तरीक़े से समाजवाद लाने की उम्मीद करते थे। उनके इरादे चाहे जो रहे हों, उन्होंने क्रान्तिकारी भावना को कुचलने के लिए प्रगति-विरोधी तत्वों को मदद दी, और इस तरह यूरोप के कई देशों में सचमुच

उलट-क्रान्ति पैदा कर दी। लेकिन जब इस उलट-क्रान्ति की बारी आई तो इसने इन समाजी लोकतन्त्री दलों को ही कुचल डाला, और नई व सरगर्म समाजवाद-विरोधी ताक़तों ने सत्ता हथिया ली। महायुद्ध के पीछे आनेवाले वर्षों में यूरोप में घटनाओं ने मोटे तौर पर इसी तरह का रूप लिया।

लेकिन कशमकश अभी खत्म नहीं हुई है, और पूँजीवाद व समाजवाद, इन दो मुक़ाबले की ताक़तों के बीच लड़ाई चल रही है। दोनों के बीच कोई पक्का समझौता नहीं हो सकता, हालाँकि दोनों के बीच काम-चलाऊ ठहराव और सन्धियाँ हुई हैं, और शायद आयन्दा भी हों। रूस व साम्यवाद एक छोर पर खड़े हैं तो पश्चिमी यूरोप व अमेरिका दूसरे छोर पर। दोनों के बीच के उदार दल, नर्म दल व बिचले दल हर जगह ग़ायब होते जा रहे हैं। ये कशमकश और बेज़ारी वास्तव में संसार-भर में पूरी आर्थिक उलट-पुलट और बढ़ती हुई मुसीबतों से पैदा हो रही है, और यह खींच-तान तबतक जारी रहेगी जबतक कि पलड़े कुछ बराबर न हो जायँ।

महायुद्ध के बाद जो कई विफल क्रान्तियाँ अबतक हुई हैं, उनमें जर्मनी की क्रान्ति सबसे ज्यादा दिलचस्प और भेद खोलनेवाली है। इसलिए इसका कुछ हाल मैं तुम्हें बतलाऊँगा। मैं लिख चुका हूँ कि जब महायुद्ध छिड़ा तब यूरोप के तमाम देशों के समाजवादी अपने आदर्शों और वायदों पर अमल में चूक गये। वे अपने-अपने देश की भयंकर राष्ट्रीयता में बह गये, और युद्ध की पागल खूनी प्यास में समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को भूल गये। १९१४ ई० की ३० जुलाई को, जब महायुद्ध के बादल मँडरा रहे थे, जर्मनी के समाजी लोकतन्त्रवादी दल के नेताओं ने हैप्सबर्गों के साम्राज्यशाही इरादों के लिए "जर्मन सिपाही के खून की एक भी बूंद" क़ुर्बान किये जाने के ख़िलाफ़ पुकार मचाई थी। (उस समय आस्ट्रिया के आर्क-ड्यूक फ़ान्सिस-फर्दिनैन्द की हत्या के मामले पर आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच झगड़ा था।) मगर पाँच दिन बाद इस दल ने युद्ध का समर्थन किया, और अन्य देशों के ऐसे ही अन्य दलों ने भी यही किया। यहाँतक कि आस्ट्रिया के समाजवादी नेता ने तो सचमुच पोलैण्ड और सर्बिया को आस्ट्रिया के साम्राज्य में मिला लेने की बात कह डाली, और कह दिया कि इसे जबरन क़ब्ज़ा नहीं माना जायगा।

१९१८ ई० के शुरू के दिनों में यूरोप के मज़दूरों के नाम बोलशेविकों की अपीलों का जर्मन मज़दूरों पर काफ़ी असर पड़ा, और गोला-बारूद के कारखानों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुई। इससे जर्मनी की साम्राज्यशाही सरकार के लिए खतरनाक सूरत पैदा हो गई, और शायद उसका तख्ता ही उलट गया होता। मगर समाजवादी नेताओं ने हड़ताल-कमेटियों में शामिल होकर और हड़ताल को भीतर से फोड़कर स्थिति को बिगड़ने से बचा लिया।

१९१८ ई० की ४ नवम्बर को उत्तरी जर्मनी में कील[1] में जहाज़ी फ़ौज में ग़दर की आग भड़क उठी। जर्मन वेड़े के बड़े-बड़े जंगी जहाज़ों को बाहर जाने का आदेश दिया गया था, पर मल्लाहों और कोयला झोंकनेवालों ने उन्हें चलाने से इन्कार कर दिया। उन्हें दबाने के लिए जो फ़ौजी भेजे गये, वे भी उन्हीं में जा मिले और उनके ही तरफ़दार बन गये। इन लोगों ने अफ़सरों को हटा दिया या गिरफ़्तार कर लिया, और मज़दूरों व सिपाहियों की कौन्सिलें (सोवियतें) बन गईं। ये रूस में सोवियत क्रान्ति की पहली शुरुआत जैसे लक्षण थे, और यह जर्मनी-भर में फैलती हुई मालूम दे रही थी। पर समाजी लोकतन्त्रवादी नेता झटपट कील में आ धमके, और मल्लाहों व मज़दूरों का ध्यान दूसरी बातों की तरफ़ बँटाने में कामयाब हो गये। मगर ये मल्लाह अपने-अपने हथियार लेकर कील से चले गये और विद्रोह के बीज बोते हुए जर्मनी-भर में फैल गये।

अब क्रान्तिकारी आन्दोलन फैलता जा रहा था। बवेरिया (दक्षिणी जर्मनी) में गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। पर कैसर फिर भी अड़ा रहा। नवम्बर की ९ तारीख़ को बर्लिन में आम हड़ताल हो गई। सारे काम बन्द हो गये, पर खून-ख़राबी ज़रा भी नहीं हुई, क्योंकि शहर की छावनी में पड़ी हुई सारी पल्टन क्रान्तिकारियों से जा मिली। पुरानी व्यवस्था ज़ाहिरा तौर पर ख़त्म हो गई थी, और अब सवाल यह था कि उसकी जगह कौन-सी चीज़ आयेगी। कुछ साम्यवादी नेता सोवियत या गणराज्य की घोषणा करने ही वाले थे कि एक समाजी लोकतन्त्रवादी नेता पार्लमेण्टी ढंग के गणराज्य की घोषणा करके उनसे बाज़ी ले गया।

इस तरह जर्मन गणराज्य का जन्म हुआ। पर यह गणराज्य की महज़ छाया थी, क्योंकि असलियत में हालत ज़रा भी नहीं बदली थी। समाजी लोकतन्त्रवादियों ने, जिन्होंने स्थिति पर क़ाबू कर रक्खा था, लगभग हर चीज़ को जैसा-का-तैसा रहने दिया। उन्होंने मन्त्रियों वग़ैरा के कुछ ऊँचे ओहदे ले लिये, लेकिन फ़ौज, असैनिक सेवाएँ, न्याय-विभाग, और सारा प्रशासन उसी तरह चलते रहे जैसे कैसर के ज़माने में चलते थे। बस, हाल ही में निकली एक पुस्तक के नाम के मुताबिक़ "कैसर चला गया : सेनापति रह गये"।[2] क्रान्तियाँ न तो इस तरह बनती हैं, न ताक़त हासिल करती हैं। असली क्रान्ति वह होती है, जो राजनीतिक, समाजी और आर्थिक ढाँचे को बदल डाले! अगर सत्ता क्रान्ति के दुश्मनों के हाथ में रह जाय तो यह उम्मीद रखना बेकार है कि क्रान्ति ज़िन्दा रह जायगी। मगर जर्मनी के समाजी लोकतन्त्र-

---

[1] Kiel—जर्मनी के उत्तर में महत्वपूर्ण बन्दरगाह और जर्मनी जहाजी बेड़े का अड्डा। यहाँ समुद्र के उस पार तक नहर काटी गई है, जो कील नहर कहलाती है।

[2] The Kaiser Goes : The Generals Remain.

वादियों ने ठीक यही बात की, और क्रान्ति के वैरियों को क्रान्ति को धूल में मिलाने की तैयारी करने के पूरे मौक़े दे दिये।

नई समाजी लोकतन्त्रवादी सरकार को यह अच्छा न लगा कि कील के मल्लाह क्रान्तिकारी विचार फैलाते हुए देश-भर में घूमते फिरें। उन्होंने बर्लिन में इन मल्लाहों को दबाने की कोशिश की और जनवरी, १९१९ ई० के शुरू में संगीन मुठभेड़ हुई। इसपर जर्मन साम्यवादियों ने सोवियत ढंग की सरकार क़ायम करने का प्रयत्न किया और शहर की जनता से मदद देने को कहा। जनता ने उन्हें कुछ मदद दी। उन्होंने सरकारी इमारतों पर क़ब्ज़ा कर लिया और जनवरी में क़रीब एक सप्ताह तक—जो बर्लिन का 'लाल सप्ताह' कहलाता है—शहर में उन्हींका बोलबाला नज़र आता था। मगर जनता ने उनके कहे मुताबिक़ अच्छी तरह काम नहीं किया, क्योंकि ज्यादातर लोग चक्कर में पड़ गये थे और यह नहीं जानते थे कि क्या करना चाहिए। बर्लिन में फ़ौज के सिपाही भी चक्कर में पड़ गये और ग़ैर-तरफ़दार बने रहे। चूंकि इन सिपाहियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए समाजी लोकतन्त्रवादियों ने अपने काम के लिए कुछ ख़ास स्वयंसेवक सिपाही भर्ती किये और इनकी सहायता से उन्होंने साम्यवादी बलवे को बिलकुल ठण्डा कर दिया। लड़ाई बड़ी बेरहमी के साथ हुई और ज़रा भी दया नहीं दिखाई गई। लड़ाई ख़त्म होने के कुछ दिन बाद कार्ल लीबनेख़्त और रोज़ा-लुग्ज़मबुर्ग़ नामक दो साम्यवादी नेताओं को उनके छिपने की जगह से खोज निकाला गया और उनकी बेदर्दी के साथ हत्या कर दी गई। इस हत्या की वजह से और बाद में इस हत्या के लिए ज़िम्मेदार व्यक्तियों को बरी करने की वजह से, साम्यवादियों और समाजी लोकतन्त्रवादियों के बीच सख़्त दुश्मनी पैदा हो गई। कार्ल लीबनेख़्त उन्नीसवीं सदी के पुराने और मशहूर समाजवादी लड़ाके विल्हैम लीबनेख़्त का लड़का था, जिसका ज़िक्र मैं अपने किसी पिछले पत्र में कर चुका हूँ। रोज़ा लुग्ज़मबुर्ग भी पुराना कार्यकर्ता था और लेनिन का बड़ा दोस्त था। वाक़या यह है कि लीबनेख़्त और लुग्ज़मबुर्ग दोनों ही उस साम्यवादी बलवे के विरोधी थे, जिसने उन्हें मौत के घाट उतारा।

समाजी लोकतन्त्री गणराज्य ने साम्यवादियों को कुचल दिया, और बाद में फ़ौरन ही वाइमर में गणराज्य के संविधान का मसौदा तैयार किया गया; इसीलिए यह वाइमर संविधान कहलाता है। तीन महीनों के भीतर ही गणराज्य में एक और परिवर्तन का ख़तरा पैदा हो गया, पर यह दूसरी ओर से था। प्रगति-विरोधियों ने गणराज्य के ख़िलाफ़ एक उलट-क्रान्ति रच डाली और पुराने सेनापतियों ने इसमें आगे आकर हिस्सा लिया। यह विद्रोह 'काप पुत्श' कहलाता है, क्योंकि काप इसका नेता था और 'पुत्श' जर्मन भाषा का शब्द है, जो इस प्रकार

के बलवे का द्योतक है। समाजी लोकतन्त्री सरकार बर्लिन छोड़कर भाग गई, पर बर्लिन के मज़दूरों ने एकदम आम हड़ताल करके इस 'पुत्श' को ख़त्म कर दिया। इस हड़ताल से सारे काम-काज बिलकुल बन्द हो गये और बर्लिन के महान् नगर का जीवन ठप्प हो गया। इन संगठित मज़दूरों के सामने काप और उसके साथियों को बर्लिन छोड़कर भाग जाना पड़ा, और समाजी लोकन्त्रवादी नेता हुकूमत सम्हालने के लिए फिर लौट आये। सरकार ने साम्यवादियों के साथ जितना सख़्त बर्ताव किया था, उसके मुक़ाबले में काप-दली बाग़ियों के साथ काफ़ी नर्मी बरती। इनमें से बहुत-से तो अफ़सर थे, जिन्हें पेन्शनें मिलती थीं। पर बलवे के बावजूद इनकी पेन्शनें तक चालू रहीं।

बवेरिया में भी इसी क़िस्म का उलट-क्रान्तिकारी 'पुत्श' या बलवा खड़ा किया गया था। यह भी असफल रहा, मगर इसमें ख़ास दिलचस्पी की बात यह है कि इसका संगठन करनेवाला आस्ट्रिया का एक अदना अफ़सर हिटलर था, जो आज जर्मनी का तानाशाह है।

इस सबका नतीजा यह हुआ कि हालाँकि जर्मन गणराज्य नाम के लिए चलता रहा, पर वह दिन-पर-दिन कमज़ोर पड़ता गया। समाजवादियों यानी समाजी लोकतन्त्रवादियों और साम्यवादियों की आपसी फूट ने दोनों को कमज़ोर कर दिया, और गणराज्य की खुली बुराई करनेवाले प्रगति-विरोधी लोग दिन-पर-दिन ज़्यादा ज़ोरदार व सरगर्म होते गये। बड़े-बड़े ज़मींदारों ने, जिन्हें जर्मनी में 'यून्कर' कहते हैं और बड़े-बड़े पूंजीपतियों ने, सरकार में जो थोड़ा-बहुत समाजवादी तत्व रह गये थे, उन्हें भी धीरे-धीरे बाहर धकेल दिया। वर्साई की सुलह-सन्धि से जर्मन जनता के दिलों को बड़ा धक्का लगा, और प्रगति-विरोधियों ने इससे ख़ूब फ़ायदा उठाया। इस सन्धि की शर्तों के मुताबिक़ जर्मनी को बे-हथियार होना पड़ा और अपनी भारी फ़ौज तोड़ देनी पड़ी। उसे सिर्फ़ एक लाख सिपाहियों की छोटी-सी फ़ौज रखने की इजाज़त दी गई। नतीजा यह हुआ कि ऊपर-ऊपर तो निरस्त्रीकरण होता रहा पर हक़ीक़त में हथियारों का बड़ा भारी भण्डार छिपा दिया गया। विशाल 'ख़ानगी फ़ौजें', यानी जुदा-जुदा दलों के स्वयंसेवक दल, खड़े हो गये। अनुदार राष्ट्रवादियों की स्वयंसेवक सेना 'स्टील हैल्मैट्स'[1] कहलाती थी; साम्यवादी मज़दूरों के स्वयंसेवक 'रेड फ़्रण्ट'[2] कहलाते थे और हिटलर के पीछे चलनेवाले 'नात्सी'[3] सिपाही कहलाते थे।

---

[1] Steel Helmets—फ़ौलादी टोप।

[2] Red Front—लाल मोर्चा।

[3] Nazi—नात्सी। यह शब्द जर्मनी की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के नाम का संक्षिप्त रूप है।

जर्मनी में युद्ध के बाद इन शुरू के वर्षों के बारे में मैंने तुम्हें बहुत-कुछ बतला दिया है, और इससे भी ज़्यादा मैं तुम्हें यह बतला सकता हूँ कि किस तरह क्रान्ति हवा में मँडरा रही थी और उलट-क्रान्ति से लड़ी थी। जर्मनी के बवेरिया, सैक्सनी, वग़ैरा कई भागों में भी बलवे हुए। इसीसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हालतें आस्ट्रिया में चल रही थीं, जो सुलह-सन्धि के मातहत कट-छँटकर अपने पहले रूप का नन्हा-सा टुकड़ा रह गया था। यह छोटा-सा देश, जिसकी राजधानी वियेना जैसा विशाल शहर था, भाषा व संस्कृति के लिहाज़ से पूरी तरह जर्मन था। लड़ाई बन्द होने के दूसरे ही दिन, १२ नवम्बर, १९१८ ई० को यह गणराज्य बन गया था। यह जर्मनी का अंग बनना चाहता था, पर मित्र-राष्ट्री शक्तियों ने इसकी सख्त मनाई कर दी, हालाँकि यह चीज़ क़ुदरती तौर पर हो जानी चाहिए थी। आस्ट्रिया व जर्मनी के लिए तजवीज़ किये गये इस मिलाप को जर्मन भाषा के 'आंश्लुस'[1] शब्द से ज़ाहिर किया जाता है।

जर्मनी की तरह आस्ट्रिया में भी शुरू में समाजी लोकतन्त्रवादियों के हाथों में सत्ता थी, पर डर के मारे और हिम्मत न होने की वजह से वे मध्यम-वर्गी दलों के साथ समझौते की नीति पर चले। नतीजा यह हुआ कि समाजी लोकतन्त्रवादी बहुत कमज़ोर हो गये और हुकूमत दूसरे लोगों के हाथों में चली गई। जर्मनी की तरह यहाँ भी ख़ानगी फ़ौजें खड़ी हो गईं और अन्त में प्रगति-विरोधी तानाशाही क़ायम हो गई। बहुत दिनों तक वियेना के समाजवादी शहर और देहातों के पुरातन-पन्थी किसानों में आपसी रगड़-झगड़ चलती रही। वियेना की समाजवादी म्युनिसिपल कमेटी मज़दूर-वर्गों के लिए बढ़िया मकानों की व दूसरी योजनाओं के लिए मशहूर हो गई।

हंगरी में बहुत पहले ही, ३ अक्तूबर, १९१८ ई० को, युद्ध ख़त्म होने के पाँच सप्ताह पहले ही, क्रान्ति भड़क उठी। नवम्बर में गणराज्य की घोषणा कर दी गई। चार महीने बाद, मार्च, १९१९ ई० में, दूसरी क्रान्ति हुई। यह बेला-कुन नामक एक साम्यवादी की सरदारी में, जो पहले लेनिन के साथ रह चुका था, सोवियत क्रान्ति थी। यहाँ सोवियत सरकार क़ायम हो गई और कुछ महीनों तक सत्ता में रही। इसपर देश के दक़ियानूसी व प्रगति-विरोधी तत्वों ने अपनी मदद के लिए रूमानिया की फ़ौज बुलवाई। रूमानियावाले बड़ी ख़ुशी से वहाँ आये, उन्होंने बेला-कुन की सरकार को कुचलने में मदद दी, और फिर वे देश को लूटने के लिए वहीं जम गये। हंगरी को उन्होंने तभी छोड़ा जब मित्र-राष्ट्रों ने उनके ख़िलाफ़ कार्रवाई की धमकी दी। रूमानियावाले ज्योंही हंगरी से हटे, त्योंही

[1] Anschluss—एकीकरण। यह एकीकरण मार्च, १९३८ ई० में हो गया।

वहाँ के दक़ियानूसी लोगों ने देश के तमाम उदार व तरक़्क़ी-पसन्द तत्वों पर आतंक जमाने के लिए एक ख़ानगी सेना, या स्वयंसेवकों के जत्थे तैयार किये, ताकि आयन्दा क्रान्ति के किसी भी प्रयत्न को रोका जा सके। इस तरह १९१९ ई० में हंगरी में 'सफ़ेद आतंक' कहलानेवाला ज़माना शुरू हुआ, जो "युद्ध के बाद के इतिहास का एक सबसे ज्यादा ख़ूनी सफ़ा" माना जाता है। हंगरी में आज भी कुछ हद तक सामन्ती प्रथा है, और इन सामन्ती ज़मींदारों ने, युद्ध के दौरान में ख़ूब दौलत पैदा करनेवाले उद्योगपतियों से मिलकर, सिर्फ़ साम्यवादियों को ही नहीं, बल्कि आमतौर पर मज़दूरों को, और समाजी लोकतन्त्रवादियों को, और उदारदली लोगों को, और शान्तिवादियों को और यहूदियों तक को, क़त्ल किया और ख़ौफ़ दिलाया। तभी से हंगरी एक प्रगति-विरोधी तानाशाही के मातहत चला आ रहा है। दिखावे के लिए एक पार्लमेण्ट भी है, पर उसका मतदान खुला है, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यों का चुनाव खुले तौर पर होता है, और पुलिस व फ़ौज का काम यह देखने का होता है कि तानाशाही के पसन्द किये हुए लोग ही चुने जायँ। राजनीतिक सवालों पर किसी क़िस्म की आम सभाएँ बर्दाश्त नहीं की जातीं।

इस पत्र में मैंने युद्ध के बाद मध्य यूरोप की कुछ घटनाओं का, और युद्ध से पहले मध्य-यूरोपीय शक्तियाँ कहे जानेवाले देशों पर युद्ध और हार और रूसी क्रान्ति के गहरे असर का, ज़िक्र किया है। युद्ध के अचरजभरे आर्थिक नतीजों का और उनके सबब से पूँजीवाद आज की बुरी हालत में कैसे पहुँच गया, इसका बयान हमें अलग से करना है। इस पत्र में मैंने जिन बातों के बारे में लिखा है, उनका सीधा मतलब यह है कि युद्ध के बाद में उन दिनों यूरोप में क्रान्ति सिर पर खड़ी हुई नज़र आ रही थी। इस हक़ीक़त से सोवियत रूस को मदद मिली, क्योंकि अपने-अपने मज़दूर-वर्ग पर बुरा असर पड़ने के डर से कोई भी साम्राज्यशाही शक्ति रूस पर खुले दिल से हमला करने का हौसला नहीं कर सकती थी। मगर क्रान्ति हुई ही नहीं, सिवाय इसके कि कहीं-कहीं उसके लिए कुछ प्रयत्न हुए, जो कुचल दिये गए। इस समाजी क्रान्ति को कुचलने में और रोकने में समाजी लोकतन्त्रवादियों ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया, हालाँकि उनका समूचा दल ही ऐसी समाजी क्रान्ति के उसूल पर बना था। मालूम होता है इन समाजी लोकतन्त्रवादियों को यह उम्मीद थी या यक़ीन था कि पूँजीवाद अपनी मौत मर जायगा। इसलिए, उसपर ख़ूब ज़ोर के साथ हमला करने के बजाय उन्होंने उस वक़्त तो उसे बचाने का ही काम किया। या यह भी हो सकता है कि उनके दल का भारी-भरकम और मालदार संगठन काफ़ी आराम-तलब था और मौजूदा व्यवस्था में इतना उलझा हुआ था कि समाजी उथल-पुथल की जोखिम नहीं उठाना चाहता था। उन्होंने बीच के रास्ते पर चलने की कोशिश की, जिसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सारा काम

बिगाड़ दिया और गाँठ का भी खो दिया। जर्मनी में हाल की घटनाओं से यह बात इतनी साफ़ हो गई है जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।

युद्ध के बादवाले इन वर्षों पर छा जानेवाली एक और हक़ीक़त है हिंसा की भावना का बढ़ना। यह विचित्र बात है कि जब भारत में अहिंसा धर्म का उपदेश दिया जा रहा था, तब लगभग सारी दुनिया में हिंसा का नंगा और बेहया नाच हो रहा था, और उसकी बड़ाई की जा रही थी। इसके लिए ज़्यादातर तो युद्ध ज़िम्मेदार था और बाद में जुदा-जुदा वर्गों के स्वार्थों की टक्करें। ज्यों-ज्यों ये टक्करें ज़्यादा ज़ाहिर और गहरी होती गईं त्यों-त्यों हिंसा बढ़ी। उदारवाद तो मानो ग़ायब हो गया और उन्नीसवीं सदी के लोकतन्त्र लोगों की नज़रों से गिर गया। अब तानाशाहों का खेल शुरू हो गया।

इस पत्र में मैंने हारनेवाली शक्तियों का ज़िक्र किया है। जीतनेवाली शक्तियों को भी ऐसी ही मुसीबतें उठानी पड़ी थीं, हालाँकि इंग्लैण्ड और फ़्रान्स मध्य-यूरोप की तरह के किसी बलवे या उथल-पुथल से अछूते बच गये। इटली में बड़ी भारी उथल-पुथल हुई, जिसके अजीब नतीजे निकले। इनपर अलग से रोशनी डालना ठीक होगा।

: १७२ :

पुराने क़र्ज़े चुकाने का नया तरीक़ा

१५ जून, १९३३

महायुद्ध के बाद हम यूरोप को, और सच तो यह है कि कुछ हद तक सारी दुनिया को, खलबलाते हुए देग़ की-सी हालत में पाते हैं। वर्साई की सुलह से या दूसरी सन्धियों से हालत में कोई सुधार नहीं हुआ। पोलों, और चेकों और बाल्टिक क़ौमों के आज़ाद कर दिये जाने पर यूरोप का जो नया नक़शा बना, उससे कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्याएँ हल हो गईं। लेकिन साथ ही आस्ट्रिया के टाइरोल को इटली के अधीन और यूक्रेन के कुछ भाग को पोलैण्ड के अधीन कर दिये जाने से, और पूर्वी यूरोप के दूसरे प्रदेशों का बुरा बँटवारा किया जाने से, इस नये नक़्शे ने नई-नई राष्ट्रीय समस्याएँ पैदा कर दीं। पोलैण्ड के गलियारे और डैन्ज़िग का बन्दोबस्त सबसे ज़्यादा निराला और खिझानेवाला था। मध्य व पूर्वी यूरोप का, कई छोटे-छोटे नये राज्य बनाकर, 'बलकानीकरण' कर दिया गया था, जिसका अर्थ था—और ज़्यादा सरहदें, चुंगी की और ज़्यादा चौकियाँ, व और ज़्यादा हैवानी दुश्मनियाँ।

१९१९ ई० की इन सन्धियों के अलावा, रूमानिया ने तरकीब लगाकर

बैसरेविया पर, जो पहले दक्षिण-पश्चिमी रूस का भाग था, क़ब्ज़ा कर लिया। तभीसे यह मामला सोवियत रूस व रूमानिया के बीच झगड़े और तक़रार का मामला बना हुआ है। बैसरेविया 'नीपर के किनारे का अलसास-लॉरेन' कहलाने लगा है।

इन प्रादेशिक परिवर्तनों के सवाल से भी बड़ा सवाल हर्जानों का था—यानी उस रक़म का जिसे हारा हुआ जर्मनी, युद्ध के खर्चे और युद्ध से होनेवाले नुक़सान के मुआवज़े के तौर पर, जीते हुए मित्र-राष्ट्रों को देने के लिए मजबूर किया जाने-वाला था। वर्साई की सन्धि में इसके लिए कोई ठीक-ठीक रक़म तय नहीं की गई थी, पर बाद के सम्मेलनों में इन हर्जानों की ज़बर्दस्त रक़म ६,६०,००,००,००० पौण्ड तय की गई, जो सालाना क़िस्तों में चुकाई जानेवाली थी। इस भारी रक़म का चुकाना किसी भी देश के लिए नामुमकिन था, फिर हारे हुए और पस्त जर्मनी के लिए तो इसे चुकाना और भी ज्यादा दुश्वार था। जर्मनी ने इन्कार किया, पर वह बेकार हुआ। कोई और चारा न देखकर उसने संयुक्त राज्य अमेरिका से उधार लेकर दो-तीन क़िस्तें अदा कीं। उसने वक़्त टालने के लिए ऐसा किया था, क्योंकि उसे सारे सवाल पर दुबारा ग़ौर करवाने की आशा थी। जर्मनी और बहुत-से दूसरे देश अच्छी तरह समझ गये थे कि उसके लिए पीढ़ियों तक ये भारी रक़में देते रहना मुमकिन नहीं था।

जर्मनी की माली हालत बहुत जल्दी बिखर गई, और सरकार के पास इतना रुपया नहीं रहा कि वह हर्जानों वग़ैरा के विदेशी क़र्ज़े चुका सके या अन्दरूनी खर्च तक पूरे कर सके। दूसरे देशों की अदायगी के लिए सोना देना पड़ता था। इसलिए जब तयशुदा तारीखों पर ये अदायगियाँ न हुईं तो इक़रार टूट गया। इधर जर्मनी में तो सरकार नोटों के ज़रिये भुगतान कर सकती थी, इसलिए उसने लगातार ज्यादा काग़ज़ी नोट छापने की तरकीब अपनाई। मगर नोट छापने से रुपया पैदा नहीं होता; सिर्फ़ लेन-देन की सहूलियत पैदा होती है। लोग नोटों का इस्तेमाल इसलिए करते हैं कि वे जानते हैं कि अगर वे चाहें तो उनके बदले में सोना या चाँदी ले सकते हैं। इन नोटों की साख के लिए बैंकों में हमेशा सोने की कुछ राशि जमा रहती है, ताकि नोटों की क़ीमत न गिरने पाये। इस तरह काग़ज़ी सिक्का बड़ा अच्छा काम देता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन के काम में लगनेवाला बहुत-सा सोना और चाँदी बच जाता है और सरकार की साख बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार बेहिसाब काग़ज़ी सिक्के छापती चली जाय और इसकी परवाह न करे कि बैंकों में कितना सोना जमा है, तो इस सिक्के की क़ीमत गिर जाना लाज़िमी है। जितने ज्यादा नोट छपते हैं उतनी ही उनकी क़ीमत घटती जाती है, और उनके ज़रिये होनेवाला लेन-देन का काम भी उतना ही कम हो जाता है। यह सिलसिला

सिक्के का फैलाव कहलाता है।[1] १९२२ व १९२३ ई० में जर्मनी में ठीक यही हुआ। जर्मन सरकार को अपने खर्चे चलाने के लिए ज्यादा रुपये की जरूरत हुई, तो उसने ज्यादा नोट छाप डाले। इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरी सब चीजों की क़ीमतें तो बढ़ गईं, पर पौण्ड, डॉलर या फ़्रैंक[2] के मुक़ाबले में जर्मनी के मार्क[3] की क़ीमत गिर गई। इसलिए सरकार को मार्क के नोट और छापने पड़े और मार्क की क़ीमत और भी गिरी। यह सिलसिला हद दर्जे तक पहुँच गया, यहाँतक कि एक डॉलर या पौण्ड की क़ीमत अरबों काग़ज़ी मार्क हो गई। असल में काग़ज़ी मार्क की कोई क़ीमत ही नहीं रह गई। चिट्ठी पर लगाने के लिए एक टिकट की क़ीमत दस लाख काग़ज़ी मार्क हो गई! दूसरी चीजों की क़ीमतें भी इसी तरह चढ़ गईं और लगातार बढ़ती रहती थीं।

जर्मन सिक्के का यह फैलाव और मार्क की क़ीमत में यह हैरतभरी गिरावट अपने-आप ही नहीं हुई। यह तो जर्मन सरकार ने अपनी आर्थिक मुश्किलों में से निकलने के इरादे से जानबूझकर किया था, और बहुत हद तक ऐसा ही हुआ। क्योंकि सरकार ने, म्यूनिसिपल कमेटियों ने और दूसरे क़र्ज़दारों ने जर्मनी में अपने-अपने तमाम अन्दरूनी क़र्ज़े निकम्मे काग़ज़ी मार्कों के जरिये आसानी से चुका दिये। अलबत्ता वे इस तरह विदेशों में या विदेशों को क़र्ज़े नहीं चुका सके, क्योंकि वहाँ उनका काग़ज़ी सिक्का कोई भी लेने को तैयार नहीं था। जर्मनी में तो क़ानून के जोर से लोगों को यह सिक्का लेने के लिए मजबूर किया जा सकता था। इस तरह सरकार ने और हर क़र्ज़दार ने क़र्ज़ के दुखदायी बोझ से पिण्ड छुड़ाया। लेकिन इसके बदले में जनता को जबर्दस्त तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। इस फैलाव के जमाने में सब लोगों ने दुःख सहे, पर सबसे ज्यादा दुःख मध्यम-वर्ग को सहने पड़े, क्योंकि इन वर्गों के ज्यादातर लोगों को बँधी-बँधाई तनख्वाहें मिलती थीं या दूसरी बँधी-बँधाई आमदनियाँ होती थीं। ज्यों-ज्यों मार्क की क़ीमत गिरी त्यों-त्यों ये तनख्वाहें जरूर बढ़ीं, पर इतनी ऊँची कभी नहीं हुईं कि मार्क की तेजी से गिरती हुई क़ीमत का मुक़ाबला करतीं। इस फैलाव ने निचले मध्यम-वर्गों का तो क़रीब-क़रीब सफ़ाया ही कर दिया, और आगे के वर्षों में जर्मनी में होनेवाली मार्के की घटनाओं पर विचार करते वक़्त यह बात हमें ध्यान में रखनी होगी। क्योंकि अब इन नाराज़ व दर्जे से गिरे हुए मध्यम-वर्गों की जबर्दस्त विद्रोही फ़ौज तैयार हो गई, जिसमें क्रान्ति की आग भरी थी। ये लोग धीरे-धीरे उन खानगी सेनाओं में जा मिले, जो बड़े-बड़े दलों के इर्द-गिर्द बढ़ती जा रही थीं, और ज्यादातर लोग हिटलर के नये राष्ट्रीय समाजवादी या नात्सी दल में जा मिले।

---

[1] Inflation—मुद्रा-स्फीति।
[2] फ़्रान्स का सिक्का।
[3] Mark—जर्मनी का सिक्का।

पुराना मार्क, जो अब किसी भी मतलब के लिए बेकार हो गया था, मंसूख कर दिया गया, और इसकी जगह 'रैन्टनमार्क' का नया सिक्का जारी किया गया। इसका सिक्के के फैलाव से कोई वास्ता नहीं था, और इसकी क़ीमत वही थी, जो उतनी क़ीमत के सोने की। इस तरह अपने निचले मध्यम-वर्गों का पूरी तरह सफ़ाया करके जर्मनी फिर पायेदार सिक्के पर लौट आया।

जर्मनी की इ १ आर्थिक गड़बड़ियों का नतीजा सारे राष्ट्रों को भुगतना पड़ा। मित्र-राष्ट्रों को हर्जानों की अदायगी में चूक पड़ गई। इन हर्जानों को मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ आपस में बाँट लेती थीं और सबसे बड़ा हिस्सा फ़ान्स को मिलता था। रूस अपना हिस्सा नहीं लेता था; अगर उसका कोई दावा था भी तो उसने छोड़ दिया था। जब जर्मनी क़िस्त अदा करने में चूक गया तो फ़ान्स और बैलजियम ने जर्मनी के रूर इलाक़े पर फ़ौजी क़ब्ज़ा कर लिया। वर्साई सन्धि के मातहत राइनलैण्ड पर मित्र-राष्ट्रों का पहले ही क़ब्ज़ा हो चुका था। जनवरी, १९२३ ई० में फ़ान्स और बैलजियम ने कुछ और इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया (इस कार्रवाई में इंग्लैण्ड ने शामिल होने से इन्कार कर दिया था)। रूर का यह इलाक़ा राइनलैण्ड से मिला हुआ है और इसमें कोयले से भरपूर खानें हैं और कारखाने हैं। फ़ान्स इस कोयले पर और वहाँ तैयार होनेवाली दूसरी चीज़ों पर क़ब्ज़ा करके अपना रुपया वसूल करना चाहता था। पर यहाँ एक मुश्किल खड़ी हो गई। जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध यानी सत्याग्रह[1] के ज़रिये फ़ान्सीसियों के इस क़ब्ज़े को रोकने का फ़ैसला किया, और उसने रूर के खान-मालिकों व मज़दूरों से कहा कि वे काम बन्द कर दें और फ़ान्स को किसी तरह की मदद न दें। उसने खान-मालिकों व उद्योगपतियों को करोड़ों मार्कों की मदद दी, ताकि काम बन्द करने की वजह से होनेवाले नुक़सान पूरे हो जायें। नौ-दस महीने बाद, जो फ़ान्स और जर्मनी दोनों को बहुत महँगे पड़े, जर्मन सरकार ने यह असहयोग उठा लिया, और इस इलाक़े की खानों और कारखानों को चलाने के काम में फ़ान्सीसियों को सहयोग देना शुरू कर दिया। १९२५ ई० में फ़ान्सीसियों और बैलजियनों ने रूर छोड़ दिया।

रूस में जर्मनों का खामोश मुक़ाबला तो असफल हो गया था, पर इसने साबित कर दिया था कि हर्जानों के सवाल पर दुबारा ग़ौर करना और अदायगी की वाजिब रक़में तय करना ज़रूरी था। इसलिए जल्दी-जल्दी एक के बाद दूसरे सम्मेलन हुए और कमीशन बैठे, और एक के बाद दूसरी नई-नई योजनाएँ निकाली गईं। १९२४ ई० में डौज़ योजना[2] बनी, पाँच साल बाद, १९२९ ई० में, यंग योजना

---

[1] Passive Resistance—निष्क्रिय प्रतिरोध।

[2] Dawes Plan—इस योजना को बनानेवाला Charles Gatcs Dawes नामक अमरीकी अर्थ-विद् और राजनीतिज्ञ था।

आई, और तीन साल बाद सबों ने एक तरह से मान लिया कि हर्जाने अब आगे नहीं चुकाये जा सकते। इसलिए यह सारा विचार ही रद्द कर दिया गया।

१९२४ ई० से लगाकर अगले कुछ वर्षों तक जर्मनी ने हर्जानों का बराबर भुगतान किया, लेकिन जब जर्मनी के पास रुपया ही नहीं था और वह दिवालिया हो रहा था, तो यह भुगतान हुआ कैसे ? यह संयुक्त राज्य अमेरिका से क़र्ज़ लेकर हुआ। मित्र-राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ़ान्स, इटली वग़ैरा) को अमेरिका का रुपया देना था—वह रुपया, जो उन्होंने युद्ध-काल में उधार लिया था; उधर जर्मनी को हर्जानों के तौर पर मित्र-राष्ट्रों का रुपया देना था। बस, अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, ताकि जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को रुपया अदा कर सके, और मित्र-राष्ट्र यही रुपया अमेरिका को दे दें। यह बड़ी खूबसूरत तरकीब थी, और हरेक राज़ी दिखाई देता था ! सच तो यह है कि रुपया वसूल करने का और कोई रास्ता ही नहीं था। अलबत्ता क़र्ज़ लेने और उधार देने का यह सारा चक्कर एक छोटी-सी चीज पर निर्भर था—वह यह कि अमेरिका जर्मनी को रुपया उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द हुआ तो सारा इन्तज़ाम चौपट हुआ समझो।

क़र्ज़ देने और उधार लेने के इस सिलसिले का अर्थ यह नहीं था कि सचमुच कोई नक़द रुपया दिया-लिया जाता हो। यह तो सब काग़ज़ी लेन-देन था। अमेरिका जर्मनी के खाते में एक ख़ास रक़म लिख देता था; जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रों के खाते में जमा कर देता था; और मित्र-राष्ट्र इसी को फिर अमेरिका के खाते में लिख देते थे। असल रुपया तो कहीं जाता-आता नहीं था, सिर्फ़ बही-खातों में कुछ इन्दराज़ हो जाते थे। अमेरिका ऐसे कंगाल देशों को उधार क्यों देता चला जाता था, जो पिछले क़र्ज़ों का सूद तक अदा नहीं कर पाते थे ? अमेरिका ऐसा इसलिए करता था कि इन देशों को किसी तरह अपनी गाड़ी चलाने में मदद मिल जाय और वे दिवालिया होने से बच जायँ। क्योंकि अमेरिका को यूरोप के चौपट हो जाने का डर था, जिसके और तो बुरे नतीजे निकलते ही, पर जिसका अर्थ यह होता कि अमेरिका का सारा लेना ही मारा जाता। इसलिए समझदार बौहरे की तरह अमेरिका ने अपने क़र्ज़दारों को ज़िन्दा और काम चलाने लायक़ बनाये रक्खा। लेकिन कुछ वर्षों बाद अमेरिका लगातार उधार देने की इस नीति से उकता गया, और उसने इसे खत्म कर दिया। बस, हर्जानों और क़र्ज़ों का सारा ढाँचा फ़ौरन भहराकर गिर पड़ा और अदायगियाँ रुक गईं, और यूरोप के सारे राष्ट्र व अमेरिका दलदल में फँस गये।

इस तरह हर्जानों की समस्या महायुद्ध के बाद लगभग बारह वर्षों तक यूरोप पर छायी रही। इसके साथ ही युद्ध के क़र्ज़ों का सवाल था—यानी जर्मनी के अलावा दूसरे देशों के क़र्ज़ों का। जैसाकि मैं महायुद्ध के बारे में अपने एक पत्र में लिख चुका

हूं, महायुद्ध के शुरू के दिनों में इंग्लैण्ड और फ़ान्स ने युद्ध का खर्चा उठाया, और अपने साथी छोटे-छोटे राष्ट्रों को रुपया उधार दिया। फिर फ़ान्स के साधन ख़त्म हो गये और वह आगे उधार देने क़ाबिल नहीं रहा। मगर इंग्लैण्ड उधार देता रहा। बाद में इंग्लैण्ड का ख़ज़ाना भी खाली हो गया, और वह भी आगे उधार देने क़ाबिल नहीं रहा। अकेला संयुक्त राज्य अमेरिका ही उधार देनेवाला रह गया, और उसने इंग्लैण्ड, फ़ान्स व दूसरे मित्र-राष्ट्रों को, अपने फ़ायदे का ध्यान रखते हुए, खुले दिल से रुपया उधार दिया। बस, युद्ध का अन्त होने पर कुछ देशों को फ़ान्स का देना था; बहुत-से देश इंग्लैण्ड के क़र्ज़दार थे; और तमाम मित्र-राष्ट्री देशों को अमेरिका को बड़ी-बड़ी रक़में देना बाक़ी थीं। अकेला अमेरिका ही ऐसा देश था, जिसे किसी दूसरे देश को कुछ देना नहीं था। उस समय वह बड़ा भारी साहूकार राष्ट्र था। उसने इंग्लैण्ड की पुरानी हैसियत हासिल कर ली थी, और दुनिया भर का बौहरा बन गया था। कुछ आँकड़ों से शायद यह बात साफ़ हो जायगी। महायुद्ध से पहले अमेरिका क़र्ज़दार राष्ट्र था, जिसे दूसरे देशों को तीन अरब डॉलर चुकाने थे। लेकिन युद्ध का अन्त होते-होते यह सारा क़र्ज़ा चुक गया, और उलटे अमेरिका ने भारी-भारी रक़में उधार दे दी थीं। १९२६ ई० में अमेरिका पच्चीस अरब डॉलर का लेनदार, साहूकार राष्ट्र बन गया था।

युद्ध के ये क़र्ज़े इंग्लैण्ड, फ़ान्स, इटली वग़ैरा क़र्ज़दार देशों पर ज़बर्दस्त बोझ थे, क्योंकि ये सब सरकारी क़र्ज़े थे, जिनके लिए सरकारें ज़िम्मेदार थीं। इन देशों ने अमेरिका से अपने हित में खासतौर पर अच्छी शर्तें हासिल करने की कोशिश की, और इन्हें कुछ रियायतें मिल भी गईं, पर बोझ फिर भी बना रहा। जबतक जर्मनी हर्जानों की क़िस्तें देता रहा तबतक क़र्ज़दार देश इन अदायगियों को (जो वास्तव में अमेरिका के ही उधार खाते की थीं) अमेरिका के खाते में डालते रहे। पर जब हर्जानों की ये क़िस्तें वक़्त पर न चुकाई गईं या आना बन्द हो गईं, तो क़र्ज़े चुकाना भी मुश्किल हो गया। यूरोप के क़र्ज़दार देशों ने हर्जानों व युद्ध के क़र्ज़ों को जोड़ने का यत्न किया, उन्होंने कहा कि अगर एक की अदायगी बन्द हो जाती है तो दूसरे की भी अपने-आप बन्द हो जानी चाहिए। मगर अमेरिका ने दोनों को मिलाने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि जो रुपया उसने उधार दिया था, उसे वह वापस चाहता था; जर्मनी से वसूल होनेवाले हर्जानों का सवाल बिलकुल अलग था, क्योंकि इनकी हैसियत ही जुदा थी। अमेरिका के इस रुख पर यूरोप में बहुत नाराज़गी ज़ाहिर की गई, और उसे बहुत जली-कटी बातें सुनाई गईं। कहा गया है कि वह शाइलॉक की तरह, "आधा सेर माँस" चाहता है। फ़ान्स में खासतौर पर यह बात कही गई कि अमेरिका से जो रुपया उधार लिया गया था, वह सबके शामिल मक़सद के लिए, यानी युद्ध में खर्च हुआ था, इसलिए वह साधारण क़र्ज़ की तरह नहीं माना जाना चाहिए। उधर अमेरिकावासियों को यूरोप में युद्ध के

बाद की आपसी लाग-डाँटों और साज़िशों से बड़ी नफ़रत हो गई थी। उन्होंने देखा कि फ़्रान्स और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी फ़ौजों व जंगी-बेड़ों पर ख़ूब रुपया ख़र्च करते चले जा रहे थे, और छोटे-छोटे देशों को हथियार ख़रीदने के लिए रुपया तक उधार दे रहे थे। अगर यूरोप के इन देशों के पास लड़ाई के सामानों के लिए इतना सारा रुपया था, तो अमेरिकावाले उनके क़र्ज़े माफ़ क्यों करें? अगर वे इन क़र्ज़ों को माफ़ कर दें तो शायद यह रुपया भी लड़ाई के सामानों में झोंक दिया जायगा। अमेरिका की यही दलील थी, और वह क़र्ज़ों के अपने दावों पर अड़ा रहा।

हर्जानों की ही तरह युद्ध के क़र्ज़ों का भी किसी तरह चुकाया जाना बहुत मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय क़र्ज़े या तो सोना देकर अदा किये जा सकते हैं, या माल देकर, या सेवाएँ (जैसे माल लाना-लेजाना, जहाज़रानी, व दूसरी सेवाएँ) देकर। इन भारी रक़मों का सोने के रूप में अदा किया जाना नामुमकिन था; इतना सोना मिल ही नहीं सकता था। और माल व सेवाओं के रूप में भारी हर्जानों व क़र्ज़ों दोनों की अदायगी क़रीब-क़रीब नामुमकिन हो गई थी, क्योंकि अमेरिका ने और यूरोप के देशों ने भी चुंगी की पावन्दियाँ लगाकर विदेशी माल आना रोक दिया था। इससे एक अनहोनी सूरत पैदा हो गई, और यही असली कठिनाई थी। मगर फिर भी कोई देश न तो चुंगी की पावन्दियाँ कम करने को तैयार था, और न अपने क़र्ज़े की रक़म के बदले में माल लेने को तैयार था, क्योंकि इससे देशी उद्योगों को नुक़सान पहुँचने का ख़तरा था। यह एक विचित्र और खोटा चक्कर था।

अकेला यूरोप ही ऐसा महाद्वीप नहीं था, जो संयुक्त राज्य अमेरिका का क़र्ज़दार था। अमेरिकी बोहरों और व्यापारियों ने कनाडा व लातीनी अमेरिका (यानी दक्षिण व मध्य अमेरिका और मैक्सिको) में करोड़ों की पूंजी लगा रक्खी थी। महायुद्ध के ज़माने में लातीनी अमेरिका के इन देशों पर आजकल के उद्योगों व मशीनों की शक्ति का गहरा असर पड़ा था। इसलिए उन्होंने उद्योगों के विकास पर सारा ध्यान लगा दिया, और संयुक्त राज्य में जो धन की नदी बह रही थी, वह इस काम के लिए उत्तर से इन देशों की तरफ़ आने लगी। इन्होंने इतना रुपया उधार ले लिया कि उसपर ब्याज-देना भी मुश्किल हो गया। हर जगह तानाशाह पैदा हो गये, और जबतक यह उधार-खाता चलता रहा तबतक सब काम ठीक होता रहा, उसी तरह जिस तरह कि जबतक अमेरिका क़र्ज़ देता रहा तबतक जर्मनी में सब काम ठीक होता रहा। जब लातीनी अमेरिका को क़र्ज़ देना बन्द कर दिया गया तो वहाँ भी उसी तरह दिवाला निकल गया जिस तरह यूरोप में निकला था।

अमेरिका की लगाई हुई पूंजियों का, और लातीनी अमेरिका में वे किस

तेज़ी के साथ बढ़ीं इसका कुछ अन्दाज़ा तुम्हें देने के लिए मैं यहाँ दो आँकड़े देता हूँ। १९२६ ई० में इन पूंजियों की रक़म सवा चार अरब डॉलर थी। तीन साल बाद, १९२९ ई० में, यह रक़म साढ़े पाँच अरब तक पहुच गई थी।

बस, युद्ध के बाद के वर्षों में अमेरिका दुनिया का माना हुआ बौहरा बन गया। वह मालदार था, ख़ुशहाल था, और दौलत के मारे फटा पड़ रहा था। उसका रोब सारे संसार पर छा गया था, और उसके निवासी यूरोप को, और उससे भी ज्यादा एशिया को, कुछ हिक़ारत के साथ ऐसा समझते थे मानो वे कोई सठियाए हुए बूढ़े और झगड़ालू महाद्वीप हों। १९२०-३० ई० में ख़ुशहाली के उन चोटी के दिनों में अमेरिकी दौलत की कुछ कल्पना करने की कोशिश करो। १९१२ से लगाकर १९२७ ई० तक के पन्द्रह वर्षों में अमेरिका की कुल राष्ट्रीय दौलत १,८७,७३,९०,००,००० डॉलर से बढ़कर ४,००,००,००,००,००० डॉलर हो गई। १९२७ ई० में यहाँ की आबादी पौने बारह करोड़ के लगभग थी, और औसत से एक आदमी की आमदनी ३,४२८ डॉलर आती थी। तरक़्क़ी इतनी तेज़ी से हो रही है कि ये आँकड़े हर साल बदलते जाते हैं। पिछले एक पत्र में, भारत व दूसरे देशों की राष्ट्रीय आमदनियों की तुलना करते हुए मैंने अमेरिका के लिए इससे बहुत नीचा आँकड़ा दिया था। पर यह आँकड़ा राष्ट्रीय आमदनी का था, दौलत का नहीं, और वह भी शायद किसी पिछले वर्ष का था। ऊपर दिया हुआ १९२७ ई० का आँकड़ा अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज के नवम्बर, १९२६ ई० में दिये हुए एक बयान के आधार पर है।

कुछ और आँकड़े भी शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हों। ये सब १९२७ ई० के हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कुटुम्बों की संख्या २,७०,००,००० थी। इनके पास बिजली की रोशनीवाले १,५९,२३,५०० घर थे, और व्यवहार में आनेवाले टेलीफ़ोनों की संख्या १,७७,८०,००० थी। यहाँ १,९२,३७,१७१ मोटरें चलती थीं, और यह संख्या सारी दुनिया की मोटरों की ८१ फ़ीसदी थी। अमेरिका में मोटर गाड़ियों का उत्पादन सारे संसार के उत्पादन का ८७ फ़ीसदी था, पैट्रोलियम का उत्पादन ७१ फ़ीसदी था, और कोयले का ४३ फ़ीसदी। मज़ा यह है कि संयुक्त राज्य की आबादी सारी दुनिया की आबादी की सिर्फ़ ६ फ़ीसदी थी। इस तरह वहाँ की जनता के जीवन का दर्जा बहुत ऊँचा था, मगर उतना ऊँचा नहीं था जितना कि हो सकता था, क्योंकि दौलत तो कुछेक हज़ार लखपतियों और करोड़पतियों के हाथों में जमा थी। ये 'बड़े व्यापारी' देश पर राज करते थे। राष्ट्रपति उनकी मर्ज़ी का चुना जाता था, क़ानून वे बनाते थे, और अक्सर करके क़ानूनों को तोड़ते भी थे। इन बड़े व्यापारियों में ज़बर्दस्त भ्रष्टाचार था, पर जबतक आम ख़ुशहाली थी, तबतक अमेरिकी जनता को इसकी कोई परवाह नहीं थी।

१९२०-३० ई० में अमेरिका की खुशहाली के ये आँकड़े मैंने कुछ तो तुम्हें यह बतलाने के लिये दिये हैं कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने भारत व चीन-जैसे पिछड़े हुए और उद्योग-विहीन देशों के मुक़ाबले में एक देश को किस ऊँची चोटी पर पहुँचा दिया है; और कुछ इसलिए कि अमेरिका की इस खुशहाली का बाद में वहाँ आनेवाले संकट और पतन के मुक़ाबले में फ़र्क़ ज़ाहिर हो गया। इसका हाल मैं आगे चलकर लिखूंगा।

यह संकट तो बाद में आनेवाला था। ठेठ १९२९ ई० तक तो ऐसा मालूम हुआ कि दुखी यूरोप और एशिया की तकलीफ़ों से अमेरिका अछूता रह गया। पराजित शक्तियों की हालत बहुत बुरी थी। जर्मनी के कष्टों का कुछ हाल मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। मध्य-यूरोप के ज़्यादातर छोटे-छोटे देशों की, और ख़ासकर आस्ट्रिया की, हालत तो और भी बुरी थी। आस्ट्रिया को भी सिक्के के फैलाव की मुसीबत सहनी पड़ी, और पोलैण्ड को भी, और दोनों को अपने सिक्के बदलने पड़े।

पर यह मुसीबत सिर्फ़ पराजित देशों में ही नहीं थी। धीरे-धीरे विजेता देश तक भी इसमें फँस गये। यह तो हमेशा से माना जाता रहा था कि क़र्ज़दार होना अच्छी चीज़ नहीं है। पर अब एक नया और अजीब अनुभव हुआ: वह यह कि क़र्ज़-देवा होना भी उतना ही बुरा है जितना क़र्ज़-लेवा! क्योंकि वे विजेता शक्तियाँ, जो जर्मनी से हर्जानों की लेनदार थीं, इन हर्जानों के कारण बड़ी कठिनाइयों में पड़ गईं, और इनकी वसूली के काम ने तो इन्हें और भी आफ़त में डाल दिया। इन बातों का ज़िक्र मैं अगले पत्र में करूँगा।

: १७३ :

रुपये का अजीब बर्ताव

१६ जून, १९३३

यह युद्ध के बाद की एक सबसे ज़्यादा मार्के की ख़ासियत है रुपये का अजीब बर्ताव। युद्ध से पहले हर देश में रुपये का बहुत कुछ ठहरा हुआ मूल्य था। हर देश का निजी सिक्का था; जैसे भारत में रुपया, इंग्लैण्ड में पौण्ड, अमेरिका में डॉलर, फ़्रान्स में फ़्रैन्क, जर्मनी में मार्क, रूस में रूबल, इटली में लीरा, वग़ैरा; और इन सिक्कों का आपस में ठहरा हुआ सम्बन्ध था। ये आपस में 'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान' से बँधे हुए थे—यानी हर सिक्के का सोने की क़ीमत के अनुसार एक तयशुदा मूल्य होता था। हर देश की सीमाओं के भीतर उसका अपना सिक्का ठीक काम देता था, पर बाहर के देशों में नहीं। दो सिक्कों को जोड़नेवाली कड़ी सोना थी,

इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सोने के लेन-देन से किये जाते थे। जबतक इन सिक्कों के स्वर्ण-मान क़ायम रहते थे, तबतक उनमें ज्यादा उतार-चढ़ाव नहीं हो सकता था, क्योंकि जहाँतक मूल्य का सम्बन्ध है, वहाँतक सोना ऐसी धातु है, जिसका भाव ज्यादा उतरता-चढ़ता नहीं।

मगर युद्ध काल की ज़रूरतों ने लड़नेवाली सरकारों को यह स्वर्ण-मान छोड़ने पर मजबूर कर दिया, जिससे उनके सिक्कों के मूल्य गिर गये। कुछ हद तक सिक्के का फैलाव भी हुआ। इससे व्यापार चलाने में तो मदद मिली, पर सिक्कों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उलट-पुलट हो गये। युद्धकाल में दुनिया दो विशाल शिविरों में बँट गई थी—एक मित्र-राष्ट्री शिविर और दूसरा जर्मन शिविर। और हर शिविर के भीतर आपसी सहयोग व तालमेल था और हर चीज़ युद्ध पर निछावर कर दी जाती थी। युद्ध के बाद कठिनाइयाँ पैदा हो गईं, और बदलनेवाली आर्थिक हालतों और राष्ट्रों के आपसी अविश्वासों का नतीजा यह हुआ कि जुदा-जुदा सिक्के अजीब व्यवहार करने लगे। आजकल लेन-देन का सारा ढाँचा ज्यादातर साख के आधार पर खड़ा है। बैंक का नोट व हुण्डी, दोनों रुपया देने के इक़रार-नामे होते हैं, जिन्हें असली रुपये की तरह माना जाता है। साख विश्वास पर निर्भर रहती है, और अगर विश्वास जाता रहता है, तो उसके साथ साख भी चली जाती है। युद्ध के बाद के वर्षों के दौरान लेन-देन के ढंग ने इतनी गड़बड़ क्यों मचा दी, इसका यह भी एक कारण है, क्योंकि यूरोप की झंझट-भरी हालतों ने सारे विश्वास की जड़ हिला दी थी। आज के संसार में आपसी निर्भरता है; हर भाग का दूसरे भाग के साथ गहरा सम्बन्ध है, और कितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय हलचलें सदा होती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि एक देश की गड़बड़ियों की फ़ौरन ही दूसरे देशों में प्रतिक्रिया होती है। अगर जर्मन मार्क का मूल्य गिर जाय या कोई जर्मन बैंक दिवा-लिया हो जाय, तो लन्दन और पेरिस और न्यूयार्क के लोगों में भी इससे बहुत घबराहट फैल सकती है। इन सबबों से और दूसरे सबबों से, जिनका ज़िक्र करके मैं तुम्हें परेशान नहीं करना चाहता, क़रीब-क़रीब सभी देशों में सिक्के या रुपये की दिक़्क़तें पैदा हो गईं; और उद्योगों के लिहाज़ से जो देश जितना ज्यादा आगे बढ़ा हुआ था उतनी ही ज्यादा बार उसपर दिक़्क़तें आईं। क्योंकि उद्योगों में तरक्क़ी का अर्थ था बहुत पेचीदा और नाज़ुक अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा। अलबत्ता, तिब्बत जैसे पिछड़े हुए व सबसे अलग-थलग प्रदेश पर मार्क या पौण्ड के उतार-चढ़ाव का कोई असर न होगा, पर डॉलर के मूल्य में गिरावट होने से जापान में तो फ़ौरन घबराहट फैल सकती है।

इसके अलावा हर उद्योग-प्रधान देश में अलग-अलग तबक़ों के स्वार्थ भी अलग-अलग थे। यानी कुछ लोग सस्ता रुपया और सिक्के का फैलाव चाहते थे

(अलवत्ता वैसा बेहद फैलाव नहीं जैसा जर्मनी में हुआ था), उधर कुछ लोग इससे बिलकुल उलटा सिक्के का सिकुड़ना, यानी रुपये का ऊँचा स्वर्ण-मान चाहते थे। मसलन, साहूकार, बौहरे, वग़ैरा रुपये के ऊँचे मूल्य के पक्ष में थे, क्योंकि उन्हें दूसरों से रुपया लेना था; और क़र्ज़दार लोग अपने क़र्ज़ चुकाने के लिए क़ुदरती तौर पर सस्ता रुपया चाहते थे। उद्योगपति व कारख़ानेदार सस्ते रुपये के पक्ष में थे, क्योंकि आमतौर पर वे बौहरों के क़र्ज़दार थे; और इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि सस्ता रुपया होने से विदेशों में उनके माल की बिक्री बढ़ती थी। सस्ते अंग्रेज़ी सिक्के का अर्थ यह होगा कि विदेशी मण्डियों में जर्मन, अमेरिकी या दूसरे विदेशी मालों की क़ीमतों के मुक़ाबले में ब्रिटिश माल की क़ीमत कम होगी, और इसकी वजह से ब्रिटिश उद्योगपति फ़ायदे में रहेंगे और उनका माल ज्यादा बिकेगा। बस, तुम्हारे ध्यान में यह बात आ गई होगी कि अलग-अलग तबक़े अलग-अलग दिशाओं में खींचतान कर रहे थे, और ख़ास रस्सा-कशी उद्योगपतियों व बौहरों के बीच चल रही थी। मैं इस चीज़ को जहाँतक हो आसान तौर पर लिखने की कोशिश कर रहा हूँ। पर सच तो यह है कि इसमें उलझनें पैदा करने-वाले बहुत-से सबब थे।

फ़ान्स व इटली दोनों में सिक्के का फैलाव था, और फ़्रैन्क व लीरा के मूल्य गिर गये थे। फ़्रैन्क का पुराना मूल्य यह हुआ करता था कि एक पौण्ड स्टर्लिंग (यह ब्रिटिश पौण्ड का नाम है) के २५ फ़्रैन्क होते थे। यह भाव गिरकर एक पौण्ड के २७५ फ़्रैन्क हो गया। बाद में एक पौण्ड का भाव क़रीब १२० फ़्रैन्क तय कर दिया गया।

युद्ध के बाद, जब अमेरिका ने इंग्लैण्ड को सहायता देना बन्द कर दिया, तब पौण्ड का मूल्य कुछ गिर गया। उस समय इंग्लैण्ड के सामने एक कठिनाई पैदा हो गई। क्या वह पौण्ड के मूल्य में इस क़ुदरती गिरावट को मंजूर कर ले और पौण्ड का यह नया मूल्य तय कर दे? इससे माल सस्ता हो जाने की वजह से उद्योगों को तो मदद मिलती, पर बौहरों और साहूकारों को घाटा पहुँचता। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह थी कि इससे लन्दन की वह हैसियत ख़त्म हो जाती, जिससे वह सारे संसार का आर्थिक केन्द्र बना हुआ था। तब यह होता कि लन्दन की जगह न्यूयार्क इस हैसियत में आ बैठता और क़र्ज़ लेनेवाले लन्दन न जाकर वहाँ पहुँचने लगते। दूसरा रास्ता यह था कि पौण्ड को उसकी मूल क़ीमत पर ऊपर चढ़ा दिया जाता। इससे पौण्ड की साख बढ़ जाती और लन्दन की आर्थिक अगुआई क़ायम रहती। पर उद्योगों को हानि पहुँचती और, जैसा कि इस घटना ने साबित कर दिया, और भी कई अनचाही बातें पैदा हो जातीं।

ब्रिटिश सरकार ने १९२५ ई० में दूसरा रास्ता अपनाया, और पौण्ड का

स्वर्ण-मान पहले की बराबर ऊँचा कर दिया। इस तरह उसने कुछ हद तक अपने उद्योगों को अपने बौहरों के हित में निछावर कर दिया। उसके सामने जो असली मुद्दा था, वह इससे भी ज्यादा महत्व का था, क्योंकि उसका ब्रिटिश साम्राज्य की पायेदारी पर गहरा असर पड़ता था। अगर लन्दन संसार की आर्थिक नेतागिरी खो देता, तो साम्राज्य के जुदा-जुदा अंग फिर उसकी रहनुमाई या सहायता के आसरे न रहते, और साम्राज्य धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता। बस, यह सवाल साम्राज्यशाही नीति का सवाल बन गया, और यह बड़ा साम्राज्यवाद इंग्लैण्ड के उद्योगों व मौजूदा घरेलू हितों को क़ुर्बान करके जीत गया। तुम्हें याद होगा कि साम्राज्यशाही हितों ने ठीक इसी तरह इंग्लैण्ड को, लंकाशायर व ब्रिटिश उद्योगों को नुक़सान पहुँचाकर भी, युद्ध के बाद भारत के उद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए उकसाया था।

बस, अपनी नेतागिरी और साम्राज्य बनाये रखने के लिए इंग्लैण्ड ने ज़ोरदार प्रयत्न किया, पर यह कोशिश बड़ी महँगी पड़ी, और इसकी असफलता मानो पहले ही बदी थी। ब्रिटिश सरकार या कोई भी दूसरी सरकार, आर्थिक होनहार के अटल चक्र को रोक नहीं सकती थी। कुछ देर के लिए पौण्ड ने अपना प्राचीन गौरव हासिल कर लिया था, लेकिन उद्योगों को दिन-पर-दिन ज्यादा अपंग बनाकर। बेरोज़गारी बढ़ गई, और कोयला-उद्योग पर तो खासतौर से मार पड़ी। पौण्ड का सिकुड़ना (स्वर्ण-मान बढ़ाने की प्रक्रिया का यही नाम है) ही इसके लिए ज्यादातर ज़िम्मेदार था। पर कुछ और कारण भी थे। हर्जानों की अदायगी के रूप में जर्मनी से कुछ कोयला वसूल हुआ था, और इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड के कोयले की माँग कम हो गई। इसके नतीजे से कोयले की खानों में बेकारी और भी ज्यादा बढ़ गई। इस तरह क़र्ज़-देवा और विजेता देशों को यह मानना पड़ा कि पराजित देशों से इस तरह का खिराज वसूल करना कोई ऐसी नियामत नहीं है, जो बुराई से खाली हो। इंग्लैण्ड का कोयला-उद्योग भी बहुत बुरी तरह चलाया जा रहा था। वह सैकड़ों छोटी-छोटी कम्पनियों में बँटा हुआ था, और यूरोप व अमेरिका की बड़ी-बड़ी व अच्छे इन्तज़ामवाली संयुक्त कम्पनियों के साथ आसानी से होड़ नहीं कर सकता था।

जब कोयला-उद्योग की हालत दिन-पर-दिन ज्यादा बिगड़ने लगी, तो खान-मालिकों ने अपने मज़दूरों की मज़ूरियाँ घटाने का फ़ैसला किया। खान-मज़दूरों में इसपर गुस्से की आग भड़क उठी, और उन्हें दूसरे उद्योगों के मज़दूरों का भी सहारा मिला। इंग्लैण्ड का सारा मज़दूर-आन्दोलन खान-मज़दूरों के हित में लड़ने के लिए तैयार हो गया, और एक 'युद्ध कौन्सिल' बना दी गई। इससे पहले खान-मज़दूरों, रेल-मज़दूरों और माल लादनेवाले मज़दूरों की तीन बड़ी मज़दूर यूनियनों

का एक ताक़तवर 'तिहेरा संगठन' वन गया था, जिसमें लाखों सु-संगठित व सीखे हुए मज़दूर शामिल थे। मज़दूर-वर्ग के इस सरगर्म रवैये ने सरकार को काफ़ी भयभीत कर दिया, और उसने खान-मालिकों को सरकारी सहायता देकर संकट को टाल दिया। यह सहायता इसलिए दी गई थी कि वे मज़दूरों को पुराने दर पर मजूरी एक साल तक और देते रहें। एक जाँच-कमीशन भी मुक़र्रर किया गया। पर इन सब वातों का कोई नतीजा नहीं निकला, और अगले साल, १९२६ ई० में, जब खान-मालिकों ने मजूरी घटानी चाही तो संकट फिर पैदा हो गया। इस बार सरकार मज़दूर-वर्ग से लड़ने पर आमादा थी, क्योंकि पिछले महीनों के अन्दर उसने हर तरह की तैयारी कर ली थी।

खान-मालिकों ने खानों में ताला-बन्दी का फ़ैसला किया, क्योंकि खान-मज़दूर मजूरी में कटौती के लिए राज़ी नहीं हुए। इससे ट्रेड यूनियन कांग्रेस की पुकार पर सारे इंग्लैण्ड में झटपट आम हड़ताल हो गई। इस पुकार का अनोखा असर हुआ, और देश-भर के लगभग सारे संगठित मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया। देश का सारा कारोबार क़रीव-क़रीव ठप्प हो गया; रेलें चलनी बन्द हो गईं, अखबार नहीं छप सके, और ज्यादातर दूसरी हलचलें भी रुक गईं। सरकार स्वयं-सेवकों की मदद से किसी तरह बहुत ज़रूरी सेवाएँ चलाती रही। आम हड़ताल ३-४ मई की आधीरात से शुरू हुई थी। दस दिन वाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नर्म नेताओं ने, जो इस क़िस्म की क्रान्तिकारी हड़ताल को बुरी समझते थे, यह बहाना लगाकर हड़ताल को एकदम तुड़वा दिया कि उन्हें कुछ भरोसा दिला दिया गया है। खान-मज़दूर मँझधार में छोड़ दिये गए, मगर वे कई महीनों तक लस्टम-पस्टम और थके-हारे हड़ताल को चलाते रहे। पर अन्त में वे भूख से लाचार हो गये और उन्हें बुरी तरह हार खानी पड़ी। यह सिर्फ़ खान-मज़दूरों की ही नहीं, बल्कि आम-तौर पर इंग्लैण्ड के सारे मज़दूरों की करारी हार थी। कई उद्योगों में मज़दूरी घटा दी गई, कुछ उद्योगों में काम के घण्टे बढ़ा दिये गए, और मज़दूर-वर्ग के रहन-सहन के दर्जे नीचे गिर गये। सरकार ने अपनी जीत का लाभ उठाकर मज़दूर-वर्ग को कमज़ोर करने के, और खासतौर पर आयन्दा आम हड़तालें रोकने के, क़ानून वनाये। १९२६ ई० की यह आम हड़ताल मज़दूर-नेताओं की ढिलमिल-यक़ीनी और कमज़ोरी के कारण, और इसकी तैयारी में उनकी कसर के कारण, असफल हुई। सच तो यह है कि उनका सारा उद्देश्य इसे टालने का था, पर जब वे ऐसा न कर सके तो उन्होंने मौक़ा पाते ही इसे खत्म कर दिया। उधर सरकार इसके लिए पूरी तरह तैयार थी, और उसे मध्यम-वर्गों का सहारा भी मिल गया था।

इंग्लैण्ड की आम हड़ताल और कोयला-खानों की लम्बी ताला-बन्दी ने

सोवियत रूस में बड़ी हलचल पैदा कर दी, और रूस की मज़दूर यूनियनों ने बड़ी-बड़ी रक़में भेजीं, जो रूसी मज़दूरों ने इंग्लैण्ड के खान-मज़दूरों की सहायता के लिए खासतौर पर चन्दा करके जमा की थीं।

उस वक़्त तो इंग्लैण्ड का मज़दूर-वर्ग कुचला जा चुका था। लेकिन गिरते हुए उद्योगों और बढ़ती हुई बेरोज़गारी की समस्या का यह कोई हल नहीं था। बेकारी के सबब से मज़दूरों में आम मुसीबत फैल गई; इसके सबब से राज्य पर भी बोझ आ पड़ा, क्योंकि कई देशों में बेरोज़गारी के बीमे की योजना चालू हो चुकी थी। यह मान लिया गया था कि अगर कोई मज़दूर बिना किसी क़सूर के बेकार हो जाय तो उसको सहारा देना राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए रजिस्ट्री-शुदा बेकारों को कुछ सहायता या ख़ैरातें, जो 'डोल' कहलाती थीं, बाँटी जाती थीं; और इसका अर्थ यह था कि सरकार को और स्थानीय संस्थाओं को भारी रक़में ख़र्च करनी पड़ती थीं।

यह सब क्यों हो रहा था? उद्योगों का पतन क्यों हो रहा था? व्यापार की हालत क्यों गिर रही थी? बेकारी क्यों बढ़ रही थी? और सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि क़रीब-क़रीब सब देशों में हालतें क्यों बिगड़ती जा रही थीं? सम्मेलन का ताँता लग रहा था, राजनीतिज्ञ और शासक भी हर तरह से हालतों को सुधारना चाहते थे, पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिल रही थी। यह भी नहीं था कि भूचाल या बाढ़ या सूखा-जैसी कोई अकाल और मुसीबत पैदा करनेवाली क़ुदरती आफ़त आ पड़ी हो। दुनिया बहुत करके अपने पुराने ढंग पर ही चल रही थी। देखा जाय तो संसार में पहले से ज़्यादा अन्न था, कारखाने भी ज़्यादा थे, और हर ज़रूरी चीज़ ज़्यादा थी, लेकिन इसपर भी इन्सान की मुसीबत बढ़ गई थी। ज़ाहिर था कि यह उलटा नतीजा पैदा करनेवाली कोई-न-कोई जड़-मूल की ख़राबी थी। कहीं-न-कहीं बेहद बद-इन्तज़ामी थी। समाजवादियों व साम्यवादियों का कहना था कि यह सब पूंजीवाद का क़सूर था, जो अपने दिन गिन रहा था। वे रूस की मिसाल देते थे, जहाँ बहुत सारी मुसीबतों और दिक़्क़तों के बावजूद कम-से-कम बेरोज़गारी तो नहीं थी।

ये सवाल काफ़ी पेचीदा हैं, और इन्सानी तकलीफ़ों के इलाज के बारे में डॉक्टरों व पण्डितों में बड़ा भारी मतभेद है। फिर भी हमें उनपर ग़ौर करना चाहिए और उनके कुछ खास पहलुओं की जाँच करनी चाहिए।

सारा संसार आज एक ही इकाई बनता जा रहा है, और बहुत-कुछ बन भी गया है। कहने का मतलब यह है कि रहन-सहन, हलचलें, पैदावार, खपत, वग़ैरा सब अन्तर्राष्ट्रीय और संसार-व्यापी बनने की तरफ़ रुजू हो रहे हैं और यह रुझान बढ़ रही है। व्यापार, उद्योग-धन्धे, सिक्कों का चलन वग़ैरा भी बहुत-कुछ अन्त-

राष्ट्रीय चीज़ें हैं। जुदा-जुदा देशों के बीच गहरा सम्बन्ध और आपसी निर्भरता है, और किसी भी देश की घटना का दूसरे देशों में असर पड़ता है। मगर इस तमाम अन्तर्राष्ट्रीयता के बावजूद हुकूमतें व उनकी नीतियाँ तंग राष्ट्रीयता के ढंग पर ही चल रही हैं। वास्तव में, यह तंग राष्ट्रीयता युद्ध के बाद के वर्षों के दौरान और भी ज़्यादा खराब और उग्र हो गई है, और आज सारी दुनिया पर हावी होनेवाला हेतु बन गई है। इसके सबब से संसार की वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और हुकूमतों की राष्ट्रवादी नीतियों के बीच लगातार संघर्ष हो रहा है। यह समझ लो कि संसार की अन्तर्राष्ट्रीय हलचलें मानो समुद्र की ओर बहनेवाली नदी हैं, और राष्ट्रीय नीतियाँ मानो उसे रोकने के, उसमें बाँध बनाने के, उसका वहाव बदलने के, और यहाँतक कि उसे उलटी दिशा में बहाने के, प्रयत्न हैं। यह तो साफ़ है कि नदी उलटी दिशा में नहीं बह सकती, न उसे रोका ही जा सकता है। हाँ, यह सम्भव है कि कभी-कभी उसका बहाव कुछ बदल दिया जाय, या बाँध से उसमें बाढ़ आ जाय। इसलिए आजकल की राष्ट्रीयताएँ नदी के सीधे बहाव में रुकावट डाल रही हैं, और बाढ़ व दहें और सड़े पानी की तलैयाँ पैदा कर रही हैं, पर वे नदी की होनेवाली प्रगति को नहीं रोक सकतीं।

व्यापारी व आर्थिक क्षेत्रों में इस तरह वह चीज़ हमारे सामने है, जिसे 'आर्थिक राष्ट्रीयता' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हर देश को चाहिए कि वह जितना खरीदे उससे ज़्यादा बेचे और जितना खपावे उससे ज़्यादा उत्पादन करे। हर देश अपना माल बेचना चाहता है, तो फिर उसे ख़रीदेगा कौन? हर तरह की बिक्री के लिए यह ज़रूरी है कि एक बेचनेवाला हो तो दूसरा ख़रीदनेवाला हो। सिर्फ़ बेचनेवालों की दुनिया होना बिलकुल बेहूदा बात है। पर मज़ा यह है कि आर्थिक राष्ट्रीयता का आधार यही है। हर देश विदेशी माल का आयात रोकने के लिए तटकरों की दीवारें, आर्थिक बाड़ें, खड़ी कर देता है, और साथ ही अपने विदेशी व्यापार को बढ़ाना चाहता है। जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधुनिक संसार खड़ा हुआ है, उसमें तटकरों की ये दीवारें रुकावट डालती हैं और उसका गला घोंट देती हैं। जब व्यापार मन्दा हो जाता है, तो उद्योगों को हानि पहुँचती है, और बेकारी बढ़ने लगती है। इसका फिर यह नतीजा होता है कि विदेशी माल को रोकने के लिए ज़बर्दस्त कोशिशें की जाती हैं, क्योंकि उसे देशी उद्योगों में रुकावट माना जाता है, और चुंगियों की दीवारें और भी ऊँची कर दी जाती हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और भी ज़्यादा नुक़सान पहुँचता है, और यह खोटा चक्कर चलता रहता है।

सच तो यह है कि आज का उद्योग-प्रधान जगत राष्ट्रीयता की मंज़िल से आगे निकल गया है। माल के उत्पादन और वितरण की समूची व्यवस्था सरकारों

व देशों के राष्ट्रवादी ढाँचे में ठीक नहीं बैठती। भीतर के बढ़नेवाले शरीर के लिए यह खोल बहुत छोटा हो जाता है, इसलिए तड़क जाता है।

व्यापार के मार्ग में ये तटकर व रुकावटें वास्तव में हर देश के कुछ गिने-चुने वर्गों को लाभ पहुँचाते हैं, पर चूँकि ये वर्ग अपने-अपने देशों में हावी होते हैं, इसलिए वे ही देश की नीति को बनाते हैं। बस, हर देश दूसरे देश से आगे निकल जाना चाहता है, और नतीजे में सबको एक-साथ मुसीबत उठानी पड़ती है, और राष्ट्रीय मुक़ाबलेदारी और वैर-भाव बढ़ जाते हैं। आपसी मतभेदों को सम्मेलनों के ज़रिये निबटाने के बार-बार यत्न किये जाते हैं, और अलग-अलग देशों के राजनीतिज्ञ ऊँचे-से-ऊँचे इरादे ज़ाहिर करते हैं, पर फिर भी सफलता उनके हाथ नहीं आती। क्या इससे तुम्हें उन कोशिशों का ध्यान नहीं आता, जो साम्प्रदायिक समस्या को, हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओं को, निबटाने के लिए भारत में बार-बार हुई है? शायद दोनों ही मामलों में असफलता के कारण हैं : ग़लत धारणाएँ, ग़लत हेतु और साथ ही ग़लत उद्देश्य।

आर्थिक राष्ट्रीयता को बढ़ावा देनेवाले तटकरों, और सरकारी अनुदानों, सरकारी सहायताओं, रेल से माल भेजने की विशेष दरों, वग़ैरा दूसरे उपायों से सिर्फ़ मिल्कियतदार और कारख़ानेदार वर्गों को ही लाभ होता है, क्योंकि अपने देश की इन महफ़ूज़ घरेलू मण्डियों का फ़ायदा वे ही उठाते हैं। इस तरह संरक्षणों और संरक्षण-करों के भीतर निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं, और तमाम निहित स्वार्थों की तरह वे ऐसे हर परिवर्तन का घोर विरोध करते हैं, जिससे उन्हें नुक़्सान पहुँचने की सम्भावना हो। यह भी इसका एक हेतु है कि एक बार जारी हो जाने पर संरक्षण-कर क्यों हमेशा के लिए क़ायम हो जाते हैं, और दुनिया में आर्थिक राष्ट्रीयता क्यों पनपती है, बावजूद इसके कि ज़्यादातर लोग उसे सबके लिए बुरा समझते हैं। एक बार पैदा हो जाने पर निहित स्वार्थों का अन्त करना आसान नहीं है, और किसी देश का इस दिशा में अकेला आगे बढ़ना तो और भी कठिन है। अगर सारे देश संरक्षण-करों का अन्त करने के लिए और उन्हें बहुत-कुछ घटाने के लिए मिलकर काम करने को राज़ी हो जायें तो शायद ऐसा हो भी सके। मगर फिर भी दिक्क़तें आयेंगी, क्योंकि उद्योगों के लिहाज़ से पिछड़े हुए देशों की हानि होगी, क्योंकि वे उन्नत देशों का बराबरी के दर्जे पर मुक़ाबला नहीं कर सकेंगे। नये उद्योग अक़्सर करके संरक्षण-करों के आसरे ही पनपते हैं।

आर्थिक राष्ट्रीयता राष्ट्रों के आपसी व्यापार को भी कम करती और रोकती है। इस तरह दुनिया की मण्डी पर बुरा असर पड़ता है। हर राष्ट्र संरक्षित मण्डीवाला ठेकेदार क्षेत्र बन जाता है; खुला व्यापार ख़त्म हो जाता है। हर राष्ट्र के भीतर भी इजारेदारियाँ बढ़ जाती हैं, और आज़ाद व खुली मण्डियाँ

ग़ायब होने लगती हैं। बड़े-बड़े कम्पनी-समूह, बड़े-बड़े कारख़ाने और बड़ी-बड़ी दुकानें, छोटे-छोटे उत्पादकों और छुटभैये दूकानदारों को चाट जाते हैं, और इस तरह होड़ को ख़त्म कर देते हैं। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान, वग़ैरा उद्योग-प्रधान देशों में ये राष्ट्रीय इजारेदारियाँ बढ़ीं, और इस तरह सारी सत्ता कुछ लोगों के हाथों में जमा हो गई। पैट्रोल, साबुन, रासायनिक वस्तुएँ, लड़ाई का सामान, इस्पात, बैंक, व इसी तरह की बहुत-सी चीज़ों में इजारेदारियाँ क़ायम हो गईं। इसका नतीजा बड़ा विचित्र होता है। यह सब विज्ञान की उन्नति और पूँजीवाद के विकास का लाज़िमी नतीजा है, मगर फिर भी यह इसी पूँजीवाद की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाता है। क्योंकि पूँजीवाद का जन्म तो संसारी मण्डी और आज़ाद मण्डी के साथ हुआ था। मुक़ाबलेदारी पूँजीवाद की जान थी। अगर संसारी मण्डी चली जाती है, और आज़ाद मण्डी व राष्ट्रीय सीमाओं में होड़ भी चली जाती है, तो समाज के इस पुराने पूँजीवादी ढांचे का पेंदा ही फूट जाता है। इसकी जगह कौन-सी व्यवस्था आवेगी यह तो दूसरी बात है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपस में इन विरोधी झुकावों के होते हुए पुरानी व्यवस्था ज्यादा समय तक नहीं टिक सकती।

विज्ञान व उद्योगों की उन्नति समाज के मौजूदा ढंग से बहुत आगे निकल गये हैं। इनके ज़रिये खाने-पीने व ऐश-आराम की चीजें बेहद मिक़दार में तैयार होती हैं, और पूँजीवाद की समझ में नहीं आता कि इनका क्या करे। कई बार तो वह सचमुच इन्हें नष्ट करने पर या इनकी पैदावार बाँधने पर उतारू हो जाता है। इस तरह बहुतायत और ग़रीबी के साथ-साथ बने रहने का अजीब नज़ारा हमारे सामने आ जाता है। अगर पूँजीवाद आज के विज्ञान और मशीनी तरीक़ों की प्रगति के साथ नहीं चल सकता, तो कोई ऐसी व्यवस्था बनानी होगी, जो विज्ञान से ज्यादा मेल खाती हो। वरना दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का गला घोंट दिया जाय और उसे प्रगति करने से रोक दिया जाय। मगर यह बेवक़ूफ़ी की बात होगी, और किसी भी हालत में इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इसलिए, अगर आर्थिक राष्ट्रीयता, और इजारेदारी व राष्ट्रीय मुक़ाबलेदारियों की बढ़ोतरी, और मरते हुए पूँजीवाद के दूसरे नतीजों की वजह से सारे जगत में मुसीबत फैल गई हो, तो इसमें अचम्भे की बात नहीं है। आधुनिक साम्राज्यवाद खुद भी इसी पूँजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यशाही शक्ति दूसरी क़ौमों का शोषण करके अपनी राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझाने की कोशिश करती है। इसका नतीजा यह होता है कि साम्राज्यशाही शक्तियों के बीच मुक़ाबलेदारी व संघर्ष ज्यादा बढ़ जाते हैं। आज के उलटे-पुलटे संसार में हर चीज संघर्ष ही पैदा करती हुई नजर आती है।

मैंने यह पत्र इस ज़िक्र के साथ शुरू किया था कि युद्ध के बाद के ज़माने के दौरान रुपये ने अजीब तौर पर बर्ताव किया। पर जब और सारी चीज़ ही बड़ा निराला बर्ताव कर रही हैं, तो क्या हम केवल रुपये को ही दोष दे सकते हैं?

: १७४ :

चाल और जवाबी चाल

१८ जून, १९३३

पिछले दो पत्रों में मैंने आर्थिक और सिक्कों के सवालों पर विचार किया है। ये विषय बहुत भेदभरे व मुश्किल से समझ में आनेवाले माने जाते हैं। यह सच है कि ये विषय आसान नहीं हैं, और इन्हें समझने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर देना पड़ता है, पर आख़िर ये इतने डरावने भी नहीं हैं; और इन विषयों को जो रहस्य की हवा घेरे हुए है, उसके लिए कुछ हद तक अर्थ-शास्त्री व विशेषज्ञ ज़िम्मेदार हैं। पुराने ज़माने में रहस्य के ठेकेदार पण्डे-पुजारी हुआ करते थे, जो लोगों के समझ में न आनेवाली पुरातन भाषा में तरह-तरह के कर्म-काण्डों व पूजा-पाठों के ज़रिये और छिपी हुई शक्तियों से ताल्लुक़ रखने का ढोंग रचकर, भोली-भाली जनता को अपनी इच्छा के मुताबिक़ नचाते थे। इन पण्डे-पुजारियों की सत्ता आज बहुत कम हो गई है, और उद्योग-प्रधान देशों में तो क़रीब-क़रीब ख़त्म ही हो गई है। पर इन पण्डे-पुजारियों की जगह अब विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री, बौहरे, वग़ैरा पैदा हो गये है, जो ज़्यादातर पारिभाषिक शब्दों से भरी हुई भेद-भरी भाषा में बोलते हैं, जिसे समझना साधारण आदमी के लिए मुश्किल हो जाता है। इसलिए औसत दर्जे के आदमी को इन प्रश्नों का निबटारा विशेषज्ञों पर छोड़ना पड़ता है। मगर यह विशेषज्ञ, जाने या अनजाने, शासक वर्गों के पिछलग्गू बन जाते हैं और इन्हीं-का हित-साधन करते हैं। और विशेषज्ञों में भी मतभेद होता है।

इसलिए अच्छा यह है कि हम सब इन आर्थिक प्रश्नों को कुछ समझने की कोशिश करें जो आज राजनीति पर व दूसरी सब चीज़ों पर हावी नज़र आते हैं। मनुष्य-जाति को समुदायों व वर्गों में बाँटने के कई ढंग हैं। एक सम्भव तरीक़ा यह होगा कि इनके दो वर्ग कर दिये जायँ—एक तो बहनेवाले, यानी वे लोग, जिनमें अपनी कोई इच्छा-शक्ति नहीं होती और जो अपने-आपको पानी की सतह पर तिनके की तरह इधर-उधर बह जाने देते हैं; और दूसरे वे लोग जो ज़िन्दगी पर असर डालते हैं और अपने चौगिर्द को बदल देते है। पिछले वर्ग के लिए ज्ञान और समझ होना ज़रूरी है, क्योंकि कारगर काम इन्हीं के आधार पर हो सकता है। सिर्फ़ नेक इरादे या नेक उम्मीदें काफ़ी नहीं होतीं। जब कोई क़ुदरती आफ़त आती है, या महामारी फैलती है, या सूखा पड़ता है, या और कोई भी अचानक मुसीबत आ पड़ती है, तो हम देखते हैं कि सिर्फ़ भारत में ही नहीं बल्कि यूरोप में भी, राहत

के लिए लोग ईश्वर से प्रार्थना किया करते हैं। अगर प्रार्थना से उन्हें शान्ति मिलती है और उनमें आत्म-विश्वास और साहस पैदा होता है, तो यह अच्छी चीज़ है, और इस पर किसी को ऐतराज़ नहीं हो सकता। पर इस विचार की जगह कि प्रार्थना से रोग की महामारी रुक जायगी, अब यह वैज्ञानिक ख़याल बन रहा है कि बीमारी की जड़ को सफ़ाई व दूसरे उपायों से मिटा देना चाहिए। अगर किसी कारख़ाने की मशीनें चलते-चलते रुक जाती हैं या किसी मोटर-गाड़ी के टायर में पंचर हो जाता है, तो क्या किसी ने सुना है कि लोग हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाते हों और सिर्फ़ आशा करने लगते हों, या मनाने लगते हों, या प्रार्थना भी करने लगते हों कि मशीन की ख़राबी अपने-आप ठीक हो जाय या पंचर अपने-आप जुड़ जाय ? वे तो तुरन्त काम में जुट जाते हैं और मशीन को या टायर को दुरुस्त कर देते हैं, और फ़ौरन ही मशीन काम करने लगती है या मोटर-गाड़ी मज़े से सड़क पर दौड़ने लगती है।

इसी तरह इन्सानी और समाजी मशीन में भी हमको अच्छे इरादों के अलावा उसकी चालढाल और सम्भावनाओं का अच्छा ज्ञान होना ज़रूरी है। यह ज्ञान बहुत करके सही नहीं होता, क्योंकि इसका सम्बन्ध इन्सान की इच्छाओं और तमन्नाओं और रुचियों और ज़रूरतों-जैसी अनिश्चित बातों से होता है। और जब हम सामूहिक रूप से जनता का, या सारे समाज का, या जनता के जुदा-जुदा वर्गों का, विचार करते हैं तो यह ज्ञान और भी ज़्यादा अनिश्चित हो जाता है। लेकिन अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण से धीरे-धीरे इस अनिश्चित ढेर में भी व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढ़ता है, और इसके साथ-साथ अपने चौगिर्द का मुक़ाबला करने की हमारी क्षमता भी बढ़ती है।

अब मैं युद्ध के बाद के वर्षों में यूरोप के राजनीतिक पहलू के बारे में भी कुछ कहना चाहता हूँ। सबसे पहली बात जो नज़र के सामने आती है, वह है यूरोप महाद्वीप का तीन खण्डों में बँटना : एक तो युद्ध में जीतनेवाले देश, दूसरे पराजित देश और तीसरा सोवियत रूस। नार्वे, स्वीडन, हॉलैण्ड, स्वीज़रलैण्ड, वग़ैरा कुछ छोटे-छोटे देश ऐसे भी थे, जो इन तीनों में से किसी खण्ड में नहीं आते थे, पर राजनीतिक लिहाज़ से इनका कोई ख़ास महत्व नहीं था। हाँ, मजदूरों की हुकूमतवाला सोवियत रूस अपनी निराली हैसियत रखता था और जीतनेवाली शक्तियों के लिए बराबर चिढ़न और खीझ का सबब बना हुआ था। इस चिढ़न का कारण रूस के शासन का वह ढंग ही नहीं था, जो दूसरे देशों के मजदूरों को क्रान्ति का न्यौता दे रहा था, बल्कि यह भी था कि जीतनेवाली शक्तियाँ पूर्व में जो बहुत-सी तरकीबें लड़ा रही थीं, रूस उनके मार्ग में अड़ंगा लगा रहा था। दूसरे देशों में दस्तन्दाज़ी के युद्धों का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, जिनके दौरान, १९१९

और १९२० ई० में, ज्यादातर जीतनेवाली शक्तियों ने सोवियत रूस को कुचलने की कोशिश की थी। मगर फिर भी सोवियत रूस बच गया, और यूरोप की साम्राज्यशाही शक्तियों को उसकी हस्ती बर्दाश्त करने को मजबूर होना पड़ा, मगर इसमें भी उन्होंने जहाँतक हो सका सद्भावना और शराफ़त नहीं दिखाई। ख़ासकर ज़ारशाही ज़माने से चला आनेवाला इंग्लैण्ड व रूस का पुराना बैर बना रहा, और कभी-कभी इसमें ऐसे ख़तरे और ऐसी घटनाएँ फूट पड़ती थीं, जिनसे युद्ध का ख़तरा तक हो जाता था। सोवियत रूस को पक्का विश्वास हो गया था कि इंग्लैण्ड उसके ख़िलाफ़ लगातार साज़िशें कर रहा था और यूरोप में शक्तियों का सोवियत-विरोधी गुट्ट रचने की कोशिशें कर रहा था। कई बार तो युद्ध के हल्ले भी हो गये।

पश्चिमी व मध्य यूरोप में जीतने व हारनेवाली शक्तियों के बीच का भेद बहुत साफ़ था, और फ़ान्स तो विजय की भावना का ख़ास प्रतीक बना हुआ था। पराजित देश सुलह की सन्धियों की कई शर्तों से क़ुदरती तौर पर नाराज़ थे, और हालांकि वे कुछ करने में असमर्थ थे, पर आयन्दा परिवर्तनों की उम्मीदें लगाये बैठे थे। आस्ट्रिया व हंगरी बहुत बेज़ार हो गये थे, और उनकी हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती नज़र आती थी। दूसरी ओर यूगोस्लाविया सर्बिया का ही फूला हुआ रूप था, और वह बेमेल तत्वों व छोटी क़ौमों का जमघट बना हुआ था। ये जुदा-जुदा भाग कुछ ही वर्षों में एक-दूसरे से तंग आ गये और बिखरने लगे। क्रोशिया में (जो आजकल यूगोस्लाविया का एक प्रान्त है) स्वाधीनता का ज़ोरदार आन्दोलन चल रहा है, और सर्बिया की सरकार इसे ज़ोरों के साथ दबा रही है। पोलैण्ड का नक़शा काफ़ी बड़ा हो गया है, पर उसके साम्राज्यशाही लोग ये अजीब आशाएँ दिल में लिये बैठे हैं कि पोलैण्ड दक्षिण में काले सागर तक फैल जाय और १७७२ ई० की उसकी पुरानी सीमा फिर क़ायम हो जाय। इन दिनों पोलैण्ड में रूसी यूक्रेन का कुछ भाग शामिल है, और इसे हैवानी सज़ाओं के आतंक-राज से 'शान्त करने' की या 'पोलीकरण' की कोशिश की जाती रही है, और अब भी की जा रही है। ये आग के कुछेक छोटे-छोटे ढेर हैं, जो पूर्वी यूरोप में सुलग रहे हैं। इनका महत्व इसीमें है कि आग फैल जाने का ख़तरा है।

राजनीतिक लिहाज़ से, और फ़ौजी लिहाज़ से भी, युद्ध के बाद के वर्षों में, यूरोप की शक्तियों में फ़ान्स का ही बोलबाला था। जो कुछ वह चाहता था, उसका बड़ा हिस्सा उसे प्रदेश के रूप में और हर्जानों की उम्मीद के रूप में मिल गया था, लेकिन फिर भी उसे चैन नहीं था। उसके सिर पर भय का भयंकर भूत सवार था। उसे भय था कि जर्मनी कहीं फिर इतना बलशाली न हो जाय कि उससे लड़ पड़े और शायद उसे हरा भी दे। इस भय का मुख्य कारण था जर्मनी की बहुत बड़ी

आबादी। आकार में फ़ान्स जर्मनी से सचमुच बड़ा है, और शायद उससे ज़्यादा उपजाऊ भी है। फिर भी फ़ान्स की आबादी ४,१०,००,००० से कम है, और ज़्यादा घटती-बढ़ती नहीं है। मगर जर्मनी की आबादी ६,२०,००,००० से ऊपर है, और बढ़ती जा रही है। जर्मनों के बारे में यह भी मशहूर है कि वे एक हमलावर और युद्ध-प्रिय क़ौम हैं, और एक ही पीढ़ी में फ़ान्स पर दो बार चढ़ाइयाँ कर चुके हैं।

इसलिए जर्मनी के बदला लेने का भय फ़ान्स के सिर पर सवार था, और उसकी समूची नीति की बुनियाद और इस नीति का संचालन करनेवाली भावना 'सुरक्षा' की थी; यानी जो कुछ उसे मिल गया था, उसे बनाये और बचाये रखने के लिए फ़ान्स की सुरक्षा। वर्साई की सुलह से जिन तमाम देशों को निराशा हुई थी, उन्हें फ़ान्स की बढ़ी-चढ़ी फ़ौजी ताक़त क़ाबू में रखे हुए थी, और इस सुलह का क़ायम रहना फ़ान्स की सुरक्षा के लिए ज़रूरी समझा जाता था। अपनी हैसियत को और भी मज़बूत बनाने के लिए फ़ान्स ने उन राष्ट्रों का एक गुट्ट बना लिया, जिनका हित वर्साई की सन्धि के क़ायम रहने में था। ये देश थे : बेलजियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, और यूगोस्लाविया।

इस तरह फ़ान्स ने यूरोप में अपना दबदबा या नेतृत्व क़ायम कर लिया। यह चीज़ इंग्लैण्ड को पसंन्द नहीं थी, क्योंकि इंग्लैण्ड नहीं चाहता कि यूरोप में उसके सिवाय किसी और शक्ति का दबदबा हो। इंग्लैण्ड के दिल में फ़ान्स के लिए प्यार और दोस्ती की भावना बहुत ठण्डी पड़ गई। इंग्लैण्ड के अखबारों ने फ़ान्स को स्वार्थी और सख्त-दिल कहकर उसकी आलोचना की, और पुराने शत्रु ज़र्मनी के बारे में दोस्ताना बातें लिखीं। अंग्रेज़ों ने कहा कि हमें पुरानी बातों को भूल जाना और क्षमा कर देना चाहिए, और शान्ति काल में अपनेको युद्ध के दिनों की यादों से प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। ये भावनाएँ कितनी तारीफ़ के क़ाबिल थीं, और अंग्रेज़ों के नज़रिये से तो ये दोहरी तारीफ़ के क़ाबिल थीं, क्योंकि संयोग से वे अंग्रेज़ों की नीति के साथ मेल खाती थीं। इतालवी राजनीतिज्ञ काउण्ट स्फ़ोर्ज़ा ने कहा है कि यह "इंग्लैण्ड के लोगों को ईश्वर की कृपा का दिया हुआ एक क़ीमती वरदान" है कि अगर इंग्लैण्ड को कोई राजनीतिक लाभ होता हो, या ब्रिटिश सरकार को कोई कूटनीतिक कार्रवाई करनी पड़े, तो सभी वर्गों के लोग ऊँची-से-ऊँची नैतिक दलीलों से उनको उचित साबित करते हैं।

१९२२ ई० के शुरू से ही आंग्ल-फ़ान्सीसी रगड़-झगड़ यूरोप की राजनीति का एक दायमी पहलू बन गई है। ऊपर-ऊपर तो मुस्कराहटें और शरीफ़ाना शब्द थे, और दोनों के राजनीतिज्ञ और प्रधान मन्त्री अक्सर आपस में मिलते थे और साथ फ़ोटो खिचवाते थे, लेकिन दोनों सरकारें अक्सर अलग-अलग दिशाओं में खींच-तान

करती रहती थीं। १९२२ ई० में जब जर्मनी हर्जानों की अदायगी में चूक गया, तो उस समय इंग्लैण्ड इस पक्ष में नहीं था कि रूर की घाटी पर मित्र-राष्ट्र क़ब्ज़ा कर लें। मगर फ़्रान्स ने इंग्लैण्ड के विरोध की परवाह न करके अपनी मर्ज़ी का काम किया। मगर रूर पर क़ब्ज़ा करने में इंग्लैण्ड ने कोई हिस्सा नहीं लिया।

एक और पुराना साथी इटली भी फ़्रान्स से बिगड़ गया और इन देशों के बीच भी लगातार रगड़-झगड़ रहने लगी। इसका कारण था १९२२ ई० में मुसोलिनी का सत्ता हथियाना और उसके साम्राज्यशाही हौसले जिनमें फ़्रान्स रुकावट डालता था। मुसोलिनी और फ़ासीवाद का बयान मैं अपने अगले पत्र में करूँगा।

युद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भी टूट-फूट के कुछ लक्षण दिखाई दिये। इस सवाल के कुछ पहलुओं पर मैं दूसरे पत्रों में चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ मैं केवल एक ही पहलू का ज़िक्र करूँगा। आस्ट्रेलिया व कनाडा दोनों दिन-पर-दिन अमेरिका के सांस्कृतिक व आर्थिक प्रभाव के दायरे में खिंचते जा रहे थे, और तीनों देश मिलकर जापानियों को और खासकर जापानियों के आवास को नापसन्द करते थे। आस्ट्रेलिया को इनसे ख़ास ख़तरा है, क्योंकि वहाँ लम्बे-चौड़े बे-आबाद क्षेत्र हैं, और जापान ज्यादा दूर नहीं है और उसकी आबादी समाई से ज्यादा हो गई है। इसलिए इंग्लैण्ड की जापान के साथ दोस्ती को न तो ये दोनों उपनिवेश पसन्द करते थे और न अमेरिका। इंग्लैण्ड अमेरिका को खुश रखना चाहता था, क्योंकि साहूकार की हैसियत में और दूसरी तरह से अमेरिका सारी दुनिया पर हावी हो रहा था। साथ ही इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य को भी जबतक सम्भव हो तबतक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने १९२२ ई० में वाशिंगटन-सम्मेलन में आंग्ल-जापानी दोस्ती को क़ुर्बान कर दिया। चीन-सम्बन्धी अपने पिछले पत्र में मैं इस सम्मेलन के बारे में लिख चुका हूँ। इसी सम्मेलन में चार शक्तियों के समझौते और नौ शक्तियों की सन्धि की रचनाएँ हुई थीं। ये सन्धियाँ चीन और प्रशान्त महासागर के तट से सम्बन्ध रखती थीं, पर सोवियत रूस को, जिसका इनसे गहरा वास्ता था, सम्मेलन में नहीं बुलाया गया, हालांकि उसने आपत्ति भी उठाई थी।

इस वाशिंगटन-सम्मेलन से इंग्लैण्ड की पूर्वी नीति बदलनी शुरू हो गई। उस समय तक तो इंग्लैण्ड दूर पूर्व में, और ज़रूरत पड़ने पर भारत में भी, सहायता के लिए जापान पर भरोसा करता आ रहा था। पर अब दूर पूर्व के देश दुनिया के मामलों में बड़े महत्व का कारण बनते जा रहे थे और अलग-अलग शक्तियों के बीच स्वार्थों की टक्करें थीं। चीन का उदय हो रहा था, या उदय होता दिखाई दे रहा था, और जापान व अमेरिका का आपसी बैरभाव दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। बहुत लोगों का ख़याल था कि अगले महायुद्ध का मुख्य केन्द्र प्रशान्त

महासागर बनेगा। जब जापान और अमेरिका का सवाल सामने आया तो इंग्लैण्ड अमेरिका के पक्ष में जा मिला, या यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उसने जापान का साथ छोड़ दिया। उसकी नीति साफ़-साफ़ यह थी कि किसी तरह के वादों में बँधे बिना, बलशाली व मालदार अमेरिका से दोस्ती बनाये रक्खे। जापान की दोस्ती ख़त्म करने के बाद इंग्लैण्ड दूर पूर्व में होनेवाले युद्ध की तैयारियों में लग गया। उसने सिंगापुर में ख़ूब बड़ी और भारी लागत की गोदियाँ बनवाईं, और इस स्थान को बहुत बड़ा जहाज़ी अड्डा बना दिया। यहाँ से वह हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच चलनेवाले जहाज़ों पर क़ाबू रख सकता है। वह एक ओर भारत व बरमा पर और दूसरी ओर फ़्रान्सीसी व डच उपनिवेशों पर हावी रह सकता है; और सबसे ज़्यादा महत्व की बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर में होनेवाली टक्कर में कारगर हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के साथ हो या किसी दूसरी शक्ति के साथ।

१९२२ ई० में वाशिंगटन में आंग्ल-जापानी दोस्ती के इस तरह टूट जाने से जापान का सम्बन्ध सबसे टूट गया। तब जापानियों को लाचार होकर रूस की तरफ़ निगाह डालनी पड़ी और वे सोवियतों के साथ अच्छे ताल्लुक़ पैदा करने लगे। तीन वर्ष बाद, जनवरी, १९२५ ई० में जापान व सोवियत संघ के बीच सन्धि हो गई।

युद्ध के ठीक बाद के कुछ वर्षों तक जीतनेवाली शक्तियों ने जर्मनी के साथ ऐसा बर्ताव किया मानो वह बिरादरी से छेका हुआ राष्ट्र हो। इन शक्तियों से ज़्यादा सहानुभूति न पाकर, और उन्हें कुछ डराने के इरादे से, यह भी सोवियत रूस की ओर झुका और अप्रैल, १९२२ ई० में इसने रूस के साथ सन्धि कर ली जो रापालो की सन्धि कहलाती है। इस सन्धि की बातचीत गुप्त रक्खी गई थी, इसलिए जब इसे प्रकाशित किया गया तो मित्र-राष्ट्री सरकारें हक्का-बक्का हो गईं। ब्रिटिश सरकार तो खासतौर पर घबरा गई, क्योंकि इंग्लैण्ड का शासक-वर्ग सोवियत रूस को बुरी तरह नापसन्द करता था। जर्मनी के बारे में इंग्लैण्ड की नीति में परिवर्तन पैदा करनेवाला कारण वास्तव में इंग्लैण्ड का यह महसूस करना था कि अगर जर्मनी के साथ अच्छा सलूक नहीं किया गया और उसे मनाया नहीं गया तो वह रूस से जा मिलेगा। अंग्रेज़ लोग जर्मनी की कठिनाइयों की तरफ़ बड़ी सहानुभूति दिखाने लगे और ग़ैर-सरकारी तौर पर हर तरह से उसकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने लगे। रूर की कार्रवाई से वे बिलकुल अलग रहे। यह सब जर्मनी से यकायक प्रेम हो जाने के सबब से नहीं हुआ, बल्कि इस इच्छा से किया गया कि जर्मनी को रूस से अलग और राष्ट्रों के सोवियत-विरोधी गुट्ट में बनाये रक्खा जाय। कुछ वर्षों तक अंग्रेज़ों की नीति इसीपर टिकी रही और उन्हें १९२५ ई०

में लोकार्नो में सफलता भी मिल गई। लोकार्नो में बड़ी-बड़ी शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, और युद्ध के बाद पहली बार जीतनेवाली शक्तियों और जर्मनी के बीच कुछ बातों पर सच्चा समझौता हुआ, और इन्हें सन्धि का रूप दिया गया। मगर मुकम्मिल समझौता नहीं हुआ; हर्जानों का ज़बर्दस्त सवाल व दूसरे सवाल वैसे ही रह गये। हाँ, शुरूआत अच्छी हो गई, और आपस में बहुत-से वायदे किये गए और पक्के यक़ीन दिलाये गए। जर्मनी ने वर्साई की सन्धि के मुताबिक़ तय की गई अपनी पश्चिमी फ़्रान्सीसी सरहद को मंजूर कर लिया; पर पूर्वी सरहद को, जहाँ समुद्र तक जानेवाला पोली गलियारा था, उसने आख़िरी तौर पर मंजूर करने से इन्कार कर दिया, मगर यह वायदा कर दिया कि इस सरहद को बदलवाने की कोशिशों में वह बिना लड़ाई के उपायों का सहारा लेगा। सन्धि में एक शर्त यह भी थी कि अगर एक पक्ष इस समझौते को तोड़े तो बाक़ी मिलकर उससे लड़ने को पाबन्द होंगे।

लोकार्नो की सन्धि ब्रिटिश नीति की जीत थी। इससे इंग्लैण्ड कुछ हद तक फ़्रान्स व जर्मनी के आपसी झगड़ों का पंच बन गया, और जर्मनी रूस से दूर हट गया। मगर लोकार्नो का सबसे बड़ा महत्व वास्तव में यह था कि इसने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों को एक सोवियत-विरोधी गुट्ट में ला इकट्ठा किया। इसपर रूस घबराया, और कुछ ही महीनों में उसने तुर्की के साथ गठ-बन्धन करके इसका जवाब दिया। इस रूसी-तुर्की सन्धि पर दिसम्बर, १९२५ ई० में राष्ट्र-संघ के मोसल के ख़िलाफ़ फ़ैसले के ठीक दो दिन बाद, दस्तख़त हुए थे। तुम्हें याद होगा कि यह फ़ैसला तुर्की के ख़िलाफ़ था। सितम्बर, १९२६ ई० में जर्मनी राष्ट्र-संघ में दाख़िल हुआ, और आपस में ख़ूब गले-मिलना और हाथ मिलाना हुआ, और राष्ट्र-संघ में सबने ख़ुशियाँ ज़ाहिर कीं और एक दूसरे को बधाइयाँ दीं।

इस तरह यूरोपीय राष्ट्रों के बीच ये चालें और जवाबी-चालें चलती रहीं, जिनपर अक्सर उनकी घरू नीतियों का असर पड़ता था। इंग्लैण्ड में दिसम्बर, १९२३ ई० के आम चुनावों के बाद अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट में मज़दूर दल की पहली बार सरकार बनी, हालाँकि इनका साफ़ बहुमत नहीं था। रैम्ज़े मैकडोनल्ड प्रधान मन्त्री हुआ। यह सरकार साढ़े नौ महीने के थोड़े-से वक़्त तक ही चली। मगर इस थोड़े समय में ही उसने रूस के साथ समझौता कर लिया, और दोनों के बीच राजनयिक और तिजारती सम्बन्ध क़ायम हो गये। अनुदार दल-वाले सोवियत को किसी भी तरह तस्लीम करने के ख़िलाफ़ थे, और इसी साल के भीतर होनेवाले आम चुनावों में रूस का नाम बहुत सामने आया। इसकी वजह यह थी कि चुनावों में अनुदार दल ने एक पत्र को, जो 'ज़िनोवीफ़ का पत्र' कहलाता है, अपना मात देनेवाला मोहरा बनाया। इस पत्र में इंग्लैण्ड के साम्यवादियों को

गुप्त रूप से क्रान्ति की तैयारी करने के लिए उकसाया गया था। ज़िनोवीफ़ सोवियत सरकार में एक नामी बोलशेविक था; उसने इस पत्र का लेखक होने से बिलकुल इन्कार किया, और कहा कि वह ज़रूर जाली होगा। मगर फिर भी अनुदार दल-वालों ने इस पत्र से पूरी तरह फ़ायदा उठाया और कुछ हद तक इसकी सहायता से वे चुनाव जीतने में सफल हो गये। अब अनुदार-दली सरकार बनी, जिसका प्रधान मन्त्री स्टैनली बाल्डविन था। इस सरकार से बार-बार कहा गया कि 'ज़िनो वीफ़ के पत्र' की सचाई या झुठाई की जाँच करे, मगर उसने इन्कार कर दिया। बाद में बर्लिन में जो भेद खुले, उनसे ज़ाहिर हो गया कि यह पत्र एक 'श्वेत' रूसी ने, यानी एक बोलशेविक-विरोधी रूसी प्रवासी ने, जालसाज़ी करके बनाया था। मगर इस जालसाज़ी ने इंग्लैण्ड में अपना काम पूरा कर दिया था, और एक सरकार का अन्त करके दूसरी को ला बिठाया था। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर कितनी तुच्छ घटनाओं का असर पड़ जाया करता है!

इसी साल में कुछ दिन बाद, एक नई घटना, जो इस बार दूर पूर्व में हुई, ब्रिटिश सरकार की भारी खिझलाहट का सबब बन गई। चीन में एक मज़बूत संयक्त राष्ट्रीय सरकार अचानक सामने आई और सोवियत सरकार के साथ इसके गहरे सम्बन्ध मालूम दिये। कई महीनों तक अंग्रेज़ लोग चीन में भारी कठिनाइयों में फँसे रहे; उन्हें अपनी शान किरकिरी करवानी पड़ी, और बहुत-सी ऐसी बातें करनी पड़ीं, जो उन्हें पसन्द नहीं थीं। और फिर, यह चीनी आन्दोलन, कुछ दिन की सफलता भोगकर, फूट के फन्दे में पड़ गया और टूक-टूक हो गया। सेनापतियों ने आन्दोलन के वामपक्षी तत्वों को मार डाला या निकाल बाहर किया, और शांघाई के विदेशी बौहरों का पल्ला पकड़ना बेहतर समझा। अन्तर्राष्ट्रीय खेल में रूस की यह भारी हार थी और चीन में व दूसरे देशों में उसकी शान किरकिरी हो गई। मगर इंग्लैण्ड के लिए यह शानदार जीत थी; और उसने सोवियत रूस की इस हार को ठेठ तक पहुँचाकर इस मौक़े से फ़ायदा उठाना चाहा। सोवियत-विरोधी गुट्ट को संगठित करने के और रूस को चारों ओर से घेरने के प्रयत्न फिर किये गए।

१९२७ ई० के बीच में संसार के जुदा-जुदा भागों में सोवियत रूस के खिलाफ़ कार्रवाइयाँ की गईं। अप्रैल, १९२७ ई० में एक ही दिन, पेकिंग में सोवियत दूतावास पर और शांघाई में रूसी व्यापारिक दूतावास पर छापे मारे गये। इन दोनों क्षेत्रों पर अलग-अलग चीनी सरकारों का क़ब्ज़ा था, पर इस मामले में दोनों ने एक साथ कार्रवाई की। दूतावास पर छापा मारना और किसी राजदूत का अपमान करना बहुत ग़ैर-मामूली बात होती है; बहुत करके इसका लाज़िमी नतीजा युद्ध ही होता है। रूसी लोगों का विश्वास था कि इंग्लण्ड व दूसरी सोवियत-

विरोधी शक्तियों ने चीनी सरकार को दबाकर इस तरह का काम कराया है ताकि रूस को लड़ाई के लिए मजबूर होना पड़े। मगर रूस नहीं लड़ा। एक महीने बाद, मई, १९२७ ई० में एक और ग़ैर-मामूली छापा मारा गया। इस बार यह छापा लन्दन में रूस के एक तिजारती दफ़्तर पर था। यह 'आर्कोस' का छापा कहलाता है, क्योंकि आर्कोस इंग्लैण्ड में रूस की एक सरकारी तिजारती कम्पनी का नाम था। यह भी दूसरी शक्ति का बड़ा भारी अपमान था, और जैसाकि इस घटना से साबित हुआ, बिलकुल ग़ैर-वाजिब अपमान था। इसके नतीजे से दोनों देशों के आपसी राजनयिक व तिजारती सम्बन्ध फ़ौरन टूट गये। अगले महीने, यानी जून में, सोवियत मन्त्री की वारसा में हत्या कर दी गई। (इससे चार वर्ष पहले रोम में सोवियत के प्रतिनिधि की लोज़ान में हत्या हो चुकी थी)। इन घटनाओं ने, जो एक के बाद एक जल्दी-जल्दी हो रही थीं, रूसी लोगों के होश उड़ा दिये, और उन्हें सारी साम्राज्यशाही शक्तियों के हाथों अपने ऊपर हमले का पूरा अन्देशा हो गया। रूस में युद्ध की बड़ी दहशत फैल गई, और पश्चिमी यूरोप के कई देशों के मज़दूरों ने सोवियत रूस की हिमायत में, और होनहार दिखाई देनेवाले युद्ध के खिलाफ़, प्रदर्शन किये। पर यह दहशत गुज़र गई, और कोई युद्ध नहीं छिड़ा।

१९२७ ई० के ही साल में सोवियत रूस ने बड़े समारोह के साथ बोलशेविक क्रान्ति का दसवाँ वार्षिकोत्सव मनाया। उस समय इंग्लैण्ड व फ़ान्स का रूस की तरफ़ बहुत वैर-भाव था, पर पूर्वी राष्ट्रों के साथ रूस की दोस्ती इस घटना से साबित हो गई और इस समारोह में ईरान, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान, और मंगोलिया के सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलों ने भाग लिया।

इधर तो यूरोप में और दूसरे देशों में ये खतरे के घण्टे बज रहे थे और युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, उधर निरस्त्रीकरण की भी बहुत काफ़ी चर्चा चल रही थी। राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे में यह तजवीज़ थी कि "संघ के सदस्य मानते हैं कि अमन बना रहने के लिए यह ज़रूरी है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का लिहाज़ रखते हुए राष्ट्रीय हथियारों में ज्यादा-से-ज्यादा कमी हो, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को सब राष्ट्र शामिल कार्रवाई करके पालन करायें।" इस खोखले सिद्धान्त की तजवीज़ करने के अलावा उस समय राष्ट्रसंघ ने और कुछ नहीं किया, पर उसने अपनी कौन्सिल से अनुरोध किया कि वह इस दिशा में ज़रूरी क़दम उठावे। जर्मनी व दूसरी हारी हुई शक्तियों को तो शान्ति सन्धियों के ज़रिये बे-हथियार कर ही दिया गया। जीतनेवाली शक्तियों ने भी वचन दिया था कि इसके बाद वे भी ऐसा ही करेंगी, पर बार-बार होनेवाले सम्मेलनों से भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकल पाया। जब हर शक्ति अपना निरस्त्रीकरण इस तरह करना चाहती थी कि दूसरों की बनिस्बत ज्यादा ताक़तवर बनी रहे, तो यह असफलता कोई अचम्भे की बात

नहीं थी। यह लाज़िमी ही था कि दूसरी शक्तियाँ इस बात पर राज़ी न होतीं। फ़्रान्सीसी तो हमेशा अपनी इसी माँग पर अड़े रहे कि निरस्त्रीकरण से पहले उनकी सुरक्षा का इन्तज़ाम होना चाहिए।

बड़ी शक्तियों में से न तो अमेरिका ही राष्ट्र-संघ का सदस्य था और न सोवियत संघ। सोवियत रूस तो राष्ट्र-संघ को वास्तव में एक मुक़ाबलेदार व वैरी धोखे की टट्टी, और सोवियत संघ के ख़िलाफ़ डटा हुआ पूँजीशाही शक्तियों का गुट्ट, समझता था। सोवियत संघ तो ख़ुद ही राष्ट्रों का संघ माना जाता था (जैसा कि कभी-कभी ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में कहा जाता है), क्योंकि इस संघ में कितने ही गणराज्य संघटित थे। पूर्वी राष्ट्र भी राष्ट्र-संघ को शंका की दृष्टि से देखते थे और उसे साम्राज्यशाही शक्तियों का औज़ार समझते थे। यह होते हुए भी अमेरिका, रूस और लगभग सब देश निरस्त्रीकरण के सवाल पर विचार करने के लिए संघ के सम्मेलनों में भाग लेते थे। १९२५ ई० में राष्ट्र-संघ ने एक तैयारी करानेवाला कमीशन नियुक्त किया, जिसे यह काम सौंपा गया कि निरस्त्रीकरण के एक विश्व-सम्मेलन के लिए ज़मीन तैयार करे। यह कमीशन, एक के बाद एक योजना पर विचार करता हुआ, सात साल तक लगातार चलता रहा, पर कोई नतीजा नहीं निकला। १९३२ ई० में विश्व-सम्मेलन का ही अधिवेशन हुआ, पर कई महीनों की बेकार बातचीत के बाद इसका नाम ही मिट गया।

अमेरिका ने निरस्त्रीकरण की इन चर्चाओं में तो भाग लिया ही, साथ ही यूरोप और यूरोप के मामलों में उसकी दिलचस्पी भी बढ़ गई, क्योंकि संसार-भर में उसकी आर्थिक हैसियत का दबदबा था। सारा यूरोप उसका क़र्ज़दार था, और वह यूरोप के देशों को दुबारा एक दूसरे की गर्दनें उड़ाने से रोकना चाहता था, क्योंकि इसमें ऊँचे इरादों के अलावा यह भी ख़याल था कि अगर वे लड़ पड़े तो उसके क़र्ज़ों का और व्यापार का क्या होगा? जब निरस्त्रीकरण की चर्चाओं का जल्दी कोई नतीजा निकलता नहीं दिखाई दिया, तो फ़्रान्सीसी व अमेरिकी सरकारों की आपसी बातचीत के बाद १९२८ ई० में शान्ति क़ायम रखने में मदद पहुँचाने के लिए एक नया प्रस्ताव सामने रक्खा गया। इस प्रस्ताव में युद्ध को 'ग़ैर क़ानूनी' क़रार दिये जाने का ज़ोरदार प्रयत्न किया गया। मूल सुझाव यह था कि सिर्फ़ फ़्रान्स और अमेरिका के बीच इक़रारनामा हो जाय; पर इसे आगे बढ़ाया गया, और अन्त में इसमें संसार के सारे राष्ट्रों को शामिल करने की बात रक्खी गई। अगस्त, १९२८ ई० में पेरिस में इस इक़रारनामे पर दस्तख़त हुए, इसलिए यह १९२८ ई० का पेरिस-क़रार कहलाता है। इसे केलॉग-ब्रियाँ-क़रार या सिर्फ़ केलॉग-क़रार भी कहते हैं। केलॉग अमेरिका का राज्य-मन्त्री था, जिसने इस मामले में अगुआई की थी, और आरिस्ताइद ब्रियाँ फ़्रान्स का विदेश-मन्त्री था। यह इक़रार-

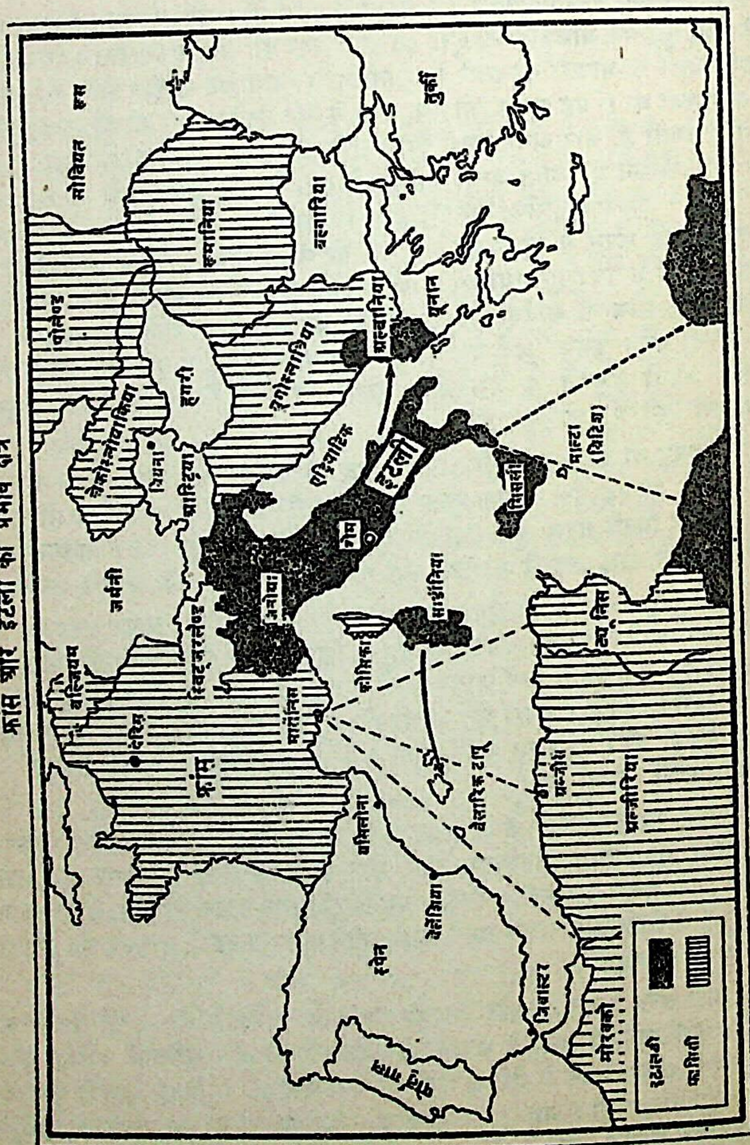
नामा एक छोटा-सा दस्तावेज़ था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का निपटारा करने के लिए युद्ध का आसरा लेना बुरा बतलाया गया था, और इक़रारनामे पर दस्तख़त करनेवालों के आपसी सम्बन्धों में युद्धनीति के त्याग को राष्ट्रीय नीति का आधार माना गया था। यह भाषा, जो एक तरह से ख़ुद इक़रारनामे की ही शब्दावली है, मीठी लगती है, और अगर इसमें ईमानदारी की भावना होती तो युद्ध का अन्त हो जाता। लेकिन यह बहुत जल्दी ज़ाहिर हो गया कि इन शक्तियों के मन में कितना कपट था। फ़्रान्स व इंग्लैण्ड दोनों ने, और इंग्लैण्ड ने, ख़ासतौर पर इस इक़रारनामे पर दस्तख़त करने से पहले कई शर्तें रख दी थीं, जिनकी वजह से उनके लिए तो यह नहीं के बराबर हो गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस इक़रारनामे में से ऐसी तमाम युद्ध-सम्बन्धी कार्रवाइयाँ निकाल दी थीं, जो उसे अपने साम्राज्य के हित में करनी पड़ें। इसका अर्थ यह था कि वह जब चाहे तब युद्ध छेड़ सकती थी। उसने अपनी हुकूमत व असरवाले प्रदेशों पर एक क़िस्म के ब्रिटिश 'मुनरो सिद्धान्त' की घोषणा कर दी।

इधर तो इस तरह खुले तौर पर युद्ध को ग़ैर-क़ानूनी' क़रार दिया जा रहा था, उधर १९२८ ई० में एक गुप्त आंग्ल-फ़्रान्सीसी नौ-सेना समझौता हो गया। इसका भेद किसी तरह खुल गया, और इससे यूरोप व अमेरिका में सनसनी फैल गई। पर्दे के पीछे असली मामला क्या था, वह इससे काफ़ी सामने आ गया।

सोवियत संघ ने केलॉग-क़रार को मान लिया और उसपर दस्तख़त कर दिये। ऐसा करने में उसका असली हेतु यह था कि इस तरह कुछ हद तक ऐसे सोवियत-विरोधी गुट्ट का बनना रुक जायगा, जो क़रार की आड़ में सोवियत पर हमला करे। ब्रिटिश सरकार ने जो शर्तें रक्खी थीं, वे ख़ासतौर पर सोवियत को ही लक्ष्य करके रक्खी थीं। दस्तख़त करते वक़्त रूस ने इन अंग्रेज़ी व फ़्रान्सीसी शर्तों पर सख़्त ऐतराज़ किया था।

रूस युद्ध को टालने के लिए इतना बेताब था कि उसने अपने पड़ौसी पोलैण्ड, रूमानिया, ऐस्टोनिया, लैटविया, तुर्की और ईरान के साथ सुलह का एक ख़ास क़रार करके अलग पेशबन्दी कर ली। यह लित्विनोफ़-क़रार कहलाता है। केलॉग-क़रार के अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बनने के छै महीने पहले, फ़रवरी, १९२९ ई० में, इस पर दस्तख़त हुए।

इस तरह झगड़ालू और तबाही की तरफ़ जानेवाले संसार को बचाने की लाचार कोशिशों की तरह ये क़रार और गुट-बन्दियाँ और सन्धियाँ बराबर होती रहीं, मानो ऊपर-ऊपर के ऐसे क़रारों या चेपा-चापियों से किसी भीतरी रोग का इलाज हो सकता हो। यह १९२०-३० ई० का ज़माना था जब यूरोपीय देशों में समाजवादियों और समाजी लोकतन्त्रवादियों की सरकारें अक्सर बनती रहती थीं।


फ्रांस और इटली का प्रभाव क्षेत्र
सोवियत रूस
पोलैण्ड
चेकोस्लोवाकिया
जर्मनी
बेल्जियम
पेरिस
फ्रांस
स्विट्ज़रलैण्ड
आस्ट्रिया
वियना
हंगरी
रूमानिया
बल्गारिया
यूगोस्लाविया
अल्बानिया
यूनान
तुर्की
एड्रियाटिक
इटली
रोम
सिसली
माल्टा (ब्रिटिश)
सार्डीनिया
कोर्सिका
मार्सेल्स
बार्सिलोना
वेलेन्शिया
स्पेन
पुर्तगाल
जिब्राल्टर
मोरक्को
अल्जीरिया
ट्यूनिस
इटली
फ्रांसीसी

इन लोगों को ज्यों-ज्यों पद और सत्ता का चस्का लगता गया, त्यों-त्यों ये पूँजीशाही ढाँचे में मिलते गये। सच तो यह है कि वे पूँजीवाद के सबसे बड़े हिमायती बन गये, और अक्सर करके उतने ही सरगर्म साम्राज्यवादी बन गये जितने कि कट्टर-पन्थी, या प्रतिगामी लोग थे। युद्ध के बाद कुछ वर्षों की क्रान्तिकारी उथल-पुथल के बाद यूरोपीय जगत कुछ हद तक ठण्डा पड़ गया था। मालूम होता था कि पूँजीवाद ने एक और ज़माने तक के लिए अपने-आपको नई सूरतों में ढाल लिया था, और फ़ौरन ही किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की कोई उम्मीद कहीं भी दिखाई नहीं देती थी।

१९२९ ई० में यूरोप की यह हालत थी।

: १७५ :

मुसोलिनी और इटली में फ़ासीवाद

२१ जून, १९३३

यूरोप की कथा की रूप-रेखा मैं १९२९ ई० तक ले आया हूँ। पर अभी-तक इसका एक महत्व का अध्याय छूट गया है, और इसको लिखने के लिए मुझे कुछ पीछे जाना पड़ेगा। यह इटली के युद्ध के बाद की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। ये घटनाएँ इसलिए इतने महत्व की नहीं हैं कि वे हमें बतलाती हैं कि इटली में क्या हुआ, बल्कि इसलिए कि वे नये ढंग की हैं, और दुनिया-भर की हलचलों के एक नये पहलू की और संघर्ष की चेतावनी देती हैं। इसलिए इनकी ख़ासियत राष्ट्रीय ही नहीं है; बल्कि उससे बहुत ज्यादा है। इसीलिए इन्हें मैंने एक अलग पत्र के लिए रख छोड़ा था। इसलिए इस पत्र में मैं आज के एक नामी व्यक्ति मुसोलिनी[1] का और इटली में फ़ासीवाद के उदय का ज़िक्र करूँगा।

महायुद्ध शुरू होने से पहले ही इटली सख्त आर्थिक मुसीबत में फँसा हुआ था। १९११-१२ ई० में तुर्की के साथ उसके युद्ध का अन्त उसकी विजय के साथ हुआ था, और उत्तरी अफ़्रीका में त्रिपोली पर उसका क़ब्ज़ा होने से उसके साम्राज्य-वादी लोगों को बड़ी ख़ुशी हुई थी। मगर इस छोटे-से युद्ध से उसे अन्दरूनी तौर पर ज्यादा लाभ नहीं हुआ था, और न इससे उसकी आर्थिक हालत ही सुधरी थी। बल्कि हालत और भी बिगड़ती गई और १९१४ ई० में, जबकि महायुद्ध शुरू होने ही वाला था, इटली क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़ा दिखाई दे रहा था। कारख़ानों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुई, और मज़दूर-वर्ग के नर्मदली समाजवादी नेताओं की

[1] बेनितो मुसोलिनी की अप्रैल, १९४५ ई० में द्वितीय महायुद्ध के अन्त होने पर उसके विरोधियों ने हत्या कर दी।

कोशिशों ने ही मज़दूरों को रोके रक्खा। ये लोग हड़तालों को रोकने में सफल हो गये। इसके बाद महायुद्ध छिड़ गया। इटली ने अपने जर्मन दोस्तों का साथ देने से इन्कार कर दिया, और दोनों पक्षों को दबाकर उनसे रियायतें हासिल करने के लिए अपनी तटस्थ स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। सबसे ऊँची बोली बोलने-वाले को अपनी सहायता भेंट करने का यह रुख कुछ नसीहत देनेवाला नहीं था, लेकिन राष्ट्र बिलकुल सख्त-दिल हुआ करते हैं, और उनके व्यवहार का तरीक़ा ऐसे ढंग का होता है कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के लिए तो वह शर्म की बात समझी जाय। मित्र-राष्ट्र, यानी इंग्लैण्ड और फ़्रान्स, ऊँची रिश्वतें दे सकते थे—नक़दी के रूप में भी और प्रदेश देने के वायदे के रूप में भी—इसलिए मई, १९१५ ई० में इटली मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ युद्ध में शरीक हो गया। मेरा ख़याल है कि मैं बाद में की गई उस गुप्त सन्धि का ज़िक्र कर चुका हूँ, जिसमें स्मर्ना व एशिया-कोचक का कुछ टुकड़ा इटली के हिस्से में रक्खा गया था। मगर इस सन्धि पर अमल होने से पहले ही रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो गई और यह छोटा-सा खेल बिगड़ गया। इटली की यह शिकायत थी, और पेरिस की शान्ति-सन्धियों के बारे में कुछ असन्तोष भी था, और यह भावना थी कि इटली के 'हक़ों' का जान-बूझकर लिहाज़ नहीं किया गया। साम्राज्यवादियों और मध्यम-वर्गों ने आशा लगा रक्खी थी कि नये उपनिवेशी प्रदेशों पर क़ब्ज़ा मिलेगा और इनके शोषण से उनके देश का आर्थिक बोझ हलका हो जायगा।

युद्ध के बाद इटली में हालत बहुत बिगड़ी हुई थी, और यह देश दूसरे सब मित्र-राष्ट्री देशों से ज़्यादा पस्त हो गया था। आर्थिक व्यवस्था टूटती हुई नज़र आ रही थी, और समाजवाद व साम्यवाद के हिमायतियों की संख्या बढ़ रही थी। रूसी बोलशेविकों की मिसाल तो उनके सामने थी ही। एक तरफ़ तो कारख़ानों के मज़दूर थे, जो आर्थिक हालतों की मुसीबतें सह रहे थे, दूसरी तरफ़ उन फ़ौजी सिपाहियों की बड़ी संख्या थी, जिनकी सेवाएँ तोड़ दी गई थीं और जो बेकार हो गये थे। गड़बड़ियाँ फैलने लगीं, और मध्यम-वर्गी नेताओं ने मज़दूरों की बढ़ती हुई ताक़त का मुक़ाबला करने के लिए इन सिपाहियों को संगठित करने की कोशिश की। १९२० ई० की गर्मियों में संकट पैदा हो गया। धातु का काम करनेवाले मज़दूरों के बड़े संघ ने, जिसके लगभग पाँच लाख सदस्य थे, ऊँची मजूरी की माँग की। यह माँग ठुकरा दी गई, और तब मज़दूरों ने एक नई तरह की हड़ताल का फ़ैसला किया, जिसका नाम 'कामरोक हड़ताल' रक्खा गया। इस हड़ताल का मतलब यह था कि मज़दूर लोग कारख़ानों में तो जाते थे, पर काम करने के बजाय ठाली बैठे रहते थे, बल्कि काम में रुकावटें डालते थे। यह वह मज़दूर-संघवादी कार्यक्रम था, जिसकी सिफ़ारिश बहुत दिनों पहले फ़्रान्स के मज़दूरों ने की थी। कारख़ानेदारों ने इस रुकावटी हड़ताल के जवाब में ताला-बन्दी का सहारा लिया, यानी उन्होंने

कारखानों में ताले डाल दिये। इस पर मज़दूरों ने कारखानों पर ही क़ब्ज़ा कर लिया और उन्हें समाजवादी ढंग पर चलाने का प्रयत्न किया।

मज़दूरों की यह कार्रवाई साफ़-साफ़ क्रान्तिकारी थी, और अगर वे इसपर डटे रहते तो या तो समाजी क्रान्ति हुए बिना न रहती या उन्हें मुँह की खानी पड़ती। ज्यादा दिन तक कोई बीच की हालत नहीं रह सकती थी। उस समय इटली में समाजवादी दल का बहुत ज़ोर था। मज़दूर-संघों के अलावा तीन हज़ार म्यूनिसिपल कमेटियों की बागडोर भी उसके हाथों में थी, और पार्लमेण्ट में उसके सदस्यों की संख्या डेढ़ सौ, यानी सदस्यों की कुल संख्या की एक-तिहाई थी। ऐसा ज़ोरदार और जड़ जमा हुआ दल, जिसके पास जायदाद हो और जिसके हाथ में बहुत-ऐसे सरकारी ओहदे हों, कभी क्रान्तिकारी नहीं हुआ करता। मगर ऐसा होने पर भी इस दल ने, अपने नर्म लोगों समेत, कारखानों पर मज़दूरों के क़ब्ज़ा किये जाने की कार्रवाई को मंज़ूरी दे दी। पर मंज़ूरी देने के सिवा इसने और कुछ नहीं किया। वह पीछे लौटना नहीं चाहता था, लेकिन उसमें आगे बढ़ने की भी हिम्मत नहीं थी। इसलिए उसने कम-से-कम प्रतिरोध का बिचला रास्ता अपनाया, और तमाम संशयी लोगों की तरह और उन लोगों की तरह जो आगा-पीछा सोचते रहते हैं, और ऐन मौक़े पर फ़ैसला नहीं कर पाते, इन लोगों ने भी समय का साथ छोड़कर उसे आगे निकल जाने दिया। नतीजा यह हुआ कि वे कुचल दिये गए। मज़दूर-वर्ग के नेताओं और वामपक्षी दलों की हिचकिचाहट की वजह से कारखानों पर मज़दूरों का क़ब्ज़ा फिसफिसा कर जाता रहा।

इससे मालिक वर्गों का हौसला बहुत बढ़ गया। उन्होंने मज़दूरों व उनके नेताओं की ताक़त को तोल लिया था, और देख लिया था कि वह उतनी नहीं थी जितनी कि वे उसे समझते थे। इसलिए अब उन्होंने मज़दूर-आन्दोलन और समाजवादी दल को कुचलने की बदला लेनेवाली योजना बनाई। उन्होंने अपनी सहायता के लिए स्वयंसेवकों के कुछ गिरोहों की ओर खास ध्यान दिया, जिन्हें १९१० ई० में, बैनितो मुसोलिनी ने, सेना से निकले हुए सिपाहियों को जमा करके बनाया था। ये 'लड़ाकू गिरोह'[1] कहलाते थे, और इनका खास काम यह था कि जब मौक़ा लगे तब समाजवादियों, वाम-पक्षियों व इनकी संस्था पर हमले करना। मसलन, कभी वे किसी समाजवादी अखबार के छापेखाने को तहस-नहस कर देते थे, कभी किसी ऐसी म्यूनिसिपल संस्था या सहकारी समिति पर हमला करते थे, जो समाजवादियों या वाम-पक्षियों के हाथ में होती थी। बड़े-बड़े उद्योगपति व आमतौर पर

[1] इतालवी भाषा में इनका नाम Fasci di combattimenti (फ़ासि दि कॉम्बैतिमैन्ति) था। फ़ासिज़्म (Fascism) यानी फ़ासीवाद शब्द इसी-से निकला है।

ऊँचे मध्यम-वर्गी लोग, मज़दूर-वर्ग व समाजवाद के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में, इन 'लड़ाकू गिरोहों' को आसरा व और धन की सहायता देते थे। सरकार तक भी इनकी तरफ़ से आँखें मूँदे रहती थी, क्योंकि वह समाजवादी दल की ताक़त को बर्बाद करना चाहती थी।

इन लड़ाकू गिरोहों या 'फ़ासियों' को संगठित करनेवाला यह बैनितो मुसोलिनी कौन था? उस समय यह नौजवान था (इसका जन्म १८८३ ई० में हुआ था, इसलिए आज यह ठीक पचास वर्ष का है), और इसकी ज़िन्दगी उथल-पुथल और ज़िन्दा-दिली से भरी हुई थी। इसका पिता लोहार था और समाजवादी था। इसलिए बैनितो का लालन-पालन समाजवादी असर में हुआ। जवानी के दिनों में यह सरगर्म आन्दोलनकारी था, और अपने क्रान्तिकारी प्रचार की वजह से स्वीज़रलैण्ड के कई प्रान्तों से निकाला गया था। यह नर्म समाजवादी नेताओं को उनकी नर्मी के लिए बुरी तरह फटकारता था। राज्य के ख़िलाफ़ बमों के इस्तेमाल का व दूसरे उपायों का यह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली के युद्ध के समय ज़्यादातर समाजवादी नेताओं ने युद्ध का समर्थन किया था। मगर मुसोलिनी का ढंग दूसरा था; इसने युद्ध का विरोध किया; और ख़ून-ख़राबी की कुछ कार्रवाइयों की वजह से उसे कुछ महीनों की जेल भी भुगतनी पड़ी थी। इसने नर्म समाजवादी नेताओं की, युद्ध का समर्थन करने के लिए कड़ी आलोचना की, और उन्हें समाजवादी दल से निकलवाकर रहा। यह मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक 'अवन्ती' का सम्पादक बन गया, और मज़दूरों को रोज़ यह सलाह देता रहा कि हिंसा का मुक़ाबला हिंसा से करें। नर्म मार्क्सवादी नेताओं ने इस तरह हिंसा भड़काये जाने पर सख़्त ऐतराज़ किया।

इतने में ही महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ महीनों तक तो मुसोलिनी ने युद्ध का विरोध किया और इटली को तटस्थ रखने के लिए प्रचार किया। मगर फिर इसने अपने विचार यकायक बदल दिये, या विचारों को ज़ाहिर करने का ढंग बदल दिया, और अपना यह ऐलान कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रों के साथ शरीक हो जाना चाहिए। यह समाजवादी अख़बार को छोड़ बैठा, और एक नये अख़बार का सम्पादन करने लगा, जिसने इस नई नीति का प्रचार किया। इसे समाजवादी दल से निकाल दिया गया। बाद में यह एक साधारण सिपाही की तरह सेना में भरती हो गया, इटली के मोर्चे पर लड़ा, और लड़ाई में घायल हुआ।

युद्ध के बाद मुसोलिनी ने अपने को समाजवादी कहना बन्द कर दिया। वह न इधर का रहा न उधर का, क्योंकि उसका पुराना दल उससे नफ़रत करता था और मज़दूर वर्गों में उसका कोई असर नहीं था। वह शान्तिवाद और समाजवाद की निन्दा करने लगा, और मध्यम-वर्गी राज्य की भी। उसने हर तरह के

राज्य की निन्दा की, और अपनेको 'व्यक्तिवादी' कहकर अराजकता की सराहना की। यह सारी बातें उसीने लिखी हैं। उसने यह काम किया कि मार्च, १९१९ ई० में फ़ासीवाद की बुनियाद डाली और अपने लड़ाकू दस्तों में बेकार सिपाहियों की भरती शुरू कर दी। इन गिरोहों का हिंसा में विश्वास था, और चूंकि सरकार कभी इनके मामले में दखल नहीं देती थी, इसलिए इनके हौसले और सरगर्मी बढ़ती गई। शहरों में कभी-कभी मज़दूर-वर्गों की इनके साथ बाक़ायदा मुठभेड़ें होती थीं और वे इन्हें खदेड़ देते थे। मगर समाजवादी नेता मज़दूरों के लड़ाकू जोश का विरोध करते थे और उन्हें सलाह देते थे कि फ़ासी आतंक का मुक़ाबला करने के लिए शान्ति व सब्र से काम लें। उन्हें उम्मीद थी कि इस तरह फ़ासीवाद अपने-आप पस्त हो जायगा। लेकिन शान्त होने के बजाय फ़ासीवादी गिरोह ही ज़ोर पकड़ते गये, क्योंकि इन्हें धनवानों से चन्दे मिलते थे और सरकार ने इनके मामलों में दखल देने से इन्कार कर दिया था। उधर, जन-साधारण प्रतिरोध की बची-खुची भावना भी खो चुके थे। यहाँ तक कि फ़ासीवादी हिंसा को रोकने के लिए मज़दूर-वर्ग के हथियार हड़ताल की भी कोशिश नहीं की गई।

मुसोलिनी के नीचे फ़ासीवादियों ने दो परस्पर-विरोधी नारों का मेल साध लिया। सबसे पहले और सबसे आगे तो वे समाजवाद और साम्यवाद के दुश्मन थे, इस वजह से उन्हें ज़मीन-जायदादवाले वर्गों का समर्थन हासिल हो गया। लेकिन मुसोलिनी तो पुराना समाजवादी आन्दोलनकारी और क्रान्तिकारी था, और उसकी ज़बान पर उन चालू पूंजीपति-विरोधी नारों की भरमार थी, जिन्हें बहुत-से ग़रीब-से-ग़रीब वर्ग खूब पसन्द करते थे। उसने आन्दोलन का शास्त्र भी इस धन्धे के माहिर साम्यवादियों से बहुत-कुछ सीख लिया था। इसलिए फ़ासीवाद एक विचित्र खिचड़ी बन गया, और उसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या की जा सकती थी। असल में तो यह एक पूंजीवादी आन्दोलन था, पर वह कई ऐसे नारे लगाता था, जो पूंजीवाद के लिए खतरनाक थे। इस तरह इसने अपनी मण्डली में एक रंग-बिरंगी भीड़ जमा कर ली। मध्यम-वर्गों के लोग, और खासकर निचले मध्यम-वर्ग के बेकार लोग, इसकी रीढ़ थे। ज्यों-ज्यों इसकी शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों बेकार व बे-हुनर मज़दूर लोग, जो मज़दूर-संघों में संगठित नहीं थे, हवा के साथ बहकर इसमें आने लगे, क्योंकि सफलता से बढ़कर सफल बनानेवाली चीज़ कोई नहीं होती। फ़ासीवादियों ने दूकानदारों को क़ीमतें कम करने के लिए जबर्दस्ती मजबूर किया, और इस तरह ग़रीबों की सहानुभूति भी हासिल कर ली। बहुत-से ले-भग्गू भी फ़ासी झण्डों के नीचे जमा हो गये। मगर इस सबके बावजूद फ़ासीवाद अल्पसंख्यक आन्दोलन ही रहा।

बस, जबकि समाजवादी नेता संशय में पड़े थे और आगा-पीछा सोचते थे

और आपस में लड़ते-झगड़ते थे और उनके दल में फूट और भेद पड़ रहे थे, तब फ़ासीवादियों का बल बढ़ रहा था। स्थायी सेना फ़ासीवाद की ओर बहुत झुकी हुई थी, और मुसोलिनी ने सेना के सेनापतियों को अपने पक्ष में मिला लिया था। मुसोलिनी का यह अद्भुत करतब था कि उसने ऐसे विविध और परस्पर-विरोधी तत्वों को अपनी ओर मिला लिया, और उन्हें एक सूत्र में बाँधे रक्खा, और अपने दल के हर गिरोह के मन में एक खयाल जमा दिया कि फ़ासीवाद खासतौर पर उसी के लिए है। मालदार फ़ासीवादी मुसोलिनी को अपनी जायदाद का रक्षक समझता था और यह समझता था कि उसके पूंजीपति-विरोधी भाषण व नारे सिर्फ़ थोथे शब्द थे, जिनका मतलब जन-साधारण को उल्लू बनाना था। उधर ग़रीब फ़ासीवादी का यह विश्वास था कि यह पूंजीवाद-विरोध ही फ़ासीवाद का असली तत्व है, और बाक़ी सब बातों का मतलब सिर्फ़ मालदार लोगों को राज़ी रखना है। इस तरह मुसोलिनी एक के खिलाफ़ दूसरे को चकमा देने की कोशिश करता रहता था। एक दिन वह मालदारों के पक्ष में बोलता तो दूसरे दिन ग़रीबों के पक्ष में। लेकिन असल में वह ज़मीन-जायदादवाले वर्गों का हामी था, जो उसे धन की सहायता देते थे और जो मज़दूर-वर्ग व समाजवाद की ताक़त का नाश करने पर तुले हुए थे, क्योंकि इनकी तरफ़ से उन्हें बहुत दिनों से खतरा था।

आखिरकार अक्तूबर, १९२२ ई० में स्थायी सेना के सेनापतियों की रहनुमाई में इन फ़ासीवादी दस्तों ने रोम पर चढ़ाई कर दी। प्रधान मन्त्री ने, जो अबतक फ़ासीवादियों की कारंवाइयों को दरगुज़र करता रहा था, फ़ौजी क़ानून लागू कर दिया। मगर अब वक़्त निकल चुका था और अब खुद बादशाह तक मुसोलिनी की तरफ़ था। उसने (बादशाह ने) फ़ौजी क़ानून के हुक्मनामे को रद्द कर दिया, अपने प्रधान मन्त्री का इस्तीफ़ा मंजूर कर लिया, और नया प्रधान मन्त्री बनने के लिए और अपना मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए मुसोलिनी को बुलाया। ३० अक्तूबर, १९२२ ई० को फ़ासीवादी सेना रोम पहुँच गई, और उसी दिन मुसोलिनी प्रधान मन्त्री बनने के लिए मिलान से रेल में आ गया।

फ़ासीवाद पूरी तरह सफल हो गया था, और बागडोर मुसोलिनी के हाथों में आ गई थी। पर इसका दावा क्या था? इसका कार्यक्रम क्या था और इसकी नीति क्या थी? बड़े आन्दोलन क़रीब-क़रीब बिना अपवाद के, किसी साफ़ विचारधारा के गिर्द खड़े हुआ करते हैं, जो कुछ तयशुदा उसूलों पर बनती है और जिसके साफ़-साफ़ ध्येय व कार्यक्रम होते हैं। फ़ासीवाद की निराली खासियत यह थी कि उसके न तो कोई तयशुदा उसूल थे न कोई विचार-धारा थी, न उसके पीछे कोई दर्शन था। हाँ, अगर समाजवाद, साम्यवाद व उदार-नीति के खाली विरोध को ही दर्शन समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। १९२० ई० में, फ़ासीवादी गिरोहों के

संगठन के एक वर्ष बाद, फ़ासीवादियों के बारे में मुसोलिनी ने ऐलानिया कहा था :

"चूंकि वे किसी तरह के तयशुदा उसूलों से बंधे हुए नहीं हैं, इसलिए वे बिना रुके एक ही लक्ष्य की तरफ़ बढ़ते जाते हैं, और वह लक्ष्य है इटली की जनता की भावी भलाई।"

मगर यह तो कोई ऐसी नीति नहीं है, जो अपनी अलग ख़ासियत रखती हो, क्योंकि हर व्यक्ति यह कह सकता है कि वह अपने देशवासियों की भलाई का समर्थन करने को तैयार है। १९२२ ई० में, रोम पर चढ़ाई के ठीक एक महीने पहले, मुसोलिनी ने कहा था: "हमारा कार्यक्रम बहुत सीधा-सादा है; हम इटली पर राज करना चाहते हैं।"

मुसोलिनी ने इतालवी भाषा के एक विश्व-कोश में फ़ासीवाद के जन्म पर जो लेख लिखा है, उसमें उसने इस बात को और भी साफ़ कर दिया है। उसने लिखा है कि जब वह रोम पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ था तब भविष्य के बारे में उसके दिमाग़ में कोई योजना नहीं थी। राजनीतिक संकट के समय कुछ करने की ज़ोरदार इच्छा ने ही उसे इस मुहिम पर कूच करने के लिए प्रेरित किया था, और यह उसकी पिछली समाजवादी साधना का परिणाम था।

हालाँकि फ़ासीवाद और साम्यवाद एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं, पर कुछ हलचलें दोनों में एक-सी हैं। लेकिन जहाँतक सिद्धान्तों का और विचारधारा का सम्बन्ध है वहाँतक इन दोनों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, फ़ासीवाद के कोई बुनियादी सिद्धान्त नहीं हैं; वह तो कोरे काग़ज़ से शुरू होता है। दूसरी तरफ़ साम्यवाद या मार्क्सवाद एक पेचीदा आर्थिक मत और इतिहास की व्याख्या है, जिसके लिए सख़्त दिमाग़ी अनुशासन की ज़रूरत है।

हालाँकि फ़ासीवाद के कोई सिद्धान्त या आदर्श नहीं थे, पर उसका मारकाट व आतंक का साफ़ ढंग था, और गुज़रे ज़माने के बारे में उसका एक ख़ास नज़रिया था, जिससे हमको उसे कुछ समझने में सहायता मिलती है। उसका चिह्न रोम का एक पुराना साम्राज्यशाही चिह्न था, जो रोम के सम्राटों और मजिस्ट्रेटों के आगे-आगे चला करता था। यह छड़ियों का एक बण्डल होता था, जिसके बीच में कुल्हाड़ी रहती थी।[1] फ़ासीवादी संगठन इसी पुराने रोमी नमूने के आधार पर रचा गया था, यहाँतक कि नाम भी पुराने ही काम में लाये गए थे। फ़ासी सलाम[2] भी

---

[1] ये छड़ियाँ fasces कहलाती थी, और Fascimo शब्द इसीसे बना है।
[2] इसे Fascista कहते हैं।

पुराना रोमी सलाम है, जिसमें बाज़ू को उठाकर एक तरफ़ फैला दिया जाता है। इस तरह फ़ासीवाद लोग प्रेरणा के लिए साम्राज्यशाही रोम की ओर पीछे नज़र डालते थे; उनका नज़रिया भी साम्राज्यशाही था। उनका गुरुमन्त्र था 'तर्क वितर्क नहीं, सिर्फ़ आज्ञापालन'। यह मन्त्र शायद सेना के लिए ठीक हो, पर लोकतन्त्र के लिए तो कभी भी ठीक नहीं है। उनका नेता मुसोलिनी 'इल दचूचे' (Il Ducc), यानी तानाशाह था। अपनी वर्दी के लिए उन्होंने काला कुर्ता अपनाया, और इसलिए उनका नाम 'काले कुर्तोंवाले' (Black shirts) पड़ गया।

चूंकि फ़ासीवादियों का एक ही पक्का कार्यक्रम सत्ता हासिल करना था, इसलिए मुसोलिनी के प्रधान मन्त्री बनने पर वह पूरा हो गया। तब मुसोलिनी अपने विरोधियों को कुचलकर अपनी हैसियत मजबूत बनाने में पूरी तरह जुट गया। मारकाट व आतंक की खूब बदमस्तियाँ मचीं। इतिहास में मारकाट की घटनाएँ बहुत आम हैं; लेकिन मामूली तौर पर मारकाट को ज़रूरत के वक़्त और वह भी बड़े दुःख के साथ अपनाया जाता है, और उसके झूठे-सच्चे कारण बताये जाते हैं और सफ़ाई दी जाती है। मगर फ़ासीवाद मारकाट के लिए जवाब देने-जैसे किसी रुख में विश्वास नहीं करता था। फ़ासीवादी लोग तो मारकाट को मानते थे और उसकी खुली तारीफ़ करते थे, और उनका कोई मुक़ाबला न होने पर भी मारकाट मचाते थे। पार्लमेण्ट के विरोधी सदस्यों को मार-पीटकर दहला दिया गया, और संविधान को बिलकुल बदल देनेवाला चुनाव-सम्बन्धी नया क़ानून ज़बर्दस्ती पास करा लिया गया। इस तरह मुसोलिनी के पक्ष में भारी बहुमत हासिल कर लिया गया।

सत्ता पर सचमुच क़ब्ज़ा हो जाने पर भी और पुलिस व सरकारी अमले की बागडोर हाथों में होने पर भी फ़ासीवादियों का अपनी ग़ैर-क़ानूनी मारकाट जारी रखना अचम्भे की बात थी। मगर उन्होंने मारकाट जारी रखी। उनके सामने मैदान तो ख़ाली पड़ा ही था, क्योंकि राज्य की पुलिस तो दखल देती ही कैसे? हत्याएँ की गईं, लोगों को सख्त तकलीफ़ें दी गईं, मार-पीट की गई, सम्पत्ति बर्बाद की गई, और इन फ़ासीवादियों ने एक नये तरीक़े का आमतौर पर इस्तेमाल किया। वह यह था कि जो कोई उनका विरोध करने की जुर्रत करता, उसे अरण्डी के तेल की सेरों खुराकें पिला दी जाती थीं।

१९२४ ई० में गायाकोमो मैतिओती की हत्या से सारा यूरोप थर्रा उठा। यह एक नामी समाजवादी था और पार्लमेण्ट का सदस्य था। उन दिनों जो चुनाव होकर ही चुका था, उसके दौरान इसने पार्लमेण्ट में अपने भाषणों में फ़ासीवादी तरीक़ों की निन्दा की थी। इसके कुछ ही दिनों के भीतर उसकी हत्या कर दी गई।

खानापूरी करने के लिए हत्यारों पर मुक़दमे तो चलाए गए, पर वे एक तरह से बिना सज़ा पाये ही छूट गये। मारपीट के सबब से अमेन्दोला नामक नर्मदली नेता की मौत हो गई। उदार-दली पिछला प्रधान मन्त्री नित्ती बड़ी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भाग गया, पर उसका मकान तहस-नहस कर दिया गया। ये कुछ थोड़ी-सी मिसालें हैं, जिनकी तरफ़ संसार का ध्यान खिंचा, लेकिन मारकाट की कार्रवाइयाँ तो लगातार और चारों तरफ़ होती रहती थीं। यह मारकाट दमन के क़ानूनी तरीक़ों से अलग थी और उनके अलावा थी। मगर यह भी सिर्फ़ जोशीली भीड़ की मारकाट नहीं थी। यह तो अनुशासन में बँधी हुई मारकाट थी, जिसका इस्तेमाल तमाम विरोधियों के ऊपर इरादतन किया जाता था, और सिर्फ़ समाजवादियों व साम्यवादियों पर ही नहीं बल्कि अमन-पसन्द और बहुत नर्म व उदारदली लोगों पर भी। मुसोलिनी का हुक्म था कि उसके विरोधियों का जीना दुश्वार 'या असम्भव' कर दिया जाय। इस हुक्म पर फ़रमाबरदारी से अमल किया गया। कोई दूसरा दल, कोई दूसरा संगठन, कोई दूसरी संस्था, ज़िन्दा न रहने पाये। हर चीज़ फ़ासी ढंग की हो। सारी नौकरियाँ फ़ासीवादियों को ही दी जायें।

मुसोलिनी इटली का तानाशाह बन बैठा, जिसके हाथ में सारी ताक़त थी। वह सिर्फ़ प्रधान मन्त्री ही नहीं था, बल्कि पर-राष्ट्र-विभाग, स्वराष्ट्र-विभाग, उपनिवेश-विभाग, युद्ध-विभाग, नौ-सेना-विभाग, हवाई-सेना-विभाग और मजदूर-विभाग का भी मन्त्री था। एक तरह से वह पूरा मन्त्रि-मण्डल था। बेचारा बादशाह कोने में जा बैठा। और उसका नाम भी सुनाई नहीं देता था। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ़ धकेल दी गई और अपने रूप की हल्की छाया रह गई। सारी हलचलों पर 'फ़ैसिस्ट ग्राण्ड कौन्सिल' छाई हुई थी और इस कौन्सिल पर मुसोलिनी छाया हुआ था।

पर-राष्ट्रों-सम्बन्धी मामलों पर मुसोलिनी के शुरू के भाषण से यूरोप में बहुत ताज्जुब और घबराहट फैल गये। ये भाषण अजीब ढंग के थे। लफ़्फ़ाज़ी व धमकियों से भरे हुए और राजनीतिज्ञों की कूटनीतिभरी बातों से बिलकुल अलग क़िस्म के। मालूम होता था कि वह हमेशा लड़ने पर आमादा था। वह इटली की तक़दीर में लिखे साम्राज्य की और बेशुमार इतालवी हवाई-जहाज़ों के आकाश में छा जाने की बातें करता था, और कई बार तो उसने अपने पड़ोसी फ़्रान्स को खुल्लम-खुल्ला धमकियाँ दीं। फ़्रान्स इटली से बहुत ज्यादा ताक़तवर ज़रूर था, मगर लड़ना कोई नहीं चाहता था, इसलिए मुसोलिनी की बहुत-सी बातों को बर्दाश्त कर लिया जाता था। हालाँकि इटली राष्ट्र-संघ का सदस्य था, पर मुसोलिनी ने राष्ट्र-संघ को अपने व्यंग और तिरस्कार का ख़ास निशाना बनाया, और एक बार

तो उसने राष्ट्र-संघ को बहुत ही लड़ाकू तरीक़े से चुनौती दी। मगर फिर भी राष्ट्र-संघ ने व दूसरी शक्तियों ने इसे सहन कर लिया।

इटली में बहुत-से ऊपरी परिवर्तन हो गये हैं, और वहाँ हर जगह क़ायदा और वक़्त की पाबन्दी को देखकर विदेशी यात्रियों के मन पर अच्छी छाप पड़ती है। शाही शहर रोम को सुन्दर बनाया जा रहा है। और उसे अच्छा बनाने की कई लम्बी-चौड़ी योजनाएँ हाथ में ली गई हैं। मुसोलिनी की आँखों के आगे नये रोमन साम्राज्य के ख़याली नज़ारे नाचते रहते हैं।

पोप और इटली की सरकार के बीच जो पुराना झगड़ा चला आता था, वह १९२९ ई० में, पोप और इटली की सरकार के प्रतिनिधि के बीच राज़ीनामा होने से ख़त्म हो गया। जब से, १८७१ ई० में, इटली की बादशाहत ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था, तभी से पोप इसे मानने से या रोम पर अपनी प्रभुता का दावा छोड़ने से इन्कार करता आ रहा था। इसलिए जितने भी पोप हुए वे अपना चुनाव होते ही रोम में वैतिकन[1] के अपने ख़ूब बड़े महल में, जिसमें सेण्ट पीटर का गिरजा भी शामिल है, जा बैठते थे, और कभी उससे बाहर निकलकर इटली की ज़मीन पर पाँव नहीं देते थे। वे अपने-आपको मर्ज़ी से क़ैदी बना लेते थे। १९२९ ई० के राज़ीनामे से रोम का यह छोटा-सा वैतिकन इलाक़ा एक स्वाधीन व पूरा प्रभुताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का कामिल राजा होता है, और इसके नागरिकों की कुल संख्या पाँच सौ के क़रीब है! इस राज्य की अपनी निजी अदालतें हैं, सिक्का है, डाक के टिकट हैं, और सार्वजनिक सेवाएँ हैं, और दुनिया-भर में सबसे महँगी छोटी-सी रेल-व्यवस्था है। अब पोप मर्ज़ी से बना हुआ क़ैदी नहीं रहा; कभी-कभी वह वैतिकन से बाहर निकलता है। इस सन्धि ने मुसोलिनी को कैथलिकों में लोकप्रिय बना दिया। फ़ासीवादी मारकाट का ग़ैर-क़ानूनी पहलू क़रीब एक साल तो ख़ूब तेज़ रहा, और बाद में १९२६ ई० तक कुछ मन्दा रहा। १९२६ ई० में राजनीतिक विरोधियों का मुक़ाबला करने के लिए 'ग़ैर-मामूली क़ानून' पास किये गए, जिनके ज़रिये राज्य को ज़बर्दस्त अधिकार मिल गये और ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाइयों की ज़रूरत नहीं रह गई। ये क़ानून उन आर्डिनेन्सों और आर्डिनेन्सों के आधार पर रचे गये क़ानूनों से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे, जिनकी हमारे भारत में भरमार है। इन 'ग़ैर-मामूली क़ानूनों' के मातहत अनगिनती लोगों को सज़ाएँ दी जाती रहीं,

---

[1] रोम के पास वैतिकन पहाड़ी पर बने हुए पोपों के विशाल राजभवन का नाम। सन् १३७७ ई० से यह पोपों का आवास है। इसी महल के नीचे बसा हुआ वैतिकन नगर पोपों की राजधानी और स्वतन्त्र रियासत माना जाता है।

उन्हें जेलों में डाला जाता रहा, और देश-निकाला दिया जाता रहा। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़, नवम्बर, १९२६ ई० से लगाकर अक्तूबर, १९३२ ई० तक, कम-से-कम १०,०४४ व्यक्ति ख़ास अदालतों के सामने पेश किये गए। देश से निकाले हुओं के लिए पौञ्ज़ा, वैन्तोलीन, व त्रेमिती[1] नामक तीन ताज़ीरी टापू अलग मुक़र्रर कर दिये गए थे, और वहाँ की हालतें बहुत ही ख़राब थीं।

दमन और गिरफ़्तारियों का अभी तक ख़ूब ज़ोर चला आ रहा है, और इनसे साफ़ ज़ाहिर है कि देश में एक गुप्त व क्रान्तिकारी विरोधी-दल मौजूद है, हालाँकि उसे कुचलने की सारी कोशिशें की गई हैं। देश पर ख़र्च का बोझ बढ़ रहा है और उसकी आर्थिक हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है।

: १७६ :

लोकतन्त्र और तानाशाहियाँ

२२ जून, १९३३

वेनितो मुसोलिनी ने अपनेको इटली का तानाशाह बनाकर जो मिसाल पेश की, उसकी छूत मालूम होता है यूरोप-भर में फैल गई। उसने कहा था: "यूरोप के हर देश में राजगद्दियाँ इस इन्तज़ार में ख़ाली पड़ी हुई हैं कि योग्य व्यक्ति उनपर बैठ जायँ"। बस, कई देशों में तानाशाह पैदा हो गये, और पार्लमेण्टों को या तो भंग कर दिया गया या उन्हें तानाशाहों की मर्ज़ी के मुताबिक चलने को ज़बर्दस्ती मजबूर किया गया। इसकी एक नामी मिसाल स्पेन था।

स्पेन महायुद्ध के चक्कर में नहीं पड़ा था। उसने लड़नेवाले राष्ट्रों को माल बेचकर ख़ूब रुपया बनाया। लेकिन उसकी निजी मुसीबतें थीं और उद्योगों के लिहाज़ से वह बहुत पिछड़ा हुआ था। यूरोप में उसकी महानता के वे दिन बीत चुके थे जब उसके बन्दरगाहों में अमेरिकाओं और पूर्व का धन उलटता था। अब यूरोप की बड़ी शक्तियों में उसकी कोई गिनती नहीं थी। यहाँ एक कमज़ोर पार्लमेण्ट थी, जो 'कोर्ते' कहलाती थी, और रोमन पादरियों का बहुत ज़ोर था। उद्योगों के लिहाज़ से पिछड़े हुए दूसरे यूरोपीय देशों की तरह यहाँ भी जर्मनी व इंग्लैण्ड के ठोस मार्क्सवाद और नर्म समाजवाद के बजाय मज़दूर-संघवाद और अराजकतावाद का प्रचार हुआ। १९१७ ई० में, जब बोलशेविक लोग रूस में सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे, तब स्पेन के मज़दूरों और वामपक्षियों ने आम हड़ताल करके लोकतन्त्री गणराज्य क़ायम करने का यत्न किया। पर बादशाह की सरकार और सेना ने इस सारे आन्दोलन को कुचल दिया, और इसके नतीजे से

[1] ये तीनों छोटे-छोटे टापू इटली के दक्षिणी तट के पास हैं।

देश में सारी सत्ता सेना के हाथों में आ गई। बादशाह भी सेना के भरोसे कुछ और स्वाधीन व निरंकुश हो गया।

फ़ान्स और स्पेन ने मोरक्को को एक तरह से दो प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया था। १९२१ ई० में मोरक्को के रिफ़ लोगों में अब्दुल करीम नामक एक योग्य नेता स्पेनी शासन के ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ। इसने बड़ी योग्यता और वीरता का परिचय दिया और स्पेनी सेना की टुकड़ियों को बार-बार हराया। इससे स्पेन में अन्दरूनी संकट पैदा हो गया। बादशाह और फ़ौज के नेता, दोनों ही संविधान व पार्लमेण्ट का अन्त करके तानाशाही क़ायम करना चाहते थे। इस बात पर तो दोनों एकमत हो गये, पर मतभेद इसपर हुआ कि तानाशाह कौन बने। बादशाह तो खुद तानाशाह या निरंकुश राजा बनना चाहता था, और सेना के नेता फ़ौजी तानाशाही चाहते थे। सितम्बर, १९२३ ई० में सेना का विद्रोह हुआ, और इसने इस मुद्दे का फ़ैसला सेना के पक्ष में कर दिया, और जनरल प्राइमो दि रिवेरा तानाशाह बन गया। उसने कोर्ते (पार्लमेण्ट) को मंसूख कर दिया और खुल्लमखुल्ला फ़ौज के बल पर, राज करने लगा। मगर रिफ़ों के ख़िलाफ़ मोरक्को का मुहिम फिर भी सफल नहीं हुआ, और अब्दुल करीम स्पेनियों को सरगर्मी के साथ बराबर चुनौती देता रहा। स्पेनी सरकार ने उसे अच्छी शर्तें पेश कीं। मगर उसने इन्हें ठुकरा दिया, और वह पूरी स्वाधीनता की माँग पर डटा रहा। मुमकिन है कि स्पेनी सरकार अकेली उसे दबाने में सफल न होती। पर १९२५ ई० में फ़ान्सीसियों ने, जिनका मोरक्कों में बहुत बड़ा स्वार्थ था, दख़ल देने का फ़ैसला किया, और अपने ज़बर्दस्त साधनों का अब्दुल करीम के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया। १९२६ ई० के बीच तक अब्दुल करीम परास्त हो चुका था, और फ़ान्सीसियों के आगे घुटने टेकने के साथ उसकी लम्बी और बहादुराना लड़ाई ख़त्म हो गई।

इन सारे वर्षों के दौरान स्पेन में प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही, फ़ौजी ताक़त के तमाम हस्ब-मामूल लवाज़मों—जैसे अख़बारों पर पाबन्दी, दमन, और कभी-कभी फ़ौजी क़ानून वग़ैरा—के साथ बराबर चलती रही। याद रहे कि यह तानाशाही मुसोलिनी की तानाशाही से जुदा थी, क्योंकि यह सिर्फ़ फ़ौज के सहारे टिकी हुई थी, इटली की तरह जनता के कुछ वर्गों पर नहीं। इसलिए ज्योंही फ़ौज प्राइमो दि रिवेरा से उकता गई त्योंही उसका कोई सहारा बाक़ी नहीं रहा। १९३० ई० के शुरू में बादशाह ने प्राइमो को बरख़ास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई जो दबा दी गई। लेकिन गणराज्य की और क्रान्ति की भावना इतनी फैल गई थी कि उसे दबाकर नहीं रक्खा जा सकता था। १९३१ ई० में गणराज्यवादियों ने म्यूनिसिपल चुनावों में अपनी ताक़त का सबूत दिया, और इसके कुछ ही दिन बाद बादशाह अल्फ़ोन्सो ने, यह समझकर कि बहादुरी दिखाने में भलाई

नहीं है, राजगद्दी को त्याग दिया, और देश छोड़कर भाग गया। स्पेन में काम-चलाऊ सरकार क़ायम हो गई, और यह देश जो यूरोप में निरंकुश बादशाहत और पादरियों के राज का नमूना था, यूरोप का सबसे कम-उम्र गणराज्य बन गया। इसने बादशाह अल्फ़ोन्सो को क़ानून के बचाव से बाहर कर दिया और पादरियों के असर के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दी।

लेकिन मैं तो तानाशाहों का बयान कर रहा था। इटली और स्पेन के अलावा जिन और देशों ने लोकतन्त्री हुकूमतों को घता बताई और तानाशाहियाँ क़ायम कर लीं, उनके नाम ये हैं: पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बलगारिया, पुर्तगाल, हंगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड में ज़ारशाही ज़माने का पुराना समाजवादी पिल्सूदस्की तानाशाह था, क्योंकि सेना उसके हाथों में थी। पोली पार्लमेण्ट के सदस्यों के लिए बहुत ही हैरत पैदा करनेवाली नागवार भाषा बोलना उसने अपनी आदत बना ली थी, और कभी-कभी तो सचमुच इन्हें गिरफ़्तार करके फ़ौरन चलता कर दिया जाता था। यूगोस्लाविया में ख़ुद बादशाह अलैग्ज़ैण्डर ही तानाशाह बना हुआ है। कहा जाता है कि देश के कुछ भागों में तो हालत और भी बिगड़ गई है, और इतना अत्याचार हो रहा है, जितना तुर्कों के राज में भी कभी नहीं हुआ था।

जिन देशों का मैंने ज़िक्र किया है, उन सबमें लगातार खुल्लमखुल्ला तानाशाहियाँ नहीं रही हैं। कभी-कभी इनकी पार्लमेण्ट जाग उठती हैं और उन्हें काम करने दिया जाता है; जैसा कि हाल ही में बलगारिया में हुआ, कभी-कभी सत्ताधारी हुकूमत डिपुटियों के साम्यवादी सरीखे किसी गिरोह को, जिसे वह पसन्द नहीं करती, गिरफ़्तार कर लेती है, और उन्हें ज़बर्दस्ती पार्लमेण्ट से निकाल देती है, और बाक़ी के लोगों को जैसे-तैसे काम चलाने के लिए छोड़ देती है। ये देश बराबर या तो तानाशाही के अधीन रहते हैं या उसके किनारे पर। और ज़ोर-ज़बर्दस्ती पर टिकी हुई व्यक्तियों अथवा छोटे-छोटे गिरोहों की इन हुकूमतों को दमन, विरोधियों की हत्याओं व गिरफ़्तारियों, ख़बरों पर सख़्त पाबन्दी, और जासूसों के फैले हुए जाल का लगातार सहारा ढूंढ़ना पड़ता है।

यूरोप के बाहर भी तानाशाहियाँ पैदा हो गईं। तुर्की और कमाल पाशा का ज़िक्र मैं कर ही चुका हूँ। दक्षिण अमेरिका में भी कई तानाशाह थे, लेकिन वहाँ तो तानाशाही एक पुराना दस्तूर बन गई है, क्योंकि दक्षिण अमेरिका के गणराज्यों में लोकतन्त्री परम्पराओं के लिए अच्छी भावना कभी नहीं रही है।

तानाशाहियों की इस सूची में मैंने सोवियत संघ को शामिल नहीं किया है, क्योंकि वहाँ की तानाशाही औरों की ही तरह बेरहम होते हुए भी जुदा क़िस्म की है। यह किसी व्यक्ति या छोटे गिरोह की तानाशाही नहीं है, बल्कि एक सुसंगठित राजनीतिक दल की है, जिसने ख़ासतौर पर मज़दूरों को अपना आधार बना रक्खा

है। वे इसे 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही'[1] कहते हैं। इस तरह संसार में तीन क़िस्म की तानाशाहियाँ हैं: साम्यवादी ढंग की, फ़ासीवादी और फ़ौजी। फ़ौजी तानाशाही कोई निराली चीज नहीं है; यह तो शुरू से ही चली आई है। साम्य-वादी और फ़ासीवादी ढंगों की तानाशाहियाँ इतिहास में नई हैं, और हमारे जमाने की खास उपज हैं।

ध्यान खींचनेवाली सबसे पहली चीज़ यह है कि ये तमाम तानाशाहियाँ और इनके भेद, लोकतन्त्री और पार्लमेण्टी ढंग की हुकूमतों से ठीक उलटी चीज़ें हैं। तुम्हें याद होगा कि मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी लोकतन्त्रवाद की सदी थी। यानी इस सदी में प्रगतिशील विचारों पर फ़ान्सीसी राज्यक्रान्ति के मानव-अधि-कारों का असर था, और व्यक्ति की आज़ादी इनका लक्ष्य था। इसीमें से यूरोप के ज्यादातर देशों में पार्लमेण्टी ढंग की हुकूमत का कहीं कम और कहीं ज्यादा विकास हुआ। आर्थिक क्षेत्र में इसके सबब से दख़ल न देने का मत चला। बीसवीं सदी ने, या यों कहो कि युद्ध के बाद के वर्षों ने, उन्नीसवीं सदी की इस महान् परम्परा का अन्त कर दिया, और अब लोकतन्त्र के विचार का आदर करनेवालों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। और लोकतन्त्र के इस पतन के साथ-साथ हर जगह नामधारी उदार दलों का भी यही हाल हुआ है, और अब असर रखने-वाली ताक़तों में इनकी गिनती नहीं होती।

साम्यवाद और फ़ासीवाद दोनों ही लोकतन्त्र के विरोधी हैं और उसकी बुराई करते हैं, हालाँकि हरेक इसके लिए बिलकुल अलग-अलग दलीलें देता है। जो देश साम्यवादी या फ़ासीवादी नहीं हैं, वहाँ भी लोकतन्त्र अब पहले जितना पसन्द नहीं किया जाता। पार्लमेण्ट का पुराना रूप अब नहीं रहा, और उसके लिए लोगों की ज्यादा इज्जत भी नहीं रही। बड़े अमलदारों को इतने ज्यादा अधि-कार दे दिये जाते हैं कि अगर वे किसी कार्रवाई को ज़रूरी समझें तो उसे पार्लमेण्ट की निगाह में लाये बिना ही कर सकते हैं। इसकी कुछ वजह तो यह है कि हम ऐसे नाजुक ज़माने में रह रहे हैं जब फ़ौरन कार्रवाई करना लाज़िमी हो जाता है और प्रतिनिधि-सभाओं के लिए हमेशा झटपट कार्रवाई करना नामुमकिन होता है। हाल ही में जर्मनी ने अपनी पार्लमेण्ट को बिलकुल उखाड़ फेंका है, और अब फ़ासी हुकूमत का बुरे-से-बुरा नमूना दिखाई दे रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तो अपने राष्ट्रपति को हमेशा से ही बहुत अधिकार दे रक्खा है, और इन दिनों यह और भी बढ़ा दिया गया है। शायद आजकल सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ही दो ऐसे देश हैं, जहाँ की पार्लमेण्ट ज़ाहिरा तौर पर अब भी पहले ही की तरह अपना काम कर रही हैं। इनकी फ़ासीवादी कार्रवाइयाँ तो इनके मातहत देशों और उपनिवेशों

[1] Dictatorship of the Proletariat.

में ही ज़ाहिर होती हैं। जैसे, भारत में ब्रिटिश फ़ासीवाद काम कर रहा है और हिन्द-चीन में फ़्रान्सीसियों का फ़ासीवाद देश में "अमन क़ायम कर रहा है"। लेकिन लन्दन और पेरिस की पार्लमेण्टें भी अब खोखली होती जा रही हैं। पिछले महीने में ही एक बड़े उदार-दली अंग्रेज़ ने कहा था :

"हमारी प्रतिनिधि पार्लमेण्ट बड़ी तेज़ी के साथ एक ऐसे शासक गुट्ट की हिदायतों को दर्ज करनेवाला औज़ार बनती जा रही है, जिसका चुनाव एक अधूरी और ठीक तरह काम न करनेवाली चुनाव मशीन से होता है।"

इस तरह उन्नीसवीं सदी के लोकतन्त्र और पार्लमेण्टों का असर हर जगह कम होता जा रहा है। कुछ देशों में तो लोगों ने इन्हें खुल्लम-खुल्ला और भोंड़ेपन से धता बताई है; बाक़ी देशों में इनका असली महत्व ग़ायब हो गया है, और ये "गम्भीर और थोथी तड़क-भड़क" की चीज़ बनती जा रही हैं। एक इतिहास-लेखक ने पार्लमेण्टों के इस पतन की तुलना उन्नीसवीं सदी में बादशाहतों के पतन से की है। इस इतिहास-लेखक का कहना है कि जिस तरह इंग्लैण्ड में और दूसरे देशों में बादशाह की असली सत्ता खत्म हो गई है और वह संविधानी राजा बन गया है—सो भी एक तरह से नुमाइश के लिए; उसी तरह पार्लमेण्टें भी ऐसे बे-अधिकार और शान-शौकतवाले चिह्न बन जायँगी और बन रही हैं, जो बड़े और महत्ववाले दिखाई तो देते हैं, पर जिनका मतलब कुछ नहीं है।

ऐसा क्यों हुआ है? वह लोकतन्त्र जो एक सदी से ज़्यादा तक अनगिनती लोगों का आदर्श और प्रेरणा देनेवाला रहा, और जिसके लिए हज़ारों शहीद हो गये, अब लोगों की नज़रों से क्यों गिर गया है? इस तरह के परिवर्तन बिना काफ़ी कारणों के नहीं हुआ करते; वे जनता की महज़ सनकों व पसन्दों के कारण भी नहीं होते। ज़िन्दगी की आधुनिक हालतों में कोई ऐसी चीज़ ज़रूर है, जो उन्नीसवीं सदी के 'बाक़ायदा' लोकतन्त्र से मेल नहीं खाती। यह विषय बड़ा दिलचस्प और पेचीदा है। मैं इसके ब्यौरे में तो नहीं जा सकता, लेकिन दो-एक कारण तुम्हारे सामने रक्खूँगा।

ऊपर के पैरे में मैंने लोकतन्त्र के बारे में 'बाक़ायदा' शब्द इस्तेमाल किया है। साम्यवादियों का कहना है कि वह असली लोकतन्त्र नहीं था; वह तो इस सचाई को छिपानेवाला सिर्फ़ लोकतन्त्री खोखा था कि एक वर्ग दूसरे वर्गों पर राज करता है। उनका कहना था कि लोकतन्त्र पूंजीपति वर्ग की तानाशाही का ग़िलाफ़ था। यह तो धन-तन्त्र, यानी मालदारों की हुकूमत था। जनता को दिया गया वोट का अधिकार, जिसकी ख़ूब डुग्गी पीटी गई थी, उन्हें चार या पाँच वर्षों में एक बार यह कहने की छूट देता है कि कोई एक व्यक्ति उनपर राज करे और उनका शोषण करे, या कोई दूसरा व्यक्ति। हर हालत में शासक-वर्ग जनता का शोषण करता है।

असली लोकतन्त्र तभी आ सकता है जब यह वर्ग-शासन व शोषण बन्द हो और सिर्फ़ एक वर्ग रह जाय। मगर इस तरह का समाजवादी राज्य बनाने के लिए कुछ समय तक सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ज़रूरी है, ताकि आबादी के तमाम पूंजीवादी और मध्यम-वर्गी तत्वों को दबाकर रक्खा जा सके और उन्हें मज़दूरों के राज्य के खिलाफ़ साज़िशें करने से रोका जा सके। रूस में इस तानाशाही का प्रयोग सोवियतें करती हैं, जिनमें तमाम मज़दूरों, किसानों और दूसरे 'क्रियाशील' तत्वों के प्रतिनिधि होते हैं। इस तरह यह ९० फ़ीसदी या ९५ फ़ीसदी लोगों की, बाक़ी के १० या ५ फ़ीसदी लोगों पर, तानाशाही हो जाती है। यह उनका मत है। असल में सोवियतों की बागडोर साम्यवादी दल के हाथों में रहती है, और इस दल की नकेल साम्यवादियों के शासक गुट्ट के हाथों में रहती है। और जहाँतक समाचारों पर पाबन्दी और विचार व कार्रवाई की आज़ादी का सवाल है, वहाँतक यह तानाशाही भी उतनी ही कठोर होती है जितनी कि कोई दूसरी। मगर चूंकि यह मज़दूरों की ख़ैरख़्वाही पर टिकी होती है, इसलिए इसे मज़दूरों को साथ लेकर चलना ज़रूरी होता है। और अन्त में जाकर किसी दूसरे वर्ग के हित के लिए मज़दूरों का या किसी वर्ग का शोषण नहीं होता। हक़ीक़त में कोई शोषक वर्ग ही नहीं रह जाता। अगर किसी तरह का शोषण होता है तो राज्य के ज़रिये, सबकी भलाई के लिए। याद रखने लायक़ बात है कि रूस में लोकतन्त्री ढंग की सरकार कभी रही ही नहीं। वह तो १९१७ ई० में निरंकुश राजाशाही से छलांग मारकर एकदम साम्यवाद में ही आ कूदा।

फ़ासीवादी नज़रिया इससे बिलकुल जुदा है। जैसाकि मैं अपने पिछले पत्र में तुम्हें बतला चुका हूँ, यह पता लगाना आसान नहीं है कि फ़ासीवादी उसूल क्या हैं; क्योंकि फ़ासीवादियों के कोई जमे हुए उसूल होते ही नहीं। लेकिन वे लोकतन्त्र के विरोधी हैं, इसमें कोई शक नहीं; और उनका विरोध साम्यवादियों की इस दलील पर नहीं है कि लोकतन्त्र असली चीज़ नहीं है, बल्कि धोखा है। फ़ासीवादी तो लोकतन्त्री विचारों के समूचे उसूल पर ही ऐतराज़ करते हैं; और वे अपने पूरे ज़ोर के साथ लोकतन्त्र को गालियाँ देते हैं। मुसोलिनी लोकतन्त्र को 'सड़ा हुआ मुर्दा' कहता है! फ़ासीवादी लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता से भी इतने ही चिढ़ते हैं; वे कहते हैं कि राज्य ही सबकुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती नहीं (साम्यवादी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं को कोई महत्व नहीं देते)। उन्नीसवीं सदी के लोकतन्त्री उदारवाद का ऋषि मेज़िनी अगर ज़िन्दा होता तो अपने देशवासी मुसोलिनी से क्या कहता?

सिर्फ़ साम्यवादी व फ़ासीवादी ही नहीं, बल्कि बहुत-से दूसरे लोग भी, जिन्होंने मौजूदा ज़माने की मुसीबतों पर ग़ौर किया है, इस पुराने विचार से नाख़ुश हो गये हैं कि वोट का हक़ दे देने का ही नाम लोकतन्त्र है। लोकतन्त्र का अर्थ है बराबरी, और लोकतन्त्र सिर्फ़ बराबरीवाले समाज में ही फूल-फल सकता है।

यह तो काफ़ी साफ़ है कि हरेक को वोट का हक़ दे देने से बराबरीवाला समाज नहीं बन जाता। बालिग़ मताधिकार वग़ैरा के बावजूद आज ज़बर्दस्त असमानता है। इसलिए लोकतन्त्र को मौक़ा देने के लिए पहले बराबरीवाला समाज बनाना ज़रूरी है। इस बहस के सबब से दूसरे अलग-अलग आदर्श और उपाय भी पैदा हो जाते हैं। मगर ये सब लोग इस बात को मानते हैं कि आजकल की पार्लमेण्टें बहुत ही ख़राब हैं।

अब हम फ़ासीवाद की ज़रा और गहराई में जायँगे और यह पता लगाने की कोशिश करेंगे कि वह है क्या। यह ख़ून-ख़राबी की बड़ाई करता है और शान्तिवाद से नफ़रत करता है। इतालवी विश्वकोष में मुसोलिनी ने लिखा है:

> "फ़ासीवाद सदा शान्ति की ज़रूरत या फ़ायदेमन्दी में विश्वास नहीं करता। इसलिए वह शान्तिवाद को ठुकराता है, क्योंकि इसमें संघर्ष से इन्कार और क़ुर्बानी के मौक़े पर लाज़िमी बुज़दिली के ऐब छिपे हुए हैं। युद्ध, और सिर्फ़ युद्ध ही ऐसी चीज़ है, जो इन्सानी शक्तियों को हद दर्जे के खिंचाव पर उठा देता है, और जिन क़ौमों में युद्ध क़बूल करने का साहस होता है उनपर अपने बड़प्पन की छाप लगा देता है। बाक़ी सब आज़माइशें नक़ली हैं; वे व्यक्ति के सामने मौत और ज़िन्दगी का सवाल नहीं रखतीं।"

फ़ासीवाद कट्टर राष्ट्रवादी है; साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। फ़ासीवाद तो सचमुच अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है। वह तो राज्य को देवता बना देता है, जिसकी वेदी पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और हक़ों की क़ुर्बानी ज़रूरी है। दूसरे सारे देश ग़ैर हैं और दुश्मन के बराबर हैं। यहूदियों को विदेशी तत्व मानकर सताया जाता है। कुछेक पूंजीवादी-विरोधी नारों और क्रान्तिकारी तरीक़ों के बावजूद, फ़ासीवाद जायदादवालों व प्रतिगामी तत्वों से मिला हुआ है।

फ़ासीवाद के ये कुछ पुराने पहलू हैं। अगर इसके पीछे कोई विचारधारा हो भी तो उसे समझना मुश्किल है। जैसाकि हम देख चुके हैं इसका जन्म तो सत्ता की सीधी-सादी ख़्वाहिश के साथ हुआ। लेकिन कामयाबी हासिल होने पर इसके गिर्द एक विचारधारा बनाने का यत्न किया गया। यह विचारधारा कितनी पेचीदा है कि इसकी कुछ जानकारी तुम्हें देने को और तुम्हें चक्कर में डालने को मैं एक नामी फ़ासीवादी विचारक की रचना का एक टुकड़ा यहाँ देता हूँ। इसका नाम जिओवानी जैन्टाइल है और यह फ़ासीवादी विचारधारा का माना हुआ शास्त्रकार है। यह सरकार का फ़ासीवादी मन्त्री भी रहा था। जैन्टाइल लिखता है कि लोगों को, लोकतन्त्री ढंग से, अपनी व्यक्तिगत ख़ासियत या ख़ुदी के ज़रिये ख़ुद की असलियत की तलाश नहीं करनी चाहिए, बल्कि फ़ासीवादी तरीक़ों से जगत् की आत्म-चेतना-

रूप पारमार्थिक अहम् की क्रियाओं के ज़रिये करनी चाहिए (इसका कुछ भी अर्थ हो, पर मेरी समझ से बाहर है)। इस तरह इस मत में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यक्ति की ख़ासियत के लिए कोई गुंजायश नहीं है; क्योंकि सच्ची असलियत और व्यक्ति की स्वतन्त्रता वह चीज़ है, जिसे वह अपने-आपको किसी दूसरी चीज़ में, यानी राज्य में, खोकर हासिल करता है।

> "कुटुम्ब, राज्य, आत्मा में विलीन होकर फिर बहाल हो जाने से मेरी व्यक्तिगत ख़ासियत दवती नहीं है वरन् ऊँची उठती है, मज़बूत होती है और व्यापक होती है।" जैन्ताइल आगे लिखता है:
>
> "जहाँतक कोई ताक़त इच्छा को ढालने की हैसियत रखती है वहाँतक वह ताक़त नैतिक है, फिर वह उपदेश या लाठी किसी भी दलील को काम में ले।"

बस, इससे हम समझ सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार भारत में जब कभी लाठियाँ चलाती है, तो वह कितनी नैतिक ताक़त ख़र्च कर देती है!

ये सब किसी बात को उसके होने के बाद वाजिब साबित करने के या उसकी सफ़ाई देने के प्रयत्न हैं। यह भी कहा जाता है कि फ़ासीवाद का उद्देश्य 'सामूहिक राज्य' है, जिसमें, मेरे ख़याल से हर व्यक्ति सबके समान हित के लिए सबके साथ मिल-जुलकर ज़ोर लगाता है। पर ऐसा राज्य न तो अभी तक इटली में हुआ है, न किसी दूसरे देश में। इटली में पूँजीवादी बहुत-कुछ इसी तरह अपना काम कर रहा है, जिस तरह दूसरे पूँजीवादी देशों में, हालांकि यहाँ कुछ पाबन्दियाँ लगा दी गई हैं।

ज्यों-ज्यों फ़ासीवाद दूसरे देशों में फैलता जा रहा है, त्यों-त्यों यह ज़ाहिर होता जा रहा है कि फ़ासीवाद ऐसी घटना नहीं है, जो इटली में ही हुई हो, बल्कि वह तो ऐसी चीज़ है, जो किसी भी देश में, ख़ास तरह की समाजी तथा आर्थिक, हालतें पैदा होने पर सामने आ जाती है। जब कभी मज़दूर-वर्ग ताक़तवर हो जाता है और पूँजीवादी राज्य के लिए सचमुच ख़तरा बन जाता है, तब पूँजीवादी राज्य क़ुदरती तौर पर अपनेको बचाने की कोशिश करता है। आमतौर पर मज़दूर-वर्ग की तरफ़ से यह ख़तरा भयंकर आर्थिक संकट के मौक़ों पर ही पैदा होता है। जब मालिक-वर्ग और शासक-वर्ग पुलिस व सेना का इस्तेमाल करके साधारण लोकतन्त्री उपायों से मज़दूरों को नहीं दबा पाता, तब वह फ़ासीवादी उपाय का आसरा लेता है। वह उपाय यह है कि मिल्कियतवाले पूँजीपति-वर्ग की हिफ़ाज़त के ख़ातिर एक आम जन-आन्दोलन खड़ा कर दिया जाता है, जिसमें जन-समूह के दिल को छूनेवाले कुछ नारे रख दिये जाते हैं। इस आन्दोलन की रीढ़ निचला मध्यम-वर्ग होता है, क्योंकि इसके ज़्यादातर लोग बेकारी की मुसीबत में फँसे हुए होते हैं।

और नारों से व अपनी हालत सुधारने की आशाओं से खिचकर राजनीतिक लिहाज़ से पिछड़े हुए और बिखरे हुए बहुत-से मज़दूर और किसान भी इसमें आ मिलते हैं। इस तरह के आन्दोलन को मध्यम-वर्ग पैसे की सहायता देते हैं, क्योंकि वे इससे लाभ उठाने की आशा रखते हैं। और हालाँकि यह खून-खराबी को अपना धर्म व रोज़ का धन्धा बना लेता है, पर देश की पूंजीवादी सरकार बहुत हदतक जान-बूझकर इसको चलने देती है, क्योंकि यह दोनों के एक-से दुश्मन समाजवादी मज़दूर-वर्ग से लड़ता है। यह फ़ासीवादी आन्दोलन एक दल के रूप में और देश का शासक बन जाने पर तो और भी ज़ोर से, मज़दूर-संगठनों को नष्ट कर देता है, और तमाम विरोधियों पर अपना आतंक जमा देता है।

फ़ासीवाद का उदय तब होता है जब बढ़ते हुए समाजवाद और मोर्चा-बन्द पूंजीवाद के बीच वर्ग-संघर्ष तीखे व नाज़ुक हो जाते हैं। यह समाजी युद्ध किसी ग़लतफ़हमी से नहीं होता, बल्कि हमारे आज के समाज में छिपे हुए संघर्षों और तरह-तरह के स्वार्थों को ज्यादा अच्छी तरह समझने के कारण होता है। इन संघर्षों को उनकी तरफ़ आँखें मूँदकर नहीं सुलझाया जा सकता। और, मौजूदा ढाँचे की वजह से दुःख उठानेवाले लोग तरह-तरह के इन स्वार्थों को ज्यों-ज्यों ज्यादा समझते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी नाराज़ी बढ़ती जाती है क्योंकि उन्हें लगता है कि उनका वाजिब हिस्सा उनसे छीना जा रहा है। मिल्कियतवाले-वर्ग अपने हाथ की चीज़ों को छोड़ना नहीं चाहता, इसलिए संघर्ष और भी तेज़ हो जाता है। जबतक पूंजीवाद लोकतन्त्री संस्थाओं की कल का इस्तेमाल सत्ता में बने रहने के लिए और मज़दूर-वर्ग को दबाने के लिए कर सकता है, तबतक वह लोकतन्त्र को भी फूलने-फलने देता है। पर जब यह मुमकिन नहीं रहता, तो पूंजीवाद लोकतन्त्र को धता बताता है और खून-खराबी व आतंक के खुले फ़ासीवादी उपायों का सहारा लेता है।

मेरा ख़याल है कि रूस के अलावा यूरोप के दूसरे सब देशों में फ़ासीवाद किसी-न-किसी हद तक मौजूद है। जर्मनी में उसने सबसे ताज़ा कामयाबी हासिल की है। इंगलैण्ड तक में भी शासक-वर्गों में फ़ासीवादी विचार घर कर रहे हैं, और भारत में तो हम इनका अमल अक्सर देखते ही रहते हैं। आज संसार के अखाड़े में साम्यवाद के मुक़ाबले में पूंजीवाद का आखिरी सहारा फ़ासीवाद खड़ा हुआ है।

फ़ासीवाद के दूसरे पहलू कुछ भी हों, यह संसार को सतानेवाली आर्थिक मुसीबतों का कोई हल पेश नहीं करता। अपने राष्ट्रवाद के सबब से यह आपसी निर्भरता की संसार-व्यापी तासीर के ख़िलाफ़ जाता है, पूंजीवाद के पतन से पैदा हुई समस्याओं को और भी विकट बनाता है, और राष्ट्रीय कशमकश बढ़ाता है, जिसका नतीजा अक्सर युद्ध होता है।

: १७७ :

चीन में क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

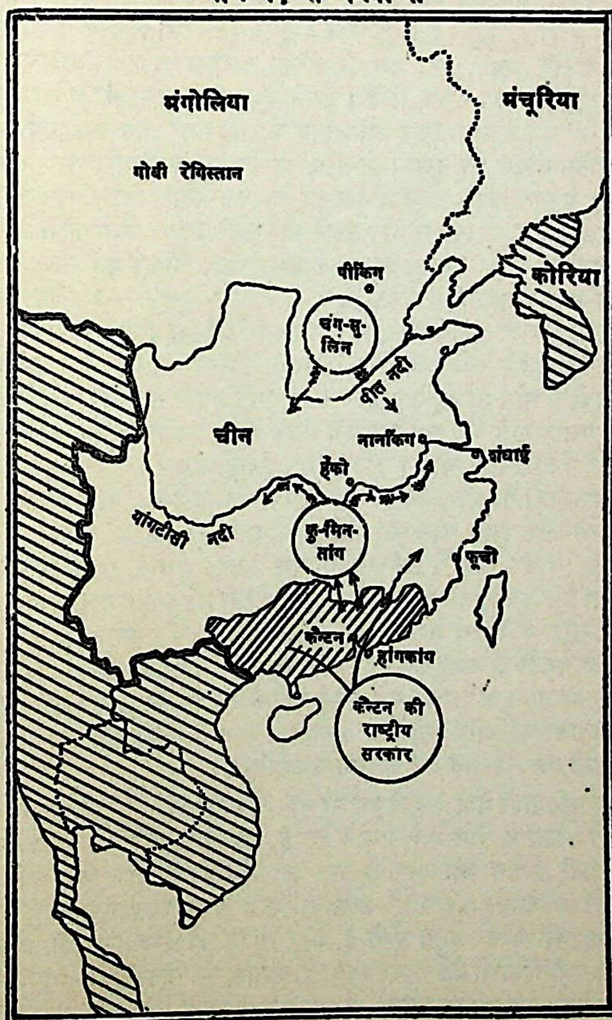
२६ जून, १९३३

अब हम बेक़रारियों से भरे यूरोप से विदा लेते हैं और इससे भी ज्यादा गड़बड़ियोंवाले दूसरे प्रदेश—दूर-पूर्व—चीन और जापान चलते हैं। चीन के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने इस कम-उम्र गणराज्य की बहुत-सी कठिनाइयों का ज़िक्र किया था, जिसकी क़लम संसार की सबसे प्राचीन और जानदार संस्कृति पर लगी थी। यह देश छिन्न-भिन्न होता दिखाई दे रहा था और यहाँ बिना उसूलवाले लड़ाकू सरदार, तूशन और महा-तूशन ज़ोर पकड़ रहे थे। इन्हें वे साम्राज्यशाही शक्तियाँ बढ़ावा और मदद देती रहती थीं, जिनका स्वार्थ इसीमें था कि चीन कमज़ोर बना रहे और उसमें अन्दरूनी फूट बनी रहे। इन तूशनों के कोई उसूल नहीं थे; हरेक अपने-अपने व्यक्तिगत हौसले पूरे करने पर तुला हुआ था और लगातार चलनेवाले छोटे-छोटे गृहयुद्धों में ये लोग अक्सर कभी एक तरफ़ हो जाते थे, कभी दूसरी तरफ़। साथ ही ये अपना और अपनी सेनाओं का ख़र्च बेचारे दुखी किसान-वर्ग से वसूल करते थे। चीन के महान् नेता डॉ॰ सन-यात-सेन की दक्षिण में कैण्टन में जमाई हुई राष्ट्रीय सरकार का हाल भी मैं लिख चुका हूँ। इसने ज़िन्दगी-भर चीन की आज़ादी के लिए काम किया था।

सारे देश पर विदेशी साम्राज्यशाही शक्तियों के आर्थिक स्वार्थ छाये हुए थे, जो शांघाई, हांगकांग, वग़ैरा बड़े-बड़े बन्दरगाहों में जमी बैठी थीं, और चीन के सारे विदेशी व्यापार पर क़ब्ज़ा किये हुए थीं। डॉ॰ सन ने बिलकुल सच कहा था कि आर्थिक निगाह से चीन इन साम्राज्यशाही शक्तियों का उपनिवेश है। एक ही मालिक होना काफ़ी बुरा होता है, कई मालिकों का होना तो कभी-कभी और भी बुरा होता है। डॉ॰ सन ने अपने देश के उद्योगों के विकास के लिए और अपने देश की हालत सुधारने के लिए विदेशियों की सहायता लेने का यत्न किया। उसे अमेरिका व इंग्लैण्ड से ख़ासतौर पर सहायता की आशा थी, पर उसकी सहायता के लिए न तो ये दोनों सामने आये, न दूसरी कोई साम्राज्यशाही शक्ति। इन सबका स्वार्थ तो चीन के शोषण में था, उसकी भलाई या मज़बूती में नहीं। तब १९२४ ई॰ में डॉ॰ सन ने सोवियत रूस की तरफ़ निगाह डाली।

चीन के विद्यार्थियों और दिमाग़ी वर्गों में साम्यवाद छिपे-छिपे और तेज़ी के साथ ज़ोर पकड़ रहा था। १९२० ई॰ में यहाँ साम्यवादी दल क़ायम किया गया था, और वह गुप्त समिति की तरह काम करता था, क्योंकि बदलती हुई सरकार उसे खुल्लम-खुल्ला काम नहीं करने देती थीं। डॉ॰ सन तो साम्यवाद से कोसों

चीन की राज्यक्रान्ति


मंगोलिया
मंचूरिया
गोबी रेगिस्तान
पीकिंग
कोरिया
चंग-सु-लिन
नदी
चीन
नानकिंग
शंघाई
हैंको
यांगटीसी नदी
कु-मिन-तांग
फूचो
कैन्टन
हांगकांग
कैन्टन की राष्ट्रीय सरकार

दूर था; वह तो मुलायम समाजवादी था, जैसाकि उसकी पुस्तक 'जनता के तीन सिद्धान्त'[1] से ज़ाहिर होता है। पर चीन व दूसरे पूर्वी देशों के बारे में सोवियत रूस के उदार व खरे व्यवहार का उस पर अच्छा असर पड़ा और उसने रूस के साथ दोस्ताना ताल्लुक़ क़ायम कर लिये। उसने कुछ रूसी सलाहकारों को अपने यहाँ रक्खा। इनमें एक बहुत क़ाबिल बोलशेविक बोरोदिन को लोग सबसे ज्यादा जानते हैं। बोरोदिन कैण्टन की कुओ-मिन-तांङ को मज़बूत करनेवाला स्तम्भ बन गया, और उसने मेहनत करके राष्ट्रीय दल को एक बड़ा ताक़तवर संगठन बना दिया, जिसके पीछे जनता का सहारा था। उसने कोरे रूसी ढंग पर काम करने की कोशिश नहीं की। उसने दल का राष्ट्रीय आधार क़ायम रक्खा; लेकिन अब साम्यवादियों को कुओ-मिन-तांङ के सदस्यों में भरती किया जाने लगा। इस तरह राष्ट्रीय कुओ-मिन-तांङ और साम्यवादी दल के बीच एक क़िस्म का ग़ैर-रस्मी गठबन्धन हो गया। कुओ-मिन-तांङ के बहुत-से रूढ़िवादी और मालदार सदस्यों को, ख़ासकर ज़मींदारों को, साम्यवादियों के साथ का यह मेल-जोल अच्छा नहीं लगा। उधर साम्यवादियों को भी यह चीज़ पसन्द नहीं थी, क्योंकि इसके सबब से उन्हें अपना कार्यक्रम ठण्डा करना पड़ा और ऐसे बहुत-से कामों को छोड़ना पड़ा, जिन्हें वरना वे करते। यह गठ-बन्धन बहुत टिकाऊ नहीं था और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, नाज़ुक घड़ी आने पर वह टूट गया और इससे चीन पर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। दो या ज़्यादा वर्गों को, जिनके स्वार्थ आपस में टकराते हों, एक जमात में बाँधे रखना हमेशा कठिन हुआ करता है। पर जितने दिन यह गठ-बन्धन रहा उतने दिन ख़ूब फूला-फला और कुओ-मिन-तांङ व कैण्टन सरकार की ताक़त बढ़ती गई। काश्तकारों के संगठनों को और कामगरों के मज़दूर-संघों को भी बढ़ने में सहायता दी गई और ये तेज़ी के साथ फैलने लगे। जनता का यह समर्थन ही कैण्टन की कुओ-मिन-तांङ को असली ताक़त देनेवाला था, और इसीने ही ज़मींदारों के नेताओं को डरा दिया और आगे चलकर उन्हें दल को तोड़ देने के लिए उकसाया।

कई बुनियादी भेदों के होते हुए भी चीन व भारत की हालतें बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। असल में चीन खेती-प्रधान देश है, जिसमें किसानों की बहुत बड़ी संख्या है। पूंजीवादी उद्योग ज़्यादातर छै-सात शहरों में ही हैं और विदेशियों के क़ब्ज़े में हैं। करोड़ों किसान व असामी काश्तकार क़र्ज़ के ज़बर्दस्त बोझ के नीचे पिसे जा रहे हैं। लगानों की दर बहुत ऊँची है, और भारत की तरह यहाँ भी किसानों को मजबूरी से महीनों ठाली बैठे रहना पड़ता है, क्योंकि उन दिनों खेतों में कोई काम नहीं होता। इसलिए इस फ़ालतू समय का उपयोग करने के लिए और आमदनी बढ़ाने के लिए उन्हें घरेलू उद्योगों की ज़रूरत है। वास्तव में ऐसे कई उद्योग चालू भी हो

[1] Thnee Principles of the People.

गये हैं। यहाँ बड़ी-बड़ी जागीरें बहुत कम हैं। अगर ऐसी कोई जागीर बन भी जाती है तो बहुत जल्दी वारिसों में बँट जाती है। किसानों की लगभग आधी संख्या के लोग अपने-अपने खेतों के मालिक हैं, बाक़ी आधे लोग ज़मींदारों के खेतों पर काम करते हैं। इसलिए चीन बेशुमार छोटे-छोटे खेतों का देश हो गया है। सैकड़ों वर्षों से चीनी किसानों की यह ख्याति है कि वे धरती का सारा सार निकाल लेते हैं। उनके पास धरती के इतने छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं कि उन्हें मजबूरन् ऐसा करना पड़ता है। और इसीलिए वे अद्भुत सूझ-बूझ से काम लेते हैं, और ज़बर्दस्त मेहनत से काम करते हैं। उनके पास मेहनत बचानेवाले वे औज़ार नहीं थे, जो आजकल खेती-बाड़ी को मुहैय्या हैं, इसलिए इतनी फ़सल के वास्ते उन्हें ऐसी कठिन मेहनत की ज़रूरत होती है जैसी कि उन्हें करने की ज़रूरत नहीं है।

पर इस सारी सूझ-बूझ और कड़ी मेहनत के बावजूद उनमें से क़रीब आधे लोग अपना ख़र्च नहीं चला सकते थे, और वे अपनी थोड़ी-सी, और बढ़ने से रुकी हुई ज़िन्दगी, आधे पेट खाकर गुज़ार देते थे। भारत के बेशुमार किसानों का भी यही हाल है। चीनी किसान मुफ़लिसी की हालत में रहते थे, और अकाल व बाढ़ के रूप में आनेवाली आफ़तें लाखों का सफ़ाया कर देती थीं। बोरोदिन के सुझाव पर डॉ० सन की सरकार ने किसानों व मज़दूरों को राहत पहुँचानेवाले फ़रमान निकाले। धरती का लगान एक-चौथाई कम कर दिया गया, मज़दूरों के लिए दिन-भर में काम करने के आठ घण्टे और कम-से-कम मजूरी तय कर दिये गए और किसानों के संघ क़ायम किये गए। यह लाज़िमी ही था कि जनता ने इन सुधारों का स्वागत किया और उनके दिल जोश से भर गये। वे धड़ाधड़ नये संघों में शामिल होने लगे और कैण्टन सरकार का समर्थन करने लगे।

इस तरह कैण्टन सरकार ने अपनी हैसियत मज़बूत बना ली और वह उत्तर के तूशनों से लोहा लेने की तैयारी करने लगी। एक फ़ौजी अकादमी खोली गई और फ़ौज तैयार की गई। सिर्फ़ कैण्टन में ही नहीं बल्कि सारे चीन में, और कुछ हद तक सारे पूर्व में, एक दिलचस्प नई बात यह पैदा हो गई कि मज़हबी सत्ता की जगह धीरे-धीरे ग़ैर-मज़हबी सत्ता ने ले ली। इस शब्द के सीमित अर्थ में तो चीन कभी मज़हबी देश रहा ही नहीं। पर अब वह भी और ज्यादा ग़ैर-मज़हबी बन गया। पहले शिक्षा मज़हबी हुआ करती थी, पर अब वह भी ग़ैर-मज़हबी बना दी गई। कितने ही पुराने मन्दिरों का जिस तरह उपयोग किया गया, उससे इस सिलसिले की सबसे ज्यादा खुली मिसालें मिलती हैं। कैण्टन के एक मशहूर प्राचीन मन्दिर का आजकल पुलिस-ट्रेनिंग भवन की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। एक और जगह मन्दिरों को तोड़कर सब्ज़ी-मण्डियाँ बना दी गई हैं।

डॉ० सन-यात-सेन की मौत मार्च, १९२० ई० में हो गई, पर बोरोदिन

की सलाह पर चलती हुई कैण्टन सरकार अपनी ताक़त बढ़ाती चली गई। कुछ ही दिन बाद कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं, जिन्होंने चीनी जनता के दिलों में विदेशी साम्राज्य-वादियों के खिलाफ़ और खासकर अंग्रेज़ों के खिलाफ़ गुस्सा भर दिया। शांघाई की कपड़ा-मिलों में हड़तालें हुईं और मई, १९२५ ई० में एक प्रदर्शन में एक मज़दूर मारा गया। उसकी याद में एक बड़ी सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया, और विद्यार्थियों व मज़दूरों ने इस मौक़े को साम्राज्यशाही-विरोधी प्रदर्शन बना लिया। एक अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने अपने मातहत सिख सिपाहियों की भीड़ पर गोली चलाने की आज्ञा दी। आज्ञा यह थी कि "मारने के लिए गोली चलाओ", और कई विद्यार्थी मारे गये। इसपर सारे चीन में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ गुस्से की आग भड़क उठी, और इसके बाद की एक घटना ने तो मामला और भी बिगाड़ दिया। यह घटना, जून, १९२५ ई० में कैण्टन के विदेशी इलाक़े में (जो शमीन इलाक़ा कहलाता था) हुई, जहाँ चीनियों की एक भीड़ पर, जिसमें विद्यार्थियों की ज़्यादा तादाद थी, मशीनगनों से गोलियाँ बरसाई गईं, जिसमें बावन आदमी मारे गये और बहुत-से घायल हुए। यह घटना 'शमीन का हत्याकाण्ड' कहलाती है, और इसके लिए खासतौर पर अंग्रेज़ों को ज़िम्मेदार ठहराया गया था। कैण्टन में ब्रिटिश माल का राजनीतिक बायकाट कर दिया गया और हांगकांग का व्यापार कई महीनों तक बन्द पड़ा रहा, जिससे अंग्रेज़ी कम्पनियों की और ब्रिटिश सरकार की भारी हानि हुई। शायद तुम जानती हो कि हांगकांग दक्षिण चीन में अंग्रेज़ों का इलाक़ा है। यह कैण्टन के बहुत नज़दीक है, और यह व्यापार की बड़ी भारी मण्डी है।

डॉ० सन की मौत के बाद कैण्टन सरकार के अनुदार दक्षिण-पक्ष और प्रगतिशील वाम-पक्ष के बीच निरन्तर खींचतान चलने लगी। कभी एक पक्ष के हाथ में सत्ता आ जाती तो कभी दूसरे पक्ष के हाथ में। १९२६ ई० के बीच के लगभग, दक्षिण-पक्षी चांग-काई-शेक प्रधान सेनापति बन गया, और इसने साम्यवादियों को निकालना शुरू कर दिया। लेकिन फिर भी दोनों दल कुछ हद तक साथ-साथ काम करते रहे, हालांकि दोनों एक-दूसरे पर भरोसा नहीं करते थे। इसके बाद तूशनों से लड़ने के लिए और उन्हें निकाल बाहर करने के लिए सारे देश में एक ही राष्ट्रीय सरकार क़ायम करने के वास्ते कैण्टन की सेना ने उत्तर की तरफ़ कूच किया। उत्तर का यह कूच एक निराली चीज़ थी, और सारी दुनिया का ध्यान बहुत जल्दी इसकी तरफ़ खिंच गया। असली लड़ाई ज़रा भी नहीं हुई और दक्षिण की सेना विजय-पर-विजय हासिल करती हुई तेज़ी के साथ आगे बढ़ती गई। उत्तर चीन में फूट तो थी, पर दक्षिणवालों की असली ताक़त किसानों व मज़दूरों में उनकी लोकप्रियता के कारण थी। प्रचारकों और आन्दोलनकारियों की छोटी-सी टुकड़ी सेना के आगे-आगे चलती थी, जो किसानों व मज़दूरों के संघ क़ायम करती जाती थी और उन्हें

समझाती थी कि कैण्टन सरकार के राज में उन्हें क्या-क्या फ़ायदे मिलनेवाले हैं। इसलिए शहर-शहर और गाँव-गाँव में इन आगे बढ़नेवाली सेनाओं का स्वागत होता था और उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती थी। कैण्टन की सेनाओं के खिलाफ़ जो सिपाही भेजे जाते थे, वे लड़ते ही नहीं थे, और अक्सर सारे सामान के साथ उन्हीं में जा मिलते थे। १९२६ ई० के खत्म होते-होते राष्ट्रवादियों ने आधे चीन को पार कर लिया था और यांङ्त्सी नदी पर हैन्काउ के बड़े शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया था। वे अपनी राजधानी को कैण्टन से उठाकर हैन्काउ में ले आये और इसका नाम बदलकर वूहान रख दिया। उत्तर के लड़ाकू सरदारों को हरा दिया गया और खदेड़ दिया गया। साम्राज्यशाही शक्तियों को जब अचानक यह मान हुआ कि एक नया और सरगर्म राष्ट्रीय चीन उनके सामने खड़ा हुआ बराबरी का दावा कर रहा है और उनकी धमकियों में नहीं आ रहा है, तो वे बुरी तरह खीझ उठीं।

१९२७ ई० के शुरू में जब राष्ट्रवादियों ने हैन्काउ में अंग्रेज़ी रियायती इलाक़े पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की तो चीनियों और अंग्रज़ों के बीच झगड़ा पैदा हो गया। मामूली हालत में चीनियों के ऐसे हमलावर रवैय्ये से युद्ध छिड़ गया होता, और ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कुचल डाला होता और उन्हें डरा-धमकाकर उनसे हर्जाने और ज्यादा रियायतें वसूल कर ली होतीं। हम देख ही चुके हैं कि १८४० ई० के 'अफ़ीम-युद्ध' के समय से लगभग सौ वर्षों तक सदा यही दस्तूर रहा था। लेकिन अब ज़माना बदल गया था और नया चीन उनके मुक़ाबले में खड़ा था। बस, ब्रिटिश नीति में भी फ़ौरन ही, और चीन के इतिहास में पहली बार परिवर्तन पैदा हो गया, और चीन की तरफ़ उसका रुख़ मुलायम पड़ गया। हैन्काउ के रियायती इलाक़े का मामला एक मामूली-सी चीज़ था और आसानी से तय हो सकता था। मगर हैन्काउ के नज़दीक, और राष्ट्रवादियों की चढ़ाई के रास्ते में, शांघाई का बड़ा बन्दरगाह पड़ता था जो चीन में सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा मालदार विदेशी रियायती इलाक़ा था। शांघाई की क़िस्मत के साथ विदेशियों के ज़बर्दस्त निहित स्वार्थ जुड़े हुए थे। खुद शांघाई शहर, या यों कहो कि रियायती इलाक़ा, विदेशियों के क़ब्ज़े में था, और चीनी सरकार के अधिकार से क़रीब-क़रीब बाहर था। इसलिए जब राष्ट्रवादी सेनाएँ शांघाई के नज़दीक आ पहुँची तो वहाँ के इन विदेशियों और उनकी सरकारों में बहुत चिन्ता पैदा हो गई, और उनके जंगी जहाज़ व सैनिक तुरन्त इस बन्दरगाह पर पहुँच गये। ब्रिटिश सरकार ने तो जनवरी, १९२७ ई० के शुरू में हमला करनेवाली एक बड़ी फ़ौज खासतौर पर शांघाई भेजी, जिसमें कुछ भारतीय सिपाही भी थे। राष्ट्रवादी सरकार ने हैन्काउ या वूहान में अड्डा जमा लिया था। उसके सामने एक कठिन समस्या पैदा हो गई—आगे बढ़ा जाय या नहीं, और शांघाई पर क़ब्ज़ा किया जाय या नहीं। अभी तक की आसान

सफलताओं से उनके हौसले बढ़ गये थे और उनके दिल जोश से भर गये थे, और शांघाई बड़ा ललचानेवाला माल था। दूसरी ओर हालत यह थी कि अभी तक वे पाँच सौ मील से ऊपर प्रदेश पर सिर्फ़ कूच-दर-कूच करते आ रहे थे और वहाँ अपनी हैसियत मज़बूत नहीं बना पाये थे। यह मुमकिन था कि शांघाई पर हमला करने से वे विदेशी शक्तियों से भिड़कर कठिनाइयों में फँस जायँ और अबतक उन्होंने जो हासिल किया था, वह ख़तरे में पड़ जाय। बोरोदिन ने सावधानी बरतने की और हालत मज़बूत बनाने की सलाह दी। उसकी राय थी कि राष्ट्रवादियों को शांघाई पर हाथ नहीं डालना चाहिए और चीन का जो दक्षिणी आधा हिस्सा उनके क़ब्ज़े में आ चुका था, उसमें अपनी हैसियत मज़बूत कर लेनी चाहिए और उत्तर में प्रचार के ज़रिये ज़मीन तैयार करनी चाहिए। उसे आशा थी कि बहुत जल्द, साल-डेढ़-साल में ही, समूचा चीन राष्ट्रवादियों की चढ़ाई का स्वागत करने को तैयार हो जायगा। शांघाई पर क़ब्ज़ा करने का, पेकिंग पर चढ़ाई करने का और साम्राज्यशाही शक्तियों का मुक़ाबला करने का ठीक समय तभी आयेगा। क्रान्तिकारी बोरोदिन ने यह सावधानीभरी सलाह इस कारण दी थी कि उसे मौक़े पर असर डालनेवाले कई तरह के कारणों को आँकने का अनुभव था। मगर कुओ-मिन-तांङ के दक्षिण-पक्षी नेताओं ने, और खासकर उसके प्रधान सेनापति चांग-काई-शेक ने, शांघाई पर चढ़ाई करने की हठ की। शांघाई को लेने की इस इच्छा का असली कारण बाद में ज़ाहिर हुआ तब कुओ-मिन-तांङ के दो टुकड़े हो गये। काश्तकारों और मज़दूरों के संघों की बढ़ती हुई ताक़त इन दक्षिण-पक्षी नेताओं को अच्छी नहीं लगती थी। बहुत-से सेनापति खुद ज़मींदार थे। इसलिए उन्होंने दल के दो टुकड़े हो जाने और राष्ट्रवादी हित कमज़ोर पड़ जाने की परवाह न करके इन संघों को कुचल डालने का फ़ैसला किया। शांघाई बड़े-बड़े चीनी मध्यम-वर्गों का खास केन्द्र था; और इन दक्षिण-पक्षी सेनापतियों को यक़ीन था कि दल के प्रगतिशील तत्वों से और ख़ासकर साम्यवादियों से लड़ने के लिए उन्हें इन मध्यम-वर्गों से धन की व दूसरे क़िस्म की मदद मिल जायगी। वे जानते थे कि इस क़िस्म की लड़ाई में वे शांघाई के विदेशी बौहरों और उद्योगपतियों की मदद पर भी भरोसा कर सकते थे।

बस, उन्होंने शांघाई पर चढ़ाई कर दी और २२ मार्च, १९२७ ई० को शहर का चीनी भाग उनके हाथ में आ गया; विदेशी रियायती इलाक़ों पर उन्होंने हमला नहीं किया। शांघाई का यह पतन भी ज्यादा लड़ाई लड़े बिना ही हो गया। मुक़ाबला करनेवाले सिपाही राष्ट्रवादियों की तरफ़ जा मिले, और राष्ट्रवादियों का समर्थन करने के लिए शहर के मज़दूरों ने जो आम हड़ताल की, उससे शांघाई की मौजूदा सरकार का पतन पूरा हो गया। दो दिन बाद नानकिंग के बड़े नगर पर भी राष्ट्रवादियों ने क़ब्ज़ा कर लिया। और तब कुओ-मिन-तांङ के वाम-पक्ष और

दक्षिण-पक्ष के बीच वह फूट पैदा हुई, जिससे राष्ट्रवादियों की शानदार सफलता धूल में मिल गई और चीन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। क्रान्ति का अन्त हो गया, और अब उलट-क्रान्ति शुरू हो गई।

चांग-काई-शेक ने हैन्काउ सरकार के कितने ही सदस्यों की मर्ज़ी के खिलाफ़ शांघाई पर चढ़ाई की थी। अब दोनों दल एक-दूसरे के खिलाफ़ साज़िशें करने लगे। हैन्काउवालों ने सेना में चांग के असर की जड़ खोदने की और इस तरह उससे पिण्ड छुड़ाने की कोशिशें कीं; उधर चांग ने नानकिंग में मुक़ाबले की दूसरी सरकार क़ायम कर ली। ये सब घटनाएँ शांघाई पर क़ब्ज़ा होने के कुछ ही दिनों के भीतर हो गईं। हैन्काउ की अपनी ही सरकार से बग़ावत करके चांग ने अब साम्यवादियों, वाम-पक्षियों और मज़दूर-संघों के कार्यकर्त्ताओं के खिलाफ़ जंग छेड़ दिया। जिन कार्यकर्त्ताओं की बदौलत उसने शांघाई को आसानी से जीत लिया था, और उन्होंने वहाँ उसका बड़ी खुशी के साथ स्वागत किया था, उन्हींको अब उसने बीन-बीनकर कुचल डाला। बहुत-से लोगों को गोलियों से भून दिया गया, बहुतों के सिर उड़ा दिये गये, हज़ारों को गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। शांघाई में राष्ट्रवादी जिस आज़ादी को लाये थे, उसीको उन्होंने बहुत जल्दी खूनी आतंक में बदल दिया।

१९२७ ई० के अप्रैल महीने के इन्हीं दिनों में पेकिंग के सोवियत राजदूतावास पर और शांघाई के सोवियत व्यापार दूतावास पर एक साथ छापे मारे गये। यह साफ़ दिखाई दे रहा था कि चांग-काई-शेक उत्तर के लड़ाकू सरदार चांग-सो-लिन से मिलकर कारंवाई कर रहा था, हालाँकि वैसे चांग-सो-लिन के साथ उसकी लड़ाई समझी जाती थी। पेकिंग में भी और शांघाई में भी साम्यवादियों और प्रगतिशील कार्यकर्त्ताओं का 'सफ़ाया' किया गया। साम्राज्यशाही शक्तियों को तो इस नई घटना से खुशी होती ही, क्योंकि इससे चीनी राष्ट्रवादियों का दल तहस-नहस और कमज़ोर हो गया। चांग-काई-शेक ने शांघाई में विदेशी शक्तियों के प्रतिनिधियों से सहयोग करना चाहा। तुम्हें याद होगा कि इसी समय के लगभग, मई, १९२७ ई० में, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में सोवियत के आर्कोस भवन पर छापा मारा था और फिर रूस से ताल्लुक़ तोड़ दिया था।

इस तरह, एक दो महीने के भीतर चीन की सारी तसवीर ही बदल गई। जो कुओ-मिन-तांङ चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधि माना जानेवाला संगठित और विजयी दल था और सफलता की उमंग में विदेशी शक्तियों के मुक़ाबले में खड़ा था, वही अब टूटकर आपस में युद्ध करनेवाले गिरोहों में बँट गया था। और जो मज़दूर और किसान उसकी जान और ताक़त बने हुए थे, उन्हींको अब सताया गया और ढूंढ़-ढूंढ़कर पकड़ लिया गया। शांघाई के विदेशी स्वार्थों ने फिर सुख

की साँस ली, और नवाज़िश के साथ एक गिरोह के ख़िलाफ़ दूसरे को मदद दी। मज़दूरों को चारा डालकर फँसाने और तंग करने के मज़ेदार और फ़ायदेमन्द खिलवाड़ के लिए यह मदद ख़ासतौर पर दी गई। शांघाई के कारख़ानों के इन मज़दूरों का (वास्तव में चीन-भर के मज़दूरों का) कारख़ानेदार ज़बर्दस्त शोषण करते थे और इनकी ज़िन्दगी के दस्तूर और रहन-सहन की हालतें बहुत ही नीचे दर्जे की थीं। मज़दूर-संघ-आन्दोलन से इनकी ताक़त बढ़ गई थी और इसके कारण कारख़ानेदारों को मजबूर होकर इन्हें ऊंची मजूरी देनी पड़ी थीं। इसलिए यूरोपीय, जापानी या चीनी कारख़ानेदार मज़दूर-संघों को पसन्द नहीं करते थे।

चीन में घटनाओं ने जो पलटा खाया, उसके कारण रूस में बोरोदिन की कड़ी आलोचना हुई और जुलाई, १९२७ ई० में वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैन्काउ में कुओ-मिन-तांङ का वाम-पक्ष तहस-नहस हो गया। अब नानकिंग-सरकार का कुओ-मिन-तांङ पर पूरा क़ब्ज़ा हो गया, और ख़ासतौर पर साम्यवादियों के ख़िलाफ़ और तमाम वाम-पक्षियों और मज़दूर-नेताओं के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रही। इस मौक़े पर जो लोग चीन से चले गये या निकाल दिये गये उनमें महान् नेता सन-यात-सेन की बुज़ुर्ग विधवा श्रीमती सन-यात-सेन भी थीं। इसने बड़े दुःख के साथ कहा था कि जंगख़ोरों व दूसरे लोगों ने चीन की आज़ादी की ख़ातिर किये गए उसके पति के महान् काम की पीठ में छुरा भोंक दिया। तुर्रा यह है कि ये जंगख़ोर डॉ० सन के तीन मशहूर उसूलों की दुहाई देते रहते थे। ये उसूल थे—राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजी न्याय।

चीन एक बार फिर आपस में लड़नेवाले लड़ाकू सरदारों व सेनापतियों का गोरखधन्धा बन गया। कैण्टन ने नानकिंग सरकार से रिश्ता तोड़ दिया और दक्षिण में अपनी अलग सरकार क़ायम कर ली। १९२८ ई० में पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथों में आ गया। इसका नाम बदलकर पीपिंग कर दिया गया, जिसका अर्थ है, 'उत्तरी शान्ति'। पेकिंग का अर्थ था 'उत्तरी राजधानी' पर अब यह राजधानी नहीं रह गया था।

पेकिंग, जिसे अब हम पीपिंग कहेंगे, के पतन के बावजूद देश के जुदा-जुदा हिस्सों में घरेलू युद्ध चलता रहा। कैण्टन ने तो अपनी अलग सरकार बना ली थी, लेकिन उत्तर में भी कितने ही लड़ाकू सरदारों ने बहुत-कुछ अपनी मनमानी मचा रक्खी थी। ये लोग एक-दूसरे से ख़ानगी लड़ाइयाँ लड़ते रहते थे और कभी-कभी कुछ दिनों के लिए आपस में सुलह भी कर लेते थे। कहने को तो नानकिंग की नामधारी 'राष्ट्रीय' सरकार कैण्टन के सिवा सारे चीन पर शासन करती थी, मगर बहुत-से प्रदेश उसके क़ब्ज़े से बाहर थे, ख़ासकर भीतर का एक बड़ा क्षेत्र, जहाँ साम्यवादी सरकार क़ायम हो गई थी। नानकिंग-सरकार पैसे की मदद के लिए ज़्यादातर

शांघाई के बौहरों पर निर्भर रहती थी। बहुत सारे सेनापतियों की बड़ी-बड़ी सेनाएँ किसान-वर्ग पर ज़बर्दस्त बोझ बन रही थीं। सेनाओं से निकाले हुए हज़ारों सिपाही रोज़गार की तलाश में देहातों में घूमते फिरते थे, और रोज़गार न मिलने पर अक्सर डाकेज़नी करते रहते थे।

दिसम्बर, १९२७ ई० में नानकिंग-सरकार और सोवियत सरकार का आपसी रिश्ता टूट गया, और साम्राज्यशाही शक्तियों की छत्रछाया में नानकिंग-सरकार ने सरगर्म सोवियत-विरोधी नीति अपनाई। अगर रूस युद्ध न करने के इरादे पर डटा नहीं रहता तो नतीजा यह होता कि १९२७ ई० में युद्ध छिड़ जाता। १९२९ ई० में चीनी सरकार, इस बार मंचूरिया में, फिर हमलावर नीति पर उतर आई। उसने सोवियत व्यापार-दूतावास पर छापा मारा और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियों को बर्खास्त कर दिया। यह रेलवे ज़्यादातर रूस की मिल्कियत थी, इसलिए सोवियत सरकार ने फ़ौरन चीनी सरकार के ख़िलाफ़ कार्रवाई की। कुछ महीनों तक युद्ध-जैसी हालत चलती रही, और तब चीनी सरकार ने पुराना बन्दोबस्त फिर से क़ायम करने की रूसी माँग मंजूर कर ली।

मंचूरिया और उसमें होकर गुज़रनेवाले रेल-मार्गों की वजह से बहुत-सी अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें होती रही हैं, क्योंकि यहाँ बहुत-से स्वार्थ, खासकर चीनी, जापानी और रूसी स्वार्थ, टकराते हैं। पिछले दिनों, सारी दुनिया का विरोध होते हुए भी, जापान ने चीन के इन उत्तर-पूर्वी प्रान्तों पर क़ब्ज़ा जमा लिया है। इसके बारे में मैं अपने अगले पत्र में लिखूंगा।

ऊपर मैंने जिक्र किया है कि चीन के कुछ भागों में साम्यवादी हुकूमतें क़ायम हो गई थीं। मालूम होता है कि सबसे पहली साम्यवादी सरकार, नवम्बर, १९२९ ई० में, दक्षिण में क्वान्तुंङ प्रान्त के हाइफँग ज़िले में क़ायम हुई थी। यह 'हाइफँग सोवियत गणराज्य' था, जो किसानों के जुदा-जुदा संघों के मिलने से बना था। चीन के भीतरी हिस्सों में सोवियत इलाक़ा बढ़ने लगा, यहाँतक कि १९३२ ई० के बीच तक इसमें चीन के कुल क्षेत्रफल का क़रीब छठा भाग शामिल हो गया, जिसका क्षेत्रफल २,५०,००० वर्गमील था और जिसकी आबादी ५,००,००,००० थीं। इस सरकार ने ४,००,००० जवानों की लाल सेना तैयार कर ली, और इस सेना में लड़के और लड़कियों के सहायक दस्ते भी थे। नानकिंग-सरकार और कैण्टन सरकार दोनों ने इन चीनी सोवियतों को कुचलने के लिए पूरा ज़ोर लगाया, और चांग-काई-शेक ने बार-बार सेना लेकर उनपर चढ़ाइयाँ कीं, पर ये कोशिशें ज़्यादा सफल नहीं हुईं। कभी-कभी ये सोवियतें पीछे हट जाती थीं, और भीतरी भागों में दूसरी जगहों पर अपने पाँव जमा लेती थीं।[1]

[1] चांग-काई-शेक और चीनी सोवियतों के बीच संघर्ष, जापानी आक्रमण के

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को ललकारता है

२९ जून, १९३३

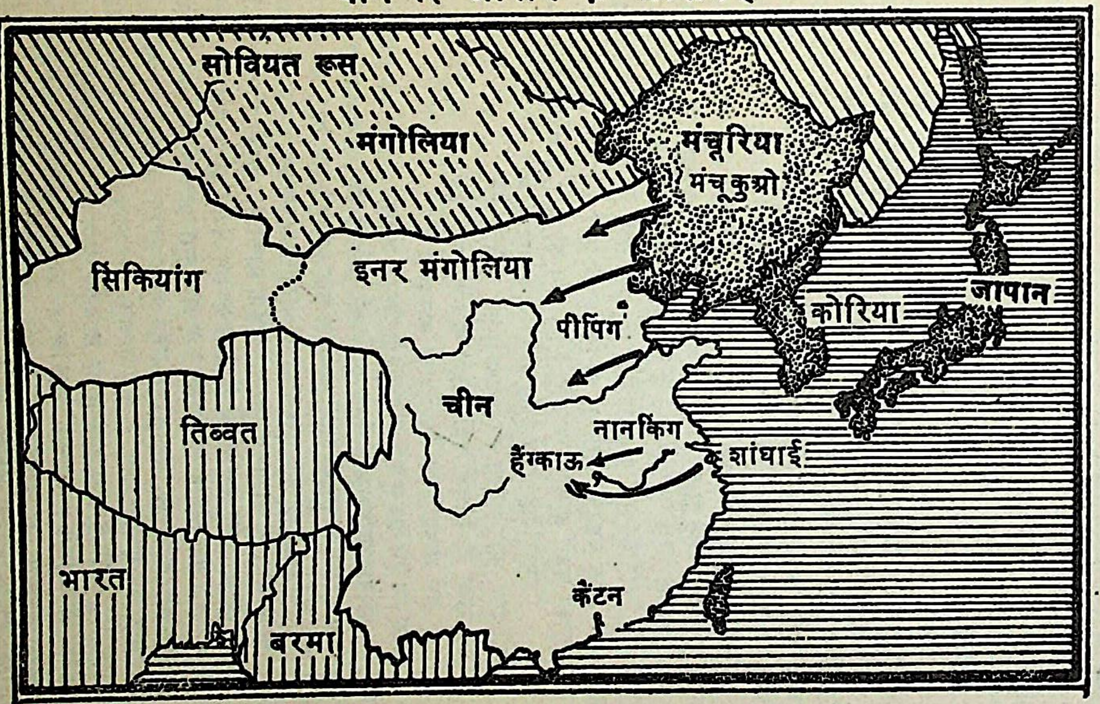
चीन कैसे टूक-टूक हुआ, जो क्रान्ति पहले पूरी तरह सफल नजर आती थी वह एकदम कैसे पस्त हो गई और खूँख्वार उलट-क्रान्ति उसे कैसे हड़प कर गई, इसकी शुरू से अबतक की ग़मनाक कहानी मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। यह कहानी अभी पूरी नहीं हुई है, और बहुत-कुछ बाकी है। क्रान्ति इसलिए असफल हुई कि चेतन वर्ग-हितों की भीतरी कशमकश, राष्ट्रीयता की बाँधनेवाली ताक़त से ज्यादा ज़ोरदार साबित हुई। मालदार ज़मींदारों व दूसरे स्वार्थों ने किसान व मज़दूर जनता के दबदबे का खतरा उठाने के बजाय राष्ट्रवादी आन्दोलन को खत्म करना बेहतर समझा।

अपनी अन्दरूनी गड़बड़ों के अलावा चीन को अब एक विदेशी दुश्मन के ज़ोरदार हमले का भी मुक़ाबला करना पड़ा। यह जापान था, जो चीन की कमज़ोरी से, और दूसरी शक्तियों के अपने ही झंझटों में फंसे रहने से, फ़ायदा उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आज के उद्योगवाद और मध्य-कालीन सामन्तवाद की, और पार्लमेण्टी तरीक़े और एकतन्त्री सत्ता और फ़ौजी क़ब्ज़े की खिचड़ी की एक अजीब मिसाल था। यहाँ के हुकूमतवाले ज़मींदार व फ़ौजी वर्गों ने जानबूझकर खानदानी ढंग का राज्य बनाने की कोशिश की है, जिससे वे खुद तो मुखिया हैं और सम्राट् उनका सबसे बड़ा सरदार है। मज़हब, शिक्षा, वग़ैरा हरेक चीज को इसी सिलसिले को बढ़ाने का साधन बनाया गया है। मज़हबी चीज़ों पर सरकारी दखल है; यहाँतक कि मन्दिर और पूजा की जगहें भी सरकारी क़ब्ज़े में हैं, और पुजारियों के ओहदे सरकारी हैं। इस तरह मन्दिरों व पाठशालाओं के ज़रिये काम करनेवाली ज़बर्दस्त प्रचार-मशीन लोगों को सिर्फ़ देशभक्ति ही नहीं सिखाती, बल्कि सम्राट् की इच्छा के मुताबिक़ हुक्म बजाना भी सिखाती है, क्योंकि सम्राट् को आधा-देवता माना जाता है। पुरानी बहादुरी का कुछ-कुछ अर्थ रखनेवाला पुराना जापानी शब्द 'बुशीदो' था, जिसका अर्थ था एक क़िस्म की खानदानी वफ़ादारी। इस खयाल का विस्तार करके समूचे राज्य पर लागू कर दिया गया है, और इसके साथ सबके ऊपर सम्राट् का नाता जोड़ दिया गया है। सम्राट् तो वास्तव में एक चिह्न है, जिसके नाम पर शासन करनेवाले बड़े-बड़े ज़मींदार व

विरुद्ध इनका आपस में मिल जाना, जापान का चीन पर हमला और उसके फलस्वरूप होनेवाला युद्ध—इन सबका हाल पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट में दिया गया है।

चीन पर जापान के आक्रमण



फ़ौजी वर्ग सत्ता की तामील करते हैं। उद्योगों के सबब से जापान में भी मध्यम-वर्गों का उदय हुआ है, परन्तु बड़े-बड़े उद्योगपति पुराने ज़मींदार-परिवारों में से ही निकले हुए हैं। इसलिए खास मध्यम-वर्गों के हाथ में कोई सत्ता नहीं आई है। अमली तौर पर तो जापान में इतनी ठेकेदारी है कि कुछेक शक्तिशाली परिवारों का देश के उद्योगों पर भी क़ब्ज़ा है, और राजनीति पर भी।

जापान में बौद्ध-धर्म बहुत समय से आम मज़हब रहा है, मगर शिन्तो एक तरह से राष्ट्रीय मज़हब है, और इसमें पुरखों की पूजा पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। इस पूजा में गुज़रे सम्राटों और राष्ट्रवीरों की और खासकर युद्धों में मारे गये शहीदों की पूजा शामिल है। इस तरह यह पूजा देश के लिए प्रेम का, और गद्दीनशीन सम्राट् के लिए आज्ञापालन की भावना का पाठ पढ़ाने का एक ज़ोरदार और कारगर साधन बन गई है। जापानी लोग अपनी अद्भुत देशभक्ति के लिए और देश के हित में क़ुर्बानी की हैसियत के लिए मशहूर हैं। पर इस बात को बहुत लोग नहीं जानते कि यह देशभक्ति बहुत ही हमलावर ढंग की है, और सारी दुनिया पर अपने साम्राज्य के सपने देखा करती है। १९१५ ई० के लगभग जापान में एक नया पन्थ शुरू हुआ। इसका नाम 'ओमोतो-क्यो' पन्थ था और यह बड़ी तेज़ी से देश-भर में फैल गया। इस पन्थ का खास मज़हबी उसूल यह था कि जापान सारे संसार का शासक बने और सम्राट् उसका सबसे आला सरदार हो। इस पन्थ की ओर से कहा गया था—

> "हमारा उद्देश्य यह है कि जापान के सम्राट् को सारे संसार पर राज करनेवाला और शासन करनेवाला बनावें, क्योंकि संसार में वही अकेला ऐसा राजा है, जिसमें सबसे पहले के स्वर्गवासी पूर्वज से विरासत में मिली हुई आध्यात्मिक ज़िम्मेदारी क़ायम है।"

जैसा कि हम देख चुके हैं, महायुद्ध के दौरान, जापान ने चीन को डरा-धमकाकर उससे अपनी इक्कीस माँगें मंज़ूर कराने की कोशिश की। अमेरिका व यूरोप में हो-हल्ला मच जाने से उसकी सारी माँगें तो पूरी नहीं हुईं, पर फिर भी उसे बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद ज़ारशाही साम्राज्य के पतन पर जापान ने देखा कि एशिया में अपने राज्य को फैलाने का यह बढ़िया मौक़ा है। उसकी फ़ौजें साइबेरिया में दाखिल हो गईं और उसके एजेण्ट मध्य-एशिया में ठेठ समरक़न्द और बुखारा तक जा पहुँचे। पर रूस के सम्हल जाने से और कुछ हदतक अमेरिका के विरोध और शक की वजह से, यह हौसलेबाज़ी नाकामयाब हो गई। क्योंकि यह हमेशा याद रखने की बात है कि जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच कट्टर दुश्मनी है। ये एक दूसरे से बहुत नफ़रत करते हैं, और प्रशान्त महासागर के आर-पार एक-दूसरे पर आँखें तरेरते रहते हैं। १९२२ ई० के वाशिंगटन-सम्मेलन से जापान की उमंगों पर पानी फिर गया और अमेरिकी कूटनीति की जीत हो गई। इस सम्मेलन में जापान समेत नौ शक्तियों ने

चीन को अखण्ड मानने के वचन दिये, और इसका अर्थ यह था कि जापान चीन में पैर फैलाने की सारी उम्मीदें छोड़ दे। इसी सम्मेलन में आंग्ल-जापानी दोस्ती ख़त्म हो गई और दूर-पूर्व में जापान बिलकुल अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक ज़बर्दस्त जहाज़ी अड्डा बनाना शुरू कर दिया, और ज़ाहिर है कि यह जापान के लिए ख़तरे की चीज़ था। १९२४ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापानियों का आना रोकने का बिल पास किया, क्योंकि वह अपने राज्य में जापानी मज़दूरों को नहीं आने देना चाहता था। रंग-भेद की इस नीति पर जापान में, और कुछ हदतक सारे पूर्व में, बहुत ग़ुस्सा ज़ाहिर किया गया, मगर जापान अमेरिका का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिए जब उसने यह महसूस किया कि वह अकेला पड़ गया है और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिर गया है, तो उसने रूस की तरफ़ रुख मोड़ा, और जनवरी, १९२५ ई० में रूस के साथ सन्धि कर ली।

इसी दौरान जापान पर जो बड़ी आफ़त आई और जिसने उसे बहुत कमज़ोर कर दिया, उसका हाल मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। १९२५ ई० के सितम्बर की पहली तारीख को जापान में भयंकर भूचाल आया और उसके साथ समुद्री ज्वार की लहर आई और राजधानी तोक्यो के विशाल नगर में आग लग गई। यह विशाल नगर बर्बाद हो गया और योकोहामा बन्दरगाह का भी यही हाल हुआ। क़रीब एक लाख आदमी मर गये, और बहुत भारी नुक़सान हुआ। जापानियों ने बड़े साहस और धीरज के साथ इस आफ़त का मुक़ाबला किया, और पुराने तोक्यो के खण्डहरों पर नया शहर खड़ा कर लिया।

अपनी कठिनाइयों की वजह से जापान ने रूस से सुलह तो कर ली थी, पर इसका यह मतलब नहीं था कि वह साम्यवाद का हामी हो गया था। साम्यवाद का अर्थ था सम्राट्-पूजा का और सामन्तवाद का, और शासक-वर्ग के हाथों जनता के शोषण का अन्त, और सच तो यह है कि मौजूदा अमल जिन चीज़ों को बरक़रार रखना चाहता था, उन सबका अन्त। जापान में यह साम्यवाद जनता की बढ़ती हुई मुसीबतों की वजह से ज़ोर पकड़ रहा था, क्योंकि उद्योगपति अपने स्वार्थ की ख़ातिर जनता को दिन-पर-दिन ज़्यादा चूस रहे थे। उधर आबादी भी तेज़ी से बढ़ रही थी। जापानी लोग अमेरिका या कनाडा में या ऑस्ट्रेलिया के बंजर उजाड़-खण्डों तक में जाकर नहीं बस सकते थे; उनके लिए, वहाँ जाने के दरवाज़े बन्द थे। चीन नज़दीक था, लेकिन वहाँ आबादी पहले ही बहुत ज़्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे। निजी ख़ास मुसीबतों के अलावा जापान को उद्योगवाद और व्यापार की मन्दी की उन मुसीबतों का भी सामना करना पड़ा, जिन्हें सारा संसार आमतौर पर भुगत रहा था। जब अन्दरूनी हालत ज़्यादा गम्भीर होने लगी तो साम्यवादियों

और सारे वाम-पक्षियों का सख़्ती से दमन किया गया। १९२५ ई० में 'अमन क़ायम रखने का क़ानून' पास किया गया। चूँकि इसकी भाषा दिलचस्प है, इसलिए इस क़ानून की पहली धारा मैं यहाँ देता हूँ। इसमें लिखा है—

"जिन्होंने राष्ट्रीय संविधान को बदलने के मक़सद से, या निजी जायदाद के क़ायदे को उलटने के मक़सद से, कोई समिति या बिरादरी खड़ी की हो, या जो किसी ऐसे संगठन के मक़सद से पूरी तरह जानकार होकर उसमें शामिल हुए हों, उन्हें मौत की सज़ा से लगाकर पाँच साल से ऊपर तक की कड़ी क़ैद की सजाएँ दी जायेंगी।"

इस क़ानून की हद दर्जे की सख़्ती, जो सिर्फ़ साम्यवादी सुधारों को ही नहीं बल्कि सब क़िस्मों के समाजवादी या बुनियादी या संविधानी सुधारों तक को रोकती है, यह जतलाती है कि साम्यवाद की तरक़्क़ी से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

लेकिन साम्यवाद समाजी हालतों से पैदा होनेवाली आम मुसीबत का नतीजा है, और जबतक ये हालतें सुधरेंगी नहीं तबतक दमन से कोई फल नहीं निकल सकता। आजकल जापान में भयंकर मुसीबत है। चीन व भारत की तरह यहाँ भी किसान-वर्ग क़र्ज़ों के ज़बर्दस्त बोझ से पिसा जा रहा है। ख़ासकर भारी फ़ौजी ख़र्च और युद्ध की तैयारियों की वजह से जनता पर करों का भारी बोझ है। ख़बरें आती रहती हैं कि भूखों मरते किसान जान बचाने के लिए घास और जड़ें खा रहे हैं, और अपने बच्चों तक को बेच रहे हैं। बेकारी के सबब मध्यम-वर्गों की भी बुरी हालत है, और आत्म-हत्याएँ बढ़ गई हैं।

साम्यवाद के खिलाफ़ १९२८ ई० के शुरू में बड़े पैमाने पर धावा बोला गया, और एक रात में एक हज़ार से ज्यादा गिरफ़्तारियाँ हुईं, मगर अखबारों को इस घटना का समाचार महीने-भर तक नहीं छापने दिया गया। तबसे हर साल पुलिस तलाशियाँ और सामूहिक गिरफ़्तारियाँ करती रहती है। अक्तूबर, १९३२ ई० में पुलिस ने बहुत बड़ा छापा मारा, और २,२५० व्यक्तियों को गिरफ़्तार किया। इनमें से ज्यादातर लोग मजदूर नहीं थे, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक थे। इनमें सैकड़ों ग्रेजुएट थे और स्त्रियाँ थीं। निराली बात यह नज़र आती है कि जापान के बहुत-से मालदार नौजवान साम्यवाद की तरफ़ खिच रहे हैं। भारत और दूसरे देशों की तरह यहाँ भी प्रगतिशील विचारकों को चोर-डाकुओं से ज्यादा खतरनाक समझा जाता है। भारत में मेरठ के षड्यन्त्र के मामले की तरह जापान में भी साम्यवादियों के कुछ मुक़दमे वर्षों तक चलते रहे।

जापान की अन्दरूनी हालतों के बारे में ये सब बातें मैंने तुम्हें इसलिए

बतलाई हैं कि जापान ने मंचूरिया में जो खतरा उठाया, उसके पीछे की ज़मीन का तुम्हें अन्दाज़ हो जाय। अब इसका कुछ हाल मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ।

पिछले पत्रों में तुमने पढ़ा होगा कि जापान ने एशियाई महाद्वीप में पाँव जमाने के लिए, पहले कोरिया में और फिर मंचूरिया में, लगातार कोशिशें की थीं। १८९४ ई० में चीन के साथ युद्ध और दस साल बाद का रूसी युद्ध, दोनों इसी मक़सद से लड़े गये थे। जापान को सफलता हासिल हुई, और वह एक-एक पग आगे बढ़ने लगा। उसने कोरिया को हड़प लिया और वह जापानी साम्राज्य का महज़ एक टुकड़ा बन गया। मंचूरिया में, जो चीन के तीन पूर्वी प्रान्तों का ही चालू नाम है, पोर्ट आर्थर के आस-पास रूस के पट्टे और रियायती इलाक़े जापान को दे दिये गए। रूस ने मंचूरिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे बनाई थी, उसका भी कुछ हिस्सा जापान के क़ब्ज़े में आ गया और उसका नाम साउथ मंचूरिया रेलवे रख दिया गया। मगर इन सब तब्दीलियों के बावजूद, कुल मंचूरिया फिर भी चीनी सरकार के ही अधीन बना रहा और इस रेल-मार्ग की वजह से अब ढेर-के-ढेर चीनी यहाँ आकर बसने लगे। सच पूछो तो इन तीन उत्तर-पूर्वी प्रान्तों की तरफ़ चीनियों का यह देश छोड़कर जाना संसार के इतिहास में सबसे बड़ा देशान्तर-गमन माना जाता है। १९२३ से १९२९ ई० तक के सात वर्षों में पच्चीस लाख से भी ज्यादा चीनी लोग चीन की सीमा पार करके मंचूरिया चले गये। आजकल मंचूरिया की आबादी तीन करोड़ के क़रीब है और इसमें ९५ फ़ीसदी चीनी हैं। इस तरह ये तीन प्रान्त पूरी तरह चीनी बन गये हैं। बाक़ी की पाँच फ़ीसदी आबादी में रूसी, मंगोली खानाबदोश, कोरियाई और जापानी लोग हैं। मंचूरिया के पुराने निवासी मंचू लोग चीनियों में घुल-मिल गये हैं और अपनी भाषा तक भूल गये हैं।

तुम्हें याद होगा कि १९२२ ई० में वाशिंगटन-सम्मेलन के मौक़े पर नौ शक्तियों की जो सन्धि हुई थी, उसकी बाबत मैं लिख चुका हूँ। पश्चिमी शक्तियों के सुझाव पर यह सन्धि खासतौर से चीन में जापान की चालों को रोकने के लिए की गई थी। इन नौ-की-नौ शक्तियों ने (जिनमें जापान भी शामिल था) साफ़ तौर पर और बिना लाग-लपेट के 'चीन की प्रभु-सत्ता, स्वाधीनता और प्रादेशिक व प्रशासनिक अखण्डता का लिहाज़ रखने' का आपसी फ़ैसला किया था।

कुछ वर्षों तक तो जापान ने कोई कार्रवाई नहीं की। मगर परदे के पीछे से वह कुछ चीनी लड़ाकू-सरदारों या तूशनों को पैसे वग़ैरा की मदद देता रहा, ताकि वे घरेलू युद्ध चलाते रहें और इस तरह चीन को कमज़ोर बना दें। उसने चांग-सो-लिन को खासतौर पर सहायता दी, जिसका दबदबा मंचूरिया पर और दक्षिणी राष्ट्र-वादियों की विजय से पहले पेकिंग तक पर छाया हुआ था। १९३१ ई० में जापानी सरकार ने मंचूरिया में खुल्लम-खुल्ला हमलावर रवैय्या अपनाया। या तो इसका

कारण वह गहरा आर्थिक संकट था, जिसने उसे बाहर के देशों में कुछ कार्रवाई करने पर मजबूर किया ताकि लोगों का ध्यान भी बँट जाय और अन्दरूनी तनाव भी कम हो जाय; या सरकार में फ़ौजी फ़िरक़े का जोर था; या यह भावना थी कि दूसरी सारी शक्तियाँ अपनी-अपनी मुसीबतों में और व्यापार की मन्दी के चक्कर में फँसी हुई हैं, और दख़ल देनेवाली नहीं हैं। शायद इन सब कारणों ने मिलकर जापानी सरकार को इतना जोखिमभरा क़दम उठाने के लिए उकसाया हो। क्योंकि इस कार्रवाई से १९२२ ई० की नौ शक्तियों की सन्धि साफ़ तौर पर भंग हो गई, इससे राष्ट्रसंघ का इक़रारनामा भी भंग होता था, क्योंकि चीन और जापान दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे, और इस हैसियत से राष्ट्रसंघ में मामला ले जाये बिना एक दूसरे पर हमला नहीं कर सकते थे। और आख़िरी बात यह है कि इससे १९२८ ई० के युद्ध को ग़ैरक़ानूनी ठहरानेवाला पेरिस-क़रार (या केलॉग-क़रार) भी साफ़ तौर पर भंग हो गया। चीन के ख़िलाफ़ युद्ध-जैसी कार्रवाइयाँ जारी रखकर जापान ने इन सन्धियों और वादों को तोड़ दिया, और सारे संसार को अँगूठा दिखा दिया।

हाँ, जापान ने इस बात का इक़रार नहीं किया। उसने कुछ लचर और निरा झूठा बहाना बनाया कि मंचूरिया में डाकुओं और कुछ मामूली वारदातों की वजह से अमन क़ायम करने के लिए और अपने हितों की हिफ़ाज़त के लिए उसे वहाँ अपने सिपाही भेजने के लिए मजबूर होना पड़ा है। युद्ध का कोई खुला ऐलान नहीं किया गया, मगर फिर भी जापान ने मंचूरिया पर धावा बोल दिया था। चीनी लोगों को इस पर बड़ा गुस्सा आया। चीनी सरकार ने विरोध ज़ाहिर किया और राष्ट्र-संघ व दूसरी शक्तियों के आगे फ़रियाद की, लेकिन किसी ने भी कोई ध्यान नहीं दिया। हर देश अपनी निजी मुसीबतों में फँसा हुआ था और जापान का विरोध करके नये झगड़े मोल नहीं लेना चाहता था। यह भी मुमकिन है कि कुछ शक्तियों ने, ख़ासकर इंग्लैण्ड, ने, जापान के साथ कोई गुप-चुप साँठ-गाँठ कर ली हो। चीन के ग़ैर-फ़ौजी सिपाहियों ने मंचूरिया में जापानियों को काफ़ी परेशान कर डाला। पर मज़ा यह है कि माना यह जाता था कि इन दोनों देशों के बीच कोई युद्ध नहीं है! चीन में जापानी माल के बायकाट का बड़ा आन्दोलन जापान को और भी परेशान करनेवाली चीज़ था।

जनवरी, १९३२ ई० में जापानी सेना शांघाई के नज़दीक चीन की धरती पर अचानक उतर पड़ी और वहाँ उसने जो हत्याकाण्ड मचाया, वह इस ज़माने के सबसे ज्यादा सहमानेवाले हत्याकाण्डों में गिना जाता है। उसने विदेशी रियायती इलाक़ों को तो जान-बूझकर छोड़ दिया, ताकि पश्चिमी शक्तियाँ नाराज़ न हो जायँ, और घनी आबादीवाले चीनी मोहल्लों पर हमला कर दिया। शांघाई के

नज़दीक एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र पर (शायद इसका नाम चापेइ था) बम और गोले बरसाये गए और उसे बिलकुल बर्बाद कर दिया गया। हज़ारों आदमी मारे गए और बेशुमार आदमी बेघर-बार हो गये। याद रहे कि यह लड़ाई किसी फ़ौज के साथ नहीं थी। यह तो मासूम नागरिकों पर बमबारी थी। यह जवांमर्दी की कार्रवाई जिस जापानी एडमिरल की निगरानी में हुई थी, उससे जब पूछा गया तो उसने कहा था कि जापान ने दया करके यह फ़ैसला किया है कि "नागरिकों पर यह अँधाधुन्ध बमबारी सिर्फ़ दो दिन और" होनी चाहिए! शांघाई में लन्दन के टाइम्स अख़बार का सम्वाददाता जापान की तरफ़ झुका हुआ था, पर वह भी जापानियों के हाथों चीनियों के इस 'क़त्ले-आम' (ये शब्द उसीके हैं) से हक्का-बक्का रह गया। इसलिए चीनियों ने इसके बारे में क्या महसूस किया होगा, उसकी कल्पना करना बहुत आसान है। सारे चीन में गुस्से की लहर दौड़ गई, और इस वहशियाना विदेशी हमले के सामने देश के सारे लड़ाकू सरदार और सरकारें अपने आपसी बैर भूल गये या भूलते हुए दिखाई देने लगे। जापान के ख़िलाफ़ शामिल मोर्चे की चर्चा होने लगी और अन्दरूनी चीन की साम्यवादी सरकार तक भी नानकिंग-सरकार को अपनी सेवाएँ देने के लिए तैयार हो गई। मगर अचरज की बात है कि नानकिंग या उसके नेता चांग-काई-शेक ने, इतने पर भी, आगे बढ़ते हुए जापानी सिपाहियों से शांघाई को बचाने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया। नानकिंग ने सिर्फ़ इतना किया कि राष्ट्र-संघ के सामने अपना विरोध पेश कर दिया। उसने तो जापानियों के ख़िलाफ़ शामिल मोर्चा भी खड़ा करने की कोशिश नहीं की। मालूम यह होता है कि अपनी लम्बी-चौड़ी बातों और देश में फैली हुई गुस्से की आग के बावजूद मुक़ाबला करने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी।

और तब दक्षिण से आई हुई एक अजीब सेना शांघाई में दाखिल हुई। इसका नाम उन्नीसवीं रूट आर्मी[1] थी। इसमें कैण्टनवासी लोग थे, पर न तो यह नानकिंग-सरकार की फ़रमाबरदार थी और न कैण्टन-सरकार की। यह फटी-टूटी-सी सेना थी, जिसके पास न तो लड़ाई का सामान था, न बड़ी तोपें थीं, न अच्छी वर्दियाँ थीं, और न चीन की कड़ाके की सर्दी से बचानेवाले काफ़ी कपड़े थे। इसमें चौदह से सोलह साल की उम्र के बहुत-से लड़के भर्ती हो गये थे; कुछ की उम्र तो सिर्फ़ बारह साल की थी। इस टूटी-फूटी सेना ने चांग-काई-शेक के हुक्म की परवाह न करके जापानियों से लड़ने और लोहा लेने का फ़ैसला किया। १९३२ ई० के जनवरी महीने में, दो हफ़्ते तक ये लोग नानकिंग-सरकार की मदद के बिना ही लड़ते रहे, और ये ऐसी निराली जवांमर्दी से लड़े कि इन्होंने अपने से कहीं ज्यादा तादादवाले और बेहतर हथियारोंवाले जापानियों को रोक कर उन्हें हैरत में

[1] Nineteenth Route Army.

डाल दिया। इससे सिर्फ़ जापानियों को ही नहीं बल्कि हरेक को अचम्भा हुआ, यहाँतक कि विदेशी शक्तियाँ तथा खुद चीन की जनता भी अचम्भे में पड़ गई। बिना किसी मदद के दो हफ़्ते लड़ने के बाद, जब चारों तरफ़ इस फ़ौज को शाबासी दी जाने लगी, तब शांघाई को बचाने के लिए चांग-काई शेक ने अपने कुछ सिपाही भेजे।

इस उन्नीसवीं फ़ौज ने इतिहास रच डाला और यह संसार-भर में मशहूर हो गई। इनके मुक़ाबले ने जापानियों की योजनाओं पर पानी फेर दिया। और चूँकि पश्चिमी शक्तियों को भी शांघाई में अपने स्वार्थों की चिन्ता थी, इसलिए जापानी सिपाहियों को धीरे-धीरे शांघाई-क्षेत्र से हटा लिया गया और जहाज़ों में लादकर भेज दिया गया। यह नोट करने लायक़ बात है कि इन पश्चिमी शक्तियों को अपने आर्थिक व दूसरे स्वार्थों की जितनी ज़्यादा चिन्ता थी, उतनी चिन्ता हज़ारों को मौत के घाट उतारनेवाले चापेइ-जैसे अजीब हत्याकाण्डों की और गम्भीर सन्धियों व अन्तर्राष्ट्रीय इक़रारनामों के भंग हो जाने की नहीं थी। राष्ट्र-संघ में यह मामला बार-बार पेश किया गया, पर उसने कार्रवाई टालने का हमेशा कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ लिया। राष्ट्र-संघ के लिए यह हक़ीक़त कोई बहुत ज़रूरी कार्रवाई का मामला नहीं थी कि सचमुच युद्ध हो रहा था और उसमें हज़ारों आदमी मारे जा चुके थे या मारे जा रहे थे। कहा यह गया कि असल में कोई युद्ध था ही नहीं, क्योंकि इस युद्ध का कोई बाक़ायदा ऐलान ही नहीं किया गया था! राष्ट्र-संघ की इस कमज़ोरी से, और अन्याय की तरफ़ एक तरह से जान-बूझकर आँखें मूंद लेने की नीति से, उसकी शोहरत और शान को बहुत धक्का पहुँचा। देखा जाय तो कुछ बड़ी-बड़ी शक्तियाँ ही इसके लिए ज़िम्मेदार थीं, और इंग्लैण्ड ने तो राष्ट्र-संघ में खासतौर पर जापान की हिमायत का रवैय्या अपनाया। आख़िरकार राष्ट्र-संघ ने मंचूरिया के मामले की जाँच करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन लॉर्ड लिटन की सदारत में मक़र्रर किया। तमाम शक्तियों ने इसे फ़ौरन मंजूर कर लिया, क्योंकि इसका मतलब यह था कि किसी भी क़िस्म का फ़ैसला महीनों तक के लिए टल गया। उन्होंने सोचा कि मंचूरियाँ बहुत दूर है, और कमीशन को वहाँ जाकर जाँच करने में बहुत वक़्त लग जायगा, और तबतक शायद सारा मामला ही ठण्डा पड़ जाय।

जापानी लोग शांघाई से तो हट गये, पर अब उन्होंने मंचूरिया पर ज़्यादा ध्यान दिया। उन्होंने वहाँ एक कठपुतली सरकार क़ायम कर दी, और ऐलान कर दिया कि मंचूरिया ने अपने आत्म-निर्णय के हक़ की तामील की है। इस नये कठपुतली राज्य का नाम मंचूकुओ रक्खा गया, और चीन के पुराने मंचू राजाओं के वंश का एक फटे-हाल नौजवान इस नई रियासत का राजा बना दिया गया।

इसमें कोई शक नहीं कि यह सब दिखावे के लिए ही था, और असली शासक तो जापान था। हर कोई जानता था कि अगर जापानी फ़ौजें हटाली जायें तो मंचूकुओ राज्य एक दिन में लुढ़क पड़ेगा।

मंचूरिया में जापानियों को बहुत परेशानियाँ उठानी पड़ीं, क्योंकि चीनी स्वयंसेवकों के दस्ते उनसे बराबर लड़ते रहते थे। जापानी लोग इन दस्तों को 'डाकुओं के दस्ते' कहते हैं। जापानियों ने मुक़ामी चीनियों को फ़ौजी तालीम और लड़ाई का सामान देकर मंचूकुओ की फ़ौजें तैयार कीं। मगर जब ये फ़ौजें इन 'डाकू-दस्तों' से लड़ने को भेजी गईं तो अपने सारे नये-से-नये सामान के साथ उन्हींमें जा मिलीं! हर वक़्त की इस लड़ाई से मंचूरिया का भारी नुक़सान हुआ, और सोयाबीन का व्यापार तबाह होने लगा।

महीनों की जाँच के बाद लिटन-कमीशन ने राष्ट्र-संघ में अपनी रिपोर्ट पेश की। यह सावधान, मुलायम और मुंसिफ़ाना भाषा में लिखा हुआ दस्तावेज़ था, पर जापान के बिलकुल ही खिलाफ़ जाता था। इससे ब्रिटिश सरकार बहुत घबराई, क्योंकि वह तो जापान को बचाने पर तुली बैठी थी। इसलिए इस मामले का विचार कई महीनों के लिए फिर टाल दिया गया। लेकिन अन्त में राष्ट्र-संघ को इस सवाल पर ग़ौर करना ही पड़ा। अमेरिका का रुख़ इंग्लैण्ड के रुख़ से बिलकुल और तरह का था; वह जापान के बहुत ज्यादा खिलाफ़ था। अमेरिका ने साफ़ कह दिया था कि वह जापान के हाथों मंचूरिया में या दूसरी जगह ज़बर्दस्ती किये गए किसी परिवर्तन को नहीं मानेगा। मगर अमेरिका के इस कठोर रुख़ के बावजूद इंग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ़्रान्स, इटली व जर्मनी ने, जापान का पक्ष लिया।

इधर तो राष्ट्र-संघ में मंचूरिया के सवाल को टालने की भरसक कोशिश की जा रही थी, उधर जापान ने एक नई कार्रवाई कर डाली। १९३३ ई० की पहली जनवरी के दिन जापानी सेना अचानक ठेठ चीन में जा धमकी और उसने शान-हाइ-क्वान नगर पर हमला कर दिया। यह नगर चीन की बड़ी दीवार के भीतरी किनारे पर बसा है। बड़ी-बड़ी तोपों और विध्वंसक जहाज़ों से गोले और हवाई-जहाज़ों से बम़ बरसाये गए। यह सरासर नये-से-नये ढंग का हमला था। शान-हाइ-क्वान जलकर राख का ढेर हो गया, और ज्यादातर नगरवासी मौत के शिकार हुए या मौत की घड़ियाँ गिनने लगे। और इसके बाद जापानी फ़ौज आगे बढ़ती हुई चीनी प्रान्त जेहोल में घुस गई और पीपिंग के नज़दीक जा पहुँची। बहाना यह बनाया गया कि लुटेरों ने मंचूकुओं पर हमला करने के लिए जेहोल को अपना सदर मुक़ाम बना रक्खा था और कुछ भी हो, जेहोल तो मंचूकुओं का हिस्सा ही था!

हमले की इस ताज़ा कार्रवाई से और नये दिन के हत्याकाण्ड से राष्ट्र-संघ

की नींद खुली, और बहुत करके छोटी-छोटी शक्तियों के ज़ोर देने पर राष्ट्र-संघ ने एक प्रस्ताव करके लिटन-रिपोर्ट को मंजूर कर लिया और जापान को क़सूरवार ठहराया। जापान ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की (क्या वह जानता नहीं था कि इंग्लैण्ड और कुछ दूसरी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ चुपचाप उसकी पीठ ठोंक रहे थे ?) और राष्ट्र-संघ से किनारा किया। राष्ट्र-संघ से इस्तीफ़ा देकर जापान आराम से पीपिंग की तरफ़ बढ़ता चला गया। उसे ज़रा भी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ा, और जब जापानी सेना, मई, १९३३ ई० में क़रीब-क़रीब पीपिंग के दरवाजे पर जा पहुँची, तो चीन और जापान के बीच लड़ाई बन्द करने का ऐलान कर दिया गया। जापान पूरी तरह सफल हो गया था। नानकिंग-सरकार ने और मौजूदा कुओ-मिन-तांङ ने जापानियों की हमलावर कार्रवाई के खिलाफ़ जो ओछापन दिखलाया, उससे अगर वह चीन में बहुत बदनाम हो गई, तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

मंचूरिया के इस झगड़े के बारे में मैंने काफ़ी बातें कह दी हैं। यह इसलिए महत्व रखता है कि चीन के भविष्य पर इसका असर पड़ता है। मगर इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि इससे जाहिर हो गया है कि राष्ट्र-संघ एक ढकोसला है, और जो अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाइयाँ ग़लत साबित हो चुकी हैं, उनको दुरुस्त करने में, बिलकुल नपुंसक और बेकार साबित हुआ है। इससे यूरोप की बड़ी शक्तियों की दुरंगी नीति और साज़िशों की भी क़लई खुल गई है। इस खास मामले में तो अमेरिका (जो राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं है) जापान के खिलाफ़ कड़ा रुख इख्तियार करने को तैयार हो गया था, और ऐसा मालूम होता था कि वह जापान से भिड़ भी पड़ेगा। लेकिन उधर इंग्लैण्ड व दूसरी शक्तियों ने जापान को चुपचाप जो बढ़ावा दिया, उससे अमेरिका का यह रुख बे-असर हो गया, और जब अमेरिका को डर हुआ कि जापान के खिलाफ़ वह अकेला रह जायगा, तो वह भी ज्यादा खबरदार हो गया। राष्ट्र-संघ ने अपनी नेकनीयती दिखाने के लिए जापान की बुराई तो कर दी, पर आगे कोई क़दम नहीं उठाया। यह तय हुआ था कि राष्ट्र-संघ के सदस्य मंचूकुओ के कठपुतली-राज्य को क़बूल नहीं करेंगे, लेकिन यह ग़ैर-क़बूलियत कोरा मज़ाक बन गई।

राष्ट्र-संघ में जापान की निन्दा के बावजूद इंग्लैण्ड के मन्त्री और राजदूत मौक़े-बे-मौक़े आगे बढ़कर जापान की कार्रवाई को वाजिब ठहराने का यत्न करते रहते हैं। रूस के साथ इंग्लैण्ड का बर्ताव अजीब तौर पर इससे उलटा नज़र आता है। अप्रैल, १९३३ ई० में रूस में कुछ अंग्रेज़ इंजीनियरों पर भेदिये होने के जुर्म में मामला चलाया गया। कुछ तो बरी कर दिये गए और दो को थोड़े-थोड़े दिनों की क़ैद की सज़ाएँ दी गईं। इसपर इंग्लैण्डवालों ने बड़ा बावेला मचाया, और ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में रूसी माल के आयात पर फ़ौरन रोक लगा दी।

रूस ने भी इसके जवाब में अपने यहाँ ब्रिटिश माल का आना बन्द कर दिया।[1]

इस तरह मंचूरिया, और इससे भी बहुत-कुछ ज्यादा, चीन के हाथ से निकल गया, और बाक़ी हिस्से पर भी जापान का खतरा बराबर बना रहा। तिब्बत स्वाधीन था। मंगोलिया सोवियत देश था जो रूसी सोवियत संघ के साथ जुड़ा हुआ था। चीन के एक और बड़े प्रान्त सिंकियांङ या चीनी तुर्किस्तान में भी गड़बड़ हुई। यह तिब्बत और साइबेरिया के बीच है। इस प्रान्त में कश्मीर के श्रीनगर से, लद्दाख में लेह के रास्ते से यारक़न्द और काशगर को क़ाफ़िले बराबर जाया करते हैं। इस प्रान्त के ज्यादातर निवासी मुसलमान तुर्क हैं। इनका रंग-ढंग, इनकी संस्कृति और इनके नाम तक चीनी हैं। मगर ये चीन के भीतरी हिस्से से बहुत दूर हैं, और गोबी के रेगिस्तान ने इन्हें चीन से बिलकुल अलग कर दिया है। आवा-जाई के साधन बहुत ही पुराने ज़माने के हैं। इन्हें चीन के साथ बाँधनेवाले बन्धन ज्यादा मज़बूत नहीं हैं, और इनमें तुर्की राष्ट्रीयता की भावना है, जो समय-समय पर फूट पड़ती है। महायुद्ध के समय से ही यह बहुत बड़ा प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय साज़िशों का अखाड़ा बना हुआ है। इंग्लैण्ड, रूस और जापान एक-दूसरे के खिलाफ़ और चीनी सरकार के खिलाफ़ जासूसी और साज़िशें करते रहते हैं और यहाँ के आपस में लड़नेवाले सरदारों को सहायता देते रहते हैं।

१९३३ ई० के शुरू में सिंकियांङ में तुर्कों ने विद्रोह कर दिया; यारक़न्द और काशगर पर उनका क़ब्ज़ा हो गया, और उसे गणराज्य ज़ाहिर कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने सोवियत पर इस विद्रोह को भड़काने का आरोप लगाया। उधर सोवियत ने ब्रिटिश सरकार पर खुल्लम-खुल्ला यह आरोप लगाया कि उसने मंचूकुओ की तरह चीन और रूस के बीच झोंक झेलनेवाला राज्य बनाने की नीति से इस विद्रोह को भड़काया है। सिंकियांङ में अंग्रेज़ी फ़ौज के जिस अफ़सर ने यह विद्रोह खड़ा किया था, उसका नाम तक बतला दिया गया है।

टिप्पणी—सिंकियांङ के इस विद्रोह को चीनी सरकार के समर्थकों ने दबा दिया। मालूम होता है कि सोवियत अधिकारियों ने भी ग़ैर-सरकारी तौर पर इसमें कुछ सहायता दी थी। इसके सबब से मध्य एशिया में रूस की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अंग्रेज़ों की गिर गई।

---

[1] इंग्लैण्ड और रूस की यह व्यापारी लड़ाई बाद में दोनों देशों के बीच समझौता हो जाने पर बन्द हो गई।

: १७९ :

समाजवादी सोवियत गणराज्यों का संघ

७ जुलाई, १९३३

अब हम सोवियतों के देश रूस की तरफ़ लौटते हैं और उसकी कहानी के सूत्र को जहाँ छोड़ा था, वहीं से फिर पकड़े लेते हैं। हम जनवरी, १९२४ ई० तक आ पहुँचे थे, जबकि क्रान्ति के नेता और उसमें जान डालनेवाले लेनिन की मौत हुई थी। तबसे अबतक दूसरे देशों के बारे में जितने पत्र मैंने तुम्हें लिखे हैं, उनमें से बहुतों में रूस का अक़्सर ज़िक्र आता रहा है। रूस की समस्याओं पर, या भारतीय सरहद पर, या तुर्की, ईरान वग़ैरा मध्य-एशियाई देशों पर, या दूर-पूर्व के चीन और जापान पर, ग़ौर करते वक़्त रूस का नाम बार-बार सामने आया है। यह हक़ीक़त तुम्हें साफ़ दिखाई देने लगी होगी कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थ-नीति को दूसरे देशों की राजनीति और अर्थ-नीति से अलग करना बहुत मुश्किल ही नहीं, बल्कि सचमुच नामुमकिन है। पिछले वर्षों में राष्ट्रों के आपसी ताल्लुक़ और उनकी एक दूसरे पर निर्भरता बहुत ही ज्यादा बढ़ गये हैं, और सारा संसार कितनी ही बातों में एक इकाई बनता जा रहा है। इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय, यानी विश्व-इतिहास, बन गया है और एक देश के लिहाज़ से हम भी उसे तभी समझ सकते है, जब सारे संसार को अपनी निगाह के सामने रक्खें।

यूरोप और एशिया में सोवियत संघ जिस ज़बर्दस्त इलाक़े को घेरे हुए है, वह पूँजीवादी दुनिया से अलग खड़ा है। मगर फिर भी वह हर जगह इस दूसरे जगत के सम्पर्क में आता है और अक़्सर इससे टकराता भी है। सोवियत की उदार पूर्वी नीति का, तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को उसकी दी हुई सहायता का, चीन के साथ उसके गहरे रिश्तों का, और फिर इन रिश्तों के एकदम टूट जाने का ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्रों में कर चुका हूँ। मैं इंग्लैण्ड के आर्कोस छापे का और उस 'जिनोवीफ़ पत्र' का हाल भी बतला चुका हूँ, जो बाद में जाली निकला, लेकिन फ़िर भी जिसने इंग्लैण्ड के एक आम चुनाव में गड़बड़ी कर दी। अब मैं तुम्हें सोवियत भूमि के बीच में ले चलना चाहता हूँ, ताकि तुम उस अद्भुत और दिलकश समाजी प्रयोग के विकास पर निगाह डाल सको, जो कि वहाँ हो रहा था।

क्रान्ति के बाद, १९१७ से १९२० ई० तक के पहले चार साल, बहुत-से दुश्मनों से क्रान्ति की हिफ़ाज़त करने के लिए लड़ाइयाँ लड़ने में बीते। यह ज़माना युद्ध और क्रान्ति और घरेलू-युद्ध और भुखमरी और मौत का थर्रानेवाला और नाटकीय ज़माना था, जो जनता के जिहादी जोश और आदर्श के लिए मर मिटने के वास्ते दिखाई गई बहादुरी के प्रकाश से जगमगा उठा था। इसका फ़ौरन कोई फल नहीं

मध्य एशिया में सोवियत गणराज्य

योरपीय रूस का क्रान्ति से पूर्व का सीमान्त प्रदेश

नया औद्योगिक भाग

मिलनेवाला था, मगर लोगों के दिल बड़ी-बड़ी उम्मीदों और इरादों से भरे हुए थे। और इनका ख़याल करके वे अपनी ज़बर्दस्त तकलीफ़ों को धीरज के साथ सहते थे, और कुछ ही देर के लिए सही, अपने भूखे पेटों को भूल जाते थे। यह 'जंग-बाज़ साम्यवाद' का ज़माना था।

इसके बाद १९२१ ई० में लेनिन ने जब नई आर्थिक नीति चलाई तो ज़रा आराम लेने की फ़ुरसत मिली। यह नीति साम्यवाद को पीछे ले जानेवाली थी; देश के मध्यम-वर्गी तत्वों से समझौता था। मगर इसका यह अर्थ नहीं था कि बोल-शेविक नेताओं ने अपना मक़सद बदल दिया हो। इसका मतलब सिर्फ़ यह था कि ये लोग सुस्ताने और नई ताक़त हासिल करने के लिए एक क़दम पीछे हट गये थे, ताकि बाद में वे कई क़दम फिर आगे बढ़ सकें। बस, सोवियतों ने धीरज के साथ अपने राष्ट्र को बनाने की ज़बर्दस्त समस्या का मुक़ाबला किया, जो बहुत-कुछ तबाह और बर्बाद हो चुका था। निर्माण और रचना के कामों के वास्ते उन्हें रेल के इंजनों और गाड़ियों, बोझा ढोनेवाली मोटर-गाड़ियों, मशीनी हलों, कारख़ानों का सरंजाम, वग़ैरा-वग़ैरा मशीनों और सामानों की ज़रूरत पड़ी। ये चीज़ें उन्हें बाहर के देशों से ख़रीदनी पड़ती थीं, , पर ख़रीदने के लिए उनके पास पैसा नहीं था। इसलिए उन्होंने बाहर के इन देशों में उधार खाते खोलने की कोशिश की, ताकि वे अपने ख़रीदे हुए माल की क़ीमत आसान क़िस्तों में चुका सकें। मगर माल उधार तो तभी मिल सकता था जबकि देशों में आपसी बोल-चाल होती। जब वे सरकारी तौर पर एक दूसरे को मानते ही नहीं थे तो उधार कैसा? इसलिए रूस को बड़ी तमन्ना थी कि बड़ी शक्तियाँ उसे तसलीम कर लें और उनके साथ उसके राज-नीतिक और तिजारती ताल्लुक़ क़ायम हो जायँ। पर ये साम्राज्यशाही शक्तियाँ बोलशेविकों और उनके सारे कामों से नफ़रत करती थीं। उनके लिए साम्यवाद एक लानत थी, जिसे मिटा देना ज़रूरी था। वास्तव में, दस्तन्दाज़ी की लड़ाइयों के दौरान उन्होंने इसे मिटा डालने की भरसक कोशिश भी की थी, पर वे सफल नहीं हो पाई थीं। ये शक्तियाँ चाहती तो यह थीं कि सोवियत संघ से कोई वास्ता न रक्खें। लेकिन जिस सरकार के क़ब्ज़े में दुनिया की सतह का छठा भाग हो उसकी परवाह न करना कठिन है। ऐसे अच्छे ग्राहक की परवाह न करना और भी कठिन है, जो बहुत-सी क़ीमती मशीनें ख़रीदने को तैयार हो। रूस-जैसे खेतिहर देश और जर्मनी, इंग्लैण्ड व अमेरिका-जैसे उद्योगवाले देशों का आपसी व्यापार दोनों के लिए फ़ायदेमन्द था, क्योंकि रूस को मशीनों की ज़रूरत थी और बदले में वह सस्ता अन्न और कच्चा माल दे सकता था।

आख़िर जेबें भरने का खिंचाव साम्यवाद की नफ़रत से ज़्यादा ज़ोरदार साबित हुआ, और क़रीब-क़रीब सभी देशों ने सोवियत सरकार को तसलीम कर लिया।

बहुतों ने उसके साथ तिजारती सन्धियाँ भी कर लीं। अकेला अमेरिका ही ऐसी शक्ति था, जिसने सोवियत संघ को तसलीम करने से बराबर इन्कार किया। मगर रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच व्यापार होने लगा है।[1]

इस तरह सोवियत रूस ने ज्यादातर पूंजीवादी व साम्राज्यवादी शक्तियों से रिश्ते क़ायम कर लिये, और कुछ हद तक उसने इन शक्तियों की आपसी लाग-डाँट से फ़ायदा भी उठाया। ऐसा ही उसने तब किया था जब १९२२ ई० में जर्मनी ने उससे सहायता माँगी थी और रापालो की सन्धि पर दोनों ने दस्तखत किये थे। मगर यह समझौता बिलकुल डाँवाडोल था, क्योंकि पूंजीवादी और साम्यवादी तरीक़े बुनियादी तौर पर ही बे-मेल थे। बोलशेविक लोग सताई हुई और शोषित क़ौमों को, उपनिवेशी देशों की पराधीन क़ौमों व कारखानों के मज़दूरों दोनों को, उन्हें चूसनेवालों के खिलाफ़ विद्रोह करने के लिए उकसाते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नहीं बल्कि कॉमिण्टर्न यानी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ के ज़रिये करते थे। उधर साम्राज्यवादी शक्तियाँ, और खासकर इंग्लैण्ड, सोवियत संघ की हस्ती को ही मिटाने के लिए लगातार साज़िशें कर रही थीं। इसलिए झगड़ा पैदा होना लाज़िमी था। इससे बार-बार झगड़े हुए, जिनके सबब से राज-नयिक सम्बन्ध टूट गये और युद्ध की हवा फैलने लगी। १९२७ ई० में आर्कोस के छापे के बाद इंग्लैण्ड से ताल्लुक़ टूटने का जो हाल मैं लिख चुका हूँ, वह तुम्हें याद होगा। इस रगड़-झगड़ को समझना आसान है, क्योंकि इंग्लैण्ड तो सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति है, और सोवियत रूस ऐसी विचारधारा पेश करता है, जो सारे साम्राज्यवाद की जड़ पर ही चोट करती है। पर मालूम होता है कि इन दो विरोधी देशों के बीच कोई चीज़ इससे भी ज्यादा है। यानी उस मौरूसी और पुरानी दुश्मनी की कोई बात है जो ज़ारशाही रूस और इंग्लैण्ड के बीच पीढ़ियों से चली आती थी।

आज इंग्लैण्ड और दूसरे पूंजीवादी देशों को सोवियत फ़ौजों का इतना डर नहीं है जितना सोवियत विचारों और साम्यवादी प्रचार का। ये चीज़ें फ़ौजों की तरह दिखाई तो नहीं देतीं, लेकिन इनसे कहीं ज्यादा शक्तिशाली और खतरनाक हैं। इसकी काट करने के लिए रूस के खिलाफ़ लगातार झूठे प्रचार का सहारा लिया जाता रहा है और रूसी शरारत के बहुत ही हैरत-भरे क़िस्से फैलाये जाते हैं। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ सोवियत के खिलाफ़ ऐसी भाषा इस्तेमाल करते हैं, जैसी उन्होंने युद्ध-काल में अपने दुश्मनों के सिवा और किसीके लिए कभी इस्तेमाल नहीं की। सोवियत राजनीतिज्ञों को लॉर्ड बर्कनहैड ने 'हत्यारों की मजलिस'

---

[1] सन् १९३३ ई० में अमेरिका ने सोवियत संघ को मान लिया और दोनों देशों के आपसी कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गये।

और 'दम्भी मेढकों की मजलिस' तक कह डाला है, और वह भी ऐसे समय में जब कि यह माना जाता है, कि दोनों देशों के बीच सिर्फ़ सुलह ही नहीं है बल्कि आपसी राजनयिक सम्बन्ध भी हैं। ऐसी हालतों में ज़ाहिर है कि सोवियत संघ और साम्राज्यवादी शक्तियों में दोस्ताना ताल्लुक़ कभी नहीं रह सकते। दोनों के आपसी मतभेद बुनियादी हैं। महायुद्ध के जीते और हारे देशों में शायद मेल हो भी जाय, मगर साम्यवादियों और पूँजीवादियों में नहीं हो सकता। इन दोनों की सुलह सिर्फ़ चन्दरोज़ा हो सकती है; यह तो सिर्फ़ लड़ाई बन्द करने की सुलह है।

सोवियत रूस और पूँजीवादी शक्तियों के बीच तक़रार का बार-बार उठनेवाला एक कारण यह था कि रूस ने अपने विदेशी क़र्ज़ों को रद्द कर दिया। अब यह मुद्दा मर चुका है, क्योंकि आजकल के कठिन समय में क़रीब-क़रीब हर देश क़र्ज़ें चुकाने में ग़फ़लत कर रहा है। मगर फिर भी यह मसला समय-समय पर उठ खड़ा होता है। ज्योंही बोलशेविकों के हाथों में सत्ता आई, त्योंही उन्होंने ज़ारशाही के समय में दूसरे देशों से लिये हुए क़र्ज़ों को रद्द कर दिया। इस नीति का ऐलान १९०५ ई० की असफल क्रान्ति से पहले ही कर दिया गया था। सोवियत संघ ने अपनी इस नीति के मुताबिक़ चीन वग़ैरा पूर्वी देशों पर उसका जो कुछ बाक़ी था उसका दावा छोड़ दिया। इसके अलावा उन्होंने हर्जानों में भी कोई हिस्सा नहीं माँगा। १९२२ ई० में मित्र-राष्ट्री सरकारों ने इन क़र्ज़ों के बारे में सोवियत संघ को एक खरीता भेजा। इसके जवाब में सोवियत संघ ने उन्हें याद दिलाई कि बीते दिनों में कितने पूँजीवादी राज्यों ने अपने क़र्ज़ों और तमस्सुकों को मानने से इन्कार कर दिया था, और विदेशियों की जायदादें ज़ब्त कर ली थीं। उसने कहा : "क्रान्तियों से पैदा होनेवाली हुकूमतें और प्रणालियाँ गिरी हुई हुकूमतों के तमस्सुकों का लिहाज करने के लिए बँधी नहीं हैं।" सोवियत सरकार ने मित्र-राष्ट्रों को ख़ासतौर पर यह याद दिलाई कि उन्हींमें से एक राष्ट्र फ़्रान्स ने अपनी महान् क्रान्ति के समय क्या किया था।

> "फ़्रान्सीसी परिषद् ने, जिसका जायज़ उत्तराधिकारी होने का फ़्रान्स दावा करता है, २२ दिसम्बर, १७९२ ई० को ऐलान कर दिया था कि 'जनता की प्रभुसत्ता अत्याचारियों की सन्धियों को मानने के लिए पाबन्द नहीं हैं'। इस ऐलान के मुताबिक़ क्रान्तिकारी फ़्रान्स ने पिछली हुकूमतों की विदेशों के साथ की गई सन्धियों को ही नहीं फाड़ फेंका, बल्कि अपने राष्ट्रीय क़र्ज़े को भी मानने से इन्कार कर दिया।"

क़र्ज़ों को रद्द करने की इस बरियत के बावजूद, सोवियत सरकार दूसरी शक्तियों के साथ समझौता करने के लिए इतनी बेताब थी कि क़र्ज़ों के सवाल पर उनके साथ चर्चा करने को पूरी तरह तैयार हो गई। मगर वह इस बात पर अड़

गई कि यह चर्चा तभी हो सकती है जब विदेशी सरकारें बिना किसी शर्त के सोवियत संघ को तसलीम कर लें। सच तो यह है कि सोवियत ने इंग्लैण्ड, फ़ान्स और अमेरिका को क़र्ज़े चुकाने के बारे में कई भरोसे भी दिये, मगर पूंजीवादी शक्तियों की तरफ़ से रूस के साथ समझौता करने की कोई ज्यादा ख्वाहिश नहीं दिखाई गई।

अंग्रेज़ों के दावे के मुक़ाबले में सोवियत रूस ने एक मज़ेदार जवाबी-दावा पेश किया था। रूस के ऊपर इंग्लैण्ड के सरकारी और युद्ध-क़र्ज़ों, रेलवे के बाण्डों, और व्यवसायी पूंजियों के दावों की कल रक़म ८४,००,००,००० पौण्ड के लगभग थी। बोलशेविकों ने जवाबी-दावा करके इंग्लैण्ड से उस नुक़सान का हर्जाना माँगा, जो रूसी घरेलू-युद्ध में हुआ था, क्योंकि इंग्लैण्ड और उसकी फ़ौजों ने सोवियत के दुश्मनों को मदद दी थी। इस हर्जाने की कुल रक़म ४,०६,७२,२६,०४० पौण्ड आँकी गई थी, और इसमें से इंग्लैण्ड के हिस्से में २,००,००,००,००० पौण्ड आते थे। इस तरह सोवियत का यह जवाबी-दावा इंग्लैण्ड के दावे से क़रीब ढाई गुना था।

बोलशेविकों का यह जवाबी-दावा बहुत कमज़ोर भी नहीं था। उन्होंने आलाबामा नामक गश्ती-जहाज़ की मशहूर मिसाल दी। १८५०-६० ई० के अमेरिकी घरेलू-युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड ने यह गश्ती-जहाज़ दक्षिणी राज्यों के लिए बनाया था। यह जहाज़ घरेलू-युद्ध शुरू होने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था, और इसने उत्तरी राज्यों के जहाज़ों को और व्यापार को बहुत काफ़ी नुक़सान पहुँचाया था। इसपर इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच युद्ध की नौबत आ गई थी। संयुक्त राज्य की सरकार ने दावा किया था कि युद्ध-काल में इंग्लैण्ड को यह जहाज़ दक्षिणी राज्यों को सौंप देने का कोई हक़ नहीं था। और इस जहाज़ ने जो नुक़सान किया था, उस सबके मुआवज़े का संयुक्त राज्य ने दावा पेश कर दिया। यह मामला पंच-फ़ैसले के सुपुर्द किया गया, और नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड को हर्जाने के तौर पर ३२,२९,१६६ पौण्ड अमेरिका को देने पड़े।

रूसी घरेलू-युद्ध में इंग्लैण्ड ने जो हिस्सा लिया था, वह उस गश्ती-जहाज़ के भेजे जाने से कहीं ज्यादा महत्व का और ज्यादा असरदार था, जिसके लिए उसे भारी मुआवज़ा देना पड़ा था। सोवियत ने सरकारी तौर पर बयान दिया है कि रूस में विदेशी हस्तक्षेपों के युद्ध में १३,५०,००० आदमियों की जानें गईं थीं।

रूस के पुराने क़र्ज़ों के सवाल का अभी तक कुछ हिस्सा तय हुआ है, मगर इतना वक़्त बीत जाने पर अब इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। उधर हम देख रहे हैं कि इंग्लैण्ड, फ़ान्स, जर्मनी और इटली-जैसे बड़े-बड़े पूंजीवादी और साम्राज्य-वादी देश क़रीब-क़रीब वही हरकतें कर रहे हैं, जिनकी वजह से रूस के मामले में उन्हें इतना सदमा पहुँचा था। यह सही है कि वे अपने क़र्ज़ों को मानने से इन्कार

नहीं करते, और न पूँजीवादी प्रणाली की बुनियाद को नामंजूर करते हैं। वे तो क़र्ज़ चुकाने में सिर्फ़ ग़फ़लत कर जाते हैं, और रुपया नहीं देते।

दूसरे राष्ट्रों के साथ सोवियत की नीति जैसे भी हो वैसे सुलह करने की थी, क्योंकि वह खोई हुई ताक़त हासिल करने के लिए वक़्त चाहता था, और उसका सारा ध्यान अपने लम्बे-चौड़े देश को समाजवादी ढंग पर बनाने के बड़े काम में लगा हुआ था। दूसरे देशों में समाजी क्रान्ति का नज़दीक में कोई आसार नहीं दिखाई देता था, इसलिए 'विश्व-क्रान्ति' का विचार उस वक़्त तो ठण्डा पड़ गया था। पूर्वी देशों की तरफ़ रूस ने दोस्ती व सहयोग की नीति अपनाई, हालाँकि उनका शासन पूँजीवादी प्रणाली के मातहत था। रूस और तुर्की और ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की आपसी सन्धियों के जाल का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों से इन सबको एक-सा डर था और एक-सी नफ़रत थी, और यही चीज़ें इन्हें जोड़नेवाली कड़ी थी।

१९२१ ई० में लेनिन ने जो नई आर्थिक नीति चलाई थी, उसका मतलब बिचले किसान-वर्ग को समाजीकरण के पक्ष में ले आना था। मालदार किसानों को, जो 'कुलक' कहलाते हैं (कुलक शब्द का अर्थ घूंसा है), बढ़ावा नहीं दिया गया, क्योंकि वे छोटे पैमाने पर पूँजीपति थे और समाजीकरण के सिलसिले को रोकने पर उतारू थे। लेनिन ने देहाती इलाक़ों में बिजली पहुँचाने की भी एक बहुत बड़ी योजना शुरू की, और बिजली पैदा करने की ज़बर्दस्त कलें लगाई गईं। इरादा, यह था कि किसानों को हर क़िस्म की सहायता दी जाय, और देश के उद्योगीकरण का रास्ता तैयार किया जाय। इन सब बातों के अलावा इसकी मुराद यह थी कि किसान-वर्ग में उद्योगों की ज़हनियत पैदा हो जाय और वे शहरी मज़दूरों या सर्वहारा-वर्ग के ज़्यादा नज़दीक आ जायँ। किसान लोग, जिनके गाँवों में बिजली का प्रकाश जगमगाने लगा और जिनकी खेती का बहुत सारा काम बिजली की शक्ति से होने लगा, अपने पुराने डरों को और अन्ध-विश्वासों को छोड़ने लगे और नये ढंग से सोचने लगे। शहरों और गाँवों के हितों के बीच, यानी शहरियों और किसानों के हितों के बीच, सदा झगड़ा रहता है। शहर का मज़दूर देहात से सस्ता अन्न और कच्चा माल लेना चाहता है, और कारख़ानों में जो सामान वह बनाता है, उसकी अच्छी क़ीमत चाहता है। उधर किसान भी शहर से सस्ते औज़ार और कारख़ानों का बना दूसरा सामान लेना चाहता है, और अपने पैदा किये हुए अन्न व कच्चे माल की अच्छी क़ीमत चाहता है। रूस में चार वर्षों के जंगबाज़ साम्यवाद के नतीजे से यह झगड़ा तेज़ होता जा रहा था। नई आर्थिक नीति ज़्यादातर इसी वजह से, और तनाव को ढीला करने के इरादे से, जारी की गई और किसानों को निजी व्यापार करने की सहूलियतें दे दी गईं।

बिजलीकरण की अपनी योजना के बारे में लेनिन को इतना जोश था कि उसने एक गुर बनाया, जो मशहूर हो गया। उसने कहा था कि "सोवियत में बिजली मिला दी जाय तो जोड़ साम्यवाद के बराबर हो जाता है।" लेनिन की मौत के बाद भी बिजलीकरण बड़ी तेज़ी से होता रहा। किसान-वर्ग पर असर डालने का और खेती-बाड़ी के तरीक़ों में सुधार का एक और उपाय था जुताई व दूसरे कामों के लिए मशीनी हलों का इस्तेमाल जारी करना। ये मशीनी-हल अमेरिका की फ़ोर्ड कम्पनी बनाकर भेजती थी। सोवियत ने रूस में मोटरें बनाने का कारखाना खड़ा करने के लिए फ़ोर्ड-कम्पनी को बहुत बड़ा ठेका भी दिया। यह कारखाना हर साल एक लाख तक मोटर-गाड़ियाँ तैयार कर सकता था। इसका खास काम मशीनी हल बनाना था।

सोवियत की एक और कार्रवाई, जिसकी वजह से विदेशी स्वार्थों से उसकी टक्कर हुई, मिट्टी के तेल और पैट्रोल का उत्पादन और उसका विदेशों में बेचा जाना था। काकेशस प्रदेश के अज़रबाइजान और जार्जिया के इलाक़े में मिट्टी के तेल का भरपूर भण्डार है। शायद यह उसी बड़े तेल-क्षेत्र का हिस्सा है, जो ईरान, मोसल और इराक़ तक फैला हुआ है। कैस्पियन सागर के तट पर बाकू दक्षिणी रूस का बड़ा तेलनगर है। सोवियत ने बड़ी-बड़ी तेल-कम्पनियों के मुक़ाबले में सस्ते भाव पर अपना मिट्टी का तेल और पैट्रोल विदेशों में बेचना शुरू कर दिया। अमेरिका की स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी, ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी, रॉयल डच शैल कम्पनी, वग़ैरा तेल-कम्पनियाँ बड़ी ज़बर्दस्त हैं, और संसार-भर में मिट्टी के तेल का व्यापार इन्हीं के हाथों में है। सोवियत ने जब अपना तेल इनसे सस्ते भाव पर बेचा, तो इन्हें बहुत नुक़सान हुआ और ये आग-बगूला हो गईं। इन्होंने रूसी तेल के ख़िलाफ़ आन्दोलन शुरू कर दिया और इसे 'चुराया हुआ तेल' बतलाया, क्योंकि रूस ने काकेशस में तेल के कुएँ उनके पूंजीपति मालिकों से छीने थे। मगर कुछ दिन बाद इन कम्पनियों ने इस 'चुराये हुए तेल' के साथ भाव-ताव कर लिया।

इस पत्र में और इससे पहले के पत्रों में मैंने बार-बार 'सोवियत' या 'सोवियतों' का ज़िक्र किया है। कभी-कभी मैंने यह भी लिखा है कि 'रूस' ने यह किया या वह किया। इन शब्दों का इस्तेमाल मैंने ज़रा लापरवाही के साथ एक ही अर्थ में किया है, और अब मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि यह क्या चीज़ है। अलबत्ता यह तो तुम जानती ही हो कि सोवियत गणराज्य की घोषणा, नवम्बर, १९१७ ई० में, पैट्रोग्राड में, बोलशेविक क्रान्ति के बाद की गई थी। ज़ारशाही साम्राज्य कोई सघन राष्ट्रीय राज्य नहीं था। यूरोप और एशिया की कितनी ही छोटी-छोटी पराधीन राष्ट्रीय इकाइयों पर खास रूस का प्रभुत्व था। इन छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयों की संख्या करीब दो सौ थी, और ये बिलकुल अलग-

अलग रंग-ढंगवाली थीं। ज़ार के राज्य में इनके साथ अधीन-क़ौमों-जैसा बर्ताव किया जाता था, और इनकी भाषाओं और संस्कृतियों को भी थोड़ा-बहुत दबाया जाता था। मध्य-एशिया की पिछड़ी हुई क़ौमों की बेहतरी के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। हालाँकि कोई ख़ास इलाक़ा नहीं था, जिसे यहूदी लोग अपना कह सकें, फिर भी इन्हें तमाम अल्प-संख्यक जातियों से ज्यादा सताया जाता था, और यहूदियों के 'प्रोग्रोम' या हत्याकाण्ड बुरी तरह बदनाम हो गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि इन सताई हुई क़ौमों के बहुत लोग रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हो गये, हालाँकि उनकी ख़ास दिलचस्पी राजनीतिक क्रान्ति में थी, समाजी क्रान्ति में नहीं। १९१७ ई० में, फ़रवरी की क्रान्ति के बाद जो काम-चलाऊ सरकार बनी थी, उसने इन कौमों को बहुत-से आश्वासन दिये थे, पर असल में कुछ भी नहीं किया। उधर लेनिन ने, बोलशेविक दल के शुरू के दिनों में, क्रान्ति से बहुत समय पहले ही, इस बात पर ज़ोर दिया था कि हर छोटी क़ौम को आत्म-निर्णय का पूरा हक़ दिया जाय, यहाँतक कि अगर वे चाहें तो बिलकुल अलग और स्वाधीन भी हो जायँ। पुराने बोलशेविक कार्यक्रम का यह एक अंग था। क्रान्ति के फ़ौरन बाद ही बोलशेविकों ने, जिनकी अब सरकार बन गई थी, आत्म-निर्णय के इस उसूल में अपना पक्का विश्वास फिर ज़ाहिर कर दिया।

घरेलू-युद्ध के दौरान ज़ारशाही साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया था, और सोवियत गणराज्य के क़ब्ज़े में मास्को व लेनिनग्राद के आस-पास के छोटे-छोटे क्षेत्र थे। पश्चिमी शक्तियों के बढ़ावा देने पर बाल्टिक सागर के तटवर्ती फ़िनलैण्ड, लैटविया, ऐस्टोनिया, लिथ्युआनिया वग़ैरा छोटी राष्ट्रीय इकाइयाँ स्वाधीन राज्य बन गईं। पोलैण्ड भी इसी तरह स्वाधीन राज्य बन गया। जब घरेलू-युद्ध में रूसी सोवियत की पूरी जीत हो गई और विदेशी सेनाएँ हट गईं तो साइबेरिया और मध्य एशिया में सोवियत हुकूमतें क़ायम हो गईं। इन हुकूमतों के मक़सद एक-से थे, इसलिए इनमें गहरे दोस्ताना ताल्लुक़ हो जाना लाज़िमी था। १९२३ ई० में इन सबने मिलकर सोवियत संघ बना लिया। इसका पूरा सरकारी नाम समाजवादी सोवियत गणराज्यों का संघ[1] रक्खा गया।

१९२३ ई० के बाद संघ के गणराज्यों की संख्या कुछ बदल गई है, क्योंकि कुछ गणराज्यों के दो-दो टुकड़े हो गये हैं। आजकल इस संघ में सात गणराज्य हैं :

(१) रूसी समाजवादी संघीय सोवियत गणराज्य (Russian Socialist Federative Soviet Republic.

[1] Union of Socialist Soviet Republics—इसका छोटा रूप—U. S. S. R. है।

(२) श्वेत रूसी समाजवादी सोवियत गणराज्य (White Russia S. S. R.)
(३) यूक्रेनी स० सो० ग० (Ukrainian S. S. R.)
(४) काकेशस-पार का समाजवादी संघीय सो० ग० (Trans-Caucasian Socialist Federative S. R.)
(५) तुर्कमेनिस्तान या तुर्कमान स० सो० ग० (Turkeman S. S. R.)
(६) उज़बक स० सो० ग० (Uybek S. S. R.)
(७) ताजिकिस्तान या ताजिक स० सो० ग० (Tadjikistan or Tadjik S. S. R.)

मंगोलिया का भी सोवियत संघ से थोड़ा-बहुत गठ-बन्धन है।

इस तरह सोवियत संघ कई गणराज्यों का संघ है। संघ में शामिल होनेवाले गणराज्यों में से कुछ गणराज्य ख़ुद भी संघ हैं। मसलन, रूसी स० सं० सो० ग० बारह ख़ुद-मुख़्तार गणराज्यों का संघ है, और काकेशस-पार का स० सं० सो० गणराज्य इन तीन गणराज्यों का संघ है: अज़रबाइज़ान स० सो० ग०, जार्जिया स० सो० ग० और आर्मीनिया स० सो० ग०। आपस में जुड़े हुए और एक-दूसरे पर निर्भर, इन कई गणराज्यों के अलावा, इन गणराज्यों के भीतर भी कई-एक 'राष्ट्रीय' और 'स्वशासित' प्रदेश हैं। हर जगह स्वशासन का इतना हक़ जारी रखने का मक़सद यह है कि हरेक छोटी क़ौम को अपनी भाषा व संस्कृति क़ायम रखने का, और ज्यादा-से-ज्यादा आज़ादी भोगने का, मौक़ा दिया जाय। जहाँतक हो सका, इस बात का यत्न किया गया है कि कोई भी राष्ट्रीय या नस्ली समुदाय किसी दूसरे पर अपना प्रभुत्व न जमा सके। अल्पसंख्यकों की समस्या का यह रूसी हल हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है, क्योंकि हमें ख़ुद अल्पसंख्यकों की कठिन समस्या का सामना करना पड़ रहा है। मालूम होता है कि सोवियतों की कठिनाइयाँ हमारी कठिनाइयों से बहुत ज्यादा थीं, क्योंकि उन्हें अलग-अलग तरह की १८२ राष्ट्रीय इकाइयों के मामले को सुलझाना था। इस समस्या को उन्होंने बड़ी कामयाबी के साथ हल कर लिया है। सोवियत-संघ तो इस आख़िरी हद तक चला गया कि उसने हरेक अलग क़ौम को तसलीम कर लिया और उसे अपना काम और अपनी शिक्षा अपनी निजी भाषा में चलाने के लिए बढ़ावा दिया। यह सिर्फ़ अलग-अलग अल्पसंख्यकों की जुदागाना प्रवृत्तियों को ख़ुश करने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह महसूस करके किया गया कि जनता की सच्ची शिक्षा और सांस्कृतिक प्रगति देशी भाषाओं के इस्तेमाल से ही कारगर हो सकती हैं। इसके जो नतीजे निकले हैं, वे मार्के के हैं।

संघ की यकसानियत में फ़र्क़ दाखिल करने के इस रवैय्ये के बावजूद, उसके

जुदा-जुदा हिस्से एक-दूसरे के इतने ज़्यादा नज़दीक आते जा रहे हैं जितने ज़ारों की केन्द्रीय सरकार के अधीन रहकर कभी नहीं आये थे। वजह यह है कि सबके मक़सद एक-से हैं और सब-के-सब मिलकर सबकी भलाई की कोशिश में लगे हुए हैं। फ़र्ज़ी तौर पर हर गणराज्य को हक़ है कि जब चाहे तब संघ से अलग हो जाय। मगर ऐसी नौबत आने का कोई योग नहीं है, क्योंकि पूँजीवादी जगत की जंगबाज़ी का मुक़ाबला करने के लिए समाजवादी सोवियतों के संघ में बड़ा फ़ायदा है।

इस संघ का मुख्य गणराज्य लाज़िमी तौर पर रूसी गणराज्य है। यह लेनिनग्राद से-लगाकर साइबेरिया के ठेठ पार तक फैला हुआ है। श्वेत रूसी स० सो० गणराज्य पोलैण्ड के बाज़ू में है। यूक्रेन दक्षिण में काले सागर के किनारे-किनारे चला गया है; यह रूस का अन्न-भण्डार है। काकेशस-पार का गणराज्य, जैसा कि इसके नाम से ज़ाहिर है, काकेशस पर्वतमाला के पार कैस्पियन सागर और काले सागर के बीच में है। काकेशस-पार गणराज्यों में ही आर्मीनिया का गणराज्य है, जो बहुत दिनों तक तुर्कों और आर्मीनियाइयों के डरावने हत्याकाण्डों का अखाड़ा रहा था। अब सोवियत गणराज्य बन जाने पर यह ठण्डा पड़कर अमनपसन्द कार्रवाइयों में लग गया मालूम होता है। कैस्पियन सागर के उसपार तुर्कमेनिस्तान, उज़बेकिस्तान और ताजिकिस्तान के तीन मध्य-एशियाई गणराज्य हैं। उज़बेकिस्तान में बुखारा और समरक़न्द के मशहूर शहर हैं। ताजिकिस्तान अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सरहद पर है और भारत का सबसे नज़दीकी सोवियत प्रदेश है।

मध्य-एशिया के साथ हमारा युगों का सम्पर्क होने के सबब से मध्य-एशिया के ये गणराज्य हमारे लिए खास दिलचस्पी की चीज़ हैं। पिछले कुछ वर्षों में इनमें जो निराली तरक़्क़ी हुई है, उसकी वजह से हमारा दिल इनकी तरफ़ और भी ज़्यादा खिचता है। ज़ारों के राज्य में ये देश बहुत पिछड़े हुए और अन्ध-विश्वासी थे। शिक्षा का यहाँ नाम भी नहीं था और ज़्यादातर स्त्रियाँ परदे में रहती थीं। आज ये देश बहुत बातों में भारत से आगे बढ़ गये हैं।

: १८० :

रूस की पंच-वर्षीय योजना[1]

९ जुलाई, १९३३

लेनिन जबतक ज़िन्दा रहा तबतक रूस का सबसे बड़ा नेता माना जाता रहा। उसके आखिरी फ़ैसले के आगे सब सिर झुकाते थे। जब कभी आपसी झगड़े होते थे, उसका फ़ैसला सबको मानना पड़ता था और साम्यवादी दल के आपस में

[1] रूसी भाषा में इसे पायातिलेतका (Piatiletka) कहते हैं।

लड़नेवाले धड़े फिर मिलकर एक हो जाते थे । पर उसकी मौत के बाद लाजिमी तौर पर गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योंकि अलग-अलग धड़े और अलग-अलग साथी हुकूमत पर क़ब्ज़ा करने के लिए आपस में लड़ने लगे । बाहर की दुनिया के लिए, और कुछ हद तक रूस में भी, लेनिन के बाद बोलशेविकों में त्रात्स्की ही सबसे बड़ा व्यक्ति था । अक्तूबर की क्रान्ति में बड़ा अगुआ त्रात्स्की ही था, और त्रात्स्की ही वह व्यक्ति था, जिसने ज़बर्दस्त कठिनाइयों का मुक़ाबला करके उस लाल सेना का संगठन किया था, जिसने घरेलू-युद्ध में और विदेशियों के दख़ल के ख़िलाफ़ शानदार जीत हासिल की थी । मगर फिर भी बोलशेविक दल में त्रात्स्की नया आया था, और लेनिन को छोड़कर सारे पुराने बोलशेविक न तो उसे चाहते थे, न उसपर भरोसा करते थे । इन पुराने बोलशेविकों में से स्तालिन साम्यवादी दल का प्रधान सचिव बन गया था, और इस हैसियत से रूस के सबसे ज़बर्दस्त और ताक़तवर संगठन की बागडोर इसके हाथों में थी । त्रात्स्की और स्तालिन के बीच भारी बैर था । ये एक-दूसरे से नफ़रत करते थे और दोनों की धज बिलकुल अलग-अलग थी । त्रात्स्की तेजस्वी लेखक और वक्ता था, और अपनेको ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला साबित कर चुका था । इसका दिमाग़ बड़ा तेज़ और सूझ-बूझवाला था; इसे क्रान्ति की नई-नई कल्पनाएँ सूझा करती थीं; और अपने शत्रुओं पर यह ऐसे वचनों की चोट करता था, जो उन्हें चाबुक और बिच्छू के डंक की तरह तिलमिला देते थे । इसकी तुलना में स्तालिन एक साधारण आदमी जँचता था —ख़ामोश, बे-रौब और कुन्द-ज़हन । मगर यह भी बड़ा भारी संगठन करनेवाला था, और बड़ा बहादुर सिपाही था, और लोहे जैसे मज़बूत इरादेवाला आदमी था । वास्तव में यह 'लौह पुरुष' ही कहलाने लगा है । लोग त्रात्स्की के तो गुणों की तारीफ़ करते थे, पर उनके दिलों में विश्वास भरनेवाला स्तालिन ही था । इसका जन्म जार्जिया के एक किसान-परिवार में हुआ था, इसलिए यह ख़ुद भी साधारण जनता में से ही ऊपर उठा था । साम्यवादी दल में इन दोनों बुलन्द हस्तियों के लिए गुंजायश नहीं थी ।

स्तालिन और त्रात्स्की की टक्कर ख़ानगी तो थी ही, पर असल में इससे भी कुछ और ज़्यादा थी । क्रान्ति को उभारकर लाने के बारे में दोनों जुदा-जुदा नीतियों और उपायों के नुमाइन्दे थे । क्रान्ति से बहुत साल पहले त्रात्स्की ने 'सदा रहनेवाली क्रान्ति' का मत सोच निकाला था । इस मत के मुताबिक़ किसी अकेले देश के लिए पूरा समाजवाद क़ायम करना मुमकिन नहीं है, चाहे उस देश की स्थिति कितनी ही मुवाफ़िक़ क्यों न हो । असली समाजवाद तो सारी दुनिया में क्रान्ति के बाद ही क़ायम हो सकता है, क्योंकि किसान-वर्ग का असरकारक समाजीकरण तभी हो सकता है । आर्थिक विकास में पूंजीवाद के बाद समाजवाद ही अगली ऊँची सीढ़ी है । पूंजीवादी व्यवस्था ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय होती जाती है, त्यों-त्यों टूटती जाती

है, जैसा कि आज हम संसार के बहुत-से भागों में देख रहे हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे को सिर्फ़ समाजवाद ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है, इसलिए समाजवाद टल नहीं सकता। मार्क्स का यही मत था। पर यदि समाजवाद को किसी एक ही देश में चलाया जाय, यानी उसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय न होकर राष्ट्रीय ही रहे, तो इसका अर्थ होगा नीचे की आर्थिक सीढ़ी पर उतर आना। सब तरह की तरक़्क़ी, जिसमें समाजी तरक़्क़ी भी शामिल है, अन्तर्राष्ट्रीयता की बुनियाद पर ही हो सकती है, और इससे पीछे हटना न तो मुमकिन है, न माक़ूल। इसलिए, त्रात्स्की का कहना था कि आर्थिक लिहाज़ से किसी अलग-थलग देश में समाजवाद क़ायम करना मुमकिन नहीं है; सोवियत-संघ जैसे बड़े देश में भी नहीं। क्योंकि सोवियत को भी कितनी ही बातों के लिए पश्चिमी यूरोप के उद्योगोंवाले देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह चीज़ ऐसी ही है जैसे शहरों और गाँवों या देहाती क्षेत्रों का आपसी सहयोग; उद्योगोंवाले पश्चिमी देश तो मानो शहर हैं, और रूस ज्यादातर देहाती है। त्रात्स्की का मत था कि राजनीतिक लिहाज़ से भी कोई अलग समाजवादी देश पूंजीवादी हवा में ज्यादा समय तक ज़िन्दा नहीं रह सकता। ये दोनों बातें आपस में बिलकुल बे-मेल हैं, और हम देख चुके हैं कि इसमें कितनी ज्यादा सचाई है। या तो पूंजीवादी देश मिलकर समाजवादी देश को कुचल डालेंगे, या पूंजीवादी देशों में समाजी क्रान्तियाँ हो जायेंगी, और हर जगह समाजवाद क़ायम हो जायगा। हाँ, यह हो सकता है कि कुछ वर्षों तक दोनों एक डाँवाडोल सन्तुलन की हालत में साथ-साथ चलते रहें।

मालूम होता है कि क्रान्ति के पहले और बाद में भी सारे बोलशेविक नेताओं का बहुत हद तक यही विचार था। वे सारी दुनिया में क्रान्ति का, या कम-से-कम कुछ यूरोपीय देशों में क्रान्तियों का, बड़ी बे-सब्री से इन्तज़ार कर रहे थे। महीनों तक यूरोप के आकाश में बादल गरजते रहे, मगर यह तूफ़ान बिना फटे ही टल गया। सब झगड़े-टण्टों को छोड़कर रूस अपनी नई आर्थिक नीति को चलाने में लग गया और बहुत-कुछ रोजमर्रा की मामूली ज़िन्दगी में फँस गया। इसपर त्रात्स्की ने ख़तरे का बिगुल बजाया, और बतलाया कि अगर सारी दुनिया में क्रान्ति की तरफ़ ले जानेवाली ज्यादा सरगर्म नीति नहीं अपनाई गई तो क्रान्ति ख़तरे में पड़ जायगी। त्रात्स्की की इस चुनौती के सबब से त्रात्स्की और स्तालिन के बीच ज़बर्दस्त कुश्ती छिड़ गई, और इस मुठभेड़ ने साम्यवादी दल को कई वर्ष तक हिला डाला। इस मुठभेड़ का नतीजा यह निकला कि स्तालिन पूरी तरह जीत गया, और इसका ख़ास कारण यह था कि दल की कल उसीके हाथों में थी। त्रात्स्की और उसके समर्थक क्रान्ति के दुश्मन क़रार दिए गये और दल से निकाल दिये गए। त्रात्स्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया, बाद में उसे सोवियत संघ से ही देश-निकाला दे दिया गया।

स्तानिल और त्रात्स्की की मुठभेड़ इस वजह से शुरू हुई कि स्तालिन ने किसानों को समाजवाद के पक्ष में झुकने के लिए खेती-वाड़ी के बारे में सरगर्म नीति अपनाने का प्रस्ताव किया। यह, बिना इस बात का विचार किये कि और देशों में क्या हो रहा है, रूस में समाजवाद, क़ायम करने का प्रयत्न था। त्रात्स्की ने इसे नामंजूर कर दिया और वह अपने 'सतत क्रान्ति' के मत पर अड़ा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान-वर्ग का पूरा समाजीकरण नहीं हो सकता। सच तो यह है कि स्तालिन ने त्रात्स्की के बहुत-से सुझाव अपना लिये, लेकिन उन्हें अपनाया अपने निजी ढंग से, त्रात्स्की के ढंग से नहीं। इसका ज़िक्र करते हुए त्रात्स्की ने आत्म-चरित में लिखा है: "राजनीति में किसी कार्रवाई के बारे में फ़ैसला सिर्फ़ इस बात पर नहीं किया जाता कि वह कार्रवाई क्या है, बल्कि इसपर किया जाता है कि वह कार्रवाई कैसे की जाती है और उसे कौन करता है।"

इस तरह इन दो भीमों की ज़बर्दस्त लड़ाई का अन्त हुआ, और जिस रंगमंच पर त्रात्स्की ने इतना बहादुराना व चमकदार पार्ट अदा किया था, उसीपर से उसे ढकेलकर नीचे गिरा दिया गया। जिस सोवियत संघ के ख़ास-ख़ास बनानेवालों में उसकी गिनती थी, उसीको उसे छोड़कर जाना पड़ा। त्रात्स्की के क्रियाशील व्यक्तित्व से लगभग सारे देश काँपते थे, इसलिए कोई उसे अपने यहाँ आने देने को तैयार नहीं था। इंग्लैण्ड ने उसे अपने देश में प्रवेश करने की इजाज़त नहीं दी, और यूरोप के ज्यादातर दूसरे देशों ने भी ऐसा ही किया। अन्त में उसे तुर्की के एक छोटे-से टापू प्रिन्किपो में कुछ दिन के लिए बसेरा मिला, जो इस्तम्बूल के समुद्र-तट के पास है। यहाँ वह लिखने में मशग़ूल हो गया, और उसने 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' लिखा, जो अपने ढंग का निराला है। स्तालिन की नफ़रत का भूत उसके सिर पर अभी तक सवार था, और वह बड़ी तीखी भाषा में उसकी आलोचना और उसपर हमले करता रहता था। संसार के कुछ भागों में बाक़ायदा त्रात्स्की-वादी दल तैयार हो गया और यह सोवियत सरकार और कॉमिण्टर्न के सरकारी साम्यवाद के ख़िलाफ़ डटकर खड़ा हो गया।

त्रात्स्की से निबट लेने के बाद, स्तालिन खेती-बाड़ी की अपनी नई नीति पर अमल करने में अनोखी हिम्मत के साथ जुट गया। उसे कठिन हालतों का सामना करना पड़ा। दिमाग़ी लोगों में मुसीबत और बेकारी फैल रही थी और मज़दूरों की हड़तालें हो रही थीं। उसने मालदार किसानों यानी 'कुलकों' पर भारी कर लगा दिये, और इस रुपये को देहाती सामूहिक खेती के फ़ार्म खड़े करने में लगा दिया। इस सामूहिक खेती का अर्थ था सहकारिता के आधार पर ऐसी खेती, जिसमें बहुत-से किसान मिलकर काम करते थे और मुनाफ़ा आपस में बाँट लेते थे। कुलकों और ज्यादा मालदार किसानों ने इस नीति को बहुत नापसन्द किया

और वे सोवियत सरकार से बहुत नाराज़ हो गए। उन्हें डर था कि उनके ढोर और खेती के औज़ार उनके ग़रीब पड़ौसियों के ढोरों और औज़ारों के साथ शामिल कर दिये जायँगे, और इस डर से उन्होंने सचमुच अपने जानवरों को मार डाला। जानवरों का ऐसा ज़बर्दस्त सत्यानाश हुआ कि अगले साल अन्न, गोश्त और दूध-मक्खन वग़ैरा की बेहद कमी पड़ गई।

स्तालिन के लिए यह ऐसी चोट थी, जिसकी उसे आशा नहीं थी। मगर वह जी कड़ा करके अपने कार्यक्रम पर अटल रहा। इतना ही नहीं, उसने तो इसे और भी बढ़ाया और उसे सारे संघ के लिए खेती-बाड़ी और उद्योग दोनों की ज़बर्दस्त योजना का रूप दे दिया। इस योजना का काम नमूने के बड़े-बड़े सहकारी खेतों और सामूहिक खेतों के ज़रिये किसानों को उद्योगों के नज़दीक लाना था; और बड़े-बड़े कारखाने व पन-बिजली पैदा करने के यन्त्र डालना, और खानों की खुदाई करना वग़ैरा था। साथ-ही-साथ शिक्षा, विज्ञान, सहकारी क्रय-विक्रय, लाखों मज़दूरों के लिए मकान बनाना और आमतौर पर उनके रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करना, वग़ैरा-वग़ैरा ढेरों दूसरे काम भी हाथ में लिये जानेवाले थे। यही वह मशहूर 'पंच-वर्षीय योजना' थी, जिसे रूसी लोग अपनी भाषा में 'पायातिलेत्का' कहते थे। यह बड़ा ज़बर्दस्त कार्यक्रम था, और इतने बढ़े-चढ़े मनसूबों से भरा था कि किसी मालदार और प्रगतिशील देश के लिए भी एक पीढ़ी में इसे पूरा करना कठिन था। पिछड़े हुए और मुफ़लिस रूस का तो इसमें हाथ डालना ही हद दर्जे की बेवक़ूफ़ी मालूम होती थी।

यह पंच-वर्षीय योजना खूब सावधानी से विचार और जाँच करने के बाद रची गई थी। वैज्ञानिकों व इंजीनियरों ने सारे देश की पड़ताल की थी, और कार्यक्रम के एक अंग का दूसरे अंग से मेल मिलाने की समस्या पर बहुत-से विशेषज्ञों ने आपस में चर्चाएँ की थीं। क्योंकि असली कठिनाई तो सही मेल मिलाने की थी। कोई बड़ा कारखाना डालना बेसूद था, अगर उसके लिए कच्चा माल मुहैया नहीं हो सकता था। और अगर कच्चा माल सुलभ भी हुआ तो उसे कारखाने तक पहुँचाने का सवाल था। इसलिए माल ढोने की समस्या को हल करने के लिए रेलमार्गों का बनाना ज़रूरी था। और रेलों के लिए कोयले की ज़रूरत थी, इसलिए कोयले की खानों की खुदाई ज़रूरी थी। फिर कारखानों को चलाने के लिए शक्ति चाहिए थी। यह शक्ति कारखानों में पहुँचाने के लिए बड़ी-बड़ी नदियों पर बाँध बनाकर जल-शक्ति से बिजली पैदा की गई, और फिर इस बिजली को तारों के ज़रिये कारखानों और खेतों में, और रोशनी के लिए शहरों और गाँवों में, पहुँचाया गया। लेकिन फिर इन सब कामों के लिए इंजीनियरों, मिस्त्रियों, और सीखे हुए मज़दूरों की ज़रूरत थी, और थोड़े-से समय में बीसियों हज़ार सीखे हुए नर-नारी तैयार कर

देना कोई आसान बात नहीं है। मोटर से चलनेवाले मशीनी हल हज़ारों की संख्या में फ़ार्मों पर भेजे जा सकते थे, पर उन्हें चलाता कौन ?

पंच-वर्षीय योजना से जो समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, उनकी चकरानेवाली पेचीदगी का कुछ अन्दाज़ा बताने के लिए ये थोड़े-से उदाहरण मैंने दिये हैं। अगर कहीं ज़रा-सी भी भूल हो जाती तो उसका असर बड़ी दूर तक पहुँचता; सारे कार्यक्रम की ज़ंजीर की अगर एक भी कड़ी कमज़ोर या पिछड़ी हुई होती तो सारे क्रम में ही देर हो जाती या रुकावट पड़ जाती। मगर पूँजीवादी देशों के मुक़ाबले में रूस को एक बहुत बड़ी भारी सहूलियत थी। पूँजीवाद में ये सब काम व्यक्तियों की सूझ-बूझ पर और इत्तफ़ाक़ पर छोड़ दिये जाते हैं, और होड़ की वजह से बहुत-सी मेहनत बेकार जाती है। जुदा-जुदा माल तैयार करनेवालों या जुदा-जुदा कामों में लगे हुए मज़दूरों के बीच कोई तालमेल नहीं होता। अगर संयोग से तालमेल होता भी है तो वह एक बड़ी मण्डी में माल बेचनेवालों और ख़रीदनेवालों में पैदा होनेवाला तालमेल होता है। मतलब यह है कि व्यापक पैमाने पर कोई योजना नहीं बनाई जाती। अलग-अलग कम्पनियाँ अपने आगे के कामों की शायद योजना बनाती हों, और बनाती भी हैं, मगर अपनी-अपनी योजना बनाने का यह काम इस नज़रिये से होता है कि दूसरी कम्पनियों से बाज़ी मार ली जाय या उन्हें पछाड़ दिया जाय। राष्ट्रीय लिहाज़ से इसका नतीजा योजना बनाने के काम से बिलकुल उलटा होता है; इसका अर्थ यह होता है कि बहुतायत और कमी साथ-साथ बने रहते हैं। सोवियत सरकार के लिए यह सुविधा थी कि सारे संघ के तमाम उद्योगों और कामों का संचालन उसके हाथ में था, इसलिए वह ऐसी तालमेलवाली योजना रच सकती थी और अमल में लाने की कोशिश कर सकती थी, जिसमें हर काम को उचित जगह मिली हुई होती थी। इसमें कोई चीज़ फ़िज़ूल नहीं जाती, हिसाब लगाने या काम करने में ग़लती होने से कुछ नुक़सान भले ही हो जाय। और एक जगह से संचालन में ये ग़लतियाँ भी इतनी जल्दी सुधारी जा सकती हैं, जितनी जल्दी दूसरी हालत में नहीं सुधारी जा सकतीं।

पंच-वर्षीय योजना का मक़सद यह था, कि सोवियत संघ में उद्योगवाद की ठोस नींव पड़ जाय। यह इरादा नहीं था कि हरेक की ज़रूरत का माल, जैसे कपड़ा वग़ैरा बनाने के लिए कुछ कारख़ाने डाल दिये जायँ। बाहर के देशों से मशीनें मँगाकर खड़ी करने से यह काम बड़ी आसानी से हो जाता, जैसा कि भारत में किया जाता है। रोज़मर्रा के काम की चीज़ें पैदा करनेवाले ऐसे उद्योग 'हलके उद्योग' कहलाते हैं। ये हलके उद्योग ज़रूरी तौर पर लोहा और इस्पात और मशीनें बनाने के 'भारी उद्योगों' पर निर्भर करते हैं। ये भारी उद्योग हलके उद्योगों के लिए मशीनें और सरंजाम और इंजन वग़ैरा भी तैयार करते हैं। सोवियत सरकार ने

पंच-वर्षीय योजना में आगे की सोचकर इन बुनियादी या भारी उद्योगों पर सारा ध्यान लगाने का फ़ैसला किया। उसने सोचा कि इस तरह उद्योगवाद की जड़ मज़बूती के साथ जम जायगी और बाद में हलके उद्योग चालू करना आसान हो जायगा। भारी उद्योगों से यह भी होगा कि मशीनों और युद्ध-सामग्री के लिए रूस को बाहर के देशों पर इतना निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

इन हालतों में भारी उद्योगों के पक्ष में यही फ़ैसला सही मालूम होता था, पर इसका अर्थ यह था कि जनता को बड़ी कठिन मेहनत करनी थी और ज़बर्दस्त तक़लीफ़ें उठानी थीं। भारी उद्योग हलके उद्योगों से ख़र्चीले भी बहुत ज्यादा होते हैं, और इन दोनों में बुनियादी फ़र्क़ यह होता है कि भारी उद्योगों से बहुत समय तक तो कोई आमदनी ही नहीं होती। कपड़े का कारख़ाना खुलते ही कपड़ा तैयार करने लगता है, और इसे फ़ौरन बेचा जा सकता है। रोज़मर्रा खपत की चीज़ों का उत्पादन करनेवाले दूसरे हलके उद्योगों का भी यही हाल होता है। पर लोहे और इस्पात का कारख़ाना इस्पात की रेल-पटरियाँ और रेल के इंजन तैयार तो कर देगा, मगर इनकी खपत या इनका उपयोग तबतक नहीं हो सकता जबतक कि रेलमार्ग न डाला जाय। इसमें समय लगता है, और तबतक बहुत-सा रुपया इस धन्धे में फँसा रहता है, और देश की हालत तंग हो जाती है।

इसलिए ज़बर्दस्त रफ़्तार से भारी उद्योग खड़े करने का अर्थ था बड़ी भारी क़ुर्बानी। इन सारे तामीरी कामों के लिए, बाहर के देशों से आनेवाली इन तमाम मशीनों के लिए क़ीमत देनी पड़ती थी, और वह भी सोने और नक़दी के रूप में। इसका क्या उपाय था? सोवियत संघ की जनता ने अपने पेट पर पट्टी बाँध ली और भूखा रहना मंजूर किया और अपनेको ज़रूरी चीज़ों तक से महरूम रक्खा, ताकि बाहर के देशों को सामान की क़ीमत का रुपया भेजा जा सके। उन्होंने अपने यहाँ की खाने-पीने की चीज़ें विदेशों को भेजीं और इनकी जो क़ीमत मिली, उससे मशीनों के दाम चुकाये। जितनी भी चीज़ें विदेशों में बिक सकती थीं, वे सब उन्होंने भेजीं, जैसे : गेहूँ, कँगनी, जौ, मक्का, तरकारियाँ, फल, अण्डे, मक्खन, गोश्त, मुर्ग़ियाँ, बतख़ें, शहद, मछलियाँ, मछलियों का अचार, तेल, चीनी मिठाई की गोलियाँ चाकलेट, वग़ैरा। इन अच्छी-अच्छी चीज़ों को बाहर भेजने का मतलब यह था कि वे ख़ुद इन चीज़ों के लिए तरसते रह जाते थे। रूस के निवासियों को मक्खन नहीं मिलता था, या बहुत ही कम मिलता था, क्योंकि वह मशीनों के दाम चुकाने के लिए बाहर भेजा जाता था। यही हाल बहुत-सी दूसरी चीज़ों का भी था।

पंच-वर्षीय योजना के भीतर ज़बर्दस्त कोशिशें १९२९ ई० में शुरू हुईं। क्रान्ति की भावना एक बार फिर फैल गई; एक आदर्श की पुकार ने जनता के दिलों को हिला डाला और उन्हें अपनी सारी शक्ति इस नई मशक़्क़त में लगाने

को उकसाया। यह लड़ाई किसी बाहरी या अन्दरूनी दुश्मन से नहीं थी। यह लड़ाई थी रूस की पिछड़ी हुई हालत से, पूंजीवाद के बचे-खुचे रूपों से और रहन-सहन के नीचे दर्जों से। लोगों ने काफ़ी उत्साह से इन और भी ज्यादा क़ुर्बानियों को बर्दाश्त किया, और वे तपस्वियों-जैसी कठोर ज़िन्दगी बिताने लगे। उन्होंने वर्तमान को उस भविष्य पर निछावर कर दिया, जो उन्हें अपनी तरफ़ बुलाता हुआ दिखाई दिया और जिसे बनाने का उन्हें गौरव और सौभाग्य मिला था।

गुज़रे ज़मानों में राष्ट्रों ने अपनी सारी शक्ति समेटकर किसी एक ही बड़े काम को पूरा करने में लगा दी है, पर यह हुआ युद्ध के ही समयों में। महायुद्ध के दौरान जर्मनी और इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के लिए ज़िन्दगी का एक ही हेतु था: किसी तरह युद्ध जीतना। इस हेतु के आगे बाक़ी सब बातें हेच थीं। मगर सोवियत रूस ने इतिहास में यह सबसे पहली मिसाल पेश की कि राष्ट्र की सारी शक्ति को समेटकर, विनाश में नहीं, बल्कि तामीर की और एक पिछड़े हुए देश को समाजवाद के ही ढांचे में उद्योगों के मामले में ऊँचा उठाने की अमन-पसन्द क़ोशिश में लगा दिया। पर ज़नता को, और खासकर ऊपर के और मध्यमवर्गी किसानों को, इसकी बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी, और अक्सर ऐसा लगता था कि ऊँचे मनसूबोंवाली यह सारी योजना ढह जायगी और शायद अपने साथ सोवियत सरकार को भी ले बैठेगी। इसपर मज़बूती से जमे रहने के लिए ज़बर्दस्त हिम्मत की ज़रूरत थी। बहुत-से बोलशेविकों का खयाल था कि खेती-बाड़ी के कार्यक्रम से लोगों पर जो ज़ोर और तकलीफ़ें पड़ रही थीं, वे बर्दाश्त से बाहर थीं। इसलिए उन्हें थोड़ी देर आराम देना चाहिए। पर स्तालिन ने कभी यह नहीं सोचा। वह तो जी कड़ा करके और धीरज के साथ डटा रहा। वह बातूनी नहीं था: सार्वजनिक सभाओं में भाषण देने की उसकी आदत नहीं थी। ऐसा लगता था मानो वह किसी अटल नियति की ऐसी लौह मूर्त्ति हो, जो अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ रही हो। और उसके साहस व पक्के इरादे का कुछ हिस्सा साम्यवादी दल के सदस्यों में और रूस के दूसरे कार्यकर्त्ताओं में भी फैल गया।

पंच-वर्षीय योजना के पक्ष में लगातार प्रचार के ज़रिये जनता का जोश ठण्डा नहीं पड़ने दिया गया और लोगों को हरदम नया क़दम बढ़ाने के लिए हाँका गया। पन-बिजली पैदा करनेवाले कारखानों, बाँधों, पुलों, फ़ैक्टरियों, और सामुदायिक फ़ार्मों को तैयार करने में आम लोगों ने बड़ी दिलचस्पी से काम किया। इंजीनियरी का काम सबसे ज्यादा लोकप्रिय धन्धा बन गया, और अखबारों में इंजीनियरों के बड़े-बड़े कारनामों के तकनीकी ब्यौरे भरे रहते थे। रेगिस्तान और घास के मैदान आबाद हो गये, और हर उद्योग के गिर्द नये-नये नगर पैदा हो गए। नई-नई सड़कें, नई-नई नहरें, नई-नई रेलें, जिनमें ज्यादातर बिजली की रेलें

थीं, बनाई गईं, और हवाई सेवाओं का विकास हुआ। रासायनिक उद्योग, जंगी उद्योग और औज़ार उद्योग क़ायम किये गए, और सोवियत संघ मशीनी हल, मोटर गाड़ियाँ, रेल के शक्तिशाली इंजन, मोटर इंजन, टरबाइनें और हवाई-जहाज़ तैयार करने लगा। लम्बे-चौड़े क्षेत्रों में बिजली के तारों का जाल फैल गया, और रेडियो तो सबके साधारण उपयोग की चीज़ हो गया। बेरोज़गारी बिलकुल ग़ायब हो गई, क्योंकि तामीर का व दूसरी तरह का इतना काम चल रहा था कि जितने भी मज़दूर मिल सकते थे, वे सब काम में लगा दिये गए। यहाँतक कि कई इंजीनियर बाहर के देशों से आये और उन्हें खुशी-खुशी रख लिया गया। याद रखने की बात यह है कि यह वह ज़माना था जबकि सारे पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में मन्दी फैल रही थी और वहाँ बेरोज़गारी की संख्या बहुत ज्यादा बढ़ गई थी।

पंच-वर्षीय योजना का काम आसानी के साथ नहीं चला। अक्सर दिक़्क़तें पैदा हो जाती थीं, तालमेल में कमी हो जाती थी, काम उलटे हो जाते थे, और मेहनत बेकार चली जाती थी। पर इनसब बातों के बावजूद काम की रफ़्तार बढ़ती गई और हमेशा और भी ज्यादा की पुकार मचती रही। और तब यह नारा उठाया गया : "पंच-वर्षीय योजना चार वर्षों में पूरी होनी चाहिए", मानो इस अद्भुत कार्यक्रम के लिए पाँच साल का समय भी बहुत ज्यादा था! यह योजना ज़ाहिरदारी में ३१ दिसम्बर, १९३२ ई० को, यानी चार साल बाद ही पूरी हो गई। और फिर १ जनवरी, १९३३ ई० से फ़ौरन ही नई पंच-वर्षीय योजना चालू कर दी गई।

इस पंच-वर्षीय योजना के बारे में लोग अक्सर बहस किया करते हैं; कुछ तो कहते हैं कि इसे ज़बर्दस्त सफलता मिली और कुछ कहते हैं कि यह बिलकुल असफल रही। उसमें कहाँ-कहाँ कसर रही, यह बतला देना काफ़ी आसान है, क्योंकि इससे जो उम्मीदें बाँधी गई थीं, वे बहुत बातों में पूरी नहीं हुईं। रूस में आज कई बातों में बड़ी भारी कमी-बेशी है, और सबसे बड़ी कमी सीखे हुए और कुशल कर्मचारियों की है। कारखाने तो बहुत ज्यादा हैं, पर उन्हें चलानेवाले क़ाबिल इंजीनियर कम हैं; मानो भोजनालय और पाकशालाएँ तो बहुत हैं, पर कुशल रसोइये कम हैं! इसमें शक नहीं कि ये कमी-बेशी जल्दी मिट जायगी, या और कुछ नहीं तो घट जायगी। पर एक चीज़ साफ़ है: पंच-वर्षीय योजना ने रूस की काया बिलकुल पलट दी है। पहले वह सामन्ती देश था, अब वह एकदम प्रगतिशील औद्योगिक देश बन गया है। यहाँ संस्कृति की अद्भुत तक़्क़ी हुई है; और यहाँ की समाज-सेवाएँ, यानी समाजी सेहत और दुर्घटना के बीमों की व्यवस्था, दुनिया-भर में सबसे ज्यादा पूरी व आगे बढ़ी हुई है। ज़रूरी चीज़ों की तक़लीफ़ और कमी के बावजूद बेकारी और भुखमरी की जो भयंकर तलवार दूसरे देशों के मज़दूरों के

सिर पर लटकी हुई है, वह रूस से ग़ायब हो गई है। जनता में आर्थिक हिफ़ाज़त की नई भावना पैदा हो गई है।

पंच-वर्षीय योजना की सफलता या असफलता के बारे में तर्क-वितर्क बहुत-कुछ बेसूद है। इसका सही जवाब तो सोवियत संघ की मौजूदा हालत से मिल जाता है। और दूसरा जवाब यह हक़ीक़त है कि इस योजना की छाप दुनिया-भर के लोगों के दिलों में बैठ गई है। अब सब जगह 'योजनाओं' की—पंच-वर्षीय, दश-वर्षीय और तीन-वर्षीय योजनाओं की, चर्चा हो रही है। सोवियत ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

: १८१ :

सोवियत संघ की कठिनाइयाँ, सफलताएँ और असफलताएँ

११ जुलाई, १९३३

सोवियत रूस की पंच-वर्षीय योजना एक ज़बर्दस्त काम था। वास्तव में यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसमें कई बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ नत्थी हो रही थीं। खासतौर पर इसमें खेती-बाड़ी की क्रान्ति शामिल थी, जिससे पुराने ढंग के छोटे पैमाने पर खेती-बाड़ी के तरीक़ों की जगह बड़े पैमाने पर सामूहिक और मशीनी खेती-बाड़ी के तरीक़ों ने ले ली थी; और औद्योगिक क्रान्ति भी इसमें शामिल थी, जिससे रूस का उद्योगीकरण बड़ी तेज़ी से हो गया था। पर इस योजना का सबसे ज़्यादा दिलचस्प पहलू इसके पीछे काम करनेवाली भावना थी, क्योंकि राजनीतिक व उद्योगों के लिहाज़ से यह भावना नई थी। यह भावना विज्ञान की भावना थी, यानी सोचे-समझे वैज्ञानिक तरीक़ों को समाज की रचना में इस्तेमाल करने का यत्न था। इससे पहले किसी खूब आगे बढ़े हुए देश में भी ऐसा कोई प्रयोग नहीं हुआ था, और विज्ञान के तरीक़ों का इन्सानी व समाजी मामलों में यह प्रयोग सोवियत की योजनाओं का खास पहलू था। यही वजह है कि आज सारा संसार योजनाएँ बनाने की बात सोच रहा है, लेकिन जब पूँजीवादी ढंग की समाजी व्यवस्था का सारा आधार ही होड़बाज़ी पर और मिल्कियत में निहित हितों की हिफ़ाज़त पर हो, तब कोई भी कारगर योजना बनाना कठिन है।

लेकिन जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, इस पंच-वर्षीय योजना से बहुत मुसीबतें और कठिनाइयाँ और उखाड़-पछाड़ पैदा हो गईं। और जनता को इसकी भयंकर क़ीमत चुकानी पड़ी। ज़्यादातर लोगों ने तो यह क़ीमत राज़ी से चुकाई, और अच्छे दिनों के आने की उम्मीद में कुछ वर्षों के लिए क़ुर्बानियाँ और मुसीबतें झेलना क़बूल कर लिया; कुछ लोगों ने बेमर्ज़ी से क़ीमत चुकाई और सिर्फ़ सोवियत सरकार की ज़बर्दस्ती की वजह से चुकाई। 'कुलकों' या ज़्यादा मालदार किसानों

की गिनती उन लोगों में थी, जिन्होंने सबसे ज्यादा नुक़सान उठाया। अपनी दौलत और खास रौब-दाब की वजह से नई योजना में इन लोगों का मेल नहीं बैठा। ये ऐसे पूंजीवादी तत्व थे, जो सामूहिक खेती के समाजवादी ढंग पर विकास को रोकते थे। अक्सर वे इस सामूहीकरण का विरोध करते थे, कभी-कभी ये इन सामूहिक खेतियों में उन्हें भीतर से कमज़ोर करने के इरादे से, या अपने लिए उनसे बेजा मुनाफ़े वसूल करने के इरादे से घुस जाते थे। इसलिए सोवियत सरकार ने इन्हें बुरी तरह दबोच दिया। सरकार ने उन बहुत-से मध्यम-वर्गी लोगों पर भी बड़ी सख्ती की, जिनपर उसे यह शक था कि वे उसके दुश्मनों की तरफ़ से भेदियों का या तोड़-फोड़ का काम कर रहे हैं। इसी शुबहे में बहुत-से इंजीनियरों को सज़ाएँ दी गईं और जेलों में डाल दिया गया। मगर चूंकि हाथ में ली हुई सैकड़ों बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए इंजीनियरों की खास ज़रूरत थी, इसलिए इससे खुद योजना को ही धक्का पहुँचा।

क़रीब-क़रीब हर जगह बेडौलपन था। ढुलाई की व्यवस्था पिछड़ी हुई थी, इसलिए कारखानों की पैदावार और खेतों की उपज ढुलाई के साधनों की कमी के सबब से महीनों पड़ी रहती थी, जिसकी वजह से दूसरी जगहों के काम में गड़बड़ी पड़ जाती थी। मगर सबसे बड़ी कठिनाई तो क़ाबिल विशेषज्ञों और इंजीनियरों की कमी की थी।

पंच-वर्षीय योजना के वर्षों के बीच, सारी दुनिया में, या यों कहो कि पूंजीवादी दुनिया में, इतनी ज़बर्दस्त मन्दी फैल रही थी, जितनी पहले कभी नहीं हुई। व्यापार डूब रहा था, कारखाने बन्द हो रहे थे, बेकारी खूब बढ़ रही थी। अन्न और कच्चे माल की क़ीमतों में गिरावट से सारी दुनिया के खेतिहरों में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। सोवियत संघ में तो खूब हलचल और रोज़गारी थी, पर इसके मुक़ाबले दूसरे देशों में काम ठप्प हो रहा था और बेरोज़गारी फैली हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि सारी दुनिया की मन्दी का सोवियत संघ पर कोई असर नहीं पड़ा था, क्योंकि उसकी अर्थ-व्यवस्था का आधार ही बिलकुल अलग तरह का था। मगर सोवियत संघ भी मन्दी के नतीजों से बच नहीं पाया; ये पिछले दरवाज़े से चुपचाप घुस आये और इनकी वजह से रूस की दिक्क़तें बहुत ज्यादा बढ़ गईं। मैं बतला चुका हूँ कि सोवियत रूस बाहर के देशों से मशीनें खरीदता था और इनके दाम चुकाने के लिए वह अपने यहाँ पैदा होनेवाली खाने की चीजें विदेशों में बेचता था। जब दुनिया के बाज़ार में खाने की चीज़ों वग़ैरा के भाव गिरे तो सोवियत को निर्यात से कम आमदनी होने लगी। मगर उसे अपनी खरीदी हुई मशीनों के दाम चुकाने के लिए काफ़ी सोना जमा करना ज़रूरी था, इसलिए वह खाने की चीज़ों का दिन-पर-दिन ज्यादा निर्यात करने लगा। इस तरह व्यापार

की संसार-व्यापी मन्दी और भावों के गिर जाने से रूस को बहुत नुक़सान हुआ और उसके बहुत-से हिसाब उलट-पुलट हो गये और इसके नतीजे से देश में बहुत-सी ज़रूरी चीज़ों की और भी ज़्यादा कमी हो गई और तकलीफ़ें बढ़ गईं।

एक तरफ़ तो सारे सोवियत संघ में खाने की चीज़ों की लगातार कमी होती जा रही थी, दूसरी तरफ़ आबादी में ज़बर्दस्त बढ़ोतरी हो रही थी। तेज़ी से होनेवाली यह बढ़ोतरी, जो खेती की उपज की इतनी ही धीमी रफ़्तार के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा थी, सोवियत की सबसे बड़ी समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियत संघ के मौजूदा प्रदेश की आबादी तेरह करोड़ थी। घरेलू-युद्ध में अपार जन-हानि के बावजूद पिछले वर्षों में आबादी की बढ़ोतरी ध्यान देने लायक़ है:

१९१७ ई० में आबादी	१३,००,००,००० थी
१९२६ ई० में ,,	१४,९०,००,००० थी
१९२९ ई० में ,,	१५,४०,००,००० थी
१९३० ई० में ,,	१५,८०,००,००० थी
१९३३ ई० में ,,	१६,५०,००,००० थी

(बसन्त के आँकड़े)

इस तरह पन्द्रह से कुछ ही ऊपर वर्षों में यहाँ की आबादी में ३,५०,००,००० की बढ़ोतरी हुई है—यानी २६ फ़ीसदी बढ़ोतरी हुई है, और यह ग़ैर-मामली बात है।

आबादी की यह बढ़ोतरी सारे सोवियत संघ में तो हुई ही, पर शहरों में खासतौर से ज़्यादा हुई। पुराने शहर दिन-पर-दिन बढ़ने लगे, और रेगिस्तानों और घास के मैदानों तक में नये-नये उद्योगोंवाले नगर पैदा हो गये। ढेर-के-ढेर किसान, पंच-वर्षीय योजना के भीतर होनेवाली तामीर के बड़े-बड़े उद्योगों से खिंचकर अपने गाँवों को छोड़कर शहरों में चले आये। १९१७ ई० में एक लाख से ऊपर आबादी के ऐसे इकत्तीस शहर थे, पर १९३३ ई० में इनकी संख्या पचास से ऊपर हो गई। पन्द्रह वर्षों के भीतर सोवियत ने उद्योगोंवाले एक सौ नगर खड़े कर लिये थे। १९१३ से १९३२ ई० तक मास्को की आबादी दुगुनी हो गई थी, यानी १६ लाख से ३२ लाख तक जा पहुँची थी; लेनिनग्राद की आबादी १० लाख बढ़ गई, और तीस लाख के आस-पास पहुँच गई; काकेशस-पार के बाकू शहर की आबादी भी क़रीब दुगुनी होकर ३,३४,००० से ६,६०,००० हो गई। कुल मिलाकर शहरी आबादी १९१३ ई० में दो करोड़ से १९३२ ई० से साढ़े तीन करोड़ हो गई।

जब कोई किसान शहर में जाकर मज़दूर बन जाता है, तो वह अन्न पैदा करनेवाला नहीं रहता, जैसाकि वह अपने गाँव में होता था। कारख़ाने के मज़दूर

की हैसियत से वह मशीनों के सामान और औज़ार भले ही तैयार करता हो, पर जहांतक खाने-पीने की चीज़ों का ताल्लुक़ है, अब वह सिर्फ़ ख़रीदार रह जाता है। इसलिए गाँव से किसानों के इस भारी निकास का नतीजा यह हुआ कि अन्न पैदा करनेवाले वर्ग का रूप बदलकर ख़रीदनेवाला वर्ग हो गया। अन्न की समस्या को पेचीदा बनानेवाला यह भी एक हेतु था।

एक हेतु और भी था। देश के बढ़ते हुए उद्योगों के लिए कच्चे माल की ज़रूरत दिन-पर-दिन बढ़ रही थी। मसलन कपड़े के कारख़ानों के लिए रूई की ज़रूरत थी। इसलिए बहुत-से इलाक़ों में अन्न की फ़सलों के बजाय कपास और दूसरा कच्चा माल बोया जाने लगा। इससे अन्न की उपज और भी कम हो गई।

सोवियत संघ की आबादी में ग़ैर-मामूली बढ़ोतरी ही ख़ुशहाली का एक ग़ौर करने लायक़ चिह्न था। अमेरिका की तरह यह बढ़ोतरी बाहर से आकर बसनेवालों के कारण नहीं हुई थी। इससे ज़ाहिर होता है कि तकलीफ़ों और महरूमियों के होते हुए भी लोगों को भूखों मरने की नौबत नहीं आई थी। राशन की कड़ी व्यवस्था के ज़रिये लोगों के भोजन की निहायत ज़रूरी चीज़ें देने का इन्तज़ाम किया गया था। अनुभवी देखनेवालों का कहना है कि बहुत करके आबादी में तेज़ी के साथ यह बढ़ोतरी जनता में आर्थिक इतमीनान की भावना की वजह से हुई है। अब परिवार पर बच्चों का बोझ नहीं पड़ता, क्योंकि राज्य की तरफ़ से उनके पालन-पोषण और शिक्षा का इन्तज़ाम हो जाता है। सफ़ाई और इलाज की सुविधाओं में बढ़ोतरी भी आबादी बढ़ने का एक कारण है। इससे बच्चों के मरने की तादाद २७ फ़ीसदी से घटकर १२ फ़ीसदी रह गई है। मास्को में, १९१३ ई० में, मरने-वालों की तादाद आमतौर पर हज़ार में तेईस से ऊपर थी; १९३१ ई० में यह घटकर तेरह फ़ी हज़ार हो गई।

१९३१ ई० में संघ के कुछ भागों में सूखा पड़ जाने के कारण अन्न की दिक़्क़तें और भी ज्यादा बढ़ गईं। १९३१ और १९३२ ई० में दूर-पूर्व में युद्ध के ख़तरे भी पैदा हो गये थे, इसलिए सोवियत ने इस डर से कि दूसरी पूंजीवादी शक्तियों से मिलकर जापान कहीं हमला न कर बैठे और इससे युद्ध न छिड़ जाय, ज़रूरत के वक़्त के लिए सेना के वास्ते नाज व खाने-पीने की दूसरी चीज़ें जमा करना शुरू कर दिया। एक पुरानी रूसी कहावत है: "डर से आँखें बड़ी हो जाती हैं।" यह बात कितनी सही है, चाहे तो आप इसे छोटे बच्चों पर लागू कीजिये, या जातियों और राष्ट्रों पर! चूंकि साम्यवाद और पूंजीवाद के बीच सच्ची सुलह कभी नहीं हो सकती और साम्राज्यवादी राष्ट्र साम्यवाद को दबाने पर बहुत आमादा हैं, और इस इरादे से चालबाज़ियां और साज़िशें करते रहते हैं, इसलिए बोलशेविकों के दिलों में हरदम घबराहट बनी रहती है, और ज़रा-सी भी उत्तेजना मिलते ही

वे आँखें फाड़कर देखने लगते हैं। बहुत बार तो उनकी इस परेशानी का कारण भी होता है। खुद अपने ही घर में उन्हें तोड़-फोड़ की या कारखानों व दूसरे बड़े धन्धों को तबाह करने की चौतरफ़ा कोशिशों का मुक़ाबला करना पड़ता है।

उन्नीस सौ बत्तीस का साल सोवियत संघ के लिए बहुत नाज़ुक साल था। बहुत-से सामूहिक फ़ार्मों में तोड़-फोड़ की और सामूहिक सम्पत्ति की चोरी की जो घटनाएँ हुईं, उनके ख़िलाफ़ सोवियत सरकार ने बड़ी सख्त कार्रवाइयाँ कीं। मामूली तौर पर रूस में मौत की सज़ा नहीं है, पर उलट-क्रान्ति के अपराधों के लिए इसे जारी कर दिया गया। सोवियत सरकार ने हुक्म जारी कर दिया कि सामूहिक सम्पत्ति की चोरी उलट-क्रान्ति के बराबर है, इसलिए इसकी सज़ा मौत है। क्योंकि स्तालिन कहता है: "अगर पूंजीवादियों ने निजी सम्पत्ति को पवित्र और महफ़ूज़ क़रार दिया है, और इस तरह अपने ही ज़माने में पूंजीवादी व्यवस्था को मज़बूत बनाने में सफलता हासिल कर ली है, तो हम साम्यवादियों को तो और भी ज़्यादा चाहिए कि सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और महफ़ूज़ क़रार दें, ताकि इस तरह अर्थ-व्यवस्था के नये समाजवादी रूपों को मज़बूत बना दें।"

सोवियत सरकार ने लोगों की परेशानी दूर करने के लिए और तरीक़ों से भी कार्रवाइयाँ कीं। इनमें सबसे महत्व की यह थी कि सामूहिक व निजी फ़ार्मों को अपनी फ़ालतू उपज सीधी शहरों की मण्डियों में बेचने की इजाज़त दे दी गई। यह चीज़ हमें कुछ हद तक उस नई आर्थिक योजना की याद दिलाती है, जो १९२१ ई० में लड़ाकू साम्यवाद के ज़माने के बाद शुरू हुई थी, पर उस वक़्त के और आज के सोवियत संघ में बहुत फ़र्क़ है। आज वह समाजवाद के राजमार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुका है, उसका उद्योगीकरण हो गया है और उसकी खेती बहुत-कुछ सामूहिक बना दी गई है।

१९२९ और १९३३ ई० के बीच में दो लाख सामूहिक फ़ार्मों का संगठन किया गया, और क़रीब पाँच हज़ार सरकारी फ़ार्म भी थे। ये सरकारी फ़ार्म दूसरों के लिए नमूनों की तरह हैं, और इनमें से कुछ तो बहुत ही बड़े-बड़े हैं। इसी काल में १,२०,००० मशीनी-हल चालू किये गए, और क़रीब दो-तिहाई किसान इन सामूहिक खेतों के सदस्य बन गये।

सरकारी संगठन की हलचल एक और ऐसी हलचल है, जिसमें अद्भुत तरक़्क़ी हुई है। उपभोक्ताओं की सहकारी समिति के सदस्यों की संख्या १९२८ ई० में २,६५,००,००० थीं; १९३२ ई० में यह संख्या ७,५०,००,००० हो गई। इस समिति के पास थोक व फुटकर बिक्री-भण्डारों का सिलसिला संघ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, और कोने-कोने में, फैला हुआ है।

१९३३ ई० की पहली जनवरी को दूसरी पंच-वर्षीय योजना शुरू हुई। इसका मक़सद हलके उद्योग क़ायम करना है, जिनसे जनता के रहन-सहन का दर्जा बहुत जल्दी ऊँचा हो जायगा। यह भी आशा है कि पहली पंच-वर्षीय योजना की सख्त मेहनत और संकट के बाद इससे लोगों को ज्यादा आराम और रहन-सहन की बेहतर हालत के रूप में कुछ इनाम दिया जा सकेगा। अब ज्यादा ज़रूरी मशीनें खरीदने के लिए बाहर के देशों में जाने की ज़रूरत नहीं रही, क्योंकि सोवियत के भारी उद्योग ये मशीनें तैयार करने लगे हैं। विदेशों में खरीदे हुए माल के दाम चुकाने के वास्ते भारी मिक़दार में खाने की चीज़ें बाहर भेजने की इल्लत से भी अब सोवियत को राहत मिल गई है।

१९३३ ई० में सामूहिक फ़ार्मों के किसानों की एक कांग्रेस में भाषण देते हुए स्तालिन ने कहा था—

> "सामूहिक खेती में लगाये गए तमाम किसानों को आसूदा-हाल बनाना हमारा सबसे पहला काम है। हाँ, साथियो, आसूदा-हाल।... कभी-कभी लोग कहते हैं: जब समाजवादी व्यवस्था है, तो अब हम मेहनत क्यों करें? हमने पहले भी मेहनत की, अब भी मेहनत करते हैं। क्या अब वक़्त नहीं आया है कि हम मेहनत करना छोड़ दें? ... हरगिज़ नहीं। समाजवाद की इमारत मेहनत-मजूरी पर बनती है।.. समाजवाद की माँग है कि सब लोग ईमानदारी के साथ मेहनत करें, दूसरों के लिए नहीं, मालदारों के लिए नहीं, शोषकों के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लिए, समाज के लिए।"

काम तो हमेशा रहेगा, और रहना ही चाहिए, मगर हो सकता है कि आयन्दा वह उससे ज्यादा आसान और हलका हो जायगा, जितना कि योजना की शुरुआत के आज़मायशी वर्षों में था। वास्तव में सोवियत संघ का क़ायदा ही यह है—"जो काम नहीं करेगा वह खायेगा भी नहीं"। पर बोलशेविकों ने काम के साथ एक नया मक़सद जोड़ दिया है: समाजी बेहतरी के लिए काम करने का मक़सद। गुज़रे ज़माने में आदर्शवादियों और इक्का-दुक्का व्यक्तियों ने इस मुराद से हरकत पाकर काम किया है, मगर ऐसी कोई पिछली मिसाल नहीं है, जिसमें सारे समाज ने इस मक़सद को समझा हो और उसके मुताबिक़ काम किया हो। पूंजीवाद की बुनियाद ही मुक़ाबलेदारी और निजी मुनाफ़ा रही है, और वह भी सदा दूसरों को नुक़सान पहुँचाकर। सोवियत संघ में अब मुनाफ़े की नीयत की जगह समाजी नीयत लेती जा रही है और, एक अमेरिकी लेखक ने कहा कि रूस के मज़दूर यह सीख रहे हैं कि "आपसी सहारे का उसूल मान लेने पर ही ग़रीबी और भय से छुटकारा मिलता है"। हर जगह जनता की छाती पर सवार रहनेवाले ग़रीबी व असुरक्षा

के ज़बर्दस्त भय को मिटाना बड़ी मार्के की कामयाबी है। कहते हैं, इस इतमीनान के सबब से सोवियत संघ में दिमाग़ी रोगों का अन्त हो गया है।

बस, इन कठिन मेहनत के वर्षों में सोवियत संघ में हर जगह और हर बात में उन्नति हुई है। यह उन्नति दुखदाई और वेडौल तो है, पर शहरों और उद्योगों का बड़े-बड़े सामूहिक फ़ार्मों और वहुत बड़ी-बड़ी सहकारी समितियों का, व्यापार और आबादी का, और संस्कृति और विज्ञान और विद्या का भी, विस्तार तो हुआ ही है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इन वर्षों के भीतर सोवियत-संघ में बाल्टिक सागर से लगाकर प्रशान्त महासागर और पामीर और मध्य एशिया के हिन्दू-कुश पर्वतों तक निवास करनेवाली कितनी ही जुदा-जुदा क़ौमों में मेल-मिलाप व एकता पैदा होती दिखाई देती है।

मुझे लोभ होता है कि सोवियत रूस में शिक्षा और विज्ञान और संस्कृति की चौमुखी तरक़्क़ी के बारे में लिखूं, पर मुझे अपने ऊपर लगाम लगानी पड़ेगी। मैं कुछेक इधर-उधर के ऐसे तथ्यों का ज़िक्र करूँगा, जो शायद तुम्हें अच्छे लगें। कई अनुभवी जानकारों ने माना है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज संसार-भर में सबसे बढ़िया और सबसे नई है। निरक्षरता को तो एक तरह से ख़त्म ही कर दिया गया है, और मध्य-एशिया के उज़बेकिस्तान व तुर्कमेनिस्तान-जैसे पिछड़े हुए इलाक़ों में बहुत ही अद्‌भुत तरक़्क़ी हुई। मध्य-एशिया के इस प्रदेश में, १९१३ ई० में, १२६ स्कूल थे, जिनमें ६,२०० विद्यार्थी थे, वहां १९३२ ई० में ६,९७५ स्कूल हो गये, जिनमें सात लाख विद्यार्थी थे और इनमें एक-तिहाई से ज्यादा लड़कियाँ थीं। सब बच्चों के लिए लाज़िमी शिक्षा जारी कर दी गई है। इस निराली तरक़्क़ी के महत्व को समझने के लिए तुम्हें यह बात याद रखनी चाहिए कि अभी कुछ ही दिन पहले तक संसार के इस भाग में लड़कियाँ परदे में रक्खी जाती थीं, और उन्हें सबके सामने निकलने नहीं दिया जाता था। कहते हैं कि यह तेज़ तरक़्क़ी लातीनी वर्णमाला के इस्तेमाल की वजह से हुई है, क्योंकि जुदा-जुदा मुक़ामी वर्णमालाओं की वनिस्बत इस वर्णमाला से प्राइमरी शिक्षा बहुत आसान हो गई है। कमाल पाशा ने पुरानी अरबी वर्णमाला की जगह लातीनी लिपि या वर्णमाला चालू की थी, यह मैं तुम्हें बता चुका हूँ। यह सूझ, और दूसरी भाषाओं के माफ़िक बदली गई यह वर्णमाला, उसे सोवियत के तजुर्बे से हासिल हुई थी। १९२४ ई० में काकेशिया के गणराज्य ने अरबी लिपि को छोड़कर लातीनी लिपि अपना ली। निरक्षरता दूर करने में इससे बहुत सफलता मिली और सोवियत संघ की दूसरी छोटी-छोटी क़ौमों में से बहुतों ने लातीनी लिपि अपना ली। इनमें चीनी, मंगोल, तुर्क, तातारी, बूरियत, बश्कीर, ताजिक, व बहुत-सी दूसरी क़ौमें शामिल हैं। भाषाएँ तो मुक़ामी ही रक्खी गईं, जो सदा से काम में आती थीं, सिर्फ़ लिपि बदल दी गई।

यह जानकर तुम्हें दिलचस्पी होगी कि सोवियत संघ की तमाम पाठशालाओं के दो-तिहाई से ज़्यादा बच्चों को पाठशालाओं में ही दोपहर को गर्म खाना खिलाया जाता है। कहना न होगा कि यह खाना मुफ़्त दिया जाता है, और शिक्षा भी बिलकुल मुफ़्त है। मज़दूरों के राज्य में तो ऐसा होना ही चाहिए।

साक्षरों की तादाद बढ़ने से और शिक्षा में तेज़ी से पढ़नेवालों की संख्या बहुत ज़्यादा बढ़ गई है, और रूस में जितनी पुस्तकें और जितने अखबार छपते हैं उतने शायद किसी दूसरे देश में नहीं छपते। ये पुस्तकें ज़्यादातर गम्भीर और ठोस विषयों की होती हैं, दूसरे देशों की तरह के हलके उपन्यास नहीं। रूसी मज़दूर को इंजीनियरी और बिजली के बारे में इतना कौतूहल है कि वह कहानी पुस्तकों की बजाय इन विषयों की पुस्तकें पढ़ना ज़्यादा पसन्द करता है। लेकिन बच्चों के लिए परियों की कहानियों की भी बड़ी मज़ेदार पुस्तकें हैं, हालाँकि मेरे ख़याल से कट्टर बोलशेविक लोग परियों की कहानियाँ अच्छी नहीं समझते।

विज्ञान के क्षेत्र में, यानी शुद्ध विज्ञान और उसके अनगिनती उपयोगों में, रूस सबसे ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुका है। विज्ञान की बहुत सारी शाखाओं की कितनी ही बड़ी-बड़ी संस्थाएँ और प्रयोगशालाएँ तैयार हो गई हैं। लेनिनग्राद में वनस्पति उद्योग की एक बहुत बड़ी संस्था है, जिसके पास कम-से-कम २८,००० जुदा-जुदा क़िस्मों के गेहूँ हैं। यह संस्था हवाई-जहाज़ों के ज़रिये चावल बोने के तरीक़ों पर प्रयोग कर रही है।

ज़ारों और अमीरों के पुराने महलों में अब जनता के लिए अजायबघर और विश्राम-गृह और स्वास्थ्य-सदन बना दिये गए हैं। लेनिनग्राद के नज़दीक एक छोटा-सा क़स्बा है, जो 'ज़ारको-सेलो' (ज़ार का गाँव) कहलाता था, क्योंकि उसमें दो शाही महल थे, और गर्मी के मौसम में ज़ार वहाँ रहा करता था। अब इसका नाम बदलकर 'देत्स्को-सेलो' (बच्चों का गाँव) रख दिया गया है, और मेरा ख़याल है कि वे पुराने महल अब छोटे बच्चों और लड़के-लड़कियों के काम आते हैं। आज सोवियत देश में बच्चों और लड़के-लड़कियों का सबसे ज़्यादा ध्यान रक्खा जाता है। उन्हें अच्छी-से-अच्छी चीज़ें दी जाती हैं, भले ही दूसरे लोगों को इनकी कमी सहनी पड़े। आज की पीढ़ी उन्हींके लिए सारी मेहनत कर रही है, क्योंकि समाजवादी और वैज्ञानिक राज्य के वारिस वे ही बननेवाले हैं, बशर्ते कि ऐसा राज्य उनकी ज़िन्दगी में क़ायम हो जाय। मास्को में माताओं व बच्चों की हिफ़ाज़त रखनेवाली एक बहुत बड़ी केन्द्रीय संस्था है।

रूस में स्त्रियों की जितनी आज़ादी है उतनी शायद किसी दूसरे देश में नहीं है। साथ ही राज्य की ओर से उन्हें ख़ास संरक्षण मिले हुए हैं। सारे धन्धे उनके लिए खुले हुए हैं, और स्त्री-इंजीनियरों की संख्या तो काफ़ी बड़ी है। सोवियत

सरकार ने बोलशेविक दल की पुरानी सदस्या श्रीमती कोलनताइ को राजदूत के पद पर मुक़र्रर किया। अभी तक किसी सरकार ने किसी स्त्री को राजदूत नहीं बनाया था। लेनिन की विधवा-पत्नी श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियत शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्ष हैं।

हर दिन और हर घड़ी होनेवाले इन परिवर्तनों की वजह से सोवियत संघ कौतूहल पैदा करनेवाली भूमि बन गया है। पर उसका कोई हिस्सा इतना कौतूहल-भरा और दिलकश नहीं है, जितने कि साइबेरिया के घास के मैदान और मध्य-एशिया की प्राचीन घाटियाँ। ये दोनों इन्सानी तब्दीली और तरक़्क़ी की धारा से मुद्दतों से विलग थे, पर अब बड़े वेग से छलाँग मारकर आगे बढ़ रहे हैं। इन बहुत तेज़ तब्दीलियों का कुछ अन्दाज़ तुम्हें देने के लिए मैं ताज़िकिस्तान का कुछ हाल तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। यह सोवियत संघ के शायद सबसे पिछड़े हुए प्रदेशों में गिना जाता था।

ताज़िकिस्तान पामीर पर्वतमाला की घाटियों में आक्सस नदी के उत्तर की ओर, अफ़ग़ानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान की सरहद से लगा हुआ और भारत की सरहद के पास है। यह बुख़ारा के अमीरों के मातहत था, जो रूसी ज़ारों के माण्डलिक थे। १९२० ई० में बुख़ारा में मुक़ामी क्रान्ति हुई, अमीर को उखाड़ फेंका गया, और बुख़ारा जनपद सोवियत गणराज्य क़ायम हो गया। इसके बाद ही घरेलू-युद्ध हो गया, और तुर्की के पुराने लोकप्रिय नेता अनवर पाशा की मौत इन्हीं उपद्रवों के दौरान हुई। बुख़ारा के गणराज्य का नाम उज़बेक समाजवादी सोवियत गणराज्य पड़ गया और यह सोवियत संघ के भीतर पूर्ण सत्ताधारी गणराज्य बन गया। १९२५ ई० में उज़बेक प्रदेश के भीतर स्वशासित ताज़िक गणराज्य क़ायम हुआ। १९२९ ई० में ताज़िकिस्तान भी पूर्ण-सत्ताधारी गणराज्य बन गया, और सोवियत संघ का सातवाँ राज्य हो गया।

ताज़िकिस्तान ने यह गौरव तो हासिल कर लिया, पर यह पिछड़ा हुआ इलाका था, जिसकी आबादी दस लाख से भी कम थी और जहाँ आवा-जाई के कुछ भी साधन नहीं थे; अगर रास्ते भी थे तो सिर्फ़ ऊँटों की पगडंडियाँ। नई शासन-व्यवस्था में सड़कों, सिंचाई और खेती-बाड़ी, उद्योगों, शिक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा के साधनों की तरक़्क़ी के क़दम फ़ौरन उठाये गए। मोटरों के लिए सड़कें बनाई गईं, और कपास की बुवाई शुरू की गई और सिंचाई का इन्तज़ाम होने से उसमें खूब सफलता मिली। १९३१ ई० के बीच तक कपास के ६० फ़ी सदी से ज़्यादा बाग़ानों को सामूहिक बाग़ान बना दिया गया, और नाज पैदा करनेवाले इलाके को भी ज़्यादातर सामुदायिक फ़ार्मों में संगठित कर दिया गया। एक बिजलीघर क़ायम किया गया, और आठ कपड़ा-मिलें और तीन तेल-मिलें भी डाली गईं। इस प्रदेश

को उज़बेकिस्तान के रास्ते सोवियत संघ की रेल-प्रणाली से जोड़नेवाला रेलमार्ग बनाया गया, और मुख्य हवाई मार्गों से मिलान करनेवाली हवाई सेवा चालू की गई।

१९२१ ई० में इस सारे इलाके में सिर्फ़ एक दवाखाना था। १९३१ में इकसठ अस्पताल और सैंतीस दन्त-चिकित्सालय हो गये, जिनमें २,१२५ पलंग थे और बीस डॉक्टर थे। शिक्षा की प्रगति का कुछ अनुमान नीचे लिखे आँकड़ों से हो सकता है:

१९२५ ई० में : सिर्फ़ छै आधुनिक स्कूल।

१९२६ ई० के अन्त में : ११३ स्कूल और २,३०० विद्यार्थी।

१९२९ ई० में : ५०० स्कूल।

१९३१ ई० में : २,००० से ऊपर शिक्षण-संस्थाएं, जिनमें विद्यार्थियों की संख्या १,२०,००० से ऊपर।

कहना न होगा कि शिक्षा पर खर्च की जानेवाली रक़म भी एकदम बढ़ गई है। १९२९-३० ई० में स्कूलों का बजट ८०,००,००० रूबल था (बराबर के भाव से एक रूबल क़रीब दो शिलिंग का होता है, पर असली क़ीमत घटती-बढ़ती रहती है); १९३०-३१ का बजट २,८०,००,००० रूबल था। मामूली स्कूलों के अलावा, बच्चों के खेल-स्कूल, ट्रेनिंग स्कूल, पुस्तकालय, और वाचनालय भी खोले गये। जनता में ज्ञान प्राप्त करने की ज़बर्दस्त प्यास थी।

इन हालतों में स्त्रियों का पर्दे में बना रहना मुमकिन नहीं था, और पर्दा बड़ी तेज़ी से हटता जा रहा था।

यह सब अनहोनी-सी बात लगती है। यह जानकारी और ये आँकड़े मैंने अमेरिका के एक अनुभवी दर्शक की रिपोर्ट से लिये हैं, जिसने १९३२ ई० के शुरू में ताजिकिस्तान की यात्रा की थी। तबसे अबतक शायद वहाँ और भी बहुत-से परिवर्तन हो गये हैं।

मालूम होता है कि सोवियत संघ ने शिक्षा वग़ैरा के लिए नये ताजिक गण-राज्य को पैसे की मदद दी, क्योंकि पिछड़े हुए प्रदेशों को खींच कर आगे लाना सोवियत की नीति है। लेकिन खयाल किया जाता है कि इस देश में खनिजों का ज़बर्दस्त भण्डार है। सोना, मिट्टी के तेल और कोयले की खानें तो निकल आई हैं, और लोगों का तो यहाँ तक विश्वास है कि सोने का भण्डार बहुत बड़ा है। पुराने ज़माने में, चंगेज़खाँ के ज़माने तक इन खानों की खुदाई होती रही, पर मालूम होता है कि तब से इनका काम बन्द पड़ा है।

१९३१ ई० में ताजिकिस्तान में उलट-क्रान्ति वालों ने बलवा कर दिया, और मालदार ज़मींदार वर्ग के जो बहुत-से लोग देश छोड़ कर अफ़ग़ानिस्तान भाग

गये थे, उन्होंने हमला बोल दिया। मगर यह बलवा फिसफिसाकर रह गया, क्योंकि किसानों ने इसका साथ नहीं दिया।

यह पत्र लम्बा और खिचड़ी बनता जा रहा है। मगर मैं अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सोवियत संघ की हलचलों का कुछ और हाल तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम्हें मालूम होगा कि सोवियत ने उस केलॉग-क़रार पर दस्तखत किये थे, जो युद्ध को 'ग़ैर-क़ानूनी' बना देनेवाला माना जाता था। इसके अलावा सोवियत और उसके पड़ौसी देशों के बीच १९२९ ई० में लित्वनॉफ़-क़रार भी हुआ था। अमन रखने की इच्छा से रूस अलग-अलग देशों के साथ 'हमला-बन्दी' क़रार करता जा रहा था। सोवियत के पड़ौसियों में अकेला जापान ही ऐसा देश था, जो इस क़िस्म के क़रारनामे के लिए राज़ी नहीं हुआ। नवम्बर, १९३२ ई० में रूस और फ़्रान्स ने आपस में हमला-बन्दी-क़रार कर लिया। संसार की राजनीति में यह एक महत्व की घटना थी; क्योंकि इससे रूस पश्चिमी यूरोप की राजनीति के दायरे में पहुँच गया।

चीन ने एक लम्बी मुद्दत तक तो रूस के साथ अन्दरूनी अदावत रक्खी और राजनयिक सम्बन्ध क़ायम नहीं किये, पर जब मंचूरिया में जापान उसके सिर पर चढ़ आया तो उसने सोवियत सरकार को फिर से मान लिया। जापान के साथ रूस का बाक़ायदा राजनयिक सम्पर्क तो है, पर इनके आपसी ताल्लुक़ बराबर बिगड़े हुए रहे हैं। एशिया की मुख्य भूमि में जापान के बुलन्द हौसलों के रास्ते में रूस एक रुकावट बनकर खड़ा है, और सरहदी टक्करें अक्सर होती रहती हैं। जापानी सरकार सोवियत को बराबर ग़ुस्सा दिलाती रहती है, और कई बार तो दोनों में युद्ध छिड़ने के आसार भी हो गये। पर रूस ने युद्ध छेड़ने के बजाय चुपचाप अपमान सह लेना बेहतर समझा।

आँग्ल-रूसी रगड़ा-झगड़ा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक स्थायी पहलू रहा है। अप्रैल, १९३३ ई० में अंग्रेज़ इंजीनियरों पर मास्को में जो मुक़दमा चलाया गया, उसकी वजह से दोनों तरफ़ बदला लेने की और बदले का बदला लेने की कार्रवाइयाँ हुईं, मगर अन्त में वह तूफ़ान टल गया, और बाक़ायदा आपसी सम्बन्ध फिर क़ायम हो गये। लेकिन इंगलैण्ड की अनुदार-दली सरकार सोवियत से नाराज़ है और दोनों के बीच खिंचाव हमेशा बना रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में रूस की तरफ़ ज़्यादा दोस्ताना भावनाएँ ज़ोर पकड़ रही हैं, और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट बाक़ायदा सम्बन्ध कायम कर रहा है। अमेरिका और रूस के स्वार्थ दुनिया-भर में कहीं भी आपस में नहीं टकराते।

जर्मनी में नात्सी सरकार के उदय से रूस के लिए नया और कट्टर हमलावर दुश्मन पैदा हो गया है। हालाँकि रूस को यह सीधा कोई नुक़सान नहीं पहुँचा

सकता, पर आयन्दा के लिए बड़ा भारी खतरा है। यूरोप में फ़ासीवाद की तरफ़ झुकाव ज़ोर पकड़ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में रूस का बर्ताव बहुत-कुछ अपने हाल में मस्त व्यक्ति जैसा रहा है। वह सब तरह के झगड़ों से बचता रहा है, और जैसे भी हो वैसे अमन रखने की कोशिश कर रहा है। यह क्रान्तिकारी नीति से उलटी बात है, क्योंकि उसका इरादा तो दूसरे देशों में क्रान्तियाँ भड़काना है। यह अकेले एक देश में समाजवाद क़ायम करने की और वाहर की सारी उलझनों से बचने की राष्ट्रीय नीति है। साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शक्तियों के साथ समझौता, इसका लाज़िमी नतीजा है। पर सोवियत अर्थ-व्यवस्था का असली समाजी आधार क़ायम है और इसकी सफलता ही समाजवाद के पक्ष में सबसे ज़ोरदार दलील है।

१९३३ ई० की जुलाई में रूस की यही हालत थी। उस समय लन्दन में विश्व आर्थिक सम्मेलन हो रहा था। इस अवसर पर दूसरे देशों की हाज़िरी से लाभ उठाकर रूस ने अपने पड़ोसी अफ़ग़ानिस्तान, ऐस्टोनिया, लेटविया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, तुर्की और लिथ्यूआनिया के साथ हमला-बन्दी का क़रार कर लिया। पर जापान पहले की तरह अब भी इसमें शामिल नहीं हुआ।

: १८२ :

विज्ञान आगे बढ़ता है

१३ जुलाई, १९३३

युद्ध के बाद के वर्षों के दौरान संसार-भर में जो राजनीतिक घटनाएँ हुईं, उनके बारे में मैंने बहुत विस्तार के साथ लिखा है, और जो आर्थिक परिवर्तन हुए उनका थोड़ा-सा जिक्र किया है। इस पत्र में मैं दूसरी बातों के बारे में और खासकर विज्ञान और उसके असर के बारे में, लिखना चाहता हूँ।

लेकिन विज्ञान की चर्चा शुरू करने से पहले, मैं एक बार फिर तुम्हें उस बड़े परिवर्तन की याद दिलाना चाहता हूँ, जो महायुद्ध के बाद से नारी-जाति की हैसियत में आ गया है। क़ानूनी, समाजी और रिवाजी बन्धनों से स्त्री-जाति की यह नामधारी 'मुक्ति' उन्नीसवीं सदी में बड़े-बड़े उद्योगों के साथ शुरू हुई, क्योंकि इनमें स्त्री-मज़दूरों को काम दिया जाने लगा। शुरू में तो इसकी चाल कुछ धीमी रही, पर फिर युद्ध की हालतों ने इस सिलसिले की गति खूब तेज़ कर दी, और युद्ध के बाद तो यह क़रीब-क़रीब पूरी ही हो गई। आज तो ताज़िकिस्तान तक में, जिसका हाल मैं पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, कुछ ही वर्ष पहले पर्दे के भीतर रहनेवाली नारियाँ डॉक्टरों, अध्यापकों और इंजीनियरों के काम कर रही हैं। तुम और तुम्हारे ज़माने की स्त्रियाँ तो शायद इसे बिना बहस की चीज़ मानती हैं। पर वास्तव में

यह सिर्फ़ एशिया में ही नहीं बल्कि यूरोप में भी एक बिलकुल नई चीज़ है। सौ वर्ष से कुछ कम हुए, १८४० ई० में, लन्दन में 'विश्व की गुलामी-विरोधी सभा'[1] का पहला अधिवेशन हुआ था। इसमें अमेरिका से कुछ स्त्रियाँ भी प्रतिनिधि होकर आई थीं, जहाँ हब्शियों की ग़ुलामी से बहुत लोगों के दिलों में हलचल मची हुई थी। मगर इस सभा ने इन 'नारी-प्रतिनिधियों' को इस बिना पर अधिवेशन में नहीं बैठने दिया कि किसी स्त्री का सार्वजनिक सभा में भाग लेना नारी-जाति के लिए अनुचित और हेठी बात है।

अच्छा तो अब विज्ञान की बात पर आयें। सोवियत रूस की पंच-वर्षीय योजना का बयान करते वक़्त मैंने तुम्हें बतलाया था कि वह विज्ञान की भावना को समाजी मामलों में लागू करनेवाली चीज़ थी। कुछ हद तक यह भावना पिछले क़रीब डेढ़ सौ वर्षों से पश्चिमी सभ्यता के पीछे काम कर रही है। ज्यों-ज्यों इसका प्रभाव बढ़ा है, त्यों-त्यों ख़ुराफ़ात और जादू-टोने और अन्ध-विश्वास के आधार पर टिके हुए विचार अलग हटते गये हैं, और विज्ञान की भावना से मेल नहीं खानेवाली रीतियों व तरीक़ों का विरोध किया गया है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ख़ुराफ़ातों और जादू-टोनों और अन्ध-विश्वासों के ऊपर विज्ञान की भावना को पूरी विजय हासिल हो गई है। यह चीज़ तो अभी बहुत दूर है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान की भावना बहुत उन्नति कर गई है और उन्नीसवीं सदी में इसने धड़ल्ले के साथ बहुत-सी कामयाबियाँ हासिल की हैं।

उद्योगों में और रोज़ाना ज़िन्दगी में विज्ञान के उपयोगों से जो ज़बर्दस्त परिवर्तन उन्नीसवीं सदी में हुए, उनका हाल मैं लिख चुका हूँ। संसार और ख़ासकर पश्चिमी यूरोप व उत्तरी अमेरिका तो बिलकुल बदल गये; इतने बदले जितने पिछले हज़ारों वर्षों में भी नहीं बदले थे। उन्नीसवीं सदी में यूरोप की आबादी में भारी बढ़ोतरी तो एक बड़ा ही अचरजभरा तथ्य है। १८०० ई० में समूचे यूरोप की कुल आबादी अठारह करोड़ थी। यह धीरे-धीरे कई युगों में इस संख्या तक पहुँची थी। लेनिन फिर यह तीर की तरह दौड़ी, और १९१४ ई० में ४६ करोड़ हो गई। इसी समय के भीतर ही करोड़ों यूरोपवासी दूसरे महाद्वीपों में, ख़ासकर अमेरिका में, जाकर बस गये, और इनकी संख्या हम चार करोड़ के करीब आँक सकते हैं। इस तरह सौ वर्षों से कुछ ही ज्यादा समय में यूरोप की आबादी अठारह करोड़ से बढ़कर पचास करोड़ हो गई। यह बढ़ोतरी यूरोप के उद्योगोंवाले देशों में ख़ास तौर पर सामने आई। अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड की आबादी सिर्फ़ पचास लाख थी, और यह देश यूरोप के सबसे ग़रीब देशों में गिना जाता था। मगर

[1] Worlds Anti-slavery Convention.

यह दुनिया का सबसे मालदार देश बन गया और इसकी आबादी चार करोड़ हो गई।

विज्ञान की जानकारी ने यह मुमकिन कर दिया था कि प्रकृति के तौर-तरीक़े इन्सान के ज्यादा बस में हो जायँ, या यों कहो कि वह उनके रहस्य को समझ जाय, और वह तरक़्क़ी व धन-दौलत इसीका नतीजा थीं। जानकारी में बड़ी भारी बढ़ोतरी ज़रूर हुई, मगर यह न समझ लेना कि इससे अक़्लमन्दी भी ज़रूरी तौर पर बढ़ गई है। आदमियों ने प्रकृति के बलों को वश में करना और अपने उपयोग में लाना तो शुरू कर दिया, पर यह बात उनकी समझ में नहीं आई कि ज़िन्दगी का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए। शक्तिशाली मोटर गाड़ी एक उपयोगी और अच्छी चीज़ है, पर यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठकर कहाँ जाना है। अगर उसका संचालन ठीक तरह न किया जाय तो मुमकिन है वह खड्ड में जा गिरे। ब्रिटिश ऐसोसिएशन ऑफ़ साइन्स के अध्यक्ष ने कुछ दिन हुए कहा था : "इन्सान ने अपने-आपको तो बस में करना सीखा ही नहीं, और प्रकृति को अपने वस में कर लिया।" दुनिया के ज्यादातर लोग रेलों, हवाई-जहाज़ों, बिजली, बेतार-यन्त्र और विज्ञान के हज़ारों दूसरे आविष्कारों का इस्तेमाल करते हैं, पर यह कभी नहीं सोचते कि ये आये कहाँ से हैं। हम इन्हें बिना किसी दलील के मान लेते हैं, मानो इनको काम में लेना हमारा हक़ है। और हमें इस बात का बड़ा अभिमान है कि हम प्रगति करनेवाले युग में रहते हैं और ख़ुद भी बहुत ज्यादा प्रगति कर चुके हैं। इसमें तो कोई शक नहीं कि हमारा यह युग पिछले युगों जैसा बिलकुल नहीं है, और मेरे ख़याल से यह कहना भी बिलकुल सही है कि यह युग पिछले युगों से बहुत ज्यादा आगे बढ़ा हुआ है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत या सामुदायिक हैसियत से मनुष्य ज्यादा आगे बढ़ गया है। यह कहना हद दर्जे की बेवकूफ़ी होगी कि चूंकि इंजन का ड्राइवर इंजन चला सकता है और अफ़लातून या सुक़रात नहीं चला सकते थे, इसलिए इंजन का ड्राइवर अफ़लातून या सुक़रात से आगे बढ़ा हुआ है या बेहतर है। हाँ, यह कहना बिलकुल सही होगा कि अफ़लातून के रथ की बनिस्बत आज का इंजन आवा-जाई का ज्यादा आगे बढ़ा हुआ साधन है।

आजकल हम लोग बहुत-सी पुस्तकें पढ़ते हैं, पर मुझे अन्देशा है कि इनमें से ज्यादातर पुस्तकें बेहूदा होती हैं। पुराने ज़माने में लोग गिनी-चुनी पुस्तकें पढ़ते थे, पर वे अच्छी होती थीं, और इनका ज्ञान भी उन्हें बहुत अच्छा होता था। स्पिनोज़ा, जो बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान हुआ है, यूरोप के सबसे ऊँचे दार्शनिकों में गिना जाता है। यह सत्रहवीं सदी में हुआ और ऐम्स्टरडम का रहनेवाला था। कहते हैं कि इसके पुस्तकालय में पूरे साठ ग्रन्थ भी नहीं थे।

इसलिए हमारा यही समझने में भला है कि दुनिया में ज्ञान की जो इतनी

तरक्क़ी हुई है उसका यह लाज़िमी अर्थ नहीं है कि हम ज्यादा अच्छे बन गये हैं या ज्यादा बुद्धिमान हो गये हैं। ज्ञान का पूरा लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब यह सीख लें कि उसका उचित उपयोग क्या है। अपनी शक्तिशाली गाड़ी को बेतहाशा दौड़ाने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हमें किधर जाना है। यानी हमें कुछ यह तो जानना चाहिए कि हमारे जीवन का लक्ष्य और मक़सद क्या होना चाहिए। आज अनगिनती लोगों के दिलों में ऐसी कोई धारणा नहीं है, और वे इसके बारे में कभी चिन्ता ही नहीं करते। रहते तो वे विज्ञान के युग में हैं, लेकिन उनपर और उनके कामों पर असर डालनेवाले विचार युगों पहले के हैं। इसलिए कठिनाइयाँ और रगड़े-झगड़े पैदा होना लाज़िमी है। होशियार बन्दर शायद मोटर-गाड़ी चलाना सीख जाय, पर उसके हाथ में गाड़ी दे देना ख़तरे से ख़ाली नहीं है।

आधुनिक ज्ञान इतना पेचीदा और फैला हुआ है कि हैरत होती है। बीसियों हज़ार खोजी लगातार खोज करते रहते हैं। हरेक अपने-अपने विशेष विभाग में प्रयोग करता है, हरेक अपने-अपने खित्ते में बिल खोदता जाता है और छोटे-छोटे टुकड़े डाल-डालकर ज्ञान के पर्वत को ऊँचा करता जाता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना लम्बा-चौड़ा है कि हरेक को अपने-अपने क्षेत्र में योग्य बनना लाज़िमी होता है। अक्सर करके वह ज्ञान के दूसरे विभागों से अनजान होता है, इसलिए हालाँकि वह ज्ञान के कुछ विभागों में बड़ा पंडित हो जाता है, पर बहुत-से दूसरे विभागों में बिलकुल कोरा होता है। इसलिए इन्सानी हलचलों के समूचे क्षेत्र के बारे में अक़्लमन्दी का नज़रिया रखना उसके लिए कठिन हो जाता है। संस्कृति शब्द के पुराने अर्थों में वह सुसंस्कृत नहीं माना जाता।

हाँ, ऐसे कुछ व्यक्ति ज़रूर हैं, जो इस तंग विशेषज्ञता से ऊपर उठ गये हैं, और ख़ुद विशेषज्ञ होते हुए भी व्यापक नज़रिया रख सकते हैं। युद्धों और इन्सानी झगड़े-टंटों से न घबराकर ये लोग विज्ञान के अनुसन्धान कर रहे हैं, और पिछले लगभग पन्द्रह वर्षों के अन्दर इन्होंने ज्ञान का भण्डार बढ़ाने में निराला हिस्सा लिया है। एल्बर्ट आइन्स्टीन नामक जर्मन यहूदी आज का महान् विज्ञानी माना जाता है, और हिटलर की सरकार ने इसे जर्मनी से इसलिए निकाल दिया है कि वह यहूदियों को पसन्द नहीं करती।

आइन्स्टीन ने गणित के पेचीदा हिसाबों के ज़रिये भौतिक विज्ञान के कुछ ऐसे नये बुनियादी नियमों की खोज की है, जो सारे ब्रह्माण्ड से ताल्लुक़ रखते हैं। इनसे उसने न्यूटन के कुछ नियमों में हेर-फेर कर दिया है, जो दो सौ वर्षों से बिना किसी ननुनच के मंजूर किये जाते रहे हैं। आइन्स्टीन के मत की तसदीक़ बड़े ही दिलचस्प ढंग से हुई। इस मत के मुताबिक़ प्रकाश की किरणें एक ख़ास ढंग से व्यवहार करती हैं और इसकी जाँच सूर्य-ग्रहण के समय की जा सकती है। जब सूर्य-

ग्रहण हुआ तो यह देखा गया कि प्रकाश-किरणें वास्तव में उसी तरह व्यवहार करती हैं। इस तरह गणित के तर्क से निकला हुआ नतीजा प्रयोगों के ज़रिये जाँच करने से सही सावित हो गया।

मैं इस नियम की व्याख्या करने की कोशिश नहीं करूँगा, क्योंकि यह बहुत ही मुश्किल से समझ में आनेवाली चीज़ है। यह सापेक्षवाद कहलाता है। ब्रह्माण्ड के बारे में सोचते-सोचते आइन्स्टीन को पता लगा कि काल की कल्पना और आकाश की कल्पना, दोनों अलग-अलग लागू नहीं की जा सकतीं। इसलिए इसने दोनों को त्याग दिया और एक नई कल्पना पेश की, जिसमें दोनों का गठ-वन्धन कर दिया। यह आकाश-काल की कल्पना थी।

आइन्स्टीन ने तो सारे ब्रह्माण्ड पर विचार किया। दूसरे सिरे पर विज्ञानियों ने छोटे-से-छोटे पिण्डों के बारे में पड़तालें कीं। मिसाल के लिए सुई की नोक को ले लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज़ है, जिसे हमारी आँख बिना किसी आले की मदद के देख सकती है। विज्ञान के तरीक़ों से साबित किया गया कि सुई की यह नोक एक तरह से खुद ही ब्रह्माण्ड के समान है। इसमें अणु होते हैं, जो एक-दूसरे के गिर्द वेग से चक्कर काटते रहते हैं; हर अणु में परमाणु होते हैं, और ये भी बिना एक-दूसरे से टकराये चक्कर लगाते रहते हैं; और हर अणु में बिजली के अनगिनती कण या विद्युत-आवेश या प्रोटन और इलैक्ट्रन, या जो कुछ भी कहो, होते हैं, और ये भी लगातार ज़बर्दस्त तेज़ी से घूमते रहते हैं। इनसे भी छोटे पॉज़ीट्रन और न्यूट्रन और डेन्टन होते हैं; और यह अंदाज़ लगाया गया है कि एक पॉज़ीट्रन की औसत आयु एक सेकण्ड का अरबवाँ भाग होती है। यह सारी रचना बहुत ही छोटे पैमाने पर उन ग्रहों और ताराओं के समान है, जो आकाश में लगातार चक्कर काटते रहते हैं। याद रखने की बात यह है कि अणु इतना छोटा होता है कि सबसे ज्यादा ताक़त-वाली खुर्दबीन से भी नहीं देखा जा सकता। रही अणुओं और प्रोटनों ओर इलैक्ट्रनों की बात, सो इनकी तो कल्पना तक भी नहीं की जा सकती। पर विज्ञान की तकनीक इतनी तरक़्क़ी कर चुकी है कि इन प्रोटनों व इलैक्ट्रनों के बारे में बहुत काफ़ी जानकारी जमा हो चुकी है, और कुछ दिन हुए अणु के टुकड़े भी कर दिये गए हैं।

विज्ञान के नये-नये मतों पर विचार करने में दिमाग़ चक्कर खाने लगता है, और उनके महत्व को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। लेकिन मैं तुम्हें इससे भी ज्यादा हैरत-भरी बात बताऊँगा। तुम जानती हो कि हमारी पृथ्वी, जो हमें इतनी बड़ी दिखाई देती है, उस सूर्य का एक छोटा-सा ग्रह है, जो खुद ही बहुत तुच्छ और छोटा तारा है। यह सारा सौर-मण्डल आकाश के समुद्र में सिर्फ़ एक बूंद के बराबर है। ब्रह्माण्ड में दूरियाँ इतनी बड़ी-बड़ी हैं कि उसके कुछ हिस्सों से हमारी पृथ्वी तक प्रकाश को आने में हज़ारों और लाखों वर्ष लग जाते हैं। मतलब यह है कि अगर हम

रात में किसी तारे को देखते हैं तो हम उस तारे का वह रूप नहीं देखते, जो आज है, बल्कि वह रूप देखते हैं, जो उस समय था जब उससे चलकर आनेवाली प्रकाश-किरण ने अपनी लम्बी यात्रा शुरू की थी। और पता नहीं इस यात्रा में कितने सौ या हज़ार वर्ष लगे होंगे। काल और आकाश के बारे में हमारी जो कल्पना है, वह इससे बड़ी उलझन में पड़ जाती है, और यही वजह है कि आइन्स्टीन का आकाश-काल हमें इन बातों पर ग़ौर करने में बहुत ज्यादा सहायता देता है। अगर हम आकाश का विचार न करें और सिर्फ़ काल का विचार करें तो भूत और वर्तमान आपस में मिल जाते हैं। क्योंकि जिस तारे को हम देखते हैं वह हमारे लिए तो मौजूदा वक़्त है, पर वास्तव में हम गुज़रे वक़्त को देख रहे हैं। क्योंकि हमें क्या मालूम कि जब प्रकाश की किरण उस तारे से चली थी, उसके बाद शायद उसकी हस्ती मिटे हुए लम्बा ज़माना बीत चुका हो।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा सूर्य एक मामूली-सा छोटा तारा है। इसी क़िस्म के करीब एक लाख तारे और हैं, और इन सबका समूह आकाश-गंगा कहलाता है। रात में जितने तारे हमें दिखाई पड़ते हैं, उनमें से ज्यादातर इसी आकाश-गंगा के भीतर हैं। लेकिन नंगी आँख से हम सिर्फ़ बहुत थोड़े तारों को देख पाते हैं। शक्तिशाली दूरबीनों के ज़रिये हम बहुत ज्यादा तारों को देख सकते हैं। इस विज्ञान के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि ब्रह्माण्ड में तारों की ऐसी कम-से-कम एक लाख आकाश-गंगाएँ हैं।

एक अचम्भे में डालनेवाला तथ्य और भी है। कहा जाता है कि यह ब्रह्माण्ड फैलता जा रहा है। सर जेम्स जीन्स नामक गणितज्ञ ने इसकी तुलना साबुन के बबूले से की है, जो फूलता जा रहा है। ब्रह्माण्ड इतना बड़ा है कि प्रकाश-किरण को इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचने में करोड़ों-अरबों साल लग जाते हैं।

अगर तुम्हारे अन्दर अचम्भा करने की कुछ भी गुंजायश बाक़ी रही हो, तो इस सचमुच हैरत-भरे ब्रह्माण्ड के बारे में मैं तुम्हें कुछ और बातें बतलाता हूँ। कैम्ब्रिज के एक मशहूर खगोल-विज्ञानी सर आर्थर ऐडिङ्गटन का कहना है कि यह ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे टूट रहा है। यह उस घड़ी के समान है, जो बीत चुकी है, और जिसमें अगर किसी तरह दुबारा चाबी नहीं भरी गई तो बिखर जायगी। अलबत्ता इसमें करोड़ों वर्ष लग जाते हैं, इसलिए हमें परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।

भौतिक और रसायन उन्नीसवीं सदी के मुख्य विज्ञान थे। इनकी सहायता से प्रकृति की या बाहरी जगत की लगाम मनुष्य के हाथ में आ गई। इसके बाद विज्ञानी मनुष्य ने अपने भीतर नज़र डालनी शुरू की और अपना ही अध्ययन शुरू किया। तब जीव-विज्ञान का महत्व बढ़ा। जीव-विज्ञान में मनुष्य और पशुओं

और वनस्पतियों के जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान ने इतने ही दिनों में अद्भुत प्रगति कर ली है। इस विज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है कि इंजेक्शन लगाकर या दूसरे उपायों से मनुष्य के गुण या स्वभाव में परिवर्तन पैदा करना बहुत जल्दी मुमकिन हो जायगा। इस तरह शायद यह मुमकिन हो जाय कि किसी कायर मनुष्य के स्वभाव को बदलकर उसे साहसी मनुष्य बना दिया जाय, या यह भी बहुत-कुछ मुमकिन है कि कोई सरकार अपने आलोचकों और विरोधियों से निबटने के लिए इस तरह उनकी विरोध में खड़े होने की शक्ति को ही कम कर दे!

जीव-विज्ञान के बाद मनुष्य ने आगे मनोविज्ञान की सीढ़ी पर क़दम रक्खा है। इस विज्ञान में मनुष्यों के मानस का, और विचारों का, नीयतों और आकांक्षाओं का विवेचन किया जाता है। इस तरह विज्ञान नये-नये क्षेत्रों में धावे बोल रहा है, और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बतला रहा है, और शायद हमें अपने ऊपर क़ाबू पाने में सहायता दे रहा हो।

प्रजनन-विज्ञान भी जीव-विज्ञान से आगे की सीढ़ी है। यह विज्ञान मनुष्य-जाति की नस्ल के सुधार से ताल्लुक़ रखता है।

यह देखकर बहुत दिलचस्पी होती है कि कुछ जीवों के अध्ययन से विज्ञान के विकास में कितनी सहायता मिली है। बेचारे मेंढक को चीर-फाड़कर यह पता लगाया गया है कि नाड़ियाँ और माँस-पेशियाँ किस तरह अपना काम करती हैं। ज्यादा पके फलों पर बैठनेवाली नन्हीं-सी तुच्छ-सी केला-मक्खी से आनुवंशिकता के बारे में जितनी जानकारी मिली है, उतनी दूसरे किसी साधन से नहीं हुई। इस मक्खी पर ग़ौर करने से पता लगा है कि एक वंश के गुण और स्वभाव संस्कारों के रूप में किस तरह अगले वंश में आ जाते हैं। कुछ हद तक इससे यह जानने में सहायता मिलती है कि मनुष्य-जाति में आनुवंशिकता का सिद्धान्त किस तरह काम करता है।

हमको बहुत-सी बातें सिखानेवाला एक और बेकार-सा जीव है साधारण टिड्डा। अमेरिकी प्रेक्षकों ने टिड्डों का लम्बे अर्से तक और ग़ौर से अध्ययन करके बतलाया है कि जानवरों में और मनुष्यों में लिंगभेद कैसे पैदा होता है। अब हम इस विषय में बहुत-कुछ जानते हैं कि नन्हा-सा भ्रूण, ठेठ गर्भाधान के समय से ही, किस तरह नर या मादा बनता है, और धीरे-धीरे बढ़ता हुआ छोटा-सा नर या मादा पशु, या लड़का लड़की बन जाता है।

चौथी मिसाल मामूली घरेलू कुत्ते की है। हमारे ही ज़माने के एक मशहूर रूसी वैज्ञानिक पॉवलॉफ़ ने कुत्तों पर ग़ौर से ध्यान देना शुरू किया, और ख़ासतौर पर यह नोट किया कि खाना देखते ही उनके मुँह में पानी कब आता है। उसने कुत्ते के मुँह में इस तरह पैदा होनेवाली लार भी तोल ली। खाना देखते ही कुत्ते के मुँह में पानी आना अपने-आप होनेवाली क्रिया होती है, जिसे 'अनैच्छिक

प्रतिक्रिया' कहा जाता है। छोटा बच्चा ठीक इसी तरह, बिना जाने छींकता है या जम्भाई लेता है या अंगड़ाई लेता है।

इसके बाद पॉवलॉफ़ ने 'ऐच्छिक प्रतिक्रिया' पैदा करने की कोशिश की। यानी उसने कुत्ते को एक ख़ास इशारे पर खाने का इन्तज़ार करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के दिमाग़ में यह इशारा खाने के साथ जुड़ गया और खाना सामने न आने पर भी उसी क़िस्म की प्रतिक्रिया पैदा करने लगा।

कुत्तों पर और उनके मुँह में पैदा होनेवाली लार पर किये गए इन प्रयोगों को मानव-मनोविज्ञान का आधार बनाया गया है। यह देख लिया गया है कि शिशु-काल में मनुष्य में बहुत-सी 'अनैच्छिक प्रतिक्रियाएँ' होती हैं, और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसमें 'ऐच्छिक प्रतिक्रियाओं' का और भी ज्यादा विकास होता जाता है। सच तो यह है कि हम इस ऐच्छिक प्रतिक्रिया के आधार पर ही सबकुछ सीखते हैं। इसीके मुताबिक़ हमारी आदतें बनती हैं और हम भाषाएँ वग़ैरा सीखते हैं। हमारी क्रियाएँ हमारी प्रतिक्रियाओं से संचालित होती हैं, और ये प्रतिक्रियाएँ रुचिकर भी होती हैं और अरुचिकर भी। मामूली दहशत की ही मिसाल ले लो। जब कोई आदमी अपने नज़दीक साँप को देखकर, या साँप से मिलते-जुलते रस्सी के टुकड़े को देखकर, बिना सोच-विचार किये बड़ी तेज़ी से उछल पड़ता है, तो इसके लिए उसे पॉवलॉफ़ के प्रयोगों की जानकारी की ज़रूरत नहीं होती।

पॉवलॉफ़ के प्रयोगों ने सारे मनोविज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। कुछ प्रयोग बहुत ही दिलचस्प हैं, परन्तु यहाँ मैं इस सवाल की ज्यादा व्याख्या नहीं कर सकता। फिर भी मैं यह ज़रूर बता देना चाहता हूँ कि मनोविज्ञान की जाँच के और भी कई अच्छे तरीक़े हैं।

ये कुछेक मिसालें मैंने इसलिए दी हैं कि तुम्हें विज्ञान के प्रयोगों के तरीक़ों का कुछ अनुमान हो जाय। तत्व की खोज का पुराना तरीक़ा यह था कि जिन बड़ी-बड़ी बातों की छान-बीन करना या पूरी तरह समझना आसान या मुमकिन नहीं था, उनके बारे में वे गोल-मोल चर्चाएँ किया करते थे। लोग इनके बारे में तर्क-वितर्क किया करते थे, और उनमें गर्मा-गर्मी भी हो जाती थी, मगर चूँकि ऐसी कोई आखिरी कसौटी नहीं थी, जिसपर उनके तर्क की सचाई या ग़ैर-सचाई की परीक्षा की जा सकती हो, इसलिए मामला सदा अधर लटका रहता था। वे परलोक की चर्चा में इतने मशग़ूल रहते थे कि इस संसार की मामूली चीज़ों पर ध्यान देना शान के ख़िलाफ़ समझते थे। लेकिन विज्ञान का तरीक़ा इससे बिलकुल उलटा है। बहुत मामूली और तुच्छ दिखाई देनेवाले तथ्यों पर ध्यान से ग़ौर किया जाता है, और इनसे बड़े महत्व के नतीजे हासिल होते हैं। इन नतीजों के आधार पर कल्पित

नियम रचे जाते हैं, और बाद में फिर प्रेक्षण और प्रयोगों के ज़रिये इन नियमों की बार-बार जाँच की जाती है।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान कभी भूल नहीं करता। वह अक्सर रास्ता भूल जाता है, और उसे उलटे पैरों लौटना पड़ता है। मगर किसी सवाल पर ग़ौर करने का सही तरीक़ा सिर्फ़ विज्ञान का तरीक़ा ही हो सकता है। उन्नीसवीं सदी में विज्ञान में अहंकार की और अपनेको कामिल समझने की जो भावना थी, वह अब सारी-की-सारी खत्म हो गई है। उसे अपनी सफलताओं पर गर्व है, पर साथ ही वह ज्ञान के उस लम्बे-चौड़े और सदा फैलते हुए समुद्र के आगे सर झुकाता है, जो अभी तक अनखोजा पड़ा है। बुद्धिमान आदमी महसूस करता है कि उसका ज्ञान कितना तुच्छ है; सिर्फ़ मूर्ख ही यह समझता है कि वह सबकुछ जानता है। यही बात विज्ञान पर लागू होती है। वह जितनी प्रगति करता जाता है, उतनी ही उसकी हठधर्मी कम होती जाती है, और जो सवाल उससे पूछे जाते हैं, उनके जवाब देने में वह उतना ही ज्यादा झिझकने लगता है। ऐडिङ्ग्टन ने लिखा है : "विज्ञान की प्रगति का नाप यह नहीं है कि हम कितने सवालों के उत्तर दे सकते हैं, बल्कि यह है कि हम कितने सवाल पूछ सकते हैं।" शायद यह सही हो, पर फिर भी विज्ञान तो दिन-पर-दिन ज्यादा ही सवालों के उत्तर देता जा रहा है, और जीवन का रहस्य समझने में हमारी सहायता कर रहा है। और अगर हम वास्तव में उससे लाभ उठाना चाहते हों तो वह हमें ऐसी अच्छी ज़िन्दगी बिताने के क़ाबिल बनाता है, जो पाने लायक मंज़िल की ओर ले जानेवाली है। वह ज़िन्दगी के अँधेरे कोनों को रोशन करता है, और हमें खुराफ़ातों के गोल-मोल झमेले में डालने के बजाय हक़ीक़त के सामने खड़ा कर देता है।

: १८३ :

विज्ञान का अच्छा और बुरा उपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें विज्ञान के नये-से-नये कारनामों के विचित्र देश की झाँकी कराई थी। मैं नहीं कह सकता कि इस झलक से विचार और सफलता की यह दुनिया तुम्हें पसन्द आयेगी या नहीं और अपनी ओर खींचेगी या नहीं। अगर तुम्हें इन विषयों के बारे में ज्यादा जानने की इच्छा हो, तो तुम आसानी से बहुत-सी पुस्तकें तलाश कर सकती हो। पर यह याद रखना कि मानव-विचार हमेशा आगे बढ़ता रहता है, प्रकृति की और विश्व की समस्याओं से सदा जूझता रहता है और उन्हें समझने की कोशिश करता रहता है, और जो बातें मैं आज तुम्हें बतला रहा हूँ वे कल ही बिलकुल अधूरी और पुरानी हो सकती हैं। मनुष्य के दिमाग़ की यह चुनौती किस तरह ब्रह्माण्ड के दूर-दूर कोनों में उड़ानें भरती

है, और उसके रहस्यों का पता लगाने का यत्न करती है, और बड़ी-से-बड़ी व छोटी-से-छोटी दिखाई देनेवाली चीज़ों को पकड़ने और नापने का साहस करती है, इनसब बातों की ओर मैं बहुत आकर्षित हो जाता हूँ।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है, यानी वह विज्ञान जिसका ज़िन्दगी पर कोई सीधा या फ़ौरन असर नहीं पड़ता। ज़ाहिर है कि सापेक्षवाद, या 'आकाश-काल' की कल्पना, या ब्रह्माण्ड का आकार, इनका हमारी रोज़ाना ज़िन्दगी से क़ोई ताल्लुक़ नहीं है। इस क़िस्म की ज्यादातर कल्पनाएँ ऊँचे दर्जे के गणित पर निर्भर हैं, और इस अर्थ में गणित के ये पेचीदा व ऊपरले प्रदेश विशुद्ध विज्ञान हैं। ज्यादातर लोगों को इस क़िस्म के विज्ञान में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है; वे तो रोज़ाना ज़िन्दगी में विज्ञान के अमली उपयोगों की तरफ़ ज्यादा खिचते हैं, और यह कुदरती बात भी है। इसी अमली विज्ञान ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में ज़िन्दगी में क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा कर दिया है। सच तो यह है कि आज की ज़िन्दगी विज्ञान की इन शाखा-प्रशाखाओं के ही सहारे चलती और ढलती है; और हमारे लिए यह सोचना मुश्किल है कि इनके बिना ज़िन्दा कैसे रह सकते हैं। लोग अक्सर गुज़रे ज़माने के बीते हुए अच्छे दिनों की, या गुज़रे स्वर्ण-युग की बातें, चलाया करते हैं। पिछले इतिहास के कुछ ज़माने ख़ास तौर पर दिल-कश हैं, और मुमकिन है कि कुछ बातों में वे हमारे ज़माने से बढ़िया भी हों। पर शायद यह खिंचाव भी जितना दूरी की नज़र से या एक ख़ास धुंधलेपन की वजह से है उतना दूसरी किसी वजह से नहीं है। किसी युग को हम शायद इसलिए महान् समझते हैं कि वह कुछ महान् व्यक्तियों से सजा हुआ है या जिस पर इन व्यक्तियों की छाप है। इतिहास में शुरू से लगाकर अबतक साधारण लोगों की हालत बड़ी ख़राब रही है। विज्ञान ने उनका युगों पुराना बोझ कुछ हलका किया है। अगर तुम अपने चारों तरफ़ निगाह डालो तो देखोगी कि जिन चीज़ों को तुम देख सकती हो, उनमें से ज्यादातर का विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ ताल्लुक़ है। हम अमली विज्ञान के साधनों से यात्रा करते हैं, इन्हींके ज़रिये एक-दूसरे को समाचार भेजते हैं, हमारे खाने-पीने की चीज़ें भी अक्सर इन्हीं साधनों से तैयार होती हैं और एक जगह से दूसरी जगह भेजी जाती हैं। जो अख़बार हम पढ़ते हैं, या हमारी पुस्तकें, या जिस काग़ज़ पर मैं लिख रहा हूँ या जिस क़लम से लिख रहा हूँ, ये सब चीज़ें विज्ञान के साधनों के अलावा दूसरी तरह से तैयार ही नहीं हो सकतीं। सार्वजनिक सफ़ाई और सेहत और कुछ रोगों पर विजय, विज्ञान पर ही निर्भर हैं। आधुनिक संसार के लिए अमली विज्ञान के बिना काम चलाना बिलकुल नामुमकिन है। बाक़ी तमाम दलीलें छोड़ भी दी जायँ तो एक दलील आख़िरी और नतीजे पर पहुँचानेवाली है कि विज्ञान की मदद के बिना संसार के निवासियों को काफ़ी ख़ुराक नहीं मिल सकेगी, और आधे से ज्यादा लोग भरपेट खाना न मिलने से मौत के मुँह में चले जायँगे। मैं बतला चुका हूँ कि बीते सौ वर्षोंमें

आबादी किस तरह छलाँग मारकर बढ़ गई है। यह बढ़ी हुई आबादी तभी जिन्दा रह सकती है जब खाने की चीज़ें पैदा करने के लिए उन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए विज्ञान की सहायता ली जाय।

जबसे विज्ञान ने मानव-जीवन में बड़ी-बड़ी मशीनों को दाखिल कराया है, तभीसे उनमें सुधार करने का सिलसिला जारी है। मशीनों को ज्यादा कारगर और मनुष्य की मेहनत पर कम निर्भर बनाने के लिए हर साल तो क्या हर महीने अनगिनती छोटे-छोटे फेर-बदल होते रहते हैं। तकनीक में ये सुधार, या विज्ञान के उपयोग में ये तरक्क़ियाँ, बीसवीं सदी के पिछले तीस वर्षों में तो ख़ास तेज़ी के साथ हुई हैं। पिछले वर्षों में परिवर्तन की यह रफ़्तार, जो अब भी चालू है, इतनी ज़बर्दस्त रही है कि इसने उद्योगों और पैदावार के साधनों में वैसा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है, जैसा कि अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में उद्योगों की क्रान्ति से हुआ था। पैदावार के कामों में बिजली का लगातार बढ़ता हुआ उपयोग इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का बड़ा सबब है। इस तरह बीसवीं सदी में, ख़ासकर संयुक्त राज्य अमेरिका में, बिजली की क्रान्ति हुई है, और इसके सबब से ज़िन्दगी की हालत ही बिलकुल बदल गई है। जिस तरह अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति से मशीन-युग आया, उसी तरह बिजली की क्रान्ति से अब शक्ति-युग आ रहा है। उद्योगों, रेलों व दूसरे अनगिनती प्रयोजनों के लिए उपयोग में आनेवाली बिजली अब हर चीज़ पर हावी हो रही है। यही कारण था कि लेनिन ने बड़े दूर की बात सोचकर सारे रूस में पन-बिजली के विशाल बिजलीघर बनाने का फ़ैसला किया था।

दूसरे सुधारों के साथ-साथ उद्योगों में बिजली के इस उपयोग से बिना ज्यादा खर्च के ही बड़ा भारी परिवर्तन हो जाता है। मसलन, बिजली से चलनेवाली मशीनों में ज़रा-सी फेर-बदल से पैदावार दुगनी हो जाती है। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि आदमी के तत्व को लगातार हटाया जा रहा है, क्योंकि आदमी धीरे-धीरे काम करता है और कभी-कभी भूल भी कर बैठता है। इसलिए ज्यों-ज्यों मशीनों में उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उनपर काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या कम होती जाती है। आजकल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थों को घुमाकर या बटनों को दबाकर बड़ी-बड़ी मशीनों को चलाता है। इसका नतीज़ा यह होता है कि कारख़ानों में तैयार होनेवाले माल की पैदावार बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, और साथ ही कारख़ानों के बहुत-से मज़दूर निकाल दिये जाते हैं, क्योंकि अब उनकी ज़रूरत नहीं रहती। इसीके साथ-साथ उद्योगों में विज्ञान का उपयोग में इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि कोई नई मशीन कारख़ाने में लगने भी नहीं पाती कि नये सुधारों की वजह से वह कुछ हद तक पुराने ढंग की हो जाती है।

मज़दूरों की जगह मशीन लगाने का यह सिलसिला मशीनों की शुरुआत से ही चला आ रहा है। शायद मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि उन दिनों बहुत दंगे हुए

थे, और गुस्से में भरे मजदूरों ने नई मशीनें तोड़-फोड़ डाली थीं। पर बाद में मालूम हुआ कि आखिरकार मशीनों से ज़्यादा लोगों को काम मिलता है। चूंकि मशीन की सहायता से मज़दूर ज़्यादा माल तैयार कर सकता था, इसलिए उसकी मजूरी की दर ऊँची हो गई और चीज़ों की क़ीमतें गिर गईं। इससे मज़दूर और साधारण लोग इन चीज़ों को ज़्यादा खरीद सकते थे। उनके रहन-सहन के ढंग भी पहले से अच्छे हो गये, और कारखानों के बने माल की माँग बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि और भी ज़्यादा कारखाने डाले जाने लगे, और उनमें और भी ज़्यादा मज़दूर काम पर लगाये गए। मतलब यह कि, हालाँकि मशीनों ने हर कारखाने में मज़दूरों की संख्या कम कर दी, पर कुल मिलाकर पहले से भी ज़्यादा मज़दूर काम पर लग गये, क्योंकि कारख़ाने की संख्या बहुत बढ़ गई।

यह सिलसिला मुद्दत तक चलता रहा, क्योंकि औद्योगिक देशों ने पिछड़े हुए देशों की दूर-दूर मण्डियों पर कब्ज़ा करके इसे मदद पहुँचाई। मगर पिछले कुछ वर्षों में यह सिलसिला बन्द हो गया मालूम देता है। शायद मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली में और ज़्यादा विस्तार मुमकिन नहीं है, और इस प्रणाली में कुछ परिवर्तन ज़रूरी हो गया है। आज के उद्योग 'मास-प्रोडक्शन'[1] के पीछे पड़े हुए हैं, पर यह तभी चल सकता है जब इस तरह तैयार हुआ माल जनता ख़रीदे। अगर जनता बहुत ग़रीब है या बहुत बे-रोज़गार है, तो वह इस माल को नहीं खरीद सकती।

पर इसके बावजूद तक्नीकों में बराबर तरक़्क़ी हो रही है, और इसका नतीजा यह हो रहा है कि मशीनें मज़दूरों की जगह लेती जा रही हैं और बेकारों की संख्या बढ़ रही है। १९२९ ई० से सारी दुनिया में व्यापार की भारी मन्दी चल रही है, मगर इतने पर भी उद्योगों में विज्ञान का बढ़ता हुआ उपयोग नहीं रुका है। कहते हैं कि १९२९ ई० से अबतक संयुक्त राज्य अमेरिका में इतनी तरक़्क़ी हुई है कि जो लाखों आदमी बेकार हो गये हैं, उन्हें कभी काम पर लगाया ही नहीं जा सकता; चाहे पैदावार १९२९ ई० के बराबर ही क्यों न क़ायम रक्खी जाय।

सारे संसार में, और खासकर आगे बढ़े हुए औद्योगिक देशों में, बेकारी की बड़ी समस्या पैदा करनेवाले और भी कितने ही कारण हैं, पर यह एक बड़ा कारण है। यह एक निराली और उलटी समस्या है, क्योंकि नई-नई मशीनों के ज़रिये बहुत ज़्यादा पैदावार का नतीजा यह होना चाहिए कि राष्ट्र ज़्यादा मालदार हो जाय और हरेक मनुष्य के जीवन का स्तर ऊँचा उठ जाय। इसका उलटा नतीजा हुआ है ग़रीबी और ज़बर्दस्त मुसीबत। ख़याल होता है कि इस समस्या का विज्ञान के ढंग से हल कठिन नहीं होगा। शायद कठिन है भी नहीं। पर असली कठिनाई

[1] Mass Production —कारख़ाने में कोई एक चीज़ बहुत भारी मिक़दार में तैयार करना।

इसे विज्ञान के और उचित ढंग पर हल करने की कोशिश में सामने आती है। क्योंकि ऐसा करने में बहुत-से जमे हुए स्वार्थों पर चोट पड़ती है, और ये स्वार्थ इतने ताक़तवर हैं कि अपनी-अपनी सरकारों पर इनका पूरा क़ाबू है। इसके अलावा यह समस्या जड़ में अन्तर्राष्ट्रीय है, और आज की राष्ट्रीय लाग-डाँट कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकलने नहीं देती। सोवियत रूस इसी क़िस्म की समस्याओं का हल करने में विज्ञान के तरीक़ों का उपयोग कर रहा है। पर चूँकि उसे राष्ट्रीय हित में चलना पड़ता है, और बाक़ी की दुनिया पूँजीवादी है और रूस से बैर रखती है, इसलिए रूस की कठिनाइयाँ बहुत ज़्यादा हैं। अगर यह बात न होती तो ये कठिनाइयाँ इतनी ज़्यादा नहीं होतीं। आज का संसार दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय है, हालाँकि उसका राजनीतिक ढाँचा पिछड़ा हुआ है और तंग राष्ट्रीयता से भरा हुआ है। आख़िरकार समाजवाद तभी सफल हो सकता है, जब वह अन्तर्राष्ट्रीय संसारी समाजवाद बन जाय। समय को पीछे नहीं ढकेला जा सकता। इसी तरह आज का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा, अधूरा होते हुए भी, राष्ट्रीय अलगाव के पक्ष में दबाया नहीं जा सकता। राष्ट्रीयता को ज़ोरदार करने का यत्न, जैसा कि फ़ासीवादी लोग कई देशों में कर रहे हैं, अन्त में असफल हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि वह आज की संसार-व्यापी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी अन्तर्राष्ट्रीय ख़ासियत से मेल नहीं खाता। हाँ, यह हो सकता है कि इस तरह गिरकर वह सारी दुनिया को अपने साथ ले बैठे, और इस नामधारी आधुनिक सभ्यता को सबके साथ ले डूबे।

ऐसी आफ़त का ख़तरा न तो कोई दूर की बात है और न अनहोनी बात है। जैसा कि हम देख रहे हैं, विज्ञान अपने पीछे कई अच्छी चीज़ें लेकर आया है, पर इसी विज्ञान ने युद्धों के नतीजों को बहुत ज़्यादा भयंकर बना दिया है। राज्यों और सरकारों ने विशुद्ध और अमली विज्ञान की शाखाओं पर ध्यान नहीं दिया है। पर उन्होंने विज्ञान के जंगी पहलू को नहीं छोड़ा है, और अपनेको हथियारों से लैस करने के लिए और अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए विज्ञान की नई-से-नई तकनीकों का पूरा उपयोग किया है। आख़िरी नतीजा यह निकलता है कि ज़्यादातर राज्य ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बल पर टिके हुए हैं, और विज्ञान की तकनीकें इन हुकूमतों को इतनी ताक़तवर बना रही हैं कि वे अंजामों से बिलकुल न डरकर जनता पर सरासर अत्याचार कर सकती हैं। वह पुराना ज़माना बहुत दिन हुए बीत चुका जब जनता अत्याचारी हुकूमतों के ख़िलाफ़ बलवे किया करती थी, और आम रास्तों में नाकेबन्दियाँ करके लड़ा करती थीं, जैसा कि फ़्रान्स की महान् क्रान्ति में हुआ था। अब किसी निहत्थी या हथियारबन्द भीड़ के लिए राज्य की संगठित हथियार सजी फ़ौज से लड़ना नामुमकिन है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना ख़ुद ही विद्रोह कर दे, जैसा कि रूसी क्रान्ति के समय में हुआ था, पर जबतक ऐसी घटना न हो, तबतक राज्य को जबरन नहीं हराया जा सकता। इसलिए आज़ादी के वास्ते लड़नेवाली

क़ौमों को यह ज़रूरत आ पड़ी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के ऐसे उपायों का सहारा लें जिनमें खून-ख़राबी न हो।

इस तरह विज्ञान ने राज्यों की बागडोर गिरोहों या कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में दे दी है, जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का और उन्नीसवीं सदी के पुराने लोकतन्त्री विचारों का नाश हो रहा है। गिने-चुने लोगों की ऐसी हुक़ूमतें कई राज्यों में पैदा हो रही हैं। कभी तो ये हुक़ूमतें लोकतन्त्र के उसूलों को ताज़ीम देने का ढोंग रचती हैं, और कभी उनकी खुली निन्दा करती हैं। अलग-अलग राज्यों में गिने-चुने लोगों की ये हुक़ूमतें आपस में टकराती हैं, और राष्ट्रों में युद्ध छिड़ जाता है। आज या भविष्य में ऐसा महायुद्ध सिर्फ़ इन गिने-चुने लोगों की हुक़ूमतों को ही नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता तक को तबाह कर सकता है। या ऐसा हो सकता है कि इसकी राख में से वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था प्रकट हो जाय, जिसकी मार्क्सवादी दर्शन उम्मीद करता है।

युद्ध और उसमें होनेवाली भयंकर हक़ीक़तों का ख़याल करना कोई सुहावनी बात नहीं है। और इसी वजह से इस हक़ीक़त को लच्छेदार शब्दों और मारू बाजों और चमकीली वर्दियों के परदे में छिपाया जाता है। पर यह जानना ज़रूरी है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। पिछले महायुद्ध ने बहुतों को युद्ध की भयंकर मारकाट का भान करा दिया। इसपर भी यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होनेवाला है, उसकी तुलना में पिछला महायुद्ध कुछ भी नहीं था। क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में जहाँ औद्योगिक तकनीक ने दस गुनी तरक़्क़ी कर ली है, वहाँ युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी तरक़्क़ी हुई है। युद्ध अब महज़ पैदल सेना के हल्लों और घुड़-सवार-सेना के धावों का मामला नहीं रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुड़-सवार आज युद्ध के लिए क़रीब-क़रीब उतने ही बेकार हो गये हैं, जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध मशीनी टैंकों और हवाई जहाज़ों और बमों का, और खासकर पिछली दो चीज़ों का, मसला है। हवाई जहाज़ों की रफ़्तार व कारगर ताक़त दिन-पर-दिन बढ़ रही हैं।

अगर युद्ध छिड़ जाय तो यह अन्देशा है कि लड़नेवाले राष्ट्रों पर दुश्मन के हवाई जहाज़ फ़ौरन हमला कर देंगे। ये हवाई जहाज़ युद्ध का ऐलान होते ही फ़ौरन आ धमकेंगे, या दुश्मन की बेख़बरी से फ़ायदा उठाने के लिए युद्ध से पहले ही आ जायँगे, और बड़े-बड़े शहरों व कारखानों पर महा विस्फोटक बमों की बौछार कर देंगे। दुश्मन के कुछ हवाई जहाज़ शायद नष्ट भी कर दिये जायँ, पर बाक़ी बचे हुए हवाई जहाज़ शहर पर बम गिराने के लिए काफ़ी होंगे। इन हवाई जहाज़ों से बरसनेवाले बमों से ज़हरीली गैसें निकलकर चारों ओर फैल जायँगी और उस क्षेत्र-भर में छा जायँगी, और जहाँतक ये पहुँचेगी वहाँतक के सारे जीव दम घुटकर मर जायँगे। इस तरह आम जनता को निहायत बेरहमी से और बहुत ही

दर्दनाक तरीक़ों से एक साथ मौत के घाट उतार दिया जायगा, जिससे लोगों को वेहद कष्ट और मानसिक तकलीफ़ भुगतनी पड़ेगी। और मुमकिन है कि इस क़िस्म की कार्रवाइयाँ आपस में लड़नेवाली बैरी शक्तियों के बड़े-बड़े शहरों में एकसाथ की जायँ। अगर यूरोप मे युद्ध हुआ तो लंदन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनों या हफ़्तों के अन्दर शायद सुलगते हुए खण्हरों के ढेर हो जायँगे।

इससे भी ज्यादा बुरी चीज़ एक और है। हवाई जहाज़ों से गिराये जानेवाले बमों में तरह-तरह की भयंकर बीमारियों के जीवाणु भी हो सकते हैं, जिससे पूरे-के-पूरे शहरों में इन रोगों की छूत फैल जायगी। इस किस्म की 'कीटाणुओं की जंग' दूसरे तरीक़ों से भी चलाई जा सकती है: जैसे, खाने की चीज़ों और पीने के पानी में बीमारियों के कीटाणु डालकर, या बीमारी फैलानेवाले जानवरों का उपयोग करके। इसकी मिसाल चूहा है, जो प्लेग के कीटाणु फैलाता है।

ये सारी बातें राक्षसी और अनहोनी मालूम होती हैं, और हैं भी ऐसी ही। कोई राक्षस भी ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। मगर जब लोग एकदम दहल जाते हैं और मौत-ज़िन्दगी की लड़ाई में फँस जाते हैं, तो अनहोनी घटनाएँ भी हो जाती हैं। बैरी देश ऐसे अनुचित और राक्षसी उपायों का सहारा लेगा। भय ही हर देश को पहला वार करने के लिए उकसा सकता है, क्योंकि ये हथियार इतने भयंकर हैं कि जो देश पहले इनका इस्तेमाल करेगा, वह बहुत फ़ायदे में रहेगा। दहशत की आँखें बड़ी होती हैं।

ज़हरीली गैस तो पिछले महायुद्ध में सचमुच खूब काम में ली गई थी, और यह वात बहुत लोगों को मालूम है कि जंगी कार्रवाइयों के लिए इस गैस को तैयार करनेवाले बड़े-बड़े कारखाने तमाम बड़ी-बड़ी शक्तियों के पास मौजूद हैं। इन सब बातों से यह निराला नतीजा निकलता है कि अगले महायुद्ध में असली लड़ाई युद्ध के मोर्चों पर नहीं होगी, जहाँ कुछ सेनाएँ खन्दक़ों में पड़ी-पड़ी आपस में लड़ती रहेंगी, बल्कि मोर्चों के पीछे शहरों में और नागरिक जनता के घरों में होगी। यहाँ-तक हो सकता है कि युद्ध के दौरान सबसे ज्यादा हिफ़ाजत की जगह शायद लड़ाई का मोर्चा ही बन जाय, क्योंकि वहाँपर हवाई हमलों से और ज़हरीली गैसों से और बीमारियों के कीड़ों से सिपाहियों की हिफ़ाज़त का पूरा इन्तज़ाम रहेगा। लेकिन पीछे रहनेवाले पुरुषों और स्त्रियों और बच्चों के लिए इस प्रकार की हिफ़ाज़त का कोई बन्दोवस्त नहीं होगा।

इस सबका नतीजा क्या होगा? क्या सारी दुनिया का सर्वनाश? क्या सदियों की कोशिशों से तैयार की गई संस्कृति और सभ्यता की सुन्दर इमारत का अन्त?

कोई नहीं जानता कि क्या होने वाला है। भविष्य के पर्दे में क्या छिपा है, उसे हम नहीं देख सकते। आज हम देखते हैं कि संसार में दो तरह की हलचलें चल

रही हैं। ये दोनों हलचलें आपस में विरोधी और एक दूसरी से उलटी हैं। एक तो सहयोग व समझदारी की उन्नति की, और सभ्यता का भवन खड़ा करने की है; दूसरी हलचल सत्यानासी है, हरेक चीज़ को फाड़ फेंकनेवाली है, मनुष्य-जाति की आत्म-हत्या की कोशिश है। दोनों की रफ़्तार दिन-पर-दिन तेज़ होती जा रही है, दोनों विज्ञान के हथियारों और तकनीकों से अपनेको लैस कर रही हैं। दोनों में, जीत किसकी होगी?

: १८४ :

महान् आर्थिक-मन्दी और संसार-व्यापी संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो शक्तियाँ सौंप दी हैं, और मनुष्य उनका जैसा उपयोग कर रहा है, इसपर हम जितना ज़्यादा विचार करते हैं उतना ही हमें ताज्जुब होता है। क्योंकि आज पूँजीवादी दुनिया की वास्तव में अजीब बुरी गत है। रेडियो के ज़रिये विज्ञान हमारी आवाज़ को दूर-दूर देशों में पहुँचा देता है, वेतार के टेलीफ़ोन से हम पृथ्वी के दूसरे छोर पर बसनेवाले लोगों से बातचीत करते हैं, और बहुत थोड़े दिनों में टेलीवीज़न के ज़रिये उन्हें देख भी सकेंगे। अपनी अद्भुत तकनीकों से विज्ञान मनुष्य-जाति के लिए सारी ज़रूरी चीज़ें काफ़ी मिक़दार में तैयार कर सकता है, और संसार को ग़रीबी के प्राचीन बबाल से सदा के लिए छुटकारा दिला सकता है। इतिहास की सुबह के शुरू के दिनों से ही मनुष्य ऐसी स्वर्ग-भूमि के सपने देखते आये थे, जिसमें दूध-दही की नदियाँ बहती हों और हर चीज़ का भण्डार भरा हो। और इसी कल्पना में वे अपनी रोज़ाना ज़िन्दगी की उस सख्त मेहनत से राहत पाने का यत्न करते आ रहे थे, जो उन्हें दबोच रही थी और बदले में कुछ भी नहीं दे रही थी। वे बीते हुए स्वर्ण-युग की कल्पना करते आये थे, और आनेवाले ऐसे स्वर्ग की आशा लगाये बैठे थे, जिसमें कम-से-कम उन्हें शान्ति और सुख तो मिले। और तब विज्ञान आया, जिसने बहुतायत पैदा करने के साधन उनके हाथों में दे दिये। मगर इस असली और ख़याली बहुतायत के बीच में भी मनुष्य-जाति का ज़्यादा भाग दुखी और नंगा-भूखा बना रहा। क्या यह एक अजीब उलटबांसी नहीं है?

हमारा वर्तमान समाज विज्ञान और उसके भरपूर तोहफ़ों से सचमुच दुविधा में पड़ गया है। ये आपस में मेल नहीं खाते; पूँजीवादी ढंग के समाज में और विज्ञान की नई-से-नई तकनीकों व पैदावार के साधनों में आपसी टकराव है। समाज ने माल पैदा करना तो सीख लिया है, पर अपनी पैदावार का वितरण करना नहीं सीखा है।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद अब हम यूरोप और अमेरिका पर फिर नज़र डालते हैं। महायुद्ध के बाद के दस वर्षों में इनकी मुसीबतों और कठिनाइयों का कुछ हाल मैं लिख चुका हूँ। हारे हुए देश, यानी जर्मनी और मध्य-यूरोप के छोटे देश, युद्ध के बाद की हालतों से बुरी तरह पिस गये और उनके सिक्कों की क़ीमत बिलकुल गिर जाने से उनके मध्यम-वर्ग बरबाद हो गये। पर यूरोप की जीती हुई और क़र्ज़ देनेवाली शक्तियों की हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। इनमें सारी-की-सारी शक्तियाँ अमेरिका की क़र्ज़दार थीं, और इनपर घरू राष्ट्रीय क़र्ज़ भी बड़ा भारी था। इन दोनों क़र्ज़ों के बोझ से वे ठोकर खा रही थीं और लड़खड़ा रही थीं। वे यह आशा लगाये बैठी थीं कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिलेगा और इससे वे कम-से-कम अपने विदेशी क़र्ज़ चुका सकेंगी। यह आशा बहुत वाजिब नहीं थी, क्योंकि जर्मनी तो खुद दिवालिया हो रहा था। लेकिन यह कठिनाई इस तरह हल हो गई कि अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, और जर्मनी ने इंग्लैण्ड, फ़्रान्स, वग़ैरा को उनके हिस्से के हर्जाने की रक़म चुकाई, और इन देशों ने इसी रक़म से अपने ऊपर अमेरिका के क़र्ज़ों का कुछ भाग अदा कर दिया।

इस दशाब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका ही अकेला ऐसा देश था, जो खूब खुशहाल था। उसके यहाँ तो धन की बाढ़-सी आ रही थी। इसी खुशहाली की वजह से वहाँ के लोग बड़ी लम्बी-चौड़ी उम्मीदें बाँधने लगे, और सरकारी हुण्डियों व शेयरों का सट्टा करने लगे।

पूंजीवादी दुनिया में आम धारणा थी कि यह आर्थिक संकट पिछली मन्दियों की तरह ही गुज़र जायगा, और फिर धीरे-धीरे संसार की सारी गड़बड़ें मिटकर खुशहाली का एक और दौर आ जायगा। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि पूंजी-वाद की ज़िन्दगी में खुशहाली के बाद संकट और संकट के बाद खुशहाली का हेर-फेर रहा है। यह बहुत दिन पहले ही बतलाया जा चुका था कि यह चीज़ पूंजीवाद के योजनाहीन और अवैज्ञानिक तरीक़ों में लाज़िमी है। उद्योगों की उन्नति से तेज़ी का ज़माना आया, और इससे फ़ायदा उठाने के लिए सबने जहाँतक हो सके ज्यादा-से-ज्यादा माल पैदा करना चाहा। नतीजा यह हुआ कि पैदावार खपत को पार कर गई—यानी जितना माल बिक सकता था, उससे ज्यादा तैयार हो गया। ढेर-का-ढेर माल जमा हो गया, संकट पैदा हो गया, और उद्योग फिर ढीले पड़ गये। कुछ दिन तक हालत ठहरी रही, और इस समय में इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे बिक गया। और फिर उद्योग दुबारा चेत गये और खुशहाली का एक और ज़माना जल्दी आ गया। सदा से यही चक्कर चलता आया था, इसलिए ज्यादातर लोगों को आशा थी कि खुशहाली का दौर कभी-न-कभी लौटकर आयगा ही।

पर १९२९ ई० में अचानक परिवर्तन हुआ, जिससे हालत सुधरने के बजाय

बिगड़ गई। अमेरिका ने जर्मनी और दक्षिणी अमेरिका के राज्यों को रुपया उधार देना बन्द कर दिया, और उधार देने व क़र्ज़ों के भुगतान के काग़ज़ी ढाँचे को खत्म कर दिया। ज़ाहिर था कि अमेरिकी पूंजीपति सदा रुपया उधार देते नहीं चले जायँगे, क्योंकि इससे उनके कर्ज़दारों की देनदारी बढ़ती ही जाती थी, और इन क़र्ज़ों का कभी भी भुगतान हो सकना नामुमकिन होता जाता था। अभी तक वे रुपया इसलिए उधार देते रहे थे कि उनके पास नक़द धन की बहुतायत थी, जो बेकार पड़ा हुआ था। फ़ालतू रुपये की इस बहुतायत की वजह से ही वे शेयर-बाज़ार में खूब सट्टेबाजी करने लगे। लोगों को सट्टेबाज़ी का बुख़ार-सा चढ़ गया, और हर आदमी जल्दी-से-जल्दी मालदार बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को दी जानेवाली उधारी बन्द होने से फ़ौरन ही संकट पैदा हो गया, और कुछ जर्मन बैंकों का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जानों व क़र्ज़ों के भुगतान का चक्कर बन्द हो गया। दक्षिणी अमेरिका की कई सरकारें और दूसरे छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने जब यह खतरा देखा कि लेन-देन की सारी इमारत ही ढह रही है, तो उसने जुलाई, १९३१ ई०, तक के लिए एक साल की छूट का ऐलान कर दिया। इसका मतलब यह था कि तमाम क़र्ज़दारों को राहत देने के लिए सरकारों के सारे आपसी क़र्ज़ों की और हर्जानों की अदायगी एक साल के लिए बन्द कर दी गई।

इसी बीच अक्तूबर, १९२९ ई० में, अमेरिका में एक मार्के की घटना हो गई। शेयर-बाजार में सट्टेबाज़ी से पहले तो शेयरों के भाव बेतहाशा ऊँचे चढ़ गये, और बाद में एकदम नीचे गिर गये। न्यूयार्क की साहूकार मंडलियों में बड़ा भारी संकट पैदा हो गया, और अमेरिका की खुशहाली का ज़माना बस यहीं खत्म हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका भी उन्हीं राष्ट्रों की पंक्ति में आ गया, जो मन्दी की मुसीबतें भुगत रहे थे। व्यापार व उद्योग में यह मन्दी अब 'महामन्दी' बन गई, और सारे संसार पर छा गई। यह न समझ बैठना कि अमेरिका की यह गिरावट या यह मन्दी, शेयर-बाज़ार की सट्टेबाज़ी या न्यूयार्क के अर्थ-संकट के नतीजे थे। यह तो ऊँट की पीठ पर सिर्फ़ आखिरी तिनका था। असली सबब तो बहुत गहरे थे।

संसार-भर में व्यापार घटने लगा, और चीज़ों के भाव, खासकर खेती की उपज के भाव, तेज़ी से गिरने लगे। कहा जाता था कि क़रीब-क़रीब हर चीज़ की पैदावार ज़रूरत से ज्यादा हो रही थी, पर दरअसल इसका अर्थ यह था कि तैयार माल को खरीदने के लिए लोगों के पास पैसा ही नहीं था; यानी जितनी खपत होनी चाहिए उतनी नहीं हो रही थी। जब बनी हुई चीज़ों का बिकना बन्द हो गया तो उनका ढेर जमा हो गया, और ऐसी हालत में इन चीज़ों को बनानेवाले कारखानों को बन्द करना लाज़िमी हो गया। जिन चीज़ों की बिक्री ही नहीं थी, तो उन्हें बनाते

चले जाना कोई मतलब नहीं रखता था। इसका नतीजा यह हुआ कि यूरोप में, अमेरिका में और दूसरे देशों में बेरोज़गारी बे-हिसाब बढ़ गई। तमाम औद्योगिक देशों पर करारी चोट पड़ी। जो खेतिहर देश संसार की मंडियों को उद्योगों के वास्ते कच्चा सामान भेजते थे, उनका भी यही हाल हुआ। भारत के उद्योगों को भी कुछ हद तक नुक़सान पहुँचा, पर क़ीमतों के गिरने से खेतिहर वर्गों के लिए बहुत बड़ी मुसीबत पैदा हो गई। साधारण तौरपर अन्नों के भाव में यह गिरावट जनता के लिए बड़ा भारी वरदान होनी चाहिए थी, क्योंकि लोग खाना खरीद सकते थे। मगर पूंजीवादी प्रणाली की दुनिया में उलटी गंगा बहती है, इसलिए यह वरदान अभिशाप बन गया। किसान-वर्ग को ज़मींदार का लगान या सरकारी मालगुज़ारी नक़द चुकानी पड़ती थी, और नक़द रुपया पाने के लिए उन्हें अपनी उपज बेचनी पड़ती थी। भाव इतने ज़्यादा नीचे गिर गये थे कि कभी-कभी तो किसान लोग अपनी पैदावार की सारी चीज़ बेच देने पर भी काफ़ी रुपया इकट्ठा नहीं कर पाते थे। नतीजा यह होता था कि कई बार उन्हें अपनी ज़मीनों से बेदखल कर दिया जाता था और झोंपड़ियों में से निकाल दिया जाता था और लगान वसूल करने के लिए उनका छोटा-सा घरेलू सामान तक नीलाम कर दिया जाता था। बस, अन्न बहुत सस्ता होने पर भी उसे पैदा करनेवाले भूखों मरते थे और उन्हें बेघर कर दिया जाता था।

संसार की आपसी निर्भरता ने ही इस मन्दी को संसार-व्यापी बना दिया। मेरा खयाल है कि सिर्फ़ तिब्बत-जैसा देश ही, जो बाहर की दुनिया से अलग-थलग है, इस मन्दी से बचा रहा होगा। महीने-दर-महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। मानो समूचे समाजी ढाँचे को धीरे-धीरे लकवा मार रहा था और उसे अपंग बना रहा था। व्यापार की इस गिरावट का अन्दाज़ा लगाने का सबसे अच्छा तरीक़ा शायद यह है कि राष्ट्र-संघ के प्रकाशित किये हुए व्यापार के आँकड़ों की ही जाँच की जाय। इन आँकड़ों से पता लगेगा कि हर साल के पहले तीन महीनों में कितने लाख स्वर्ण-डालर का व्यापार हुआ:

पहली तिमाही	आयात मूल्य	निर्यात मूल्य	कुल
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

ये आँकड़े बतलाते हैं कि संसार का व्यापार किस तरह बराबर कम होता गया और १९३३ ई० की पहली तिमाही में यह चार साल पहले के व्यापार का ३५ फ़ीसदी, यानी करीब एक-तिहाई रह गया।

व्यापार के बारे में ये कोरे आँकड़े इन्सानी लिहाज़ से हमें क्या बतलाते हैं ? ये बतलाते हैं कि जनता के ज़्यादातर लोग इतने ग़रीब हैं कि जो चीज़ें वे तैयार करते हैं, उन्हें ख़रीद नहीं सकते। ये आँकड़े बतलाते हैं कि मज़दूरों की बड़ी भारी संख्या बे-रोज़गार है, और सारा संसार दिल से चाहे तो भी इन्हें रोज़गार नहीं मिल सकता। सिर्फ़ यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में ही तीन करोड़ बेकार मज़दूर थे, जिनमें से तीस लाख इंग्लैण्ड में और एक करोड़ तीस लाख अमेरिका में थे। भारत में और एशिया के दूसरे देशों में कितने बेरोज़गार हैं, यह कोई नहीं जानता। शायद भारत में ही इनकी संख्या यूरोप और अमेरिका के कुल बेरोज़गारों से बहुत ज़्यादा है। सारे संसार के इन अनगिनती बे-रोज़गारों का और इनके आसरे रहनेवाले इनके परिवारों का विचार करो तो तुम्हें उस इन्सानी मुसीबत का कुछ अन्दाज़ा होगा, जो व्यापार की इस मन्दी से हुई है। यूरोप के बहुत-से देशों में सरकारी बीमा-प्रणाली के मातहत बेरोज़गारों के रजिस्टर में नाम दर्ज करानेवाले तमाम लोगों को गुज़र खर्च दिया जाता था; संयुक्त राज्य अमेरिका में उन्हें ख़ैरात बाँटी जाती थी। मगर ये गुज़ारे और ख़ैरातें ज़्यादा राहत नहीं दे सके। बहुतों को तो ये मिले भी नहीं और भूखे लोग भूखों मरने लगे। मध्य और पूर्व यूरोप के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही बुरी हालत हो गई।

संसार के तमाम बड़े-बड़े औद्योगिक देशों में अमेरिका ऐसा देश था, जिसपर मन्दी की चोट सबसे पीछे पड़ी; पर इस मन्दी का असर यहाँ दूसरे सब देशों से ज़्यादा हुआ। अमेरिका के लोगों को मुद्दत तक रहनेवाली तिजारती मन्दी और तक़लीफ़ों की आदत नहीं थी। घमण्डी, और पैसे का घमण्डी, अमेरिका इस चोट से सुन्न हो गया। और जब बेकारों की संख्या में बराबर लाखों की बढ़ोतरी होने लगी और भूखे व भूख से तड़पनेवाले हर जगह दिखाई देने लगे, तो सारे राष्ट्र की हिम्मत टूटने लगी। बैंकों में और पूंजी लगाने के कामों में लोगों का विश्वास उठने लगा और वे बैंकों से रुपया निकाल-निकालकर घरों में जमा करने लगे। बैंक तो विश्वास और साख के आधार पर ही क़ायम रहते हैं। अगर विश्वास उठ जाता है तो बैंक भी खत्म हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में हज़ारों बैंकों के दिवाले निकल गये और ज्यों-ज्यों दिवाले निकलते गये त्यों-त्यों संकट भी बढ़ने लगा और आमतौर पर हालत पहले से भी ज़्यादा विकट हो गई।

हज़ारों बे-रोज़गार नर-नारी आवारा बन गये और रोज़गार की तलाश में नगर-नगर मारे-मारे फिरने लगे। वे सड़कों पर घूमते रहते थे, रास्ते पर गुज़रने-वाले मोटर-यात्रियों से मिन्नतें करते थे कि उन्हें बिठा लें और अक्सर धीमी माल-गाड़ियों के पायदानों पर लटक जाते थे। इस लम्बे-चौड़े देश में अकेले या छोटे-छोटे गिरोहों में इधर-से-उधर भटकनेवाले लड़कों और लड़कियों और छोटे बच्चों की

संख्याएँ और भी ज्यादा चौंकानेवाली थीं। इधर बड़ी उम्रवाले और हट्टे-कट्टे आदमी रोज़गार की बाट जोहते हुए और उम्मीद करते हुए निकम्मे बैठे थे, और नमूने के सरकारी कारख़ाने भी बन्द कर दिये गए थे। लेकिन पूंजीवाद की ख़ासियत ऐसी है कि ऐसे समय में कम मजूरी देकर कड़ी मेहनत लेनेवाले अँधेरे और गन्दे-काम-घर जगह-जगह खुल गये, जिनमें बारह से सोलह साल की उम्रतक के लड़के-लड़कियों से नाम की मजूरी पर दस-बारह घण्टे काम लिया जाता था। बड़े लड़कों व लड़कियों पर बेकारी का जो ज़बर्दस्त असर पड़ा, उसकी मजबूरी का फ़ायदा उठाकर कुछ कारख़ानेदारों ने इन जवान लड़के-लड़कियों से अपने मिलों और कारख़ानों में खूब कसकर और देर-देर तक काम करवाया। इस तरह मन्दी के सबब से अमेरिका में बच्चों की मज़दूरी फिर शुरू हो गई, और इस बुराई को व दूसरी बुराइयों को रोकनेवाले मज़दूर-क़ानूनों को खुले आम अंगूठा दिखाया गया।

याद रहे कि अमेरिका में या दुनिया के दूसरे देशों में अन्न की और कारख़ानों के बने माल की कोई कमी नहीं थी। शिकायत यह थी कि ये चीज़ें जरूरत से ज्यादा थीं, यानी पैदावार खपत से ज्यादा थी। मशहूर अंग्रेज अर्थशास्त्री सर हेनरी स्ट्रैकोश ने कहा था कि जुलाई, १९३१ ई० में, यानी मन्दी के दूसरे साल में, दुनिया के बाज़ारों में इतना माल था कि वह सवा दो वर्ष तक संसार-भर के लोगों की गुज़र-बसर का वही दर्जा क़ायम रखने के लिए काफ़ी था, जिसके वे आदी थे। चाहे इस बीच वे तिनका तक न हिलाते। मगर फिर भी इसी ज़माने में लोगों को इतनी तंगी और भुखमरी भुगतनी पड़ी जितनी आज की औद्योगिक दुनिया में आज तक कभी नहीं हुई। इधर तो यह तंगी थी और उधर अन्न को सचमुच बर्बाद कर दिया गया। फ़सलें काटी नहीं गईं और खेतों में पड़ी-पड़ी सड़ने दी गईं, फल पेड़ों पर ही लटके छोड़ दिये गए, और कुछ चीज़ें तो सचमुच नष्ट ही कर दी गईं। इसकी सिर्फ़ एक मिसाल यहाँ देता हूँ: जून, १९३१ ई०, से लगाकर फ़रवरी, १९३३ ई० तक ब्राज़ील में क़हवा—(काफ़ी) की १,४०,००,००० बोरियाँ नष्ट कर दी गईं। एक बोरी में क़रीब १३२ पौण्ड क़हवा भरा जाता है, इसलिए १,८४,८०,००,००० पौण्ड क़हवा इस तरह नष्ट कर दिया गया! अगर एक-एक आदमी को एक-एक पौण्ड क़हवा भी दिया जाय, तो इतना क़हवा संसार की कुल आबादी के लिए काफ़ी होता। मगर हम जानते हैं कि लाखों आदमी, जो क़हवा पीना चाहते हैं, इतने ग़रीब हैं कि क़हवा ख़रीद ही नहीं सकते।

क़हवा के अलावा गेहूँ और कई दूसरी चीज़ें नष्ट की गईं। कपास, रबड़, चाय, वग़ैरा की खेती पर पाबन्दियाँ लगाकर आयन्दा इनकी उपज कम करने के उपाय भी किये गए। यह सारी बर्बादी और पाबन्दियाँ लगाने की ये कार्रवाइयाँ खेती

की उपज के भाव बढ़ाने के लिए की गई थीं, ताकि इन चीज़ों की कमी से माँग पैदा हो जाय और क़ीमतें ऊँची चढ़ जायँ। बाज़ार में अपनी उपज बेचनेवाले किसान के लिए बेशक फ़ायदे की बात हो सकती है, लेकिन ख़रीदार का क्या होगा ? अगर पैदावार ज़रूरत से कम होती है तो क़ीमतें इतनी चढ़ जाती हैं कि ज़्यादा लोग चीज़ें नहीं ख़रीद सकते और तंगी भुगतते हैं। अगर पैदावार ज़रूरत से ज़्यादा हो तो क़ीमतें इतनी गिर जाती हैं कि उद्योगों और खेतीबाड़ी के काम नहीं चल सकते और बेकारी पैदा हो जाती है। और बे-रोज़गार लोग कोई चीज़ कैसे ख़रीद सकते हैं, क्योंकि ख़रीदने के लिए उनके पास पैसा ही नहीं होता ! चाहे तो कमी हो और चाहे बहुतायत, जनता की क़िस्मत में तो दोनों ओर से तंगी भुगतना ही बदा है।

मैं लिख चुका हूँ कि मन्दी के दौर में अमेरिका में या दूसरे देशों में चीज़ों की कोई कमी नहीं थी। किसानों के पास तो खेती की उपज थी, जिसे कोई ख़रीदने-वाला नहीं था, और शहरी लोगों के पास कारख़ानों का बना माल था, जिसे वे बेच नहीं पाते थे। मज़ा यह है कि दोनों को एक-दूसरे के सामानों की जरूरत थी। मगर चूँकि दोनों तरफ़ रुपये की कमी थी, इसलिए विनिमय का सिलसिला रुक गया। और तब निहायत औद्योगिक और आगे बढ़े हुए पूँजीवादी अमेरिका में लोगों ने चीज़ों की अदला-बदली का प्राचीन तरीक़ा अपनाया, जो पुराने ज़माने में सिक्कों के चलन से पहले बरता जाता था। अमेरिका में चीज़ों का लेन-देन करनेवाली सैकड़ों संस्थाएँ बन गईं। जब रुपये की कमी से विनिमय की पूँजीवादी प्रणाली तहस-नहस हो गई, तो लोग बिना रुपये के ही काम चलाने लगे और चीज़ों की व काम की अदला-बदली करने लगे। इस अदला-बदली को सर्टिफ़िकेट देकर सहायता करनेवाली कितनी ही विनिमय समितियाँ पैदा हो गईं। इस अदला-बदली की एक ज़ोरदार मिसाल एक डेरीवाले की है, जिसने एक विश्वविद्यालय को अपने बच्चों की शिक्षा के ऐवज़ में दूध, मक्खन और अंडे दिये।

दूसरे देशों में भी कुछ हद तक अदला-बदली की प्रणाली चालू हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयों की पेचीदा प्रणाली भंग होने से राष्ट्रों के बीच चीज़ों की अदला-बदली के भी बहुत-से मौक़े आये। मसलन, इंग्लैण्ड ने स्कैण्डिनेविया की इमारती लकड़ी के बदले में कोयला दिया; कनाडा ने सोवियत को खनिज तेल के बदले में अल्यूमीनियम दिया; संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्राज़ील को क़हवा के ऐवज़ में गेहूँ दिया।

इस मन्दी से अमेरिका के किसानों को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। उन्होंने अपने खेतों को रेहन रखकर बैंकों से जो रुपया उधार लिया था, उसे वे चुका नहीं सके। इसपर बैंकों ने यह कोशिश की कि इन खेतों को बिकवाकर अपना रुपया

वसूल करें। मगर किसानों ने इसका विरोध किया, और इस क़िस्म के नीलामों को रोकने के लिए संगठित होकर अपनी 'कार्रवाई समितियाँ' बना लीं। नतीजा यह हुआ कि इस तरह के नीलामों में किसानों की मिल्कियतों पर बोली लगाने की किसीको हिम्मत नहीं हुई, और बैंकों को मजबूर होकर उनकी शर्तें माननी पड़ीं। किसानों का यह विद्रोह अमेरिका के मध्य-पश्चिमी प्रदेशों में फैल गया। यह विद्रोह इस बात को ज़ाहिर करनेवाला इशारा था कि संकट पैदा होने से अमेरिका की पुरानी नस्ल के वे पुराने विचारोंवाले किसान, जो मुद्दत से देश की रीढ़ थे, किस क़दर सरगर्म होते जा रहे थे और उनका नज़रिया किस क़दर क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। इनका यह आन्दोलन ठेठ देशी था, समाजवाद या साम्यवाद से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था। आर्थिक मुसीबतों के सबब से मिल्कियत के हक़दार ये मध्यम-वर्गी किसान महज़ खेत जोतनेवाले और बे-मिल्कियत काश्तकार बनते जा रहे हैं। उनके कुछ नारे ये थे : "इन्सान के हक़ क़ानूनी व जायदादी हक़ों से ऊपर हैं" और "रेहन की हुई जायदाद पर सबसे पहला हक़ पत्नियों और सन्तानों का है।"

संयुक्त राज्य अमेरिका की हालतों को मैंने कुछ विस्तार के साथ बयान किया है, क्योंकि बहुत बातों में अमेरिका मन को लुभानेवाला देश है। पूँजीवादी देशों में यह सबसे ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ है, और यूरोप व एशिया की जैसी पुरानी सामन्ती जड़ें हैं, वैसी इसकी नहीं हैं। इसलिए यहाँ परिवर्तन ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से हो सकते हैं। दूसरे देशों की जनता को तंगी भुगतने का ज़्यादा अभ्यास है; पर जो कुछ बतलाया है, उससे तुम अन्दाज़ा लगा सकती हो कि मन्दी के दौर में दूसरे देशों की क्या हालत थी। कुछ की हालत बहुत ख़राब थी, और कुछ-की ज़रा अच्छी थी। कुल मिलाकर मन्दी का बुरा असर खेतिहर और पिछड़े हुए देशों पर इतना नहीं पड़ा जितना उन्नत औद्योगिक देशों पर। उनके पिछड़ेपन ने ही एक तरह से उन्हें बचा दिया। उनकी सबसे बड़ी मुसीबत खेती की उपज के भावों का एकदम गिर जाना था, जिससे किसान-वर्ग को भारी कष्ट सहना पड़ा। आस्ट्रेलिया, जो ज़्यादातर खेतिहर देश है, इंग्लैण्ड के बैंकों को अपना क़र्ज़ नहीं चुका सका, और क़ीमतों की इस गिरावट से उनके दिवालिया होने की नौबत आ गई। अपनी जान बचाने के लिए उसे अंग्रेज़ी बौहरों की कठोर शर्तों पर रज़ामन्द होना पड़ा। मन्दी में सबसे ज़्यादा फूलने-फलनेवाला और दूसरों पर रौब जमानेवाला वर्ग बौहरों का ही होता है।

संयुक्त राज्य से उधार मिलना बन्द होने की वजह से और मन्दी की वजह से दक्षिण अमेरिका में ऐसा आर्थिक संकट पैदा हुआ कि गणराज्य-वाली ज़्यादातर हुकूमतों के, या यों कहो कि उनपर राज करनेवाले तानाशाहों

के, तख्ते उलट गये। सारे दक्षिण अमेरिका में अर्जेन्टाइन, ब्राज़ील और चिली, इन तीन बड़े देशों में क्रान्तियाँ हुईं। दक्षिण अमेरिका की सारी क्रान्तियों की तरह ये क्रान्तियाँ भी राजमहलों के ही मामले थे, यानी इनमें सिर्फ़ तानाशाह और ऊपर की सरकारें ही बदलीं। यहाँ जिस व्यक्ति या गिरोह के हाथों में फ़ौजें और पुलिस होती हैं, वही देश में राज करता है। दक्षिण अमेरिका की सारी सरकारें बुरी तरह क़र्ज़ों में फँसी हुई थीं और बहुत-सी तो नादिहन्द हो गई थीं।

: १८५ :

संकट के सबब क्या थे ?

२१ जुलाई १९३३

महामन्दी ने दुनिया का गला दबा लिया और करीब सारी हलचलों का या तो दम घोंट दिया या उनकी चाल धीमी कर दी। बहुत जगह कारख़ानों के चक्के चलना बन्द हो गये; जिन खेतों में अन्न व दूसरी फ़सलें पैदा होती थीं, वे ख़ाली और बेजुते पड़े रह गये; रबड़ के पेड़ों से रबड़ चू रहा था, पर कोई उसे समेटनेवाला नहीं था; जो पहाड़ी ढाल चाय की पाली-पोसी झाड़ियों से लहलहाते थे, वे झाड़-झंखाड़ बन गये और उनकी सार-सम्हाल करनेवाला कोई न रहा। और जो लोग ये सारे काम करते थे, वे बेकारों की बड़ी फ़ौज में शामिल हो गये और काम व रोज़गार की राह देखने लगे, पर उन्हें कोई काम-धन्धा नहीं मिलता था। निदान, लाचार और बहुत-कुछ नाउम्मीद होकर वे भूख और तंगी के मुँह में जा पड़े। कई देशों में आत्म-हत्याओं की संख्या बढ़ गई।

मैं कह चुका हूँ कि सारे उद्योगों पर मन्दी की छाया पड़ गई थी। लेकिन एक उद्योग बच गया था। वह लड़ाई के सामानों का उद्योग था, जो कितने ही राष्ट्रों की जल, थल और हवाई सेनाओं के लिए हथियार और युद्ध-सामग्री तैयार करता था। यह धन्धा खूब चमका और इसके हिस्सेदारों को भारी-भारी मुनाफ़े बाँटे गये। मन्दी का इसपर कोई असर नहीं पड़ा, क्योंकि यह तो राष्ट्रों की आपसी मुक़ाबलेदारियों और रगड़े-झगड़ों के सौदे करता था, और ये दोनों चीज़ें इस संकट-काल में बुरी तरह बढ़ गई थीं।

मन्दी के सीधे असर से एक और विशाल प्रदेश अछूता रह गया—यह सोवियत संघ था। यहाँ कोई बे-रोज़गारी नहीं थी और पंच-वर्षीय योजना के मातहत इतनी ज़्यादा मेहनत से काम हो रहा था जितना पहले कभी नहीं हुआ। यह देश पूँजीवादी असरवाले क्षेत्र से बाहर था, और इसकी अर्थ-व्यवस्था दूसरी क़िस्म की थी। मगर जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, मन्दी का तिरछा असर इस

पर भी पड़ा, क्योंकि खेती की जो उपज यह दूसरे देशों में बेचता था, उसकी क़ीमतें गिर गई थीं।

इस महामन्दी का, इस संसार-व्यापी संकट का, क्या सबब था, जो अपने ढंग से लगभग उतना ही भयानक था जितना कि खुद महायुद्ध ? यह पूंजीवादी संकट कहलाता है, क्योंकि लम्बा-चौड़ा और पेचीदा पूंजीवादी ढाँचा इसके बोझ से बुरी तरह तड़क गया था। पूंजीवाद ने ऐसा ढंग क्यों अपनाया ? और क्या यह ऐसा चन्द-रोज़ा संकट था, जिसकी मार से पूंजीवाद बच जायगा ? क्या यह एक तरह से उस बड़ी भारी प्रणाली की आख़िरी हिचकियों की शुरुआत थी, जो इतनी मुद्दत से संसार पर छाई हुई है ? ऐसे कितने ही सवाल उठते हैं, और हमें दहला देते हैं; क्योंकि इनके उत्तर पर सारी मनुष्य-जाति का, और साथ ही हमारा भी, भविष्य निर्भर है। दिसम्बर १९३२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकी सरकार को एक खरीता भेजा, जिसमें मिन्नत की गई थी कि उसे युद्ध के क़र्ज़े से बरी कर दिया जाय। इस खरीते में बतलाया गया था कि किस तरह 'मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की'। इसमें लिखा था: "हर जगह टैक्स बड़ी बेरहमी से बढ़ा दिये गए हैं और खर्च बुरी तरह कम कर दिये गए हैं। मगर फिर भी इलाज करने के इरादे से लगाये गए अंकुशों की पाबन्दियों से यह मर्ज़ और ज्यादा बढ़ गया है।" आगे चलकर इसमें बतलाया गया था कि "ये नुक़सान और कष्ट क़ुदरत की कंजूसी के सबब से नहीं हुए हैं। भौतिक विज्ञान की सफलताएँ बढ़ रही हैं, और असली दौलत पैदा करनेवाली चीज़ों के छिपे हुए भण्डार ज्यों-के-त्यों हैं।" क़सूर कुदरत का नहीं था, बल्कि मनुष्य का था, और मनुष्य की पैदा की हुई प्रणाली का था।

पूंजीवाद की इस बीमारी का ठीक-ठीक निदान करना या इसके लिए दवा का नुस्खा तजवीज़ करना आसान नहीं है। अर्थशास्त्रियों को इसका पूरा ज्ञान होना चाहिए पर उनमें मतभेद है और वे इसके अलग-अलग कारण और इलाज बतलाते हैं। साम्यवादी और समाजवादी ही ऐसे लोग नज़र आते हैं, जिनके दिमाग़ इस बारे में बिलकुल साफ़ हैं। उनका कहना है कि पूंजीवाद की बधिया बैठना उनके विचारों और मतों को सही साबित करता है। पूंजीवाद के माहिरों ने तो साफ़ क़बूल कर लिया कि वे चक्कर और उलझन में पड़ गये हैं। इंग्लैण्ड के एक बहुत बड़े और बहुत क़ाबिल साहूकार मॉन्टेग्यू नॉर्मन ने, जो बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड का गवर्नर है, एक सार्वजनिक समारोह में कहा था: "यह आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नहीं है। कठिनाइयाँ इतनी लम्बी-चौड़ी हैं, इतनी अनोखी हैं, और इतनी बे-मिसाल हैं कि इस समूचे विषय पर विचार करने का न तो मुझे ज्ञान है और न हिम्मत है। यह समस्या इतनी बड़ी है कि मैं इसे नहीं सुलझा सकता। आयन्दा की बात यह है कि शायद हम इस अंधेरी सुरंग के दूसरे सिरे की उस रोशनी को देख सकें, जिसकी

तरफ़ कुछ लोग इशारा भी कर चुके हैं।" मगर यह रोशनी अगिया बैताल की तरह का मायाजाल है, जो पहले तो उम्मीदें पैदा करता है, मगर फ़ौरन ही उन्हें मिट्टी में मिला देता है। एक नामी अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ, सर ऑकलैण्ड गेडीस ने कहा है :"विचारवान लोगों का विश्वास है कि समाज चूर-चूर होने लगा है। हम जानते हैं कि यूरोप में तो एक युग ही खत्म हो रहा है।"

जर्मनी के लोग यह मानते थे कि संकट का असली सबब हर्जानों की वसूली था; बहुत-से दूसरे लोग यह मानते थे कि यह मन्दी राष्ट्रों के आपसी व घरेलू जंगी क़र्ज़ों के कारण आई, क्योंकि इनका बोझा बर्दाश्त से बाहर हो गया है और सारे उद्योगों का गला दबा रहा है। इस तरह दुनिया की मुसीबतों का क़सूर सबसे ज्यादा महायुद्ध के सिर मढ़ा जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत था कि रुपये का विचित्र बर्ताव और क़ीमतों की भारी गिरावट ही सारी मुसीबत की जड़ थी, और ये चीज़ें सोने की कमी का नतीजा थीं। और सोने की कमी एक तो इस वजह से हुई कि खानों में से दुनिया की ज़रूरत के मुताबिक़ काफ़ी सोना नहीं निकला, और ज्यादा इस वजह से हुई कि कई सरकारों ने सोना दबाकर रख लिया। कुछ दूसरे लोग कहते थे कि ये सारी मुसीबतें आर्थिक राष्ट्रीयता तथा आने-जानेवाले माल पर भारी चुंगियों की वजह से पैदा हुईं; क्योंकि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावटें पड़ती हैं। एक और सबब यह पेश किया गया कि उद्योगों में विज्ञान का उपयोग बढ़ने से मज़दूरों की ज़रूरत कम हो गई और इस तरह बेरोज़गारी बढ़ गई।

इन सुझावों और दूसरे सुझावों के बारे में बहुत-कुछ कहा जा सकता है, और मुमकिन है कि इन सबने ही दुनिया का मिज़ाज बिगाड़ दिया हो। पर सारा दोष किसी एक सबब के सिर या सारे सबबों के सिर मढ़ना न तो ठीक है और न वाजिब। सच तो यह है कि जिनको सबब कहा जाता है, उनमें से कुछ तो खुद ही इस संकट के नतीजे थे, और इनमें से हरेक ने उसे बढ़ाने में मदद दी। लेकिन इस मुसीबत की जड़ बहुत गहरी थी। युद्ध में हारना इसका सबब नहीं था, क्योंकि जीतनेवाले राष्ट्र भी खुद इसमें फँसे हुए थे। राष्ट्रों की ग़रीबी भी इसका सबब नहीं थी, क्योंकि संसार का सबसे ज्यादा मालदार देश अमेरिका भी उन देशों में से था, जिनपर इस संकट का बहुत बुरा असर पड़ा था। इसमें कोई शक नहीं कि इस संकट को जल्द लाने में महायुद्ध एक ज़बर्दस्त निमित्त हुआ है—एक तो क़र्ज़ों के भारी बोझ की वजह से, और दूसरे, क़र्ज़दारों में इनके बँटवारे के ढंग की वजह से। एक और सबब यह भी था कि युद्ध के दौरान और युद्ध के कुछ वर्षों में चीज़ों की ऊँची क़ीमतें झूठी थीं, इसलिए बधिया बैठना लाज़िमी था। लेकिन हमें इसकी गहराई में जाना चाहिए।

कहा जाता है कि ज़रूरत से ज़्यादा पैदावार इस मुसीबत की जड़ है। मगर यह गुमराह करनेवाली बात है, क्योंकि जब करोड़ों लोग ज़िन्दगी के लिए निहायत ज़रूरी चीज़ों तक की तंगी भुगत रहे हैं तो ज़रूरत से ज़्यादा पैदावार का सवाल ही नहीं उठता। भारत में करोड़ों लोगों के पास तन ढँकने को कपड़ा नहीं है, मगर फिर भी यह सुनाई देता है कि भारत की कपड़ा-मिलों में और खादी-भण्डारों में माल भरा पड़ा है, और कपड़ा ज़रूरत से ज़्यादा तैयार हो रहा है। हक़ीक़त यह है कि लोगों के पास कपड़ा खरीदने के लिए पैसा ही नहीं है, न कि यह कि उन्हें कपड़े की ज़रूरत नहीं है। जनता के पास पैसे की कमी ही इसका कारण है। मगर पैसे की इस कमी का यह अर्थ नहीं है कि दुनिया से पैसा ग़ायब हो गया है। इसका अर्थ यह है कि दुनिया के लोगों में पैसे का बँटवारा अस्त-व्यस्त हो गया है, और लगातार होता रहता है। दौलत का बँटवारा हमवार नहीं है। एक ओर तो दौलत की बहुतायत है और दौलतमन्दों को यह नहीं सूझ पाता है कि इसका क्या करें; वे महज़ उसे बचाकर रखते जाते हैं, और बैंकों में अपनी जमा-पूँजी बढ़ा रहे हैं। यह रुपया बाज़ार में सामान ख़रीदने के काम नहीं आता। दूसरी तरफ़ दौलत की बहुत ज़्यादा कमी है, और इसकी कमी से ज़रूरी चीज़ें भी नहीं ख़रीदी जा सकतीं।

इस तरह घुमा-फिराकर मानो यह कहा जाता है कि दुनिया में मालदार और ग़रीब हैं; हालाँकि यह चीज़ इतनी साफ़ है कि इसके लिए किसी दलील की ज़रूरत नहीं है। ये मालदार और ग़रीब इतिहास के शुरू से आजतक चले आ रहे हैं; फिर मौजूदा संकट के लिए इन्हें ज़िम्मेदार क्यों ठहराया जाता है? मेरा खयाल है कि पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूँ कि पूँजीवादी प्रणाली का सारा झुकाव दौलत के बँटवारे में असमानता बढ़ाने का है। सामन्ती सूरतों में ज़माने की हालत एक जगह ठहरी हुई थी, या बहुत धीरे-धीरे बदलती थी; पर बड़ी-बड़ी मशीनों और संसार-व्यापी मंडियोंवाला पूँजीवाद ज़ोर से आगे बढ़ रहा था, और ज्यों-ज्यों व्यक्तियों या जमातों के पास दौलत जमा होती गई, त्यों-त्यों बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हुए। दौलत के बँटवारे में बढ़ती हुई असमानता ने, कुछ दूसरे निमित्तों से मिलकर, औद्योगिक देशों में मज़दूर-वर्ग और पूँजीपति-वर्ग के बीच एक नया झगड़ा पैदा कर दिया। इन देशों के पूँजीपतियों ने मज़दूर-वर्ग को पहले से ऊँची मजूरी की, और रहन-सहन की पहले से अच्छी हालतों की, कई रियायतें देकर खिचाव कम कर दिया; मगर ये रियायतें उपनिवेशी और पिछड़े हुए प्रदेशों का शोषण करके दी गईं। इस तरह एशिया, अफ़्रीका, दक्षिणी अमेरिका और पूर्वी यूरोप के शोषण से पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के औद्योगिक देशों को दौलत जमा करने में और इसका कुछ हिस्सा अपने मज़दूरों को देने में मदद मिली। ज्यों-ज्यों नई-नई मंडियाँ तलाश होती गईं, त्यों-त्यों नये-नये उद्योग खड़े हुए या पुराने उद्योगों का विकास हुआ। साम्राज्यवाद ने इन मंडियों और कच्चे माल की सरगर्म तलाश का

रूप ले लिया। जुदा-जुदा औद्योगिक शक्तियों की आपसी होड़ से उनके स्वार्थ आपस में टकराने लगे। जब क़रीब समूचा संसार पूंजीवादी शोषण के दायरे में आ गया तो किसी शक्ति को आगे पैर फैलाने की गुंजाइश नहीं रही और शक्तियों के आपसी झगड़ों का नतीजा यह हुआ कि युद्ध छिड़ गया।

ये तमाम बातें मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ, लेकिन यहाँ इसलिए दोहरा रहा हूँ कि दुनिया के मौजूदा संकट को समझने में तुम्हें मदद मिले। विकास करते हुए पूंजीवाद और बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के इस ज़माने में पश्चिम में कई संकट पैदा हुए। इसका कारण यह था कि एक तरफ़ तो पैसा हद से ज्यादा बचाया जा रहा था, और दूसरी तरफ़ लोगों के पास ख़र्च करने तक को पैसा नहीं था। मगर ये संकट टल गये, क्योंकि पूंजीपतियों के पास जो फ़ालतू रुपया था, उसे उन्होंने पिछड़े हुए प्रदेशों का विकास व शोषण करने में लगाया। इससे नये-नये बाजार पैदा हो गये और माल की खपत बढ़ गई। साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की आख़िरी सूरत कहा जाता है। मामूली तौर पर शोषण का यह सिलसिला शायद तबतक जारी रहता जब-तक कि समूचे संसार का उद्योगीकरण न हो गया होता। पर बीच में ही कठिनाइयाँ और अटक पैदा हो गईं। सबसे बड़ी कठिनाई तो साम्राज्यशाही शक्तियों की ज़बर्दस्त मुक़ाबलेबाजी थी, क्योंकि हरेक शक्ति अपने लिए सबसे बड़ा हिस्सा चाहती थी। दूसरी कठिनाई थी उपनिवेशी देशों में नई राष्ट्रीयता और उपनिवेशी उद्योगों का विकास, जिनसे वे अपने बाज़ारों में अपना ही माल भेजने लगे। हम देख चुके हैं कि इन तमाम हवाओं के नतीजे से युद्ध छिड़ गया। मगर युद्ध से पूंजीवाद की कठिनाइयाँ न तो हल हुईं और न हो सकती थीं। सोवियत संघ का विशाल प्रदेश पूंजीवादी दुनिया से बिलकुल बाहर निकल गया, और ऐसी मण्डी नहीं रहा, जिससे दूसरी शक्तियाँ फ़ायदा उठा सकें। पूर्व में राष्ट्रीयता ज्यादा सरगर्म बनने लगी और उद्योगीकरण फैलने लगा। युद्ध के दौरान और उसके बाद विज्ञान की तकनीक में जो ज़बर्दस्त तरक़्क़ी हुई, उसने दौलत के असमान बँटवारे में और बेरोज़गारी बढ़ने में मदद दी। युद्ध के क़र्ज़े भी एक ज़बर्दस्त सबब हुए।

युद्ध के ये क़र्ज़े बहुत भारी थे, और याद रखने की बात है कि वे किसी दूसरी तरह की ठोस दौलत नहीं थे। अगर कोई देश रेलों या नहरों या किसी दूसरी देश-हितकारी योजना के लिए रुपया उधार लेता है तो जो रुपया वह उधार लेता है और ख़र्च करता है उसके बदले में उसके पास कुछ ठोस चीज़ आ जाती है। वास्तव में इन कामों पर जितनी दौलत ख़र्च की जाती है, उससे कहीं ज्यादा पैदा हो जाती है। इसलिए ये काम 'उत्पादक काम' कहलाते हैं। पर युद्ध-काल में उधार लिया गया रुपया ऐसे किसी मतलब पर ख़र्च नहीं हुआ। यह ख़र्च उत्पादक तो था ही नहीं, बल्कि सत्यानासी था। ज़बर्दस्त रक़में ख़र्च की गईं, और ये अपने पीछे

सत्यानास की निशानियाँ छोड़ गईं। इस तरह युद्ध के ये क़र्ज़े निपट व बहुत भारी बोझ साबित हुए। युद्ध के क़र्ज़े तीन क़िस्म के थे: एक तो हर्जाने, जिन्हें देने के लिए हारे हुए देशों को मजबूर किया गया था; दूसरे सरकारों के आपसी क़र्ज़े, जो मित्र-राष्ट्री देशों को आपस में, और खासकर अमेरिका को, चुकाने थे; और तीसरे राष्ट्रीय क़र्ज़, यानी वह रुपया, जो हर देश ने अपने ही नागरिकों से उधार लिया था।

इन तीनों क़िस्मों के क़र्ज़ों में हरेक क़र्ज़ा बहुत ही भारी था, पर हर देश का सबसे बड़ा क़र्ज़ा उसका राष्ट्रीय क़र्ज़ा था। मसलन, युद्ध के बाद इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय क़र्ज़ा ६,५०,००,००,००० पौण्ड की विकट संख्या तक पहुँच गया था। इस क़र्ज़ का ब्याज तक चुकाना बड़ा भारी बोझ था, और इसका मतलब था जनता पर टैक्सों का भारी बोझ। जर्मनी ने तो सिक्के का फैलाव करके, जिससे पुराना मार्क खत्म हो गया था, अपने भारी अन्दरूनी क़र्ज़े को साफ़ कर दिया, और इस लिहाज़ से वह उन लोगों को नुक़सान पहुँचाकर बोझ से बच गया, जिन्होंने उसे रुपया उधार दिया था। फ़्रान्स ने भी कुछ हद तक सिक्के का यही तरीक़ा अपनाया और अपने फ़्रैन्क का मूल्य घटाकर असली मूल्य का पाँचवाँ हिस्सा कर दिया, और इस तरह एक झटके में अपना अन्दरूनी राष्ट्रीय क़र्ज़ा पाँच में से चार हिस्से कम कर दिया। मगर दूसरे देशों को चुकाये जानेवाले क़र्ज़ों (हर्जानों या सरकारों के आपसी क़र्ज़ों) के साथ यह खेल नहीं खेला जा सकता था, क्योंकि इनका भुगतान तो ठोस सोने के रूप में होता है।

सरकारों के ये आपसी क़र्ज़े चुकाने के लिए जब एक देश दूसरे देश को क़र्ज़ अदा करता था तो इसका अर्थ यह था कि भुगतान करनेवाला देश उतना रुपया खो देता था, और वह ग़रीब होता जाता था। पर अन्दरूनी राष्ट्रीय क़र्ज़ों के भुगतान से देश पर ऐसा कोई असर नहीं पड़ता था, क्योंकि देश का धन देश में ही रहता था। मगर फिर भी इससे बहुत फ़र्क़ पड़ता था। इस क़िस्म के क़र्ज़ों को चुकाने के लिए देश के सारे मालदार या ग़रीब कर-दाताओं पर टैक्स लगाकर रुपया उगाहा जाता था। राज्य को रुपया उधार देकर सरकारी हुंडियाँ ख़रीदने वाले मालदार लोग थे। इसलिए नतीजा यह हुआ कि इन मालदारों का रुपया अदा करने के लिए मालदारों व ग़रीबों दोनों पर इकसार टैक्स लगाये गए। मालदार लोग तो राज्य को टैक्सों के रूप में रुपया देते थे, वह उन्हें वापस मिल जाता था, या शायद उससे भी ज्यादा मिल जाता था, मगर ग़रीब लोग तो देते ही थे, बदले में उन्हें कुछ नहीं मिलता था। इसलिए मालदार तो ज्यादा मालदार हो गये, और ग़रीब ज्यादा ग़रीब हो गये।

यूरोप के क़र्ज़दार देश अगर अमेरिका को अपने क़र्ज़ों का कुछ हिस्सा अदा

करते थे तो यह तमाम रुपया बड़े-बड़े बौहरों और साहूकारों की जेबों में जाता था। इसलिए युद्ध के इन क़र्ज़ों का नतीजा यह हुआ कि जो हालत पहले ही ख़राब थी, वह और भी ज्यादा ख़राब हो गई, और ग़रीबों का पेट काटकर मालदार लोग रुपये के बोझ से खूब लद गये। ये मालदार इस रुपये को धन्धों में लगाना चाहते थे, क्योंकि कोई भी व्यवसायी यह पसन्द नहीं करता कि उसका रुपया बेकार पड़ा रहे। इसलिए उन्होंने इस रुपये को नये-नये कारखानों और मशीनों और दूसरे व्यवसायों में इतना ज्यादा लगा दिया जितना कि आमतौर पर ग़रीब हुई जनता की हालत को देखते हुए मुनासिब नहीं था। इसके अलावा वे शेयर-बाज़ार में सट्टा भी करने लगे। उन्होंने दिन-पर-दिन बड़े इकट्ठा तरीक़े पर माल पैदा करने का ढंग बैठाया, पर जब जनता के पास खरीदने के लिए पैसा ही नहीं था तो यह पैदावार किस काम की थी? बस, माल का उत्पादन ज़रूरत से ज्यादा हो गया, और माल बिना बिका पड़ा रहा, और उद्योगों में घाटा होने लगा, और बहुत-से उद्योगों को अपना कारोबार बन्द करना पड़ा। इन घाटों से घबराकर व्यवसायियों ने उद्योगों में रुपया लगाना बन्द कर दिया। वे उसे पकड़कर बैठ गये और वह बैंकों में बेकार पड़ा रहा। बस, चारों तरफ़ बेरोज़गारी फैल गई और मन्दी संसार-व्यापी हो गई।

संकट के जो जुदा-जुदा सबब बतलाये गए थे, उनकी मैंने अलग-अलग चर्चा की है, पर सही बात तो यह है कि इन सबने मिलकर असर डाला और व्यापार की मन्दी इतनी बढ़ा दी जितनी पहले कभी नहीं हुई थी। हक़ीक़त में यह मन्दी पूंजीवाद की पैदा की हुई फ़ालतू आमदनी के असमान बँटवारे का नतीजा थी। या यों कहो कि जनता को मजूरियों और वेतनों के रूप में इतना पैसा नहीं मिलता था कि लोग अपनी मेहनत से पैदा किया हुआ माल खरीद सकें। तैयार चीज़ों का मूल्य उनकी कुल आमदनी से ज्यादा था। अगर यह रुपया जनता के पास होता तो इन चीजों को खरीदने के काम आता, लेकिन वह मुट्ठी-भर धन-कुबेरों के पास इकट्ठा हो गया, जिनकी यह समझ में नहीं आता था कि उसका क्या करें। यही फ़ालतू रुपया अमेरिका से निकल-निकलकर क़र्ज़ों के रूप में जर्मनी और मध्य-यूरोप और दक्षिण अमेरिका जा पहुँचा। इन्हीं विदेशी क़र्ज़ों ने युद्ध से पिटे यूरोप को और पूंजीवादी ढाँचे को कुछ वर्षों तक चलाये रक्खा, मगर उधर संकट भी इन्हींके सबब से पैदा हुआ, और इन्हीं विदेशी क़र्ज़ों ने अन्त में सारी इमारत एक-दम ढहा दी।

अगर पूंजीवाद के संकट का यह निदान सही है, तो इसका इलाज वही हो सकता है, जो आमदनियों को इकसार बना दे, या कम-से-कम इस दिशा में चले। इस काम को पूरा करने के लिए समाजवाद को अपनाना होगा। मगर पूंजीपति लोग

शायद ऐसा नहीं करेंगे, जबतक कि ज़माने की हालतें ही उन्हें मजबूर न कर दें। पिछड़े-हुए प्रदेशों के साधनों का उपयोग करने के लिए लोग-बाग योजना में बँधे हुए पूँजीवाद की या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघों की बातें सोचते हैं, पर इन बातों के पीछे राष्ट्रीय लाग-डाँट और संसार की मण्डियों के लिए साम्राज्यशाही शक्तियों की लड़ाइयाँ खूँख्वार बनती जा रही हैं। योजनाएँ किसलिए बनाई जायँ? क्या एक को नुक़सान पहुँचाकर दूसरे का फ़ायदा करने के लिए? पूँजीवाद तो निजी मुनाफ़े कमाने से ग़रज़ रखता है और होड़ उसका नारा है, और होड़ का योजनाएँ बनाने से कोई वास्ता नहीं।

समाजवादियों और साम्यवादियों के अलावा भी कितने ही विचारवान लोग मौजूदा हालतों में पूँजीवाद की क्षमता में सन्देह करने लगे हैं। मौजूदा मुनाफ़ा-प्रणाली का ही नहीं, बल्कि रुपया देकर माल खरीदने की मूल्य-प्रणाली को ही खत्म करने के लिए कुछ लोगों ने चौंकानेवाले उपाय सुझाये हैं। ये इतने पेचीदा हैं कि यहाँ उनका बयान करना मुश्किल है, और इनमें से कुछ तो विलकुल ही बे-सिर-पैर के हैं। मैं तो इनका ज़िक्र तुम्हें यह बतलाने के लिए कर रहा हूँ कि लोगों के दिमाग़ किस तरह डावाँडोल हो गये हैं, और जो लोग ज़रा भी क्रान्तिकारी नहीं हैं, वे भी क्रान्तिकारी सुझाव पेश कर रहे हैं।

जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-कार्यालय ने हाल ही में एक सीधा-सादा प्रस्ताव रक्खा था कि बेरोज़गारी फ़ौरन कम करने के लिए मज़दूरों के काम के घण्टों की मीयाद एक सप्ताह में चालीस घण्टे कर दी जाय। इसका नतीजा यह होता कि करोड़ों मज़दूर काम पर और लग जाते, और उस हद तक बेकारी कम हो जाती। मज़दूरों के तमाम प्रतिनिधियों ने इसका स्वागत किया, मगर ब्रिटिश सरकार ने इसका विरोध किया और जर्मनी व जापान की मदद से इस प्रस्ताव को खटाई में डलवा दिया। युद्ध के बाद इस सारे ज़माने में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन में इंग्लैण्ड का लेखा बराबर प्रतिगामी रहा है।

आर्थिक संकट व मन्दी दोनों संसार-व्यापी हैं, इसलिए लोगों का ख़याल हो सकता है कि इनका इलाज भी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वव्यापी इलाज होना चाहिए। कई देशों ने आपसी सहयोग का कोई रास्ता ढूँढ़ने के यत्न किये हैं, पर अभी तक वे सब नाकामयाब रहे हैं। इसलिए हरेक देश ने विश्वव्यापी उपाय की उम्मीद छोड़कर आर्थिक राष्ट्रवाद में इसका राष्ट्रीय इलाज ढूँढ़ा है। उनकी दलील यह है कि जब सारी दुनिया का व्यापार कम हो रहा है, तो वे कम-से-कम अपना व्यापार तो अपने घर में रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने दें। चूँकि निर्यात का व्यापार बे-भरोसे होता है और घटता-बढ़ता रहता है, इसलिए हरेक देश ने अपनी घरू मण्डियों पर ही सारा ध्यान जमाने की कोशिश की है। विदेशी माल का आना रोकने के

लिए हिफ़ाज़ती महसूल लगाये गए हैं या बढ़ा दिये गए हैं, और इनसे सफलता भी मिली है। इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी चोट पहुँची है, क्योंकि हर देश के महसूल विश्वव्यापी व्यापार में रुकावट डालते हैं। यूरोप व अमेरिका, और कुछ हद तक एशिया भी, इन हिफ़ाज़ती महसूलों की ऊँची दीवारों से भरे पड़े हैं। महसूलों का एक और नतीजा यह हुआ कि रहन-सहन का खर्च बढ़ गया क्योंकि खाने की चीज़ों और दूसरी जितनी चीज़ों को विदेशी होड़ से बचाने के लिए महसूल लगाये गए, उन सबकी कीमतें चढ़ गईं। किसी चीज़ पर महसूल लगाने से उसपर राष्ट्रीय-एकाधिकार क़ायम हो जाता है, और विदेशी होड़ बन्द हो जाती है या ज्यादा कठिन हो जाती है। एकाधिकार में मुनाफ़ों का बढ़ जाना लाज़िमी है। विदेशी चीज़ों पर महसूल लगाकर जिन उद्योगों को सहारा दिया जाता है, वे बहुत मुनाफ़ा उठाते हैं या यों कहो कि उनके मालिक मुनाफ़ा उठाते हैं। पर यह मुनाफ़ा बहुत करके उन लोगों को नुक़सान पहुँचाकर होता है, जो माल ख़रीदते हैं, क्योंकि चढ़े हुए दाम इन्हें ही देने पड़ते हैं। इस तरह महसूलों से गिने-चुने वर्गों को कुछ राहत मिलती है; और जमे हुए स्वार्थ क़ायम हो जाते हैं, क्योंकि महसूलों से मुनाफ़ा कमाने-वाले उद्योग यह चाहते हैं कि ये सदा बने रहें। मसलन भारत में कपड़ा-उद्योग को जापान के ख़िलाफ़ भारी सहारा मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिकों को बड़ा मुनाफ़ा हो रहा है, वरना वे जापान के मुक़ाबले में ठहर नहीं सकते थे। मगर अब वे अपना माल ऊँचे दामों पर बेच सकते हैं। यहाँ चीनी-उद्योग को भी सहारा मिला हुआ है, जिसके कारण सारे भारत में, और ख़ासकर संयुक्त प्रान्त और बिहार में, चीनी के बहुत-से कारख़ाने खड़े हो गये हैं। इस तरह चीनी में एक निहित स्वार्थ बन गया है और अगर चीनी पर लगाई गई चुंगियाँ हटा दी जायँ तो इस निहित स्वार्थ को नुक़सान हो और चीनी के नये कारख़ानों में से बहुत-से ठप हो जायँ।

दो किस्म के एकाधिकार बढ़े। एक तो महसूलों की दीवारोंवाले राष्ट्रों के बीच बाहरी एकाधिकार, और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिनसे बड़े-बड़े व्यवसाय छोटे व्यवसायों को हड़प कर गये। अलबत्ता एकाधिकारों का यह बढ़ना कोई नया सिलसिला नहीं था। यह तो महायुद्ध के पहले से ही मुद्दत से चला आ रहा था। पर अब इसकी रफ़्तार ज्यादा तेज़ हो गई। कई देशों में महसूलों की दीवारें भी बहुत दिनों से मौजूद थीं। बड़े देशों में इंग्लैण्ड ही ऐसा था, जो अब तक आज़ाद व्यापार के भरोसे रहा था और हिफ़ाज़ती महसूलों के बिना काम चला रहा था। पर अब उसे भी हिफ़ाज़ती चुंगियाँ लगाकर अपनी पुरानी रीति छोड़नी पड़ी, और दूसरे देशों की बराबरी में आना पड़ा। इससे उसके कुछ उद्योगों को थोड़ी-सी राहत मिली।

इनसब बातों से मुक़ामी और आरज़ी राहत तो ज़रूर मिली, पर हक़ीक़त

में समूची दुनिया में हालत और भी ज़्यादा बिगड़ गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो और भी कम हुआ ही, मगर दौलत का असमान बँटवारा भी क़ायम हो गया और बढ़ गया। इससे बराबरीवाले राष्ट्रों में लगातार रगड़ रहने लगी और हरेक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र का माल रोकने के लिए महसूलों की दीवारें खड़ी कर दीं। इन्हें 'हिफ़ाज़ती चुंगियों का जंग' कहा जाता है। जब संसार की मण्डियाँ कम होने लगीं और दिन-पर-दिन ज़्यादा महफ़ूज़ कर दी गईं, तो इनके लिए ज़ोरदार छीना-झपटी होने लगी, और कारखानों के मालिक अपने मज़दूरों की मजूरी में कटौती करने पर ज़ोर देने लगे, ताकि वे दूसरे देशों के साथ होड़ में ठहर सकें। बस, मन्दी पैदा हो गई, और बेरोज़गारों की फ़ौज खूब बढ़ गई। मजूरी में जितनी बार कटौती की गई, मज़दूरों की खरीदने की ताक़त भी उतनी ही घट गई।

: १८६ :

सरदारी के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड का संघर्ष

२५ जुलाई, १९३३

मैं लिख चुका हूँ कि मन्दी के ज़माने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ़ एक तिहाई रह गया। जनता की खरीदने की हैसियत कम होने से घरेलू व्यापार भी कम हो गया। बेरोज़गारी बढ़ती चली गई, और इन करोड़ों बेरोज़गार मज़दूरों को रोटी देना सरकार के लिए बड़ा भारी बोझ हो गया। भारी-भारी टैक्सों के बावजूद भी कई सरकारों को अपना खर्च चलाना नामुमकिन-सा हो गया। उनकी आमदनी घट गई, और किफ़ायत व वेतनों में कटौती के बावजूद उनका खर्च ज़्यादा बना रहा। क्योंकि इस खर्च का ज़्यादा हिस्सा जल, थल व हवाई सेनाओं में, और भीतरी व बाहरी दोनों तरह के क़र्ज़ों के भुगतान में लगा हुआ था। राष्ट्रीय बजट में घाटे होने लगे, यानी आमदनी से खर्च बढ़ गया। इन घाटों ने क़र्ज़दार देशों की आर्थिक हैसियत और भी कमज़ोर बना दी, क्योंकि इन घाटों को या तो ज़्यादा रुपया उधार लेकर या जमा-पूंजी में से रुपया निकालकर ही पूरा किया जा सकता था।

साथ ही माल के ढेर अन-बिके पड़े रह गये, क्योंकि लोगों के पास इन्हें खरीदने के लिए काफ़ी पैसा ही नहीं रहा। बहुत बार तो इन 'फ़ालतू' अन्न व दूसरी चीज़ों को सचमुच नष्ट कर दिया गया, हालांकि दूसरी जगहों के लोगों को इनकी सख्त ज़रूरत थी। यह संकट और गिरावट संसार-व्यापी थे (सोवियत संघ को छोड़कर), मगर फिर भी इनको खत्म करने के लिए सारे राष्ट्र आपस में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नहीं कर पाये। हरेक देश अपनी-अपनी गुदड़ी सम्हाल रहा है, दूसरों से आगे बढ़ जाने की कोशिश कर रहा है, और यहांतक कि दूसरे की मुसीबतों से फ़ायदा उठाने

का यत्न कर रहा है। इस अलग-अलग और स्वार्थी कार्रवाई ने, और आज़माये गए दूसरे अधूरे उपायों ने, हालत को ज़्यादा ही बिगाड़ा है। व्यापार की इस मन्दी से बिलकुल अलग-थलग, लेकिन इसपर काफ़ी असर डालनेवाले दो तथ्य या हलचलें संसार के मामलों पर छाये हुए हैं। एक तो पूंजीवादी दुनिया की सोवियत के साथ मुक़ाबलेदारी है; दूसरी आंग्ल-अमेरिकी मुक़ाबलेदारी।

पूंजीवादी संकट ने सारे पूंजीवादी देशों को कमज़ोर और मुफ़लिस बना दिया है, और एक तरह से युद्ध का अन्देशा कम कर दिया है। हरेक देश अपने घर की हालत सुधारने में मशगूल है, और जोखम के कामों में खर्च करने के लिए किसीके पास रुपया नहीं है। मगर उलटबांसी यह है कि इस संकट ने ही युद्ध का खतरा भी बढ़ा दिया है, क्योंकि इसने राष्ट्रों और उनकी सरकारों को लाचारी से दीवाना बना दिया है और जो क़ौमें इस तरह दीवानी हो जाती हैं, वे अपनी अन्दरूनी कठिनाइयों को हल करने के लिए बाहरी युद्धों का सहारा लेती हैं। जब किसी देश की सत्ता, तानाशाह या छोटे-से चुने हुए दल के हाथों में होती है, तब खासतौर पर ऐसा होता है। तानाशाह अपनी सत्ता छोड़ने के बजाय अपने देश को युद्ध में झोंक देता है और इस तरह अपने देशवासियों का ध्यान घर के झगड़ों से हटा देता है। इसलिए, सोवियत संघ व साम्यवाद के खिलाफ़ 'जिहाद' का अन्देशा सदा बना रहता है, क्योंकि आशा यह की जाती है कि इससे पूंजीवादी बहुत-से देश आपस में मिल जायँगे। मैं बतला चुका हूं कि सोवियत संघ पर पूंजीवादी संकट का सीधा असर नहीं पड़ता था। वह तो अपनी पंच-वर्षीय योजना में इतना फँसा हुआ था कि सब तरह का नुक़सान उठाकर भी युद्ध को टालना चाहता था।

युद्ध के बाद इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच लाग-डाँट लाज़िमी थी। ये संसार की दो सबसे बड़ी शक्तियाँ हैं, और दोनों ही दुनिया के सारे कारोबारों पर हावी होना चाहती हैं। महायुद्ध से पहले इंग्लैण्ड सबका सरताज माना जाता था। मगर युद्ध ने अमेरिका को सबसे मालदार और ताक़तवर राष्ट्र बना दिया और तब उसने क़ुदरती तौर पर यह चाहा कि दुनिया में वह अपने को जिस हैसियत का हक़दार समझता है, यानी सबसे ऊँची हैसियत, उसे हासिल करे। उसने इरादा कर लिया कि आयन्दा इंग्लैण्ड को हर चीज़ में दखल नहीं जमाने देगा। खुद इंग्लैण्ड ने भी महसूस कर लिया कि ज़माना बदल गया है, इसलिए उसने अमेरिका से दोस्ताना नाता जोड़कर अपने को ज़माने के मुताबिक़ बनाने की कोशिश की। उसने यहाँ तक किया कि अमेरिका को खुश करने के लिए जापान की दोस्ती को धता बताई, और अमेरिका को दम-दिलासा देने के लिए कई तरह से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। मगर इंग्लैण्ड अपने खास स्वार्थ और अपनी खास हैसियत और खासकर अपनी साहूकारी नेतागिरी छोड़ने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि उसका

बड़प्पन और उसका साम्राज्य इन्हींके साथ बँधे हुए थे। उधर अमेरिका भी ठीक यही साहूकारी नेतागिरी चाहता था। इसलिए दोनों देशों के बीच झगड़ा टल नहीं सकता था। दोनों देशों के बौहरे, जिनकी पीठ पर उनकी सरकारें थीं, ऊपर से तो मीठी-मीठी और लच्छेदार बातें करते थे, पर भीतर-भीतर दुनिया की साहूकारी में और उद्योगों में नेतागिरी के लिए लड़ते थे। इस खेल में जीत के और तुरुप के ज्यादातर पत्ते मानो अमेरिका के हाथ में थे, और इंग्लैण्ड पुराना तजुर्बेकार और अच्छा खिलाड़ी था।

युद्ध के क़र्ज़ों की वजह से दोनों शक्तियों के बीच कड़वाहट और भी बढ़ गई, और इंग्लैण्ड के लोग अमेरिकावालों को पौण्ड-भर माँस माँगनेवाला शाइलाक कह-कर गालियाँ देने लगे। हक़ीक़त यह है कि इंग्लैण्ड के ऊपर अमेरिका का क़र्ज़ यहाँ के ग़ैर-सरकारी बौहरों का था, जिन्होंने युद्ध के दौरान रुपया उधार दिया था या हुण्डियों का भुगतान किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने तो इसके लिए सिर्फ़ ज़मानत दी थी। इसलिए अमेरिका की सरकार के सामने इन क़र्ज़ों को बट्टे-खाते डालने का सवाल ही नहीं था। अगर इंग्लैण्ड के ये क़र्ज़े माफ़ कर दिये जाते, तो अमेरिकी सरकार को चुकाने पड़ते, क्योंकि वह इनकी ज़मानतदार थी। अमेरिका की कांग्रेस यह और ज्यादा देनदारी अपने ऊपर क्यों लेती, खासकर इस संकट के दौर में?

बस, इंग्लैण्ड और अमेरिका के आर्थिक स्वार्थ अलग-अलग दिशाओं में खींच-तान करने लगे, और आर्थिक स्वार्थ का खिचाव किसी भी दूसरे खिचाव से ज्यादा ज़ोरदार हुआ करता है। इन दोनों देशों के निवासियों में बहुत-सी बातें एक-सी हैं, मगर फिर भी यह ख्वामख्वाह मुठभेड़ हो रही है, जिसमें अमेरिका का बल और साधन दोनों बहुत बड़े हैं। स्वार्थों की इस टक्कर के सबब से या तो झगड़े की शक्ल और ज्यादा तेज़ हो जाय या दूसरी चीज़ यह हो सकती है कि इंग्लैण्ड की खास सहूलियतें और रौब-दाब की हैसियत धीरे-धीरे, मगर बिना रुके, अमेरिका के पास चली जाय। अंग्रेज़ों को यह विचार अच्छा नहीं लगता कि जिन चीज़ों की वे क़द्र करते हैं, उनमें से ज्यादातर को छोड़ दें, अपने प्राचीन गौरव और साम्राज्य-शाही शोषण के मुनाफ़ों से भी हाथ धो लें, और दुनिया में ऐसी पिछड़ी जगह ले लें, जो अमेरिका की मेहरबानी के भरोसे हो। इसलिए ऐसा नहीं लगता कि वे बिना लड़े घुटने टेक दें। इंग्लैण्ड की मौजूदा हैसियत की यह दुखभरी लीला है। उसकी पुरानी शक्ति के सारे सोते सूखते जा रहे हैं, और भविष्य इशारा करता दिखाई देता है कि गिरावट टल नहीं सकी। पर अंग्रेज़ लोग, जिन्हें सदियों से हुकूमत की टेव पड़ी है, इस होनहार को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे बहादुरी के साथ इसके खिलाफ़ लड़ रहे हैं, और लड़ते रहेंगे।

मैंने तुम्हें आज के संसार पर छाई हुई दो होड़ें दिखलाई हैं, क्योंकि इनसे आजकल होनेवाली ज्यादातर घटनाओं का सबब साफ़ नज़र आ जाता है। अलबत्ता कई तरह की होड़ें सदा चलती रहती हैं, समूची पूंजीवादी और साम्राज्यवादी प्रणालियाँ होड़ और मुक़ाबले के आधार पर ही टिकी हुई हैं।

मन्दी के ज़माने में घटनाओं के सिलसिले के बयान को हमने जहाँ छोड़ा था, वहीं अब फिर चलना चाहिए। फ़्रान्सीसियों ने जून, १९३० ई० में राइनलैण्ड खाली कर दिया था, जिससे जर्मनों को बहुत तसल्ली हुई थी। पर इसमें इतनी देर कर दी गई थी कि इसे नेकनीयती का चिह्न नहीं माना जा सकता था। दूसरे, मन्दी के अन्धेरे में हर चीज़ नज़र आती थी। ज्यों-ज्यों व्यापार की हालतें बिगड़ती गई, त्यों-त्यों क़र्ज़दारों के पास रुपये की तंगी होती गई, और हर्जानों व क़र्ज़ों का भुगतान करना कठिन, या नामुमकिन तक होता गया। क़र्ज़दारों की कठिनाई को दूर करने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक साल की छूट का ऐलान किया था। इसके बाद युद्ध के क़र्ज़ों के समूचे सवाल पर दुबारा ग़ौर कराने के यत्न किये गए, पर संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने इसपर दुबारा ग़ौर करने से इन्कार कर दिया। फ़्रान्सीसी सरकार जर्मनी से वसूल होनेवाले हर्जानों के सवाल पर भी इतनी ही सख़्ती से अड़ी हुई थी। ब्रिटिश सरकार क़र्ज़ लेनेवाली और क़र्ज़ देने-वाली दोनों थी। इसलिए वह इस हक़ में थी कि हर्जानों व क़र्ज़ों दोनों को मिटाकर हिसाब की पट्टी साफ़ कर दी जाय। मगर हरेक देश अपने-अपने मतलब की बात सोचता था, इसलिए कोई शामिल कारंवाई नहीं हो सकी। १९३१ ई० के बीच में जर्मनी की माली हालत ख़स्ता हो गई और बैंकों के दिवाले निकल गये। इसके सबब से इंग्लैण्ड में संकट पैदा हो गया और वह अपनी देनदारियाँ नहीं चुका सका। इससे देश की माली हालत भी ख़स्ता होने पर आ गई। यह ख़तरा सामने आने पर मज़दूर-दली सरकार को खुद उसीके नेता रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने धक्का दे दिया, और अब वह 'राष्ट्रीय सरकार' का नेता बनकर सामने आया, जिसमें अनुदार दलवालों की तूती बोलती थी। मगर यह राष्ट्रीय सरकार भी पौण्ड को नहीं बचा सकी। इसी समय वेतन-कटौती के सवाल पर अटलान्तिक के बेड़े के अंग्रेज़ मल्लाहों ने भी बग़ावत कर दी। बिना खून-ख़राबी की इस बग़ावत का इंग्लैण्ड और यूरोप में ज़बर्दस्त असर पड़ा। रूस की क्रान्ति की और वहाँ के मल्लाहों की बग़ावतों की यादगारें लोगों के दिमाग़ों में ताज़ा हो गईं, और बोलशेविकवाद आने की दहशत पैदा हो गई। इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों ने कोई आफ़त आने से पहले ही अपनी पूंजी बचाने का फ़ैसला कर लिया, और भारी-भारी रक़में विदेशों को भेज दीं। ऐसा मालूम होता है कि दौलतमन्दों की देशभक्ति रुपये या जमे हुए स्वार्थ पर जोखम की आँच बर्दाश्त नहीं कर सकती।

ज्यों-ज्यों इंग्लैण्ड की पूंजी विदेशों में जाने लगी, पौण्ड की क़ीमत भी गिरने लगी, और अन्त में, २३ सितम्बर, १९३१, को स्वर्ण-मान (Gold standard) त्यागना पड़ा, यानी अपना सोना बचाने के लिए उसने पौण्ड को सोने से अलग कर दिया। अब इसके बाद कोई व्यक्ति, जिसके पास सोने की क़ीमतवाले पौण्ड थे, पहले की तरह उनके बदले में सोना नहीं माँग सकता था।

ब्रिटिश साम्राज्य व इंग्लैण्ड की दुनियावी हैसियत के लिहाज़ से पौण्ड की यह गिरावट एक ज़बर्दस्त घटना थी। इसका मतलब यह था कि कम-से-कम कुछ समय के लिए वह साहूकारी नेतागिरी जाती रही, जिसने लेन-देन के मामलों में लन्दन को संसार का केन्द्र और राजधानी बना रक्खा था। इसको बचाने के लिए इंग्लैण्ड ने अपने उद्योगों को हानि पहुँचाकर भी, १९२५ ई० में, स्वर्ण-मान को फिर से अपनाया था, और बेरोज़गारी, कोयला-मज़दूरों की हड़ताल वग़ैरा का सामना किया था। मगर यह सब बेकार हुआ, और दूसरे देशों की कार्रवाइयों ने पौण्ड को सोने से ज़बर्दस्ती अलग कर दिया। बस, यही चीज़ ब्रिटिश साम्राज्य के ख़ातमे की शुरुआत जतानेवाली मालूम होने लगी, और सारे संसार में इसका यही अर्थ लगाया गया। सितम्बर १९३१ ई० की २३ तारीख़ इतिहास की इस बड़ी घटना की वजह से बहुत महत्व की तारीख़ बन गई है।

मगर इंग्लैण्ड तो डटकर लड़नेवाला ठहरा। और आड़े वक़्त के लिए उसके पास अब भी एक अधीन और बेकस साम्राज्य था। भारत व मिस्र, इन दो पूरी तरह से अधीन देशों के अन्दर से सोना खींचकर वह संकट की मार से फिर सम्हल गया। पौण्ड का मूल्य गिरने से उसके उद्योगों को फ़ायदा हुआ, क्योंकि अब वह विदेशों में अपना माल सस्ते भावों पर बेच सकता था। उसका यह पुनर्जीवन सचमुच अनोखा था।

हर्जानों और युद्ध के क़र्ज़ों का सवाल फिर बाक़ी रह गया। यह तो ज़ाहिर हो गया था कि जर्मनी हर्जाने नहीं चुका सकता था, और वास्तव में उसने ऐसा करने से बाक़ायदा इन्कार भी कर दिया। आख़िरकार, १९३२ ई० में, लोज़ान में बुलाये गए एक सम्मेलन में, हर्जानों की रक़म इस उम्मीद और आसरे में घटाकर नाम मात्र कर दी गई कि संयुक्त राज्य अमेरिका भी क़र्ज़ों की रक़मों को इसी तरह कम कर देगा। मगर अमेरिका की सरकार ने क़र्ज़ों को हर्जानों के साथ मिलाने से, या क़र्ज़ों को बट्टे-खाते डालने से, इन्कार कर दिया। इससे गाड़ी फिर लुढ़क गई, और यूरोप के लोग अमेरिका पर दान्त पीसने लगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका की वाजिब क़िस्तों की अदायगी का वक़्त दिसम्बर, १९३२ ई० में आया। और हालांकि इंग्लैण्ड, फ़ान्स वग़ैरा-देशों की ओर से बहुत

ज़ोरदार दलीलें दी गईं, परन्तु अमेरिका अपने दावे पर अड़ा ही रहा। बहुत तर्क-वितर्क के बाद इंग्लैण्ड ने अपनी क़िस्त चुका दी, लेकिन साथ ही कह दिया कि यह क़िस्त बस आखिरी थी। फ़्रान्स व कुछ दूसरे देशों ने क़िस्तें देने से इन्कार कर दिया और वे नादिहन्द बन गये। इसके बाद भी कोई नया समझौता नहीं हुआ, और गये महीने, यानी जून, १९३३ ई० में क़र्ज़ों की अगली क़िस्त वाजिब हो गई। फ़्रान्स ने फिर इन्कार कर दिया। मगर इंग्लैण्ड के साथ अमेरिका ने फ़ैयाज़ी दिखाई और एक छोटी-सी रक़म निशानी के तौर पर मंजूर कर ली। बड़े सवाल का फ़ैसला उसने आगे पर छोड़ दिया।[1]

जब इंग्लैण्ड और फ़्रान्स-जैसी बड़ी-बड़ी और मालदार शक्तियाँ, अपनी-अपनी पसन्द और रीत के मुताबिक़, अपने क़र्ज़ों की ज़िम्मेदारी से बरी होने की कोशिश कर रही हैं, तो विचार करने की दिलचस्प बात यह है कि जब सोवियत ने सारे क़र्ज़ों को रद्द कर दिया तो इन्हीं देशों ने उसे बुरी तरह लताड़ा। भारत में भी जब यह कहा जाता है, जैसा कि कांग्रेस की तरफ़ से कहा भी गया है, कि भारत पर इंग्लैण्ड के क़र्ज़े के समूचे सवाल की जाँच एक निष्पक्ष अदालत से होनी चाहिए, तो सरकारी क्षेत्रों में धर्म की दुहाई मच जाती है। राष्ट्र की देनदारी चुकाने के ऐसे ही सवाल पर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच गहरी तनातनी पैदा हो गई, और दोनों के बीच तिजारती युद्ध शुरू हो गया, जो अभी तक चल रहा है।

इंग्लैण्ड की साहूकारी नेतागिरी का, और उसे हासिल करने के लिए अमेरिका की दौड़-धूप का, और बैंकों के दिवालों का, और बहुत-से देशों की माली हालत बिगड़ जाने का, मैं बार-बार ज़िक्र कर चुका हूँ। इस सारी गपड़-सपड़ का अर्थ क्या है? यह सवाल तुम पूछ सकती हो, क्योंकि मेरा ख़याल है तुम इसे नहीं समझती होगी। मगर चूंकि इसके बारे में मैं इतनी बातें लिख चुका हूँ, इसलिए मुझे लगता है कि इसे कुछ ज्यादा अच्छी तरह समझाने की कोशिश करनी चाहिए। रुपये-पैसे की घटनाओं में हमारी दिलचस्पी हो या न हो, पर राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों तरह से इनका हमारे ऊपर बड़ा भारी असर पड़ता है। इसलिए जो चीज़ हमारे वर्तमान और भविष्य को ढालती है, उसे समझ लेना अच्छा है। बहुत-से लोगों के दिलों पर पूंजीवादी दुनिया के जमा-खर्च के तरीक़ों की रहस्यभरी हरकतों की ऐसी छाप बैठ गई है कि वे इसे हैरत और आदर की निगाह से देखते हैं। यह उन्हें

---

[1] अगले पाँच वर्षों में यानी सन् १९३३ से १९३८ ई० तक इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने अमेरिका के क़र्ज़े की कोई अगली क़िस्त नहीं चुकाई। यहाँतक कि सांकेतिक रूप में भी कुछ नहीं दिया। मालूम होता है कि यह मान लिया गया है कि क़र्ज़ों से इन्कार किया जा सकता है और उन्हें चुकाने की ज़रूरत नहीं रही।

इतनी पेचीदा और बारीक और उलझनेवाली मालूम होती है कि वे इसे समझने तक की कोशिश नहीं करते, और इसे माहिरों, बौहरों, वग़ैरा के ऊपर छोड़ देते हैं। इसमें शक नहीं कि यह पेचीदा और उलझनदार है, और यह ज़रूरी नहीं है कि उलझन किसी चीज़ की अच्छाई हो। पर फिर भी, अगर हम अपनी आज की दुनिया को समझना चाहते हैं, तो हमें इसका कुछ ज्ञान होना चाहिए। मैं इस सारे ढाँचे को समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। यह मेरे बूते से बाहर है, क्योंकि मैं इसका माहिर नहीं हूँ, बल्कि महज़ नौसिखिया हूँ। मैं तुम्हें सिर्फ़ कुछेक बातें बतलाऊँगा, और मुझे आशा है कि इनसे तुम संसार की कुछ घटनाओं को, और अख़बारों में छपनेवाले कुछ समाचारों को, होशियारी के साथ समझ सकोगी। शायद मुझे उन बातों को दुहराना पड़े, जो मैं पहले बतला चुका हूँ, लेकिन अगर इससे तुम्हें समझने में मदद मिले, तो मेरे दोहराने का खयाल न करना। याद रक्खो कि यह पूंजीवादी ढाँचा है, जिसमें शेयरोंवाली निजी कम्पनियाँ हैं, निजी बैंक हैं और शेयर बाज़ार हैं, जहाँ शेयरों का लेन-देन होता है। सोवियत संघ का माली और औद्योगिक ढाँचा बिलकुल निराला है। वहाँ इस तरह की कम्पनियाँ, या निजी बैंक या शेयर-बाज़ार नहीं है; क़रीब हरेक चीज़ पर राज्य की मिल्कियत है और क़ब्ज़ा है, और विदेशी व्यापार असल में सामान की अदला-बदली के रूप में होता है।

तुम जानती हो कि हरेक देश का अन्दरूनी कारोबार बहुत-कुछ पूरी तरह हुंडियों के ज़रिये, और इससे कुछ कम, नोटों के ज़रिये चलता है। सोना और चाँदी का, छोटी-मोटी ख़रीदारियों के अलावा बहुत कम उपयोग होता है (सोना तो वास्तव में आसानी से मिलता भी नहीं)। यह काग़ज़ी रुपया साख की निशानी है, और जबतक बैंकों में, या सिक्के के नोट चलानेवाली अपने देश की सरकार में लोगों का भरोसा जमा रहता है तबतक यह नक़द रुपये का काम देता रहता है। पर यह काग़ज़ी सिक्का एक देश से दूसरे देश को रुपया भेजने के काम का नहीं है, क्योंकि हरेक देश अपनी निजी राष्ट्रीय सिक्का होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार सोना है, और कम मिलनेवाली धातु होने की वजह से इसकी असली क़ीमत होती है। इस काम के लिए सोने के सिक्कों का या सोने के पासों का उपयोग किया जाता है। लेकिन अगर एक देश को दूसरे देश का रुपया चुकाने के लिए हर बार सचमुच सोना ही भेजना पड़े, तो ज़बर्दस्त बवाल हो जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास न होने पावे। इसके अलावा, संसार में सोने की जितनी मिक़दार मिलती है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मिक़दार या कीमत भी एक हद में बँध जायगी। क्योंकि इस हद पर पहुँचने के बाद दाम चुकाने के लिए ज्यादा सोना नहीं मिल सकेगा, तो विदेशों के साथ तिजारती लेन-देन का काम आगे तबतक बन्द हो जायगा, जबतक कि कुछ सोना निकाला न जाय और बापस न लाया जाय।

लेकिन ऐसा होता नहीं है। १९२९ ई०, में दुनिया-भर में सोने के सिक्के की कुल क़ीमत ग्यारह अरब[1] डालर थी। इसी साल जो माल एक देश से दूसरे देश को भेजा गया, उसकी कुल कीमत बत्तीस अरब डालर थी। इसके अलावा चार अरब डालर के क़र्ज़े अलग-अलग देशों को चुकाने थे। सैलानियों का ख़र्च, माल का भाड़ा, प्रवासियों का अपने देशों को भेजा गया रुपया, वग़ैरा और विदेशी अदायगियों की कुल रक़म भी चार अरब डालर के करीब थी। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की कुल रक़म चालीस अरब डालर के क़रीब होती है। यह सोने के सिक्के कुल कीमत की चार गुनी के क़रीब थी।

ऐसी हालत में विदेशों के साथ लेन-देन किस तरह होता था? आमतौर पर यह लेन-देन एक क़िस्म के सहायक रुपये के रूप में यानी हुंडियों, विनिमय-हुंडियों (Bills of Exchange), वग़ैरा के रूप में, होता था, जो सौदागर लोग अपने क़र्ज़ों की रसीद के तौर पर विदेशों को भेजते थे। यह कारोबार विनिमय का कारोबार करने वाले बैंकों की मार्फ़त होता था। विनिमय-बैंक जुदा-जुदा देशों के ख़रीदनेवालों और बेचनेवालों से सम्पर्क रखते हैं और विनिमय की जो हुंडियाँ उनके पास आती हैं, उनके आधार पर लेन-देन का जमा-ख़र्च करते हैं। अगर किसी समय बैंक के पास विनिमय-हुंडियों की कमी पड़ जाय, तो वे अपना भुगतान सरकारी बॉण्ड या सरकारी क़र्ज़ या अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के शेयर वग़ैरा चालू सिक्योरिटियों के ज़रिये कर सकते हैं। ये शेयर तार से इत्तला देने पर बेचे या बदले जा सकते हैं, जिसमें दूसरे सिरे पर फ़ौरन भुगतान किया जा सकता है।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का असली लेन-देन केन्द्रीय विनिमय-बैंकों की मार्फ़त, व्यवसायी रुक्कों (हुंडियों, परचे, वग़ैरा) और सरकारी हुंडियों (सिक्योरिटियों) के ज़रिये किया जाता है। व्यवसाय की रोज़ाना ज़रूरत पूरा करने के लिए बैंकों को ये दोनों क़िस्म की हुंडियाँ काफ़ी तादाद में रखनी पड़ती हैं। हफ़्ते-वार गोशवारे निकाले जाते हैं, जिनमें बतलाया जाता है कि उनके पास कितना सोना और कितनी विदेशी हुंडियाँ हैं। मामूली तौर पर विदेशों में भुगतान के लिए विदेशों को सोना कभी नहीं भेजा जाता। लेकिन अगर कभी ऐसा मौक़ा आ जाय कि दूसरी तरह से भुगतान करने के बजाय सोना भेजना सस्ता पड़े, तो बैंकवाले सोने के पासे भी भेजते हैं।

स्वर्ण-मानवाले देशों में राष्ट्रीय सिक्के की क़ीमत सोने के आधार पर तय होती थी। और उसके बदले में कोई भी आदमी सोना माँग सकता था।

---

[1] उस समय एक डालर क़रीब ढाई रुपये के बराबर होता था।

इसलिए ये सिक्के क़रीब-क़रीब अचल होते थे और इनका आपसी विनिमय हो सकता था। क्योंकि उनके बदले में सोना मिल सकता था। अगर कुछ फ़र्क़ पड़ता था तो वह एक देश से दूसरे देश को सोना भेजने के ख़र्च का ही होता था, क्योंकि अगर कोई व्यवसायी देखता कि उसके देश में सोने का भाव ऊँचा है, तो वह किसी दूसरे देश से आसानी से सोना मँगवा सकता था। यह स्वर्ण-मान प्रणाली कहलाती थी। इस प्रणाली के मातहत सारे राष्ट्रीय सिक्के अचल थे और इसलिए उन्नीसवीं सदी में, महायुद्ध के शुरू तक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में खूब बढ़ोतरी हुई। आज यह प्रणाली टूट चुकी है, और नतीजा यह है कि सिक्के का बर्ताव बड़ा विचित्र हो गया है, और ज्यादातर राष्ट्रीय सिक्के डाँवाडोल हो गये हैं।

किसी देश का निर्यात मोटे तौर पर उसके आयात के बराबर हुआ करता है। या यों कहो कि जो माल कोई देश बाहर से मंगाता है, उसके दाम अपना माल बाहर भेजकर चुकाता है। परन्तु यह बात बिलकुल सही नहीं है, क्योंकि जब आयात के माल की क़ीमत निर्यात के माल की क़ीमत से बढ़ जाती है, तो अक्सर एक-न-एक तरफ़ कुछ बक़ाया रहती है। यह 'विपरीत बक़ाया' (Adverse Balance) कहलाती है, और उस देश को अपना हिसाब वेबाक करने के लिए कुछ भुगतान ऊपर से करना पड़ता है।

अलग-अलग देशों के बीच बहनेवाली माल की धारा का बहाव एक-सा हर्गिज़ नहीं होता। यह अक्सर बदलता रहता है, और उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। और जैसे-जैसे यह घटता-बढ़ता है, उसी तरह विनिमय-हुण्डियों की माँग और आमद भी घटती-बढ़ती रहती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि किसी देश के पास ऐसे विनिमय-बिलों की तो बहुतायत हो जाती है, जिनकी उसे उस वक़्त ज़रूरत नहीं होती, और जिस तरह की विनिमय-हुण्डियों की उसे ज़रूरत होती है, उनकी उसके पास कमी पड़ जाती है। मिसाल के लिए मान लो कि फ़्रान्स के पास जर्मनी में मार्कों की विनिमय-हुण्डियाँ तो ज़रूरत से ज्यादा हैं, और अमेरिका का हिसाब चुकता करने के लिए डालर की विनिमय-हुण्डियों की कमी है। ऐसी हालत में फ़्रान्स, जर्मनी की विनिमय-हुण्डियों को तो बेचना चाहेगा और उनके बदले में अमेरिका के नाम के डालर की विनिमय-हुण्डियाँ ख़रीदना चाहेगा। ऐसा करने के लिए विनिमय-हुण्डियों के वास्ते कोई केन्द्रीय मण्डी होनी चाहिए, जहाँ ये अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय किये जा सकें। ऐसी मण्डी सिर्फ़ उसी देश में हो सकती है जिसमें नीचे लिखी तीन ख़ासियतें हों—

१. उसका विदेशी व्यापार चारों तरफ फैला हुआ और वह हर क़िस्म का होना चाहिए, ताकि उसके पास हर क़िस्म की विनिमय-हुण्डियों की ख़ूब आमद हो।

२. वहाँ हर क़िस्म की सिक्योरिटियाँ सुलभ होनी चाहिए, यानी वह पूँजी की सबसे बड़ी मण्डी होनी चाहिए।

३. वहाँ सोने की भी सबसे बड़ी मण्डी होनी चाहिए, ताकि अगर विनिमय-हुण्डियों और सिक्योरिटियों दोनों की कमी हो, तो सोना आसानी से मिल सके।

उन्नीसवीं सदी में शुरू से अख़ीर तक सिर्फ़ इंग्लैण्ड ही ऐसा देश था, जो इन तीनों शर्तों को पूरी करता था। उद्योग-क्षेत्र में सबसे पहले क़दम रखने की वजह से और एकाधिकारी क्षेत्र के रूप में उसके पास बड़ा साम्राज्य होने की वजह से उसके विदेशी व्यापार का फैलाव संसार में सबसे ज्यादा बढ़ गया। अपने बढ़ते हुए उद्योगों पर उसने अपनी खेती को निछावर कर दिया। उसके जहाज़ हर बन्दरगाह से सौदागरी का सामान और विनिमय-हुण्डियाँ ले जाते थे। इस भारी उद्योग-तरक्क़ी से वह क़ुदरती तौर पर पूँजी की सबसे बड़ी मण्डी बन गया, और उसके पास विदेशी सिक्योरिटियों का ढेर लग गया। उसकी मदद करनेवाला एक और हेतु यह था कि दुनियाभर में निकलनेवाले सोने का दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश साम्राज्य—दक्षिण अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और भारत—में मौजूद था। इनकी सोने की खानों का माल लन्दन के बाज़ार में फ़ौरन बिक जाता था, क्योंकि बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड इनमें निकलनेवाला सारा सोना एक तयशुदा भाव पर खरीद लेता था।

इस तरह लन्दन का बड़ा शहर विनिमय-हुण्डियों, सिक्योरिटियों और सोने की एक केन्द्रीय मण्डी बन गया। यह संसार की साहूकारी राजधानी बन गया। हरेक सरकार या बौहरा, जो विदेशों में अपना हिसाब चुकाना चाहता था और अपने देश में इसके साधन हासिल नहीं कर सकता था, लन्दन चला आता था, जहाँ उसे हर क़िस्म की व्यवसायी और लेन-देन की हुण्डियाँ और सोना भी मिल जाता था। सोने की क़ीमत वाला पौण्ड व्यवसाय का ठोस प्रतीक बन गया। अगर डेनमार्क या स्वीडन दक्षिण अमेरिका से कुछ माल खरीदना चाहता, तो यह सौदा पौण्डों में तय किया जाता, हालाँकि लन्दन उस माल की शक्ल भी कभी नहीं देखता था।

इंग्लैण्ड के लिए ज़बर्दस्त मुनाफ़े का सौदा था, क्योंकि सारा संसार इस सेवा के लिए उसे कुछ ख़िराज देता था। इसके अलावा सीधे मुनाफ़े भी थे। साथ ही विदेशी व्यापारी कम्पनियाँ अगाऊ भुगतानों के लिए इंग्लैण्ड के बैंकों में अपना फ़ालतू रुपया या दूसरों से वसूल होनेवाला रुपया जमा करा देती थीं। ये बैंक इस जमा को दूसरे ग्राहकों को थोड़े-थोड़े समय के लिए उधार पर चलाकर मुनाफ़ा कमाते थे। इंग्लैण्ड के बैंकों को विदेशी उद्योगपतियों के कारोबार की भी सारी बातें मालूम हो जाती थीं। विनिमय की जो हुण्डियाँ इनकी मार्फ़त गुज़रती थीं,

उनसे इन्हें जर्मनी के या दूसरे देशों के व्यापारियों के बीजकों का, और विदेशों में उनके ग्राहकों के नामों तक का पता लग जाता था। यह जानकारी इंग्लैण्ड के उद्योगों के लिए बहुत उपयोगी थी, क्योंकि इससे वे अपने विदेशी मुक़ाबलेदारों की काट कर सकते थे।

इस अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार को बढ़ाने और मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ी बैंकों ने दुनिया-भर में शाखाएँ और एजन्सियाँ खोल दीं। बाहर के देशों को ब्रिटिश उद्योगों के असर के अन्दर लाने में मदद करने के अलावा, ये बैंक इंग्लैण्ड के हक़ में एक और भी बहुत उपयोगी सेवा करते थे। वे तमाम मशहूर मुक़ामी कम्पनियों और कारोबार के बारे में पूछताछ करते थे और उनका लेखा-जोखा करते थे। इसलिए जब कोई मुक़ामी कम्पनी विनिमय की हुण्डी निकालती थी, तो वहाँ का अंग्रेज़ी बैंक या एजेण्ट इस हुण्डी की हैसियत जानता था, और अगर उसे विना जोखम की समझता तो उसकी ज़मानत दे सकता था। यह उस हुण्डी को 'स्वीकारना' कहा जाता था, क्योंकि बैंक उसपर 'स्वीकार किया' शब्द लिखता था। ज्योंही बैंक उस हुण्डी की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता था, वह हुण्डी आसानी से बेची या दूसरे के नाम बेचान की जा सकती थी, क्योंकि उसके पीछे बैंक की साख होती थी। इस तरह की ज़मानत या स्वीकारी के बिना किसी अनजान कम्पनी की विनिमय-हुण्डी को लन्दन-जैसी दूर मण्डी में या दूसरी जगह कोई खरीददार नहीं मिलते थे; क्योंकि उस कम्पनी से कोई जानकार नहीं होता था। हुण्डी को स्वीकारनेवाला बैंक कुछ जोखम तो उठाता था, पर ऐसा करने से पहले वह अपनी मुक़ामी शाखा के मार्फ़त पूरी तहक़ीकात कर लेता था। इस तरह 'स्वीकारने' की इस प्रणाली से विनिमय-हुण्डियों के बेचान और आमतौर पर कारोबार में बहुत सहूलियत हो जाती थी। साथ ही संसार के व्यापार पर लन्दन का शिकंजा मज़बूत होता जाता था। दूसरा कोई भी देश स्वीकारने का यह काम बड़े पैमाने पर करने की हैसियत में नहीं था, क्योंकि बाहर के देशों में और किसीकी इतनी शाखाएँ ही नहीं थीं।

इस तरह सौ वर्षों से ऊपर लन्दन ही संसार की साहूकारी और आर्थिक राजधानी बना रहा, और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन व व्यापार की सारी नकेल उसके हाथ में रही। यहाँ रुपये की बहुतायत थी, और इसलिए दूसरी जगहों की बनिस्बत वह ज़्यादा सुभीते की शर्तों पर मिल सकता था। इससे सारे बौहरे खिचकर यहाँ चले आते थे। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड के गवर्नर को दुनिया के कोने-कोने से व्यापार और लेन-देन के बारे में सारी जानकारी मिलती रहती थी, और वह अपनी बहियों व काग़ज़-पत्रों पर सरसरी नज़र डालकर यह बतला सकता था कि किस देश की आर्थिक हालत कैसी है। सच तो यह है कि कभी-कभी तो उसे किसी देश की आर्थिक हालत का इतना पता होता था, जितना उस देश की सरकार को भी नहीं होता

था। और जिन सिक्योरिटियों को कोई विदेशी सरकार ख़रीदना चाहती होती, उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त में छोटे-छोटे हथकण्डों के ज़रिये, या चन्दरोज़ा क़र्ज़े देने की तरकीबों के ज़रिये, उस विदेशी सरकार की राजनीतिक हलचलों पर दबाव डाला जा सकता था। साम्राज्यशाही शक्तियाँ दूसरों का गला दबाने के लिए जो उपाय काम में लाती हैं, उनमें यह ऊँचे दर्जे का 'साहूकारा' सबसे कारगर उपाय था और अब भी है।

महायुद्ध से पहले दुनिया की यही हालत थी। लन्दन शहर ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र था और उसकी शक्ति और खुशहाली का चिह्न था। पर महायुद्ध के बाद बहुत परिवर्तन हो गये और पुरानी व्यवस्था उलट-पुलट हो गई। युद्ध से एक बड़ी-जीत तो हाथ आई मगर यह जीत इंग्लैण्ड और लन्दन को बहुत मँहगी पड़ी।

युद्ध के बाद क्या-क्या हुआ, इसका बयान मैं अगले पत्र में करूँगा।

: १८७ :

डालर, पौण्ड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध ने संसार के तीन टुकड़े कर दिये थे—दो टुकड़े तो लड़नेवाले देशों के, और तीसरा टुकड़ा ग़ैर-तरफ़दार देशों का। लड़नेवाले दुश्मन देशों के बीच किसी तरह के तिजारती या दूसरे ठहराव बाक़ी नहीं रहे, सिवा इसके कि एक दूसरे पर जासूसी का धन्धा ज़रूर चलता रहा। और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो पूरी तरह चौपट होना ही था। समुद्रों पर क़ाबू होने की वजह से मित्र-राष्ट्र ग़ैर-तरफ़दार देशों और उपनिवेशों के साथ कुछ व्यापार चालू रख सके, पर जर्मन पन-डुब्बियों के हमलों ने इसे भी बहुत कम कर दिया था।

लड़नेवाले देशों ने अपने सारे साधनों को युद्ध में झोंक दिया, और बहुत भारी रक़में ख़र्च की गईं। क़रीब डेढ़ साल तक इंग्लैण्ड और फ़्रान्स अपने कंगाल साथी-देशों को रुपये की मदद देते रहे। इस काम के लिए दोनों ने अपनी जनता से रुपया उधार लिया और अमेरिका में भी हुण्डियाँ बेचीं। इसके बाद फ़्रान्स बीत गया और दूसरों की मदद नहीं कर सका। इंग्लैण्ड इस बोझ को सवा साल तक और झेलता रहा, पर मार्च, १९१७ ई० में, जब वह अमेरिका के पाँच करोड़ पौण्ड के क़र्ज़े का भुगतान नहीं कर सका, तो उसके भी बीत जाने की बारी आ गई। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स और इनके साथी-देशों की खुशक़िस्मती से, इस नाज़ुक घड़ी में, जब सबके माली साधन ख़त्म हो चुके थे, अमेरिका मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ से युद्ध में कूद पड़ा। तबसे लगातार महायुद्ध के अन्त तक, अमेरिका सब मित्र-राष्ट्रों को युद्ध के लिए

रुपये की मदद देता रहा। उसने अपने ही देशवालों से 'स्वतन्त्रता' व 'विजय' क़र्ज़ों के रूप में ज़बर्दस्त रक़में जमा कीं, और इन्हें खुद भी खूब खुले हाथों खर्च किया और मित्र-राष्ट्रों को भी उधार दिया। इसका नतीजा, जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, यह हुआ कि युद्ध ख़त्म होने तक संयुक्त राज्य अमेरिका सारी दुनिया का महाजन बन गया, और सारे राष्ट्र उसके क़र्ज़दार हो गये। युद्ध शुरू होने के व़क्त अमेरिका को यूरोप के पाँच अरब डालर देने थे; युद्ध ख़त्म होने पर यूरोप को अमेरिका का दस अरब डालर देना हो गया।

युद्ध के दौरान अमेरिका को सिर्फ़ इतना ही माली फ़ायदा नहीं हुआ। अमेरिका का विदेशी व्यापार इंग्लैण्ड व जर्मनी के विदेशी व्यापारों की जगह लेकर खूब बढ़ा, और इंग्लैण्ड के व्यापार की बराबरी का हो गया। अमेरिका ने संसार के सारे सोने का दो-तिहाई हिस्सा, और विदेशी सरकारों के शेयरों व बाण्डों का बढ़ा ढेर भी, इकट्ठा कर लिया।

इस तरह संयुक्त राज्य अमेरिका की माली हैसियत सबके ऊपर छा गई। वह अपने क़र्ज़ों की अदायगी की माँग करके किसी भी क़र्ज़दार देश को आसानी से दिवालिया बना सकता था। इसलिए लन्दन ने दुनिया की साहूकारी राजधानी के केन्द्र का जो दर्ज़ा बहुत दिनों से ले रक्खा था, उसपर अमेरिका का डाह करना और उसे अपने लिए हासिल करने की इच्छा करना लाज़िमी था। वह लन्दन का दर्जा संसार के सबसे मालदार शहर न्यूयार्क को दिलवाना चाहता था। बस, न्यूयार्क और लन्दन के बौहरों व साहूकारों के बीच ग़ज़ब की लड़ाई शुरू हो गई। दोनों की पीठ पर उनकी अपनी-अपनी सरकारें थीं।

अमेरिका के दबाव ने इंग्लैण्ड के पौण्ड को हिला दिया। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड अपने सिक्के के बदले में सोना देने में असमर्थ हो गया, और सोने की क़ीमतवाले पौण्ड का (जो अब स्वर्ण-मान से अलग हो गया था) भाव बदलने और गिरने लगा। फ़्रान्सीसी फ़्रैन्क का भाव भी गिर गया। ऐसी डाँवाडोल दुनिया में सिर्फ़ अमेरिकी डालर ही चट्टान की तरह मज़बूत दिखाई देता था।

यह ख़याल हो सकता है कि ऐसी सूरतों में रुपये-पैसे का कारोबार और सोना, लन्दन से मुँह मोड़कर न्यूयार्क चला गया होगा। मगर यह विचित्र बात है कि ऐसा नहीं हुआ और विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ और खानों से निकलनेवाला सोना फिर भी लन्दन पहुँचते रहे। इसका सबब यह नहीं था कि लोग डालर के मुक़ाबले में पौण्ड को अच्छा समझते थे, बल्कि यह था कि डालर आसानी से नहीं मिलते थे।

'स्वीकारने' का जो तरीक़ा इंग्लैण्ड के बैंक अपनी शाखाओं व एजन्सियों की मार्फ़त दुनिया-भर में काम में लाते थे, उसका ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, जो तुम्हें याद

होगा। अमेरिका के बैंकों की ऐसी शाखाएँ या विदेशी एजन्सियाँ नहीं थीं, इसलिए विदेशी विनिमय-हुण्डियों को 'स्वीकार' कर उन्हें हासिल करने का ऐसा कोई साधन उनके हाथ में नहीं था। इसलिए इन हुण्डियों का अंग्रेज़ी बैंकों की माफ़त लन्दन पहुँचना लाज़िमी था। जब यह दिक्क़त सामने आई, तो अमेरिका के बौहरों ने बाहर के देशों में झटपट शाखाएँ और एजन्सियाँ खोलना शुरू कर दिया, और कई जगह शानदार इमारतें खड़ी हो गईं। मगर फिर भी एक और कठिनाई थी। 'स्वीकारने' का काम ऐसे सधे हुए कर्मचारी ही कर सकते थे, जिन्हें मुक़ामी हालतों की और मुक़ामी कारोबार की पूरी जानकारी हो। इंग्लैण्ड के बैंकों ने अपने सौ वर्षों के विकास में इस क़िस्म के कर्मचारी तैयार कर लिये थे, इसलिए इस मामले में जल्दी-से उनके बराबर पहुँचना आसान नहीं था।

तब अमेरिकावालों ने लन्दन का मुक़ाबला करने के लिए कुछ फ़ान्सीसी, स्विस और डच बैंकों से साझा किया, मगर फिर भी उन्हें ज्यादा सफलता नहीं मिली। हालाँकि फ़ान्स बहुत मालदार देश था, और बहुत सारी पूँजी बाहर के देशों को भेजता था, पर उसने विदेशी विनिमय-हुण्डियों का व्यापार जमाने की तरफ़ कभी ध्यान नहीं दिया था। लिहाज़ा न्यूयार्क और लन्दन शहर के बीच खींच-तान जारी रही, पर कुल मिलाकर लन्दन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। १९२४ ई० में न्यूयार्क के हक़ में एक नया वसीला सामने आया। संसार-व्यापी सिक्के का फैलाव ख़त्म होने के बाद जर्मन मार्क मज़बूत हो गया और जो जर्मन पूँजी इस फैलाव के ज़माने में स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड भाग गई थी, (जोखम या ख़तरे के समय पूँजी हमेशा इसी तरह भाग जाया करती है!) वह जर्मनी के बैंकों में वापस आ गई। अमेरिकी साहूकारी गुट्ट में जर्मनी के शामिल हो जाने से लन्दन की हैसियत में बहुत फ़र्क़ पड़ गया। क्योंकि अब लन्दन से पूछे बिना ही अमेरिकी विनिमय-हुण्डियों के बदले में चाहे जितनी यूरोपीय विनिमय हुण्डियाँ मिल सकती थीं और लन्दन का सिक्का अभी तक डाँवाडोल था, यानी पौण्ड की कोई क़ीमत सोने के भाव पर क़ायम नहीं थी; वह स्वर्ण-मान से बँधा हुआ नहीं था।

अब लन्दन शहर के महाजनों के कान खड़े हुए। उन्होंने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का सारा अच्छा कारोबार न्यूयार्क और उसके यूरोपीय साथी-देशों के पास जा रहा है, और लन्दन को सिर्फ़ जूठन मिल रही है। इस चीज़ को रोकने के लिए सबसे पहले यह काम करने का था कि सोने की निस्बत से पौण्ड की क़ीमत फिर क़ायम कर दी जाय। यानी पौण्ड की क़ीमत अचल कर दी जाय। इससे विनिमय का अच्छा कारोबार फिर खिंच आने की उम्मीद थी। लिहाज़ा १९२५ ई० में पौण्ड की क़ीमत फिर पुरानी सतह पर क़ायम कर दी गई। यह अंग्रेज़ी बौहरों और लेनदारों की बड़ी भारी जीत थी, क्योंकि पौण्ड की क़ीमत बढ़ जाने का मतलब था उनकी

आमदनी बढ़ जाना। पर अंग्रेज़ी उद्योगों को इससे हानि पहुँची, क्योंकि बाहर के देशों में अंग्रेज़ी माल के दाम ऊँचे हो गये, और इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों को विदेशी बाज़ारों में अमेरिका, जर्मनी व दूसरे औद्योगिक देशों का मुक़ाबला करना मुश्किल हो गया। मगर इंग्लैण्ड ने अपनी बैंक-व्यवसाय की प्रणाली पर, या यों कहो कि संसार की विनिमय-मण्डी में अपनी साहूकारी सरदारी पर, अपने उद्योगों को कुछ हद तक जान-बूझकर क़ुर्बान कर दिया। पौण्ड की साख तो एकदम बढ़ गई, पर तुम्हें याद होगा कि इसके सबब से कुछ हद तक उद्योगों को धक्का लगने से इंग्लैण्ड में घरेलू झगड़े पैदा हो गये थे। वहाँ बे-रोज़गारी बढ़ गई, और मुद्दत तक चलने-वाली कोयला-मज़दूरों की हड़ताल हुई, और आम हड़ताल भी हुई।

पौण्ड की क़ीमत तो क़ायम हो गई, पर यही काफ़ी नहीं था। ब्रिटिश सरकार को अमेरिका की भारी रक़म चुकानी पड़ी थी। यह रक़म उचन्त-खाते की थी, और इसके लिए किसी भी वक़्त तक़ाज़ा किया जा सकता था। इस तरह का तक़ाज़ा करके अमेरिका इंग्लैण्ड को भारी कठिनाई में डाल सकता था, और पौण्ड की क़ीमत गिराने के लिए मजबूर कर सकता था। लिहाज़ा युद्ध के क़र्ज़ों को क़िस्तों में चुकाने' के बारे में अमेरिका से समझौता करने के लिए कुछ बड़े-बड़े ब्रिटिश राजनीतिज्ञ (जिनमें स्टैनली बाल्डविन भी था) दौड़े-दौड़े न्यूयार्क पहुँचे। यूरोप के सारे देश अमेरिका के क़र्ज़दार थे, इसलिए उचित तो यह था कि ये सब आपस में सलाह-सूद करके जहाँतक हो अच्छी-से-अच्छी शर्तें हासिल करने के लिए अमेरिका के पास जाते। मगर ब्रिटिश सरकार पौण्ड को बचाने के लिए और लन्दन की आर्थिक सरदारी क़ायम रखने के लिए इतनी उतावली थी कि फ़्रान्स या इटली से सलाह करने का उसके पास वक़्त ही नहीं था, और वह अमेरिका के साथ झटपट और किसी भी भाव पर कुछ तस्फ़िया कर लेना चाहती थी। तस्फ़िया तो उसने कर लिया, पर उसकी उसे भारी क़ीमत चुकानी पड़ी, और संयुक्त राज्य अमेरिका की कड़ी शर्तें माननी पड़ीं। बाद में फ़्रान्स और इटली ने अपने क़र्ज़ों के बारे में अमेरिका से इनसे कहीं अच्छी शर्तें हासिल कीं।

इन ज़ोरदार कोशिशों और क़ुर्बानियों से पौण्ड की और लन्दन शहर की लाज तो रह गई, पर दुनिया की मण्डियों में न्यूयार्क के साथ कशमकश चलती रही। न्यूयार्क के पास रुपये का भण्डार था, इसलिए वह कम सूद पर लम्बे-मीयादी क़र्ज़े देने को तैयार हो गया, और बहुत-से देश (जिनमें कनाडा, दक्षिण अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया भी शामिल थे) जो पहले लन्दन के साहूकारे में रुपया उधार लिया करते थे, अब न्यूयार्क के जाल में फँस गये। लम्बी मीयाद के क़र्ज़े देने में लन्दन न्यूयार्क की होड़ नहीं कर सकता था, इसलिए उसने मध्य-यूरोप के देशों को कम

'यह क्रिया क़र्ज़ों का एकीकरण—Funding कहलाती है।

मीयाद के क़र्ज़े देने का यत्न किया। कम-मीयादी क़र्ज़ों के मामले में बौहरों के तजुर्बे और साख की ज्यादा क़द्र होती है, और इसमें लन्दन का पलड़ा भारी था। बस, लन्दन के बैंकों ने वियेना के बैंकों के साथ, और इनकी माफ़ंत मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप (डैन्यूब और बलकान के प्रदेश) के बैंकों के साथ, गहरे ताल्लुक़ क़ायम कर लिये। न्यूयार्क भी यहाँ कारोबार चलाता रहा।

यह दीवाने लेन-देन का ज़माना था, जबकि कुछ हद तक लन्दन व न्यूयार्क की आपसी होड़ की वजह से यूरोप में रुपया वहा चला आ रहा था, और करोड़-पति व अरब-पति इतनी तेज़ी से पैदा हो रहे थे कि ताज्जुब होता था। इसका उपाय वहुत सीधा-सादा था। कोई हौसलेवाला व्यक्ति इनमें से किसी देश में रेलमार्ग वनाने की या दूसरे सरकारी कामों की रियायत हासिल कर लेता, या दियासलाइयाँ बनाने और वेचने के काम सरीखा कोई ठेका ले लेता। इस रियायत या ठेके से फ़ायदा उठाने के वास्ते एक कम्पनी खड़ी कर ली जाती, और यह कम्पनी पूँजी या शेयर वेचती। इस पूँजी या इन शेयरों के आधार पर न्यूयार्क या लन्दन के वैंक अगाऊ रुपया दे देते। इस तरह महाजन लोग न्यूयार्क में दो फ़ीसदी ब्याज पर डालर उधार लेकर उन्हें वर्लिन में छै फ़ीसदी ब्याज पर या वियेना में आठ फ़ीसदी ब्याज पर उठा देते। इस तरह दूसरे लोगों के रुपये का होशियारी से हेर-फेर करके ये महाजन वहुत मालदार हो गये। ईवान क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी इनमें बहुत मशहूर हुआ। दियासलाइयों के एकाधिकार की वजह से यह 'दियासलाई का वादशाह' मशहूर था। किसी समय क्रूगर की बड़ी भारी साख थी। पर बाद में पता लगा कि वह पूरा ठग था, और उसने बड़ी भारी-भारी रक़मों का ग़बन किया था। जब उसकी पोल खुलने लगी तो उसने आत्म-हत्या कर ली। उस समय के और भी कई नामी साहूकार अपने खोटे कारनामों की वजह से जंजाल में फँस गये।

मध्य-यूरोप और पूर्वी यूरोप में इंग्लैण्ड और अमेरिका की इस आपसी होड़ से एक फ़ायदा हुआ। जो ढेरों रुपया यहाँ आया उसने, १९२७ ई० की मन्दी शुरू होने से पहले के वर्षों में यूरोप के फिर से उठने में बहुत बड़ी मदद दी।

इसी बीच, १९२६ और १९२७ ई० में फ़ान्स में भी सिक्के का फैलाव हुआ था, और फ़्रैन्क की क़ीमत बहुत गिर गई थी। जैसे ही फ़्रैन्क का भाव गिरा, रुपयेवाले फ़ान्सीसियों ने—फ़ान्स के हर छोटे-मोटे मध्यम-वर्गी के पास कुछ-न-कुछ जमा-पूँजी होती है—अपना रुपया मारे जाने के डर से विदेशों में भेज दिया। उन्होंने बेशुमार विदेशी सिक्योरिटियाँ और विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ खरीद लीं। १९२७ ई० में फ़्रैन्क की क़ीमत फिर कम कर दी गई और सोने के सम्बन्ध से तय कर दी गई। पर यह नई क़ीमत पुरानी क़ीमत का पाँचवाँ हिस्सा थी। जिन

फ़ान्सीसियों के पास विदेशी सिक्योरिटियाँ थीं, वे सारे-के-सारे अब उन्हें फ़्रैन्कों की क़ीमतवाली चीज़ों से बदलने पर आमादा हो गये। उनका कारोबार खूब चेता, क्योंकि जितने फ़्रैन्क उनके पास शुरू में थे, उनके पाँच गुने अब उन्हें मिल रहे थे। इस तरह सिक्के के फैलाव से उन्हें ज़रा भी नुक़सान नहीं हुआ। हाँ, अगर वे फ़्रैन्कों को ही पकड़े बैठे रहते तो उन्हें नुक़सान उठाना पड़ता। फ़ान्स की सरकार ने भी इस मौक़े से फ़ायदा उठाने का फ़ैसला किया। उसने ये सारी विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ या सिक्योरिटियाँ ख़रीद लीं और उनके बदले में फ़्रैन्कों के ताज़ा छापे हुए नोट पकड़ा दिये। इस तरह फ़ान्सीसी सरकार इन विदेशी हुण्डियों और सिक्योरिटियों पर क़ब्ज़ा करके एकदम खूब मालदार बन गई। वास्तव में उस समय जितनी हुण्डियाँ और सिक्योरिटियाँ उसके पास थीं, उतनी और किसी देश के पास नहीं थीं। साहूकारी सरदारी के लिए इंग्लैण्ड या अमेरिका से होड़ करने की न तो उसे इच्छा थी और न उसमें इतनी क़ाबलियत ही थी। पर उसकी हैसियत ऐसी हो गई कि वह दोनों पर असर डाल सकता था।

फ़ान्सीसी लोग बड़े चौकस होते हैं, और उनकी सरकार का भी यही हाल है। बड़े-बड़े मुनाफ़ों की आशा में गाँठ का भी गँवा देने की जोखम उठाने के बजाय वे छोटे-छोटे मुनाफ़े और बेफ़िक्री ज्यादा पसन्द करते हैं। लिहाज़ा फ़ान्सीसी सरकार ने होशियारी से देख-भाल कर अपना फ़ालतू रुपया लन्दन की अच्छी कम्पनियों को कम सूद पर उधार दे दिया। मसलन, वह तो अंग्रेज़ी बैंकों से सिर्फ़ दो फ़ीसदी सूद वसूल करती; अंग्रेज़ी बैंक यह रुपया जर्मन बैंकों को पाँच या छै फ़ीसदी ब्याज पर उठाते; ये जर्मन बैंक इसी रुपये को आठ या नौ फ़ीसदी ब्याज पर वियेना को उधार देते; और अन्त में यही रुपया बारह फ़ीसदी ब्याज पर शायद हंगरी या बलकान जा पहुँचता! ज्यों-ज्यों जोखम बढ़ती त्यों-त्यों सूद की दर भी बढ़ती थी, मगर फ़ान्स का बैंक कोई जोखम नहीं उठाना चाहता था और बे-जोखम अंग्रेज़ी बैंकों से लेन-देन करता था। इस तरह फ़ान्स (अपनी ख़रीदी हुई पौण्ड की विदेशी हुण्डियों के रूप में) बड़ी भारी रक़म लन्दन में जमा रखता था, और इससे लन्दन को न्यूयार्क के ख़िलाफ़ लड़ने में मदद मिली।

इसी बीच व्यापार का संकट और मन्दी बढ़ते जा रहे थे और खेती की उपज के भाव गिर रहे थे। १९३० ई० के शरद में गेहूँ के भाव इतने दिनों तक गिरे रहे कि पूर्वी यूरोप के बैंक अपने क़र्ज़दारों से रुपया वसूल नहीं कर सके, और इस कारण वे उन पौण्डों व डालरों को नहीं लौटा सके, जो उन्होंने वियेना में उधार लिये थे। इससे वियेना के बैंकों पर आफ़त आ गई, और वियेना का सबसे बड़ा बैंक क्रैडिट-आन्स्टाल्ट, दिवालिया और चौपट हो गया। इससे जर्मनी के बैंक फिर हिल गये और मार्क के ग़ारत होने का अन्देशा पैदा हो गया। इसके नतीजे से जर्मनी में

अमेरिका व इंग्लैण्ड की पूंजी खतरे में पड़ जाती, और इसी खतरे को टालने के लिए ही राष्ट्रपति हूवर ने क़र्ज़ों व हर्जानों की आरज़ी छूट का ऐलान किया था। अगर उस वक़्त हर्जानों की अदायगी का तक़ाज़ा किया जाता तो जर्मनी की माली हालत बिलकुल चौपट हो गई होती। मगर हुआ यह कि इससे भी काम नहीं चला, और जर्मनी दूसरे देशों को अपने खानगी क़र्ज़े तक नहीं चुका सका। इसलिए इनके वास्ते भी उसे आरज़ी छूट देनी पड़ी।

इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड का बहुत-सा रुपया, जो कम-मीयादी क़र्ज़ों के रूप में जर्मनी को दिया गया था, वहीं फँस गया, यानी खटाई में पड़ गया। लन्दन के बौहरों की हालत विकट हो गई, क्योंकि उन्हें अपना देना चुकाना था, और वे इस भरोसे बैठे हुए थे कि जर्मनी से उनका रुपया उन्हें मिल जायगा। फ़्रान्स और अमेरिका तेरह करोड़ पौण्ड उधार देकर उनकी मदद को दौड़े आये, पर वक़्त निकल चुका था। लन्दन के साहूकारी क्षेत्रों में घबराहट फैल गई, और जब इस तरह की घबराहट फैलती है तो हर आदमी बैंक में से अपना रुपया निकाल लेना चाहता है। इसलिए यह तेरह करोड़ पौण्ड बात-की-बात में उड़ गये। तुम्हें याद होगा कि पौण्ड स्वर्ण-मान से जुड़ा हुआ था, इसलिए जिस किसीके पास सोने की क़ीमतवाला पौण्ड होता, वह उसके बदले में सोना माँग सकता था।

ब्रिटिश सरकार, जो उस समय मज़दूर-दली सरकार थी, ज्यादा रुपया उधार लेना चाहती थी, और उसने परेशान होकर न्यूयार्क व पेरिस के बौहरों से क़र्ज़ की भीख माँगी। मालूम होता है कि वे कुछ खास शर्तों पर मदद करने को राज़ी हो गये। इनमें से एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार मज़दूरों के मामलों में और समाज-सेवाओं में किफ़ायत करे, और शायद मजूरियों में कटौती भी सुझाई गई थी। यह इंग्लैण्ड के घरेलू मामलों में विदेशी बौहरों का सीधा दखल था। इस मौक़े से मज़दूर सरकार के खिलाफ़ बेजा फ़ायदा उठाया गया और प्रधानमन्त्री, मज़दूर सरकार के नेता, रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने मज़दूर सरकार और अपने दल दोनों को धोखा दिया, और अनुदार दलवालों के सबसे बड़े सहारे पर दूसरी सरकार बनाई। यह 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाई, जो संकट का मुक़ाबला करने के लिए रची गई थी। रैम्ज़े मैक्डानल्ड की यह कार्रवाई, यूरोप के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में ग़द्दारी की सबसे निराली मिसाल में गिनी जाती है।

राष्ट्रीय सरकार पौण्ड को बचाने के लिए बनी थी। फ़्रान्स व अमेरिका ने जो क़र्ज़ देने का वायदा किया था, वह मिल गया; पर इनकी मदद के बावजूद भी वह पौण्ड को नहीं बचा सकी। २३ सितम्बर, १९३१ ई० को उसे स्वर्ण-मान छोड़ने को मजबूर होना पड़ा और पौण्ड फिर डाँवाडोल क़ीमत का सिक्का बन गया।

पौण्ड का भाव तेज़ी से गिर गया, और उसकी क़ीमत चौदह शिलिंग के सोने के बराबर रह गई। यानी मोटे तौर पर पहली क़ीमत की दो-तिहाई रह गई।

यही वह घटना थी और तारीख़ थी, जिसने दुनिया पर ज़बर्दस्त असर डाला था। यूरोप ने इसे ब्रिटिश साम्राज्य के टूक-टूक होने का आसार समझा, क्योंकि इसका मतलब था संसार की साहूकारा मण्डी में लन्दन की हुक़ूमत का ख़ात्मा। ये उम्मीदें या मुरादें (यूरोप या अमेरिका में ब्रिटिश साम्राज्य सबकी आँखों में खटकता है, एशिया का तो ज़िक्र ही क्या) कुछ जल्दबाज़ी की साबित हुईं।

पौण्ड की क़ीमत गिरने से कई देशों के सिक्के डाँवाडोल हो गये, जिन्होंने सोने की क़ीमतवाले पौण्ड के नोटों को सोना मानकर रख छोड़ा था, क्योंकि उनके बदले में कभी-भी सोना हासिल किया जा सकता था। अब, जब कि इन नोटों के बदले में सोना नहीं मिल सकता था और उनकी क़ीमत तीस फ़ीसदी घट गई थी, तो इनमें से कुछ देशों के सिक्कों की क़ीमतें भी गिर गईं और इंग्लैण्ड ने उन्हें भी नीचे खींचकर स्वर्ण-मान छोड़ने को मजबूर कर दिया।

फ़्रान्स की हैसियत अब मज़बूत हो गई थी; उसकी चौकस नीति कामयाब हो गई थी। जहाँ अमेरिका की और उससे भी ज्यादा इंग्लैण्ड की जमा रक़में जर्मनी में रोक ली गई थीं, और इन देशों को रुपये की ज़रूरत पड़ रही थी, वहाँ फ़्रान्स के पास विदेशी विनिमय-हुण्डियों और सोने के फ़्रैन्कों की शक्ल में ढेरों रुपया था। अमेरिका सरकार और ब्रिटिश सरकार दोनों ने फ़्रान्स से मोहब्बत जताई और एक के ख़िलाफ़ दूसरे का साथ देने के लिए उसे फुसलाने की ख़ूब कोशिशें कीं। मगर फ़्रान्स ज़रूरत से ज्यादा चौकस था, इसलिए उसने दोनों में किसीकी चालों में फँसने से इन्कार कर दिया, और इस तर सौदेबाज़ी का मौक़ा हाथ से निकल जाने दिया।

१९३१ ई० के अख़ीर में इंग्लैण्ड में पार्लमेण्ट के लिए चुनाव हुए, और इनके परिणाम-स्वरूप 'राष्ट्रीय सरकार' की भारी बहुमत से जीत हुई। वास्तव में यह जीत अनुदार-दल की थी। मज़दूर-दल का तो क़रीब-क़रीब सफ़ाया हो गया। इन अफ़वाहों से डरकर कि मज़दूर-सरकार उनकी पूँजी ज़ब्त कर लेगी, और शायद वेतन-कटौती पर अतलान्तिक बेड़े के अंग्रेज़ मल्लाहों की चन्दरोज़ा बग़ावत से दहलकर, इंग्लैण्ड के सारे-के-सारे मध्यम-वर्गी लोग अनुदार-दली राष्ट्रीय सरकार के पीछे हो लिये।

पौण्ड का भाव गिरने के बाद जो संकट और खतरे सामने आये, उनके बावजूद तीन बड़े राष्ट्र अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स, या इन देशों के बौहरे, आपस में सहयोग नहीं कर सके। हरेक अपनी अकेली चालें चलता था, और इस ताक में रहता था कि दूसरों को नुक़सान पहुँचाकर खुद अपनी हैसियत सुधार ले। साहू-

कारी नेतागिरी के लिए लड़ने के बजाय वे एक जुट होकर एक शामिल अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-मण्डी क़ायम कर सकते थे। परन्तु हरेक ने अपने-अपने रास्ते चलना पसन्द किया। बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड लन्दन का खोया हुआ दर्जा उसे दुबारा दिलवाने की कोशिश में लग गया, और दुनिया को चकित करके वह इस काम में बहुत-कुछ सफल भी हो गया, हालाँकि पौण्ड अभी तक स्वर्ण-मान से कटा हुआ था।

जब इंग्लैण्ड ने स्वर्ण-मान छोड़ा था, उस समय और देशों के सरकारी बैंकों ने (ये बैंक केन्द्रीय बैंक कहलाते हैं) अपने पास रक्खी हुई पौण्ड की विनिमय-हुण्डियाँ बेच डालीं थीं, ताकि उनके बदले में सोना ले सकें। पौण्ड की ये हुण्डियाँ अभी तक उन्होंने इसलिए रख छोड़ी थीं कि इनके बदले में कभी-न-कभी सोना मिल सकता था, और इसलिए ये सोना ही मानी जा सकती थीं। जब इन हुण्डियों की बहुत बड़ी तादाद एकदम बेची गई, तो पौण्ड की क़ीमत तेज़ी के साथ तीस फ़ीसदी गिर गई। इस गिरावट के लालच में आकर उन क़र्ज़दारों ने, जिन्हें अपने क़र्ज़े पौण्ड में देने थे, (इनमें कुछ सरकारें और बड़े-बड़े व्यवसायी भी शामिल थे), सोने में भुगतान किया; क्योंकि अब उन्हें बीस फ़ीसदी कम देना पड़ता था। इस तरह बहुत सारा सोना इंग्लैण्ड में आ गया।

मगर इंग्लैण्ड में सोने की असली नदी तो भारत और मिस्र से आ रही थी। इन ग़रीबों और पराधीन देशों को मालदार इंग्लैण्ड की मदद करने के लिए मजबूर किया गया, और इनके भीतरी साधनों का इंग्लैण्ड की माली हालत मज़बूत करने के लिए उपयोग किया गया। इस मामले में इनसे कुछ नहीं पूछा गया, इंग्लैण्ड की ग़रज़ के सामने इनकी इच्छाओं या हितों की गिनती ही क्या थी?

भारत के लिहाज़ से बेचारे भारतीय रुपये की कहानी बड़ी लम्बी और दुखभरी है। ब्रिटिश सरकार व ब्रिटिश साहूकारों के स्वार्थों की ख़ातिर इसकी क़ीमत बार-बार बदली जाती रही है। यहाँ मैं सिक्के के इन मामलों में नहीं जाना चाहता। सिर्फ़ इतना बतला देना चाहता हूँ कि सिक्के के मामले में भारत में ब्रिटिश सरकार की युद्ध के बाद की कार्रवाइयों से भारत को भारी रक़मों का नुक़सान उठाना पड़ा। इसके बाद, १९२७ ई० में, सोने की क़ीमतवाले पौण्ड और सोने के सम्बन्ध से रुपये की क़ीमत तय करने के बारे में भारत में बड़ा-भारी वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ (उस समय पौण्ड स्वर्ण-मान से जुड़ा हुआ था)। यह 'अनुपात का विवाद' कहलाया, क्योंकि सरकार तो रुपये की क़ीमत एक शिलिंग छै पैन्स तय करना चाहती थी, और भारतीय जनमत लगभग एक मत से रुपये की क़ीमत एक शिलिंग चार पैन्स पर क़ायम करना चाहता था। सवाल वही पुराना था कि नक़दी का मान ऊँचा करके बौहरों और उधार देनेवालों और पूंजीवालों को मुनाफ़ा पहुँचाया जाय और विदेशी आयातों को बढ़ावा दिया जाय, या उसकी

क़ीमत गिराकर क़र्ज़दारों का बोझ हलका किया जाय और विदेशी उद्योगों व निर्यात को बढ़ाया जाय। सरकार ने भारतीय लोकमत की परवाह न करके अपनी बात रहने दी, और रुपये की क़ीमत एक शिलिंग छै पैन्स तय कर दी। इस तरह कुछ लोगों के मत से ऊँचे भाव की वजह से सिक्का कुछ महँगा हुआ। सिर्फ़ इंग्लैण्ड ने ही, १९२५ ई० में पौण्ड को स्वर्ण-मान पर लाकर, महँगे सिक्के की नीति अपनाई थी। और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इसलिए किया गया था कि उसकी वह साहूकारी नेतागिरी क़ायम रहे, जिसके लिए वह बहुत-कुछ क़ुर्बानी देने को तैयार था। फ़्रान्स, जर्मनी व दूसरे देशों ने अपनी माली हालत सुधारने के लिए सिक्के का फैलाव ज़्यादा अच्छा समझा था।

रुपये के ऊँचे मोल से भारत में लगी हुई अंग्रेज़ी पूँजी की मालियत भी बढ़ गई। इससे भारतीय उद्योगों पर भी बोझ पड़ा, क्योंकि भारतीय सामानों के भाव कुछ बढ़ गये। सबसे बड़ी बात यह हुई कि जो किसान और ज़मींदार महाजनों के क़र्ज़दार थे, उन सबका बोझ पहले से भी ज़्यादा बढ़ गया, क्योंकि जब रुपये का मोल बढ़ा तो इन क़र्ज़ों की मालियत भी बढ़ गई। अठारह पैन्स और सोलह पैन्स का फ़र्क़, यानी दो पैन्स—साढ़े बारह फ़ीसदी बढ़ोतरी ज़ाहिर करता था। मान लो कि भारत के किसानों पर कुल क़र्ज़ा दस अरब रुपया है; अगर इसमें साढ़े-बारह फ़ीसदी बढ़ोतरी हो जाती है, तो कुल क़र्ज़े में एक अरब पच्चीस करोड़ रुपये की भारी रक़म जुड़ जाती है।

रुपयों के हिसाब से तो क़र्ज़ों की रक़में वही रहीं जो पहले थीं। परन्तु खेती की उपज के भावों के हिसाब से ये क़र्ज़े बढ़ गये। रुपये का असली मोल यह होता कि उससे कितना गेंहूँ, या कपड़ा, या दूसरी चीज़ें या सामान खरीदा जा सकता है। अगर रुकावट न डाली जाय तो यह मोल ज़रूरत के मुताबिक़ अपने-आप घटता-बढ़ता रहता है। नक़दी की ख़रीद-शक्ति घट जाने से सिक्के की क़ीमत गिर जाती है। रुपये का मोल बनावटी तौर पर बढ़ाने का मतलब होता है, उसे ऐसी बनावटी खरीद-शक्ति देना जो वास्तव में उसमें नहीं होती। इसलिए किसानों ने महसूस किया कि अब उनकी आमदनी का पहले से ज़्यादा हिस्सा इनके सूद के भुगतान में चला जाता था, और उनके पास कुछ नहीं बचता था। इस तरह से एक शिलिंग छै पैन्स का एक रुपया होने से भारत में मन्दी और भी बढ़ गई।

जब सितम्बर, १९३१ ई० में सोने की क़ीमतवाले पौण्ड का रिश्ता सोने से तोड़ दिया गया, तो रुपये का भी सोने से रिश्ता टूट गया, परन्तु फिर भी रुपये को पौण्ड के साथ बँधा रहने दिया गया। यानी एक शिलिंग छै पैन्स का भाव क़ायम रहा, परन्तु सोने के हिसाब से रुपये का मोल कम हो गया। रुपये को पौण्ड के साथ

इसलिए जुड़ा रक्खा गया कि भारत में अंग्रेज़ी पूंजी को नुक़सान न पहुँचे। क्योंकि अगर रुपये को छेड़ा न जाता, तो उसका मोल कुछ ज्यादा गिर जाता और इससे पौण्डवाली पूँजी को हानि उठानी पड़ती। हुआ यह है कि रुपये का सोने में मोल कम होने से भारत में सिर्फ़ अमेरिकी, जापानी, वग़ैरा ग़ैर-ब्रिटिश पूंजी को नुक़सान पहुँचा। रुपये का रिश्ता पौण्ड के साथ जुड़ा रहने से इंग्लैण्ड को एक और बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि अपने उद्योगों के लिए जो कच्चा माल वह खरीदता था, उसकी अंग्रेज़ी सिक्के में चुकाने की सहूलियत हो गई। सोने के सिक्के का क्षेत्र जितना ज्यादा बड़ा हो पौण्ड के लिए उतना ही अच्छा है।

जब पौण्ड के साथ-साथ रुपये का मोल भी गिरा तो सोने का अन्दरूनी भाव क़ुदरती तौर पर बढ़ गया, यानी सोना बेचने से ज्यादा रुपये मिल सकते थे। देश में जो भारी मुसीबत और तंगी फैल रही थी, उससे मजबूर होकर लोगों ने ज़ेवर वग़ैरा के रूप में जितना सोना पास था बेच डाला, ताकि वे अपने क़र्ज़े चुकाने के लिए सोना बेचकर ज़्यादा रुपये पा सकें। बस, देश-भर का सोना बेशुमार छोटी-छोटी नालियों से बैंकों में पहुँचने लगा, और बैंक उसे लन्दन के सर्राफ़े में बेचकर मुनाफ़ा उठाने लगे। बस, भारत का सोना लन्दन की तरह लगातार बहता रहा, और ढेरों वहाँ जा पहुँचा। यह सिलसिला अभी तक जारी है। इसी सोने ने, और साथ ही मिस्र से जानेवाले सोने ने, बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड व ब्रिटिश साहूकारे की हालत को सम्हाल लिया, और उन्हें इस क़ाबिल बना दिया कि सितम्बर, १९३१ ई० में उन्होंने जो रक़में अमेरिका और फ़ान्स से उधार ली थीं, उन्हें लौटा सकें।

यह अजीब हक़ीक़त है कि संसार के सबसे मालदार देशों समेत सारे देश अपना सोना बचाने की और उसे बढ़ाने की जी-तोड़ कोशिशें कर रहे हैं, वहाँ भारत इससे ठीक उलटा काम कर रहा है। अमेरिका व फ़ान्सीसी सरकारों ने अपने-अपने बैंकों के तहखानों में सोने का बड़ा भारी ढेर जमा करके दबा रक्खा है। यह अजीब सिलसिला चल रहा है कि खानों में से सोना सिर्फ़ इसलिए खोद-खोदकर निकाला जा रहा है कि बैंकों के गहरे ज़मींदोज़ तहखानों में फिर दफ़ना दिया जाय! ब्रिटिश उपनिवेशों समेत कई देशों ने सोने की निकासी पर रोक लगा दी है, यानी इन देशों से बाहर सोना कोई नहीं ले जा सकता। इंग्लैण्ड ने, अपना सोना बचाकर रखने के लिए स्वर्ण-मान से नाता तोड़ दिया है। परन्तु भारत ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि भारत के खजाने की नीति इंग्लैण्ड के हितों के मुताबिक़ रखी जाती है।

अक्सर कहा जाता है कि भारत में लोग सोना-चाँदी दबाकर रखते हैं और मुट्ठी-भर मालदारों के लिए यह बात किसी हद तक सही भी है। परन्तु जनता तो इतनी ग़रीब है कि सोना तो क्या कोई भी चीज़ दबाकर नहीं रख सकती। आसूदा किसान-वर्ग के पास अलबत्ता कुछ ज़ेवर वग़ैरा होते हैं, जो उनका 'खज़ाना'

समझे जा सकते हैं। बैंक में जमा कराने की कोई सुविधा नहीं है। पर भारत के ये छोटे-मोटे गहने-पाते और सोने के भण्डार भी मन्दी से और सोने के भाव बढ़ने की वजह से खिचकर बाहर आ गये हैं। अगर भारत में राष्ट्रीय सरकार होती तो इस सोने को अपने देश में ही जमा रखती, क्योंकि लेन-देन का माना हुआ अन्तर्राष्ट्रीय ज़रिया सोना ही है।

अब हम फिर डालर के साथ पौण्ड की लड़ाई के क़िस्से पर आते हैं। ऊपर लिखे तरीक़ों से, और दूसरी चालाक तरकीबों से, जिनका ज़िक्र मैं यहाँ नहीं करना चाहता, बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड ने अपनी हैसियत बहुत मज़बूत बना ली। १९३२ ई० के शुरू के दिनों में इस बैंक का सितारा कुछ चमका, क्योंकि अमेरिका की पूँजी जर्मनी में रुक जाने से संयुक्त राज्य अमेरिका के बैंकों की हालत नाज़ुक हो गई। इस संकट-काल में अमेरिका के अनेक लोगों ने अपने डालर बेच दिये और पौण्ड के ब्याजी रुक्के ख़रीद लिये। बस, ब्रिटिश सरकार को डालरों की ढेरों विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ मिल गईं, जिन्हें न्यूयार्क के सरकारी बैंक में भुगतान के लिए भेज दिया और बदले में सोना ले लिया। डालर स्वर्ण-मान से जुड़ा हुआ था, इसलिए उसके बदले में सोना माँगा जा सकता था। इस तरह से किसी दुर्घटना के बिना और पौंड का भाव ज़्यादा गिरे बिना इंग्लैण्ड का सोना-भण्डार ख़ूब भर गया, हालाँकि पौण्ड फिर भी डाँवाडोल और स्वर्ण-मान से कटा ही रहा। ढेरों विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ और सिक्योरिटियाँ अपने पास होने से लन्दन शहर फिर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की बड़ी केन्द्रीय मण्डी बन गया। उस वक़्त तो न्यूयार्क को मुँह की खानी पड़ी। इस जीत का ख़ास सबब उसके बैंकों पर पड़नेवाला संकट था, जिसमें कि, मैं पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूँ, हज़ारों छोटे-छोटे बैंक ख़त्म हो गये थे।

: १८८ :

पूँजीवादी दुनिया मिलकर ज़ोर नहीं लगा पाती

२८ जुलाई, १९३३

साहूकारी डाह और तिकड़मबाज़ी का कितना लम्बा क़िस्सा मैंने तुम्हें सुना डाला है, और मुझे डर है कि तुम इसे पसन्द नहीं करोगी। अन्तर्राष्ट्रीय साज़िशों का यह जाल इतना उलझा हुआ है कि इसे सुलझाना, या इसमें घुस जाने पर बाहर निकलना, आसान काम नहीं है। मैंने तो तुम्हें सिर्फ़ उसी चीज़ की झलक-सी दिखाई है, जो बहुत-कुछ ऊपरी सतह पर नज़र आती है। दुनिया में जितनी चीज़ें होती हैं, उनमें ज़्यादातर ऊपरी सतह पर या सूरज की रोशनी में कभी नहीं आने पातीं।

आधुनिक संसार में बौहरों और साहूकारों का ज़बर्दस्त हाथ है। यहाँतक कि उद्योगपतियों के दिन भी बीत चुके; आज तो उद्योग, खेती-बाड़ी, रेलों और ढुलाई की, और वास्तव में कुछ हद तक हरेक चीज़ की, यहाँतक कि सरकार की भी बागडोर बड़े-बड़े बौहरों के हाथों में है। क्योंकि ज्यों-ज्यों उद्योगों में और व्यापार में तरक्क़ी हुई है, त्यों-त्यों इनके लिए दिन-पर-दिन ज्यादा रक़मों की ज़रूरत पड़ती गई है और इन रक़मों का इन्तज़ाम बैंकों ने किया है। आजकल दुनिया का ज्यादातर काम साख पर चलता है, और साख को बढ़ाना या घटाना और अंकुश में रखना बड़े-बड़े बैंकों के ही हाथ में है। उद्योगपतियों और खेतिहरों, दोनों को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने बैंक के पास जाना पड़ता है। बौहरों के लिए उधार देने का यह धन्धा सहज मुनाफ़े का ही धन्धा नहीं है, बल्कि इससे उद्योगों व खेतीबाड़ी पर भी धीरे-धीरे उनका क़ब्ज़ा हो जाता है। उधार देने से इन्कार करके, या ऐन संकट के मौक़े पर अपने रुपये का तक़ाज़ा करके, ये लोग क़र्ज़दार का कारोबार चौपट कर सकते हैं, या उसे किसी भी तरह की शर्तें मानने के लिए मजबूर कर सकते हैं। यह चीज़ देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, दोनों जगह लागू होती है। क्योंकि बड़े-बड़े केन्द्रीय बैंक कितने ही देशों की सरकारों को रुपया उधार देते हैं, और इस तरह उन्हें अपने अँगूठे के नीचे रखते हैं। न्यूयार्क के बौहरे मध्य व दक्षिण अमेरिका की कई सरकारों की नकेल इसी तरीक़े से अपने हाथ में रखते हैं।

इन बड़े-बड़े बैंकों का निराला पहलू यह है कि ये अच्छे और बुरे दोनों तरह के ज़मानों में पनपते रहते हैं। अच्छे ज़माने में, कारोबार की आम तरक्क़ी में इन्हें भी हिस्सा मिलता है। इनके पास ढेरों रुपया आता है, और ये इसे ख़ूब अच्छे सूद पर दूसरों को उधार देते हैं। मन्दी या संकटों के बुरे ज़मानों में ये रुपये को पकड़कर बैठ जाते हैं और उसे जोखम में नहीं डालते (इस तरह ये मन्दी बढ़ाते हैं, क्योंकि उधार के बिना कई कारोबार चलाना कठिन होता है)। मगर ये एक और तरीक़े से फ़ायदा उठाते हैं। ज़मीनों, कारख़ानों, वग़ैरा, सब की क़ीमतें गिर जाती हैं और बहुत-से उद्योगों के दिवाले निकल जाते हैं। बस, बैंक फ़ौरन आ जाता है और हर चीज़ सस्ते दामों में ख़रीद लेता है! इसलिए बौहरों का हित इसीमें है कि बारी-बारी से तेज़ी और मन्दी के चक्कर चलते रहें।

मौजूदा महान् आर्थिक मन्दी के ज़माने में बड़े-बड़े बैंकों का कारोबार बराबर अच्छा रहा है, और इन्होंने हिस्सेदारों को अच्छे मुनाफ़े बाँटे हैं। यह सच है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के हज़ारों बैंकों के, और आस्ट्रिया व जर्मनी के कुछ बड़े बैंकों के, दिवाले निकल गये हैं। लेकिन अमेरिका के जिन बैंकों के दिवाले निकले, वे सब छोटे-छोटे बैंक थे। मालूम होता है कि अमेरिका की बैंक-प्रणाली

ठीक नहीं है। मगर फिर भी न्यूयार्क के बड़े-बड़े बैंकों का कारोबार काफ़ी अच्छा रहा है। इंग्लैण्ड के किसी बैंक का दिवाला नहीं निकला।

इसलिए आज की पूंजीवादी दुनिया में असली हुक़ूमत बौहरों के हाथों में है। लोग हमारे इस ज़माने को 'रुपये का युग' कहते हैं, जो निरे 'औद्योगिक युग' के बाद आया है। इन दिनों पश्चिमी देशों में, और खासकर करोड़पतियों के देश अमेरिका में, करोड़पति और अरबपति बरसाती मेढ़कों की तरह पैदा हो रहे हैं, और उनकी बड़ी क़द्र है। लेकिन दिन-पर-दिन ज़ाहिर होता जा रहा है कि 'ऊँचे दर्जे के साहूकारे' के तरीक़े बहुत ही खोटे हैं, और जो तरीक़े डाकुओं व धोखेबाज़ों के समझे जाते हैं उनमें और इन तरीक़ों में सिर्फ़ इतना ही फ़र्क़ है कि इनकी कार्रवाइयाँ बहुत बड़े पैमाने पर होती हैं। बड़े-बड़े एकाधिकार तमाम छोटे-छोटे धन्धेवालों को कुचल देते हैं, रुपया बटोरने के बड़े-बड़े कारोबार, जिन्हें कोई समझ नहीं पाता, बेचारे भोले-भाले शेयर खरीदनेवालों को मूंड़ लेते हैं। यूरोप और अमेरिका के कुछ बड़े-से-बड़े साहूकारों का हाल ही में भण्डाफोड़ हुआ है, और यह नज़ारा कुछ अच्छा नहीं रहा है।

हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच साहूकारी नेतागिरी का झगड़ा उस वक़्त तो लन्दन शहर की जीत के साथ ख़त्म हो गया था। परन्तु इस जीत का इनाम क्या मिला? इस लड़ाई के बारह वर्षों के दौरान यह इनाम धीरे-धीरे ग़ायब होता गया था। ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटता गया, त्यों-त्यों साहूकारी नेतागिरी से मिलनेवाले नफ़े भी कम होते गये। विनिमय-हुण्डियों की कमी हो गई और साथ ही सिक्योरिटियों के भाव भी गिर गये, और नये शेयरों व सिक्योरिटियों का तो निकलना ही बन्द हो गया। मगर फिर भी, भारी सरकारी और निजी क़र्ज़ों के सूद का भुगतान वैसा-का-वैसा बना रहा, और क़र्ज़दार देशों के लिए उनका चुकाना महाकठिन हो गया। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का कोई दूसरा ज़रिया मयस्सर नहीं था, इसलिए सोने की खपत बढ़ गई। मगर सोना तो ग़रीब देशों से खिच-खिचकर पुख़्ता सिक्केवाले मालदार देशों में चला गया था।

लेकिन जब मन्दी का ज़ोर हुआ तो अमेरिका की मदद न तो सोने और दौलत के सारे ढेर ने की, और न उद्योगों की नई-से-नई तकनीक ने। रोज़गार के साधनों की जिस महान् भूमि में नर-नारी दूर-दूर से खिचकर आते थे, वह अब निराशा की भूमि बन गई। बड़े-बड़े व्यवसायी, जो देश पर राज करते थे, बिलकुल भ्रष्ट निकले, और साहूकारी व उद्योगों के नेताओं में लोगों का भरोसा जाता रहा। राष्ट्रपति हूवर, जो बड़े-बड़े व्यवसायियों का दोस्त था, बहुत बदनाम हो

गया, और नवम्बर, १९३२ ई० में राष्ट्रपति के पद का चुनाव हुआ, उसमें फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट ने उसे हरा दिया।

मार्च, १९३३ ई० के शुरू के दिनों में अमेरिका के बैंकों पर एक और संकट आ पड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि अमेरिका को स्वर्ण-मान छोड़ना पड़ा, और हालाँकि अमेरिका के पास सब देशों से ज़्यादा सोना था, फिर भी उसने डालर का मोल गिर जाने दिया। इसका मक़सद यह था कि उद्योगों और खेती-बाड़ी के धन्धों का बोझ हलका हो जाय, और क़र्ज़दारों को राहत मिले, बैंकों और महाजनों को भले ही नुक़सान उठाना पड़े। अमेरिका की यह कार्रवाई ब्रिटिश सरकार की उस कार्रवाई से बिलकुल उलटी थी, जो इसने भारत में, सारी भारतीय जनता के विरोध पर भी, की थी।

जून, १९३३ ई० में इस बात का एक और यत्न किया गया कि जो समस्याएँ पूँजीवादी दुनिया का गला दबोच रही थीं, उन्हें हल करने के लिए आपसी सहयोग किया जाय। लन्दन में एक विश्व आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और इसमें भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों ने 'घबराहट-ज़दा दुनिया' के बारे में चर्चाएँ कीं और चेतावनी निकाली कि "अगर यह सम्मेलन असफल रहा, तो सारा पूँजीवादी ढाँचा तड़ाक से टूट जायगा"। मगर इन चेतावनियों और ख़तरों के बावजूद भी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ आपस में सहयोग नहीं कर सकीं और सब अपनी-अपनी तरफ़ की कोशिश करती रहीं। सम्मेलन बेकार हुआ, और हर देश आर्थिक राष्ट्रवाद की अपनी अलग नीति पर चलने के लिए छोड़ दिया गया।

इंग्लैण्ड के लिए आत्म-निर्भर बनना नामुमकिन था, क्योंकि एक तो यहाँ ज़रूरत पूरी करने के लिए काफ़ी अन्न पैदा नहीं होता था, दूसरे यहाँ के उद्योगों के लिए कच्चा माल बाहर के देशों से आता था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने सारे साम्राज्य में आर्थिक राष्ट्रवाद फैलाने की कोशिश की, और सारे ब्रिटिश साम्राज्य को पौण्ड के भावों पर खड़ी हुई एक ही आर्थिक इकाई बनाना चाहा। इस विचार को सामने रखकर १९३२ ई० में ओटावा में ब्रिटिश साम्राज्य सम्मेलन का अधिवेशन किया गया। मगर यहाँ भी कठिनाइयाँ पैदा हो गईं, क्योंकि कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ़्रीका, इंग्लैण्ड के फ़ायदे के लिए किसी तरह का त्याग करने को तैयार नहीं हुए। उलटे इंग्लैण्ड को उनकी माँगें पूरी करनी पड़ीं। मगर भारत को सरकारी तौर पर मजबूर करके ब्रिटिश माल को ख़ास रियायतें देने के वास्ते राज़ी किया गया, हालाँकि भारतवासियों ने इसका कड़ा विरोध किया था। बाद की घटनाओं ने साबित कर दिया है कि ओटावा का समझौता सफल नहीं हुआ है, और इसको लेकर एक तरफ़ तो उपनिवेशों व इंग्लैण्ड के बीच, और दूसरी तरफ़ भारत व इंग्लैण्ड के बीच, काफ़ी रगड़ा-झगड़ा रहा है।

इसी दरमियान साम्राज्य के उद्योगों और मण्डियों के लिए एक नई दहशत खड़ी हो गई। सस्ती जापानी चीज़ों की हर जगह भरमार हो गई, और ये इस हद दरजे की सस्ती थीं कि महसूलों की दीवारें भी इन्हें न रोक सकीं। यह सस्ताई एक तो येन[1] का मोल गिरने के सबब से थी, और दूसरे इस सबब से थी कि जापान के कारख़ानों में काम करनेवाली लड़कियों को बहुत कम मजूरी दी जाती थी। इसके अलावा जापानी उद्योगों को सरकार रुपया देती थी, और जापानी जहाज़ कम्पनियाँ माल ढोने का बहुत कम किराया वसूल करती थीं। यह भी सच है कि जापानी उद्योग बड़ी होशियारी से चलाये जाते थे; इंग्लैण्ड के कितने ही पुराने उद्योगों में यह चीज़ नहीं थी।

जब महसूलों से जापानी माल का आना नहीं रुका, तो उसके लिए मण्डियाँ बन्द कर दी गईं, या कोटा-प्रणाली जारी कर दी गई, जिसके मुताबिक़ माल की एक बँधी हुई मिक़दार आने दी जाती थी। अगर जापान का माल इस तरह दूसरे देशों में पहुँचने से रोक दिया गया, तो जापान के भारी-भरकम उद्योगों का क्या हाल होगा? उसकी सारी अर्थ-व्यवस्था चौपट हो जायगी, और माल पहुँचाने के रास्ते तलाश करने की कोशिशों के नतीजे से आर्थिक बदले की और युद्ध तक की नौबत आ सकती है। पूंजीवाद की बेफ़ायदा होड़ के अन्दर घटनाओं का यही लाज़िमी दौर होता है।

इसी तरह अगर इंग्लैण्ड की मण्डियाँ दूसरे देशों के लिए बन्द कर दी जायँ, तो इनमें से कई देश बर्बाद हो जायँगे। बस, हम देखते हैं कि जितनी भी कार्रवाइयाँ कोई देश अपने निजी चटपट मुनाफ़े के लिए करता है, उससे दूसरे देशों को और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को चोट पहुँचती है, और आख़िरकार रगड़े-झगड़े व गड़बड़ियाँ पैदा होती हैं।

: १८९ :

स्पेन में क्रान्ति

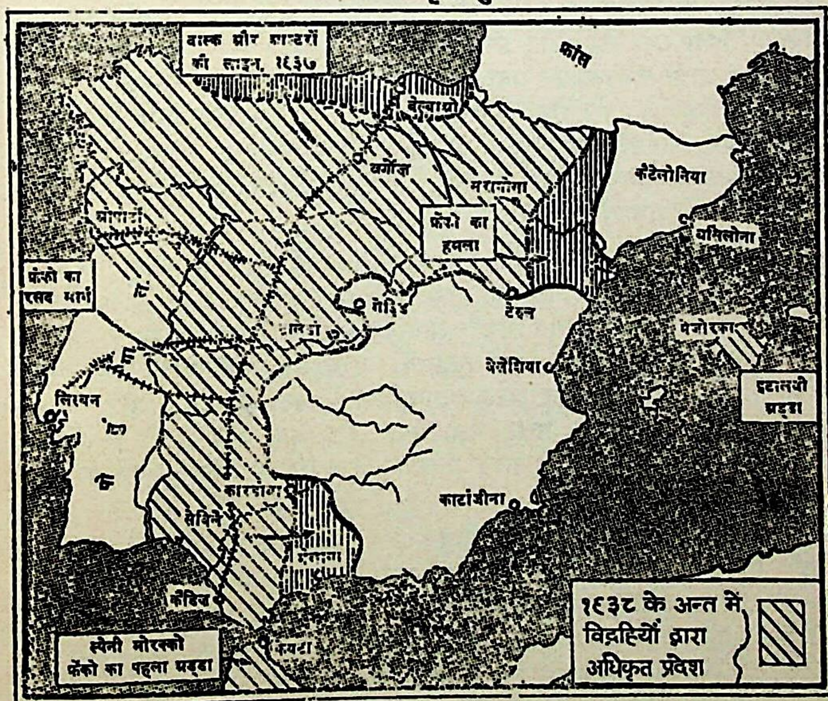
२९ जुलाई, १९३३

अब मैं तुम्हें व्यापार की मन्दी और संकट के लम्बे और दिल दुखानेवाले बयान से दूर ले चलूंगा, और हाल के ज़माने की दो मार्के की घटनाओं का ज़िक्र करूंगा। ये दो घटनाएँ हैं, स्पेन में क्रान्ति और जर्मनी में नात्सियों की शानदार जीत।

---

[1] जापान का सिक्का 'येन' कहलाता है।

स्पेन का गृह-युद्ध


फ्रांस
बर्गोज
कैटेलोनिया
बार्सिलोना
फ्रैंको का हमला
फ्रैंको का रसद मार्ग
टेरुल
वेलेंशिया
मजोरका
इटालवी अड्डा
लिस्बन
कारडोबा
सेविले
कार्टाजीना
कैडिज
स्पेनी मोरक्को फ्रैंको का पहला अड्डा
१९३८ के अन्त में विद्रोहियों द्वारा अधिकृत प्रदेश

स्पेन और पुर्तगाल यूरोप के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर हैं, और, जैसाकि हम देख चुके हैं, यूरोप के और संसार के इतिहास में इन देशों ने बड़े महत्व का हिस्सा लिया है। साम्राज्य बनाने की हौसलेबाज़ियों में इन्होंने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी, और जिस समय, उन्नीसवीं सदी में, यूरोप उद्योगों में और दूसरी बातों में तरक़्क़ी कर रहा था, ये पिछड़े हुए और पादरियों के असर में बने रहे। राष्ट्रवादी स्पेन ने नेपोलियन के ऊपर शानदार जीत हासिल की थीं, परन्तु फ़ान्स की क्रान्ति से पैदा होनेवाले विचारों से इसने फ़ायदा नहीं उठाया। फ़ान्स ने तो सामन्तशाही से अपना पिण्ड छुड़ा लिया और अपनी भूमि का बन्दोबस्त पूरी तरह बदल दिया, मगर स्पेन आधा-सामन्तशाही बना रहा। यहाँ अमीरों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें और ख़ास रियायतें थीं। रोमन कैथलिक चर्च का सिर्फ़ मज़हबी मामलों पर ही दख़ल नहीं था, बल्कि भूमि, व्यापार और शिक्षा के मामलों पर भी था। चर्च यहाँ का सबसे बड़ा ज़मींदार था और लम्बे-चौड़े पैमाने पर व्यापार चलाता था। शिक्षा पर तो उसका पूरा क़ाबू था।

स्पेन में फ़ौजी अफ़सरों की एक अलग ही जाति थी, जिसे ख़ास रियायतें मिली हुई थीं। फ़ौज में अफ़सरों की संख्या दूसरे सिपाहियों की संख्या के मुक़ाबले में बहुत ज्यादा थी; यानी सात सिपाहियों के पीछे एक अफ़सर था। दिमाग़ी लोगों में प्रगतिवादी, उदार विचारोंवाले तत्व थे; और मज़दूर-आन्दोलन, जो संघ-वादियों,[1] समाजवादियों और अराजकतावादियों में बँटा हुआ था, ज़ोर पकड़ रहा था। लेकिन असली सत्ता चर्च, सेना और अमीरों के हाथों में थी। कैटेलोनिया में और उत्तर के बास्क प्रदेश में स्वाधीनता चाहनेवाले ज़ोरदार आन्दोलन चल रहे थे।

स्पेन व पुर्तगाल दोनों में क़रीब-क़रीब निरंकुश बादशाहतें थीं, जिनमें बोदी पार्लमेण्टी सभाएँ थीं। स्पेन की सभा का नाम 'कोर्ते' था। १८६० ई० के बाद कुछ थोड़े-से वर्षों तक स्पेन में गणराज्य रहा, पर यह सफल नहीं हुआ, और बादशाह अपनी सारी पुरानी निरंकुश हुकूमत को लेकर फिर आ धमका। १८९८ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ स्पेन का जो युद्ध हुआ, उसके नतीजे से स्पेन अपना आख़िरी उपनिवेश भी खो बैठा। उसका सारा उपनिवेशी प्रदेश पड़ौस में मोरक्को के कुछ भाग में बच गया था।

पुर्तगाल के पास अफ़्रीका में अब भी बड़े-बड़े उपनिवेश हैं, और इनके अलावा गोवा, वग़ैरा भारत के ज़रा-ज़रा-से टुकड़े भी हैं। १९१० ई० में बादशाह को गद्दी से उतार दिया गया और पुर्तगाल में गणराज्य क़ायम हो गया। तबसे यहाँ बादशाहवादियों और वाम-पक्षियों दोनों के कितने ही विद्रोह होते रहे हैं।

[1] Syndicalists.

बादशाहवादी तो बादशाह को वापस लाने की कोशिशें करते रहे; और वाम-पक्षी लोग तानाशाहों और प्रतिगामी हुकूमतों से पिण्ड छुड़ाने की कोशिशों में लगे रहे। मगर फिर भी गणराज्य हुकूमत किसी-न-किसी रूप में चली आ रही है, और इसपर अक्सर फ़ौजी गुट हावी रहा है। महायुद्ध में पुर्तगाल ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया, और इसमें से वह क़र्ज़ का इतना भारी बोझ लेकर निकला कि उसके दिवालिया होने की नौबत आ गई। मौजूदा सरकार बहुत ही प्रतिगामी और नात्सियों की हिमायती है। गोवा में सब तरह की सार्वजनिक हलचलों का दमन किया जाता है, और नागरिक स्वतन्त्रता-जैसी तो कोई चीज़ ही वहाँ नहीं है।

महायुद्ध में स्पेन तटस्थ रहा, और इससे उसे बहुत फ़ायदा हुआ। उसने लड़नेवाले देशों को माल भेजा, जिससे उद्योगीकरण का विस्तार हुआ। युद्ध के बाद के वर्षों में यहाँ मन्दी, बेरोज़गारी और समाजी गड़बड़ें रहीं। इसी समय के लगभग १९२१ में, मोरक्को में रिफ़-युद्ध हुआ, जिसमें अब्दुल करीम ने स्पेनी सेना को पूरी तरह हरा दिया। पर बाद में फ़्रान्सीसी सेनाओं ने वहाँ आकर अब्दुल करीम को पूरी तरह दबा दिया, और स्पेनी मोरक्को वापस स्पेन को दिलवा दिया। मोरक्को-युद्ध के दौरान ही प्राइमो-दि-रिवेरा सामने आया और यह १९२३ ई० में विधान को मंसूख़ करके तानाशाह बन बैठा। यह छै साल तक बना रहा, पर धीरे-धीरे इसने सेना का विश्वास खो दिया, और १९२९ ई० के आर्थिक संकट के बाद इसे इस्तीफ़ा देना पड़ा। उधर इस सारे समय में बादशाह अल्फ़ोन्सो वहीं जमा रहा, और प्रतिगामी गिरोहों को मदद देता रहा और अपनी स्थिति मज़बूत करने की कोशिश में लगा रहा।

स्पेन के निवासी घोर व्यक्तिवादी हैं, और इनके प्रगतिशील गिरोह आपस में अक्सर लड़ते रहते थे। बाकुनिन के समय से स्पेन के नये मज़दूर-वर्ग पर अराजकतावादी विचारधारा का असर पड़ गया था, और अंग्रेज़ी या जर्मन ढंग के मज़दूर-संघ यहाँ लोकप्रिय नहीं हुए थे। अराजक-संघवादियों[1] ने एक मज़बूत गिरोह बना लिया था और कैटेलोनिया में इनका ज्यादा ज़ोर था। उदार-लोकतन्त्रवादी दल, समाजवादी दल और छोटा-सा मगर बढ़ता हुआ साम्यवादी दल, यहाँ के दूसरे प्रगतिशील गिरोह थे। ये सारे गिरोह गणराज्य के हामी थे। प्राइमो-दि-रिवेरा की तानाशाही ने इन सारे गणराज्य-गिरोह को इकट्ठा कर दिया और वे आपस में सहयोग करने लगे।

१९३१ ई० के म्यूनिसिपल चुनावों में इन्हें कामयाबी मिली। इन चुनावों में गणराज्यवादियों की जीत ने सारे विरोधियों पर झाड़ फेर दी। यह चीज़ बादशाह

[1] Anarcho-syndicalists.

को (जो बोर्बन व हैप्सबर्ग दोनों राजवंशों का था) दहलाने के लिए काफ़ी थी और वह जल्दी से देश छोड़कर भाग गया। गणराज्य का ऐलान कर दिया गया, और १४ अप्रैल, १९३१ ई० को कामचलाऊ सरकार क़ायम हो गई। यह क्रान्ति बिना खून-ख़राबी की क्रान्ति थी।

स्पेन की इस क्रान्ति में और मार्च, १९१७ ई० की पहली रूसी क्रान्ति में निराली समानता दिखाई देती है। रूस की ज़ारशाही-सरीखी पुरानी बादशाहत इतनी खस्ता-हाल हो चुकी थी कि विरोधियों के मुक़ाबले की कोशिश तक न कर सकी और ग़ारत हो गई। दोनों क्रान्तियाँ सामन्तशाही का सफ़ाया करने और भूमि के बन्दोबस्त को बदलने की बहुत देर से की गई कोशिशें थीं; और इसके लिए खास दबाव ग़रीबी के मारे हुए किसान-वर्ग की तरफ़ से पड़ा था। स्पेन में तो चर्च की सत्ता इतनी ज़बर्दस्त बोझ महसूस की जा रही थी, जितनी रूस में भी नहीं थी। दोनों क्रान्तियों से ऐसी डाँवाँडोल हालतें पैदा हो गईं, जिनमें अलग-अलग वर्ग अलग-अलग दिशाओं में खींचतान कर रहे थे। दक्षिण-पक्ष और ठेठ वाम-पक्ष दोनों की तरफ़ से बार-बार बलवे हुए। रूस में इस डाँवाँडोल हालत की वजह से नवम्बर की क्रान्ति हुई; स्पेन में यह हालत अभी तक चल रही है।

स्पेन के नये संविधान के कुछ दिलचस्प पहलू थे। इसमें सिर्फ़ एक सदन 'कोर्ते' रक्खा गया है और सारे बालिग़ नर-नारियों को वोट देने का हक़ है। एक निराली बात यह रक्खी गई है कि राष्ट्र-संघ की मंजूरी के बिना राष्ट्रपति युद्ध का ऐलान नहीं कर सकता। राष्ट्र-संघ में दर्ज किये जानेवाले जितने इक़रार-नामों को स्पेन मान लेता है, वे सब-के-सब फ़ौरन स्पेन के क़ानून बन जाते हैं, और अगर यहाँ कोई ऐसा साफ़-साफ़ क़ानून बन भी चुका हो, जो इनके ख़िलाफ़ पड़ता हो, तो वह रद्द हो जाता है।

नये गणराज्य की सरकार वाम-पक्षी-उदार-नीतिवादी लोकतन्त्री सरकार मानी जाती है, जिसमें समाजवाद का भी कुछ पुट है। यहाँ का प्रधान मन्त्री और सरकार का तेज़ आदमी मन्युअल अज़ाना था। इस सरकार को फ़ौरन ही भूमि, चर्च और फ़ौज से ताल्लुक़ रखनेवाली कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा था। इनके बारे में कोर्ते ने बहुत ही महत्व के क़ानून पास किये थे, मगर अमल में कुछ ज्यादा नहीं किया गया। मसलन क़ानून में यह इन्तज़ाम था कि कोई भी व्यक्ति या कुटुम्ब आबपाशी की ज़मीन के पच्चीस एकड़ से ज्यादा का मालिक नहीं हो सकता था, और इस ज़मीन को भी वह तभी तक रख सकता था जबतक कि उसमें खेती करता रहे। मगर अमल में सारी बड़ी-बड़ी जागीरें क़ायम रहीं। हाँ, बादशाह की और कुछेक बाग़ी सरदारों की जागीरें ज़ब्त कर ली गईं।

कोर्तें ने चर्च की जायदाद को राष्ट्र की मिल्कियत क़रार दिया, मगर इसपर भी अमल नहीं किया गया। शिक्षा के मामले में चर्च पर लगाई गई कुछ पाबन्दियों के अलावा, उसकी आज़ादी में कोई दखल नहीं दिया गया। फ़ौजी अफ़सरों की कुछ रियायतें छीन ली गईं, और इनमें से बहुतों को बड़ी अच्छी-अच्छी पेंशनें देकर घर बिठा दिया गया।

१९३२ ई० में कैटेलोनिया में अराजक-संघवादियों का बलवा हुआ, जिसे सरकार ने दबा दिया। इसी साल के अन्त में दक्षिण-पक्षवालों का भी एक बलवा हुआ, जो शुरू होते ही खत्म हो गया।

शुरू के इन वर्षों में नये गणराज्य का लेखा बहुत तारीफ़ के क़ाबिल था, खासकर शिक्षा के मामले में। भूमि की समस्या को हल करने के लिए और मज़दूरों की हालत सुधारने के लिए भी कुछ किया गया था। पर भूमि के बन्दोबस्त में सुधार की रफ़्तार बहुत धीमी रही है, और किसान-वर्ग उससे नाखुश है। इधर जमे हुए स्वार्थों-वाले और प्रतिगामी तत्व अभी तक मज़बूती के साथ डटे हुए हैं और गणराज्य के लिए खतरा बन रहे हैं। उदारवादी सरकार ने इनके साथ मुलायम बर्ताव किया है।

टिप्पणी—(नवम्बर, १९३८ ई०)

१९३३ ई० के साल में स्पेन के प्रतिगामी तत्वों ने मिलकर अपनी हैसियत मज़बूत बना ली, और उस साल जो चुनाव हुए, उनमें इन दक्षिण-पक्षवालों के शामिल दल ने बहुमत हासिल कर लिया। इससे राज्यसत्ता एक प्रतिगामी सरकार के हाथों में आ गई और इस सरकार ने काश्तकारी सुधार रोक दिये, चर्च की ताक़त बढ़ा दी, और पिछली सरकार ने जो कुछ किया था, उसके बहुत-से हिस्से पर पानी फेर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रतिगामी हरकतों का मुक़ाबला करने के लिए सारे वाम-पक्षी गिरोह एक हो गये। अक्तूबर, १९३४ ई० में सारे स्पेन में दंगे हुए, पर सरकार इन्हें ठण्डा करने में और वाम-पक्षियों को दबाने में कामयाब हो गई। लेकिन वाम-पक्षी दल अपनी जड़ें जमाते रहे, और उन्होंने उदार-पन्थियों, समाजवादियों, अराजकतावादियों और साम्यवादियों का एक मिला-जुला 'लोकप्रिय मोर्चा' खड़ा कर लिया। फ़रवरी, १९३६ ई० में कोर्तें के चुनावों में यह लोकप्रिय मोर्चा विजयी हुआ और एक नई सरकार क़ायम हो गई। अब ऐसा मालूम होने लगा कि यह सरकार भूमि की समस्या को हल करने के लिए और चर्च की ताक़त पर लगाम लगाने के लिए ज़ोरदार क़दम उठायेगी, और जमे हुए स्वार्थों की तरफ़ इतनी नर्म नहीं रहेगी, जितनी कि पिछली उदार-दली हुक़ूमत रही थी। इसलिए विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी, और प्रतिगामी दलों ने हमला करने की ठान ली। इन्होंने मुसोलिनी और जर्मनी के नात्सियों का सहारा भी ढूंढ़ लिया।

जुलाई, १९३६ ई० में, जनरल फ़्रैन्को ने स्पेनी मोरक्को में मूरों की फ़ौज की मदद से बग़ावत शुरू कर दी। इस फ़ौज को यह भरोसा दिया गया था कि स्पेनी मोरक्को स्वाधीन कर दिया जायगा। फ़ौजी अफ़सरों ने और ज़्यादातर सिपाहियों ने फ़्रैन्को का साथ दिया, और सरकार अपने बचाव में असमर्थ नज़र आने लगी। इसपर सरकार ने जनता को आदेश दिया कि अगर लोगों को और कोई चीज़ मुहैया न हो तो घूंसों से ही लड़ें। जनता ने, खासकर मैड्रिड और बार्सिलोना की जनता ने, इस आदेश पर मुस्तैदी से अमल किया। सरकार और गणराज्य को तो आँच नहीं आई, पर फ़्रैन्को ने स्पेन के बड़े-बड़े हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

उस समय से यह घरेलू-युद्ध बराबर चला आ रहा है। क्योंकि फ़्रैन्को फ़्रैंको इटली व जर्मनी से बहुत काफ़ी मदद मिल रही है। उन्होंने इसे बड़ी-बड़ी फ़ौजें, हवाई-जहाज़ और हवाबाज़, और गोला-बारूद का सामान भेजा है। गणराज्य के पास भी मदद के लिए विदेशी स्वयंसेवक हैं, मगर साथ ही उसने स्पेन की एक नई शानदार फ़ौज भी खड़ी कर ली है। ब्रिटिश और फ़्रान्सीसी सरकारों ने कह दिया है कि वे तो बीच में न पड़ने की नीति पर अमल करती है, लेकिन नतीजे में यह नीति फ़्रैन्को की मददगार हो रही है।

स्पेन का यह युद्ध दिल दहलानेवाली कार्रवाइयों से भरा हुआ है। फ़्रैन्को के भाड़ैती जर्मन व इतालवी हवाई-जहाज़ों ने बेपनाह नगरों और नागरिकों पर जो हवाई बमबारी की है, उससे बेशुमार आदमी मारे गये हैं। मैड्रिड की रक्षा की कहानी तो मशहूर हो गई है। इन दिनों फ़्रैन्को ने तीन-चौथाई स्पेन पर क़ब्ज़ा कर रक्खा है, लेकिन गणराज्य ने, जो फ़ौजी लिहाज़ से मज़बूत है, उसे आगे बढ़ने से अच्छी तरह रोक दिया है। गणराज्य को सबसे बड़ी दिक्क़त अन्न की कमी की है।

यह माना जाता है कि स्पेन का युद्ध महज़ राष्ट्रीय झगड़ा नहीं है, बल्कि कोई बहुत बड़ी चीज़ है। यह लोकतन्त्र और फ़ासीवाद की लड़ाई का नमूना बन गया है, और सारी दुनिया के लोगों का ध्यान और हमदर्दी खींच रहा है।

: १९० :

जर्मनी में नात्सियों की विजय

२१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति से कुछ लोगों को अचम्भा हुआ, पर वास्तव में इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। यह तो घटनाओं के क़ुदरती सिलसिले के मुताबिक़ हुई थी, और ग़ौर से देखनेवाले जानते थे कि यह टल नहीं सकती थी। बादशाह-सामन्त-शाही-चर्च के पुराने ढाँचे में घुन लग चुका था, और वह बिलकुल कमज़ोर हो गया

था। यह आज की हालतों से बिलकुल मेल नहीं खाता था, लिहाज़ा पके फल की तरह ज़रा से तल्ले से नीचे गिर पड़ा। भारत में भी बीते युग के ऐसे बहुत-से सामन्ती मुर्दे अभी तक हैं; अगर विदेशी शक्ति इन्हें सहारा न लगाती रहे, तो शायद ये भी बहुत जल्दी मिट जायँ।

मगर जर्मनी में जो परिवर्तन हाल ही में हुए हैं, वे बिलकुल जुदा क़िस्म के हैं, और इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने यूरोप को हिला दिया है और बहुत लोगों के होश गुम कर दिये हैं। जर्मनों-जैसी सुसंस्कृत और खूब आगे बढ़ी हुई क़ौम ऐसी हैवानी और वहशियाना कार्रवाइयाँ कर सकती है, यह जानकर हैरत होती है।

हिटलर और उसके नात्सी दल की जर्मनी में पूरी फ़तह हो गई है। इन्हें फ़ासीवादी कहा जाता है और इनकी जीत को उलट-क्रान्ति की जीत माना जाता है। यानी इसने १९१८ ई० की जर्मन क्रान्ति पर और उसके नतीजों पर पानी फेर दिया है। ये सब बातें बिलकुल सही हैं। हिटलरशाही में तुम्हें फ़ासीवाद के सारे लक्षण दिखाई देंगे, और साथ ही इसमें एक प्रगति का तेज़ विरोध, और तमाम उदार-पन्थी तत्वों पर और खासकर मज़दूरों पर, वहशियाना हमला भी मिलेगा। मगर फिर भी यह महज़ प्रगति के विरोध में कोई बहुत बड़ी चीज़ है, जो इतालवी फ़ासीवाद से ज़्यादा कुशादा है और जो जनता की भावनाओं पर ज़्यादा टिकी हुई है। यह जन-भावना मज़दूर-वर्ग की भावना नहीं है, बल्कि उस भूखों मरते, महरूम मध्यम-वर्ग की है, जो क्रान्तिकारी बन गया है।

इटली के बारे में एक पिछले पत्र में मैंने फ़ासीवाद की चर्चा की थी, और बतलाया था कि इसका उदय तब हुआ जब आर्थिक संकट के ज़माने में पूंजीवादी राज्य को समाजी क्रान्ति का खतरा हो गया था। मिल्कियतवाले पूंजीपति-वर्ग ने निचले मध्यम-वर्ग के बीज पर जन-आन्दोलन खड़ा करके अपने बचाव की कोशिश की, और भोले-भाले किसानों व मज़दूरों को फाँसने के लिए गुमराह करनेवाले पूंजीवाद-विरोधी नारे काम में लिये। लेकिन सत्ता छीनने और राज्य की बाग-डोर हथियाने के बाद वे तमाम लोकतन्त्री संस्थाओं को उखाड़ फेंकते हैं, अपने शत्रुओं को कुचल डालते हैं, और मज़दूरों के सारे संगठनों को तो खासतौर पर नष्ट कर देते हैं। इस तरह उनकी हुकूमत का सबसे बड़ा आधार डण्डे के ज़ोर पर होता है। मध्यम-वर्गी समर्थकों को नये राज्य में कुछ नौकरियाँ दे दी जाती हैं, और उद्योगों पर कुछ हद तक राज्य का इख्तियार हो जाता है।

यह तमाम चीज़ें हम जर्मनी में होती हुई पाते हैं, और इसके आसार भी नज़र आ रहे थे। लेकिन इसके पीछे जो ज़बर्दस्त उकसाहट है, और हिटलर के साथ जो इतने सारे लोग हो लिये हैं, यह अचम्भे में डालनेवाली चीज़ है।

यह नात्सी उलट-क्रान्ति मार्च, १९३३ ई० में हुई। पर इस आन्दोलन की शुरुआत देखने के लिए मैं तुम्हें कुछ पीछे ले चलूँगा।

१९१८ ई० की जर्मन-क्रान्ति धोखे की टट्टी थी; यह तो क्रान्ति थी ही नहीं। कैसर चला गया और गणराज्य का ऐलान कर दिया गया; पर पुराना राजनीतिक, समाजी व आर्थिक ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहा। कुछ वर्षों तक हुकूमत की बागडोर समाजी लोकतन्त्रवादियों के हाथों में रही। ये लोग पुराने प्रतिगामी और निहित स्वार्थों से बहुत डरते थे, और सदा उन्हें मनाने की कोशिश में रहते थे। अपने दल में इनके पीछे ज़बर्दस्त शक्तिवालों का संगठन था, जिसके लाखों सदस्य थे, और मज़दूर-संघ भी इनके पीछे थे। इसके अलावा दूसरे बहुत-से लोगों की हमदर्दी भी उनके साथ थी। मगर प्रतिगामी तत्वों के मुक़ाबले में इनकी नीति सदा बचाव करने की रही; इनका हमलावर रुख़ तो सिर्फ़ अपने ही तेज़ तबके और साम्यवादी दल के लिए था। इन्होंने अपने काम में इतना घोटाला किया कि बहुत-से समर्थकों ने इनका साथ छोड़ दिया। इन्हें पीठ दिखानेवाले मज़दूर लोग तो साम्यवादी दल में जा मिले, जो लाखों सदस्यों की वजह से बड़ा ताक़तवर बन गया; और मध्यम-वर्गी समर्थक इन्हें छोड़कर प्रतिगामी दलों में शामिल हो गये। समाजी लोकतन्त्रवादियों और साम्यवादियों के बीच बराबर लड़ाई चलती रही, जिससे दोनों कमज़ोर हो गये।

युद्ध के बाद के वर्षों में जर्मनी में जब सिक्के का खूब फैलाव हुआ, तो यहाँ के उद्योगपतियों और बड़े-बड़े ज़मींदारों ने इसे पसन्द किया। जिन ज़मींदारों पर भारी-भारी क़र्ज़े थे और जिनकी जागीरें रेहन पड़ी हुई थीं, उन्होंने इस फूले हुए सिक्के में, जिसकी कोई क़ीमत नहीं थी, अपने क़र्ज़े चुका दिये, और अपनी जागीरें फिर हासिल कर लीं। बड़े-बड़े कारखानेदारों ने अपनी मशीनें बढ़ा लीं, और बड़े-बड़े शामिल कारोबार खड़े कर लिये। जर्मन माल इतना सस्ता हो गया कि हर मण्डी में हाथों-हाथ बिकने लगा, और बेरोज़गारी मिट गई। मज़दूर-वर्ग मज़दूर-संघों में मज़बूती से बँधा आ था, और मार्क का भाव गिरने पर भी उसने अपनी मजूरियाँ कम नहीं होने दीं। सिक्के के फैलाव की मार मध्यम-वर्ग पर पड़ी और वह बिलकुल मुफ़लिस हो गया। १९२३-२४ ई० का यही महरूम-वर्ग सबसे पहले हिटलर के साथ हुआ। बैंकों के दिवालों से और बेरोज़गारी बढ़ने से ज्यों-ज्यों मन्दी ने ज़ोर पकड़ा, त्यों-त्यों दूसरे बहुत लोग हिटलर के साथ होते गये। वह बेज़ारों का आसरा बन गया। एक और बड़ा वर्ग, जिसमें हिटलर को बहुत-से चेले मिले, पुरानी फ़ौज के अफ़सरों का था। यह फ़ौज युद्ध के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के मुताबिक़ तोड़ दी गई थी। इसलिए इसके हज़ारों अफ़सर बेरोज़गार हो गये थे और ठाली बैठे थे। ये उन तरह-तरह की खानगी फ़ौजों में भरती हो गये, जो उस वक़्त तैयार

हो रही थीं। उनमें एक तो 'तूफ़ानी सिपाही' (Storm Troops) कहलानेवालों की नात्सी फ़ौज थी, और दूसरी राष्ट्रवादियों की 'फ़ौलादी टोप' (Steel Helmcts) नाम की फ़ौज थी, जो कैसर की वापसी का समर्थन करनेवाले कट्टर-पन्थियों की थी।

यह एडोल्फ़ हिटलर कौन था ? ताज्जुब की बात है कि सत्ता हथियाने के एक-दो वर्ष पहले तक यह जर्मन नागरिक भी नहीं था। यह ऑस्ट्रिया-निवासी जर्मन था, जो युद्ध में एक मामूली सिपाही की हैसियत से लड़ा था। इसने जर्मन गणराज्य के खिलाफ़ एक बेकार-से बलवे में भाग लिया था, और हालाँकि इसे क़ैद की सज़ा दी गई थी, पर अधिकारियों ने इसके साथ नर्मी का बर्ताव किया था। तब इसने अपना 'राष्ट्रीय समाजवादी' दल तैयार किया, जिसका मक़सद समाजी लोकतन्त्रवादियों का विरोध करना था। नात्सी शब्द राष्ट्रीय समाजवादी दल के जर्मन नाम के दो टुकड़ों (National Socialist) को मिलाकर बनाया गया है। हालाँकि यह दल समाजवादी कहलाता था, पर समाजवाद से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था। समाजवाद के नाम से आमतौर पर जो-कुछ समझा जाता है, हिटलर उसका जानी दुश्मन था और है।[1] नात्सी दल ने स्वस्तिक को अपना चिह्न बनाया। यह संस्कृत का शब्द है, पर स्वस्तिक का चिह्न संसार-भर में प्राचीन काल से खूब मशहूर है। तुम जानती हो कि इस चिह्न को भारत में भी सब जानते हैं; और यह अच्छे सगुन का चिह्न माना जाता है। नात्सियों ने 'तूफ़ानी सिपाहियों' का लड़ाकू दल तैयार किया, जिनकी वर्दी भूरा कुर्ता थी। इसलिए नात्सियों को अक्सर 'भूरे कुर्त्ते' भी कहा जाता है, जिस तरह कि इटली के फ़ासीवादी 'काले कुर्त्ते' कहलाते हैं।

नात्सियों का कार्यक्रम न तो साफ़ था और न ठोस। यह घोर राष्ट्रवादी था, और जर्मनी व जर्मनों की महानता पर ज़ोर देता था। बाक़ी तो यह तरह-तरह की नफ़रतों की खिचड़ी था। यह वर्साई की सन्धि का विरोधी था, और उसे जर्मनी के लिए ज़लालत मानता था। इससे बहुत लोग खिचकर नात्सी दल में आ मिले थे। यह कार्य-क्रम मार्क्सवाद-साम्यवाद-समाजवाद-विरोधी था और कामगरों के मज़दूर-संघों वग़ैरा के खिलाफ़ था। यह यहूदी-विरोधी भी था, क्योंकि यहूदियों को ऐसी अजनबी नस्ल का माना जाता था, जो 'आर्यन' जर्मन नस्ल के ऊँचे दस्तूरों को भ्रष्ट करनेवाली और गिरानेवाली थी। कुछ गोलमोल तरीक़े पर यह पूँजीवाद का भी विरोधी था, पर यह विरोध मुनाफ़ाखोरों और मालदारों को गालियाँ देने

[1] तीसरे महायुद्ध में जर्मनी की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

तक ही था। जिस समाजवाद की वह ज़रा ढाली-ढाली बातें करता था, उसका मतलब सिर्फ़ यह था कि कुछ मामलों में राज्य का दखल हो।

इन तमाम बातों के पीछे हिंसा की एक अजीब फ़िलासफ़ी थी। यही नहीं कि हिंसा की सिर्फ़ बड़ाई की जाती हो और उसे बढ़ावा दिया जाता हो, बल्कि यह माना जाता था कि हिंसा इन्सान का सबसे बड़ा फ़र्ज़ है। ओस्वाल्ड स्पैंगलर नामक मशहूर जर्मन दार्शनिक इस फ़िलासफ़ी का व्याख्याकार है। इसने लिखा है कि आदमी "बहादुर, छली और बेरहम शिकारी जानवर" है।... "आदर्श कायरता की निशानी है।"... "शिकारी जानवर चलने-फिरनेवाले जीवों में सबसे ऊँचा है।" वह "हमदर्दी और मेल-मिलाप और चुप्पी की पोपली भावना" का ज़िक्र करता है, और कहता है कि "शिकारी जानवर की सारी नस्ली भावनाओं में सबसे ज़्यादा असली भावना नफ़रत है।" आदमी को सिंह-जैसा होना चाहिए, जो अपनी माँद में अपने बराबरवाले को कभी नहीं रहने देता। उसे दब्बू गाय-जैसा नहीं होना चाहिए, जो झुण्डों में रहती है और इधर-से-उधर हाँकी जाती है। ऐसे आदमी के लिए युद्ध ही सबसे आला धन्धा और आनन्द होता है।

ओस्वाल्ड स्पैंगलर आज के सबसे बड़े विद्वानों में गिना जाता है; इसकी लिखी हुई पुस्तकों में इतना ज्ञान भरा है कि ताज्जुब होता है। और इस सारे बड़े भारी ज्ञान से वह इन हैरतभरे और नफ़रतभरे नतीजों पर पहुँचा है। मैंने इसके शब्द यहाँ इसलिए दिये हैं कि, वे हमें हिटलरशाही के पीछे काम करनेवाली भावना को समझने में मदद करते हैं और नात्सियों के राज में होनेवाली बेरहमी और हैवानियत पर रोशनी डालते हैं। अलबत्ता यह खयाल नहीं करना चाहिए कि हरेक नात्सी के ऐसे ही विचार हैं। पर नात्सियों के नेताओं और सरगर्म लोगों के ऐसे ही विचार हैं, और इनके पिछलग्गू इन्हीं की नक़ल करते हैं। शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि औसत नात्सी तो कुछ सोचता ही नहीं था। उसकी भावनाएँ उसकी अपनी कम्बख्ती से और राष्ट्र के अपमान से भड़क उठी थीं (रूर पर फ़्रान्सीसियों के क़ब्ज़े से सारे जर्मनी में बहुत सख्त नाराज़ी थी), और जो कुछ हो रहा था उसपर वह गुस्से में भरा हुआ था। हिटलर बड़ा ज़ोरदार बोलनेवाला है। उसने बड़ी-बड़ी सभाओं में लोगों की भावनाओं को उभाड़ा, और जो कुछ हो रहा था, उस सबका इलज़ाम मार्क्सवादियों और यहूदियों पर थोप दिया। अगर फ़्रान्स या बाहर के दूसरे देश जर्मनी के साथ बुरा बर्ताव करते थे, तो इसकी वजह से और भी ज़्यादा लोग नात्सी-दल में शामिल हो जाते थे, क्योंकि वे समझते थे कि जर्मनी की इज़्ज़त नात्सी लोग ही बचा सकेंगे। इसी तरह जब आर्थिक संकट ज़्यादा विकट हुआ, तो लोग धड़ाधड़ नात्सीदल में भरती होने लगे।

सरकार पर समाजी लोकतन्त्रवादी दल का क़ब्ज़ा बहुत जल्दी जाता रहा, और दूसरे गिरोहों की आपसी लाग-डाँटों के कारण, कैथलिक केन्द्र दल के हाथों में सत्ता आ गई। रीख़स्टाग (जर्मनी की पार्लमेण्ट) में कोई भी दल इतना ज़ोरदार नहीं था कि दूसरों को दरगुज़र कर सकता, इसलिए चुनाव और साज़िशें और दलगत पैंतरेबाज़ियाँ नित्य होती रहती थीं। नात्सियों की ताक़त बढ़ने से समाजी लोकतन्त्रवादी तो इतने डर गये कि उन्होंने पूंजीपतियों के 'केन्द्र दल' का, और राष्ट्रपति के पद के चुनाव के लिए बूढ़े सेनापति फ़ॉन हिण्डनबर्ग का समर्थन किया। नात्सियों की ताक़त बढ़ने के बावजूद मज़दूरों के दो दल, यानी समाजी, लोकतन्त्रवादी दल और साम्यवादी दल, ज़ोरदार थे, और अन्त तक इनका साथ देनेवाले बीसियों लाख लोग थे। पर ये दोनों दल समान ख़तरे के सामने भी आपस में सहयोग नहीं कर सके। १९१८ ई० से आगे, अपनी सत्ता के दिनों में, समाजी लोकतन्त्रवादियों ने साम्यवादियों को जिन अत्याचारों का शिकार बनाया था, और संकट की हर घड़ी में उन्होंने जिस तरह प्रतिगामी गिरोहों का साथ दिया था, उसकी कड़वी याद साम्यवादियों के दिलों में बनी हुई थी। दूसरी तरफ़ समाजी लोकतन्त्रवादी दल, जो दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ में ब्रिटिश मज़दूर दल का साथी था, इसी-जैसा मालदार और फैला हुआ संगठन था, जिसके ढेरों सरपरस्त थे। यह अपनी सलामती और अपने पद को ख़तरे में डालनेवाली कोई जोखम नहीं उठाना चाहता था। यह दल क़ानून के ख़िलाफ़ कोई भी काम करने से, या सीधी कार्रवाई कहे जानेवाले किसी भी मामले में फँसने से बहुत डरता था। इसने अपनी ज़्यादातर शक्ति साम्यवादियों से भिड़ने में ख़र्च कर दी थी। और तुर्रा यह है कि ये दोनों दल एक ही क़िस्म के मार्क्सवादी थे।

बस, जर्मनी बराबर वज़नवाली ताक़तों की एक हथियारबन्द छावनी बन गया, और यहाँ हर बार दंगे होते थे और हत्याएँ होती थीं। नात्सियों के हाथों साम्यवादी मज़दूरों की हत्याएँ ख़ासतौर पर होती रहती थीं। कभी-कभी मज़दूर लोग भी अपना बदला निकालते थे। हिटलर बड़ी ख़ूबी के साथ ऐसी बेमेल भीड़ को जोड़े रहा, जिसके जुदा-जुदा तत्वों में कोई भी ऐसी बात नहीं थी, जिसमें वे एकमत हों। यह मध्यम वर्ग का, एक तरफ तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों के साथ, और दूसरी तरफ़ आसूदा किसान-वर्ग के साथ, विचित्र गठ-बन्धन था। उद्योगपतियों ने हिटलर को इसलिए सहायता दी तथा पैसा दिया कि वह समाजवाद को गालियाँ देता था, और बढ़े चले आनेवाले मार्क्सवाद या साम्यवाद के ख़िलाफ़ अकेला क़िला नज़र आता था। उधर ग़रीब मध्यम-वर्ग और किसान-वर्ग और कुछ मज़दूर तक भी इसके पूंजीपति-विरोधी नारों की वजह से इसकी तरफ़ खिंच गये।

१९३३ ई० की ३० जनवरी को बूढ़े राष्ट्रपति ने (उस समय इसकी उम्र

छियासी वर्ष की थी) हिटलर को चैन्सलर बनाया। जर्मनी में यह सबसे ऊंचा कार्यपालक ओहदा है, जो प्रधानमन्त्री की बराबरी का है। नात्सियों और राष्ट्रवादियों के बीच गठ-बन्धन हो गया था, पर यह बहुत जल्दी ज़ाहिर हो गया कि सारी बागडोर नात्सियों के हाथों में थी, और दूसरे किसी की कोई गिनती नहीं थी। आम चुनावों में नात्सियों और इनके साथी राष्ट्रवादियों का रीखस्टाग में नाम-मात्र का बहुमत हो गया। लेकिन अगर यह बहुमत न भी होता तो भी कोई ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि नात्सियों ने पार्लमेण्ट में अपने विरोधियों को गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया। इस तरह सारे-के-सारे साम्यवादी सदस्य और बहुत-से समाजी लोकतन्त्रवादी सदस्य रास्ते से हटा दिये गए। ठीक इसी समय रीखस्टाग-भवन में आग लग गई, और वह जलकर राख हो गया। नात्सियों ने कहा कि यह साम्यवादियों का काम था और राज्य की जड़ काटने की साज़िश थी। साम्य-वादियों ने इसका ज़ोरों से खण्डन किया। इतना ही नहीं उन्होंने तो नात्सी नेताओं पर इलज़ाम लगाया कि इन्होंने साम्यवादियों पर हमला करने का बहाना ढूंढने के लिए खुद ही आग लगाई थी।

इसके बाद सारे जर्मनी में नात्सियों का 'भूरा आतंक' शुरू हो गया। सबसे पहले तो पार्लमेण्ट भंग की गई (हालाँकि इसमें नात्सियों का बहुमत था), और सारी सत्ता हिटलर और उसके मन्त्रिमण्डल के हवाले कर दी गई। ये क़ानून बना सकते थे, और जो मन में आये सो कर सकते थे। गणराज्य का वाइमार संविधान रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया, और लोकतन्त्र के सारे रूपों का खुला तिरस्कार किया गया। जर्मनी एक क़िस्म का संघ था; इसे भी ख़त्म कर दिया गया और सारी सत्ता सिमटकर बर्लिन में आ गई। हर जगह तानाशाह मुक़र्रर कर दिये गए, और हरेक तानाशाह सिर्फ़ अपने ऊपरवाले तानाशाह के प्रति जिम्मेदार था; और हिटलर तो तानाशाहों का सरताज था ही।

इधर तो ये परिवर्तन हो रहे थे, उधर नात्सी तूफ़ानी सिपाही सारे जर्मनी में खुले छोड़ दिये गए थे। इन सिपाहियों ने मार-काट और आतंक का निहायत वहशियाना और हैवानी राज शुरू कर दिया। यह अपने ढंग की निराली चीज़ थी। आतंक की कार्रवाइयाँ पहले भी हुई थीं—मसलन 'लाल आतंक', 'श्वेत आतंक', वग़ैरा—पर ये तभी हुई थीं जबकि किसी देश या सत्ताधारी गिरोह को घरेलू-युद्ध में अपनी ज़िन्दगी के लिए लड़ना पड़ा था। आतंक की कार्रवाई भयंकर खतरे और हर वक़्त के डर की जवाबी तासीर का नतीजा होती है। पर नात्सियों के सामने ऐसा कोई खतरा नहीं था, न उन्हें डरने का कोई सबब था। हुकूमत की बागडोर उनके हाथों में थी, और हथियारों से उनका विरोध या मुक़ाबला करनेवाला कोई नहीं था। इसलिए यह 'भूरा आतंक' जुनून या डर की नतीजा नहीं था, बल्कि

उन सब लोगों का इरादतन, जल्लादाना और अनहोना-सा हैवानी दमन था, जो नात्सियों की क़तार में शामिल नहीं होते थे।

नात्सियों के सत्ता हथियाने के समय से जो-जो अत्याचार होते आये हैं, और परदे के पीछे अभी तक होते रहते हैं, उनकी सूची देने से कोई मतलब हासिल नहीं होगा। जर्मनी में बड़े ज़बर्दस्त पैमाने पर वहशियाना पिटाइयाँ और सख्त मार, और गोली-काण्ड और हत्याकाण्ड हुए हैं, और मर्द व औरतें दोनों इनके शिकार बने हैं। बेशुमार लोगों को जेलों में या नज़रबन्दी की छावनियों में डाल दिया गया है, और कहते हैं कि इनके साथ बड़ा बुरा सलूक किया जाता है। साम्यवादियों पर सबसे ख़ूँख़्वार हमला किया गया है, मगर ज़्यादा नर्म समाजी लोकतन्त्रवादियों के साथ भी कोई रियायत नहीं की गई है। नात्सी लोग यहूदियों के तो हाथ धोकर पीछे पड़े हैं, और शान्तिवादियों, उदार नीतिवादियों, मजदूर-संघियों, अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों, वग़ैरा पर भी वार कर रहे हैं। नात्सी लोग पुकार-पुकार कर कहते हैं कि यह तो मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों को ही नहीं बल्कि पूरे 'वाम-पक्ष' को जड़-मूल से मिटाने का युद्ध है। यहूदियों को तमाम नौकरियों और पेशों से भी हटाया जाना चाहिए। हज़ारों यहूदी प्रोफ़ेसर, अध्यापक, गवैये, वकील, जज, डॉक्टर, और नर्सें निकाल बाहर किये गए हैं। यहूदी दूकानदारों का बायकाट कर दिया गया है, और यहूदी मज़दूर कारख़ानों से निकाल दिये गए हैं। जिन पुस्तकों को नात्सी लोग पसन्द नहीं करते, उनके ढेर-के-ढेर नष्ट कर दिए गए हैं और सरे-आम होलियाँ जलाई गई हैं। ज़रा-सा भी मतभेद या आलोचना करनेवाले अख़बारों का बेदर्दी से गला घोंट दिया गया है। आतंक-राज के कोई समाचार नहीं छप सकते और इसके बारे में काना-फूँसी तक करनेवालों को सख़्त सज़ाएँ दी जाती हैं। तमाम संगठनों और दलों को दबा दिया गया है, सिवा नात्सी दल के। इसे तो दबाया ही कैसे जाता? सबसे पहला वार साम्यवादी-दल पर हुआ, फिर समाजी लोकतन्त्रवादी-दल पर, उसके बाद कैथलिक केन्द्रीय दल का नम्बर आया, और अन्त में नात्सियों के मददगार-साथी राष्ट्रवादियों तक को भी नहीं बख़्शा गया। जर्मन मज़दूरों के ज़बर्दस्त संघ, जो मज़दूरों की कई पीढ़ियों की मेहनत और बचत और क़ुर्बानियों के फल थे, तोड़ दिये गए, और उनके फण्ड और उनकी जायदादें ज़ब्त कर ली गईं। सिर्फ़ एक ही दल, एक ही संगठन, रह सकता था—यह था नात्सी-दल।

विचित्र नात्सी फ़िलासफ़ी हरेक के गले में ज़बर्दस्ती उतारी जाती है, और 'आतंक' का डर इतना छाया हुआ है कि कोई सिर तक नहीं उठा सकता। शिक्षा, रंग-मंच, कला, विज्ञान,—सब पर नात्सी छाप लगाई जा रही है। हिटलर का एक ख़ास आदमी हरमान गोयरिंग कहता है: "सच्चा जर्मन अपने ख़ून से सोचता है।" एक और नात्सी नेता कहता है: "ख़ालिस तर्क और बे-तास्सुब विज्ञान के दिन बीत

चुके।" बच्चों को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा मसीहा है, पर पहले मसीहा से भी महान् है। नात्सी सरकार इस हक़ में नहीं है कि लोगों में, और ख़ासकर स्त्रियों में, शिक्षा ज्यादा फैले। हिटलरवादियों का कहना है कि नारी की जगह घर व रसोई है, और उसका सबसे बड़ा काम यह है कि राज्य के लिए लड़नेवाले और जान देनेवाले बच्चे पैदा करे। एक और नात्सी नेता, डॉ० जोसफ़ गोयबल्स, जो 'जन-शिक्षण और प्रचार-विभाग' का मन्त्री है, कहता है: "नारी की जगह कुटुम्ब में है; उसका मुनासिब काम अपने देश और अपनी जाति के लिए बच्चे पैदा करना है।... स्त्रियों को आज़ाद करना राज्य के लिए ख़तरा है। जो बातें मर्द के करने की हैं, वे उसे मर्द पर ही छोड़ देनी चाहिएँ।" इसी डॉ० गोयबल्स ने हमें यह भी बतला दिया है कि जनता के शिक्षण का उसका तरीक़ा क्या है: "मेरा इरादा है कि अख़बारों को भी उसी तरह बजाऊँ, जिस तरह प्यानो बजाया जाता है।"

इस तमाम जंगलीपन, पशुता, आग और बिजली की कड़क के पीछे लुटे हुए मध्यम-वर्गों की तँगी और भूख थीं। वास्तव में यह रोज़गारों की और रोटी की लड़ाई थी। यहूदी डॉक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, नर्सों, वग़ैरा को इसलिए निकाल दिया गया था कि 'आर्यन' जर्मन लोग उनकी बराबरी नहीं कर सकते थे, और उनकी सफलता को भूखी निगाहों से देखते थे, और उनके रोज़गार छीनना चाहते थे। यहूदी दूकानें इसलिए बन्द कर दी गईं कि जर्मन दूकानदार उनकी होड़ में नहीं टिक सकते थे। बहुत-सी ग़ैर-यहूदी दूकानें भी बन्द कर दी गईं और उनके मालिकों को गिरफ़्तार कर लिया गया। वजह यह थी कि इन पर मुनाफ़ाखोरी का और चीज़ों के बेजातौर पर ऊँचे दाम लेने का शक किया जाता था। नात्सियों के हिमायती किसान लोग पूर्वी प्रशिया की बड़ी-बड़ी जागीरों पर ललचाई नज़रें डाल रहे हैं, क्योंकि वे इनका आपस में बँटवारा करना चाहते हैं।

नात्सियों के पहले कार्यक्रम का एक दिलचस्प पहलू यह सुझाव था कि १२,००० मार्क सालाना से ज्यादा वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८,००० रु० साल या ६६६ रु० माहवारी के बराबर होता है। इस पर कहाँतक अमल किया गया है, यह मुझे नहीं मालूम। चैन्सलर का मौजूदा वेतन २६,००० मार्क सालाना है (यह १,४४० रु० माहवारी के बराबर है)। यह इरादा ज़ाहिर किया गया है कि जिन खानगी कम्पनियों को सरकारी रुपया दिया जाता है, उनके डायरेक्टरों या मालिकों तक को १८,००० मार्क सालाना से ज्यादा वेतन नहीं दिया जाएगा। अबतक इन लोगों को भारी रक़में दी जाती रही हैं। इन आँकड़ों की तुलना उन भारी-भरकम वेतनों से करो, जो कँगाल भारत अपने सरकारी कर्मचारियों को देता है। कराची-कांग्रेस ने प्रस्ताव किया था कि वेतनों की हद ५०० रु० माहवारी पर बाँधी जानी चाहिए।

यह खयाल नहीं कर बैठना चाहिए कि नात्सी-आन्दोलन के पीछे सिर्फ़ जुल्म और आतंक ही है। हाँ, ये उभरे हुए जरूर हैं। मज़दूरों की बहुत बड़ी तादाद के अलावा, ऐसे जर्मनों की तादाद बहुत बड़ी है; जिनके दिलों में हिटलर के लिए सचमुच खरा जोश है। अगर पिछले चुनावों के आँकड़ों को सही माना जाय, तो मालूम होता है कि ५२ फ़ीसदी जनता उसके पीछे है। और यही ५२ फ़ीसदी लोग बाक़ी के ४८ फ़ीसदी लोगों पर या इनके कुछ भाग पर आतंक जमा रहे हैं। इन ५२ फ़ीसदी या अब इससे ज्यादा लोगों को लेकर हिटलर बहुत लोकप्रिय बन गया है। जो लोग जर्मनी होकर आये हैं, वे बतलाते हैं कि वहाँ एक अद्भुत मनोवैज्ञानिक वातावरण पैदा हो गया है, मानो कोई मज़हबी ताज़गी पैदा हुई हो। जर्मन लोग महसूस करते हैं कि वर्साई की सन्धि की वजह से उनकी बेइज्ज़ती और उनपर दमन का लम्बा ज़माना बीत गया है, और अब वे आज़ादी की साँस ले सकते हैं।

मगर जर्मनी का बाक़ी आधा या क़रीब आधा हिस्सा कुछ और ही महसूस करता है। जर्मन मज़दूर-वर्ग के लोगों पर सख्त नफ़रत और तेज़ गुस्सा छाया हुआ है, पर ये नत्सियों के खूनी बदले के डर से छिपे और दबे हुए हैं। इन लोगों ने हारकर हिंसा व आतंक के आगे सिर झुका दिया है, और जो चीज़ उन्होंने बहुत मेहनत और क़ुर्बानी से खड़ी की थी, उसीकी बर्बादी रंज और बेकसी के साथ अपनी आँखों से देखी है। जर्मनी में पिछले कुछ महीनों में जो घटनाएँ हुई हैं, उन में यह कुछ कम अचम्भे की घटना नहीं है कि इतनी बड़ी हैसियतवाला समाजी लोकतन्त्रवादी दल, हमला रोकने की ज़रा-सी भी कोशिश किये बिना, बिलकुल ढेर हो गया है। यूरोप में मज़दूर-वर्ग का यह सबसे पुराना, सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा सुसंगठित दल था। दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ की तो यह रीढ़ था। मगर फिर भी इसने हर तरह की बेइज्ज़ती और ज़िल्लत को, और अन्त में अपनी मौत को, चुपचाप और बिना किसी ऐतराज़ के, बर्दाश्त कर लिया (हालाँकि महज़ ऐतराज़ तो बिलकुल ही बेकार होता)। समाजी लोकतन्त्रवादी नेता पग-पग पर नात्सियों के आगे घुटने टेकते गये, और हर बार इसी उम्मीद में रहे कि इस तरह झुकने और ज़िल्लत सहने से उनकी कोई चीज़ तो कम-से-कम शायद बच ही जायगी। मगर उनका यह घुटने टेकना ही उनके खिलाफ़ हथियार बना लिया गया, क्योंकि नात्सियों ने मज़दूरों को बतलाया कि देखो, जब ख़तरा सामने आया तो तुम्हारे नेता किस नीचता के साथ तुम्हें छोड़कर भाग गये। यूरोप के मज़दूर-वर्ग की लड़ाई के लम्बे इतिहास में कुछ कामयाबियाँ और बहुत-सी शिकस्तें हैं। मगर हमले को रोकने की ज़रा भी हरकत किये बिना ऐसा शर्मनाक घुटने टेकना और मज़दूरों के हितों के साथ विश्वासघात कभी नहीं हुआ। साम्यवादी दल ने मुक़ाबले की कोशिश की और आम हड़ताल का नारा लगाया। पर समाजी लोकतन्त्रवादी नेताओं ने उनका साथ नहीं दिया और हड़ताल ठण्डी हो गई। हालाँकि मज़दूर-आन्दोलन तहस-नहस हो गया

है, पर एक ख़ुफ़िया संगठन की तरह अब भी काम कर रहा है, और यह संगठन काफ़ी फैला हुआ मालूम होता है। कहते हैं कि नात्सी जासूसी विभाग के बावजूद, ख़ुफ़िया तौर पर निकलनेवाले अख़बारों की लाखों प्रतियाँ बाँटी जाती थीं। जर्मनी से बचकर निकल भागे हुए कुछ समाजी लोकतन्त्रवादी नेता भी बाहर के देशों में बैठे-बैठे ख़ुफ़िया तरीक़ों से कुछ प्रचार की कोशिश कर रहे हैं।

वैसे तो 'भूरे आतंक' से सबसे ज़्यादा नुक़सान मजदूर-वर्ग को सहना पड़ा था। लेकिन संसार का जनमत यहूदियों के साथ किये गए सलूक पर बहुत भड़क उठा था। यूरोप को वर्ग-युद्धों से कुछ पाला पड़ता रहता है, इसलिए यहाँ के लोगों की सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के साथ होती है। पर यहूदियों पर जो वार किया गया था, वह एक नस्ल पर हमला था। यह कुछ इस तरह की चीज़ थी जैसी कि मध्य-युगों में हुआ करती थी, या हाल के ज़माने में, ग़ैर-सरकारी तौर पर, ज़ार-शाही रूस-जैसे पिछड़े हुए देशों में हुआ करती थी। एक समूची नस्ल पर सरकारी तौर पर किये गए अत्याचारों से यूरोप व अमेरिका को बड़ा धक्का लगा। इस धक्के का असर इसलिए और भी ज़्यादा हुआ कि जर्मन यहूदियों की सूची में कितने ही संसार-प्रसिद्ध व्यक्ति, नामदार विज्ञानी, डॉक्टर, वकील, संगीतज्ञ और लेखक थे, और सबसे ऊपर ऐल्बर्ट आइन्स्टीन का बड़ा नाम था। ये लोग जर्मनी को अपना वतन समझते थे और सब जगह के लोग उन्हें जर्मन मानते थे। इनको अपना कहने में कोई भी देश गौरव महसूस करता, पर नात्सियों के सिर पर ऐसा नस्ली पागलपन सवार हुआ कि उन्होंने इन्हें बीन-बीनकर मार भगाया। इसपर दुनिया-भर में ज़बर्दस्त हो-हल्ला मच गया। तब नात्सियों ने यहूदी दूकानदारों और पेशेवर लोगों का बायकाट शुरू किया। मगर अजीब बात यह थी कि वे इन यहूदियों में से एक को भी जर्मनी छोड़कर नहीं जाने देते थे। इस नीति का सिर्फ़ यही नतीजा हो सकता था कि इन्हें भूखों मार दिया जाय। दुनिया के हो-हल्ले से नात्सियों ने यहूदियों के ख़िलाफ़ अपने ज़ाहिरा तरीक़े तो नर्म कर दिये, पर नीति वही बरती जा रही है।

हालाँकि यहूदी-जाति दुनिया-भर में बिखरी हुई है, और किसी राष्ट्र को अपना नहीं कह सकती, फिर भी वह इतनी बेकस नहीं है कि अदले का बदला चुकाने के क़ाबिल न हो। इसके हाथों में बहुत काफ़ी कारोबार और रुपया है। इसलिए इसने चुपचाप और फ़िज़ूल का शोर मचाये बिना, जर्मन माल के बायकाट की पुकार मचा दी। सिर्फ़ इतना ही नहीं, बल्कि इससे भी कुछ ज़्यादा किया, जैसा कि मई, १९३३ ई० में, न्यूयार्क के एक सम्मेलन में पास किये गए प्रस्ताव में ऐलान किया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "जर्मनी में या उसके किसी भाग में तैयार किये हुए, पैदा किये हुए या सुधारे हुए सारे माल, सामान या पैदावार का

बायकाट किया जाय; सारे जर्मन जहाजों का, और माल व सवारियाँ लाने-ले जाने के साधनों का, और साथ ही जर्मनी के तमाम स्वास्थ्य-स्थलों और दूसरी सैर की जगहों का भी, बायकाट किया जाय, और आमतौर पर ऐसा कोई भी काम न किया जाय, जिससे जर्मनी की मौजूदा हुकूमत को किसी भी क़िस्म की माली मदद पहुँचती हो।"

बाहर के देशों में हिटलरशाही का एक उलटा असर तो यह हुआ; इसके अलावा और असर भी हुए, जो इससे भी दूर तक पहुँचनेवाले थे। नात्सी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि को खुले आम बुरी बताते आये थे, और इसे बदलने की माँग करते आये थे। पूर्वी सरहद के बदले जाने पर वे खास ज़ोर देते थे, क्योंकि यहाँ डैनज़िग को जानेवाली पोलैण्ड की गली का बेहूदा इन्तज़ाम किया गया है, जिसके कारण जर्मनी का एक छोटा-सा टुकड़ा बाक़ी देश से कट गया है। उन्होंने हथियार रखने के मामले में पूरी बराबरी की भी ज़ोर-शोर से माँग की। (तुम्हें याद होगा कि शान्ति-सन्धि के मताबिक़ जर्मनी को बहुत-कुछ निहत्था कर दिया गया था)। हिटलर के संगीन और गर्जन-तर्जनभरे भाषणों से और दुबारा हथियार-बन्द होने की धमकियों से यूरोप बिलकुल घबरा गया। फ़्रान्स तो खासतौर पर घबरा गया, क्योंकि ताक़तवर जर्मनी से सबसे ज्यादा डर इसी को था। बस, कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि यूरोप में युद्ध छिड़ने ही वाला है। इस नात्सी डर की वजह से यूरोप में शक्तियों की एकदम नई गटबन्दी होने लगी। फ़्रान्स रूस के साथ बड़ी दोस्ती दिखाने लगा। वर्साई की सन्धि में परिवर्तन के डर से पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लोवाकिया, रूमानिया, वग़ैरा सारे देश, जिन्हें इस सन्धि ने बनाया था या फ़ायदा पहुँचाया था, एक-दूसरे के नज़दीक खिच आये, और साथ ही रूस की तरफ़ भी ज्यादा खिच गये। ऑस्ट्रिया में एक अचम्भे की सूरत पैदा हो गई। यहाँ डोलफ़स[1] नामक फ़ासीवादी चैन्सलर का क़ब्ज़ा हो चुका था, पर इसके फ़ासीवाद का नमूना हिटलर के फ़ासीवाद से जुदा था। ऑस्ट्रिया में नात्सियों का ज़ोर है, लेकिन डोलफ़स ने इनका विरोध किया है। इटली ने हिटलर की सफलता का स्वागत किया, पर उसने हिटलर के सारे हौसलों को बढ़ावा नहीं दिया। इंग्लैण्ड के लोग, जो बहुत वर्षों से जर्मन-समर्थक थे, अब जर्मन-विरोधी बन गये, और यहाँतक कि जर्मनों को फिर 'हूण' कहने लगे। हिटलर का जर्मनी यूरोप में सबसे बिलकल थलग-अलग था। यह ज़ाहिर था कि अगर युद्ध होता तो फ़्रान्स की ज़बर्दस्त फ़ौज निहत्थे जर्मनी को कुचल डालती। इसलिए हिटलर ने अपने पैंतरे बदल

---

[1]ऑस्ट्रिया का तानाशाह प्रधानमन्त्री। सन् १९३४ ई० इसकी हत्या कर दी गई।

दिये, और सुलह की भाषा में बोलने लगा। उधर मुसोलिनी ने फ़ान्स, इंग्लैण्ड, जर्मनी और इटली के बीच चार-शक्ति-क़रार का सुझाव करके हिटलर की इज्ज़त बचा ली।

इस क़रारनामे पर आखिर जून, १९३३ ई० में चारों शक्तियों ने दस्तखत कर दिये, हालाँकि फ़ान्स पहले हिचकिचाया। जहाँतक इस क़रार की भाषा का सम्बन्ध है, वह किसी के लिए नागवार नहीं है और इसमें सिर्फ़ इतना ही कहा गया है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में, खासकर वर्साई की सन्धि को बदलने के किसी सुझाव के बारे में, चारों शक्तियाँ आपस में मशविरा किया करेंगी। मगर यह क़रार सोवियत-विरोधी गुट बनाने का यत्न समझा जाता है। मालूम होता है कि फ़ान्स ने इसपर बहुत ही बेमन से दस्तखत किये थे। सोवियत और उसके पड़ौसी देशों के बीच लन्दन में, १९३३ ई० की पहली जुलाई को एक दूसरे पर हमला न करने का जो क़रार हुआ, वह शायद चार-शक्ति-क़रार का नतीजा और जवाब था। ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि सोवियत क़रार के साथ फ़ान्स ने बड़ी सहानुभूति और सहमति ज़ाहिर की है।

हिटलर का बुनियादी कार्यक्रम दुनिया को यह जताना है कि वह सोवियत रूस से यूरोप को बचानेवाला सूरमा है, वैसे यह जर्मन पूँजीवाद का ही कार्यक्रम है। अगर जर्मनी को ज्यादा ज़मीन ही लेनी है, तो वह पूर्वी यूरोप में, या सोवियत संघ से छीनकर ही ले सकता है। मगर ऐसा करने से पहले जर्मनी के पास हथियारों का होना ज़रूरी है। इसलिए उसे वर्साई की सन्धि में इस मतलब का परिवर्तन कराना ज़रूरी है, या कम-से-कम यह इतमीनान कर लेना ज़रूरी है कि उसकी कारंवाई में कोई दखल नहीं देगा। हिटलर को इटली की मदद का भरोसा है। अगर उसे इंग्लैण्ड का भी सहारा मिल जाय, तो उसे शायद उम्मीद है कि चार-शक्ति-क़रार के मातहत होनेवाली चर्चाओं में वह फ़ान्स के विरोध को बे-सहारा कर देगा।

बस, हिटलर अंग्रेज़ों का सहारा हासिल करने की कोशिश में लगा हुआ है। इसके लिए उसने खुले आम यहाँतक कह दिया है कि अगर भारत पर इंग्लैण्ड का पंजा ढीला हो गया, तो आफ़त आ जायगी। उसकी सोवियत-विरोधी नीति ही ब्रिटिश सरकार को पसन्द आनेवाली बात है; क्योंकि, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यशाही सोवियत रूस से जितनी ज्यादा चिढ़ती है उतनी और किसी चीज़ से नहीं। पर इंग्लैण्ड के लोगों को भी नात्सियों की कारंवाइयों से इतनी नफ़रत हो गई है कि हिटलरशाही को मंजूर करनेवाले किसी भी सुझाव पर, उन्हें राज़ी करने में कुछ वक़्त लगेगा।

इस तरह नात्सी जर्मनी यूरोप में तूफ़ान उठने की जगह बन गया है, जिससे

'घबराहट की मारी दुनिया' के डर और भी ज़्यादा बढ़ गये हैं! खुद जर्मनी में क्या होगा? क्या यह नात्सी राज चलेगा? जर्मनी में नात्सियों के ख़िलाफ़ बहुत ज़्यादा नफ़रत और विरोध है, मगर यह भी खूब साफ़ है कि तमाम संगठित विरोध कुचल डाला गया है। जर्मनी में कोई दल या संगठन बाक़ी नहीं रहा है, और नात्सियों का ही बोलबाला है। मालूम होता है कि खुद नात्सियों में ही दो दल हैं: एक दल तो पूंजीवादी लोगों और कारोबारी जमात का है, जो दायाँ पक्ष है, दूसरा दल नात्सी दल के बहु-संख्यक सदस्यों का है जिनकी संख्या हाल ही में शामिल हुए बहुत-से मज़दूरों की वजह से बढ़ गई है, और यह बायाँ पक्ष है। जिन लोगों ने हिटलर के आन्दोलन को क्रान्तिकारी प्रेरणा दी, उनमें पूंजीवाद-विरोधी बुनियादी परिवर्तनवादी भावना बहुत भरी हुई थी, और बाद में इन्होंने बहुत-से समाजवादियों और मार्क्सवादियों को भी अपने में शरीक कर लिया। नात्सी-आन्दोलन के दाहिने-पक्ष और बायें-पक्ष के विचारों में कोई मेल नहीं था। हिटलर की भारी कामयाबी इसीमें थी कि उसने इन दोनों को साथ बनाये रक्खा, और एक को दूसरे से भिड़ाकर अपना काम निकाला। जबतक दोनों का एक ही दुश्मन सामने नज़र आता था, तबतक तो यह चाल चल सकती थी। मगर अब जबकि दुश्मन कुचल दिया गया है या हज़म कर लिया गया है, दायें-पक्ष और बायें-पक्ष के बीच मुठभेड़ पैदा होना लाज़िमी है।

गड़गड़ाहट तो शुरू हो भी चुकी है। वाम-पक्षी नात्सियों ने माँग की कि जब पहली क्रान्ति कामयाबी के साथ पूरी हो चुकी है, तो अब पूंजीवाद व ज़मींदारशाही वग़ैरा को मिटाने के लिए 'दूसरी क्रान्ति' शुरू होनी चाहिए। हिटलर ने इस 'दूसरी क्रान्ति' का गला बेदर्दी से दबा देने की धमकी दे डाली है। इसलिए वह साफ़ तौर पर पूंजीवादी दक्षिण-पक्ष के साथ कन्धा भिड़ाकर खड़ा हो गया है। उसके ज़्यादातर खास-खास दाहिने-हाथ ऊँचे-ऊँचे पदों पर बैठे हुए हैं, और चूंकि वे आराम से गद्दियों पर जमे हुए हैं, इसलिए कोई तब्दीली नहीं चाहते।

हिटलरशाही का यह हाल बहुत लम्बा हो गया है। पर याद रखना चाहिए कि नात्सियों की यह भारी कामयाबी और इसके नतीजे, यूरोप और सारे संसार के लिए बहुत महत्व रखते हैं, और बहुत दूर तक असर डालनेवाले हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यह फ़ासीवाद है, और खुद हिटलर में फ़ासीवादी की सारी खासियतें मौजूद हैं। लेकिन नात्सी-आन्दोलन इतालवी फ़ासीवाद से कहीं ज़्यादा फैला हुआ और मौलिक-परिवर्तन-वादी है। देखना यह है कि ये मौलिक-परिवर्तन-वादी तत्व कुछ रंग लाते हैं या कि योंही कुचल दिये जाते हैं।

नात्सी-आन्दोलन की बढ़ोतरी ने कट्टर मार्क्सवाद को कुछ हद तक गड़बड़ में डाल दिया है। इनका यह विश्वास रहा है कि सिर्फ़ मज़दूर-वर्ग ही सच्चा

क्रान्तिकारी वर्ग है, और आर्थिक हालतें ज्यों-ज्यों बिगड़ती जाती हैं, त्यों-त्यों यह वर्ग निचले मध्यम-वर्ग के असन्तुष्ट और ग़रीब तत्वों को अपनी तरफ़ खींचता जायगा, और अन्त में जाकर मज़दूर वर्ग की क्रान्ति पैदा कर देगा। पर हक़ीक़त यह है कि जर्मनी में जो कुछ हुआ है, वह इससे बिलकुल जुदा चीज़ है। जब संकट आया तो मजदूर-वर्ग में क्रान्तिकारी भावना ही नहीं थी। बल्कि ज्यादातर ग़रीब निचले मध्यम-वर्गों और दूसरे असन्तुष्ट तत्वों को लेकर एक नया क्रान्तिकारी-वर्ग खड़ा हो गया था। यह चीज़ कट्टर मार्क्सवाद से मेल नहीं खाती। मगर दूसरे मार्क्सवादी कहते हैं कि मार्क्सवाद को ऐसा कोई कट्टर विश्वास, मज़हब या दीन नहीं समझना चाहिए, जो मज़हबों की तरह दावे के साथ हक़ीक़त (परम सत्य) का बखान करता हो। यह तो इतिहास की फ़िलासफ़ी है, इतिहास को देखने का तरीक़ा है, जो इतिहास का खुलासा करता है और उसे एक कड़ी में बाँधता है। यह समाजवाद या समाजी समानता पर पहुँचने का एक असली तरीक़ा है। अलग-अलग ज़मानों और अलग-अलग देशों की बदलती हुई हालतों का मुक़ाबला करने के लिए मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों को अलग-अलग ढंगों से लागू करना होगा।

टिप्पणी (नवम्बर, १९३८ ई०)

सवा पाँच वर्ष पहले, जब ऊपर का पत्र लिखा गया था, तबसे संसार की राजनीति में जितनी भी घटनाएँ हुई हैं, उनमें सबसे निराली घटना है हिटलर के मातहत नात्सी जर्मनी की शक्ति और प्रतिष्ठा का बढ़ना। आज सारे यूरोप में हिटलर का दबदबा है, और बड़ी-बड़ी शक्तियाँ, या वे शक्तियाँ जो कभी बड़ी थीं, उसके आगे सिर झुकाती हैं और उसकी धमकियों से काँपती हैं। बीस वर्ष पहले जर्मनी हारा हुआ और कुचला हुआ था। मगर आज किसी फ़ौजी फ़तह या युद्ध के बिना ही हिटलर ने इसे विजयी राष्ट्र बना दिया है। वर्साई की सन्धि मर चुकी है, और दफ़नायी जा चुकी है।

सत्ता हथियाने के बाद हिटलर का सबसे पहला काम था जर्मनी में अपने विरोधियों को कुचलना और नात्सी-दल को जमाना। जर्मनी का 'नात्सीकरण' हो जाने पर उसने नात्सी-दल के सदस्यों में फैले हुए उन वाम-पक्षी विचारों को ख़त्म करने का फ़ैसला किया, जो पूंजीवाद-विरोधी दूसरी क्रान्ति की बाट देख रहे थे। १९३४ ई० की ३० जून को 'भूरे कुर्तों' का दल तोड़ दिया गया और उसके नेताओं को गोली से उड़ा दिया गया। बहुत-से और लोगों को भी मौत के घाट उतार दिया गया। इनमें सेनापति फ़ॉन श्लेखर भी था, जो एक बार चैन्सलर रह चुका था।

अगस्त, १९३४ ई० में राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मौत हो गई, और हिटलर उसकी जगह चैन्सलर—राष्ट्रपति बन बैठा। अब वह जर्मनी में पूरा सत्ताधारी था—

जर्मन जनता का 'फ़्यूरर' या नेता था। उस समय जर्मनी की जनता बहुत कष्ट भोग रही थी, इसलिए इस कष्ट को मिटाने के वास्ते बड़े पैमाने पर खानगी खैरातों का, क़रीब-क़रीब जबरन, इन्तज़ाम किया गया। लाज़िमी मज़दूर-छावनियाँ भी क़ायम की गईं, जिनमें बेकारों से काम लिया जाता था। जिन ढेरों यहूदियों को जबरन हटा दिया गया था, उनकी जगहें जर्मनों को दे दी गईं। जर्मनी की आर्थिक हालत तो नहीं सुधरी, उलटे पहले से भी बदतर हो गई, पर बेकारी का नाम मिट गया। इधर खुफ़िया तौर पर फिर से हथियारबन्द होने का सिलसिला चलता रहा, और जर्मनी का खौफ़ बढ़ता गया।

१९३५ में सारघाटी के लोगों का जनमत-संग्रह हुआ और यह बहुत बड़े बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में रहा। इसलिए यह प्रदेश जर्मनी में मिला दिया गया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई की सन्धि की निरस्त्रीकरण-वाली धाराओं को खुले आम नाजायज़ क़रार दिया, और फ़ौज में लाज़िमी भरती की आज्ञा निकाल दी। फिर से हथियारबन्द होने का बड़ा लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम हाथ में लिया गया। राष्ट्रसंघ की किसी भी शक्ति ने चूँ नहीं की; इन सबको, और खासकर फ़ान्स को, दहशत ने जकड़ रक्खा था। फ़ान्स ने सोवियत रूस के साथ मेल करने की साँठ-गाँठ कर ली। पर ब्रिटिश सरकार ने नात्सी-जर्मनी का साथ देने में भला समझा, और जून, १९३५ ई० में उसके साथ जंगी-बेड़े के एक क़रार पर दस्तखत कर दिये।

इसके अजीब नतीजे निकले। फ़ान्स ने यह महसूस करके कि इंग्लैण्ड उसके साथ दग़ा कर रहा है, इटली को संदेसे भेजे। और मुसोलिनी ने यह सोचकर कि ठीक मौक़ा आ गया है, अबीसीनिया पर धावा बोल दिया।

मार्च, १९३८ ई० में हिटलर की फ़ौजें आस्ट्रिया में दाखिल हो गईं और 'आंशलूस', यानी आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने का, ऐलान कर दिया गया। राष्ट्र-संघी शक्तियाँ इस बार भी चुप बैठी रहीं। नात्सियों ने आस्ट्रिया में भी अपना हमलावर और जल्लादी यहूदी-विरोधी अभियान शुरू कर दिया।

अब चेकोस्लोवाकिया नात्सी हमलावारी का निशाना बन गया, और सूडेटनलैण्ड[1] के जर्मनों की समस्या ने यूरोप को कई महीनों तक परेशान किया। ब्रिटिश-नीति ने नात्सियों को बहुत मदद दी और फ़ान्स की हिम्मत नहीं थी कि इस नीति के खिलाफ़ जाय। नतीजा यह हुआ कि जब जर्मनी ने फ़ौरन युद्ध छेड़ने की धमकी दी तो फ़ान्स ने अपने साथी चेकोस्लोवाकिया को धता बताई और इस

---

[1] सूडेटनलैण्ड चेकोस्लोवाकिया का प्रान्त था, जिसमें जर्मन भाषा-भाषी लोगों का बहुमत था। हिटलर इसे जर्मनी में मिलाना चाहता था।

दग़ाबाज़ी में इंग्लैण्ड भी शरीक था। जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ़ान्स और इटली के बीच होनेवाले म्यूनिख के क़रार से २९ सितम्बर, १९३८ ई० को चेकोस्लोवाकिया की क़िस्मत का फ़ैसला हो गया। सूडेटनलैण्ड पर और बहुत-कुछ दूसरे क्षेत्रों पर जर्मनी ने क़ब्ज़ा कर लिया, और इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर पोलैण्ड और हंगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के कुछ हिस्सों पर क़ब्ज़ा जमा लिया।

बस, यूरोप का एक नया बँटवारा शुरू हो गया। इस यूरोप में इंग्लैण्ड व फ़ान्स दूसरे दर्जे की शक्तियाँ बनती जा रही थीं, और हिटलर के मातहत नात्सी-जर्मनी बड़ी कामयाबी से सबपर हावी हो रहा था।

: १९१ :

निरस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

लन्दन में जिस विश्व-आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, उसकी नाकामयाबी का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। इस सम्मेलन का काम बन्द कर दिया गया और इसके सदस्य अपने-अपने घर लौट गये। नेकनीयती दिखाने को सबने उम्मीद जाहिर की कि ज़्यादा मुनासिब सूरतों में वे शायद फिर मिल सकें।

सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय कोशिशों की एक और बड़ी नाकामयाबी की मिसाल निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने पेश की है। यह सम्मेलन राष्ट्रसंघ के इक़रारनामे का फल था। वर्साई की सन्धि में यह तय किया गया था कि जर्मनी को (साथ ही आस्ट्रिया, हंगरी वग़ैरा दूसरी हारी हुई शक्तियों को) निरस्त्र किया जायगा। उन्हें जंगी-जहाज़, हवाई फ़ौज या बड़ी खुश्की फ़ौज नहीं रखने दी जायगी। इसके अलावा यह तजवीज़ थी कि दूसरे देश भी धीरे-धीरे निरस्त्र होते जायँ, ताकि हर देश में युद्ध के साधन घटते-घटते सिर्फ़ इतने-से रह जायँ, जितने कि उस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए लाज़िमी हों। इस कार्यक्रम के पहले हिस्से पर, यानी जर्मनी के निरस्त्रीकरण पर, फ़ौरन अमल कराया गया; दूसरा हिस्सा यानी आम निरस्त्रीकरण, सिर्फ़ एक बहाना रह गया, और अब भी वैसा ही है। कार्यक्रम के इस दूसरे भाग को पूरा करने के लिए ही वर्साई की सन्धि के तेरह वर्ष बाद आखिर यह निरस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया गया था। लेकिन पूरे सम्मेलन के अधिवेशन से पहले, तैयारी कमीशनों ने इस सारे विषय की वर्षों तक छानबीन की थी।

आखिरकार १९३२ ई० के शुरू में विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन की बैठक हुई। यह सम्मेलन महीने-दर-महीने साल-दर-साल चलता रहा। इसमें कई प्रस्तावों पर विचार किया गया और उन्हें रद्द कर दिया गया; अनगिनती रिपोर्टें पढ़ी गईं,

और लगातार वाद-विवाद सुनाई देते रहे। निरस्त्रीकरण सम्मेलन के बजाय यह एक तरह से शस्त्रों का सम्मेलन बन गया। आपस में कोई समझौता नहीं हो सका, क्योंकि एक तो इस सवाल पर कोई भी देश सारे अन्तर्राष्ट्रीय नज़रिये से ग़ौर करने को तैयार नहीं था; दूसरे, हरेक देश निरस्त्रीकरण का यह अर्थ लगाता था कि दूसरे देश तो बेहथियार हो जायँ या अपने जंगी सरंजाम कम कर दें, पर वह अपनी फ़ौजें बरक़रार रक्खे। वैसे तो क़रीब सभी देशों ने ख़ुदग़र्ज़ी का रवैय्या अपनाया, पर जापान और इंग्लैण्ड इस मामले में सबसे आगे रहे, और इन देशों ने हरेक तरह के समझौते के रास्ते में बड़े-बड़े रोड़ अटकाये। इधर तो यह सम्मेलन चल रहा था, उधर जापान राष्ट्रसंघ को अंगूठा दिखा रहा था और मंचूरिया में ख़ूनी और सरगर्म युद्ध कर रहा था; दक्षिण अमेरिका के दो गणराज्य आपस में लड़ रहे थे, और इंग्लैण्ड भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के क़बीलेवालों पर बराबर बम बरसा रहा था। जापान की तरफ़ ब्रिटिश सरकार का दोस्ताना रुख़ बराबर चला आ रहा था, इसलिए अमेरिका ने चीन में जापान की हमलावर कार्रवाई का विरोध किया तो ब्रिटिश सरकार के रुख़ ने इस विरोध को बहुत-कुछ बे-असर कर दिया।

सम्मेलन में जितने भी सुझाव रक्खे गये, उनमें सबसे ज्यादा महत्व के तीन सुझाव सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ़ान्स ने पेश किये। रूस ने सुझाव रक्खा कि जंगी-सामान में ५० फ़ीसदी चौमुखी कटौती की जानी चाहिए। अमेरिका ने सब तरह का जंगी सामान एक-तिहाई घटाने का सुझाव दिया। मगर इंग्लण्ड ने इन दोनों सुझावों का विरोध किया। उसने यह दलील दी कि वह अपनी फ़ौजें, और खासकर जंगी बेड़ा, नहीं घटा सकता, क्योंकि इनका इस्तेमाल सिर्फ़ पुलिस-कार्रवाइयों के लिए किया जाता है।

फ़ान्स, जिसके दिल में जर्मनी की हमलावर कार्रवाइयों की पुरानी यादें बनी हुई हैं, हमेशा 'सुरक्षा' पर ज़ोर देता रहा है। यानी वह ऐसा इन्तज़ाम चाहता है, जिससे हमले की कार्रवाइयाँ नामुमकिन नहीं तो कठिन ज़रूर हो जायँ। उसका सुझाव था कि राष्ट्र-संघ के मातहत अन्तर्राष्ट्रीय फ़ौज तैयार की जाय, जिसका इस्तेमाल हमला करनेवाले के ख़िलाफ़ किया जा सके; सारे राष्ट्र सिर्फ़ छोटी-छोटी और कम हथियारोंवाली फ़ौजें रक्खें; और तमाम हवाई फ़ौजें राष्ट्र-संघ के मातहत रहें। पर इस सुझाव पर यह ऐतराज़ किया गया कि इससे सारी ताक़त उन बड़ी शक्तियों के हाथों में चली जायगी, जिनके हाथों में राष्ट्र-संघ की बागडोर है, और इसका नतीजा यह होगा कि फ़ान्स सारे यूरोप पर हावी हो जायगा।

हमलावर कौन होता है? यह मुश्किल सवाल था, क्योंकि हरेक हमलावर राष्ट्र सदा यही दावा किया करता है कि वह तो अपने बचाव की कार्रवाई कर

रहा है। जापान ने कभी क़बूल नहीं किया कि उसने मंचूरिया में हमले की कार्रवाई की, न इटली ने अबीसीनिया में अपनी हमलावर कार्रवाई क़बूल की। महायुद्ध में हरेक राष्ट्र ने अपने दुश्मन को हमलावर बतलाया। इसलिए, अगर हमलावर के खिलाफ़ कार्रवाई करनी हो, तो इस शब्द की कोई साफ़ और बिलकुल सही परिभाषा होनी चाहिए। सोवियत रूस ने यह परिभाषा सुझाई कि अगर कोई राष्ट्र अपनी सरहद को पार करके दूसरे देश में हथियारबन्द फ़ौज भेज दे, या दूसरे देश के तट की नाकाबन्दी कर दे, तो वह हमलावर राष्ट्र माना जायगा। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट और राष्ट्र-संघ की समिति ने भी 'हमलावर' की ऐसी ही परिभाषा की। रूस और उसके पड़ौसी देशों के बीच एक दूसरे पर हमला न करने का क़रार हुआ था, उसमें रूस की परिभाषा मानी गई थी। इस परिभाषा पर फ़ान्स समेत ज्यादातर बड़ी-छोटी शक्तियाँ राज़ी हो गईं। पर इस परिभाषा ने जापान को बड़ी उलझन में डाल दिया। इंग्लैण्ड ने तो इसे मानने से ही इन्कार कर दिया और यह चाहा कि मामला गोलमोल ही बना रहे। इटली ने इंग्लैण्ड का समर्थन किया।

निरस्त्रीकरण के बारे में ब्रिटिश सरकार का सुझाव इस आधार पर चलता था कि इंग्लैण्ड के लिए अपने जंगी-सामान घटाना ज़रूरी नहीं है; निरस्त्र होना तो दूसरे राष्ट्रों का फ़र्ज़ है। बमबारी के मामले में सबका यही मत था कि यह कार्रवाई बिलकुल बन्द कर दी जानी चाहिए, पर इंग्लैण्ड ने एक शर्त जोड़ दी "दूर के प्रदेशों में पुलिस कार्रवाइयों के सिवाय", जिसका मतलब यह था कि उसे अपने साम्राज्य में बमबारी करने की खुली छूट रहे। यह शर्त दूसरे राष्ट्रों को मंजूर नहीं थी, इसलिए बमबारी बन्द करने का सारा प्रस्ताव ही गिर गया।

जर्मनी के लिए दूसरी शक्तियों के साथ बराबरी का दावा करना क़ुदरती बात थी; या तो उसे भी दूसरों के बराबर हथियारबन्द होने का हक़ दिया जाय या दूसरे भी अपने को निरस्त्र करके उसकी बराबरी पर आ जायँ। इस दलील का जवाब नहीं था। क्या राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे में यह नहीं कहा गया था कि जर्मनी को निरस्त्र करना दूसरे राष्ट्रों को निरस्त्र करने का पहला क़दम है? लेकिन जिन दिनों ये चर्चाएँ चल रही थीं उन्हीं दिनों जर्मनी में नात्सियों के हाथों में सत्ता आ गई। इनके हमलावर और धमकी-भरे रवैय्ये ने फ़ान्स को दहला दिया और इसके व दूसरी शक्तियों के रुख को सख़्त बना दिया। जर्मनी की तरफ़ से, जो दो अलग-अलग रास्ते सुझाये गए थे, उनमें से एक भी मंजूर नहीं किया गया।

निरस्त्रीकरण की मुश्किलें बढ़ानेवाली बेशुमार साज़िशें पर्दे के पीछे हो रही हैं, जिनमें जंगी-सामान तैयार करनेवाली कम्पनियों के किराये के एजन्टों का खास हाथ है। आज की पूँजीवादी दुनिया में जितने उद्योग चल रहे हैं, उनमें

जंगी-सामान और सत्यानासी हथियार-औज़ार बनाने का कारोबार सबसे ज्यादा फूल-फल रहा है। ये जंगी-सामान सभी देशों की सरकारों के लिए तैयार किये जाते हैं, क्योंकि युद्ध तो सिर्फ़ सरकारें ही लड़ा करती हैं, मगर विचित्र बात यह है कि ये जंगी-सामान ख़ानगी कम्पनियाँ तैयार करती हैं। इन कम्पनियों के प्रधान मालिक ख़ूब मालदार बनते जा रहे हैं, और सरकारों के साथ इनका अक्सर गहरा ताल्लुक़ रहता है। इनमें से सर बेसील ज़हरॉफ़ का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। जंगी-सामान बनानेवाली कम्पनियों के हिस्सों पर ख़ूब मुनाफ़ा मिलता है और लोग अक्सर इनकी टोह में रहते हैं। इन कम्पनियों के हिस्सेदारों में बहुत-से लोग हैं, जो सार्वजनिक कार्यों में सबसे आगे हैं।

जब युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ होती हैं, तभी जंगी-सामान की ये कम्पनियाँ मुनाफ़े कमाती हैं। ये मौत का थोक व्यापार करती हैं, और जो इन्हें क़ीमत देते हैं उन सबको अपने सत्यानासी औज़ार बिना किसी भेदभाव के बेचती हैं। जब राष्ट्र-संघ चीन में हमलावर कार्रवाई पर जापान की बुराई कर रहा था, तब जंगी-सामान की अंग्रेज़ी, फ़्रान्सीसी व दूसरी कम्पनियाँ जापान और चीन को मज़े से हथियार बेच रहीं थीं। ज़ाहिर है कि अगर सच्चा निरस्त्रीकरण हो जाय तो इन कम्पनियों के दिवाले निकल जायँ। इनका व्यापार ख़त्म हो जाय। इसलिए इनकी निगाह में जो चीज़ आफ़त ढानेवाली है, उसे रोकने का ये भरसक प्रयत्न करती हैं। सच तो यह है कि ये इससे भी आगे जाती हैं। ख़ानगी तौर पर हथियार बनाने के मामले में जाँच करने के लिए राष्ट्र-संघ ने जो ख़ास कमीशन मुक़र्रर किया था, वह इस नतीजे पर पहुँचा था कि इन कम्पनियों ने युद्ध की दहशतें भड़काने में, और अपने-अपने देशों को जंगवाली नीतियाँ अपनाने के लिए उकसाने में, ख़ूब दौड़-धूप की है। यह भी पता लगा कि ये कम्पनियाँ सारे देशों के फ़ौजी और जहाज़ी फ़ौजी ख़र्चों के बारे में झूठी ख़बरें फैलाती थीं; ताकि दूसरे देशों को हथियारों पर अपने ख़र्चे बढ़ाने के लिए उकसा सकें। ये एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने की कोशिशें करती थीं, और दोनों के बीच हथियारों की होड़ बढ़ाने के लिए ज़ोर लगाती थीं। जनमत पर असर डालने के लिए ये सरकारी कर्मचारियों को रिश्वतें देती थीं और अख़बारों को ख़रीद लेती थीं। और फिर ये अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ एकाधिकार क़ायम करके हथियारों वग़ैरा के दाम बढ़ा देती थीं। राष्ट्र-संघ के कमीशन ने सुझाया कि हथियारों का ख़ानगी तौर पर बनाना बन्द कर देना चाहिए। यही बात निरस्त्रीकरण सम्मेलन में भी सुझाई गई थी, पर यहाँ भी ब्रिटिश सरकार ने इसका डटकर विरोध किया।

अलग-अलग देशों की इन हथियार बनानेवाली कम्पनियों में गहरा सहयोग होता है। ये देशभक्ति की भावना से बेजा फ़ायदा उठाती हैं और मौत से खिलवाड़ करती हैं। पर मज़ा यह है कि ख़ुद इनकी कार्रवाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं, और इन्हें

'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघ' कहा जाता है। इसलिए इन लोगों का निरस्त्रीकरण पर सख्त ऐतराज़ करना लाज़िमी है, और इस बारे में इन्होंने हर तरह के समझौते को रोकने की भरसक कोशिश की है। इनके एजन्ट ऊँची-से-ऊँची राजनयिक और राजनीतिक मण्डलियों में विचरते हैं। इनकी कपटी शक्लें जिनेवा में भी पर्दों के पीछे से डोर हिलाती हुई देखी गई हैं।

इस 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघ' के साथ कितनी ही सरकारों के जासूसी विभागों या ख़ुफ़िया कर्मचारियों का अक्सर गहरा ताल्लुक़ होता है। हरेक सरकार दूसरे देशों के बारे में छिपी हुई बातों की जनकारी हासिल करने के लिए जासूसों को नौकर रखती हैं। जब कभी ये जासूस पकड़े जाते हैं तो उनकी सरकारें फ़ौरन कह देती हैं कि वे उनके आदमी नहीं हैं। इन ख़ुफ़िया कर्मचारियों का ज़िक्र करते हुए आर्थर पौन्सनवी ने (जो कुछ वर्ष पहले सरकार के पर-राष्ट्र-विभाग का उप-सचिव था और अब लॉर्ड पौन्सनवी है) मई, १९२७ ई० में कामन्स-सभा में कहा था: "जब हम अपनी ऊँची नैतिकता के घोड़े पर सवार होना चाहते हैं तो हमें ईमानदारी के साथ इन तथ्यों पर विचार करना चाहिए कि जालसाज़ी, चोरी, झूठ, घूँसखोरी, और भ्रष्टाचार, संसार के हरेक पर-राष्ट्र-कार्यालय और मन्त्रालय में मौजूद हैं। ... मैं कहता हूँ कि अगर बाहर के देशों में हमारे प्रतिनिधि उन देशों के गुप्त काग़ज़-पत्रों के भेदों का पता न लगाते रहें तो माने हुए नैतिक दस्तूरों के मुताबिक़ यह समझा जायगा कि वे अपना फ़र्ज़ अदा नहीं कर रहे हैं।"

चूँकि ये ख़ुफ़िया कर्मचारी ख़ुफ़िया तौर पर काम करते हैं, इसलिए इनपर क़ाबू रखना कठिन होता है। ये लोग अपने-अपने देश की पर-राष्ट्र-नीति पर बड़ा असर डालते रहते हैं। इनके संगठन ख़ूब फैले हुए और ताक़तवर होते हैं। आजकल ब्रिटिश जासूसी विभाग संसार-भर में सबसे ज़्यादा ज़ोरदार है और इसकी शाखा-प्रशाखाएँ सबसे ज़्यादा फैली हुई हैं। ऐसी मिसाल भी मिलती है कि एक मशहूर अंग्रेज़ जासूस रूस में सोवियत का ऊँचा सरकारी अफ़सर बन गया था! ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य सर सैम्युएल होर युद्ध-काल में रूस में इंगलैण्ड की जासूसी और ख़ुफ़िया सेवाओं का सरदार था। इसने हाल ही में सबके सामने कुछ अभिमान के साथ यह बयान दिया है कि भेद मालूम करने की उसकी प्रणाली इतनी कारगर थी कि उसे रासपुटिन की हत्या की सूचना दूसरे सब लोगों से बहुत पहले मिल गई थी।

निरस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने असली कठिनाई यह रही है कि सारे देश दो वर्गों में बँटे हुए हैं—राज़ी शक्तियाँ और नाराज़ शक्तियाँ; हुकूमतवाली शक्तियाँ और दबी हुई शक्तियाँ; मौजूदा व्यवस्था को क़ायम रखनेवाली शक्तियाँ और परिवर्तन चाहनेवाली शक्तियाँ। इन दोनों के बीच कोई टिकाऊ सन्तुलन नहीं

रह सकता, जिस तरह कि हुक़ूमतवाले वर्ग और दबे हुए वर्ग के बीच कोई असली टिकाऊपन नहीं रह सकता। कुल मिलाकर, राष्ट्रसंघ हुक़ूमतवाली शक्तियों का प्रतिनिधि है, इसलिए वह 'मौजूदा हालत' क़ायम रखना चाहता है। सुरक्षा के क़रारों और 'हमलावर' की व्याख्या की कोशिशों का सारा मतलब मौजूदा हालतों को क़ायम रखना है। चाहे कुछ भी हो जाय, जिन शक्तियों के हाथों में राष्ट्र-संघ की बागडोर हैं, उसमें से किसी शक्ति पर 'हमलावर' होने का इलज़ाम लगाना राष्ट्र-संघ के लिए शायद कभी मुमकिन नहीं होगा। वह हमेशा ऐसी तरकीबें लड़ावेगा कि दूसरे पक्ष को ही 'हमलावर' क़रार दिया जाय।

शान्तिवादी व दूसरे लोग, जो युद्ध को रोकना चाहते हैं, सुरक्षा के इन क़रारों का स्वागत करते हैं। पर ऐसा करके वे एक तरह से इस बेजा 'मौजूदा हालत' को बनी रहने में मदद देते हैं। अगर यह बात यूरोप पर लागू होती है, तो एशिया व अफ़्रीका पर तो और भी ज्यादा लागू होनी चाहिए, क्योंकि साम्राज्यवादी शक्तियों ने यहाँ के बड़े-बड़े प्रदेशों पर क़ब्ज़ा जमा लिया है। मतलब यह है कि एशिया और अफ़्रीका में मौजूदा हालत क़ायम रहने का अर्थ है साम्राज्यवादी शोषण जारी रहना।

इस 'मौजूदा हालत' को क़ायम रखने के बारे में यूरोप में जो गठ-बन्धन और क़ौल-क़रार हुए हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका अभी तक उनसे बिलकुल अलग रहा है।

निरस्त्रीकरण की सारी कोशिशोंकी नाकामयाबी ने आज अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति को जितना खोखला और धोखा साबित किया है, उतना किसी दूसरी चीज़ ने नहीं किया। सब लोग बातें तो शान्ति की करते हैं, पर तैयारियाँ युद्ध की कर रहे हैं।

केलॉग-ब्रियां क़रार ने युद्ध को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया है, मगर अब कौन तो इसे याद करता है और कौन इसकी परवाह करता है?

टिप्पणी—

निरस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने जर्मनी ने जो सुझाव रक्खे थे, वे ठुकरा दिये गए, और अक्तूबर, १९३३ ई० में जर्मनी सम्मेलन से उठकर चला गया, और उसने राष्ट्र-संघ से भी इस्तीफ़ा दे दिया। तबसे वह राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं है। जापान ने भी मंचूरिया के मसले पर राष्ट्र-संघ को छोड़ दिया, और इटली ने राष्ट्र-संघ इसलिए छोड़ दिया कि अबीसीनिया पर उसके हमले के बारे में राष्ट्र-संघ का रवैय्या उसे पसन्द नहीं आया। इस तरह तीन बड़ी शक्तियाँ राष्ट्र-संघ से निकल गईं, इसलिए ऐसी सूरत में राष्ट्र-संघ के मातहत निरस्त्रीकरण पर कोई अन्तर्रा-ष्ट्रीय फ़ैसला नामुमकिन-सा हो गया। सच तो यह है कि निरस्त्रीकरण के बाद ही तमाम देशों में बड़े ज़ोरों के साथ हथियारबन्दी शुरू हो गई। जर्मनी अपनी ज़बर्दस्त

फ़ौज और हवाई फ़ौज तैयार करने में लग गया, और इंग्लैण्ड, फ़्रान्स, अमेरिका व दूसरे देशों ने और भी ज्यादा जंगी-सामानों के लिए भारी-भारी रक़में मंजूर कीं।

। १९२ ।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट बिगड़ी को बनाता है

४ अगस्त, १९३३

यह क़िस्सा ख़त्म करने से पहले मैं चाहता हूँ कि तुम संयुक्त राज्य अमेरिका पर एक नज़र और डाल लो (और क़िस्सा पूरा होने में अब ज्यादा देर नहीं लग सकती)। आजकल यहाँ एक बहुत बड़ा और कुछ चमत्कारी प्रयोग चल रहा है, और संसार की आँखें इसपर लगी हुई हैं, क्योंकि इसके नतीजे से पता लग जायगा कि आगे चलकर पूँजीवाद किधर मुड़ेगा। मैं दोहरा दूँ कि अमेरिका हर तरह से संसार में सबसे ज्यादा आगे बढ़ा हुआ पूँजीवादी देश है, और यह सबसे दौलतमन्द भी है, और इसकी औद्योगिक तकनीक दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ी हुई है। इसे किसी देश का कुछ देना नहीं है और जो कुछ भी क़र्ज़ा है वह अपने ही नागरिकों का है। इसका निर्यात-व्यापार बहुत भारी है और बढ़ रहा है, मगर यह उसके ज़बर्दस्त अन्दरूनी व्यापार का सिर्फ़ एक छोटा-सा टुकड़ा (करीब १५ फ़ीसदी) है। यह देश उतना ही बड़ा है जितना कि एशिया का महाद्वीप। पर बड़ा भारी फ़र्क़ यह है कि जहाँ यूरोप बहुत-से छोटे-छोटे राष्ट्रों में बँटा हुआ है, जिन्होंने अपनी-अपनी सरहदों पर महसूल की भारी-भारी चुंगियाँ लगा रखी हैं, वहाँ संयुक्त राज्य के अपने ही प्रदेश के भीतर ऐसी कोई तिजारती रुकावटें नहीं हैं। इसलिए अमेरिका में भारी अन्दरूनी व्यापार का विकास जितना ज्यादा आसान था, उतना यूरोप में नहीं था। यूरोप के ग़रीबी के मारे और क़र्ज़ों से लदे देशों के मुक़ाबले में अमेरिका के पास सारी अच्छाइयाँ थीं। उसके पास ढेरों सोना था, ढेरों रुपया था और ढेरों माल था।

मगर फिर भी इनसब बातों के बावजूद, पूँजीवाद के संकट ने उसे धर-दबाया और उसका घमण्ड चूर कर दिया। जिस क़ौम में बेहद जीवट और तेजी थी वह तक़दीर ठोककर बैठ गई। कुल मिलाकर देश अब भी मालदार था, रुपया ग़ायब नहीं हुआ था, पर इसका ढेर कुछेक जगहों में जमा हो गया था। न्यूयार्क में करोड़ों डालर अभी तक दिखाई देते थे; जे० पीयरमॉन्ट मोर्गन नामक बड़ा बौहरा अब भी अपने निजी ऐशभरे बजरे में मौज करता था, जिसकी क़ीमत साठ लाख पौण्ड बताई जाती थी। मगर इसपर भी न्यूयार्क को

इन दिनों 'भूखा नगर' कहा जाता है। शिकागो-जैसे नगरों की बड़ी-बड़ी म्यूनिसिपैलिटियाँ दर असल दिवालिया हो गई हैं, और अपने हज़ारों कर्मचारियों के वेतन तक नहीं चुका सकतीं। और यही शिकागो शहर इन दिनों 'प्रगति की शताब्दी' नामक शानदार नुमाइश या 'जगत मेला' लगा रहा है।

ये धूप-छाँह सिर्फ़ अमेरिका में ही नहीं है। लन्दन में भी इंग्लैण्ड के ऊँचे वर्गों की दौलत और ऐयाशी की हर जगह इफ़रात दिखाई देती है; ज़रूरी तौर पर ग़रीबों की बस्तियों के सिवाय अगर कोई लंकाशायर या इंग्लैण्ड के उत्तरी या बीच के हिस्सों में जाय, तो वहाँ उसे बेकारों की लम्बी क़तारें, और पिचकी व सूखी हुई शक्लें, और रहन-सहन की बहुत बुरी हालतें दिखाई देंगी।

पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका में जुर्मों में मार्के की बढ़ोतरी हुई है, खास 'धाड़ैती' ढंग के जुर्मों में। यानी चोरों और लुटेरों के गिरोह मिलकर कार्रवाइयाँ करते हैं और अपने रास्ते में आनेवालों को गोलियों से उड़ा देते हैं। कहते हैं, जबसे शराबों की बिक्री बन्द करनेवाला क़ानून बना है, तबसे जुर्म बहुत बढ़ गये है। 'दारू बन्दी' कहलानेवाला यह क़ानून महायुद्ध के बाद ही बना था। इसे बनाने की कुछ वजह यह थी कि बड़े-बड़े कारखानेदार अपने मज़दूरों को शराब पीने से बचाना चाहते थे, ताकि वें अच्छी तरह काम कर सकें। मगर ये मालदार लोग खुद ही क़ानून तोड़ते थे, और बाहर देशों से नाजायज़ तरीके से शराबें मँगवा-मँगवाकर पीते थे। धीरे-धीरे शराबों का जबर्दस्त नाजायज़ व्यापार खड़ा हो गया। यह 'बूटलैगिंग'[1] कहलाता था और दो तरह से चलता था। एक तो देश के बाहर से बढ़िया शराबें और ठर्रे चोरी-छिपे लाना, दूसरे इन्हें चोरी-छिपे तैयार करना। आमतौर पर चोरी-छिपे तैयार की हुई शराब असली शराब से खराब और ज्यादा हानिकर होती थी। जिन जगहों में ये शराबें ऊँचे दाम देकर खरीदी जा सकती थीं वे 'स्पीक ईज़ी' कहलाती थीं, और बड़े-बड़े शहरों में ऐसे खानगी मैखाने हज़ारों की तादाद में पैदा हो गये थे। यह सबकुछ ग़ैर-क़ानूनी तो था ही, और इसे क़ायम रखने के लिए पुलिस के सिपाहियों और राजनीतिज्ञों को रिश्वतें दी जाती थीं और कभी-कभी मारने की धमकियाँ भी दी जाती थीं। क़ानून की इस खुली बे-इज़्ज़ती से धाड़ैती खूब बढ़ गये। इस तरह दारू-बन्दी से एक तरफ़ तो मज़दूरों की और देहाती जनता की भलाई हुई, परन्तु दूसरी तरफ़ इससे बहुत बुराई फैली, और शराब का ग़ैर-क़ानूनी व्यापार करनेवालों का ज़बर्दस्त स्वार्थ पैदा हो गया। सारा

[1] यह शब्द boot (जूता) और leg (टांग) से मिलकर बना है। यह इस कारण प्रयोग में आया कि लोग शराब की कुप्पियाँ जूतों की लम्बी टांगों में छिपाकर लाया करते थे।

देश दो दलों में बँट गया—एक दारूबन्दी के हामी, जो 'सूखे' (Drys) कहलाते थे, दूसरे इसके विरोधी जो 'गीले' (Wets) कहलाते थे।

मालदार लोगों के छोटे-छोटे बच्चों को उड़ा ले जाना और उनकी रिहाई के बदले में बड़ी-बड़ी रक़में माँगना, इन धाड़ैतियों के सबसे ज्यादा बदनाम और दिल दहलानेवाले जुर्म थे। कुछ दिन हुए लिण्डबर्ग का बच्चा इसी तरह उड़ाया गया था, और बड़ी बेदर्दी से मार डाला गया था, जिससे दुनिया-भर में तहलक़ा मच गया था।

इन सब बातों से, और इनके साथ व्यापार की मन्दी से, और दिलों में यह बात बैठ जाने से कि कितने ही बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर और व्यापारी लोग भ्रष्ट और नालायक़ थे, अमेरिका के लोगों का धीरज छूट गया था। इसलिए नवम्बर, १९३२ ई० में राष्ट्रपति के चुनाव के मौक़े पर लाखों लोग इस उम्मीद में रूज़वेल्ट की तरफ़ झुक गये कि वह उनकी मुसीबत कम कर देगा। रूज़वेल्ट 'गीला' था और डेमोक्रेटिक पार्टी का आदमी था। इस पार्टी के उम्मीदवार राष्ट्रपति बहुत कम चुने गये हैं।

जुदा-जुदा देशों की जुदा-जुदा खासियतों को सदा ध्यान में रखते हुए उनकी तुलना करने में मज़ा आता है और समझने में मदद मिलती है। इसलिए अमेरिका की हाल की घटनाओं की इंग्लैण्ड व जर्मनी की घटनाओं से तुलना करने को जी चाहता है। संयुक्त राज्य की जर्मनी के साथ तुलना ज्यादा नज़दीकी है, क्योंकि खूब उद्योगोंवाले होते हुए भी दोनों देशों में खेतिहर लोगों की आबादी ज्यादा है। जर्मनी में किसानों की संख्या उसकी आबादी की २५ फ़ीसदी है, संयुक्त राज्य में यह संख्या ४० फ़ीसदी है। राष्ट्रीय नीति ढालने में इन किसानों का बड़ा हाथ रहता है। इंग्लैण्ड में यह बात नहीं है, क्योंकि वहाँ किसानों की संख्या इतनी कम है कि उनकी परवाह नहीं की जाती। हाँ, अब उनमें भी जान डालने की कुछ कोशिशें की जा रही हैं।

जर्मनी में नात्सी-आन्दोलन का एक बड़ा सबब यह था कि वहाँ ग़रीब निचले मध्यम-वर्ग के लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई थी, और यह बढ़ोतरी जर्मनी में हुए सिक्का-फैलाव के बाद तेज़ी से हुई थी। जर्मनी में क्रान्तिकारी बननेवाला वर्ग यही था। ठीक यही वर्ग अब अमेरिका में ज़ोर पकड़ रहा है, यह 'सफ़ेद कालर-वाला सर्वहारा वर्ग'[1] कहलाता है, ताकि इसमें और मज़दूर-वर्गी सर्वहारा-वर्ग में फ़र्क़ किया जा सके, क्योंकि मज़दूर-वर्ग सफ़ेद कालरों को बहुत कम पसन्द करता है।

तुलना की और बातें ये हैं—सिक्के के संकट, मार्क, पौण्ड व डालर के स्वर्ण-

[1] White Collar proletariat.

मान में गिरावट, सिक्के का फैलाव, और बैंकों के दिवाले। इंग्लैण्ड में बैंकों के दिवाले नहीं निकले, क्योंकि वहाँ छोटे बैंक बहुत कम हैं, और बैंकिंग का सारा कारोबार कुछेक बड़े-बड़े बैंकों के हाथों में है। और मामलों में इन तीनों देशों में घटनाओं के सिलसिले एक-से हैं। जर्मनी में संकट सबसे पहले आया, फिर इंग्लैण्ड में, और इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में। नात्सियों के हिमायती, १९३१ ई० के चुनावों में ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के हिमायती, और नवम्बर, १९३२ ई० में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के चुनाव के हिमायती, तीनों देशों में बहुत-कुछ एक ही क़िस्म के लोग थे। ये निचले मध्यम-वर्ग के लोग थे, जिनमें बहुत-से पहले और दूसरे दलों में शामिल थे। परन्तु इस तुलना को बहुत आगे नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि एक तो राष्ट्र राष्ट्र में फ़र्क़ है, दूसरे इंग्लैण्ड व अमेरिका में वैसी सूरत अभी तक नहीं बनी है जैसी कि जर्मनी में है। लेकिन मुद्दे की बात यह है कि उद्योगों में खूब आगे बढ़े हुए इन तीनों देशों में बिलकुल एक ही जैसे आर्थिक असर काम कर रहे हैं, इसलिए इनसे पैदा होनेवाले नतीजे भी शायद एक ही जैसे होंगे। फ़ान्स पर (और दूसरे देशों पर) यह बात इस हद तक लागू नहीं होती, क्योंकि फ़ान्स अभी तक खेतिहर ज्यादा है और वहाँ उद्योगों की तरक़्क़ी अभी कम है।

रूज़वेल्ट ने मार्च, १९३३ ई० के शुरू में राष्ट्रपति का पद सम्हाला। जो महामन्दी चल रही थी, उसके अलावा इसे फ़ौरन ही बैंकों के जबर्दस्त संकट का भी सामना करना पड़ा। पद सम्हालने के कुछ सप्ताह बाद इसने देश की हालत का बयान करते हुए कहा था कि इस समय "देश तिल-तिल करके मर रहा है।"

रूज़वेल्ट ने झटपट और फ़ैसला करनेवाली कार्रवाई की। उसने कांग्रेस से बैंकों, उद्योगों और खेती-बाड़ी के मसलों को निपटाने के अधिकार माँगे, और कांग्रेस ने भी संकट से घबराकर, और यह महसूस करके कि आम लोगों की भावना रूज़वेल्ट के साथ है, उसे ये अधिकार दे दिये। रूज़वेल्ट एक तरह से तानाशाह बन गया (हालाँकि वह लोकतन्त्री तानाशाह था), और सब लोग उससे उम्मीद करने लगे कि उन्हें बरबादी से बचाने के लिए वह फ़ौरन ही कोई कारगर कार्रवाई करेगा। उसने भी बिजली-जैसी तेज़ी से क़दम उठाया, और कुछ ही सप्ताहों के भीतर उसने तरह-तरह की कार्रवाइयों से सारे संयुक्त राज्य को हिला दिया। साथ ही उसने लोगों में अपने बारे में और भी ज्यादा भरोसे की भावना पैदा कर दी।

रूज़वेल्ट ने जो कई फ़ैसले किये, उनमें से कुछ ये थे:

१. उसने स्वर्ण-मान से नाता तोड़ लिया और डालर का मोल गिर जाने दिया। इस तरह उसने क़र्ज़दारों का बोझ हल्का कर दिया। यह सिक्का-फैलाव का क़दम था।

२. उसने रुपया देकर किसानों को राहत पहुँचाई, और खेती-वाड़ी को राहत देने के लिए दो अरब डालर का भारी क़र्ज़ लेने की योजना जारी कराई।

३. उसने वन-विभाग के लिए और बाढ़ रोकने के कामों के लिए ढाई लाख मज़दूर फ़ौरन भर्ती किये। इसका मक़सद कुछ बेकारी कम करना भी था।

४. बे-रोज़गारों को राहत देने के लिए उसने कांग्रेस से अस्सी करोड़ डालर की रक़म माँगी। यह उसे दे दी गई।

५. लोगों को रोज़गार देने के वास्ते सार्वजनिक निर्माण के कामों में लगाने के लिए उसने तीन अरब डालर की बहुत भारी रक़म अलग रख दी। यह रक़म भी उधार ली जानेवाली थी।

६. दारू-बन्दी क़ानून रद्द कराने की कार्रवाई उसने जल्दी पूरी करा दी।

ये तमाम भारी रक़में मालदार लोगों से उधार लेकर वसूल की जानेवाली थीं। रूज़वेल्ट की सारी नीति यह थी, और अब भी है, कि जनता की ख़रीद-शक्ति बढ़ा दी जाय। क्योंकि अगर लोगों के पास पैसा होगा तो वे चीज़ें ख़रीदेंगे और व्यापार की मन्दी अपने-आप कम हो जायगी। इसी इरादे को सामने रखकर वह सार्वजनिक निर्माण की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना रहा है, जिनमें मज़दूरों को काम दिया जाय और वे पैसा कमा सकें। इसी इरादे से वह मजदूरों की मजूरी बढ़ाने की और उनके काम के घण्टे कम करने की कोशिश भी कर रहा है। दिन में काम के घण्टे कम होने से ज्यादा लोगों को काम पर लगाया जा सकेगा।

यह रवैय्या उस रवय्ये से बिलकुल उलटा है, जो संकट और मन्दी के ज़मानों में आमतौर पर कारखानेदारों का हुआ करता है। वे तो हमेशा मजूरी घटाने की और काम के घण्टे बढ़ाने की कोशिश किया करते हैं, ताकि उनके तैयार माल की लागत सस्ती बैठे। परन्तु रूज़वेल्ट का कहना है कि अगर हमें माल की इकट्ठी पैदावार फिर बढ़ानी है, तो हमें ऊँची मजूरी का जनता में बँटवारा करके जनता की उस माल को ख़रीदने की ताक़त भी बढ़ानी चाहिए।

रूज़वेल्ट की सरकार ने सोवियत रूस को भी क़र्ज़ दिया है, जिससे कि वह अमेरिका की रुई ख़रीद सके। दोनों सरकारें दोनों देशों के बीच माल की अदला-बदली की सम्भावनाओं के बारे में भी बातचीत कर रही हैं।

अभी तक अमेरिका ठेठ पूंजीवादी ढंग का देश रहा है, जिसमें होड़ को खुली छूट है। वह वैसा राज्य है, जिसे 'व्यक्तिवादी' कहा जाता है। रूज़वेल्ट की नई नीति इससे मेल नहीं खाती, क्योंकि वह तो कई तरह से व्यापार में दख़ल दे रहा है, यानी वह उद्योगों पर एक तरह से राज्य का बहुत-कुछ अंकुश लगा रहा है; हालाँकि वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है। वास्तव में यह कुछ हद तक सरकारी समाजवाद है, जिसमें मज़दूरों के काम के घण्टों और हालतों को क़ानून-क़ायदे से चलाया जाता है,

उद्योगों पर अंकुश लगाया जाता है, और गर्दन-काट होड़ रोकी जाती है। रूज़वेल्ट का कहना है कि "सब मिलकर योजनाएँ बनावें, और फिर उन योजनाओं को पूरी कराने का इन्तज़ाम करें।"

अब यह काम अमेरिका की बदस्तूर रेल-पेल और तेजी के साथ चल रहा है। बच्चों से मज़दूरी कराना ख़त्म कर दिया गया है। (इस बारे में बच्चों की उम्र सोलह साल तक की मानी गई है)। अब यह नारा है कि मजूरी की दरें ऊँची हों, वेतन ज़्यादा मिले, और काम के घण्टे कम हों। इस मुहिम को 'ख़ुशहाली बढ़ाने की ज़ोरदार कोशिश'[1] कहा गया है, और ख़बर यह है कि समूचा देश भरती का प्रचार करनेवाला ज़बर्दस्त पोस्टर बन गया है। मालिकों व दूसरे लोगों के नाम अपीलें बिखेरते हुए हवाई-जहाज़ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। सब बड़े-बड़े उद्योगों पर अलग-अलग ज़ोर डाला जा रहा है कि वे ऊँची मजूरी वग़ैरा मुक़र्रर करनेवाले 'कोड' तैयार करें, और इनपर अमल करने का इक़रार करें। अगर वे मुनासिब 'कोड' तैयार करने से इन्कार करते हैं, तो उन्हें हलकी-सी धमकी दी जाती है कि फिर यह काम सरकार करेगी। हरेक मालिक से इक़रारनामा भरवाया जाता है कि वह अपने कर्मचारियों की मजूरी बढ़ा देगा और उनके काम के घण्टे कम करेगा। जो मालिक इस मामले में आगे क़दम रक्खेंगे, उन्हें सरकार सम्मान के बिल्ले देने की तजवीज़ कर रही है और ढील करनेवालों को शर्मिन्दा करने के लिए हरेक नगर के डाकख़ानों में सम्मान-सूचियाँ रक्खी जायँगी।

इनसब बातों से भावों में और व्यापार में कुछ बेहतरी हुई है। लेकिन असली बेहतरी जो साफ़ दिखाई देती है, व्यापार के रुख़ में और व्यापारियों के हौसले में हुई है। पस्ती की भावना बहुत-कुछ चली गई है, और जनता के बड़े-बड़े समूहों में, ख़ासकर मध्यम-वर्गों में, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट पर भरपूर ऐतबार है। लोगों ने इसकी तुलना अमेरिका की महान् विभूति राष्ट्रपति लिंकन से की है। लिंकन भी महासंकट के समय यानी घरेलू-युद्ध के ज़माने में राष्ट्रपति हुआ था।

यूरोप के भी बहुत लोग रूज़वेल्ट की तरफ़ देखने लगे हैं और उन्हें आशा हो गई है कि मन्दी का मुक़ाबला करने के लिए वह दुनिया-भर का नेता बनेगा। मगर विश्व-आर्थिक-सम्मेलन के मौक़े पर दूसरे देशों के प्रतिनिधि उससे नाराज़ हो गये, क्योंकि उसने अपने प्रतिनिधियों को हिदायत दे दी थी कि वे डालर का मोल सोने के भाव पर तय करने की बात न मानें, और न दूसरी किसी ऐसी बात पर राज़ी हों, जो संयुक्त राज्य में उसकी बड़ी-बड़ी योजनाओं में अड़चन डालनेवाली हो।

रूज़वेल्ट की नीति साफ़ तौर पर आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह

[1] Prosperity push.

अमेरिका की सारी गड़बड़ सुधारने पर तुला हुआ है। यूरोप की कुछ सरकारें इस नीति को पसन्द नहीं करतीं और बौहरे लोग तो ख़ासतौर पर झल्लाये हुए हैं। ब्रिटिश सरकार भी रूज़वेल्ट की प्रगतिवादी हरकतों को पसन्द नहीं करती। वह तो बड़े-बड़े व्यवसायों की क़द्र करती है।

मगर यह कहना पड़ेगा कि संसार के मामलों में रूज़वेल्ट जितना कारगर हिस्सा ले रहा है, उतना उसके पहलेवाले राष्ट्रपति ने नहीं लिया। निरस्त्रीकरण और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सवालों पर इसने जो रुख़ अपनाया है, वह बिलकुल साफ़ है और इंग्लैण्ड के रुख़ से ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ है। हिटलर को इसने जो झिड़की दी, उससे हिटलर कुछ ठण्डा पड़ गया। यह सोवियत रूस से भी बातचीत कर रहा है।

अमेरिका में और दूसरे देशों में भी, आज यह बड़ा सवाल उठ रहा है कि क्या रूज़वेल्ट सफल होगा? वह पूंजीवाद की गाड़ी चालू रखने के लिए ज़ोरदार यत्न कर रहा है। परन्तु इसकी कामयाबी का अर्थ है बड़े-बड़े व्यापारियों की गद्दी छिन जाना, और यह दिखाई नहीं देता कि ये लोग चुपचाप बर्दाश्त कर लेंगे।

अमेरिका का 'बड़ा व्यापार' आज के संसार का सबसे ज़बर्दस्त निहित स्वार्थ माना जाता है, और वह सिर्फ़ राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के कहने से अपनी ताक़त और रियायतें छोड़नेवाला नहीं है। अभी तो वह चुप बैठा है, क्योंकि लोकमत ने और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की लोकप्रियता ने उसे बहुत-कुछ दबा रक्खा है, लेकिन वह मौक़े की ताक में है। अगर कुछ महीनों के भीतर हालत न सुधरी तो यह ख़याल किया जाता है कि लोकमत रूज़वेल्ट के खिलाफ़ हो जायगा, और तब ये बड़े व्यापारी मैदान में उतर आयेंगे।

कई योग्य दर्शकों का ख़याल है कि रूज़वेल्ट के सामने एक असम्भव काम है और वह कामयाब नहीं हो सकता। उसके असफल होने से बड़े व्यापारियों की फिर चढ़ बनेगी, और इस बार शायद वे पहले से भी ज़्यादा ताक़तवर हो जायँगे, क्योंकि तब रूज़वेल्ट के सरकारी समाजवाद का सारा सरंजाम बड़े व्यापारियों के निजी फ़ायदे में लगा दिया जायगा। अमेरिका का मज़दूर-आन्दोलन बिलकुल कमज़ोर है और आसानी से कुचला जा सकता है।

टिप्पणी—

संकट पर क़ाबू पाने के लिए और पूंजीवाद को नई हालतों में ढालने के लिए रूज़वेल्ट का भारी यत्न सफल हो गया है, हालाँकि बुनियादी परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ है। हाँ, हालत में सुधार ज़रूर हुआ है। दरअसल यह यत्न जनता को

राहत देने की बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए था, और इसलिए था कि मजूरी बढ़ाने और काम के घण्टे कम करने के लिए मालिकों को समझा-बुझाकर उद्योगों के मुनाफ़ों का कुछ हिस्सा मज़दूरों को भी दिलवाया जाय। मालिकों ने, ख़ासकर फ़ोर्ड ने, इसे अपनी आज़ादी पर हमला समझकर इसका सामना किया। उद्योगों और खेती-वाड़ी के 'कोड' बेकाम हो गये, और बार-बार हड़तालें हुईं। परन्तु अमेरिका का मज़दूर-वर्ग ज्यादा मज़बूत हो गया और उसमें पहले से ज्यादा वर्ग-चेतना पैदा हो गई और एक नया उत्साह भर गया। मज़दूर-संघों के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गई।

ज्यों-ज्यों आर्थिक हालत सुधरने लगी, बड़े-बड़े व्यापारी ज्यादा सरकश हो गये और रूज़वेल्ट की कार्रवाइयों का डटकर मुक़ाबला करने लगे। सुप्रीम कोर्ट ने रूज़वेल्ट के 'नेशनल रिकवरी ऐक्ट' और 'एग्रिकल्चरल ऐडजस्टमेण्ट ऐक्ट' नामक दो मुख्य क़ानूनों की कारगर धाराओं को संविधान के खिलाफ़, और इसलिए निष्प्रयोजन, क़रार दिया, और रूज़वेल्ट के 'नये क़दम'[1] की ज़मीन खोखली कर दी गई।

१९३६ ई० में रूज़वेल्ट दूसरी बार बहुत बड़े बहुमत से राष्ट्रपति चुना गया। बड़े व्यापारियों के साथ उसकी लड़ाई जारी है। कांग्रेस पर अब इसका दबदबा नहीं रहा है और उसने कई मामलों में इसका विरोध किया है।

: १९३ :

पार्लमेण्टों की असफलता

६ अगस्त, १९३३

हाल की घटनाओं की हमने कुछ ब्यौरे के साथ जाँच की है और ऐसी बहुत-सी ताक़तों और झुकावों पर विचार किया है, जो हमारे आज के बदलते हुए संसार को ढाल रहे हैं। जो तथ्य ख़ासतौर से सामने आये हैं, उनमें से दो ऐसे हैं, जिनका ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, लेकिन उनपर और भी विचार करना अच्छा होगा। इनमें से एक तो युद्ध के बाद के वर्षों में मज़दूर-वर्गों और पुराने ढंग के समाजवाद की नाकामयाबी है, और दूसरा पार्लमेण्टों की नाकामयाबी और गिरावट है।

मैं बतला चुका हूँ कि जब १९१४ ई० में महायुद्ध का डंका बजा तो संगठित मज़दूर-वर्ग किस तरह नाकामयाब रहा और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ किस तरह टूक-टूक हो गया। इसकी वजह थी युद्ध का अचानक धक्का, क्योंकि युद्ध में खूँख्वार राष्ट्रीय जोश भड़क उठते हैं, और लोगों के सिर पर थोड़ी देर का पागलपन सवार

[1] New Deal.

हो जाता है। मगर पिछले चार वर्षों के भीतर ऐसी चीज़ हुई है, जो इससे बिलकुल जुदा क़िस्म की है और इससे भी ज्यादा आँखें खोलनेवाली है। इन चार वर्षों में संसार में इतनी बड़ी मन्दी रही है, जितनी शायद पहले कभी नहीं रही। और इसके नतीजों से इन वर्षों में मज़दूरों की बुरी हालत दिन-पर-दिन ज्यादा बुरी होती गई है। मगर ताज्जुब यह है कि फिर भी इसके सबक़ से आमतौर पर सब देशों की मज़दूर जनता में, और ख़ासतौर पर इंग्लैण्ड व अमेरिका की मज़दूर-जनता में खास क्रान्तिकारी भावना पैदा नहीं हुई है।

पुराने ढंग का पूंजीवाद चूर-चूर होता दिखाई दे रहा है। बाहरी तौर पर, यानी जहाँतक बाहरी बातों का ताल्लुक़ है, ऐसा मालूम होता है कि हालतें साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था लाने के लिए पूरी तरह तैयार हैं, परन्तु जिन लोगों को इसकी तमन्ना होनी चाहिए थी, उन्हीं लोगों की बहुत बड़ी संख्या, यानी मज़दूरों में, क्रान्ति का इरादा नहीं है। इनसे ज्यादा क्रान्तिकारी भावनाएँ तो अमेरिका के पुराने विचारोंवाले किसानों में, और जैसाकि मैं बार-बार कह चुका हूँ, ज्यादातर देशों के निचले मध्यम-वर्गों में, नज़र आ रही हैं, जो मज़दूरों की बनिस्बत बहुत ज्यादा सरगर्म हो गये हैं। यह चीज़ सबसे ज्यादा तो जर्मनी में दिखाई दे रही है, परन्तु कुछ कम दर्जे की इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका व दूसरे देशों में भी दिखाई दे रही है। कमी-बेशी के ये फ़र्क़ अलग-अलग राष्ट्रीय विशेषताओं के सबब से हैं और संकट के बढ़ने की अलग-अलग मंज़िलों के कारण हैं।

जो मज़दूर-वर्ग युद्ध के बाद के वर्षों के शुरू में इतना सरगर्म और क्रान्तिकारी था, वह इतना बे-हलचल और भाग्य के भरोसे बैठा रहनेवाला क्यों हो गया? जर्मनी का समाजी लोकतन्त्री दल बिना किसी लड़ाई के क्यों चूर-चूर हो गया, और उसने नात्सियों के हाथों अपनेको नष्ट क्यों करा डाला? इंग्लैण्ड का मज़दूर-वर्ग इतना नर्म और प्रतिगामी क्यों है? और अमेरिका के मज़दूर-वर्ग की हालत इससे भी बुरी क्यों है? मज़दूर-वर्ग के नेताओं को उनकी नालायक़ी के लिए और मज़दूर-वर्ग के हितों के साथ ग़द्दारी करने के लिए, अक्सर क़सूरवार ठहराया जाता है। इनमें से बहुत-से तो बेशक क़सूरवार ठहराने लायक़ हैं, और जिस तरह इन लोगों ने अपने दलों को धोखा देकर दूसरे दलों को अपना लिया है, और मज़दूर-आन्दोलन को अपनी निजी हविसें पूरी करने की सीढ़ी बनाया है, उसे देखकर रंज होता है। दुःख की बात है कि इन्सान की ज़िन्दगी के हर मामले में मौक़ापरस्ती होती ही है, मगर जो मौक़ापरस्ती लाखों रौंदे हुए और मुसीबतज़दा लोगों की उम्मीदों, आदर्शों व क़ुर्बानियों से फ़ायदा उठाती है, वह इन्सानियत का बहुत ही दुःखभरा पहलू है।

नेताओं को दोष दिया जा सकता है। परन्तु आखिर नेता भी तो मौजूदा

हालतों के ही फल होते है। कोई देश जिस तरह के शासकों के लायक़ होता है, आम-तौर पर उसी तरह के शासक उसे मिलते हैं। और किसी आन्दोलन को नेता भी वही मिलते हैं, जो दरअसल उसकी सच्ची मुरादों के लिए आवाज़ उठाते हैं। सच तो यह है कि इन साम्राज्यवादी देशों के मज़दूर-नेता, और इनके पीछे चलने-वाले, समाजवाद को कोई जानदार विश्वासवाली या ऐसी कोई चीज़ नहीं मानते थे, जिसकी अभी चाहना हो। इनका समाजवाद पूंजीवादी ढाँचे के साथ बहुत ज्यादा उलझ गया और बँध गया था। उपनिवेशों के शोषण से मिलनेवाले मुनाफ़ों का ज़रा-सा हिस्सा इन्हें मिल जाता था, और वे अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिए पूंजीवाद का बना रहना ज़रूरी समझते थे। समाजवाद एक दूर का आदर्श, एक सपनों की दुनिया, आनेवाला ज़माना बन गया, मौजूदा ज़माने का नहीं। और स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह वह भी पूंजी की चेरी बन गया।

बस, मज़दूर-दल, मज़दूर-संघ, समाजी लोकतन्त्रवादी, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ, और इसी क़िस्म के सारे संगठन सुधार के छोटे-छोटे यत्नों में अपनी ताक़त गँवाते रहे, पूंजीवाद के सारे ढाँचे को इन्होंने साबत ही रहने दिया। अपना आदर्श-वाद छोड़कर ये ऐसा भारी नौकरशाही संगठन बन गये, जिसमें न तो जान थी और न असली मज़बूती।

नये साम्यवादी दल की हालत इससे जुदा थी। मज़दूरों के लिए इसके पास एक सन्देश था, जो ज्यादा ज़रूरी और दिलों को ज्यादा छूनेवाला था, और इसके पीछे सोवियत रूस की प्यारी तसवीर थी। परन्तु इतना होने पर भी इसे ज़रा भी सफलता नहीं मिली। यह यूरोप व अमेरिका की मज़दूर जनता के दिलों पर असर डालने में कामयाब नहीं हुआ। अचम्भे की बात है कि इंग्लैण्ड और अमेरिका में तो इसका ज़रा भी ज़ोर नहीं था। जर्मनी व फ़्रान्स में इसका कुछ ज़ोर था। मगर हम देखते हैं कि कम-से-कम जर्मनी तक में इसने अपनी ताक़त का फ़ायदा नहीं उठाया। अन्तर्राष्ट्रीय हिलाज़ से इसकी दो बड़ी हारें हुईं—एक तो १९२७ ई० में चीन में, दूसरी १९३३ ई० में जर्मनी में। व्यापार की मन्दी, और बार-बार के संकटों और कम मजूरी और बेकारी के इस ज़माने में, साम्यवादी दल कामयाब क्यों नहीं हुआ? इसका जवाब मुश्किल है। कुछ लोगों का कहना है कि इसकी वजह सिर्फ़ यह थी कि इसने ढब से काम नहीं किया और इसके काम के तरीक़े ग़लत थे। दूसरों की राय है कि यह दल सोवियत सरकार के साथ बहुत ज्यादा बँधा हुआ था, और इसकी नीति सोवियत की राष्ट्रीय नीति थी। जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति होनी चाहिए थी, वह नहीं थी। शायद यह बात सही हो, मगर यह खुलासा तसल्ली देने-वाला नहीं है।

साम्यवादी दल खुद तो मज़दूरों में नहीं पनपा, लेकिन साम्यवादी विचार

बहुत लोगों में, ख़ासकर दिमाग़ी वर्गों में फैल गये। सब जगह, यहाँतक कि पूँजीवाद के समर्थकों में भी, एक इन्तज़ारी, एक डर, मौजूद था कि संकट के नतीजे से किसी-न-किसी रूप में साम्यवाद आना लाज़िमी है। सब लोग मानते थे कि पुराने ढंग के पूँजीवाद के दिन बीत चुके हैं। आपा-धापी की यह अर्थ-व्यवस्था, हड़पने की यह हर आदमी की नीति, जिसमें किसी तरह की योजना नहीं है, और जिसमें बरबादी, झगड़े और समय-समय पर संकट होते रहते हैं, मिट जानी चाहिए। इसकी जगह आयोजित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहकारी अर्थ-व्यवस्था क़ायम होनी चाहिए। यह ज़रूरी नहीं कि इसका अर्थ मज़दूर-वर्ग की जीत ही हो, क्योंकि मिल्कियतवाले वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए राज्य का संगठन आधे समाजवादी ढंग पर भी किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूँजीवाद क़रीब-क़रीब एक-सी चीज़ें हैं, असली सवाल यह है कि राज्य किसके हाथों में है और कौन उससे नफ़ा उठाता है ? सारा समुदाय या कोई ख़ास मालमता वाला-वर्ग।

जब दिमाग़ी लोग इस क़िस्म के तर्क-वितर्क कर रहे थे, तब पश्चिमी औद्योगिक देशों के निचले मध्यम-वर्ग कार्रवाइयाँ कर रहे थे। ये वर्ग कुछ धुँधले तौर पर महसूस कर रहे थे कि पूँजीवाद व पूँजीपति उनको चूसते हैं। इसलिए इनके ख़िलाफ़ उनमें कुछ गुस्सा पैदा हो गया था। मगर उन्हें मज़दूर-वर्ग का और साम्यवादियों के हाथों में सत्ता आने का और भी ज़्यादा डर था। पूँजीपति लोग इस फ़ासीवादी लहर के साथ अक्सर समझौता कर लेते थे, क्योंकि वे समझते थे कि साम्यवाद को रोकने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। धीरे-धीरे क़रीब सब लोग, जो साम्यवाद से डरते थे, इस फ़ासीवाद के साथी बन गये। इस तरह जहाँ कहीं भी पूँजीवाद ख़तरे में है, वहाँ कम या ज़्यादा हद तक, फ़ासीवाद फैलता जा रहा है, और साम्यवाद का या उसके अन्देशे का मुक़ाबला कर रहा है। इन दोनों के बीच में पार्लमेण्टी हुकूमतों का कचूमर निकल रहा है।

और इससे अब हम उस दूसरी बड़ी बात पर आ पहुँचते हैं, जिसका ज़िक्र मैं इस पत्र के शुरू में कर चुका हूँ, यानी पार्लमेण्टों की असफलता और उनकी गिरावट। तानाशाहों के बारे में, और पुराने ढंग के लोकतन्त्र की असफलता के बारे में, मैं अपने पिछले पत्रों में बहुत-कुछ लिख चुका हूँ। यह चीज़ रूस, इटली व मध्य-यूरोप में काफ़ी सामने आ चुकी है, और अब जर्मनी में भी सामने आ गई है, जहाँ नात्सियों के हाथों में सत्ता आने से पहले ही पार्लमेण्टी हुकूमत ढह गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में हमने देखा है कि कांग्रेस ने राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को पूरे अधिकार किस तरह सौंप दिये हैं। यह सिलसिला फ़्रान्स और इंग्लण्ड में भी दिखाई दे रहा है, हालाँकि इन दोनों देशों की लोकतन्त्री परम्परा सबसे पुरानी और सबसे मज़बूत है। पहले हम इंग्लैण्ड पर विचार करेंगे।

इंग्लैण्ड का काम करने का ढंग यूरोप के दूसरे देशों के तरीक़ों से बिलकुल निराला है। इंग्लैण्ड अपने पुराने चेहरे-मोहरे बनाये रखने का यत्न करता है, इसलिए वहाँ होनेवाले परिवर्तन ज़्यादा नज़र नहीं आते। मामूली तौर पर देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि पार्लमेण्ट अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रही है, परन्तु हक़ीक़त यह है कि वह बहुत-कुछ बदल चुकी है। गुज़रे ज़माने में कामन्स-सभा सत्ता का सीधा इस्तेमाल करती थी, इसलिए एक मामूली सदस्य भी अच्छा असर रखता था। परन्तु अब सारे बड़े-बड़े मसलों का निपटारा मन्त्रिमण्डल करता है या यों कहो कि सरकार करती है, और कामन्स-सभा तो सिर्फ़ 'हाँ' या 'ना' कह सकती है। अलबत्ता, कामन्स-सभा 'ना' कहकर सरकार को हटा सकती है, परन्तु यह इतनी सख़्त कार्रवाई है कि बहुत ही कम अमल में आती है, क्योंकि इससे बहुत-से झगड़े पदा हो जाते हैं और नया आम चुनाव लाज़िमी हो जाता है। इसलिए अगर किसी सरकार का कामन्स-सभा में बहुमत हो, तो वह जो चाहे सो कर सकती है और उसे सभा से मंज़ूर करवाकर क़ानून की शक्ल दे सकती है। इस तरह सत्ता विधान-मण्डल के हाथों से निकलकर सरकारी अमले के हाथों में चली गई है, और और अब भी जा ही रही है।

दूसरे, आजकल पार्लमेण्ट को बहुत ज़्यादा काम करना पड़ता है, और उसके सामने टेढ़े-मेढ़े सवाल बहुत ज़्यादा आते रहते हैं। इसलिए यह दस्तूर बन गया है कि पार्लमेण्ट किसी तजवीज़ या क़ानून के सिर्फ़ मोटे उसूल तय कर देती है, और उसकी तफ़सीलें सरकारी अमले पर या इसके किसी विभाग पर छोड़ देती है। इसलिए अमलदारों के हाथों में ज़बर्दस्त शक्ति आ गई है, और नाज़ुक घड़ी में वे जो चाहे सो कर सकते हैं। इस तरह राज्य की महत्ववाली कार्रवाइयों के साथ पार्लमेण्ट का लगाव दिन-पर-दिन कम होता जा रहा है। उसके ख़ास काम अब सिर्फ़ ये रह गये हैं कि सरकार की तजवीज़ों, सवालों और जाँचों की नुक़ताचीनी करना, और अन्त में सरकार की मोटी नीति को मंज़ूरी देना। हैरल्ड जे० लास्की[1] कहता है: "हमारी सरकार अमलदारों की तानाशाही बन गई है, जिसे पार्लमेण्ट के विद्रोह का कुछ डर रहता है।"

अगस्त, १९३१ ई० में मज़दूर सरकार का अचानक ख़ात्मा अजीब ढंग से हुआ, जिससे ज़ाहिर हो गया कि पार्लमेण्ट इस मामले में कितनी कम ज़िम्मेदार थी। आमतौर पर इंग्लैण्ड की किसी सरकार का पतन तब होता है जब कामन्स-सभा में उसकी हार हो जाय। परन्तु १९३१ ई० में कामन्स के सामने कोई मामला

[1] इंग्लैण्ड का सुप्रसिद्ध राजनीति-शास्त्र विशारद तथा लेखक। इसकी मृत्यु १९४९ ई० में हो गई।

नहीं आया, किसीको मालूम नहीं था कि क्या हो रहा है, यहाँतक कि मन्त्रिमण्डल के ज़्यादातर सदस्यों को भी कुछ मालूम नहीं था। प्रधान-मन्त्री रैम्ज़े मेक्डानल्ड ने दूसरे दलों के नेताओं से कुछ गुप-चुप बातें कीं, वे लोग बादशाह के पास गये, पुराना मन्त्रिमण्डल यकायक ख़त्म हो गया और अख़बारों में नये मन्त्रिमण्डल का ऐलान कर दिया गया। पुराने मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्यों को तो पहले-पहल यह बात अख़बारों से ही मालूम हुई। कार्रवाई का सारा ढंग बहुत ग़ैर-मामूली और लोकतन्त्री दस्तूरों के बिलकुल ख़िलाफ़ था। अन्त में कामन्स-सभा ने इसपर मंजूरी की मोहर भी लगा दी, तो भी इससे इस असलियत पर कोई असर नहीं पड़ता। यह तो तानाशाही का तरीक़ा था।

बस, मज़दूर-सरकार के आसन पर रातों-रात 'राष्ट्रीय सरकार' बैठ गई, जिसमें अनुदार दलवालों का ज़ोर था और जिसे कुछेक उदार-दली व मज़दूर-दली लोगों ने राष्ट्रीयता का पुट दे दिया था। रैम्ज़े मेक्डानल्ड प्रधान-मन्त्री बना रहा, हालाँकि मज़दूर-दल ने उसे ग़द्दार क़रार दिया था और दल से निकाल दिया था। ऐसी 'राष्ट्रीय' सरकारें उस वक़्त क़ायम होती हैं, जब यह अन्देशा हो कि दूर तक असर डालनेवाले समाजवादी परिवर्तन मिल्कियतवाले वर्गों की हैसियत डाँवाडोल कर देंगे या उनपर हद से ज़्यादा बोझा डाल देंगे। इंग्लैण्ड में अगस्त, १९३१ ई० में ऐसी सूरत तब पैदा हुई जब वह संकट आया, जिसने बाद में पौण्ड को स्वर्ण-मान से अलग कर दिया। इसका असर यह हुआ कि सारी पूँजीवादी ताक़तें समाजवाद के मुक़ाबले में एक होकर डट गईं। मध्यम-वर्गी जनता को यह डर दिखलाकर कि अगर मज़दूर-दल जीत गया तो उनकी सारी जमा-पूँजी छिन जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने उन्हें बुरी तरह दहला दिया, और चुनाव में अपने लिए बहुत भारी बहुमत हासिल कर लिया। मेक्डानल्ड और उसके समर्थकों ने कहा कि अगर राष्ट्रीय सरकार नहीं आई तो साम्यवाद आयेगा।

इस तरह इंग्लैण्ड में भी पुराना लोकतन्त्री ढाँचा टूट चुका है, और पार्लमेण्ट की हालत गिरती जा रही है। जब जनता के जज़बों को भड़कानेवाले निहायत ज़रूरी मुद्दे, मसलन मज़हबी लड़ाइयाँ, या राष्ट्रीय व जातीय झगड़े ('आर्यन' जर्मन बनाम यहूदी), और इन सबके ऊपर आर्थिक टक्करें (आसूदा और महरूम वर्गों के बीच), सामने आते हैं, तब लोकतन्त्र का दिवाला निकल जाया करता है। तुम्हें याद होगा कि १९१४ ई० में आयर्लैण्ड में जब अल्स्टर और बाक़ी देश के बीच ऐसा ही मजहबी राष्ट्रीय मुद्दा उठा था, तब अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट का फ़ैसला मानने से इन्कार कर दिया था और, वहाँ घरेलू-युद्ध तक को बढ़ावा दिया था। बस, जबतक कोई ज़ाहिरा लोकतन्त्री क़ायदा मिल्कियतदार वर्गों का मतलब बनाता है, तबतक वे उससे फ़ायदा उठाकर अपने स्वार्थों को बचाते हैं। परन्तु जब

वह उनके रास्ते में अड़चन डालता है और उनकी खास सहूलियतों और स्वार्थों को चुनौती देता है, तब वे लोकतन्त्री क़ायदे को धता बताते हैं और तानाशाही तरीक़े अपना लेते हैं। मुमकिन है कि आगे चलकर ब्रिटिश पार्लमेण्ट सब साफ़ करनेवाले उलट-फेरों के हक़ में बहुमत हासिल कर ले। लेकिन अगर यह बहुमत जमे हुए स्वार्थों पर हमला करेगा, तो इन स्वार्थों के हक़दार शायद पार्लमेण्ट को ही मानने से इन्कार कर दें, और उसके फ़ैसले के खिलाफ़ विद्रोह तक भड़काने लगें, जैसाकि उन्होंने १९१४ ई० में अल्स्टर के मुद्दे पर किया था।

बस, हम देखते हैं कि मिल्कियतवाले वर्ग, पार्लमेण्ट व लोकतन्त्र को सिर्फ़ तभी तक माक़ूल समझते हैं, जबतक कि इनके ज़रिये चालू हालतें क़ायम रक्खी जा सकें। अलबत्ता यह सच्चा लोकतन्त्र नहीं है, यह तो ग़ैर-लोकतन्त्री ग़रज़ के लिए लोकतन्त्री इरादे का बेजा इस्तेमाल है। सच्चे लोकतन्त्र को क़ायम रखने का तो अभी तक मौक़ा ही नहीं मिला है, क्योंकि पूंजीवादी ढाँचे और लोकतन्त्र के बीच तो बुनियादी फ़र्क़ है। लोकतन्त्र अगर कुछ मानी रखता है तो वह है बराबरी; सिर्फ़ वोट की बराबरी नहीं बल्कि आर्थिक और समाजी बराबरी। पूंजीवाद का अर्थ इससे बिलकुल उलटा है। इसका अर्थ है मुट्ठी-भर लोगों के क़ब्ज़े में माली ताक़त का रहना, और उसके ज़रिये इस सत्ता का अपने निजी फ़ायदे के लिए इस्तेमाल। ये लोग अपनी खुद की सहूलियतवाली हैसियत क़ायम रखने के लिए क़ानून बनाते हैं, और जो कोई इन क़ानूनों को तोड़ता है, वह क़ानून और व्यवस्था में गड़बड़ डालनेवाला और समाज का क़सूरवार माना जाता है। बस, इस ढाँचे में किसी तरह की बराबरी नहीं होती, और लोगों को सिर्फ़ उतनी ही स्वतन्त्रता दी जाती है जितनी कि पूंजीवाद को क़ायम रखनेवाले क़ानूनों के दायरे में आती हो।

पूंजीवाद और लोकतन्त्र की आपसी टक्कर क़ुदरती चीज़ है, और वह लगातार चलती रहती है। यह अक्सर झूठे प्रचार और लोकतन्त्र के ऐसे बाहरी रूपों के परदे में छिपी रहती है जैसे पार्लमेण्टें और बहलानेवाली वे चीजें, जो मिल्कियतवाले वर्ग दूसरे वर्गों के सामने फेंका करते हैं, ताकि वे थोड़े-बहुत राज़ी रहें। परन्तु एक वक़्त ऐसा आता है जब फेंकने के लिए ये बहलानेवाली चीजें बाक़ी नहीं रहतीं, और तब दोनों वर्गों की आपसी टक्कर लाज़िमी हो जाती है; क्योंकि तब यह लड़ाई असली चीज़ के लिए, यानी राज्य में आर्थिक सत्ता के लिए, होती है। जब यह हालत आती है, तब पूंजीवाद के सारे समर्थक, जो अबतक दूसरे दलों को आपस में लड़ाते रहे थे, अपने जमे हुए स्वार्थों पर आनेवाले इस खतरे का मुक़ाबला करने के लिए एकजूट हो जाते हैं। उदारवादी और ऐसे ही दूसरे दल मिट जाते हैं, और लोकतन्त्र के रूपों को ताक में रख दिया जाता है। यूरोप व अमेरिका में अब यह हालत पैदा हो गई है, और इस हालत को बनानेवाला फ़ासीवाद है, जो ज्यादातर

देशों में किसी-न-किसी रूप में हावी हो रहा है। मज़दूर-वर्ग सब जगह अपना बचाव कर रहा है, पूंजीवादी ताक़तों के इस नये और ज़बर्दस्त जमघट का मुक़ाबला करने की शक्ति उसमें नहीं है। मगर अजीब बात यह है कि खुद पूंजीवादी ढाँचा ही लड़खड़ा रहा है, और नई दुनिया के साथ अपना मेल नहीं बिठा पा रहा। बिलकुल साफ़ दिखाई देता है कि अगर यह किसी तरह बच भी जाय, तो इसका रूप बिलकुल बदला हुआ और ज़्यादा कड़ा हो जायगा। और फिर यह इस लम्बी लड़ाई की दूसरी मंज़िल होगी, क्योंकि आज के उद्योग और आज की ज़िन्दगी, चाहे ये पूंजीवाद के किसी भी रूप के मातहत हों, एक क़िस्म के जंगी मैदान हैं, जहाँ फ़ौजें हमेशा आपस में भिड़ती रहती हैं।

कुछ लोगों का खयाल है कि अगर ये सारी हुकूमतें थोड़े-से समझदार लोगों को सौंप दी जायँ तो यह तमाम झगड़ा, लड़ाई और मुसीबतें मिट जायँ, और यह कि इन सारी चीज़ों की जड़ में राजनीतिकों और राजनीतिज्ञों की बेवक़ूफ़ी या बदमाशी है। वे समझते हैं कि अगर भले लोग किसी तरह एक होकर जुट जायँ तो वे बदकारों को नीति के उपदेश देकर और उनके चाल-चलन की भूल उन्हें बतलाकर, उनके दिल बदल सकते हैं। यह ख़याल बहुत ग़लत है, क्योंकि क़सूर व्यक्तियों का नहीं है, बल्कि भ्रष्ट ढाँचे का है। जबतक यह ढाँचा क़ायम है, तबतक ये व्यक्ति अपने मौजूद ढंग से ही चलते रहेंगे। बड़े ही ताज्जुब की बात है कि हुकूमत या खास सहूलियतों की गद्दियों पर बैठे हुए गिरोह—चाहे तो वे दूसरे राष्ट्र पर राज करने-वाले विदेशी गिरोह हों और चाहे किसी राष्ट्र के अन्दरूनी आर्थिक गिरोह—खुद को धोखा देकर और मक्कारी से यह यक़ीन कर लेते हैं कि उनकी खास सहूलियतें उनकी खूबियों के वाजिब इनाम हैं। अगर कोई इस हैसियत को मानने से इन्कार करता है तो वह उन्हें बदमाश और गुण्डा और जमी-जमाई हालत को उलटनेवाला नज़र आता है। किसी हुकूमतदार गिरोह को यह यक़ीन दिलाना नामुमकिन है कि उसकी सहूलियतें नाजायज़ हैं, और उसे उनको त्याग देना चाहिए। अलग-अलग व्यक्तियों के दिलों में शायद कभी-कभी यह बात बैठ भी जाय, हालाँकि यह बहुत कठिन है, पर गिरोहों के दिलों में तो कभी भी नहीं बैठ सकती। इसीलिए मुठभेड़ें, लड़ाई-झगड़े और क्रान्तियाँ लाज़िमी तौर पर होते हैं और उनके साथ बेहद तकलीफ़ें और मुसीबतें आती हैं।

: १९४ :

दुनिया पर आख़िरी नज़र

७ अगस्त, १९३३

जबतक क़लम और काग़ज़ और स्याही खत्म न हो जायँ तबतक पत्र

लिखने का छोर नहीं आ सकता। और दुनिया की घटनाओं के बारे में लिखने का भी कोई छोर नहीं है, क्योंकि हमारी यह दुनिया लुढ़कती चली जा रही है, और इसमें रहने वाले मर्द, औरतें और बच्चे हमेशा हँसते और रोते हैं, प्यार और नफ़रत करते हैं, और आपस में लड़ते हैं। यह ऐसी कथा है, जो आगे बढ़ती ही चली जाती है, और जिसका कोई छोर नहीं है। और आज के जिस ज़माने में हम रह रहे हैं, उसमें ज़िन्दगी का बहाव इतना तेज़ मालूम हो रहा है जितना पहले कभी नहीं था, इसकी रफ़्तार पहले से ज्यादा तेज़ है, और एक के बाद दूसरे परिवर्तन बड़ी जल्दी-जल्दी आ रहे हैं। यह तो मेरे लिखते-लिखते ही बदल रहा है, और आज मैंने जो कुछ लिखा है, वह शायद कल ही पुराना, दूर का, और बे-जगह हो जाय। ज़िन्दगी की धारा कभी ठहरी नहीं रहती, यह तो बहती चली जाती है। आज की तरह कभी-कभी यह हमारी छोटी-छोटी इच्छाओं और तमन्नाओं को ठुकराती हुई, हमारी ना-कुछ हैसियतों की बेरहम खिल्ली उड़ाती हुई, और अपनी तूफ़ानी लहरों पर हमें तिनके की तरह उछालती हुई, बेदर्दी से और शैतानी ज़ोर के साथ तेज़ी से आगे दौड़ती है। यह धारा, पता नहीं किधर दौड़ी जा रही है—उस बड़ी चट्टान की तरफ़ जा रही है, जो टकराकर इसके हज़ारों टुकड़े कर देगी, या किसी अपार और समझ से बाहर, रोबदार और शान्त, हमेशा बदलते हुए मगर फिर भी कभी न बदलने वाले सागर की तरफ़ जा रही है।

जितना लिखने का मेरा इरादा था या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे मैं बहुत ज्यादा लिख चुका हूँ। मेरी क़लम दौड़ती चली गई है। हमने अपनी लम्बी सैर ख़त्म कर दी है और अपनी आख़िरी लम्बी मंज़िल भी तय कर ली है। हम आज तक आ पहुँचे हैं और कल की ड्योढ़ी पर इस इन्तज़ार में खड़े हैं कि जब यह कल भी वक़्त आने पर आज बन जायगा तो इसका क्या रूप होगा। अब हमें ज़रा-सी देर ठहरकर दुनिया पर चारों ओर नज़र डालनी चाहिए। सन उन्नीस सौ तैंतीस के अगस्त महीने की सातवीं तारीख को इसकी क्या हालत है?

भारत में गांधीजी को फिर गिरफ़्तार करके सज़ा दे दी गई है और वह वापस फिर यरवदा-जेल पहुँच गये हैं। सत्याग्रह-आन्दोलन फिर शुरू हो गया है, हालाँकि इसका दायरा बहुत छोटा है, और हमारे साथी फिर जेल जा रहे हैं। मेरे एक बहादुर और प्यारे साथी और दोस्त जतीन्द्र मोहन सेनगुप्त, जिनसे पहले-पहल मेरी मुलाक़ात पच्चीस साल हुए कैम्ब्रिज में, जब मैं वहाँ भर्ती हुआ ही था, हुई थी, अभी-अभी हमें छोड़कर चल दिये हैं। उनकी मौत ब्रिटिश सरकार की क़ैद में हुई है। ज़िन्दगी मौत में डूब जाती है, पर भारतवासियों की ज़िन्दगी को जीने-लायक़ बनाने-वाला बड़ा काम जारी है। भारत के निहायत ज़िन्दा-दिल और अक्सर सबसे ज्यादा दिमाग़ी योग्यतावाले हज़ारों सुपुत्र और सुपुत्रियाँ, जेलों में या नज़रबन्दी की

छावनियों में पड़े हुए अपनी जवानी और ताक़त भारत को ग़ुलाम बनानेवाले मौजूदा ढाँचे से जूझने में खर्च कर रहे हैं। यह ज़िन्दगी और यह शक्ति नई इमारत खड़ी करने में, तामीरी कामों में, लगाई जा सकती थी। दुनिया में कितना काम करने को पड़ा है! पर तामीर से पहले तोड़-फोड़ ज़रूरी है, ताकि नई इमारत के लिए ज़मीन तैयार हो जाय। किसी झोंपड़ी की कच्ची दीवारों पर आलीशान इमारत नहीं खड़ी की जा सकती। आज भारत में जो हालत है, वह इस असलियत से अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि बंगाल के कुछ हिस्सों में लोगों की पोशाक तक भी सरकारी हुक्मों की पावन्द है, और अगर कोई दूसरी तरह की पोशाक पहन ले तो जेलखाने भिजवा दिया जाता है। चटगाँव में बारह साल से ऊपर की उम्र के छोटे-छोटे लड़कों तक को (और शायद लड़कियों को भी) कहीं भी जाने के लिए अपने साथ शनाख़्ती कार्ड लेकर चलना पड़ता है। मैं नहीं जानता कि ऐसा निराला फ़रमान दुनिया में किसी और जगह भी कभी जारी किया गया हो। शायद नात्सियों के जर्मनी में या दुश्मन के सिपाहियों से घिरे हुए युद्ध-प्रदेशों में भी ऐसा नहीं हुआ होगा। आज अंग्रेज़ी राज में हमारे राष्ट्र की यह हालत है कि कहीं जाने के लिए भी परवाने की ज़रूरत होती है। और हमारे उत्तर पश्चिमी सीमान्त के उस पार हमारे पड़ौसियों पर ब्रिटिश हवाई जहाज़ बम बरसाते रहते हैं।

दूसरे देशों में हमारे देश-भाइयों की ज़रा भी इज़्ज़त नहीं की जाती, कहीं भी उनका स्वागत नहीं किया जाता। और इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं है, क्योंकि जब उनकी अपने ही देश में इज़्ज़त नहीं है तो दूसरी जगह कैसे हो सकती है? उन्हें दक्षिण अफ़्रीका से निकाला जा रहा है, जहाँ वे जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, और जिसके कुछ हिस्सों को; खासकर नेटाल में, उन्होंने अपनी गाढ़ी मेहनत से बनाया है। रंग-भेद, जातीय नफ़रत, आर्थिक तक़रार, वग़ैरा ने मिलकर दक्षिण अफ़्रीका के इन भारतीयों को ऐसा मर्दूद बना दिया है, जिनका न कोई घर है और न कोई आसरा। दक्षिण अफ़्रीकी यूनियन की सरकार कहती है कि उन्हें तो बस दक्षिण अफ़्रीका हमेशा के लिए छोड़ने को तैयार हो जाना चाहिए। फिर उन्हें जहाज़ों में भरकर ब्रिटिश गायना या किसी दूसरी जगह भेज दिया जायगा, या भारत वापस भेज दिया जायगा, जहाँ जाकर वे भूखों ही क्यों न मरें!

पूर्वी अफ़्रीका में केनिया व इसके इर्द-गिर्द प्रदेशों को बनाने में भारतीयों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। पर अब वहाँ भी इनका रहना पसन्द नहीं किया जाता, इसलिए नहीं कि अफ़्रीकी लोग ऐतराज़ करते हैं, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर यूरोपीय बागान-मालिक ऐतराज़ करते हैं। यहाँ के अच्छे-से-अच्छे इलाके, यानी पठार के प्रदेश, इन बागान-मालिकों के हक़ में छोड़े हुए हैं। यहाँ न तो अफ़्रीकी लोग धरती के मालिक हो सकते हैं और न भारतवासी। बेचारे अफ़्रीकियों की तो बहुत

बुरी हालत है। शुरू में सारी धरती इनके क़ब्ज़े में थी और उनकी गुज़र-बसर का अकेला सहारा थी। सरकार ने इसके बड़े-बड़े टुकड़े ज़ब्त कर लिये, और यूरोपीय प्रवासियों को सौंप दिया। बस, ये प्रवासी या बागान-मालिक आज यहाँ बड़े-बड़े ज़मींदार बन गये हैं। ये लोग न तो इन्कम-टैक्स देते हैं और न कोई दूसरा टैक्स। टैक्सों का लगभग सारा बोझ बेचारे रौंदे हुए अफ़्रीकियों पर पड़ता है। इनसे सीधे टैक्स वसूल करना तो कठिन है, क्योंकि इनके पास होता ही क्या है। इसलिए इनके रहन-सहन की कुछ ज़रूरी चीजों पर, मसलन आटा, कपड़ा, वग़ैरा पर टैक्स लगा दिया गया है, ताकि जब वे ये चीज़ें ख़रीदें तो उन्हें हेर-फेर से टैक्स देना पड़े। पर सबसे निराला और सीधा टैक्स हर झोंपड़े और हर आदमी पर पोल-टैक्स था, जो सोलह साल की उम्र से ऊपर के हरेक मर्द उसके आश्रितों पर, जिनमें स्त्रियाँ भी शामिल की जाती थीं, लगाया जाता था। टैक्स लगाने का नियम यह है कि लोगों की कमाई या मिल्कियत से टैक्स वसूल होना चाहिए। चूंकि अफ़्रीकी के पास और कुछ तो था नहीं, इसलिए उसके तन पर ही टैक्स लगा दिया गया। लेकिन अगर उसके पास पैसा नहीं था, तो वह हर आदमी पर बारह शिलिंग सालाना का यह टैक्स किस तरह चुकाता? बस, इस टैक्स की चालाकी इसी बात में थी, क्योंकि इससे मजबूर होकर उसे यूरोपीय प्रवासियों के बागानों में काम करके कुछ पैसा कमाना पड़ता था और इस तरह टैक्स चुकाना पड़ता था। यह सिर्फ़ रुपया कमाने की ही तरकीब नहीं थी, बल्कि बागानों के लिए सस्ती मजूरी हासिल करने की भी थी। इसलिए पोल-टैक्स चुकाने लायक़ मजूरी कमाने के लिए इन कम्बख़्त अफ़्रीकियों को कभी-कभी बड़ी दूर-दूर से, देश के भीतरी भागों से, सात-आठ सौ मील की दूरी तय करके, समुद्री किनारे के बागानों में आना पड़ता है (देश के भीतर रेलें नहीं हैं और किनारे पर भी बहुत कम हैं)।

बेचारे नित पीसे जानेवाले अफ़्रीकियों के बारे में मैं तुम्हें बहुत सारी बातें बतला सकता हूँ। ये लोग इतना तक नहीं जानते कि बाहर की दुनिया को अपनी पुकार कैसे सुनावें। इनकी मुसीबतों की कहानी बड़ी लम्बी है, और ये चुपचाप तकलीफ़ें सह रहे हैं। अपनी अच्छी-से-अच्छी धरतियों से निकाले जाने पर इन्हें उन्हीं यूरोपीय लोगों के असामी बनकर फिर वहीं आना पड़ता है, जिन्हें ये धरती अफ़्रीकियों से छीनकर मुफ़्त दे दी गई है। वे यूरोपीय ज़मींदार आधे-सामन्ती मालिक हैं, और जिन हलचलों को ये पसन्द नहीं करते, वे तमाम दबा दी जाती हैं। अफ़्रीकी लोग सुधारों की माँग करने के लिए भी कोई समिति नहीं बना सकते, क्योंकि किसी तरह का चन्दा इकट्ठा करने की मनाही है। एक आर्डिनेंस के ज़रिये नाचों पर भी रोक लगा दी गई है, क्योंकि अफ़्रीकी लोग अपने गीतों और नृत्यों में कभी-कभी यूरोपीय तौर-तरीक़ों की नक़ल उतारते थे और मज़ाक उड़ाते थे। किसान-वर्ग निहायत ग़रीब है, और इन लोगों को चाय या क़हवा उगाने की भी

इजाज़त नहीं है, क्योंकि इससे यूरोपीय बागान-मालिकों के व्यापार में होड़ का अन्देशा है।

तीन साल हुए ब्रिटिश सरकार ने यह ईमानिया ऐलान किया था कि वह अफ़्रीकियों की अमानतदार है, और आयन्दा इनकी ज़मीनें इनसे नहीं छीनी जायँगी। मगर अफ़्रीकियों की बदक़िस्मती से पिछले साल केनिया में सोने की खान निकल आई। बस, वह ईमानी वादा भुला दिया गया। यूरोपीय बागान-मालिक इस ज़मीन पर टूट पड़े, इन्होंने अफ़्रीकी किसानों को निकाल बाहर किया और सोने के लिए खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेज़ों के वचनों का यह हाल हुआ। कहा यह जाता है कि आखिरकार इस सारी कार्रवाई से अफ़्रीकियों का ही भला होनेवाला है, और ये लोग अपनी ज़मीनें छिन जाने से बहुत खुश हैं।

सोने की खानों के इलाके में सोना निकलवाने का यह पूंजीवादी तरीक़ा बड़ा ही निराला है। इसके लिए लोगों को एक मुक़र्रर जगह से सचमुच दौड़ाया जाता है, और हरेक आदमी दौड़कर उस इलाके के कुछ हिस्से पर क़ब्जा कर लेता है और वहाँ खुदाई शुरू कर देता है। उसके हिस्से में आनेवाले टुकड़े में ज़्यादा सोना निकलता है या नहीं, यह उसके नसीब की बात है। यह तरीक़ा पूंजीवाद के रवैए का नमूना है। सोने की किसी खान के बारे में फ़ैसला करने का सबसे अच्छा तरीक़ा तो यह हो सकता है कि उस देश की सरकार उसपर क़ब्ज़ा कर ले और सारे राज्य के फ़ायदे के लिए उसकी खुदाई करे। ताजिकिस्तान में व दूसरी जगहों पर सोवियत-संघ अपनी सोने की खानों में ऐसा ही कर रहा है।

संसार पर इस आखिरी निगाह डालने में मैंने केनिया का कुछ ज़िक्र इसलिए किया है कि इन पत्रों में हमने अफ़्रीका को छोड़ दिया है। याद रहे कि यह बड़ा लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है और इसमें अफ़्रीकी जातियाँ भरी पड़ी हैं, जिनका विदेशी लोग सैकड़ों वर्षों से शोषण करते आये हैं और अब भी कर रहे हैं। ये बहुत ही पिछड़े हुए हैं, पर इन्हें दबाकर रक्खा गया है, और आगे बढ़ने का मौक़ा नहीं दिया गया है। जहाँ कहीं इन्हें ऐसा मौक़ा दिया गया है, जैसाकि हाल ही में पश्चिमी किनारे पर क़ायम किये गए एक विश्वविद्यालय में हुआ है, वहाँ इन लोगों ने मार्के की तरक़्क़ी की है।

पश्चिमी एशिया के देशों के बारे में तो मैं काफ़ी लिख चुका हूँ। इन देशों में और मिस्र में आज़ादी की जंग कई शक्लों में और अलग-अलग हालतों में चल रही है। यही बात दक्षिण-पूर्वी एशिया में, भारत से दूर के भाग में, और इन्दोनेशिया में यानी स्याम, हिंद-चीन, जावा, सुमात्रा, फ़िलिपाइन टापुओं वग़ैरा में, हो रही है। स्वाधीन स्याम के सिवा बाक़ी सब जगह इस जंग के दो पहलू हैं: एक तो विदेशी

हुकूमत के खिलाफ़ राष्ट्रीय उमंग और दूसरे रौंदे हुए वर्गों की समाजी बराबरी के लिए, या कम-से-कम आर्थिक बेहतरी के लिए उमंग।

एशिया के दूर पूर्व में भारी-भरकम चीन अपने हमलावरों के आगे बेकस पड़ा है, और अन्दरूनी फूट से बहुत-से टुकड़ों में बँट रहा है। इसका एक रुख तो साम्यवाद की तरफ़ है, और दूसरा साम्यवाद से सख्त नफ़रत कर रहा है। और इस बीच जापान बे-रोक-टोक आगे बढ़ता चला जा रहा है, और चीन के बड़े-बड़े इलाकों पर क़ब्ज़ा जमा रहा है। मगर अपने इतिहास के लम्बे दौर में चीन कितने ही ज़बर्दस्त हमलों और खतरों से जीता बच गया है, और इसमें ज़रा भी शक नहीं कि वह इस जापानी हमले से भी जीता बच जायगा।

साम्राज्यवादी जापान, जो आधा-सामन्ती, फ़ौजी असर से दबा हुआ, मगर फिर भी उद्योगों में बहुत आगे बढ़ा हुआ, और बीते कल व आज की अजीब खिचड़ी है, एक विश्व-साम्राज्य की हविस के सपने सँजो रहा है। पर इन सपनों के पीछे एक तो यह असलियत है कि आर्थिक ढाँचा चूर-चूर होने का खतरा सामने खड़ा है, दूसरे जापान की उस बढ़ती हुई घनी आबादी की ज़बर्दस्त मुसीबत है, जिसके लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया की लम्बी-चौड़ी ग़ैर-आबाद जगहों के रास्ते बन्द कर दिये गए हैं। और इन सपनों के पूरा होने में एक ज़बर्दस्त रुकावट है आज के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमेरिका की दुश्मनी। एशिया में जापान के पैर पसारने में दूसरी ज़बर्दस्त रुकावट सोवियत रूस है। लेकिन तीखी नज़रवालों को मंचूरिया में और गहरे प्रशान्त महासागर की सतह पर एक महायुद्ध की छाया तो अभी से उतरती हुई दिखाई दे रही है।

समूचा उत्तरी एशिया सोवियत संघ का हिस्सा है और एक नई दुनिया व नई समाजी व्यवस्था रचने व खड़ी करने में मशग़ूल है। अजीब बात है कि ये पिछड़े हुए देश, जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह गये थे और जहाँ एक तरह की सामन्तशाही अभी तक चालू थी, आगे छलाँग मारकर ऐसे दर्जे पर पहुँच गये हैं, जो पश्चिम के आगे बढ़े हुए राष्ट्रों से भी आगे है। यूरोप व एशिया में सोवियत संघ आज खड़ा होकर पश्चिमी जगत के लड़खड़ाते हुए पूँजीवाद को चुनौती दे रहा है। जहाँ व्यापार की मन्दी व गिरावट, और बेकारी, और बार-बार आनेवाले संकट पूँजीवाद को बे-असर बना रहे हैं और पुरानी व्यवस्था आखिरी सांस ले रही है, वहाँ सोवियत-संघ उमंग, तेजी और जोश से भरा हुआ देश है और वह नई समाजी व्यवस्था तैयार करने व क़ायम करने में सरगर्मी से जुटा हुआ है। और यह छलछलाती हुई जवानी और ज़िन्दगी, और वह सफलता जो सोवियत-संघ हासिल कर चुका है, दुनिया-भर के विचारवान लोगों पर अपनी छाप डाल रहे हैं और उनका ध्यान खींच रहे हैं।

दूसरा लम्बा-चौड़ा इलाका संयुक्त राज्य अमेरिका, पूँजीवाद की असफलता

का नमूना पेश कर रहा है। चारों तरफ महान् कठिनाइयों, संकटों, हड़तालों और असाधारण बेरोज़गारी से घिरा होने पर भी यह देश अपनी गाड़ी खींचने की और पूंजीवादी व्यवस्था को बरक़रार रखने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। देखना है कि इस बड़े तजुर्बे का क्या नतीजा निकलता है। नतीजा चाहे जो हो, अमेरिका को जितनी आसाइशें मुहैया हैं, क्या तो उसके लम्बे-चौड़े प्रदेश में, जो ज़िन्दगी की सारी ज़रूरी चीज़ों से भरपूर है, क्या उसके तकनीकी साधनों में, जो संसार के किसी भी देश से ज्यादा बड़े हैं, और क्या उसके हुनरमन्द व खूब सीखे हुए लोगों में, उन्हें कोई नहीं छीन सकता। सोवियत संघ की ही तरह संयुक्त राज्य अमेरिका भी आगे चलकर विश्व के मामलों में बहुत ही महत्व का हिस्सा लेगा, इसमें कोई शक नहीं है।

और लातीनी राष्ट्रोंवाला दक्षिण अमेरिका का बड़ा महाद्वीप तो उत्तर अमेरिका से बिलकुल ही निराला है। उत्तर अमेरिका जैसा नस्ली-तास्सुब यहाँ ज़रा-भी नहीं है, और जुदा-जुदा नस्लें ख़ूब मिलकर एक हो गई हैं, जिनमें दक्षिण यूरोपीय स्पेनी, पुर्तगाली, इतालवी, हब्शी, और अमेरिकी महाद्वीपों के आदिम-निवासी 'रेड-इंडियन'[1] वग़ैरा शामिल हैं। कनाडा और संयुक्त राज्य में ये रेड इण्डियन क़रीब-क़रीब ख़त्म हो गये हैं, पर दक्षिण अमेरिका में, ख़ासकर वैनिज़्वीला में ये काफ़ी संख्या में अभी तक पाये जाते हैं। ये लोग ज्यादातर बड़े-बड़े शहरों से दूर रहते हैं। तुम्हें यह जानकर शायद ताज्जुब होगा कि ब्यूनस-एरस व रियो दे जनेरो वग़ैरा कुछ दक्षिण अमेरिकी शहर महज़ बहुत बड़े ही नहीं हैं, बल्कि बहुत सुन्दर भी हैं, और इनमें सघन पेड़ों की क़तारोंवाले शानदार रास्ते हैं। अर्जेण्टाइन की राजधानी ब्यूनस एरस की आबादी पच्चीस लाख है, और ब्राज़ील की राजधानी रियो दे जनेरो की क़रीब बीस लाख।

हालाँकि यहाँ नस्लें मिलकर एक हो गई हैं, पर हुक़ूमत की बागडोर गोरे अमीर-वर्ग के हाथों में है। जिस गुट्ट या गिरोह का फ़ौज या पुलिस पर क़ब्ज़ा होता है, वही आमतौर पर राज करता है। और, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, ऊपर ही-ऊपर कितनी ही बार क्रान्तियाँ हुई हैं। सारे-के-सारे दक्षिण अमेरिकी देशों में खनिजों के बड़े भण्डार मौजूद हैं, इसलिए इसके पास ज़मीन में छिपी हुई बहुत दौलत है। पर इसीके बीच ये क़र्ज़ों में डूबे हुए हैं, और चार साल पहले ज्योंही संयुक्त

---

[1] अमेरिकी महाद्वीपों के आदिम निवासी 'रेड इण्डियन' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि पुर्तगाल का मशहूर नाविक कोलम्बस जब भारत की खोज में निकला तो अमेरिका जा पहुँचा और उसने उसे ही भारत समझ लिया। इसलिए वहाँ के निवासियों को इण्डियन कहा जाने लगा; बाद में जब यह ग़लती मालूम हुई तो उनका नाम 'रेड इण्डियन' रख दिया गया, क्योंकि उनका रंग ताम्बे जैसा लाल होता है।

राज्य अमेरिका ने इन्हें रुपया उधार देना बन्द किया, त्योंही ये बुरे झमेले में पड़ गये, और जगह-जगह क्रान्तियाँ हो गईं। रुपये की तंगी की वजह से दक्षिण अमेरिका के तीन मुख्य देश, अर्जेण्टाइन, ब्राज़ील और चिली भी, जो ए-बी-सी'[1] देश कहलाते हैं, क्रान्तियों के शिकार हो गये।

१९३२ ई० की गर्मियों के बाद दक्षिण अमेरिका में दो छोटे-छोटे घरेलू युद्ध हो चुके हैं, पर मंचूरिया के जापानी युद्ध की तरह इन्हें बाक़ायदा युद्ध नहीं माना जाता। जबसे राष्ट्रसंघ का इक़रारनामा, 'केलॉग-शान्ति-क़रार' और दूसरे क़रार हुए हैं, तबसे युद्ध होते ही नहीं हैं। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर धावा मारता है और उसके नागरिकों की हत्या करता है, तो यह 'मुठभेड़' (Conlfict) कहलाती है, और चूँकि क़रारों में 'मुठभेड़ों' के लिए मनाही नहीं है, इसलिए सब मज़े में हैं। मंचूरिया के युद्ध के सिवा इन छोटे-छोटे युद्धों का दुनिया की नज़र में कोई महत्व नहीं है। पर इनसे यह ज़रूर साबित हो जाता है कि राष्ट्रसंघ से लगाकर अनगिनती क़रारों और समझौतों तक, संसार में अमन क़ायम करने की सारी तरक़ीब, जिसकी खूब डींग हाँकी जाती है, कितनी कमज़ोर और निकम्मी है। राष्ट्रसंघ का एक सदस्य दूसरे सदस्य पर धावा बोल देता है, और संघ लाचार बैठा देखा करता है, या झगड़े निबटाने की बोदी और निपट बेकार कोशिशें करता है।

ऐसा ही एक युद्ध या 'मुठभेड़' दक्षिण अमेरिका के जंगली इलाकों के चाको नामक टुकड़े के लिए, बोलिविया और पैरग्वे के बीच चल रहा है। एक फ़ान्सीसी ने कहा है: "चाको जंगल के लिए बोलिविया और पैरग्वे का झगड़ा मुझे एक कंघे के लिए लड़नेवाले दो गंजों की याद दिलाता है।" यह झगड़ा बेवक़ूफ़ी का तो है, पर इतना बेहूदा नहीं है। इस लम्बे-चौड़े जंगली प्रदेश में मिट्टी के तेल निकालनेवालों के स्वार्थ फँसे हुए हैं, और इसमें होकर बहनेवाली पैरग्वे नदी बोलिविया को अतलान्तिक महासागर से जोड़ती है। दोनों देश आपस में समझौता करने को तैयार नहीं हैं, और अबतक हज़ारों जानें झोंक चुके हैं।

दूसरी मुठभेड़, लैटीशिया नामक गाँव के लिए कोलम्बिया और पेरू के बीच हो रही है। इस गाँव पर पेरू ने नाजायज़ कब्ज़ा कर लिया है। मेरा ख़याल है कि राष्ट्रसंघ ने पेरू की कड़ी आलोचना की थी।

लातीनी अमेरिका में (जिसमें मैक्सिको भी शामिल है) कैथलिक मज़हब फैला हुआ है। मैक्सिको में राज्य और कैथलिक पादरियों के बीच घमासान लड़ाइयाँ हुई हैं। स्पेन की तरह मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा और दूसरे सब मामलों में रोमन चर्च के लम्बे-चौड़े इख़्तियारों पर लगाम लगाना चाहती थी।

---

[1] ये तीनों देशों के नामों के पहले वर्ण हैं।

दक्षिण अमेरिका में स्पेनी भाषा बोली जाती है, सिवा ब्राज़ील के जिसकी सरकारी भाषा पुर्तगाली है। इतने लम्बे-चौड़े प्रदेश के सरसब्ज़ होने की वजह से स्पेनी भाषा आज दुनिया की सबसे बड़ी भाषाओं में गिनी जाती है। यह एक सुन्दर और झंकारी भाषा है, जिसका नया साहित्य बड़ा शानदार है, और दक्षिण अमेरिका की वजह से अब तो यह बड़े ही महत्व की व्यापारी भाषा भी हो गई है।

: १९५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले पत्र में हमने एशिया, अफ़्रीका और अमेरिका के दोनों महाद्वीपों पर सरसरी नज़र दौड़ाई है। अब यूरोप बाक़ी रहता है, वह यूरोप जिसमें झंझटें और आपसी झगड़े हैं, पर फिर भी बहुत सारे गुण हैं।

इंग्लैण्ड, जो इतने दिनों से विश्व की अगुआ शक्ति था, अब अपनी पुरानी व सबसे ऊँची हैसियत खो चुका है, और जो कुछ बचा है, उसे क़ायम रखने की भरपूर कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री ताक़त, जिसकी वजह से वह सुरक्षित था और दूसरों के ऊपर रौब जमाता था, और जिसके सहारे वह अपना साम्राज्य बना सका था, अब पहले जैसे नहीं रह गई। कुछ ही दिन पहले, एक वक़्त था जब इंग्लैण्ड का जंगी बेड़ा किन्हीं दो बड़ी शक्तियों के शामिल जंगी-बेड़ों से भी बड़ा था। आज वह सिर्फ़ संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ बराबरी का दावा कर सकता है, और अमेरिका के पास इतने साधन हैं कि ज़रूरत पड़ने पर वह बहुत जल्दी इंग्लैण्ड से ज्यादा जहाज़ तैयार कर सकता है। मगर आज समुद्री ताक़त से भी ज्यादा महत्व की चीज़ हवाई ताक़त है और इस मामले में इंग्लैण्ड और भी कमज़ोर है। कई शक्तियों के पास इंग्लैण्ड से ज्यादा लड़ाकू हवाई जहाज़ हैं। व्यापार में भी उसकी सरदारी जाती रही है और इसके फिर हासिल होने की उम्मीद नहीं है। उसका बड़ा भारी निर्यात-व्यापार भी दिन-पर-दिन गिरता जा रहा है। ऊँचे-ऊँचे महसूलों और ख़ास तिजारती सहूलियतों के ज़रिये वह साम्राज्य की मण्डियाँ अपने माल के लिए बची रखने के यत्न कर रहा है। इसीका यह मतलब है कि उसने साम्राज्य के बाहर विश्व-व्यापार की हविस का ख़याल छोड़ दिया है। अगर इस छोटे दायरे में उसे सफलता भी मिल जाय तो इससे उसकी पुरानी सरदारी दुबारा हासिल नहीं हो सकती। वह तो सदा के लिए हाथ से निकल गई; पर साम्राज्य के भीतर भी यह सीमित सफलता भी कितनी है या कितने दिन टिकेगी, यह नहीं कहा जा सकता।

अमेरिका के साथ ज़बर्दस्त कुश्ती के बाद भी, इंग्लैण्ड अभी तक सारी दुनिया

के व्यापार का साहूकारी केन्द्र है, और लन्दन शहर इसके लिए विनिमय का केन्द्र है। पर ज्यों-ज्यों दुनिया का व्यापार सिकुड़ता और ख़त्म होता जाता है, त्यों-त्यों इस लूटी हुई चीज़ की सारी चमक-दमक और सारा महत्व भी छिनता जा रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता, रक्षात्मक चुंगियाँ वग़ैरा की अपनी नीतियों की वजह से इंग्लैण्ड व दूसरे देश दुनिया के व्यापार की इस घटोतरी में खुद ही मददगार बन रहे हैं। अगर दुनिया का व्यापार बहुत बड़ी हद तक बना भी रहे, और मौजूदा ढाँचा क़ायम भी रहे, तो भी इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया की साहूकार-नेतागिरी एक-न-एक दिन लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयार्क के हाथ में चली जायगी। पर हो सकता है कि इस चीज़ के होने से पहले ही पूँजीवादी ढाँचे में भारी रद्दो-बदल हो चुकेंगे।

इंग्लैण्ड की यह शोहरत है कि वह अपनेको बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ ढाल लेता है। पर यह शोहरत तभी तक वाजिब है जबतक कि उसके समाजी आधार को धक्का न लगे और उसके मिल्कियतवाले वर्गों की सहूलियतें बरक़रार रहें। अभी तो यह देखना है कि हालतों के मुताबिक़ ढलने की यह गुंजायश इंग्लैण्ड को बुनियादी समाजी परिवर्तनों में से पार निकालकर ले जाती है या नहीं। यह सम्भावना बहुत ही कम है कि इस क़िस्म का परिवर्तन चुपचाप और झगड़े-फ़िसाद के बिना हो जायगा। सत्ता और सहूलियतें भोगनेवाले, इन चीज़ों को अपनी मर्ज़ी से नहीं छोड़ा करते।

इसी दरम्यान इंग्लैण्ड बड़ी दुनिया से अपने साम्राज्य में सिकुड़ता आ रहा है, और इस साम्राज्य को बचाने के लिए वह इसके ढाँचे में बड़ी रद्दो-बदल को तैयार है। हालाँकि उसके उपनिवेश ब्रिटिश साहूकारी ढाँचे के साथ कई तरह से बँधे हुए हैं, पर फिर भी वे कुछ हद तक स्वाधीन हैं। अपने विकासी उपनिवेशों को खुश रखने के लिए इंग्लैण्ड ने बहुत-कुछ क़ुर्बानियाँ की हैं, पर फिर भी दोनों के बीच झगड़े खड़े होते रहे हैं। आस्ट्रेलिया के तो हाथ-पाँव अब इंग्लैण्ड से बँधे हुए हैं, और जापानी हमले के डर से वह इंग्लैण्ड के साथ और भी मज़बूती से बँध गया है। कनाडा के बढ़ते हुए उद्योग इंग्लैण्ड के कुछ उद्योगों का मुक़ाबला करने लगे हैं, और उनके आगे घुटने टेकने को तैयार नहीं हैं। इसके अलावा, अपने बड़े पड़ौसी संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ कनाडा के अनेक ताल्लुक़ात हैं। दक्षिण अफ़्रीका में साम्राज्य के हक़ में कुछ अच्छे जज़्बे नहीं हैं, हालाँकि पुरानी कड़वाहट अब नहीं रही है। आयर्लेण्ड अपने बल-बूते पर खड़ा है, और आंग्ल-आयरी तिजारती झगड़ा अभी तक चल रहा है। आयर्लेण्ड के माल पर इंग्लैण्ड ने चुंगियाँ लगाईं तो इस इरादे से थीं कि वह डरकर और ज़बरन मजबूर होकर घुटने टेक देगा, पर इसका असर उलटा हुआ। इनकी वजह से आयर्लेण्ड के उद्योगों और खेती-बाड़ी को बड़ी भारी चेतना मिली है, और आयर्लेण्ड बहुत हद तक कामयाबी के साथ अपने पाँवों पर खड़ा होने लायक़ और अपनी ज़रूरतें खुद पूरी करने लायक़ बन रहा है नये-नये कारखाने

खुल गये हैं, और जिस ज़मीन पर पहले घास उगती थी वहाँ अब अनाज पैदा हो रहा है। खाने की जो चीज़ें पहले इंग्लैण्ड भेजी जाती थीं, वह अब यहीं के लोगों को मिल रही हैं, और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है। दि वेलेरा ने अपनी नीति बड़ी शान के साथ सही साबित कर दी है, और आयर्लैण्ड आज इंग्लैण्ड की साम्राज्य-शाही के लिए काँटा बन रहा है, क्योंकि वह लड़ने और मुक़ाबला करने पर आमादा हो रहा है, और ओटावा-सरीखी साँठ-गाँठ से उसका मेल बिलकुल नहीं बैठ रहा।

इसलिए अपने उपनिवेशों के साथ तिजारती ताल्लुक़ों से इंग्लैण्ड ज्यादा नफ़ा उठाने की हैसियत में नहीं है। हाँ, भारत से वह बहुत-कुछ नफ़ा उठा सकता है, क्योंकि भारत उसके लिए अभी तक बड़ा बाज़ार बना हुआ है। पर भारत की राजनीतिक हालतें, और साथ ही यहाँ के लोगों की आर्थिक मुसीबतें, इंग्लैण्ड के व्यापार के हक़ में नहीं है। लोगों को जेलों में ठूँसकर उन्हें अंग्रेज़ी माल खरीदने को मजबूर नहीं किया जा सकता। स्टैनली बाल्डविन ने इन्हीं दिनों मेन्चैस्टर में कहा था:

"वे दिन लद गये जब हम भारत से अपनी बात मनवा सकते थे और कह सकते थे कि वह अपना माल कब और कहाँ ख़रीदे। व्यापार की हिफ़ाज़त (भारत की) मर्ज़ी पर ही थी। हम संगीन की नोक पर कपड़े की फ़रियाँ लगाकर भारत को अपना माल कभी नहीं बेच सकेंगे।"

भारत की अन्दरूनी हालतों के अलावा, इंग्लैण्ड को यहाँ, और पूर्व के दूसरे देशों में, और कुछ उपनिवेशों में, भी जापान की ज़बर्दस्त होड़ का सामना करना पड़ रहा है।

बस, इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य को एक आर्थिक इकाई बनाकर, जो कुछ उसके पास है, उसे बचाने की भरसक कोशिश कर रहा है। इस इकाई में डेनमार्क या नार्वे और स्वीडन वग़ैरा ऐसे छोटे-छोटे देशों को भी जोड़ता जा रहा है, जो उससे समझौते कर लेते हैं। घटनाओं का क़ुदरती सिलसिला ही उसे यह नीति अपनाने को मजबूर कर रहा है, दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। युद्ध के ज़मानों में अपने बचाव के लिए भी उसे अपनी ज़रूरतें ख़ुद पूरी करने की ज्यादा ज़रूरत है। इसलिए वह अपनी खेती-बाड़ी का भी विकास कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता की यह साम्राज्य-शाही नीति कहाँतक कामयाब होगी, यह आज कोई नहीं कह सकता। इस कामयाबी में रुकावट डालनेवाली कई कठिनाइयाँ मैंने बतलाई हैं। अगर नाकामयाबी आई तो साम्राज्य का सारा ढाँचा टूटकर गिर पड़ेगा, और तब अंग्रेज़ों को अपने रहन-सहन का दर्जा घटाने की समस्या का सामना करना पड़ेगा। हाँ, अगर वे अपनी अर्थ-व्यवस्था को बदलकर समाजवादी ढंग की बना लें तो बात दूसरी है। पर इस नीति की कामयाबी भी खतरे से ख़ाली नहीं है, क्योंकि इसके सबब से शायद कई यूरोपीय देश बरबाद हो जायें कि उनके व्यापार का निकास काफ़ी तौर पर न हो

सके। इधर इंग्लैण्ड के क़र्ज़दारों का दिवाला निकलने से खुद उसीकी हैसियत को धक्का पहुँचे बिना नहीं रहेगा।

जापान और अमेरिका के खिलाफ़ भी आर्थिक टकराव पैदा होने लाज़िमी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ तो कई मैदानों में मुक़ाबलेबाज़ी चल ही रही है। और दुनिया की आज की हालत में संयुक्त राज्य तो अपने काफ़ी साधनों के सहारे आगे बढ़ेगा ही, और इंग्लैण्ड गिरता जायगा। इस सिलसिले का सिर्फ़ यही अंजाम हो सकता है कि इस लड़ाई में इंग्लैण्ड चुपचाप हार मान ले, या यह है कि जो कुछ उसके पास है, उसे बचाने की आखिरी कोशिश में वह युद्ध की जोखिम उठावे, पेश्तर इसके कि यह भी हाथ से निकल जाय, और उसमें अपने प्रतिस्पर्द्धी का सामना करने की ताक़त भी न रहे।

इंग्लैण्ड का एक और बड़ा प्रतिस्पर्द्धी सोवियत-संघ है। ये दोनों ज़मीन-आसमान के फ़र्क़वाली नीतियों के हामी हैं। दोनों एक दूसरे को आँखें दिखा रहे हैं, और एक दूसरे के खिलाफ़ सारे यूरोप और एशिया में साज़िशें कर रहे हैं। कुछ देर तक ये दोनों शक्तियाँ आपस में सुलह भले ही बनाये रक्खें, पर इनके आपसी मतभेद दूर करना बिलकुल असम्भव है, क्योंकि ये जुदा-जुदा आदर्शों के हामी हैं।

इंग्लैण्ड आज एक सन्तुष्ट शक्ति है, क्योंकि जो कुछ उसे चाहिए वह सब उसके पास मौजूद है। उसे यह डर है कि कहीं यह छिन न जाय, और यह डर वाजिब है। वह मौजूदा हालत को बरक़रार रखने की और इसके ज़रिये अपनी मौजूदा हैसियत को क़ायम रखने की भरसक कोशिश कर रहा है और इस मतलब के लिए राष्ट्र-संघ का इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन घटनाओं के ज़ोर को रोकना उसके या दूसरी किसी शक्ति के बस की बात नहीं है। इसमें शक नहीं कि आज वह बहुत मज़बूत है, पर साथ ही इसमें भी शक नहीं कि साम्राज्यशाही शक्ति की हैसियत से वह कमज़ोर हो रहा है और गिर रहा है। हम उसके महान् साम्राज्य का डूबना देख रहे हैं।

इंग्लैण्ड के उस पार यूरोप महाद्वीप में फ़्रान्स है। यह भी एक साम्राज्यशाही शक्ति है, जिसका अफ़्रीका व एशिया में एक बड़ा साम्राज्य है। फ़ौजी ताक़त के लिहाज़ से यह यूरोप का सबसे ज़्यादा ताक़तवर राष्ट्र है।[1] इसके पास ज़बर्दस्त फ़ौज है, और यह पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बेलजियम, रूमानिया, यूगोस्लाविया, वग़ैरा राष्ट्रों के गुट्ट का नेता है। मगर फिर भी यह जर्मनी की तेज़-तर्रारी और लड़ाकू मनोवृत्ति से डरता है, खासकर जब से हिटलर का राज हुआ है। वास्तव में हिटलर ने पूँजी-

---

[1] जर्मनी के दुबारा हथियारबन्द होने के बाद फ़्रान्स की यह हैसियत नहीं रही। सितम्बर, १९३८ ई० के 'म्यूनिख करार' के बाद फ़्रान्स दूसरे दर्जे की शक्ति बन गया है। मध्य यूरोप में इसके साथी राष्ट्रों का गुट्ट भी टूट गया है।

वादी फ़्रान्स और सोवियत रूस के आपसी ख़यालों में मार्के की तब्दीली पैदा कर दी है। दोनों का एक ही दुश्मन होने से ये आपस में अच्छे दोस्त बन गये हैं।

जर्मनी में नात्सी आतंक अभी तक चल रहा है, और नये-नये ज़ुल्मों व अत्याचारों के समाचार रोज़ आते रहते हैं। यह कहना नामुमकिन है कि ये ज़ालिमाना हरकतें कबतक चलती रहेंगी; इन्हें चलते हुए कितने ही महीने बीत गये, पर अभी तक इनमें कोई कमी नहीं है। ऐसा अत्याचार किसी टिकाऊ हुकूमत का चिह्न कभी नहीं हो सकता। हो सकता है कि अगर जर्मनी फ़ौजी ताक़त के लिहाज़ से काफ़ी ताक़तवर होता तो यूरोप में कभी का युद्ध छिड़ गया होता। यह युद्ध आगे भी छिड़ सकता है। हिटलर को यह कहने का शौक़ है कि वह साम्यवाद से बचानेवाला आख़िरी सहारा है। शायद यह बात सही हो, क्योंकि जर्मनी में अब हिटलर-शाही की जगह सिर्फ़ साम्यवाद ही ले सकता है।

मुसोलिनी के मातहत इटली का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरफ़ रवैय्या निहायत रूखा, हक़ीक़त के मुताबिक़ चलनेवाला और ख़ुदग़रज़ है। दूसरे राष्ट्रों की तरह यह अमन और आपसी मेलजोल के पाखण्डी फ़िक़रे नहीं बोलता। वह तो युद्ध के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा है, क्योंकि उसे पक्का यक़ीन है कि एक-न-एक दिन युद्ध छिड़ना लाज़िमी है। साथ ही वह अपनी हैसियत जमाने के दाँव-पेच भी कर रहा है। फ़ासीवादी होने से वह जर्मनी में फ़ासीवाद का स्वागत करता है, और हिटलर-पन्थियों से दोस्ती का वास्ता रखता है। पर उधर वह जर्मन नीति के सबसे ऊँचे मक़सद आस्ट्रिया के साथ एकीकरण[1] का विरोध करता है। ऐसे एकीकरण से जर्मनी की सरहद ठेठ इटली की सरहद से मिल जायगी, और मुसोलिनी को अपने जर्मन फ़ासीवादी बिरादर की यह नज़दीकी पसन्द नहीं है।

मध्य-यूरोप तो ऐसे छोटे-छोटे राष्ट्रों की खदबदाती हुई खिचड़ी है, जो मन्दी और महायुद्ध के असरों के पंजे में छटपटा रहे हैं, और अब हिटलर और उसके नात्सी-दल के डर के मारे जिनके होश बिलकुल गुम हो रहे हैं। मध्य-यूरोप के इन सारे देशों में, और ख़ासकर आस्ट्रिया जैसे देशों में जहाँ जर्मन लोग रहते हैं, नात्सी दलों का ज़ोर बढ़ रहा है। मगर नात्सी-विरोधी भावना भी ज़ोर पकड़ रही है, और नतीजा यह है कि दोनों में टक्कर हो रही है। आजकल इस टक्कर का ख़ास मैदान आस्ट्रिया है।

कुछ समय हुआ, शायद १९३२ ई० की बात है, मध्य-यूरोप और डेन्यूब के इलाक़े के तीन फ़्रान्स-हिमायती राज्यों—चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और

---

[1] जर्मनी ने मार्च, १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर हमला करके उसे अपने में मिला लिया। हालतों से मजबूर होकर मुसोलिनी ने इसे मान तो लिया पर इस परिवर्तन का इटली ने कड़ा विरोध किया।

यूगोस्लाविया—ने अपना एक संघ या गुट्ट बनाया था। महायुद्ध के तस्फ़िये से इन तीनों राज्यों को फ़ायदा हुआ था, इसलिए जो कुछ मिला था, उसे ये बचाना चाहते थे। इस इरादे से इन्होंने आपस में मिलकर एक गुट्ट बना लिया, जो वास्तव में युद्ध के लिए गठ-जोड़ था। यह 'लिटल आन्तान्त' यानी छोटे राष्ट्रों की मित्रता कहलाता है। इन तीन राज्यों का यह गुट्ट यूरोप में एक तरह से एक नई शक्ति बन गया है, जो फ़ान्स-हिमायती और नात्सी-विरोधी है और इटली की नीति के भी खिलाफ़ है।

जर्मनी में नात्सियों की शानदार कामयाबी इस छोटे गुट्ट और पोलैण्ड के लिए खतरे की घण्टी थी, क्योंकि नात्सी लोग सिर्फ़ वर्साई की सन्धि को ही नहीं पलटवाना चाहते थे (जर्मनी के सभी लोग यह चाहते थे,) बल्कि इस तरह की बातें करते थे, जिनसे युद्ध का अन्देशा बढ़ता हुआ मालूम होता था। नात्सियों की भाषा और उनके दाँव-पेच इतने धमकी भरे और बेलगाम थे कि आस्ट्रिया, हंगरी वग़ैरा राज्य, जो वर्साई की सन्धि में रद्दो-बदल कराना चाहते थे, वे तक भी इनसे सहम गये। हिटलरशाही के सबब से और इसके डर के मारे, मध्य व पूर्व यूरोप के राज्य, यानी 'लिटल आन्तान्त', पोलैण्ड, आस्टिया, हंगरी और बलकानी राज्य, जो एक-दूसरे से सख्त नफ़रत करते थे, वे सारे एक दूसरे के ज़्यादा पास खिच आये। इनमें आपसी आर्थिक मेल की भी चर्चा चल रही है। जबसे जर्मनी में नात्सी विस्फोट हुआ है तब-से ये देश, और खासकर पोलैण्ड व चेकोस्लोवाकिया, सोवियत रूस की तरफ़ भी ज़्यादा दोस्ती दिखाने लगे हैं। कुछ सप्ताह पहले इन देशों और रूस के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने का जो क़रार हुआ था, वह भी इसी चीज़ का फल था।

मैं लिख चुका हूँ कि स्पेन में इन्हीं दिनों क्रान्ति हुई है। यह अभी ज़मकर बैठी नहीं है, और दूसरा युद्ध किनारे मँडराता हुआ मालूम होता है। यूरोप में आजकल जो लड़ाई-झगड़े और बैर-भाव फैले हुए हैं, और राष्ट्रों के मुक़ाबलेदार गुट्ट एक-दूसरे पर आँखें तरेर रहे हैं, इनकी वजह से यह हमें एक अजीब शतरंज जैसा दिखाई देता है। इधर तो हथियार-बन्दी की चर्चाएँ चल रही हैं, और उधर हर जगह हथियार सज रहे हैं, और युद्ध व सत्यानास के भयानक हथियार ईजाद हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भी काफ़ी चर्चा है और अनगिनती सम्मेलन बुलाये जा चुके हैं। लेकिन ये सब बे-मतलब साबित हुए हैं। राष्ट्र-संघ खुद ही बुरी तरह असफल रहा है, और विश्व आर्थिक सम्मेलन में मिलकर काम करने का जो आख़िरी यत्न किया गया था, वह भी सफल नहीं हो पाया। एक सुझाव यह है कि यूरोप के सारे देश, या यों कहो कि रूस को निकालकर सारा यूरोप, आपस में मिलकर एक क़िस्म का यूरोप का 'संयुक्त राज्य' बना लें। यह 'अखिल-यूरोप' आन्दोलन कहलाता है। यह सचमुच इस बात की कोशिश है कि एक तो सोवियत-विरोधी गुट्ट बन जाय, और दूसरे इतने ज़्यादा

छोटे-छोटे राष्ट्रों की वजह से जो अनगिनती कठिनाइयाँ और उलझनें पैदा हो रही हैं, वे हल हो जायँ। पर राष्ट्रीय बैर-भाव इतने ज़ोरदार हैं कि ऐसे सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दे सकता।

सच तो यह है कि हरेक देश दूसरे देशों से दूर-ही-दूर बहता जा रहा है। मन्दी और अन्तर्राष्ट्रीय संकट ने सारे देशों को आर्थिक राष्ट्रीयता के रास्ते की तरफ़ धक्का देकर इस सिलसिले की रफ़्तार और भी तेज़ कर दी है। हरेक देश रक्षात्मक चुंगियों के ऊँचे परकोटे में बैठ गया है, और जहाँतक हो सके विदेशी माल को अपने यहाँ न आने देने की कोशिशें करता है। कोई भी देश सारी विदेशी चीज़ों का आना तो रोक ही नहीं सकता। क्योंकि वह अपनी ज़रूरत की सारी चीज़ें पैदा नहीं कर सकता। लेकिन कोशिश यह है कि हरेक देश अपनी ज़रूरत की तमाम चीज़ें पैदा कर ले या तैयार कर ले। कुछ निहायत ज़रूरी चीज़ें ऐसी हो सकती हैं, जिन्हें वह अपनी आबो-हवा में पैदा न कर सकता हो। मसलन, इंग्लैण्ड में कपास या पटसन या चाय या क़हवा या दूसरी बहुत-सी ऐसी चीज़ें पैदा नहीं हो सकतीं, जिनके लिए कुछ गर्म आबो-हवा ज़रूरी होती है। इसका अर्थ यह है कि आगे चलकर व्यापार ज़्यादातर उन्हीं देशों के बीच रह जायगा, जिनकी आबो-हवा अलग-अलग तरह की है और जो इसलिए अलग-अलग तरह की चीज़ें पैदा करते हैं और तैयार करते हैं। एक ही तरह की चीज़ें तैयार करनेवाले देशों के लिए एक-दूसरे का माल किसी काम का नहीं होगा। इसलिए व्यापार उत्तर और दक्षिण के बीच चलेगा, पूर्व और पश्चिम के बीच नहीं, क्योंकि आबो-हवा का फ़र्क़ उत्तर और दक्षिण के हिसाब से होता है। धरती के गर्म हिस्से का देश किसी औसत सर्द-गर्म देश से या ठण्डे देश से व्यापार कर सकेगा, पर गर्म हिस्से के दो देश या औसत सर्दी-गर्मी के दो देश आपस में व्यापार नहीं कर सकेंगे। अलबत्ता इनके सिवा और भी वजहें हो सकती हैं, जैसे कि किसी देश की खनिज दौलत। पर मुख्य बात यह है कि उत्तर और दक्षिण की बात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू होगी। बाक़ी का सब व्यापार रक्षात्मक चुंगियों की दीवारों से रुक जायगा।

आज इस तरफ़ झुकाव लाज़िमी दिखाई देता है। जब हरेक देश का काफ़ी उद्योगीकरण हो जाता है तो यह सूरत औद्योगिक क्रान्ति का आखिरी पहलू कहलाती है। यह सही है कि एशिया व अफ़्रीका के उद्योगीकरण में अभी बहुत देर है। अफ़्रीका इतना पिछड़ा हुआ और ग़रीब है कि थोड़ा-बहुत तैयार माल भी नहीं खपा सकता। जिन तीन बड़े देशों में इस विदेशी माल की खपत जारी रह सकती है, वे भारत, चीन और साइबेरिया हैं। खपत की भरपूर गुंजायशोंवाले इन तीन ज़बर्दस्त बाज़ारों पर बाहर के औद्योगिक देशों की लालची निगाहें पड़ रही हैं। चूंकि इन देशों का अपनी मामूली मण्डियों से नाता टूट गया है इसलिए अब ये अपने फ़ालतू माल को ठिकाने

लगाने के लिए और अपने लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को खपच्चियाँ लगाकर खड़ा रखने के लिए एशिया की ओर धावा मारने का विचार कर रहे हैं। पर अब एशिया को चूसना इतना आसान नहीं है। कुछ तो एशियाई उद्योगों के विकास की वजह से और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय होड़ की वजह से। इग्लैण्ड भारत को अपने ही माल का बाज़ार बनाये रखना चाहता है, पर जापान और अमेरिका और जर्मनी भी इसे हथियाना चाहते हैं। यही हाल चीन का भी है, इसके अलावा वहाँ की मौजूदा हालत बहुत डाँवाडोल है और आवा-जाई के साधन भी ठीक नहीं हैं और इसीलिए व्यापार में मुश्किलें होती हैं। सोवियत रूस को अगर उधार मिल जाय, और उससे नक़द दाम न माँगे जायँ, तो वह बाहर के देशों से ढेरों माल खरीदने को तैयार है। पर कुछ समय बाद तो सोवियत-संघ अपनी ज़रूरत की क़रीब सारी चीज़ें बनाने लगेगा।

पिछले वर्षों में सारा झुकाव राष्ट्रों के बीच ज्यादा आपसी तालमेल, ज्यादा अन्तर्राष्ट्रीयता की तरफ़ रहा है। हालाँकि अलग-अलग स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य बने रहे, पर अन्तर्राष्ट्रीय ताल्लुक़ों का और व्यापार का एक भारी-भरकम और पेचीदा ढाँचा खड़ा हो गया। यह सिलसिला इतना आगे बढ़ा कि राष्ट्रीय राज्यों से और खुद राष्ट्रीयता से ही टकराने लगा। इससे आगे का क़ुदरती कदम यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे का रूप समाजवादी बना दिया जाता। अपने दिन पूरे होने के बाद पूंजीवाद उस हालत पर पहुँच गया था जब उसे समाजवाद के लिए अपनी जगह खाली कर देनी चाहिए थी। मगर अफ़सोस की बात है कि इस तरह अपने-आप कोई अपनी जगह से नहीं हट करता। चूंकि संकट का, और ढेर हो जाने का खतरा पूंजीवाद के सिर पर आ गया, इसलिए वह अपने परकोटे में घुस गया और आपसी तालमेल की तरफ़ के झुकाव को उलटी दिशा में मोड़ने की कोशिश करने लगा। आर्थिक राष्ट्रीयता इसीका फल है। पर सवाल यह है कि क्या यह सफल होगी, और अगर हो भी जाय तो कितने दिन तक?

सारी-की-सारी दुनिया आज एक अजीब गड़बड़घोटाला, और झगड़ों व डाहों की खतरनाक गुत्थी बनी हुई है। और नये झुकाव इन झगड़ों के दायरे को बढ़ा ही रहे हैं। हरेक महाद्वीप में, हरेक देश में, निर्बल और सताये हुए लोग ज़िन्दगी के आराम की उन चीज़ों में हिस्सा बाँटना चाहते हैं, जिनकी पैदावार में खुद उनका ही हाथ है। वे अपने उस क़र्ज़ का भुगतान माँगते हैं, जिसकी मियाद बहुत दिन हुए पूरी हो चुकी है। कहीं-कहीं तो वे यह माँग ज़ोर-शोर, सख्ती, और सरगर्मी से कर रहे हैं, कहीं ज़रा खमोशी से। इतने दिनों से उन्हें जिस बुरे बर्ताव और शोषण का शिकार बनाया गया है, उसपर नाराज़ होकर और बिगड़कर अगर वे कोई ऐसी कारंवाई करें, जो हमें अच्छी न लगे, तो क्या हम उन्हें बुरा कह सकते हैं? उनकी तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया और उन्हें हिक़ारत की निगाह से देखा गया,

किसीने उन्हें भले आदमियों में बैठने की तमीज़ सिखाने की भी तकलीफ़ नहीं उठाई।

निर्बलों और सताये हुओं की इस उथल-पुथल से सब जगह के मिल्कियतवाले वर्ग दहशत खा रहे हैं, और इसे दबाने के लिए दल बनाकर इकट्ठे हो रहे हैं। बस, फ़ासीवाद बढ़ रहा है और साम्राज्यशाही सारे विरोधियों कोकुचल रही है। लोकतन्त्र और जनता की भलाई व अमानतदारी के लच्छेदार फ़िक़रे पीछे हटते जा रहे हैं, और मिल्कियतवाले वर्गों व निहित स्वार्थों का नंगा राज ख़ूब ज़ाहिर होता जा रहा है। और कई जगह तो इसकी पूरी जीत भी होती दिखाई दे रही है। एक बहुत खरखरा युग, सख्त व हमलावर हिंसा का युग, सामने आ रहा है, क्योंकि सब जगह यह लड़ाई पुरानी और नई व्यवस्थाओं के बीच ज़िन्दगी-मौत की लड़ाई है। क्या यूरोप में, क्या अमेरिका में, और क्या भारत में, सब जगह ऊँचे दाँव लगे हुए हैं, और पुराने ढंग की हुक़ूमत का भाग्य डाँवाडोल हो रहा है, हालाँकि अभी यह भले ही मज़बूती से जमी हुई हो। जबकि समूचे साम्राज्यवादी व पूंजीवादी ढाँचे की जड़ें तक हिल गई हैं, और यह इस लायक़ भी नहीं रहा है कि अपने क़र्ज़े चुका सके या जो माँगें इसपर आ रही हैं, उन्हें पूरी कर सके, तो इक-तरफ़ा सुधारों से आज की समस्याएँ न तो निबट सकती हैं और न हल हो सकती हैं।

आज संसार पर इन राजनीतिक, आर्थिक, नस्ली, वग़ैरा अनगिनती झगड़ों का बादल छाया हुआ है, और युद्ध की परछाईं इनके साथ-साथ चल रही है। कहते हैं कि इन झगड़ों में सबसे बड़ा और सबसे बुनियादी झगड़ा वह है, जिसमें एक तरफ़ तो साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद है और दूसरी तरफ़ साम्यवाद। ये आज संसार-भर में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े हैं, और इनके बीच समझौते की कोई गुंजायश नहीं है।

सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद, साम्यवाद वग़ैरा कितने 'वाद' हैं! और इन सबके पीछे अवसरवाद लगा हुआ है। पर जो लोग आदर्शवाद चाहते हैं, उनके लिए यह भी है; यह आदर्शवाद कोरी दिमाग़ी उड़ानों का, या बे-लगाम ख़यालों का नहीं है, बल्कि एक महान् इन्सानी मक़सद के लिए काम करने का है, यह वह महान् आदर्श है, जिसे हम असलियत का जामा पहनाना चाहते हैं। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने एक जगह लिखा है:

"ज़िन्दगी में सच्चा आनन्द यही है कि मनुष्य अपने-आपको ऐसे मक़सद पर लगा दे, जिसे वह बहुत बड़ा मानता हो; घूरे पर फेंक दिया जाने से पहले अपनेको बिलकुल खपा दे, माँदगियों और शिकायतों का छोटा-सा सरगर्म और स्वार्थी ढेला बनने के बजाय और यह शिकायत करने के बजाय कि संसार उसे सुखी बनाने की तरफ़ ध्यान नहीं देना चाहता, अपनेको प्रकृति की एक शक्ति बना दे।"

इतिहास में घुसकर हमने जो देख-भाल की है, उससे पता लगता है कि किस तरह संसार दिन-पर-दिन ज्यादा सघन होता गया है, और किस तरह उसके भाग नज़दीक आ-आकर आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होते गये हैं। यह संसार सचमुच एक पूरी निकट की इकाई बन गया है, जिसके हरेक भाग का एक-दूसरे पर असर पड़ता है। अब राष्ट्रों के अलग-अलग इतिहास होना बिलकुल नामुमकिन है। हम उस अवस्था को पार कर गये हैं, और अब तो वही इतिहास उपयोगी हो सकता है, जो सारे संसार का समूचा इतिहास हो, जो तमाम राष्ट्रों से निकलनेवाले सूत्रों को जोड़ता हो, और जो इन राष्ट्रों को हरकत देनेवाली असली ताक़तों को खोज निकालने का यत्न करता हो।

गुज़रे ज़मानों में भी, जबकि कितनी ही ज़ाहिरी व दूसरी दीवारों की वजह से सारे राष्ट्र एक-दूसरे से कटे हुए थे, हम देख चुके हैं कि समान अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्महाद्वीपीय ताक़तें किस तरह उन्हें ढालते रहते थे। इतिहास में महान् व्यक्तियों का सदा महत्व रहा है, क्योंकि न टलनेवाली हरेक नाज़ुक घड़ी में इन्सान एक महत्वपूर्ण कारण रहता है, पर व्यक्तियों से भी महान् वे ज़बर्दस्त व कारगर ताक़तें हैं, जो हमको इधर-उधर धकेलती हुई, अन्धे की तरह, और कभी-कभी तो बेरहमी के साथ, आगे बढ़ती चली जाती हैं।

आज हमारा यही हाल है। करोड़ों इन्सानों को चलानेवाली ज़बर्दस्त ताक़तें अपना काम कर रही हैं, और वे भूचाल की तरह, या इसी तरह की किसी और क़ुदरती उथल-पुथल की तरह, बढ़ी चली जा रही हैं। हम चाहे जितनी कोशिश करें तो भी इन्हें रोक नहीं सकते। मगर फिर भी हम संसार के अपने-अपने छोटे-छोटे कोनों में इनकी रफ़्तार और दिशा को कुछ पलट सकते हैं। हम अपने-अपने अलग स्वभावों के मुताबिक़ इनका मुक़ाबला करते हैं, कुछ तो इनसे दहल जाते हैं, कुछ इनका स्वागत करते हैं, कुछ इनसे जूझने का यत्न करते हैं, कुछ लाचार होकर क़िस्मत की मार के आगे सिर झुका देते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो तूफ़ान पर सवार होने की और उसे कुछ क़ाबू में लाने और मोड़ने की कोशिश करते हैं। ये लोग एक ज़बर्दस्त प्रक्रिया में कारगर हिस्सा लेने का आनन्द लूटने के लिए आनेवाले खतरों का खुशी से सामना करते हैं।

इस हलचल-भरी बीसवीं सदी में, जिसका युद्धों और क्रान्तियों से भरपूर एक-तिहाई ज़माना बीत चुका है, हमारे लिए कोई चैन नहीं है। फ़ासीवादियों का गुरु मुसोलिनी कहता है: "समूचे संसार में क्रान्ति मच रही है। घटनाएँ खुद ही ज़बर्दस्त ताक़तें हैं, जो किसी कठोर इच्छा-शक्ति की भाँति हमें आगे धकेल रही हैं।" और महान् साम्यवादी त्रात्स्की भी हमें चेतावनी देता है कि इस सदी में चैन और सुख की बहुत ज्यादा उम्मीद नहीं करनी चाहिए। वह कहता है: "यह साफ़

है कि जहाँतक मनुष्य-जाति को याद है, वहाँतक तो बीसवीं सदी से ज़्यादा उथल-पुथलवाली सदी कभी भी नहीं आई। मगर हमारे ज़माने का कोई व्यक्ति दूसरी सब चीज़ों से पहले चैन और सुख चाहता है, तो उसे ऐसे बुरे समय में जन्म नहीं लेना चाहिए था।"

आज समूचा संसार जापे का दर्द सह रहा है, और युद्ध व क्रान्ति की गहरी छाया सब जगह पड़ रही है। अगर हम अपनी इस न टलनेवाली होनहार से बच नहीं सकते तो हमें इसका मुक़ाबला किस तरह करना चाहिए? क्या हम शुतुर-मुर्ग़[1] की तरह इसके डर से अपना सिर छिपाकर बैठ जायँ? या घटनाओं को ढालने में दिलेरी से हिस्सा लें, और ज़रूरत पड़े तो ख़तरे और जोखिमें भी उठाकर एक बड़े और महान् हौसलाभरे काम का आनन्द उठावें और यह महसूस करें कि हमारे "क़दम इतिहास के क़दमों में विलीन हो रहे हैं?"

हम सब, या कम-से-कम विचारवान लोग, बेताबी के साथ उस आनेवाले ज़माने को निहार रहे हैं, जो सामने आता जा रहा है और मौजूदा ज़माना बन रहा है। कुछ लोग तो उसके नतीजे की बाट उम्मीद के साथ जोह रहे हैं, तो कुछ डर के साथ। क्या संसार आज से ज़्यादा अच्छा और सुखी होगा, जिसमें ज़िन्दगी को आराम देनेवाली चीज़ों पर सिर्फ़ गिने-चुने लोगों का ही क़ब्ज़ा नहीं होगा, बल्कि सारी जनता आज़ादी से उनका मज़ा लेगी। या यह संसार आज से भी ज़्यादा कठोर होगा, जिसमें ख़ूँख्वार और सत्यानासी युद्धों से आज की सभ्यता की बहुत-सी आसाइशें ख़त्म हो चुकी होंगी? यही दो छोर हैं। इन दोनों बातों में से एक ही बात हो सकती है। यह मुमकिन नहीं दिखाई देता कि कोई बीच का रास्ता क़ायम हो जाय।

धीरज से बाट देखने के साथ-साथ हमें वैसी दुनिया बनाने की भी कोशिश करनी चाहिए जैसी कि हम चाहते हैं। मनुष्य क़ुदरत के ढंगों के आगे लाचारी से घुटने टेककर अपनी आदिम जंगली हालत से आगे नहीं बढ़ा है, बल्कि अक्सर उनका सामना करके और इन्सानी फ़ायदे के लिए उनपर हावी होने का इरादा करके आगे बढ़ा है।

'आज' इस तरह का है। 'कल' को बनाना तुम्हारे और तुम्हारी पीढ़ी के लोगों के हाथ में है, संसार-भर के उन करोड़ों लड़कों और लड़कियों के हाथ में है, जो बड़े होकर इस 'कल' को बनाने में हिस्सा लेने के लिए अपनेको तैयार कर रहे हैं।

[1] कहते हैं कि शुतुरमुर्ग़ जब किसी डर से भागते-भागते थक जाता है तो रेत में अपना सिर छिपा लेता है।

: १९६ :

आख़िरी पत्र

९ अगस्त, १९३३

प्यारी बेटी, हमारा काम ख़त्म हो चुका, इस लम्बी कहानी का छोर आ गया। अब मुझे आगे कुछ नहीं लिखना है, पर कुछ धूमधाम से ख़त्म करने की इच्छा मुझे एक पत्र और लिखने को उकसाती है—यही आखिरी पत्र है।

वैसे भी इस सिलसिले को ख़त्म करने का वक़्त आ गया है, क्योंकि मेरी दो साल की क़ैद की मियाद पूरी होनेवाली है। आज से पूरे तैंतीस दिन बाद मैं रिहा हो जाऊँगा, बशर्ते कि इससे पहले ही न छोड़ दिया जाऊँ, क्योंकि जेलर कभी-कभी ऐसा करने की धमकी देता रहता है। पूरे दो साल अभी पूरे नहीं हुए हैं, पर जिस तरह नेक चलनवाले सब क़ैदियों को छूट मिला करती है, उसी तरह मुझे भी अपनी सज़ा में साढ़े तीन महीने की छूट मिली है। क्योंकि मैं नेकचलन क़ैदी माना गया हूँ, हालाँकि इस तारीफ़ के क़ाबिल बनने के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया है। यों यह मेरी छठी सज़ा पूरी होती है, और मैं फिर लम्बी-चौड़ी दुनिया में बाहर निकलूंगा। मगर किस मतलब के लिए? इससे क्या फ़ायदा होगा? जबकि मेरे ज़्यादातर दोस्त और साथी जेलों में पड़े हैं, और सारा देश मानो एक बहुत बड़ा जेलख़ाना बना हुआ है।

पत्रों का कितना बड़ा ढेर मैंने लिख डाला है! और स्वदेशी काग़ज़ पर मैंने कितनी सारी स्वदेशी स्याही बिखेर दी है! मेरे दिल में सवाल उठता है कि क्या यह सब फ़िज़ूल तो नहीं हुआ? क्या यह इतना सारा काग़ज़ और इतनी सारी स्याही तुम्हें कोई सन्देश देंगे और तुम्हारे लिए दिलचस्प होंगे? मैं जानता हूँ कि तुम इसका जवाब 'हाँ' में ही दोगी, क्योंकि तुम्हें लगेगा कि और किसी क़िस्म के जवाब से मुझे दुःख पहुँचेगा, और मेरी तरफ़ तुम्हारा इतना झुकाव है कि तुम यह जोखिम नहीं उठाओगी। तुम इनकी परवाह करो या न करो, पर इन दो लम्बे वर्षों में दिनों-दिन ये पत्र लिखते हुए मुझे जो आनन्द मिला है, वह तुम्हें अखर नहीं सकता। जब मैं यहाँ आया तब सर्दी का मौसम था। सर्दी के बाद हमारा चन्दरोज़ा बसन्त आया, जिसे गर्मियों की गर्मी ने बहुत जल्दी बदल डाला। और फिर, जब धरती झुलस गई और सूख गई और आदमियों व जानवरों का दम घुटने लगा, तब ताज़ा और ठण्डा बरसाती पानी लेकर घटाएँ आईं। इसके बाद पतझड़ आया और आसमान का चक्कर पूरा हो गया, और फिर दुबारा शुरू हो गया : सर्दी, बसन्त, गर्मी और बरसात। यहाँ बैठे-बैठे मैंने तुम्हें पत्र लिखे हैं, और तुम्हें याद किया है, और

मौसमों को बदलते देखा है, और अपनी बारक की छत पर पड़नेवाली बरसाती बूंदों की तड़तड़ाहट सुनी है :

ओ वर्षा-जल की कोमल ध्वनि,
धरती पर औ' छत के ऊपर!
उत्सुक औ' प्यासे हृदयों को,
ओ वर्षा के संगीत मधुर।[1]

उन्नीसवीं सदी के महान् अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बैन्जामिन डिज़रेली ने लिखा है— "देश-निकाला और क़ैद की सज़ा पाये हुए दूसरे लोग अगर ज़िन्दा निकल आयें, तो मायूस हो जाते हैं; साहित्यकार उन दिनों को अपनी ज़िन्दगी के सबसे मीठे दिनों में गिनता है।" यह उन्नीसवीं सदी के एक मशहूर डच क़ानूनदाँ और दार्शनिक यूगो ग्रोशिअस का ज़िक्र है, जिसे उम्र क़ैद की सज़ा हुई थी, पर जो दो साल बाद निकल भागा था। इसने जेल में ये दो साल दर्शन और साहित्य की पुस्तकें रचने में बिताये थे। कई मशहूर साहित्यकार जेल के पंछी रह चुके हैं। इनमें सबसे नामी दो हैं : एक तो 'डॉन क्विग्ज़ोट' का लेखक स्पेन-निवासी थर्वान्तेज़ (सर्वेण्टीज़) और दूसरा 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' का लेखक अंग्रेज़ जॉन बनियन।

मैं साहित्यकार नहीं हूँ, और न मैं यह कहने को तैयार हूँ कि जो बहुत साल मैंने जेलों में बिताये हैं, वे मेरी ज़िन्दगी के सबसे मीठे साल हैं। पर मैं कह सकता हूँ कि इन सालों को गुज़ारने में पढ़ाई व लिखाई से मुझे बहुत बढ़िया मदद मिली है। मैं साहित्यकार नहीं हूँ, और इतिहासकार भी नहीं हूँ; तो सचमुच मैं हूँ क्या? इस सवाल का जवाब देना मेरे लिए कठिन है। मैं बहुत-सी बातों में टाँग अड़ानेवाला रहा हूँ, कालेज में मैंने विज्ञान शुरू किया, फिर क़ानून पढ़ा, और फिर ज़िन्दगी में दूसरे बहुत-से शौक़ पैदा करने के बाद, आखिर जेल-यात्रा का वह पेशा अपनाया, जो भारत में खूब पसन्द किया जाता है और खूब चालू है।

इन पत्रों में मैंने जो कुछ लिखा है, उसे तुम किसी विषय के बारे में आखिरी सनद मत मान लेना। एक राजनीतिक आदमी हरेक विषय पर कुछ-न-कुछ कहना चाहता है, और जो कुछ वह दर-असल जानता है उससे बहुत ज्यादा जानने का ढोंग करता है। उसपर सावधानी की नज़र रखनी चाहिए। मेरे ये पत्र महज़ ऊपरी खाके हैं, जिन्हें एक बारीक डोरे से जोड़ दिया गया है। मैं सदियों के ऊपर और बहुत-सी बड़ी-बड़ी पूर्ण घटनाओं के ऊपर फुदकता हुआ बे-ठौर-ठिकाने घूमता रहा हूँ, और अगर कोई घटना मुझे दिलचस्प लगी तो उसपर मैंने काफ़ी अर्से तक अपना तम्बू गाड़ दिया है। इन पत्रों में तुम देखोगी कि मेरी पसन्दें और नापसन्दें काफ़ी ज़ाहिर

[1] फ्रान्सीसी भाषा के एक पद्य का भावानुवाद।

हो गई हैं, और जेल में मेरा मिज़ाज भी कभी-कभी इसी तरह ज़ाहिर हो गया है। इसलिए मैं नहीं चाहता कि तुम इन पत्रों की सारी बातों को ज्यों-की-त्यों मान लो। मेरे बयानों में सचमुच बहुत-सी भूलें हो सकती हैं। जेल में न तो पुस्तकालय होते हैं और न जानकारी देनेवाली पुस्तकें मुहैया होती हैं, इसलिए इतिहासी विषयों पर क़लम चलाने के लिए यह जगह मौज़ूं नहीं होती। बारह साल हुए जबसे मैंने अपनी जेल-यात्राएँ शुरू की हैं, तबसे जो बहुत-सी याददाश्तें मैंने लिख-लिखकर जमा करली हैं, उन्हींका मुझे ज्यादातर सहारा लेना पड़ा है। यहाँ मेरे पास बहुत-सी पुस्तकें आई भी हैं, पर वे आती-जाती रही हैं, क्योंकि मैं यहाँ कोई पुस्तकालय तो जमा कर नहीं सकता। इन पुस्तकों से मैंने बेशर्म होकर तथ्य और विचार उड़ा लिये हैं, इसलिए जो कुछ मैंने लिखा है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। कई बार शायद तुम्हें मेरे पत्रों की बातें समझने में कठिनाई लगे। उन हिस्सों पर सरसरी नज़र डाल लेना और ज्यादा ध्यान मत देना। कभी-कभी मेरी बड़ी उम्र भी मुझपर हावी हो गई, और मैंने उस ढंग से लिख डाला जिस ढंग से मुझे लिखना नहीं चाहिए था।

मैंने तो तुम्हारे सामने एक कोरा ख़ाका खींचा है। यह इतिहास नहीं है, हमारे लम्बे गुज़रे ज़माने की सिर्फ़ उड़ती-हुई-सी झाँकियाँ हैं। अगर तुम्हारी इतिहास में रुचि हो, अगर तुम इतिहास के जादू को कुछ महसूस करो, तो ऐसी कई पुस्तकें मिल जायँगी, जिनसे तुम्हें बीते युगों के उलझे हुए सूत्रों को सुलझाने में मदद मिलेगी। पर सिर्फ़ पुस्तकें पढ़ने से ज्यादा फ़ायदा नहीं होगा। अगर तुम बीते ज़माने की बातें जानना चाहती हो तो तुमको इसपर हमदर्दी और समझदारी के साथ ग़ौर करना होगा। प्राचीन काल में रहनेवाले किसी व्यक्ति को समझने के लिए तुम्हें उसके आसपास के वातावरण को समझना होगा, उन हालतों को समझना होगा, जिसमें वह रहता था, और उसके दिमाग़ में भरे हुए विचारों को समझना होगा। अगर हम पुराने ज़माने के लोगों के बारे में यह मान कर फ़ैसला करने लगें कि मानो वे आजकल के ज़माने में रहते हैं और हमारे ही ढंग से सोचते हैं, तो यह हमारे लिए नासमझी की बात होगी। आज ग़ुलामी की वकालत कोई भी नहीं करता, मगर महान् अफ़लातून का यह दावा था कि इसके बिना काम चल नहीं सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में ग़ुलामी क़ायम रखने की जद्दो-जहद में जो बीसियों हज़ार आदमियों ने जानें दे दी थीं, उसे ज्यादा अरसा नहीं हुआ है। गुज़रे ज़माने को हम आज की ज़िन्दगी की तराज़ुओं से नहीं तौल सकते। यह बात सब ख़ुशी से क़बूल कर लेंगे। पर मौजूदा ज़माने को गुज़रे ज़माने की तराज़ुओं पर तौलने की जो इतनी ही बेहूदा आदत है, उसे सब लोग क़बूल नहीं करेंगे। विभिन्न मज़हबों ने उन विश्वासों, श्रद्धाओं व दस्तूरों को पत्थर की लकीर बनाने में ख़ास मदद दी है, जिनका शायद इन्हें जन्म देनेवाले युगों और देशों में कुछ उपयोग रहा हो, पर जिनका हमारे मौजूदा युग से ज़रा भी मेल नहीं बैठता।

इसलिए, अगर तुम पुराने इतिहास को हमदर्दी की निगाह से देखो तो उसकी सूखी हड्डियों में माँस-मज्जा भर जायँगे, और तुम्हें हर युग और हर प्रदेश के जीते-जागते नर-नारियों और बालकों का एक बड़ा भारी जुलूस-सा दिखाई देने लगेगा। ये नर-नारी हमसे जुदा क़िस्म के हैं, पर फिर भी बहुत-कुछ हमारे ही जैसे हैं, इनमें हमारी ही तरह की इन्सानी ख़ूबियाँ और कमज़ोरियाँ हैं। इतिहास कोई जादू का तमाशा नहीं है, पर आँखें खोलकर देखनेवालों के लिए इसमें काफ़ी जादू है।

इतिहास की चित्रशाला के ढेरों चित्र हमारे दिमाग़ में भरे हुए हैं। मिस्र, बेबीलन, निनेवा, पुरानी भारतीय सभ्यताएँ—आर्यों का भारत में आना और यूरोप और एशिया में फैलना—चीनी संस्कृति का अद्‌भुत लेखा—नोसास और यूनान—शाही रोम और बिज़ैन्तियम—दो महाद्वीपों के आर-पार अरबों की शानदार कूच—भारतीय संस्कृति का फिर जागना और गिरना—अमेरिका की अनजानी 'मय' और 'अज़टेक' सभ्यताएँ—मँगोलों का बड़े-बड़े देश जीतना—यूरोप के मध्य-युग और इनके गोथिक शैली के अद्‌भुत गिरजाघर—भारत में इस्लाम का आना और मुग़ल साम्राज्य—पश्चिमी यूरोप में विद्या और कला का रिनेसाँ—अमेरिका की और पूर्वी समुद्री रास्तों की खोज—पूर्व में पश्चिम की हमलावर कार्रवाइयों की शुरुआत—बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार और पूँजीवाद का विकास—उद्योगवाद, और यूरोपीय हुक़ूमत और साम्राज्यशाही का फैलना और आज के ज़माने में विज्ञान के अद्‌भुत चमत्कार।

बड़े-बड़े साम्राज्य उठे और गिरे हैं और दुनिया हज़ारों वर्षों तक इन्हें भूली रही है। पर रेत के नीचे दबे हुए इनके खण्डहरों को अब खोजियों ने धीरज से फिर खोद निकाला है। मगर बहुत-से विचार, बहुत-से गुमान, इन साम्राज्यों के बाद भी बच गये हैं, और इनसे ज्यादा मज़बूत तथा ज्यादा टिकाऊ साबित हुए हैं।

मेरी कोलरिज का एक गीत है, जिसका अनुवाद इस तरह है :

"गिर गया है मिस्र का ऐश्वर्य होकर चूर-चूर
वह विचारों के महा गहरे गढ़े में है पड़ा,
हो गया यूनान का और त्राय नगरी का पतन,
छिन गया है ताज वैभवपूर्ण नगरी रोम का,
और मिट्टी में मिली है शान वेनिस शहर की।
किन्तु इनके बाल-बच्चे देखते थे स्वप्न जो—
व्यर्थ-से, उड़ते-हुए-से, वास्तविकता-हीन-से,
और क्षण-भंगुर जो छाया की तरह थे दीखते,
औ' हवा की भाँति जो निस्सार थे लगते उन्हें,
बस वही सपने रहे हैं शेष अबतक भी वहाँ।"

बीता हुआ ज़माना हमारे लिए बहुत-से तोहफ़े छोड़ गया है; सच तो यह है कि संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, या सत्य के कुछ पहलुओं की जानकारी की शक्ल में जो कुछ आज हमारे पास है, वह सब दूर के गुज़रे ज़माने या नज़दीक के गुज़रे ज़माने की ही देन है। इसलिए, अगर हम गुज़रे ज़माने के इस अहसान को मानते हैं तो यह ठीक ही है। पर हमारा फ़र्ज़ या अहसान मानना सिर्फ़ बीते ज़माने के ही साथ ख़त्म नहीं हो जाता। आयन्दा के लिए हमारा कुछ फ़र्ज़ है, और यह अहसान शायद उस अहसान से भी बड़ा है, जो हमें गुज़रे ज़माने को चुकाना है। क्योंकि गुज़रा ज़माना तो गुज़र ही चुका और ख़त्म हो गया, हम उसे बदल नहीं सकते। पर आगे का वक़्त तो अभी आनेवाला है, और शायद उसे हम कुछ बना सकें। यदि गुज़रे ज़माने ने सत्य का कुछ हिस्सा हमें दिया है, तो आयन्दा वक़्त में भी सत्य के बहुत-से पहलू छिपे हुए हैं, और वह हमें उन्हें ढूंढ़ निकालने को बुला रहा है। लेकिन अक्सर गुज़रे ज़माने को आयन्दा वक़्त से डाह होती है, और वह हमें बहुत मज़बूत शिकंजे में जकड़े रहता है, और आयन्दा वक़्त का सामना करने के लिए और इसकी तरफ़ बढ़ने के लिए हमें गुज़रे ज़माने से लड़ना पड़ता है।

कहा जाता है कि इतिहास हमें बहुत सबक़ सिखाता है। दूसरी कहावत यह भी है कि इतिहास अपने-आपको कभी नहीं दोहराता। ये दोनों ही बातें सही हैं, क्योंकि अन्धे होकर इतिहास की नक़ल करने से, या यह इन्तज़ार करने से कि वह अपने-आपको दोहरायेगा या अचल पड़ा रहेगा, हम उससे कोई बात नहीं सीख सकते। पर हम इतिहास के पीछे झाँककर और उसे हरकत देनेवाली ताक़तों को समझकर ही उससे कुछ सीख सकते हैं। मगर फिर भी हमें सीधा जवाब शायद ही कभी मिलता है। कार्ल मार्क्स ने कहा है: "इतिहास के पास तो पुराने सवालों के जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा है कि वह नये सवाल उठाता रहता है।"

पुराना ज़माना श्रद्धा का, अन्धी और निर्विवाद श्रद्धा का, ज़माना था। पिछली शताब्दियों के अद्‌भुत मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे कभी खड़े नहीं हो सकते थे, अगर कारीगरों और मिस्त्रियों और आम लोगों पर श्रद्धा छाई न होती। जिन पत्थरों को उन्होंने भक्ति-भाव से एक-पर-एक चुना या सुन्दर बन्दिशों में तराशा, वे ही इस श्रद्धा को बता रहे हैं। पुराने मन्दिरों के शिखर, पतली-पतली सुरियोंवाली मस्जिदें, गोथिक शैली के गिरजे—जो सारे-के-सारे भक्ति की आश्चर्यजनक गहराई के साथ ऊपर को इशारा कर रहे हैं, मानो ऊपरवाले आकाश को पत्थर या संगमरमर के रूप में पूजा भेंट कर रहे हों—आज भी हमारे अन्दर थरथराहट पैदा कर देते हैं, भले ही हमारे दिलों में वह पुरानी श्रद्धा न हो जिसके ये पुतले हैं। उस श्रद्धा के दिन अब नहीं रहे हैं, और उनके साथ ही पत्थर में चमत्कार पैदा करनेवाला वह दर्द भी नहीं रहा है। आजकल भी हज़ारों मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे बनते

रहते हैं, पर इनमें वह आत्मा नहीं है, जिसने मध्य-युगों में इन्हें जानदार बना दिया था। इनमें और हमारे ज़माने का नमूना बतानेवाले व्यवसायी दफ़्तरों में, कोई फ़र्क़ नहीं है।

हमारा ज़माना दूसरी ही क़िस्म का है। आज तो ख़ाम-ख़याली दूर होने का, हर बात में शक करने का, अविश्वास का और बहस का युग है। अब हम बहुत-से पुराने यक़ीनों और दस्तूरों को क़बूल नहीं कर सकते; क्या एशिया, क्या यूरोप और क्या अमेरिका, सब जगह लोगों की श्रद्धा इनपर से हट गई है। इसलिए हम नये रास्ते खोजते हैं, और सत्य के ऐसे पहलू खोजते हैं, जो हमारे चौगिर्द से ज़्यादा तालमेल रखते हों। हम आपस में सवाल-जवाब और बहस और झगड़े करते हैं, और अनगिनती 'वाद' और फ़िलासफ़ियाँ निकालते रहते हैं। सुक़रात के ज़माने की तरह हम लोग भी सवाल-जवाब के युग में रह रहे हैं, मगर सवाल-जवाब की यह आदत एथेन्स जैसे शहर में ही बन्द नहीं है, यह पूरी दुनिया में फैली हुई है।

दुनिया की ग़ैर-इन्साफ़ियाँ, रंज और हैवानियत, कभी-कभी हमें सताते हैं और हमारा मन ख़राब कर देते हैं, और हमें बाहर निकलने का रास्ता नहीं दिखाई देता। मैथ्यू आर्नोल्ड[1] की तरह हम महसूस करते हैं कि इस संसार में कोई आसरा नहीं है, और हमारे लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं है कि आपस में सच्चाई का बर्ताव करें:

"क्योंकि यह संसार, जो है दीखता
फैला हुआ सन्मुख हमारे, स्वप्न की दुनिया सरीखा,
जो विविध इतना मनोरम और नूतन
पर न सचमुच हर्ष है इसमें, न सचमुच प्रेम है, न प्रकाश है,
न कहीं सुनिश्चितता है, अथवा शान्ति अथवा कष्ट का प्रतिकार ही है,
और हम बैठे हैं मानो तमाच्छादित भूमि पर,
जिसमें भरा है घोर कोलाहल लड़ाई और भगदड़ की पुकारों का,
जहाँ नादान सेनाएँ अन्धेरी रात में टकरा रही हैं।"[2]

मगर फिर भी, अगर हम ऐसा उदासीभरा रुख़ अपना लें, तो कहना होगा कि हमने ज़िन्दगी से या इतिहास से सही सबक़ नहीं सीखा है। क्योंकि इतिहास हमें विकास की और तरक़्क़ी की और मनुष्य के लिए आगे बढ़ सकने की बातें

---

[1] इंग्लैण्ड का एक प्रसिद्ध कवि, जिसका 'लाइट ऑफ़ एशिया' नामक काव्य बहुत मशहूर है।

[2] मैथ्यू आर्नोल्ड-रचित एक पद्य का भावानुवाद।

सिखाता है। ज़िन्दगी भरपूर और रंग-बिरंगी है, और हालाँकि इसमें बहुत दलदलें और डाबर और कीचड़ की जगहें हैं, पर दूसरी तरफ़ इसमें महासागर और पहाड़, और बर्फ़ की नदियाँ, और अद्भुत तारों-भरी रातें (ख़ासकर जेल में!) हैं, और परिवार की व दोस्तों की मोहब्बत है, और एक ही मक़सद की ख़ातिर काम करनेवालों का साथ है, और संगीत है और पुस्तकें हैं और विचारों का साम्राज्य है। इसलिए हममें से हरेक को यह कहना चाहिए।

"हे प्रभो, यद्यपि रहा मैं भूमि पर, हूँ भूमि की सन्तान मैं,
किन्तु तारा-जटित नभ ने पिता बन पाला मुझे।"

दुनिया की सुन्दर चीज़ों को तारीफ़ करना और विचार और ख़याली दुनिया में रहना आसान है। पर इस तरह दूसरों के रंजो-ग़म से कतराने की कोशिश करना और इस बात की फ़िक्र न करना कि दूसरों पर क्या बीतती है, न तो हौसले की निशानी है और न आपसी हमदर्दी की। विचार के तभी कोई मानी हो सकते हैं जब उसका नतीजा कर्म हो। हमारे दोस्त रोम्यां रोलां[1] ने कहा है: "कर्म ही विचार का अंजाम है। जो विचार कर्म की तरफ़ न देखे वह सब-का-सब नाकाम और धोखेबाज़ी है। इसलिए, अगर हम विचार के दास हैं तो हमें कर्म का भी दास होना चाहिए।"

लोग-बाग कर्म से अक्सर इसलिए कतराते हैं कि अंजामों से डरते हैं, क्योंकि कर्म का मतलब है जोखिम और ख़तरा। लेकिन डर दूर से ही भयंकर दिखाई देता है। नज़दीक से देखा जाय तो इतना बुरा नहीं होता। और बहुत बार तो डर ऐसा सुहावना साथी बन जाता है, जो ज़िन्दगी की लज़्ज़त और ख़ुशी बढ़ाता है। ज़िन्दगी का मामूली दौर कभी-कभी नीरस हो जाता है, क्योंकि हम यह सोच लेते हैं कि दुनिया की बातें अपने-आप होती रहती हैं, और उनमें मज़ा नहीं लेते। लेकिन अगर हमें ज़िन्दगी की इन्हीं मामूली चीज़ों के बिना कुछ दिन रहना पड़े, तो हम उनकी कितनी क़द्र करने लगते हैं। बहुत-से लोग ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं, और चढ़ाई के आनन्द के लिए, और मुश्किल पार करने व ख़तरा उठाने से हासिल होनेवाली ख़ुशी के लिए, ज़िन्दगी व तन-बदन को जोखिम में डालते हैं। और, उनके चारों तरफ़ जो ख़तरा मंडराता रहता है, उसकी वजह से उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ पैनी हो जाती हैं और अधर लटकी हुई ज़िन्दगी का मज़ा गहरा हो जाता है।

हम सबके सामने पसन्द करने के लिए दो रास्ते हैं। या तो हम उन निचली घाटियों में पड़े रहें, जो दम घोंटनेवाले धुन्धों और कोहरों से ढँकी रहती हैं पर जो कुछ हद तक हमारे तन की हिफ़ाज़त करती हैं। या हम जोखिम उठाकर और अपने

---

[1] नोबल पुरस्कार-विजेता फ़्रान्सीसी लेखक और विचारक। इनकी १९४४ ई० में मृत्यु हो गई।

साथियों को ख़तरे में डालकर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ें, ताकि ऊपर की साफ़ हवा में साँस ले सकें, दूर-दूर के नज़ारों का आनन्द उठा सकें, और उगते हुए सूर्य का स्वागत कर सकें।

इस पत्र में मैंने कवियों और दूसरे लोगों की बहुत सारी हिदायतें या रचनाओं की बानगियाँ दी हैं। ख़त्म करने से पहले एक और देना चाहता हूँ। यह 'गीताञ्जलि' की रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रची हुई कविता या प्रार्थना है :

"स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे! जगे-जगे देश यह हमारा,
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर, स्वतन्त्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें,
जहाँ घरों की न भित्तियाँ ये करें जगत खण्ड-खण्ड न्यारा,
सदैव ही सत्य के तले से जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा,
छिपे भटककर सुबुद्धि-धारा न रूढ़ियों के दुरन्त मरु में
विशाल-विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा,
स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा।"[1]

प्यारी बेटी, मेरा काम पूरा हो गया और यह आख़िरी पत्र अब पूरा होता है। आख़िरी पत्र ? नहीं, कभी नहीं। मैं तो तुम्हें न जाने कितने पत्र और लिखूंगा। पर यह सिलसिला ख़त्म होता है, इसलिए—

तमाम शुद !

---

[1] 'गीताञ्जलि' की कविता का यह पद्यानुवाद स्व० डॉ० सुधीन्द्र ने किया था।

उपसंहार—बाद की बातें

अरबसागर,
१४ नवम्बर, १९३८

सवा-पांच साल हुए तब मैंने देहरादून की ज़िला-जेल की कोठरी से इस माला का आख़िरी पत्र तुम्हें लिखा था। मेरी दो साल क़ैद की सज़ा पूरी होनेवाली थी, और अकेली ज़िन्दगी के इस लम्बे अर्से में (हालांकि मन में तो तुम हमेशा मेरे साथ रहती थीं) पत्रों का जो बड़ा मारी ढेर मैंने तुम्हें लिखा था, उसे उठाकर रख दिया था और हलचल व हरकतभरी बाहरी दुनिया में निकलने के लिए अपने दिमाग़ को तैयार कर लिया था। यह छुटकारा बहुत जल्दी हो गया था, पर पाँच ही महीने बाद मैं दो साल की दूसरी सज़ा भुगतने के लिए जेल के उसी जाने-पहचाने वातावरण में फिर जा पहुँचा था। मैंने फिर क़लम उठाई थी और इस बार एक ज़्यादा खानगी कहानी[1] लिखी थी।

मैं फिर बाहर निकला, और हम-तुम दोनों को रंज में शरीक होना पड़ा—ऐसा रंज जो तभीसे छाया की तरह मेरी ज़िन्दगी के साथ लगा हुआ है। लेकिन रंज व झगड़े-टण्टों की इस दुनिया में, जिसे झंझोड़नेवाली कशमकशें हमारी पूरी ताक़त का तक़ाज़ा करती हैं, व्यक्तिगत आपदाओं की कोई गिनती नहीं है। बस, हम फिर जुदा हो गये, तुम पढ़ाई के सायादार रास्तों पर चली गई और मैं लड़ाई-झगड़ों के शोर-गुल और हुल्लड़ में पड़ गया।

युद्ध और मुसीबतों का बोझ लिये हुए पाँच साल से ज़्यादा बीत चुके हैं, और हमारी आज की दुनिया और हमारे सपनों की दुनिया के बीच फ़र्क़ बढ़ता जाता है। हमारा पीछा करनेवाली बुराई की गला-घोंटू पकड़ से कभी-कभी तो आशा तक की भी साँस रुकने लगती है। मगर जिस वक़्त मैं यह लिख रहा हूँ, मेरे सामने अपना सारा ज़ोर और सौन्दर्य लिये हुए अरब सागर फैला हुआ है—सपने की तरह खामोश और रुपहली चाँदनी में झिलमिलाता हुआ।

इस नये अध्याय में मुझे इन पाँच वर्षों की कहानी बयान करनी है, क्योंकि ये पत्र अब एक नये रूप में छापे जा रहे हैं, और प्रकाशक चाहते हैं कि इनमें आज तक की बातें शामिल कर दी जायें। यह कठिन काम है, क्योंकि इस दौरान

[1] अपनी आत्मकथा—'मेरी कहानी'—से मतलब है। यह हिन्दी में 'सस्ता-साहित्य मण्डल' से निकली है।

इतनी ज्यादा घटनाएँ घटी हैं कि अगर मैं इनके बारे में लिखने बैठूं और मेरे पास वक़्त हो तो मैं सारी सीमा को तोड़ दूं और एक और पुस्तक ही लिख डालूं। बड़ी-बड़ी घटनाओं का ज़िक्र तक भी बहुत लम्बा और बोझिल हो जायगा। इसलिए मैं इन घटनाओं का कोरा ख़ाका ही तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। पिछले पत्रों के अन्त में मैंने कुछ अधिक जानकारी देनेवाले नोट जोड़ दिये हैं, और अब हम इन वर्षों पर कुछ सरसरी निगाह डालेंगे।

आखिरी पत्रों में मैंने तुम्हें बताया था कि दुनिया में सारी बातें एक-दूसरी से उलटी हो रही हैं। आपसी लाग-डाट चल रही है, फ़ासीवाद व नात्सीवाद पनप रहे हैं, और युद्ध का अन्देशा बढ़ रहा है। इन पाँच वर्षों में ये लाग-डाट और बैर-विरोध गहरे हो गये हैं, और हालांकि विश्व-युद्ध अभी टल गया है, पर अफ़ीका में, यूरोप में और एशिया के दूर-पूर्व में बड़े-बड़े और भयंकर युद्ध हो चुके हैं। हर साल, और कभी-कभी हर महीने, नई-नई आक्रामक कारंवाइयों और दिल दहलानेवाली घटनाओं की चर्चाएँ सुनाई देती हैं। संसार दिन-पर-दिन ज्यादा बिखरता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का यह हाल है कि सब अपने-अपने रास्ते चल रहे हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय ताल-मेल के राष्ट्र-संघ जैसे यत्न बुरी तरह नाकामयाब होकर खत्म हो गये हैं। हथियार-बन्दी की चर्चा पुरानी हो गई है, और हरेक राष्ट्र अपनी पूरी शक्ति से, दिन-रात, सरगर्मी के साथ हथियारों से लैस हो रहा है। संसार पर डर छाया हुआ है, और आक्रामक और विजयी नात्सीवाद और फ़ासीवाद से पिटा हुआ यूरोप तेज़ी से गिर रहा है और वह बर्बरता के रास्ते पर जा रहा है।

१९१४-१८ ई० में महायुद्ध के पीछे जो मुद्दे थे, उनका खुलासा हम पिछले पत्रों में कर चुके हैं। महायुद्ध आया और उसमें से वर्साई की सन्धि और राष्ट्र-संघ का इक़रारनामा पैदा हुए। पर पुराने मसले हल नहीं हुए, और कई नये मसले पैदा हो गये, जैसे, हर्जाने, युद्ध के क़र्ज़े, हथियार-बन्दी, संयुक्त बचाव, आर्थिक संकट, और चारों तरफ़ बेकारी। सुलह से पैदा होनेवाले मसलों के पीछे वे ज़िन्दा समाजी मसले फिर भी बाक़ी रहे, जिन्होंने दुनिया का सन्तुलन बिगाड़ दिया था। सोवियत-संघ में नई समाजी ताक़तों की जीत साबित हो गई थी, और ज़बर्दस्त कठिनाइयों व दुनिया-भर के विरोध के बावजूद ये एक नई दुनिया तैयार करने की कोशिश कर रही थीं; दूसरे देशों में गहरे समाजी परिवर्तन हो रहे थे। पर इन्हें निकलने का रास्ता नहीं मिलता था, और मौजूदा राजनीतिक व आर्थिक ढाँचा इनको आगे बढ़ने से रोक रहा था। पैदावार बढ़ने से संसार में सब चीज़ों की बहुतायत हो गई, युगों का सपना पूरा हो गया। पर जिस ग़ुलाम को सदियों से बेड़ियों की आदत पड़ी हुई है, वह आज़ादी से घबराता है। और बेवक़ूफ़ मनुष्य-जाति चीज़ों की कमी की इतनी आदी हो गई है कि वह दूसरी बातें सोच ही नहीं सकती। इसलिए नई दौलत

जान-बूझकर फेंक दी जाती है, कम की जाती है, और एक सीमा में बाँध दी जाती है, और बेकारी और मुसीबत सचमुच पहले से भी ज़्यादा बढ़ जाती हैं।

सम्मेलन-पर-सम्मेलन बुलाये गए, और इस हैरतभरी उलटबाँसी को हल करने के लिए और अमन क़ायम करने के लिए संसार-भर के राष्ट्र एक जगह जमा हुए। वाशिंगटन-क़रार, और लोकार्नो-क़रार और केलॉग-क़रार, वग़ैरा कई क़रार और समझौते और गठ-बन्धन हुए, पर बुनियादी समस्याओं को छुआ तक नहीं गया, और कठोर असलियत का हाथ लगते ही ये समझौते और क़रार एकदम ग़ायब हो गये, और यूरोप की क़िस्मत का फ़ैसला करने के लिए सिर्फ़ नंगी तलवार बाक़ी रह गई। वर्साई की सन्धि मर चुकी, यूरोप का नक़्शा फिर बदल गया है और दुनिया का नये सिरे से बँटवारा हो रहा है। युद्ध के क़र्ज़ों का सवाल ग़ायब हो गया है और सबसे ज़्यादा मालदार देशों ने इन्हें न चुकाने का फ़ैसला कर लिया है।

बस, हम १९१४ ई० और उससे भी पहले के युद्ध-पहले युग में वापस आ जाते हैं। इस युग की सारी समस्याएँ और सारे झगड़े बाद में होनेवाली घटनाओं की वजह से सौ-गुना गहरे हो गये हैं। ढहता हुआ पूँजीवादी ढाँचा आर्थिक राष्ट्रीयता लाता है, और बड़े-बड़े एकाधिकारों को भी बढ़ाता है। यह हमलावर और ख़ून का प्यासा बनता जाता है, और पार्लमेण्टी ढंग के लोकतन्त्र तक को बर्दाश्त नहीं कर सकता। फ़ासीवाद और नात्सीवाद अपनी सारी नंगी पशुता लेकर उठ खड़े होते हैं, और युद्ध को ही अपनी सारी नीति का मक़सद और निशाना बनाते हैं। इसी बीच सोवियत प्रदेशों में एक बड़ी नई शक्ति उठती है, जो पुरानी व्यवस्था के लिए लगातार चुनौती, और साम्राज्यवाद व फ़ासीवाद दोनों के लिए एक-जैसी ज़ोरदार रुकावट बन जाती है।

हम क्रान्ति के युग में रह रहे हैं। यह क्रान्ति १९१४ ई० में, जब महायुद्ध छिड़ा था, तब शुरू हुई थी, और संसार को सब जगह रगड़े-झगड़ों की सख़्त पीड़ा में डालती हुई बराबर चली आ रही है। डेढ़ सौ वर्ष पहले फ़्रान्सीसी क्रान्ति ने धीरे-धीरे राजनीतिक बराबरी का युग शुरू कर दिया था, पर अब ज़माना बदल गया है, और आज सिर्फ़ यह बराबरी काफ़ी नहीं है। अब लोकतन्त्र का दायरा इतना बढ़ाना होगा कि इसमें आर्थिक बराबरी भी शामिल हो सके। यही वह क्रान्ति है, जिसमें होकर हम सब गुज़र रहे हैं। यह क्रान्ति आर्थिक बराबरी क़ायम करने के लिए है, ताकि लोकतन्त्र सही अर्थों में क़ायम हो और हम लोग विज्ञान और टेकनोलॉजी की तरक़्क़ी के साथ-साथ चल सकें।

यह बराबरी साम्राज्यवाद या पूँजीवाद के साथ मेल नहीं खाती, क्योंकि ये असमानता और राष्ट्र या वर्ग के शोषण पर टिके हुए हैं। चुनाँचे इस शोषण से फ़ायदा उठानेवाले समानता को रोकते हैं, और जब लड़ाई ज़ोर पकड़ती है, तब राजनीतिक

बराबरी और पार्लमेण्टी लोकतन्त्र के खयाल तक को घता बता दी जाती है। यही फ़ासीवाद है, जो कई रास्तों से हमें मध्य-युगों में वापस ले जाता है। यह 'नस्ल' की हुक़ूमत को ऊँचा दर्जा देता है, और निरंकुश बादशाह के दैवी अधिकार की जगह इसमें एक नेता का दैवी अधिकार रहता है, जिसके हाथों में सारी ताक़त रहती है। पिछले पाँच वर्षों में फ़ासीवाद की तरक़्क़ी ने, और हर क़िस्म के लोकतन्त्री उसूलों और आज़ादी व सभ्यता के ख़यालों पर इसके हमले ने, आज लोकतन्त्र की हिफ़ाजत का सवाल बड़ा ज़रूरी बना दिया है। दुनिया में होनेवाली टक्कर आज एक तरफ़ साम्यवाद व समाजवाद व दूसरी तरफ़ फ़ासीवाद के बीच नहीं है। यह टक्कर तो लोकतन्त्र और फ़ासीवाद के बीच है, और लोकतन्त्र की सारी सिद्धान्ती ताक़तें कन्धे भिड़ाकर फ़ासी-विरोधी बनती जाती हैं। आज स्पेन इसकी सबसे बढ़िया मिसाल है।

पर इस लोकतन्त्र के पीछे लोकतन्त्र को बढ़ाने का ख़याल लाज़िमी तौर पर मौजूद है। और इसीके डर से सब जगह के प्रतिगामी लोग अपनी हमदर्दी और ताबेदारी फ़ासीवाद को दे रहे हैं, हालाँकि ऊपर से वे लोकतन्त्र के भक्त बनते हैं। फ़ासीवादी शक्तियों का रवैय्या बिलकुल साफ़ है और उनके मक़सदों या उनकी नीति के बारे में शक की कोई गुंजायश नहीं है। मगर हालात को बनाने-बिगाड़नेवाला सबब तो लोकतन्त्री कहलानेवाली शक्तियों का, और ख़ासकर इंग्लैण्ड का, रवैय्या है। ब्रिटिश सरकार ने शुरू से अबतक एशिया, अफ़्रीका और यूरोप में प्रतिगामी खेल खेला है, और फ़ासीवाद व नात्सीवाद को हर तरह बढ़ावा दिया है। सच्चे लोकतन्त्र की तरक़्क़ी का उसे इतना ज्यादा डर है, और फ़ासीवाद के नेताओं के साथ उसकी इतनी ज्यादा वर्ग-सहानुभूति है कि उसने ब्रिटिश साम्राज्य की हिफ़ाज़त को ख़तरे में डालकर भी फ़ासीवाद की हिमायत की है। इसलिए अगर फ़ासीवाद ज़ोर पकड़ गया है और संसार पर हावी होने लगा है, तो इसकी ज्यादातर नेकनामी ब्रिटिश सरकार को दी जानी चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने, जिसमें लोकतन्त्र कीभावना ज्यादा पैनी है, फ़ासीवादियों की हमलावर कार्रवाइयाँ रोकने के लिए दूसरी शक्तियों की तरफ़ कई बार सहयोग का हाथ बढ़ाया, पर इंग्लैण्ड ने हाथ मिलाने से इन्कार कर दिया। फ़्रान्स तो लन्दन शहर और इंग्लैण्ड की विदेशी नीति का इतनी बुरी तरह दामनगीर हो गया है कि वह किसी स्वाधीन नीति पर अमल करने की हिम्मत ही नहीं कर सकता।

मजूरियों से ताल्लुक़ रखनेवाले मामलों में भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनों में इंग्लैण्ड का रुख बराबर प्रतिगामी रहा है। जून, १९३८ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संस्था ने कपड़ा-उद्योग के लिए सप्ताह में चालीस घण्टे काम का एक इक़रारनामा मंजूर किया था। यह चीज़ इंग्लैण्ड के विरोध के बावजूद हुई थी। यहाँतक

कि ब्रिटिश उपनिवेशों ने भी इंग्लैण्ड का साथ छोड़कर अमेरिका के प्रस्ताव का समर्थन किया था। पर ब्रिटिश सरकार के नामज़द भारतीय प्रतिनिधि ने तो इंग्लैण्ड का ही साथ दिया। अमेरिकी प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्यों ने, जिनमें कारखानेदारों के और सरकार के प्रतिनिधि भी शामिल थे, कहा था कि "जबतक वे जेनेवा नहीं आये थे, तबतक उन्हें यह ख़याल नहीं था कि ब्रिटिश सरकार इतनी प्रतिगामी है।" एक प्रतिनिधि ने यह भी कहा था—"इंग्लैण्ड तो प्रतिगामी बर्छी की नोक बन गया है।

राष्ट्र-संघ, अपनी सारी कमज़ोरियों के होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय ख़याल का पुतला था, और उसके इक़रारनामे में हमलावर कार्रवाइयों के लिए सज़ाएँ रक्खी गई थीं। जब जापान ने मंचूरिया पर धावा किया था तब राष्ट्र-संघ कोई कार्रवाई करने में नाकामयाब रहा (सिवा इसके कि उसने एक जाँच-कमीशन मुक़र्रर कर दिया और बाद में इस आक्रामक कार्रवाई की बुराई कर दी)। ब्रिटिश सरकार ने तो इस हौसलेबाज़ी के लिए जापान को सचमुच बढ़ावा दिया था। और ब्रिटिश सरकार ने तभी से सही दिशा में कुछ छोटी-छोटी 'भूलों' के सिवाय राष्ट्र-संघ को अँगूठा दिखाने और उसे कमज़ोर बनाने की नीति अपनाई है। हमले की मानी हुई नीतिवाले नात्सीवाद का उठना राष्ट्र-संघ के लिए सीधी चुनौती थी, पर इंग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ़ान्स ने, इस चुनौती के आगे घुटने टेक दिये, और राष्ट्र-संघ को धूल में मिल जाने दिया। फ़ासीवादी शक्तियों ने राष्ट्र-संघ को धता बताई—जर्मनी ने अक्तूबर, १९३३ ई० में और जापान व इटली ने कुछ दिन बाद। सितम्बर, १९३४ ई० में सोवियत-संघ राष्ट्र-संघ में शामिल हो गया, और इससे राष्ट्र-संघ में कुछ नई जान पड़ गई। नात्सी जर्मनी की दहशत से फ़ान्स ने तो सोवियत से गठ-जोड़ कर लिया, मगर इंग्लैण्ड ने, राष्ट्र-संघ के इक़रारनामे के आधार पर भी सोवियत-संघ से सहयोग करने के बजाय, जर्मनी का साथ देना ज़्यादा पसन्द किया। हमले की हरेक सफल कार्रवाई से फ़ासीवादी शक्तियों के हौसले बढ़ गये, और उन्हें भरोसा हो गया कि वे राष्ट्र-संघ को मज़े से अँगूठा दिखा सकते थे, क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि ब्रिटिश सरकार कभी उनके ख़िलाफ़ जानेवाली नहीं है।

फ़ासीवादी शक्तियों के साथ ब्रिटिश सरकार का यह बढ़ता हुआ सहयोग ही उन घटनाओं का बहुत-कुछ खुलासा कर देता है, जो चीन, अबीसीनिया, स्पेन और मध्य-यूरोप में हुई हैं। इससे हमारी समझ में आ जाता है कि जो राष्ट्र-संघ मनुष्य-जाति के लिए, अमन व तरक़्क़ी की इतनी उम्मीदों का नुमायन्दा था, उसकी शानदार इमारत आज खण्डहर होकर क्यों पड़ी है!

हम देख चुके हैं कि मंचूरिया में जापान ने राष्ट्र-संघ को कैसी कामयाबी से

अँगूठा दिखाया और वहाँ मंचूकुओं के नाम से एक कठपुतली राज्य कैसे क़ायम कर दिया। हालाँकि वहाँ बाक़ायदा फ़ौजी हमला हुआ था, पर युद्ध की कोई घोषणा नहीं की गई थी। वहाँ अन्दरूनी विद्रोह भड़काये गए थे, और इनका बहाना लेकर दखल दिया गया था। इस नये हुनर को बाद में इटली और नात्सी जर्मनी ने पूरा किया, और इसके साथ अनोखे पैमाने पर विदेशों में झूठा प्रोपेगैण्डा और जोड़ दिया गया। अब युद्ध के ऐलान नहीं किये जाते। यह तो पुराने ज़माने की बात हो गई है। जैसा कि हिटलर ने १९३७ ई० में नूरेम्बर्ग के अपने भाषण में कहा था: "अगर मैं कभी अपने दुश्मन पर हमला करना चाहूँ, तो महीनों तक समझौते की बातचीत और तैयारी नहीं करूँगा, बल्कि वैसा ही करूँगा जैसा कि हमेशा करता आया हूँ, यानी मैं अन्धेरे में से बिजली की-सी तेज़ी के साथ निकलकर अपने दुश्मन पर टूट पड़ूँगा।"

जनवरी, सन् १९३५ ई० में जनमत-संग्रह के बाद जर्मनी ने सार नदी के प्रदेश पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई-सन्धि की हथियार-बन्दीवाली धाराओं को मानने से सदा के लिए इन्कार कर दिया, और जर्मनों के लिए लाज़िमी फ़ौजी-सेवा का फ़रमान जारी कर दिया। सन्धि की इस खुली और इक-तरफ़ा अवहेलना ने फ़ान्स को दहला दिया। पर इंग्लैण्ड ने इसे चुपचाप बर्दाश्त कर लिया। इतना ही नहीं, वह तो एक महीने बाद जर्मनी के साथ ख़ुफ़िया तौर पर एक जंगी-जहाज़ी क़रार तय करके एक क़दम और भी आगे बढ़ गया। यह क़रार खुद भी वर्साई की सन्धि को तोड़नेवाला था, इसलिए इस तरह खुद इंग्लैण्ड ने ही सुलह-सन्धि को ठुकरा दिया। इसमें हैरत की बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड ने यह कार्रवाई अपने पुराने साथी-देश फ़ान्स से बिना पूछे ही कर डाली थी, और वह भी ठीक उस वक़्त जबकि जर्मनी का ज़बर्दस्त पैमाने पर हथियारों से लैस होना सारे यूरोप के लिए ख़तरा बन रहा था। इस चीज़ से, जिसे फ़ान्स इंग्लैण्ड की दग़ाबाज़ी समझता था, उसे इतनी दहशत हुई कि वह मुसोलिनी के पास समझौता करने के लिए दौड़ा, ताकि उसकी इटलीवाली सरहद का ख़तरा तो कम हो जाय।

अबीसीनिया

इससे मुसोलिनी को वह मौक़ा मिल गया, जिसकी ताक में वह बहुत दिनों से था। कितने ही वर्षों से वह अबीसीनिया पर हमले की योजना बना रहा था, पर इसलिए हिचकिचा रहा था कि उसे इंग्लैण्ड और फ़ान्स के रुख़ का भरोसा नहीं था। फ़ान्स और इटली के बीच बड़ा भारी खिचाव चला आ रहा था, और अक्तूबर, १९३४ ई० में, यूगोस्लाविया के शाह अलेग्ज़ैण्डर को और फ़ान्स के विदेशी मन्त्री लुई बार्थो को, मार्सल्स में शायद किसी इतालवी गुर्गे ने मार डाला।

पर अब मुसोलिनी को भरोसा हो गया कि अगर वह अबीसीनिया पर हमला करेगा, तो न तो फ़्रान्स विरोध की कोई कारगर कार्रवाई करेगा और न इंग्लैण्ड। अक्तूबर, १९३५ ई० में यह हमला ठीक उस वक़्त शुरू हुआ जब राष्ट्र-संघ की बैठक हो रही थी। अबीसीनिया राष्ट्र-संघ का एक सदस्य राज्य था, इसलिए इस हमले ने सारी दुनिया का दिल दहला दिया। राष्ट्र-संघ ने इटली को हमलावर क़रार दिया, और बहुत टालमटूल के बाद उसपर कुछ आर्थिक प्रतिबन्ध लागू कर दिये यानी सदस्य-राज्यों को उसके साथ बहुत-सी चीज़ों का व्यापार करने की मनाही कर दी। मगर खनिज-तेल, लोहा, इस्पात, कोयला, वग़ैरा, असली महत्व की चीज़ें, जिनपर युद्ध का दारोमदार था, इस सूची में शामिल नहीं की गईं। एंग्लो-ईरानियन ऑयल कम्पनी ने इटली को तेल भेजने के लिए कसकर और ओवर-टाइम काम किया। इन पाबन्दियों से इटली को कुछ दिक़्क़त तो हुई, पर उसके रास्ते में कोई बड़ी कठिनाई नहीं आई। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तेल पर रोक लगाने का सुझाव रक्खा था, पर इंग्लैण्ड राज़ी नहीं हुआ।

इंग्लैण्ड के विदेश-मन्त्री सर सैम्युएल होर और फ़्रान्स के मन्त्री मोस्यू लवाल ने अबीसीनिया का एक बड़ा हिस्सा इटली के हवाले कर देने के बारे में बातचीत तय कर ली, लेकिन इसपर जनता ने इतना हो-हल्ला मचाया कि सर सैम्युएल होर को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इधर अबीसीनियावाले बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे, मगर निचाई पर उड़नेवाले हवाई जहाज़ों के ज़रिये बड़े पैमाने पर बमबारी के आगे वे कुछ नहीं कर सकते थे। ग़ैर-फ़ौजियों, औरतों व बच्चों, घायलों की सेवा करनेवालों और अस्पतालों पर, आग लगाने वाले बम और गैस-बम बरसाये गए, और बहुत ही अत्याचारी हत्याकाण्ड हुए। मई, १९३६ ई० में इतालवी फ़ौज वहाँ की राजधानी आदिस-अबाबा में दाखिल हो गई, और फिर इसने देश के बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया। तबसे ढाई साल बीत चुके हैं, पर दूर-दूर के इलाक़ों में अबीसीनियावासियों का मुक़ाबला अभी तक जारी है। अबीसीनिया को पूरी तरह जीतने में अभी बहुत कसर है, हालाँकि इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने इसपर इटली का क़ब्ज़ा मान लिया है।

अबीसीनिया की रंजभरी घटना ने, और राष्ट्र-संघ की शक्तियों की धोखे-बाज़ी ने दुनिया को ज़ाहिर कर दिया कि राष्ट्र-संघ बिलकुल बोदा है। अब हिटलर बेख़ौफ़ होकर इसको अँगूठा दिखा सकता था, और मार्च, १९३६ ई० में उसने अपनी फ़ौजें राइनलैण्ड में दाखिल कर दीं, जहाँ फ़ौजें रखने की मनाही थी। वर्साई की सन्धि पर यह दूसरी चोट थी।

स्पेन

१९३६ ई० के साल में फ़ासीवादियों ने यूरोप पर अपना सिक्का जमाने

की कोशिश में एक और क़दम उठाया। यह क़दम आगे चलकर लोकतन्त्र व आज़ादी के लिए मौत व ज़िन्दगी की लड़ाई बननेवाला था। हम देख चुके हैं कि स्पेन में दो मुक़ाबले की ताक़तें हुक़ूमत के लिए किस तरह लड़ी थीं और कुछ ही दिन के गणराज्य ने पादरियों और आधे-सामन्तों की प्रतिगामी कार्रवाइयों के ख़िलाफ़ किस तरह मोर्चा लिया था। आख़िरकार सारे प्रगतिशील दल एक हो गये, और इन्होंने फ़रवरी, १९३६ ई० में 'जनता का मोर्चा' क़ायम किया। इससे पहले फ़्रान्स में ऐसा ही 'जनता का मोर्चा' फ़ासीवाद की उन बढ़ती हुई ताक़तों से लोहा लेने के लिए बन चुका था, जो फ़्रान्सीसी गणराज्य को खुली चुनौती दे रही थीं, और जिन्होंने एक असफल बलवा भी खड़ा किया था। फ़्रान्सीसी 'जनता का मोर्चा' जनता के भारी जोश की ऊँची लहर पर चढ़ रहा था। चुनावों में सफल होने पर इसने अपनी सरकार बनाई, जिसने मज़दूरों को राहत देनेवाले कई क़ानून पास किये।

स्पेनी 'जनता का मोर्चा' भी कोर्ते के चुनावों में कामयाब हुआ और इसने भी अपनी सरकार बनाई। इस मोर्चे का यह वायदा था कि जो बहुत-से और ज़रूरी सुधार बहुत दिन से रुके हुए थे, उन्हें पूरे करेगा, और चर्च के अधिकारों पर अंकुश लगायेगा। इन सुधारों के डर से सारे प्रतिगामी तत्वों ने दलबन्दी कर ली और चोट करने का फ़ैसला किया। इन्होंने इटली और जर्मनी से मदद माँगी, जो उन्हें मिली, और १८ जुलाई, १९३६ ई० को जनरल फ़्रैन्को ने स्पेनी मूरों की फ़ौज की मदद से विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इस फ़ौज को बड़े-बड़े लालच दिये गए थे। फ़्रैन्को को बहुत आसानी से और बहुत जल्द जीत जाने की उम्मीद थी। फ़ौज उसकी तरफ़ थी और दो ताक़तवर देश उसकी मदद पर थे। गणराज्य लाचार नज़र आता था। मगर ख़तरे की इस घड़ी में उसने स्पेन की जनता को अपनी आज़ादी की हिफ़ाज़त के लिए पुकारा और लोगों को हथियार बाँटे। आम लोगों ने यह पुकार सुनी, और क़रीब-क़रीब निहत्थे ही फ़्रैन्को की तोपों और हवाई जहाज़ों का मुक़ाबला किया। उन्होंने फ़्रैन्को को आगे बढ़ने से रोक दिया। लोकतन्त्र को बचाने के लिए विदेशों से स्वयंसेवकों के दल-के-दल स्पेन में आ गये और उन्होंने एक 'अन्तर्राष्ट्रीय पलटन' बना ली। इस पलटन ने ठीक ज़रूरत के मौक़े पर गणराज्य की अनमोल सेवा की। मगर जहाँ जणराज्य की सहायता के लिए स्वयंसेवक आये, वहाँ फ़्रैन्को की सहायता के लिए इटली की तैयार फ़ौज बहुत बड़ी तादाद में आई। साथ ही इटली और जर्मनी से हवाई जहाज़ और हवाबाज़ और तकनीकी जानकार और हथियार भी आये। फ़्रैन्को की मदद पर इन दोनों शक्तियों के तजुर्बेकार फ़ौजी अफ़सर थे, गणराज्य की तरफ़ जोश, हिम्मत और क़ुर्बानी थे। बाग़ी लोग बढ़ते चले गये, और नवम्बर, १९३६ ई० में मैड्रिड के दरवाज़े तक जा पहुँचे। लेकिन अब गणराज्य के आदमियों ने अपनी

पूरी जान लड़ाकर इन्हें वहीं रोक दिया। इन लोगों का नारा था 'नो पासेरां'[1]—बाग़ी इससे आगे नहीं बढ़ेंगे। और वह मैड्रिड, जिसपर हर रोज हवाई जहाज़ों से और जंगी तोपों से गोले बरसाये जाते थे, जिसकी आलीशान इमारतें खण्डहर हो गई थीं, जहाँ आग लगानेवाले बमों के गिरने से लगातार आगें लगती रहती थीं, जिसकी ख़ातिर उसके हज़ारों वीर लाड़ले जान निछावर कर रहे थे,—वह मैड्रिड फिर भी अविजित और जयवन्त बना रहा। बाग़ियों को मैड्रिड के किनारे पहुँचे दो साल बीत चुके हैं। फिर भी वे वहीं रुके पड़े हैं, और 'नो पासेरां' का नारा उनके कानों में पड़ता रहता है। और मैड्रिड, अपनी दुखभरी और उजड़ी हुई हालत में भी, आज़ादी के साथ अपना सिर ऊँचा उठाये हुए है, और स्पेनवासियों की अभिमानी व अजेय भावना का पुतला बन गया है।

स्पेन में होनेवाली यह लड़ाई हमें समझ लेनी चाहिए, क्योंकि यह सिर्फ़ मुक़ामी या राष्ट्रीय लड़ाई नहीं है, बल्कि इससे बहुत ही ज्यादा बड़ी चीज है। लोकतन्त्री ढंग पर चुनी हुई पार्लमेण्ट के खिलाफ़ विद्रोह से इसकी शुरुआत हुई थी। साम्यवाद का और मज़हब पर खतरे का हल्ला मचाया गया था। पर 'जनता के मोर्चे' के डिपुटियों में साम्यवादी इक्का-दुक्का ही थे, बहुत ज्यादा तादाद तो समाजवादियों और गणराज्यवादियों की थी। जहाँतक मज़हब का सवाल है, गणराज्य के सबसे बहादुर लड़ाके बास्क-प्रान्तों के कैथलिक ईसाई हैं। गणराज्य में मज़हबी आज़ादी की पूरी गारंटी है—हिटलर के जर्मनी में यह बात नहीं है—मगर ज़मीन पर और शिक्षा में चर्च के जमे हुए स्वार्थों पर ज़रूर ऐतराज किया जाता है। लोकतन्त्र के खिलाफ़ यह विद्रोह तब हुआ जब इस बात का खतरा दिखाई देने लगा कि यह लोकतन्त्र ज़मीन की और बड़ी-बड़ी जागीरों की सामन्त-शाही पर हमला बोलकर उसे खत्म कर देगा। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, जब ऐसा होता है तब प्रतिगामी लोग यह दिक़्क़त नहीं उठाते कि लोकतन्त्री क़ायदों पर चलें या मतदाताओं की राय बदलने की कोशिश करें। वे तो हथियार उठा लेते हैं और मारकाट व आतंक के ज़रिये आम लोगों को जबरन अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ चलाने का यत्न करते हैं।

स्पेन में फ़ौजी अफ़सरों और पादरियों के जिस गुट्ट ने बग़ावत की थी, उसे इटली व जर्मनी दो फ़ासीवादी शक्तियों के रूप में बैठे-बिठाये साथी मिल गये, क्योंकि ये शक्तियाँ भूमध्य सागर पर अपना कब्ज़ा रखने के लिए और वहाँ जहाजी अड्डे बनाने के लिए स्पेन पर अपनी हुकूमत जमाना चाहती थीं। स्पेन की खानों की दौलत पर भी उनके दान्त थे। इसलिए यह स्पेनी युद्ध कोई घरेलू युद्ध नहीं था, बल्कि फ़ान्स को अपंग और इंगलैण्ड को कमज़ोर करने के लिए और इस तरह

---

[1] No Pasaran.

यूरोप में फ़ासीवाद का दबदबा क़ायम करने के लिए वास्तव में राजनीतिक चाल-बाज़ियों का यूरोपीय युद्ध था। जर्मनी और इटली के स्वार्थ कुछ हद तक टकराते थे, पर इस वक़्त तो उनकी गाड़ियाँ साथ-साथ चल रही थीं।

फ़ासीवादी स्पेन फ़्रान्स के लिए मौत का पैग़ाम हो जायगा, और इंग्लैण्ड, के भूमध्य सागर में होकर पूर्व जानेवाले और उत्तमाशा अन्तरीप जानेवाले, दोनों रास्तों के लिए ख़तरा बन जायगा। उस हालत में जिब्राल्टर किसी काम का नहीं रहेगा और स्वेज़ नहर का भी ज्यादा महत्व नहीं रह जायगा। इसलिए उम्मीद तो यह थी कि लोकतन्त्र से मोहब्बत होने की वजह से न सही, पर कम-से-कम अपने निजी स्वार्थ की निगाह से ही, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स स्पेनी सरकार को हर क़िस्म का वाजिब सहारा देंगे, ताकि वह बग़ावत को दबा सके। पर यहाँ भी हम देखते हैं कि वर्गों के स्वार्थ राष्ट्रीय हितों को नुक़सान पहुँचाकर भी अपनी सरकारों को किस तरह हाँकते हैं। ब्रिटिश सरकार ने दस्तन्दाज़ी न करने की ऐसी तरकीब निकाली, जो हमारे ज़माने का सबसे बढ़िया ढकोसला है। जर्मनी व इटली ग़ैर-दस्तन्दाज़ी कमेटी में हैं, पर फिर भी वे बाग़ियों को खुले आम मदद दे रहे हैं और उन्हें क़ानूनी सरकार की तरह मान रहे हैं। इनकी फ़ौजें फ़्रैन्को की मदद के लिए भेजी जा रही हैं और इनके हवाबाज़ स्पेनी नगरों पर बमबारी कर रहे हैं। बस, ग़ैर-दस्तन्दाज़ी का मतलब यह हो गया कि सिर्फ़ बाग़ियों को ही मदद पहुँच सके। ब्रिटिश सरकार के उकसाने पर फ़्रान्सीसी सरकार ने पिरेनीज़ की सरहद पर पहरा बैठा दिया है, और इस तरह स्पेनी सरकार को किसी भी क़िस्म की मदद पहुँचाना बन्द कर दिया है।

गणराज्य के लिए खाने की चीज़ें ले जानेवाले ब्रिटिश जहाज़ों को फ़्रैन्को के हवाई-जहाज़ों या जंगी जहाज़ों ने डुबो दिया है, और इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री चैम्बरलेन ने फ़्रैन्को की इस कारंवाई की हिमायत की। लोकतन्त्र के विस्तार होने के डर से ब्रिटिश सरकार की ऐसी नाज़ुक हालत हो गई है। कुछ ही दिन हुए उसने इटली के साथ एक समझौता तय किया है, जिसके ज़रिये वह फ़्रैन्को को तसलीम करने में, और इटली को स्पेन में दख़ल देने की छूट देने में, एक क़दम और आगे बढ़ गई है। अगर स्पेनी गणराज्य इंग्लैण्ड और फ़्रान्स के भरोसे रहा होता या इनकी सलाह पर चला होता, तो वह कभी का ख़त्म हो गया होता। पर अंग्रेज़ी और फ़्रान्सीसी नीति के बावजूद स्पेनी लोगों ने फ़ासीवाद के आगे सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। उनके लिए तो यह विदेशी हमलावरों के खिलाफ़ स्वाधीनता की राष्ट्रीय लड़ाई है। यह ऐसी लड़ाई है, जो वीर-गाथा जैसी बन गई है, और जिसने दिलेरी व ताक़त के चमत्कारों से संसार को चकित कर दिया है। फ़्रैन्को की तरफ़ से इतालवी व जर्मन हवाई-जहाज़ों ने शहरों और गाँवों और ग़ैर-फ़ौजी आबादियों पर जो बमबारी की है, वह सबसे ज्यादा भयानक चीज़ है।

पिछले दो वर्षों से स्पेनी गणराज्य ने बहुत बढ़िया सेना तैयार कर ली है, और हाल ही में अपने सारे विदेशी स्वयंसेवकों को वापस भेज दिया है। फ्रैन्को ने स्पेन के करीब तीन-चौथाई भाग पर क़ब्ज़ा कर रक्खा है और मैड्रिड व वेलेन्शिया को कैटेलोनिया से काट दिया है, मगर फिर भी नई गणराज्यी फ़ौज ने उसे आगे बढ़ने से रोका हुआ है, और एब्रो की बड़ी लड़ाई में अपना जौहर दिखा दिया है। यह लड़ाई कई महीनों से क़रीब-क़रीब लगातार चल रही है। जाहिर है, जबतक फ्रैन्को को बाहर के देशों की भरपूर मदद न मिले, तबतक वह इस फ़ौज को नहीं हरा सकता।

इस वक़्त गणराज्य के लिए सबसे बड़ी मुसीबत ख़ूराक की कमी है, खासकर सर्दी के महीनों में। क्योंकि गणराज्य को सिर्फ़ अपनी फ़ौज और अपने मातहत इलाकों की मामूली आबादी के लिए ही ख़ूराक का इन्तज़ाम नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि उन लाखों शरणार्थियों के लिए भी करना पड़ रहा है, जो फ्रैन्को की पलटनों के क़ब्ज़ेवाले इलाकों से भागकर वहाँ आये हैं।[1]

चीन

स्पेन की दुखभरी कहानी के बाद अब हम चीन की दुखभरी कहानी पर आते हैं।

जापान मंचूरिया में लगातार हमलावर कार्रवाइयाँ करता रहा, और जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, उसे इंग्लैण्ड की सरकारी हमदर्दी मिली हुई थी। जापान की हमलावर कार्रवाइयों का मुक़ाबला करने के लिए अमेरिका ने इंग्लैण्ड के साथ सहयोग का जो हाथ बढ़ाया था, उसे इंग्लैण्ड ने ठुकरा दिया। इंग्लैण्ड ने जापान को इस तरह बढ़ावा क्यों दिया और एक ताक़तवर मुक़ाबला करनेवाले के हाथ क्यों मजबूत किये? बात यह है कि बीसवीं सदी के शुरू के दिनों से ही जापान बहुत कुछ इंग्लैण्ड की छत्रछाया में साम्राज्यशाही शक्ति की तरह धीरे-धीरे बढ़ता चला आया है। शुरू-शुरू में तो इसका निशाना ज़ारशाही रूस था। महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत-संघ, ये दो इंग्लैण्ड के बड़े प्रतिस्पर्द्धी हो गये, इसलिए जापान को सहारा देने की पुरानी नीति अबतक जारी रही। मगर अब तो इंग्लैण्ड के बड़े-बड़े स्वार्थों को खुद जापान से ही ख़तरा पैदा हो गया है। अमेरिका ने १९३३ ई० में सोवियत-संघ को जो तसलीम किया, उसकी एक वजह जापान के साथ अमेरिका की प्रतिस्पर्द्धा थी।

१९३३ ई० से आगे चीन में कई सरकारें रहीं। एक तो चांग-काई-शेक की राष्ट्रीय सरकार थी, जिसे बड़ी-बड़ी शक्तियों ने मान रक्खा था, दूसरी दक्षिण में

---

[1] अगस्त १९३९ में फ्रैन्को इटली व जर्मनी की मदद से गणराज्यवादी फ़ौजों को हरा कर स्पेन का तानाशाह बन गया।

कैण्टन की सरकार थी, जो कुओ-मिन-तांङ के पीछे चलने का दावा करती थी, तीसरे देश के अन्दरूनी भाग में एक बड़ा सोवियत इलाका था। इनके अलावा देश के भीतर कितने ही आधे-स्वाधीन लड़ाकू सरदार थे। पीपिंग के उत्तर में जापान चीन को बराबर कुतर रहा था। जापान के हमले का मुक़ाबला करने के बजाय चांग-काई-शेक ने सोवियत इलाकों को कुचलने के लिए हर साल ज़बर्दस्त हमलावर फ़ौजें भेजने में अपनी सारी ताक़त खर्च कर दी। इन फ़ौजों के ज़्यादातर हमले बेकार रहे, और अगर ये उन इलाकों पर कभी क़ब्ज़ा भी कर लेती थीं, तो चीनी सोवियत फ़ौजें इनसे बचकर निकल जाती थीं, और भीतर की तरफ़ जाकर जम जाती थीं। चू तेह की सरदारी में आठवीं सेना का, चीन के एक सिरे से दूसरे तक, आठ हज़ार मील का अद्भुत कूच, फ़ौजी इतिहास में अव्वल दर्जे की चीज़ बन गया है।

बस, यह मुठभेड़ साल-दर-साल चलती रही, हालाँकि सोवियत चीन ने जापानी हमले को रोकने के लिए चांग-काई-शेक के साथ सहयोग करने की तैयारी भी दिखाई। १९३७ ई० में जापान ने बड़े पैमाने पर हमला कर दिया, और इससे आपस में युद्ध करनेवाले दल एक होकर जापान के ख़िलाफ़ शामिल मोर्चा खड़ा करने को मजबूर हो गये। चीन ने भी सोवियत-संघ के साथ ज़्यादा गहरा ताल्लुक़ क़ायम कर लिया और नवम्बर, १९३७ ई० में दोनों देशों के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने के क़रार पर दस्तख़त हो गये।

जापान को खूंख्वार मुक़ाबले का सामना करना पड़ा, और इसकी कमर तोड़ने के लिए उसने बमवारी और जंगलीपन के ऐसे तरीक़ों से ज़ालिमाना हत्याकाण्डों का सहारा लिया, जिनपर यक़ीन करना मुश्किल है। पर आज़माइश की इस भट्टी में चीन का एक नया राष्ट्र ढलकर तैयार हो गया और चीनी लोगों की पुरानी सुस्ती दूर भाग गई। जापानी बमबारों ने बड़े-बड़े शहरों को जलाकर राख कर दिया और लाखों आदमियों को मौत के घाट उतार दिया। जापान पर इसका भारी बोझ पड़ा, और उसके आर्थिक ढाँचे में दरार पड़ने के चिह्न दीखने लगे। भारत के लोगों की हमदर्दी, क़ुदरती तौर पर चीन के लोगों के साथ थी, जैसीकि स्पेनी गणराज्य के साथ भी थी। भारत, अमेरिका व दूसरे देशों में जापानी माल के बायकाट के बड़े आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे।

मगर जापान की भारी फ़ौजी मशीन फिर भी चीन में आगे बढ़ती गई, और जापानी फ़ौजों को तंग करने के लिए चीनी लोगों ने बड़े असरदार तरीक़े से छापामार युद्ध के दाँव-पेचों का सहारा लिया। जापान ने शांघाई और नानकिंग पर क़ब्ज़ा कर लिया, पर जब उसकी फ़ौजें कैण्टन और हैन्काउ के नज़दीक पहुँचीं, तो चीनियों ने खुद ही अपने इन बड़े-बड़े शहरों को आग लगाकर तबाह कर दिया।

जापानी फ़ौज ने इन शहरों के जले हुए खण्डहरों पर क़ब्ज़ा कर लिया, जिस तरह कि नेपोलियन ने मास्को पर क़ब्ज़ा किया था, पर जापान अभी तक चीनियों के मुक़ाबले को ज़रा भी नहीं कुचल पाया है। हर नई आफ़त के बाद यह मुक़ाबला और भी कड़ा होता जाता है।

आस्ट्रिया

अब हमें यूरोप लौट चलना चाहिए और आस्ट्रिया की कहानी का दुखभरा अन्त देखना चाहिए। यह छोटा-सा गणराज्य दिवालिया हो रहा था और फूट का घर बन रहा था। एक बाजू से तो इसे नात्सी जर्मनी दबा रहा था और दूसरे बाजू से फ़ासीवादी इटली। हालाँकि वियेना में तरक़्क़ी-पसन्द समाजवादी म्यूनिसिपैलिटी थी, पर देश में वहींके खास नमूने के पादरीशाही फ़ासीवाद का बोलबाला था। यहाँ का चैन्सलर (प्रधान-मन्त्री) दोलफ़ुस था, जिससे मुसोलिनी का पल्ला इस भरोसे पकड़ रक्खा था कि वह नात्सी हमले से उसे बचायेगा। इटली ने वर्साई सन्धि को ठुकराकर दोलफ़ुस को हथियार भिजवाये, और मुसोलिनी ने उसे समाजवादियों को दबाने की सलाह दी। दोलफ़ुस ने वियेना के समाजवादी मज़दूरों को निहत्था करने का फ़ैसला किया, और इसकी वजह से फ़रवरी, १९३४ ई० की उलट-क्रान्ति हो गई। वियेना में चार दिन तक लड़ाई होती रही, और मज़दूरों की मशहूर इमारतों पर गोले बरसाये गए, जिससे टूट-फूट गईं। दोलफ़ुस जीत तो गया, पर इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि वह अकेला मज़बूत दल, जो बाहर के हमले का मुक़ाबला कर सकता था, तहस-नहस हो गया।

इस बीच नात्सियों की साज़िशें होती रहीं, और जून १९३४ ई० में नात्सियों ने वियेना में दोलफ़ुस की हत्या कर डाली। इस राजनीतिक चोट का इरादा यह था कि इसके बाद ही आस्ट्रिया पर जर्मनी के नात्सियों का हमला हो जाय। हिटलर आस्ट्रिया की सरहद के इस पार अपनी फ़ौजें भेजने ही वाला था, पर जब मुसोलिनी ने जर्मनों के ख़िलाफ़ आस्ट्रिया की हिफ़ाज़त के लिए अपने सिपाही भेजने की धमकी दी तो वह रुक गया। मुसोलिनी नहीं चाहता था कि जर्मनी आस्ट्रिया को हज़म कर ले, और जर्मनी की सरहद ठेठ इटली तक आ जाय। १९३५ ई० में हिटलर ने सरकारी तौर पर ऐलान कर दिया कि वह आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा नहीं करेगा या उसे जर्मनी में नहीं मिलावेगा।

मगर इटली ने अबीसीनिया पर जो धावा बोला था, उसने उसे कमज़ोर कर दिया। और चूंकि इंग्लैण्ड और फ़ान्स से रगड़ा-झगड़ा बढ़ता जा रहा था, इसलिए उसे हिटलर के साथ समझौता करना पड़ा। अब हिटलर को आस्ट्रिया में मनमानी करने की छूट मिल गई और नात्सी हरकतें ज़ोर पकड़ने लगीं। १९३८ ई० के शुरू में इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री चैम्बरलेन ने साफ़ कह दिया था कि आस्ट्रिया को बचाने

के लिए इंग्लैण्ड बीच में नहीं बोलेगा। इसके बाद घटनाएँ बड़ी तेज़ी से हुईं और जब आस्ट्रिया के चैन्सलर शुशनिग ने जनमत जानने का फ़ैसला किया तो हिटलर ने इसपर ऐतराज़ किया और मार्च, १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। इसका कोई मुक़ाबला नहीं हुआ, और आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाये जाने का ऐलान कर दिया गया। बस, यह प्राचीन देश, जो वर्षों तक एक साम्राज्य की गद्दी रहा था, खत्म हो गया, और यूरोप के नक़शे पर से आस्ट्रिया का नाम मिट गया। यहाँ के आख़िरी चैन्सलर शुशनिग को जर्मनों ने बन्दी बना लिया, और चूंकि वह पूरी तरह नात्सियों के कहे मुताबिक़ चलने को राज़ी नहीं हुआ, इसलिए उसपर मुक़दमा चलाने की धमकी दी गई। अभी तक वह नात्सियों की क़ैद में है।

आस्ट्रिया में जर्मन नात्सियों के आने के बाद वहाँ के लोगों पर आतंक का जो डण्डा घूमा, वह जर्मनी में नात्सियों के शुरू के दिनों के आतंक से भी बुरा था। यहूदियों को मुसीबतें उठानी पड़ीं और अब भी उठानी पड़ रही हैं और एक ज़माने के सुन्दर और सुसंस्कृत वियेना शहर में वहशी-राज हो रहा है, और जुल्म-पर-जुल्म हो रहे हैं।

चेकोस्लोवाकिया

आस्ट्रिया में नात्सियों की पूरी जीत से यूरोप के हाथ-पैर ठण्डे हो गये, पर इसका सबसे ज्यादा असर चेकोस्लोवाकिया पर पड़ा, क्योंकि अब वह तीन तरफ़ नात्सियों से घिर गया था। लोगों ने सोच लिया कि इस देश पर भी हमला होनेवाला है और इसकी तैयारी के तौर पर नात्सियों की साज़िशें और सरहदी इलाकों में गड़बड़ भड़काने के यत्न ठेठ फ़ासीवादी ढंग पर शुरू हो गये।

चेकोस्लोवाकिया के सूडेटनलैण्ड यानी पुराने बोहेमिया में जर्मन-भाषा बोलनेवालों की आबादी थी, और आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में इन्हींका ज़ोर था। ये लोग चेक-राज्य बनने से खुश नहीं थे, और इनकी कुछ वाजिब शिकायतें भी थीं। ये कुछ हद तक खुद-मुख्तारी चाहते थे और जर्मनी में मिलने की इनकी कोई तमन्ना नहीं थी; इनमें कुछ जर्मन ऐसे भी थे, जो नात्सी-राज के कट्टर विरोधी थे। बोहेमिया पहले कभी भी जर्मनी का हिस्सा नहीं रहा था। आस्ट्रिया ख़त्म होने के बाद यह ख़याल किया जाता था कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर हमला करेगा। इस अन्देशे से डरकर बहुत-से लोग स्थानीय नात्सी-दल में शामिल हो गये, ताकि पानी से पहले ही पाल बाँध लें।

अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से चेकोस्लोवाकिया की हैसियत मज़बूत थी। यह उद्योगों में आगे बढ़ा हुआ देश था। खूब संगठित और क़ायदे से जमा हुआ था, और इसके पास ताक़तवर और मुस्तैद फ़ौज थी। फ़्रान्स व सोवियत-संघ के साथ

इसके राजनीतिक गठ-जोड़ थे, और यह माना जाता था कि लड़ाई के मौक़े पर इंग्लैण्ड इसका साथ देगा। मध्य-यूरोप में यही अकेला लोकतन्त्री राज्य रह गया था, इसलिए अमेरिका-समेत संसार-भर के लोकतन्त्रवादियों की हमदर्दी इसके साथ थी। इसमें कोई शक नहीं था कि अगर युद्ध छिड़ जाय और सारी लोकतन्त्री ताक़तें साथ मिलकर ज़ोर लगायें तो फ़ासीवादी शक्तियों को हार खानी पड़ेगी।

सुडेटनी अल्प-संख्यकों का सवाल उठाया जा चुका था और यह उचित ही था कि उनकी शिकायतें दूर की जातीं। मगर यह भी सच था कि चेकोस्लोवाकिया में अल्प-संख्यक जातियों के साथ जितना अच्छा सलूक किया जाता था, उतना मध्य-यूरोप में किसी अल्प-संख्यक जाति के साथ नहीं किया जाता था। असली सवाल-अल्प-संख्यकों का नहीं था, बल्कि हिटलर के इस अरमान का था कि सारे दक्षिण-पूर्वी यूरोप में उसका दबदबा क़ायम हो जाय और वह मारकाट से या मारकाट की धमकियों से अपनी मर्ज़ी जबरन पूरी करा सके।

चेक सरकार ने अल्प-संख्यकों के सवाल को हल करने की जी-तोड़ कोशिश की और उनकी क़रीब-क़रीब सारी माँगें पूरी कर दीं। मगर एक माँग पूरी होने नहीं पाती थी कि दूसरी नई और उससे भी ज्यादा आगे जानेवाली माँग खड़ी हो जाती थी, यहाँतक कि राज्य को अपनी जान के लाले पड़ गये। ज़ाहिर था कि हिटलर का यह मक़सद था कि इस लोकतन्त्री राज्य को, जो उसकी राह का काँटा था, खत्म कर दे। अंग्रेज़ी नीति, इस मसले को बिना लड़ाई-झगड़े के सुलझाने में मदद देने के बहाने, हिटलर के हमलावर रवैय्ये को बढ़ावा दे रही थी। ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड रून्सीमैन को 'बिचौलिया' का काम करने के लिए प्राग भेजा, पर अमल में इस बीच-बचाव का नतीजा यह था कि नात्सियों की माँगें पूरी करने के लिए चेक सरकार पर बराबर दबाव डाला गया। चेक लोगों ने हारकर लॉर्ड रून्सीमैन की ही तजवीज़ें मान लीं। ये तजवीज़ें बहुत ही दूर-व्यापी थीं, पर नात्सी लोग तो अब इनसे भी ज्यादा चाहते थे, और अपनी माँगें जबरन पूरी कराने के लिए उन्होंने जर्मन फ़ौज की कूच शुरू कर दी। इसपर चैम्बरलेन खुद ही बीच में पड़ा। वह बर्खटस्गाडन जाकर हिटलर से मिला, और वहाँ उसने हिटलर का आख़िरी पैग़ाम मंज़ूर कर लिया, जिसमें चेकोस्लोवाकिया के कुछ बड़े इलाके जर्मनी के हवाले कर दिये जाने की माँग थी। तब इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने भी अपने दोस्त और साथी चेकोस्लोवाकिया को आख़िरी पैग़ाम भेज दिये, जिनमें कहा गया था कि वह हिटलर की शर्तें फ़ौरन क़बूल कर ले, और धमकी दी गई थी कि अगर उसने इन्कार किया तो वे उसका साथ छोड़ देंगे। अपने दोस्तों की इस दग़ाबाजी से चेक लोग हैरान हो गये और उन्हें बड़ा धक्का लगा। और आखिर में हारकर उनकी सरकार ने बड़े दुःख और निराशा के

साथ इस आखिरी पैग़ाम के आगे सिर झुका दिया। तब चैम्बरलेन फिर हिटलर के पास गया, जो इस बार राइन नदी के तीर के गॉड्सबर्ग नगर में था। उसने देखा कि हिटलर तो इससे भी बहुत ज्यादा चाहता था। इसपर तो चैम्बरलेन भी राज़ी नहीं हो सका, और सितम्बर, १९३८ ई० के आखिरी सप्ताह में सारे यूरोप के ऊपर युद्ध की, एक विश्व-युद्ध की, काली छाया मंडराने लगी। लोग गैस से बचने के टोप लेने के लिए दौड़ पड़े और हवाई हमलों से बचने के लिए बाग़-बग़ीचों में खन्दकें खोदने लगे। चैम्बरलेन एक बार फिर हिटलर के पास गया, जो उस वक़्त म्यूनिख में था, और मोश्ये दलादिये और सीन्योर मुसोलिनी भी वहाँ जा पहुँचे। फ़ान्स और चेकोस्लोवाकिया के साथी रूस को नहीं बुलाया गया, और जिस चेकोस्लोवाकिया की क़िस्मत का फ़ैसला होनेवाला था, और जो उनका साथी भी था, उससे तो सलाह तक नहीं ली गई। हिटलर की नई और दूरव्यापी माँगें, जिनके पीछे फ़ौरन युद्ध और हमले की धमकी थी, एक तरह से पूरी-की-पूरी मान ली गईं, और सितम्बर की २९ तारीख को चारों शक्तियों ने 'म्यूनिख के समझौते' पर दस्तखत कर दिये, जिसमें ये माँगें मंजूर कर ली गईं।

उस वक़्त तो युद्ध टल गया, और सारे देशों के लोगों ने इस बला से छुटकारा पाने पर राहत की साँस ली। पर इसके बदले में जो क़ीमत चुकाई गई वह थी: फ़ान्स और इंग्लैण्ड की ग़ैरत और बेइज्ज़ती, यूरोप में लोकतन्त्र पर गहरी चोट, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग, अमन कायम रखने के साधन के रूप में राष्ट्रसंघ का खातमा, और मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप में नात्सीवाद की धूमधाम के साथ पूरी जीत। और जो सुलह खरीदी गई, वह भी सिर्फ़ लड़ाई रोकने की सुलह थी, जिसमें हरेक देश आनेवाले युद्ध के लिए सरगर्मी के साथ हथियार इकट्ठे कर रहा था।

म्यूनिख का समझौता यूरोप व सारी दुनिया के इतिहास का रुख बदलनेवाला मोड़ था। यूरोप का नया बँटवारा शुरू हो गया था, और ब्रिटिश व फ़ान्सीसी सरकारें खुले तौर पर नात्सीवाद और फ़ासीवाद की क़तार में खड़ी हो गई थीं। इंग्लैण्ड ने आँग्ल-इतालवी समझौते को चट-पट तसदीक़ कर दिया, यानी उसने अबीसीनिया पर इटली का क़ब्ज़ा मान लिया और स्पेन में इटली को पूरी छूट दे दी। इंग्लैण्ड, फ़ान्स, जर्मनी और इटली के बीच एक चार-शक्ति-क़रार की शक्ल बनने लगी। यह रूस के खिलाफ़, और स्पेन में व दूसरे देशों में लोकतन्त्री शक्तियों के खिलाफ़, एक मिला-जुला मोर्चा था।

रूस

मार्के की बात यह है कि इन वर्षों और महीनों में जहाँ एक तरफ़ साज़िशें चल रही थीं और बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपने गम्भीर वायदे तोड़ रही थीं, वहाँ दूसरी

तरफ़ रूस ने बराबर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारियाँ निभाईं, सुलह की हिमायत की और हमले की कार्रवाइयों का विरोध किया और अपने साथी-देश चेकोस्लोवाकिया का साथ आख़िर तक नहीं छोड़ा। पर इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ने उसे ठुकरा दिया, और हमलावरों से दोस्ती जोड़ ली। फ़्रान्स और इंग्लैण्ड की दग़ाबाजी का शिकार होकर चेकोस्लोवाकिया भी नात्सी दायरे में जा पड़ा और रूस के साथ अपनी दोस्ती ख़त्म कर बैठा। चेकोस्लोवाकिया के टुकड़े कर दिये गए हैं, और भूखे गिद्धों की तरह हंगरी और पोलैण्ड ने इस मौक़े से फ़ायदा उठाया। अन्दरूनी तौर पर भी वहाँ बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये और चेकोस्लोवाकिया अब स्वाधीनता का दावा कर रहा है। चेकोस्लोवाकिया के बचे-खुचे टुकड़े अब क़रीब-क़रीब एक जर्मन उपनिवेश की तरह चल रहे हैं।

इस तरह सोवियत-संघ की विदेशी नीति को करारा धक्का लगा है। मगर फिर भी आज वह यूरोप व एशिया में फ़ासीवाद व लोकतन्त्र-विरोधी ताक़तों के मुक़ाबले में ताक़तवर और अकेला ही कारगर रुकावट बना खड़ा है। हालाँकि पिछले महीनों में इंग्लैण्ड व फ़्रान्स ने रूस की परवाह नहीं की है। मगर फिर भी आज वह एक ज़बर्दस्त शक्ति है। पहली पंच-वर्षीय योजना आमतौर पर सफल रही, हालाँकि कुछ ख़ास बातों में नाकामयाब रही। ख़ास बात यह है कि उसकी तैयार की हुई चीज़ें अव्वल दर्जे की नहीं थीं। उसके मिस्त्री नौसिखिये थे, और ढुलाई का इन्तज़ाम भी बहुत करके पूरा नहीं हुआ। भारी उद्योगों पर सारा ध्यान लगाने से रोज़ काम आनेवाली चीजों की कमी हो गई, जिससे रहन-सहन का दर्जा गिर गया। पर इस योजना से रूस में तेजी के साथ उद्योगीकरण हो गया और सामूहिक खेती होने लगी, जिससे आयन्दा तरक़्क़ी की नींव पड़ गई। दूसरी पंच-वर्षीय योजना (१९३३-३७ ई०) में भारी उद्योगों के बजाय हलके उद्योगों पर ज़ोर दिया गया। पहली योजना की कमियाँ पूरी करना और रोज़ के काम की चीज़ें पैदा करना, इसका निशाना था। इससे बहुत तरक़्क़ी हुई, और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो गया, और बराबर ऊँचा होता जा रहा है। सारा सोवियत-संघ संस्कृति में, शिक्षा में और बहुत-सी दूसरी बातों में ख़ूब आगे बढ़ गया है। यह तरक़्क़ी जारी रखने और अपनी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था ठोस बनाने के इरादे से रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमेशा सुलह की नीति पर अमल किया है। राष्ट्र-संघ में वह कारगर हथियार-बन्दी, संयुक्त बचाव और हमलों के ख़िलाफ़ संयुक्त कार्रवाई के लिए बराबर लड़ता रहा है। उसने बड़ी-बड़ी पूँजीवादी शक्तियों के साथ अपना मेल-बिठाने का यत्न किया है, और इसके नतीजे से साम्यवादी दलों ने तरक़्क़ी-पसन्द दलों को साथ लेकर 'जनता के मोर्चे' या 'मिले-जुले मोर्चे' बनाने की कोशिशें की हैं।

इस चौमुखी तरक़्क़ी और विकास के बावजूद, इस काल में सोवियत-संघ

एक कठिन अन्दरूनी संकट में होकर गुज़रा है। स्तालिन व त्रात्स्की के आपसी बैर-विरोध का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। मौजूदा हुकूमत को नापसन्द करनेवाले कितने ही लोग धीरे-धीरे खिचकर जमा हो गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछने तो फ़ासीवादी शक्तियों तक से मिलकर साज़िशें कीं। कहा जाता है कि सोवियत-खुफ़िया-विभाग का सरदार यागोदा भी इन लोगों से मिला हुआ था। दिसम्बर, १९३४ ई० में सोवियत सरकार के एक बड़े नेता किरकाफ़ की हत्या कर दी गई। सरकार ने अपने विरोधियों के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई की, और १९३७ ई० से मुक़दमों के ऐसे सिलसिले शुरू हुए, जिनसे संसार-भर में बड़ा भारी वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ, क्योंकि इनमें बहुत-से मशहूर और अगुआ लोग फँसे हुए थे। जिन लोगों पर मुकदमे चले और सजाएँ दी गईं, वे त्रात्स्की-पन्थी कहलाते थे, और दक्षिण-पक्षी नेता (राइकाफ़, तॉम्स्की, गुखारिन) थे, और ऊँचे फ़ौजी अफ़सर थे, जिनमें सबसे बड़ा मार्शल तूचाचेवस्की था।

इन मुक़दमों के बारे में, या इनको पैदा करनेवाली घटनाओं के बारे में कोई पक्की राय ज़ाहिर करना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि हक़ीक़तें बहुत पेचीदा हैं और साफ़ नहीं हैं। मगर इसमें शक नहीं कि इन मुक़दमों के सबब से बहुत-से लोग, जिनमें रूस के कितने ही खैरख्वाह भी हैं, परेशान हो उठे हैं, और सोवियत-संघ के खिलाफ़ बुरे ख़याल बढ़ गये हैं। घटनाओं को पास से देखनेवालों की राय है कि स्तालिन-राज के खिलाफ़ एक बड़ी साज़िश रची गई थी, और ये मुक़दमे सच्चे थे। यह भी साबित हो गया मालूम देता है कि इस साज़िश में जनता का हाथ नहीं था, और लोगों पर जो असर हुआ, वह स्तालिन के दुश्मनों के खिलाफ़ था। मगर फिर भी जिस हद तक अत्याचार हुआ, जिसकी चपेट में शायद बहुत-से बेक़सूर भी आ गये होंगे, वह भी अन्दरूनी बीमारी की अलामत था, और इस रूस की अन्तर्राष्ट्रीय हैसियत को धक्का लगा।

आर्थिक मज़बूती

व्यापार की जो महामन्दी १९३० ई० में मैं शुरू हुई थी, और जिसने पूंजीवादी दुनिया को कई सालों तक अपंग कर रक्खा था, उसकी हालत में आखिर सुधार के चिह्न दिखाई देने लगे। ज़्यादातर देशों में कुछ-कुछ मज़बूती आई, इंग्लैण्ड की मज़बूती दूसरे देशों के मुक़ाबले में ज्यादा मार्के की थी। पौण्ड का मोल गिराने से, रक्षात्मक-चुंगियों से, और साम्राज्य की मण्डियों व साधनों से पूरा फ़ायदा उठाने से, इंग्लैण्ड को बहुत मदद मिली। चुंगियों और सरकारी सहायताओं, और खेती के सुधारों, और होड़ कम करने के लिए उत्पादकों के संगठन, वग़ैरा से अन्दरूनी व्यापार खूब चेत गया। पैदावार और थोक बिक्री की योजना बनाने का यत्न किया गया।

डेनमार्क और स्कैण्डिनेवियाई देशों पर ब्रिटिश माल ख़रीदने के लिए दबाव भी डाला गया।

हालाँकि यह मज़बूती ख़ूब अच्छी थी, पर इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नुक़सान पहुँचा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पहले के मुक़ाबले में ज़्यादा मज़बूती आई और कुछ हद तक आई। असली मज़बूती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चेतने पर होती है। यह भी याद रखना चाहिए कि इंग्लैण्ड ने अमेरिका का क़र्ज़ न तो चुकाया है और न वह चुकाने का इरादा रखता है। आर्थिक मज़बूती की कुछ वजह यह भी है कि अलग-अलग देशों में फिर से हथियारबन्द होने के कार्यक्रम चल रहे हैं। ज़ाहिर है कि यह मज़बूती न तो पक्की है और न टिकाऊ। जनता में बेकारी अभी तक फैली हुई है।

ब्रिटिश साम्राज्य

फ़िलहाल इंग्लैण्ड आर्थिक संकट को पार कर गया है, पर ब्रिटिश साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब है, और उसे टुकड़े-टुकड़े करनेवाली राजनीतिक व आर्थिक ताक़तें दिन-पर-दिन ज़ोरदार होती जा रही हैं। इंग्लैण्ड का शासक-वर्ग तो साम्राज्य के बारे में अपना विश्वास, और इसके बने रहने की आशा भी खो बैठा है। वह अपनी अन्दरूनी समस्याओं को ही नहीं सुलझा सकता। स्वाधीनता पर तुला हुआ भारत दिन-पर-दिन मज़बूत होता जाता है, छोटा-सा फ़िलस्तीन उन्हें झंझोड़ रहा है। पूँजीवादी दुनिया में इंग्लैण्ड का सबसे बड़ा प्रतिस्पर्द्धी अमेरिका उसकी सरदारी को चुनौती दे रहा है, और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश सरकार फ़ासीवादी शक्तियों की तरफ़ झुकती जाती है, त्यों-त्यों वह इंग्लैण्ड से दूर हटता चला जाता है। सोवियत रूस कामयाबी के साथ समाजवाद की इमारत खड़ी कर रहा है, जो सब क़िस्म के साम्राज्यवादों का विरोधी है। जर्मनी व इटली ब्रिटिश साम्राज्य के तर माल पर लालचभरी नज़रें डाल रहे हैं। म्यूनिख में इंग्लैण्ड इनकी धमकियों के आगे झुक गया तो ये उसे दूसरे दर्जे की शक्ति की तरह समझने लगे हैं और उसके साथ ग़रूर-भरे ढंग से बात करते हैं। लोकतन्त्र का विस्तार करके और संयुक्त सुरक्षा पर जमे रहकर इंग्लैण्ड अपनी हैसियत मज़बूत बना सकता था। पर ऐसा करने के बजाय उसने यह रास्ता छोड़ना और हिटलर की हिमायत करना पसन्द किया। और अब ब्रिटिश साम्राज्यशाही एक लाचारी की दुविधा में पड़ गई है, और म्यूनिख की नीति से पैदा होनेवाली अनगिनती उलटी-सीधी बातों में फँस गई है।

उपनिवेश

जर्मनी अब उपनिवेशों की माँग कर रहा है, और हमें बतलाया जाता है कि वह 'ग़रीब' और 'असन्तुष्ट' शक्ति है। दूसरी छोटी-छोटी शक्तियों के

पास उपनिवेश नहीं हैं, उनका क्या होगा ? और उपनिवेशों की जनता, जो वास्तव में 'ग़रीब' है, उसका क्या होगा ? इस सारी दलील का आधार यह है कि साम्राज्यशाही ढाँचा ऐसा ही बना रहेगा। किसी देश की राज़ी या नाराज़ी वहाँ अमल में आनेवाली आर्थिक नीति पर निर्भर होती है, और साम्राज्यशाही के मातहत तो नाराज़ी हमेशा बनी रहेगी, क्योंकि इसमें सदा असमानता रहेगी। कहते हैं कि क्रान्ति से पहले ज़ारशाही रूस नाखुश और बढ़ती हुई शक्ति था। आज रूस का प्रदेश पहले से छोटा है, पर वह 'सन्तुष्ट' है, क्योंकि उसके साम्राज्यशाही हौसले नहीं हैं, और वह अलग तरह की आर्थिक नीति बरत रहा है।

मैं तुम्हें गत पाँच सालों की ख़ास-ख़ास घटनाओं के बारे में और उनसे पैदा होनेवाले नतीजों के बारे में लिख चुका हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि कहाँ पर रुकूँ, क्योंकि हर जगह उथल-पुथल और फेर-फार और रगड़े-झगड़े हो रहे हैं, और संसार की समस्याओं का स्थानीय या राष्ट्रीय ढंग पर सुलझाना तो दूर, ग़ौर करना भी नामुमकिन हो रहा है। इनको सारी दुनिया के लिहाज़ से ही हल करना होगा। मगर इस बीच संसार की हालत दिन-पर-दिन बुरी होती जा रही है और इसमें युद्ध व ख़ून-ख़राबी का ज़ोर हो रहा है। आज की दुनिया का अभिमानी नेता यूरोप बौखलाकर वापस जंगलीपन की तरफ़ जा रहा है। उसके पुराने शासक-वर्ग निकम्मे हो गये हैं, और कठिनाइयों में से रास्ता निकालने की या उनसे बचकर निकलने की इनमें ज़रा भी सामर्थ्य नहीं रही है।

म्यूनिख के समझौते ने संसार का ढुलमुल सन्तुलन बिगाड़ दिया। दक्षिण-पूर्वी यूरोप नात्सी शक्ति के आगे घुटने टेकने लगा, और हर देश में नात्सी साज़िशें ज़ोर पकड़ने लगीं। यूरोप के ओस्लो-गुट के छोटे-छोटे देशों (डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, फ़िनलैण्ड, नीदरलैण्ड, बैलजियम और लुक्समबर्ग) ने जब यह समझ लिया कि इंग्लैण्ड की दोस्ती उनके किसी काम की नहीं, तो उन्होंने तटस्थ रहने का ऐलान कर दिया और किसी क़िस्म की संयुक्त ज़िम्मेदारी उठाने से इन्कार कर दिया। सुदूर पूर्व में जापान की हमलावर कार्रवाइयाँ बढ़ गईं, उसने कैण्टन जीत लिया और हांगकांग में इंग्लैण्ड के स्वार्थों से उसकी मुठभेड़ हो गई। फ़िलस्तीन की हालत तेज़ी के साथ बिगड़ने लगी। अमेरिका और इंग्लैण्ड के आपसी रिश्ते इतने ठण्डे पड़ गये, जितने पहले कभी नहीं थे। इधर चैम्बरलेन फ़ासीवादी शक्तियों की क़तार में शरीक हो रहा था, उधर राष्ट्रपति रूज़वेल्ट नात्सीवाद के इरादों और तरीक़ों की खुली मलामत कर रहा था। यूरोप के आपसी बैर-विरोध से और फ़ासीवादियों की हमलावर कार्रवाइयों से अमेरिका को इतनी नफ़रत हुई कि वह सबसे अलग हो गया, और साथ ही बहुत बड़े पैमाने पर फिर से हथियारबन्द होने लगा। सोवियत-संघ ने भी यही किया। पश्चिम में गठ-बन्धनों और हमला रोकने के क़रारों

की उसकी नीति कामयाब नहीं हुई, और अब उसे शायद सबसे अलग हो जाने के लिए मजबूर होना पड़े। मगर अमेरिका और रूस दोनों यह जानते हैं कि आज के इस बौखलाये हुए संसार में कोई भी अलग या तटस्थ नहीं रह सकता, और अगर मुठभेड़ हुई तो उसमें उनका घिसट आना लाज़िमी है। इसके लिए वे तैयारी कर रहे हैं।

अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की अन्दरूनी नीति के सामने बहुत रुकावटें आई हैं और सुप्रीम कोर्ट और पीछे की तरफ़ देखनेवाले लोग उसके रास्ते में अड़ रहे हैं। हाल के चुनावों में कांग्रेस में उसके रिपब्लिक-दली विरोधियों का ज़ोर बढ़ गया है। मगर फिर भी खुद रूज़वेल्ट को आम लोग अब भी पसन्द करते हैं और अमेरिकी जनता पर उसका असर क़ायम है।

रूज़वेल्ट दक्षिण अमेरिका की हुकूमतों के साथ दोस्ती के ताल्लुक़ कायम करने की नीति पर भी चल रहा है। मैक्सिको में तेल के मामले में वहाँ की सरकार और अमेरिका व इंग्लैण्ड के स्वार्थों में टक्कर हो रही है। मैक्सिको में गहरा असर डालनेवाली क्रान्ति हुई है, जिससे धरती पर जनता का हक़ क़ायम हो गया है। चर्च की और तेल व धरती में जमे हुए स्वार्थों की कितनी ही रियायतें और खास सहूलियतें छिन गई हैं, इसलिए वे इन परिवर्तनों का विरोध कर रहे हैं।

तुर्की

लड़ाई-झगड़ों की इस दुनिया में आज अकेला तुर्की ही शान्तिवाला देश है, जिसका कोई भी बाहरी दुश्मन नहीं है। यूनान व बलकानी देशों से उसका बहुत पुराना बैर मिट चुका है। सोवियत-संघ और इंगलैण्ड के साथ भी अच्छे ताल्लुक़ हैं। अलेक्ज़ैण्ड्रेटा के बारे में फ़ान्स से कुछ झगड़ा था। तुम्हें याद होगा कि सीरिया के 'फ़रमानी' इलाक़े को फ़ान्सीसी सरकार ने जिन पाँच राज्यों में बाँटा था, यह राज्य उन्हीं में से एक था। अलेक्ज़ैण्ड्रेटा में तुर्की आबादी सबसे ज्यादा है, इसलिए फ़ान्स ने तुर्की सरकार की दलील मान ली और उसे स्वाधीन राज्य बना दिया।

इस तरह कमाल अतातुर्क की होशियार रहनुमाई में तुर्की अपनी नस्ली तथा दूसरी समस्याओं से पिण्ड छुड़ाकर अन्दरूनी विकास के काम में लग गया। अतातुर्क ने अपने देशवासियों की खूब सेवा की थी, और नवम्बर, १९३८ ई० में वह इस तसल्ली के साथ मरा कि उसे अपने काम में मार्के की कामयाबी और खुशनसीबी हासिल हुई। इसके बाद इसका पुराना साथी जनरल इस्मत इत्येनू राष्ट्रपति की गद्दी पर बैठा।

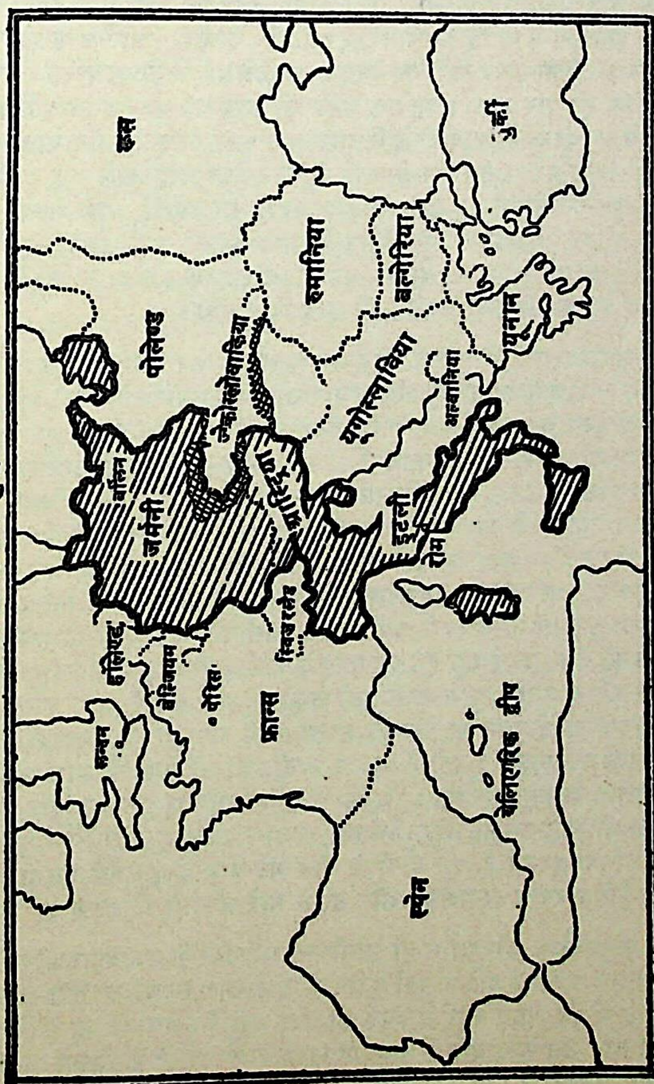
इस्लाम

कमाल अतातुर्क ने मध्य-पूर्व में इस्लाम की जानदार रफ़्तार को एक नया मोड़ दिया। इस्लाम ने नया जामा पहन लिया और मध्यकालीन विचारों को छोड़ दिया, और इस तरह अपने को आज की दुनिया के मुताबिक़ बना लिया। मध्यपूर्व के सारे इस्लामी देशों पर अतातुर्क की मिसाल का ज़बर्दस्त असर पड़ा है। यहाँ नये ज़माने के राष्ट्रीय राज्य कायम हो गये हैं, जिन्होंने मज़हब के बजाय राष्ट्रीयता को ही अपना पाया बनाया है। यह असर अभी तक भारत जैसे देशों में इसी हद तक जाहिर नहीं हुआ है, क्योंकि यहाँ की मुस्लिम आबादियाँ, दूसरी आबादियों की तरह, साम्राज्यशाही हुक़ूमत के मातहत हैं।

दुनिया के लड़ाई-झगड़े

आज लड़ाई-झगड़े के दो बड़े अखाड़े यूरोप और प्रशान्त महासागर हैं। इन दोनों में सरगर्म फ़ासीवाद लोकतन्त्र व आज़ादी को कुचलने की और संसार पर अपनी हुक़ूमत जमाने की कोशिशें कर रहा है। संसार में एक क़िस्म का फ़ासीवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ बन गया है, जो सिर्फ़ खुल्लमखुल्ला युद्ध ही नहीं कर रहा—हालाँकि इन युद्धों का ऐलान नहीं होता है—बल्कि दस्तन्दाज़ी के मौक़े तलाश करने के लिए सारे देशों में सदा साज़िशें करता रहता है और झगड़े भड़काता रहता है। युद्ध और मारकाट की खुल्लमखुल्ला तारीफ़ की जा रही है और असाधारण तरीक़े पर झूठा प्रोपेगैण्डा किया जा रहा है। यह फ़ासीवाद साम्यवाद-विरोधी नारों की आड़ में अपने साम्राज्यशाही इरादों को पूरा कर रहा है, हालाँकि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कहीं भी हमलावर नहीं हो रहा है, बल्कि बहुत सालों से दुनिया-भर में लड़ाई-झगड़े बन्द करने की और लोकतन्त्र की हिमायत कर रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में नात्सियों ने साज़िशें की हैं और उनपर मुक़दमे चलाये गए हैं। दिसम्बर, १९३७ ई० में फ़्रान्स में भी गणराज्य के खिलाफ़ एक साज़िश का भण्डाफोड़ हुआ। इसका संगठन 'नक़ाबपोश' कहलानेवाले कागूलादों ने जर्मनी व इटली से मिलनेवाले सामान और हथियारों की मदद से किया था। इन लोगों ने बमबाजी की और हत्याएँ कीं। इंग्लैण्ड के असरदार गिरोह सरकार की विदेश-नीति को फ़ासीवाद की तरफ धकेल रहे हैं।

यह अन्तर्राष्ट्रीय फ़ासीवाद महज़ परले सिरे का साम्राज्यवाद ही नहीं है, बल्कि इसने मध्य-युगों की तरह के मज़हबी और नस्ली झगड़े पैदा कर दिये हैं। जर्मनी में कैथलिक व प्रोटेस्टेन्ट दोनों फ़िरक़ों का गला दबाया जा रहा है। इसी जर्मनी में, और कुछ दिनों से इटली में भी, नस्ल के ख़यालों को बहुत ऊँचा चढ़ाया जा रहा है, और यहूदियों का, और यहूदियों की सन्तानों तक का, ऐसी संगदिल


रूस
टर्की
रुमानिया
बल्गेरिया
यूनान
पोलैण्ड
जैकोस्लोवाकिया
यूगोस्लाविया
अल्बानिया
बर्लिन
जर्मनी
आस्ट्रिया
इटली
रोम
हॉलैण्ड
बेल्जियम
पेरिस
फ्रान्स
स्विजरलैंड
लन्दन
बेलियारिक द्वीप
स्पेन

रोम-बर्लिन धुरी

बेरहमी और व्यवस्थित ख़ूँख़्वारी से सफ़ाया किया जा रहा है, जिसके जोड़ की मिसाल इतिहास में नहीं है। नवम्बर, १९३८ ई० के शुरू में पोलैण्ड के एक नौजवान यहूदी ने अपनी नस्ल पर किये गए बेरहम ज़ुल्मों से पागल होकर पेरिस में एक जर्मन राजनयिक को मार डाला। यह एक शख़्स का काम था, मगर इसके फ़ौरन बाद ही जर्मनी में समूची यहूदी आबादी के ख़िलाफ़ आतंक का सरकारी और बाक़ायदा दौर शुरू कर दिया गया। देश भर के सारे यहूदी-मन्दिर जला डाले गए, यहूदियों की दूकानें बहुत बड़े पैमाने पर लूट-खसोटकर बर्बाद कर दी गईं, आम रास्तों पर और घरों के भीतर यहूदी स्त्री-पुरुषों पर बेशुमार हैवानी हमले किये गए। नात्सी-नेताओं ने इन सब बातों को वाजिब बताया, और इनके अलावा जर्मनी के यहूदियों पर आठ करोड़ पौण्ड का जुर्माना भी लाद दिया गया।

आत्म-हत्याएँ हो रही हैं, लोग जान बचा-बचाकर भाग रहे हैं, युगों के पुराने रंजो-ग़म के बोझ से दबे हुए, दुःखी, लाचार और बे-घर-बार लोग बड़ी भारी तादाद में देश छोड़कर जा रहे हैं—भला यह बे-छोर क़तार कहाँ के लिए कूच कर रही है? आज दुनिया-भर में शरणार्थियों की भरमार है—यहूदी, सुडेटनलैण्ड के जर्मन समाजी लोकतन्त्रवादी, फ़्रैन्को के मातहत प्रदेशों से भागे हुए स्पेनी किसान, चीनी, अबीसीनियावासी, ये सब नात्सीवाद और फ़ासीवाद के कड़वे फल हैं। दहशत के मारे संसार का दम सूख रहा है, और इन शरणार्थियों की मदद के लिए कितनी ही संस्थाएँ बनाई जा रही हैं। मगर इसपर भी इंग्लैण्ड व फ़्रान्स की लोकतन्त्रवादी कही जानेवाली हुक़ूमतें नात्सीवादी जर्मनी और फ़ासीवादी इटली के साथ दोस्ती और सहयोग की नीति बरत रही हैं। इस तरह वे फ़ासीवादी आतंक को बढ़ावा दे रही हैं, सभ्यता और हयादारी खत्म करनेवालों के हौसले बढ़ा रही हैं, और लाखों इन्सानों को, जिनका कोई वतन या देश या अपना कहने को नहीं है, शरणार्थी बनाने की कार्रवाइयों को बढ़ावा दे रही हैं। अगर फ़ासीवादी शक्तियों की आज यह नीति है, तो गान्धीजी के कहे मुताबिक : "जर्मनी के साथ किसी तरह का गठ-जोड़ हो ही नहीं सकता। जो राष्ट्र इन्साफ़ और लोकतन्त्र का दावा करता है, और जो राष्ट्र इन दोनों का ऐलानिया दुश्मन है, इन दोनों के बीच गठ-जोड़ हो ही कैसे सकता है? क्या इंग्लैण्ड हथियारबन्द तानाशाही और उसके सारे अंजामों की तरफ़ बह रहा है?"

जब इंग्लैण्ड और फ़्रान्स ही फ़ासीवादी शक्तियों के जवाबदार और हिमायती बन गये, तो मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों का पूरी तरह फ़ासी-वादी-गुट में पड़ जाना कोई ताज्जुब की बात नहीं है। सच तो यह है कि ये राज्य तेज़ी के साथ उस फ़ासीवाद के ताबेदार राज्य बनते जा रहे हैं, जिसमें नात्सी जर्मनी का ही बोलबाला है। क्योंकि इटली को तो जर्मनी ने मात दे दी है और यह अब फ़ासीवादी गुट्ट का महज़ साझी रह गया है। जर्मनी व इटली दोनों ही ज्यादा

उपनिवेशों की माँग करते हैं, पर जर्मनी का असली इरादा पूर्व की तरफ़, यानी यूक्रेन और सोवियत-संघ में, पाँव फैलाने का है। और हो सकता है कि इंग्लैण्ड व फ़्रान्स इस झूठे भरोसे में जर्मनी के इस खयाल को बढ़ावा दें कि शायद इससे उनके खुद के क़ब्ज़ेवाले उपनिवेश उनके पास बने रहें।

अलग-अलग कारणों से दोनों ही फ़ासीवाद और नात्सीवाद के दुश्मन हैं। यूरोप में सोवियत रूस फ़ासीवाद के रास्ते में अकेली दीवार है। अगर यह टूट जाय तो फ़्रान्स व इंग्लैण्ड समेत सारे यूरोप के लोकतन्त्र बिलकुल खत्म हो जायँ। अमेरिका यूरोप से बहुत दूर है, और इसके मामलों में न तो आसानी से दखल दे सकता है, और न देना चाहता है। पर अगर यूरोप में या प्रशान्त सागर में यह दखल हुआ, तो अमेरिका की ज़बर्दस्त ताक़त कारगर तौर पर अपना असर दिखायेगी।

भारत और पूर्व के नये लोकतन्त्रवादी देश भी आज़ादी के तरफ़दार हैं, और कुछ ब्रिटिश उपनिवेश तो ब्रिटिश सरकार से भी बहुत आगे बढ़े हुए विचारों के हैं। आज लोकतन्त्र और आज़ादी मौत-ज़िन्दगी के गहरे खतरे में पड़े हुए हैं, और यह खतरा इस वजह से और भी बढ़ गया है कि इनके खैरख्वाह कहलानेवाले इनकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। पर स्पेन और चीन ने लोकतन्त्र की सच्ची भावना की अद्भुत और प्रेरणा देनेवाली मिसालें हमारे सामने रक्खी हैं। इन दोनों देशों में युद्ध के जो भयंकर नतीजे हुए हैं, उनके अन्दर से नया राष्ट्र पैदा हो रहा है और राष्ट्रीय ज़िन्दगी व हलचलों के सारे मैदानों में दुबारा जान पड़ रही है और कला व साहित्य दुबारा चेत रहे हैं।

१९३५ ई० में अबीसीनिया पर धावा हुआ, १९३६ ई० में स्पेन पर हमला किया गया, १९३७ ई० में चीन पर धावा बोला गया, १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर धावा बोला गया और नात्सी जर्मनी ने यूरोप के नक़शे से उसका नाम मिटा दिया, और चेकोस्लोवाकिया को तहस-नहस करके एक ताबेदार राज्य बना दिया गया। हर साल आफ़तों की पूरी फ़सल तैयार होती रही है। और आज हम १९३९ ई० की चौखट पर खड़े हैं, इस साल में क्या होनेवाला है? हमारे लिए और संसार के लिए यह साल क्या लानेवाला है?



निर्देशिका





चिट्ठियां
बहुत थोड़ी
पहले की लिखी हुई
देश की समस्याओं
असर डाला, इसका जि
बातें उभर आती हैं औ
जाती हैं । ऐतिहासिक
और प्रत्येक देश-प्रेमी
चाहिए ।

हिन्दुस्तान की कहानी

इस पुस्तक को ले
१५ जून, १९४५ की अ
नगर किले में लिखा था।
राजनैतिक, सामाजिक,
सांस्कृतिक, राष्ट्रीय त
अध्ययन किया गया है।
पैनी आंखों से नहीं छूट
उसकी समस्याओं के अध्ययन
पुस्तक बड़ी उपयोगी है ।

मेरी कहानी

नेहरूजी ने यह पुस्तक
अपने कारावास के दिनों में लि
अपने मानसिक विकास को
की है । साथ ही अपने सम
समुदायों का विश्लेषण भी कि
यह एक जागरूक नेता और

किस
गये हैं त
की ओर
वर्तमान औ
ज्ञा से जाना जा
और कड़ी बनकर इ
पर अंकित हो जायेगा।

भविष्य हमसे कह रहा है कि ह
इतना तो सवांर दो कि वृद्धावस्था
अर्थात 'भूत' बन जाने पर हमें '
नाम से जाना जाय और क्रान्ति
दमक इतिहास के पन्नों प
प्रेरणा-स्रोत का कार्य करें।

-रणन्जय
विज्ञान
काशी हिन्दू विश्वविद्या

मुसलमान और राष्ट्र

यह भारत का दुर्भाग्य है कि
स्वतंत्र हुआ है तभी से इस
प्रधानमंत्री हुये किसी ने भी राष्ट्र
नहीं सोची। जब १९४७ में भा
की बात आयी तो मुहम्मद अली
विभाजित करने के लिये अड़ ग
हमारा मजहब अलग है, हमारी
है, हम हिन्दुओं के साथ नहीं र
भारत को विभाजित कर, मुस
पाकिस्तान और हिन्दुओं के लिये
गये। हिन्दुस्तान के नेताओं ने य
को जो जाना चाहते थे पाकिस्ता
मुसलमान यहां हिन्दुओं के
रहना चाहते थे, उनको ससम्मा
गया। मुसलमानों को खुश रख
ी नेताओं ने अपनायी।
मान जो
स्तान में
तथा ऐति
ारने
ी ज

...त करना चाहता हूं। यह बस प्रति दिन ...करती थी, परंतु बड़े खेद का विषय है कि ... दो महीना से यह बस बंद है जिसके ...रूप यहां के क्षेत्रीय नागरिकों को बहुत ...इयों का सामना करना पड़ रहा है। पूर्व ...म राजरुपपुर से ९ बजे प्रस्थान करके ... गंज, लूकर गंज, अग्रसेन कन्या कालेज, ...कोर्ट, राजकीय मुद्रणालय, माध्यमिक ... परिषद, कार्यालय महालेखाकार, ...य मुख्य रक्षा लेखा नियंत्रक (द्रोपदी घाट) ...ए कचहरी एवं विश्वविद्यालय तक की ...य करती थी। केन्द्र सरकार के कार्यालय ...र्यकाल साढ़े नौ बजे से छः बजे का है। अतः ...बस को पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ... की आवश्यकता है जिससे सभी लोग ...न्वित हो सकें।

... इस बारे में कई बार अधिकारियों से ...त कराया है, परंतु कोई ध्यान नहीं दिया जा ... जिससे जन भावनाओं पर ठेस लगती है। ...श्वास है कि अधिकारीगण जन भावनाओं ...म्मान करते हुए समस्याओं का निदान ...

...श्वर चन्द्र सिंह राजरुपपुर, इलाहाबाद।

...रू पार्क में बच्चों का ...श शुल्क न लगाने की ...ग

...सम्बन्धित अधिकारियों का ध्यान इस बात ...ओर आकृष्ट कराना चाहता हूं कि नेहरू जी ...नगर इलाहाबाद में उनके नाम पर नेहरू ... का निर्माण हुआ जिससे इलाहाबाद के ...सियों की बहुत दिनों पुरानी अभिलाषा पूरी ... किन्तु जो नेहरू जी बच्चों के प्यारे चाचा के ... में जाने जाते हैं उन्ही के नाम से स्थापित ...पार्क में बच्चों के प्रवेश के लिए भी टिकट ... जाते हैं जे सर्वथा अनुचित है। ...कारियों से निवेदन है कि बच्चों और चाचा ...के स्नेहिल सम्बन्धों का याद करते हुए कम ...कम छोटे-छोटे बच्चों को पार्क में मुफ्त प्रवेश ...व्यवस्था की जाए।

...व त्रिपाठी, ब्वायज हाई स्कूल, इलाहाबाद

...घन्य कार्य की भर्त्सना

...में देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक शक्तियों ...

रक्त वाहिनियों में भयंकर ढंग से संकोच उत्पन्न होता है। फलस्वरूप पोटेशियम एवं अन्य महत्वपूर्ण रसायन जो रक्तचाप, हृदय एवं गुर्दे को नियंत्रित करते हैं, की कमी हो जाती है। कोर्टिसोल, एड्रिनलिन से मिलकर रक्त का थक्का बनाता है जिससे रक्तचाप सामान्य से बढ़कर २२०-१४० तक पहुंच जाता है। जो बड़ा घातक होता है।

दाम्पत्य जीवन की शुरुआत के बाद कितना अच्छा लगता है जब परिवार में वृद्धि होती है और एक बच्चा जन्म लेकर घर में रौनक पैदा कर देता है। घर के सभी छोटे बड़ों के लिये यह खुशी का मौका होता है और यह बच्चा सभी के अपूर्व मनोरंजन का साधन होता है। जन्म के बाद बच्चे की सबसे पहली मुलाकात माता से होती है और फिर माता तथा पिता दोनों के सानिध्य में रहकर बच्चा सामाजीकरण का पाठ पढ़ता है।

किशोरावस्था की दहलीज प्राप्त करने तक बच्चा 'आश्रितता' की भावना से प्रभावित रहता है और आश्रितता की भावना पिता की अपेक्षा माता से अधिक होती है।

जन्म के समय से ही बच्चा कुछ जन्म जात विशेषतायें लेकर आता है, ये विशेषतायें भूख, प्यास, यौन, हंसने तथा विरोध करने की प्रवृत्ति के रूप में होती है और वह इनसे निरन्तर संचालित होता है इन्हें मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों की आम धारणा है कि प्रारम्भ से ही बच्चे में "अनुकरण की भावना" काफी प्रभावी रहती है और वह अपने से बड़ों की आदतों को यथा रूप में दोहराने की कोशिश करता है। दूसरों को देखकर ही वह डरता है, गुस्सा होता है, पूजा करने की क्रियाएं सीखता है तथा अन्य विविध गतिविधियाँ करता है। आदर्शता की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव भी वह अपने से बड़ों के अनुकरण के फलस्वरूप ही करता है। इसे तादात्मीकरण कहते हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह कतई नहीं कि बच्चा वही करेगा जो ...

टैनिन त... रक्त ... रक्तचाप... कार्य प्रण... कम कर... (६) मं... सीधा स...

इससे बच्चे के व्यक्तित्व ... होगा और वह अपने ... इस हेतु यह आवश्य... क्रियाओं का अवलोकन ... और उसकी अभिरुचियों ...

बच्चे के मन... हैं जो उस... ऐसी परि... होना चाहि... है'

जो व... में है। यदि... उसे उसी... की ओर व... व्यक्तित्व... वह अपने...